पूर्वकालीन भारत

(प्रारम्भ से 1300 ई. तक)

रोमिला थापर

अनुवादक
आदित्य नारायण सिंह

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

लेखिका के विषय में

रोमिला थापर का जन्म 1931 में एक पंजाबी परिवार में हुआ। उन्होंने अपना आरंभिक जीवन भारत के विभिन्न भागों में बिताया। उन्होंने अपनी प्रथम शैक्षिक उपाधि पंजाब विश्वविद्यालय से प्राप्त की और डॉक्टरेट लंदन विश्वविद्यालय से। वे दिल्ली विश्वविद्यालय में रीडर नियुक्त हुईं, जिसके बाद उन्होंने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (नई दिल्ली) में प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग के अध्यक्ष के रूप में अध्यापन किया, जहां इन दिनों वे सेवामुक्त प्रोफेसर हैं। वे लेडी मार्गग्रट हॉल (लंदन) की ऑनरेरी फेलो भी हैं और कॉर्नेल विश्वविद्यालय, पेनसिल्वेनिया विश्वविद्यालय और साथ ही पेरिस-स्थित कॉलेज डी फ्रांस में अतिथि प्राध्यापिका भी रही हैं। सन् 1983 में वे भारतीय इतिहास कांग्रेस की जेनरल प्रेसिडेंट चुनी गईं तथा 1999 में ब्रिटिश ऐकेडमी की कॉरेस्पोंडिंग फेलो।

उनकी कृतियों में *अशोक एंड द डिक्लाइन ऑफ द मौर्याज; एन्शॅन्ट सोशल हिस्टरी : सम इंटरप्रेटेशन्स, फ्रॉम लीनेज टु स्टेटय; हिस्टरी एंड बियॉन्ड; शकुंतला : टेक्स्ट्स, रीडिंग्स, हिस्टरीज ऐंड कल्चरल पास्ट्स : एसेज ऑन इंडियन हिस्टरी* और साथ ही बालोपयोगी पुस्तकें तथा भारतीय कहानियाँ सम्मिलित हैं।

पूर्वकालीन भारत

(प्रारंभ से 1300 ई. तक)

पूर्वकालीन भारत

(तेरहवीं सदी तक)

रोमिला थापर

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण: सितंबर, 2008, प्रतियाँ: 1100
7वाँ पुर्नमुद्रण: अप्रैल 2015, प्रतियाँ 1100
8 वाँ पुनर्मुद्रण : नवम्बर 2016 प्रतियाँ 1100

संयोजक मंडल
प्रो. मोहन
अध्यक्ष, सलाहकार समिति

डॉ. आशा गुप्ता
संयोजक

श्री शंभु शरण मिश्रा
श्रीमती सुरक्षा शर्मा
श्री धर्मेंद्र मीणा
सह-संयोजक

यह पुस्तक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित की गई है।

मूल्य : 180/-

ISBN 978-93-80172-00-2

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 10, कंवलरी लाइन, दिल्ली-110 007 द्वारा प्रकाशित तथा **अमेटी ऑफसैट प्रिंटर्स,** 12/38 साईट IV, साहिबाबाद इंडस्ट्रीयल एरिया, गाजियाबाद, यू.पी. द्वारा मुद्रित।

सरगड़ की स्मृति में
तथा
कौशल्या व दया राम के साथ
बिताए गए उन वर्षों की याद में जो हमने साथ बिताए।

विषय-सूची

मानचित्र व अन्य आकृत्तियों की सूची

आकृतियाँ

मानचित्र

नोट: भारत के नक्शे की बाह्य सीमाओं को मान्य व प्रमाणिक न माना जाए।

प्राक्कथन

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय की ओर से प्रो. रोमिला थापर कृत पुस्तक **पूर्वकालीन भारत** का हिंदी संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें बहुत हर्ष का अनुभव हो रहा है। किन्हीं कारणों वश इस पुस्तक के प्रकाशन में हमारी ओर से कुछ देरी हुई जिसके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं। परंतु हमें इस बात की खुशी है कि यह पुस्तक स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा प्रशासनिक सेवाओं में प्रवेश के इच्छुक अभ्यर्थियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी साबित होगी। हमें उम्मीद है कि यह पुस्तक अंग्रेज़ी भाषा में जितनी लोकप्रिय है उससे अधिक हिंदी भाषा में लोकप्रिय होगी।

वैश्वीकरण के इस दौर में प्राचीन सभ्यताओं व संस्कृति को और गहराई से समझने के प्रति लोगों की दिलचस्पी बढ़ी है। अब इतिहास को केवल पूर्वकालीन घटनाओं के कालानुक्रम (chronological) के आधार पर ही नहीं पढ़ा जाता अपितु उसे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, भौतिक, पर्यावरण संबंधी स्थितियों के साथ जोड़ने का प्रयास भी किया जाता है। अभी तक इतिहासकारों की रचनाओं पर भौतिक व विचारवाद का अधिक प्रभाव दिखाई देता रहा है। किंतु हाल के कुछ वर्षों में प्राचीनकालीन इतिहास को जनजीवन के साथ जोड़ने की भी कोशिश की गई है।

इतिहास को एक स्थिर विषय न मानकर लेखिका, प्रो. रोमिला थापर, ने इसे एक गतिशील विषय माना है तथा इसे मानवविज्ञान के साथ जोड़ने की चेष्टा की है। उनका यह मानना है कि जिस प्रकार पूर्वकालीन घटनाएं अद्यतन संस्थाओं के स्वरूप को समझने में मदद करती हैं, उसी प्रकार आज प्राप्त नई जानकारी व साक्ष्य आधारित अनुसंधान (evidence based research) के आधार पर इतिहास का पुनर्वलोकन भी संभव हो पाया है।

लेखिका का यह मानना है कि ऐतिहासिक शोध के लिए हमें यथासंभव विश्वसनीय तथा प्रामाणिक जानकारी हासिल करनी चाहिए। इसके लिए यह भी ज़रूरी है कि इस जानकारी का तार्किक व विवेकपूर्ण विश्लेषण किया जाए। तभी हम अतीत के विषय में विस्तारपूर्वक चर्चा कर सकते हैं तथा इतिहास के संबंध में कुछ उपयोगी व महत्त्वपूर्ण व्याख्याएं व परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत कर सकते हैं।

मैं हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय की ओर से प्रो. रोमिला थापर के प्रति कृतज्ञता ज़ाहिर करती हूँ कि उन्होंने हमें अपनी बहुचर्चित पुस्तक **अर्ली इंडिया** का हिंदी संस्करण प्रस्तुत करने की अनुमति दी व इसके अनुवाद में भी यथासंभव सहयोग दिया। यह पुस्तक अंग्रेज़ी भाषा में जितनी महत्त्वपूर्ण व रुचिकर साबित हुई है उतना ही इसका हिंदी में अनुवाद भी रोचक बन पड़ा है। लेखिका का मुख्य उद्देश्य पूर्वकालीन भारत के ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषा-विज्ञान व पर्यावरण संबंधी परिस्थितियों में तालमेल बिठाना व उन्हें उचित क्रमबद्धता प्रदान करना है।

इसके लिए उन्होंने न केवल पुरातत्त्व विभाग अपितु भूगोल, भू-आकृति विज्ञान, मौखिक इतिहास, साहित्य, भाषा-विज्ञान, तत्कालीन रीति-रिवाज़, परंपराओं व मिथक-शास्त्र

(mythology) का भी सहारा लिया है। इस प्रकार उन्होंने पूर्वकालीन भारत का त्रि-आयामीय (three dimensional) चित्रण प्रस्तुत किया है, जो निहायत ही मनोरम बन पड़ा है। चाहे इतिहास की मेरी जानकारी अधिक नहीं है, फिर भी इस पुस्तक को धारा-प्रवाह पढ़ने का मन करता है।

आशा है यह पुस्तक विद्यार्थियों, शिक्षकों तथा इतिहास, समाजशास्त्र व अन्य मानवीय विषयों में रुचि रखने वाले सभी पाठकों के लिए बेहद लाभकारी साबित होगी व लेखिका की भाँति पाठकगण भी स्वतंत्र रूप से पूर्वकालीन भारत के इतिहास को समझने की चेष्टा करेंगे तथा इस प्रयास को निरंतर गतिशील बनाए रखेंगे।

डा. आशा गुप्ता

21 अक्टूबर 2016

निदेशक

प्रस्तावना

लगभग चार दशक पूर्व इस पुस्तक का प्रथम (अंगरेजी) संस्करण लिखा गया और तब से भारतीय इतिहास के वाचनों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। ये परिवर्तन कुछ नई सामग्री और साथ ही परिचित सामग्री की ताजा व्याख्याओं के परिणाम रहे हैं। यहां मैंने नई सामग्री तथा व्याख्याओं के आवश्यक तत्वों को शामिल कर लिया है, लेकिन साथ ही पुरानी दलीलें जहां आज भी प्रासंगिक हैं, वहां उन्हें बरकरार रखा है।

इस पुस्तक में एक प्रमुख संशोधन काल के विस्तार के संबंध में किया गया है। पूर्ववर्ती पाठ में पुस्तक से संबंधित काल 1526 में समाप्त होता था लेकिन प्रस्तुत पाठ में वह 1300 ई. के आसपास समाप्त हो जाता है। अनेक वर्षों के प्रयत्न के बाद मैं अपने प्रकाशक (पिंगुइन) को समझा पाई हूं कि भारत का इतिहास दो नहीं बल्कि तीन जिल्दों में होना चाहिए। दो जिल्दों के पूर्ववर्ती विभाजन में लगभग 1300-1800 ई. के महत्त्वपूर्ण काल के साथ न्याय नहीं हो पा रहा था। अब इस दोष का मार्जन किया जा रहा है। अंतिम जिल्द वर्णन को वर्तमानकाल तक ले आएगी। इस परिवर्तन से प्रत्येक जिल्द के लिए अधिक स्थान भी निकल आता है। एफ.आर. और बी. अलचिन-कृत द*बर्थऑफइंडियनसिविलाइजेशन,* जिसका संशोधन 1993 में किया गया और जो पिंगुइन से ही प्रकाशित हुआ, तथा विकिंग द्वारा 1997 (पिंगुइन द्वारा 1998) में प्रकाशित उन्हीं की रचना द*आरिजिन्सऑफ एसिविलाइजेशन*से भारत के प्रागितिहास और आद्येतिहास से हमारा अच्छा परिचय हो जाता है। इसलिए प्रागितिहास तथा आद्येतिहास का मैंने केवल संक्षिप्त अवलोकन ही किया है।

इस पुस्तक के लेखन के क्रम में मुझे अनेक मित्रों की सहायता प्राप्त हुई है, जिन्होंने इसके पूर्ववर्ती पाठ के विभिन्न अध्यायों के संबंध में अपनी मूल्यवान टिप्पणियों से मुझे उपकृत किया। उनमें से मैं आर. चंपकलक्ष्मी, माधव गाडगिल, डेनिस हडसन, शिनरू ल्यु, माइकेल माइस्टर, विवेक नंदा और के.एन. पणिक्कर को

धन्यवाद देना चाहूंगी। सुसन रेनाल्ड्स मेरे धन्यवाद की विशेष पात्र हैं—सो न केवल ख़ास-ख़ास अध्यायों के संबंध में उनकी सम्मतियों के लिए बल्कि पूरी पुस्तक के विषय में उनके अभिमतों के लिए भी। रवि दयाल के इस सुझाव से मुझे अतीव प्रसन्नता हुई कि वे इसके अंतिम से पहले मसौदे पर दृष्टिपात करना चाहेंगे। उन्होंने मनोयोगपूर्वक उसका पारायण किया और उपयोगी सुझाव दिए। नीना की 'स्पष्ट नहीं' वाली हाशियाई टिप्पणियों के फलस्वरूप विवरण अधिक प्रांजल हो पाया। लुसी पेक ने बहुत उत्साह के साथ मानचित्रों की मोटी रूपरेखाएं तैयार करने पर सहमति प्रकट की, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक अध्याय से संबंधित मानचित्र देना संभव हुआ। होमी भाभा फेलोशिप्स काउंसिल का भी मैं धन्यवाद करना चाहूंगी। उनके द्वारा प्रदत्त फेलोशिप के दौरान मैंने जो शोध-कार्य किया उसके सहारे पुस्तक के पूर्वार्ध को रूपाकार दिया जा सका और मैं डेविड ल्युडेन को भी धन्यवाद देना चाहूंगी कि उन्होंने पेंसिलवेनिया विश्वविद्यालय में जो व्याख्यान-माला आयोजित की उसके विषय मोटे तौर पर वही थे जो इस पुस्तक के हैं।

जीन स्मिथ ने परम उदारता का परिचय देते हुए अपना समय और श्रम दिया और पूर्ववर्ती मसौदे को मनोयोगपूर्वक डिस्क पर स्केन किया, जिससे पुनर्लेखन की प्रक्रिया बहुत आसान हो गई। कंप्यूटर में खराबी आने पर मैं शिरीश, गौतम पटेल तथा क्रिस गोम्स को बार-बार मदद के लिए बुलाती रहती थी, लेकिन इससे किसी प्रकार की परेशानी महसूस किए बिना वे बहुत धीरज के साथ उसे दुरुस्त करते रहे। ऐसे ही धीरज का परिचय विवेक शर्मा ने भी दिया। जिस एक व्यक्ति की ओर से पुस्तक को संशोधित करने का आग्रह अनवरत रूप से किया जाता रहा वह थीं रजनी और अंत में उनका आग्रह रंग लाया।

—रोमिला थापर

नई दिल्ली, 2001

आभार

स्वत्वाधिकारियों से संपर्क करने का हर संभव प्रयास किया गया है। जो भी त्रुटियां या छूटें रह गई हों उन्हें भावी संस्करणों में सुधारने में प्रकाशकों को प्रसन्नता होगी। इस पुस्तक में स्वत्वाधिकारयुक्त सामग्री के उपयोग की अनुमति देने के लिए लेखिका निम्नलिखित संस्थाओं एवं व्यक्तियों का आभार मानती है : जॉर्ज इफरा द्वारा लिखित और हारविल प्रेस द्वारा प्रकाशित *दयुनिवर्सलहिस्टरीऑफनंबर्स*के अवतरणों के लिए रैंडम हाउस ग्रुप लिमिटेड का; आर. पार्थसारथी द्वारा अनूदित *दटेलऑफएन एंकलेट* के अवतरण के लिए कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस का; एस. राधाकृष्णन् द्वारा अनूदित *दप्रिंसिपलउपनिषद्स* के अंश के लिए हारपर कालिंस पब्लिशर्स का; नीलकंठ शास्त्री-कृत *दचोलाज़*तथा रोमिला थापर-कृत *अशोकएंडदडिक्लाइन ऑफदमौर्याज़* के अंशों के लिए आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली का; रानल्ड लेथम द्वारा अनूदित *दट्रैवल्सऑफमार्कोपोलो*के अंशों के लिए *पिंगुइनबुक्स् लिमिटेड का; ए. के. रामानुज के हिम्स फॉर द ड्राउनिंग के अनूदित अंशों के लिए* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस का; ए.एल. बैशम-कृत *दवंडरदैटवाज़इंडिया*के अंशों के लिए मैकमिलन पब्लिशर्स का; इंदिरा वी. पिटर्सन-कृत *पोयम्सटुशिवःदहिम्स ऑफदतमिलसेंट्स*के अंशों के लिए लेखिका का; नागर शैली के मंदिर के रेखाचित्र के मुद्रण की अनुमति देने के लिए माइकेल माइस्टर का; वृत्ताकार देवी मंदिर की योजना के मुद्रण की अनुमति के लिए विद्या दहेजिया का; और वृत्ताकार देवी मंदिर की योजना के मुद्रण की अनुमति के लिए नीलकंठ शास्त्री तथा ए.के. रामानुजन् का।

संदर्भ-सूचियों के बारे में

पुस्तक के अंत में एक सामान्य संदर्भ-सूची दी गई है। उसमें मोटे तौर पर ऐसी पुस्तकें शामिल हो गई हैं जो विषय के प्रमुख पहलुओं से हमारा परिचय कराती हैं।

अतिरिक्त पाठ्य सामग्री की जानकारी देनेवाली और अलग-अलग अध्यायों से संबंधित संदर्भ-सूचियां अध्यायों और उनके उपशीर्षकों के अनुसार दी गई हैं। पुस्तकें पाठ के विवेचित विषयों के क्रम में सूचीबद्ध की गई हैं।

संदर्भ-सूचियां प्रबंधों तक ही सीमित हैं, क्योंकि वे पत्रिकाओं में प्रकाशित विनिबंधों की अपेक्षा अधिक सहज सुलभ हैं; तथापि चूंकि बहुत-सी शोध-कृतियां पत्रिकाओं में विनिबंधों के रूप में प्रकाशित होती हैं, इसलिए जो चाहें उनके लाभ के लिए पत्रिकाओं की सूची भी सामान्य संदर्भ-सूची के अंत में दे दी गई है।

कालानुक्रम

(लगभग 1000 ई. पू. - 1300 ई.)

चीन या भूमध्य सागरीय संसार की तुलना में भारतीय इतिहास के प्रारंभिक हिस्से का कालानुक्रम अनिश्चितता के लिए कुख्यात है। साहित्यिक स्रोत किसी तिथि, महीने या वर्ष की अपेक्षा कालखंड के होते हैं। किंतु इस अनिश्चितता को अभिलेखों से उपलब्ध सामग्री प्रतिसंतुलित कर देती है, क्योंकि अभिलेख बहुधा किसी ज्ञात संवत् के अनुसार ठीक-ठाक तिथ्यांकित होते हैं। अधिकांश महत्त्वपूर्ण राजवंशों के काल को मापने की अपनी अलग-अलग प्रणालियाँ होती थीं, जिसके फलस्वरूप एक-दूसरे से असंबद्ध अनेक संवतों का प्रयोग होता था। परंतु अधिक इस्तेमाल किए जानेवाले संवतों में 58-57 ई.पू. का विक्रम संवत् और '78 ई. का संवत् है। पहले विक्रम संवत् को कृत या मालव संवत् के नाम से जाना जाता था। अन्य थे 319-20 ई. का गुप्त संवत्, 606 ई. का हर्ष संवत्, 1075 ई. का विक्रम-चालुक्य संवत् आदि। बौद्ध स्रोत काल का आक्कलन बुद्ध के निधन के वर्ष के अनुसार करते हैं, लेकिन इस घटना के तीन वैकल्पिक वर्ष हैं - 544, 486 और 483 ई. पू.। अंतिम दो का प्रयोग ज्यादा किया जाता है, प्रथम को सामान्यत: शंका की दृष्टि से देखा जाता है। हाल में बुद्ध की तिथि के संबंध में काफी बहस-मुबाहसे हुए हैं और ऐसे सुझाव भी दिए गए हैं जिनके अनुसार वह तिथि लगभग सौ साल आगे चली जाती है। परंतु अब तक उक्त पारंपरिक तिथियों के अलावा किसी पर सामान्य सहमति नहीं हो पाई है।

ई. पू.

लगभग 2600-1700	हड़प्पाई शहरीकरण : परिपक्व और उत्तर चरण
लगभग 1500-500	वैदिक साहित्य की रचना और संकलन
	उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में नवपाषाण तथा ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ
	महापाषाण कब्रें, मुख्यत: प्रायद्वीप में
लगभग 1000	लौह शिल्प तथ्यों की प्राप्ति
	छठी सदी ई.पू. के बाद लौह शिल्प-तथ्यों के प्रयोग के रूपों और संख्या में क्रमिक वृद्धि
लगभग छठी सदी	गांगेय मैदान में शहरीकरण
	आद्यतम राज्यों की संरचना
	मगध का उदय
	महावीर
	गौतम बुद्ध
519	फारस के हखमनी सम्राट् साइरस द्वारा पश्चिमोत्तर भारत के कुछ भागों की विजय
लगभग 493	अजातशत्रु का सिंहासनारोहण

486	बुद्ध की मृत्यु
लगभग 362–321	नंद राजवंश
327–325	मकदूनिया-निवासी सिकंदर भारत में
321	मौर्य वंश के संस्थापक चंद्रगुप्त का राज्याभिषेक
268–231	अशोक का शासन-काल
लगभग 250	पाटलिपुत्र में आयोजित तीसरी बौद्ध समिति
185	मौर्य शासन की समाप्ति और एक शुंग राजा का सिंहासनारोहण
180–165	दिमित्रियस के अधीन पश्चिमोत्तर पर हिंद-यूनानी शासन
लगभग 166–150	सर्वाधिक विख्यात हिंद-यूनानी राजा मेनांडर
लगभग 94	शक राजा माऊई पश्चिमोत्तर भारत में
58	आजीज प्रथम, जिसे विक्रम संवत् आरंभ करने का श्रेय दिया जाता है
लगभग 50	दकन में सातवाहन शक्ति का उदय
लगभग 50	कलिंग-राज खारवेल

ईसवी सन्

लगभग 50 ई.पू.–50 ई.	भारत के साथ रोम के व्यापार का चरमोत्कर्ष
पहली सदी ई.	कुषाण शक्ति की स्थापना
लगभग 78	पश्चिमोत्तर के कुषाण राजा कनिष्क का सिंहासनारोहण
लगभग 125	सातवाहन राजा गौतमीपुत्र और तत्पश्चात् वासिष्ठी पुत्र का शासन
लगभग 150	पश्चिमी भारत में शासन करने वाला शक क्षत्रप राजा रुद्रदामा
319–20	गुप्त राजवंश के संस्थापक प्रथम चंद्रगुप्त का सिंहासनारोहण
335	समुद्रगुप्त का राज्याभिषेक
375–415	द्वितीय चंद्रगुप्त
405–11	फाहियान की भारत यात्रा
लगभग 455	स्कंदगुप्त, जिसके शासन-काल में हूणों ने भारत पर आक्रमण किया
476	खगोलवैज्ञानिक आर्यभट्ट
505	खगोलवैज्ञानिक वराहमिहिर
543–66	पुलकेशी प्रथम और बादामी के चालुक्यों का उदय

लगभग 574-60	सिंहविष्णु के अधीन कांची के पल्लवों का उदय
606-47	कन्नौज-राजा हर्षवर्धन
630-643	हुआन सांग का भारत प्रवास
600-630	महेंद्रवर्मन के अधीन पल्लव शक्ति का प्रतिष्ठित किया जाना
609-642	पुलकेशी द्वितीय के अधीन चालुक्य शक्ति की स्थापना
	पल्लवों तथा चालुक्यों के बीच प्रतिद्वंद्विता आरंभ
712	अरबों की सिंध-विजय
736	ढिल्लिक की स्थापना - बाद में दिल्ली नाम से प्रसिद्ध
लगभग 752	चालुक्यों पर राष्ट्रकूटों की विजय
लगभग 770	गोपाल द्वारा पूर्वी भारत में पाल राजवंश की स्थापना
लगभग 780	गुर्जर-प्रतीहारों का उदय
लगभग 788-820	शंकराचार्य
814-80	राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष का शासन-काल
लगभग 840	राजा भोज के अधीन प्रतीहार शक्ति की प्रतिष्ठा
लगभग 907	प्रथम परंतक द्वारा दक्षिण भारत में चोल शक्ति का सुदृढ़ीकरण
लगभग 973	कल्याणी के चालुक्यों के हाथों राष्ट्रकूटों की पराजय
985-1014	प्रथम राजराज द्वारा चोल शक्ति का विस्तार
1000-1026	पश्चिमोत्तर भारत पर महमूद गजनबी के आक्रमण
1023	राजेंद्र चोल का उत्तरी सैनिक अभियान
1025	चोलों के नौसैनिक अभियान
1030	अलबरूनी भारत में
लगभग 1075	रामानुज
1077-1147	गंग राज्य की स्थापना
1077	चोल व्यापारियों का दूतमंडल चीन में
1077-1120	रामपाल द्वारा पाल राज्य की शक्ति की पुनः अभिवृद्धि
1110	विष्णुवर्धन तथा होयसाल शक्ति का उदय
1144-71	चौलुक्य / सोलंकी राजा कुमारपाल
1148	कल्हण द्वारा *राजतरंगिणी* का प्रणयन
1192	तराइन की लड़ाई में पृथ्वीराज चौहान
	मुहम्मद गोरी से पराजित
1206	कुतुबुद्दीन ऐबक के अधीन दिल्ली सल्तनत की स्थापना
लगभग 1250	कोणार्क का सूर्य मंदिर
1246-79	अंतिम चोल राजा राजेंद्र तृतीय

भूमिका

जो पुस्तक मूलतः तब लिखी गई जब लेखिका ने लेखन के पेशे में कदम ही रखा था उसका संशोधन उसके जीवन की सांध्य-वेला में किया जाए तो उसमें आत्मकथा के तत्व का होना स्वाभाविक है। लगभग चालीस साल पुरानी पुस्तक की ओर मुड़कर देखते हुए मेरा ध्यान प्राचीन भारतीय इतिहास के वाचनों में हुए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की ओर गया है। इनमें से कुछ परिवर्तन तो नई सामग्री के प्रकाश में आने से उद्भूत हैं लेकिन अधिकांश का संबंध पहले से मौजूद सामग्री की नई व्याख्याओं से है। इन वाचनों पर भरपूर चर्चा हुई है और इसमें खुद मेरी शिरकत ने इस काल की मेरी समझ को रूपाकार दिया है। यहां एक सर्वथा नई पुस्तक लिखे बिना ऐसे वाचनों को समाविष्ट करने का प्रयास किया गया है जिन्हें मैं सही मानती हूं। तथापि, अनिवार्यतः इस पुस्तक में ऐसा बहुत-कुछ है जो मूल से भिन्न है। पूर्ववर्ती पाठ में जिन अनेक विचारों का मात्र उल्लेख-भर किया गया था उन्हें यहां एक स्पष्ट शक्ल दी गई है। एक बात है जिसका एहसास शायद तब न रहा होगा। तात्पर्य इस बात से है कि पूर्ववर्ती पाठ का प्रवर्तन ऐसे समय में किया गया था जब प्राचीन भारतीय इतिहास, जिसकी शुरुआत मुख्य रूप से भारत-विद्या में अभिरुचि के रूप में हुई थी, धीरे-धीरे मानव विज्ञानों का अंश बनता जा रहा था। यह परिवर्तन मैं इतिहास-लेखन से संबंधित प्रथम अध्याय में दरशाने की आशा रखती हूँ। मैंने अपने को बहुत हद तक पूर्ववर्ती पुस्तक के ढांचे के अंदर बांधे रखा है, क्योंकि मुझे लगा कि वह अब भी अपनी जग़ह ठीक-ठाक है और उसमें आमूल परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। अध्यायों को नई रूपरेखाएं दी गई हैं, जिससे कुछ में अपेक्षाकृत अधिक नई सामग्री का समावेश हुआ है, लेकिन कुछ में ज़ोर नई व्याख्याओं पर है। पिछले चार दशकों के दौरान प्राचीन भारतीय इतिहास के वाचन में काफी परिवर्तन हुए हैं और आगे जो-कुछ कहने जा रही हूं उसमें मैंने उन सब पर दृष्टिपात करने की कोशिश की है।

नए वाचन विभिन्न चालू आकलनों से उद्भूत हुए। उनमें से कुछ का संबंध भारतीय अतीत की औपनिवेशिक व्याख्याओं से था। उन्हें भारतीय संस्कृति के प्रति

उन दृष्टिकोणों से भी दो-दो हाथ करना पड़ा जो इस देश की आज़ादी के शीघ्र बाद प्रचलित थे। यूरोप के जनमानस में भारत अकथनीय धन-संपत्ति, रहस्य-रोमांचमय घटनाओं और सांसारिक अनुभवों से परे विचारों का देश था। सोने की खुदाई करनेवाली चींटियों से लेकर वन-प्रांतरों में निर्वसन निवास करनेवाले और आत्मा के पारलौकिक जीवन के चिंतन में मग्न दार्शनिकों तक, सभी भारत की उस तसवीर के अंग थे जो प्राचीन यूनानियों जैसे पर्यवेक्षकों और विचारकों ने गढ़े थे और वे छवियां यूरोप में अपेक्षाकृत हाल तक कायम रहीं। अन्य किसी भी संस्कृति की तरह भारत में संपत्ति चंद लोगों के हाथों में सिमटी हुई थी। इंद्रजाल जैसे मिथकों का प्रचार भी मुट्ठी-भर लोगों का ही काम था। लेकिन यह सच है कि इस प्रकार की धारणाओं की स्वीकृति भारत में अधिक व्यापक थी और इस स्वीकृति के पीछे कभी-कभी कौतूहल की भावना भी होती थी। कुछ संस्कृतियों में इंद्रजाल जैसे मिथक को शैतान की प्रेरणा का परिणाम बताया जाता और इसलिए उसके उल्लेख का निषेध कर दिया जाता, लेकिन भारत में उसे विश्वास-अविश्वास की मिश्रित भावना से स्वीकार किया गया। भारतीय सभ्यता में जो बुनियादी समझदारी दिखाई देती है वह शैतान की अनुपस्थिति का परिणाम है।

भारतीय संस्कृति के संबंध में पूर्ववर्ती औपनिवेशिक तथा राष्ट्रवादी दृष्टियों के संबंध में अन्य प्रतिक्रियाएं भिन्न ढंग की थीं। कुछ-कुछ सरलतावादी ढंग की एक प्रतिक्रिया तो यह थी कि भारतीय सभ्यता के बारे में जो-कुछ नकारात्मक कहा गया उसे या तो सिरे से अस्वीकार कर दिया गया या बिलकुल उलट दिया गया और जो-कुछ सकारात्मक कहा गया उसे अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया गया। यह प्रतिक्रिया आज भारतीय जनमानस के एक हिस्से पर फिर से हावी होती जा रही है। इतिहास के प्रति अधिक गंभीर सरोकार का तक़ाजा उसे ऐसा विषय मानकर चलने का था जिसकी अपनी एक ख़ास पद्धति है। इस पद्धति में ऐसे वाचनों की तलाश भी शामिल था जिनमें अतीत की व्याख्या करने के सार्थक वैकल्पिक उपायों का समावेश हो। इस पुस्तक में इसी दृष्टिकोण से काम लिया जा रहा है।

तो इसे बिलकुल सिरे से आरंभ करने का तरीका यह पूछना होगा कि भारत के इतिहासों[1] का लेखन कैसे प्रारंभ हुआ, इतिहासकार कौन थे, वे क्यों लिख रहे थे और वे कौन-से बौद्धिक तथा विचारधारात्मक प्रभाव थे जिन्होंने उनके इतिहासों को या संक्षेप में कहें तो जिसे आज इतिहास-लेखन कहा जाता है उसे रूपाकार दिया। इतिहास पीढ़ी-दर-पीढ़ी दी जानेवाली अपरिवर्तित सूचना नहीं है। ऐतिहासिक परिस्थितियों की व्याख्या करने की आवश्यकता होती है और व्याख्याएं साक्ष्यों के

---

1. इस पुस्तक का विषय प्राक्-आधुनिक दक्षिण एशिया के इतिहास का पूर्वकाल है। 'भारत' और 'भारतीय' जैसे शब्द पूरे उपमहाद्वीप का बोध कराते हैं। जहां तात्पर्य ख़ास भारतीय राष्ट्र राज्य से है वहां वैसा निर्देश कर दिया गया है।

विश्लेषणों से प्रेरणा ग्रहण करती हैं और दलीलों में निहित तर्क के आधार पर सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत करती हैं। नए साक्ष्यों या पुराने साक्ष्यों की नई व्याख्याओं से अतीत के संबंध में नई समझ हासिल की जा सकती है। लेकिन व्याख्याएं ऐसी होनी चाहिए जो विश्वसनीय साक्ष्यों के इस्तेमाल, विश्लेषणात्मक पद्धतियों और तर्क पर आधारित दलीलों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हों। इस सबके आधार पर देखें तो इस बात के प्रति संवेदनशीलता की आवश्यकता होती है कि पूर्ववर्ती काल के लोग किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करते आये और वे अपने अतीत के प्रति किस तरह से सोचते थे। इस प्रकार इतिहास-लेखन ज्ञान के एक रूप के तौर पर इतिहास को समझने का एक प्रस्थान बिंदु बन जाता है।

व्याख्याएं बहुधा प्रचलित बौद्धिक पद्धतियों से प्रेरणा ग्रहण करती हैं। इतिहास कैसे लिखे जाते हैं, इस पर दृष्टिपात करना एक हद तक विचाराधीन काल का बौद्धिक इतिहास होता है और इसलिए वह विचारों तथा व्याख्याओं से स्पंदित हो सकता है। इसलिए किसी समाज का इतिहास लिखने का प्रस्थान-बिंदु उसके इतिहास-लेखन-या ऐतिहासिक व्याख्या के इतिहास—से परिचय होना चाहिए। इसका मतलब हुआ इतिहास के बौद्धिक संदर्भ की स्वीकृति। इस संदर्भ को दरकिनार करके मात्र घटनाओं के विवरण को प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। इस संदर्भ से परिचय से अतीत की अधिक संवेदनशील समझ पैदा होती है। इतिहास-लेखन के प्रति इस जागरूकता ने विगत आधी सदी के दौरान भारतीय इतिहास की समझ को बदलने में प्रचुर योगदान किया है।

इतिहास-लेखन संबंधी परिवर्तन नए साक्ष्यों और मौजूदा साक्ष्यों को नए दृष्टिकोणों से देखने का परिणाम होता है। अन्य मानव विज्ञानों से ग्रहण किए गए परिप्रेक्ष्य-जैसे समाजों, अर्थव्यवस्थाओं और धर्मों के अध्ययन—अतीत की व्याख्या करने में कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्रों की पुनर्रचना के रूप में प्रतिफलित हुए। ऐसा मुख्यतः इसलिए संभव हुआ कि स्रोतों के मद्देनजर जैसे प्रश्न पहले उठाए गए थे उनसे भिन्न प्रकार के प्रश्न नए परिप्रेक्ष्यों के संदर्भ में पूछे गए। यदि पूर्ववर्ती ऐतिहासिक लेखन का संबंध मुख्यतः राजनीति से था तो आज के लेखन में लगभग सारी मानव गतिविधियों और उनके पारस्परिक संबंधों का समावेश है। ये बातें इस दलील का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंग हैं कि मानव विज्ञानों में यथार्थ की छवि जिस रूप में प्रतिबिंबित होती है वह सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप से नियंत्रित होती है और कार्यों के कारण अनेक होते हैं। ज्ञान की अभिवृद्धि के परिणामस्वरूप इनमें से कुछ परिप्रेक्ष्य अनिवार्यतः बदलेंगे। इसलिए ऐतिहासिक व्याख्या इस बात के प्रति सजगता उत्पन्न करती है कि किस प्रकार अतीत वर्तमान को और वर्तमान अतीत को प्रभावित करता है।

साक्ष्य के नए स्रोतों में यत्र-तत्र मिलनेवाले कुछ सिक्कों, अभिलेखों या मूर्तियों

के अलावा पुरातत्व से प्राप्त सामग्री, परिवेश और इतिहास के बीच के संबंधों के साक्ष्य तथा ऐतिहासिक तथा सामाजिक भाषा-विज्ञान द्वारा प्रदत्त अंतर्दृष्टियों का समावेश है। आनुश्रुतिक परंपरा के पहलुओं का इस्तेमाल तुलनात्मक ढंग से करने पर अकसर उन तरीकों के उदाहरण सामने आए हैं जिनका उपयोग सूचना के परिरक्षण के लिए किया जाता है, चाहे यह काम निरक्षर समाज करें या वे समाज जो साक्षर होते हुए भी लिखित की अपेक्षा इसी पद्धति को पसंद करते हैं। अपेक्षाकृत अधिक पूर्ववर्ती आनुश्रुतिक परंपरा पर इन तरीकों के इस्तेमाल की संभावना आंख खोलनेवाली साबित हुई है।

हाल के वर्षों में भारत के प्राचीन इतिहास के लिए पुरातत्व से प्राप्त अधिकाधिक साक्ष्यों का उपयोग किया जा रहा है। इन साक्ष्यों ने सर्वेक्षणों तथा खुदाइयों में प्राप्त शिल्प-तथ्यों और भौतिक अवशेषों के रूप में ठोस, त्रिआयामी सामग्री उपलब्ध कराई है। एक समय में इनका उपयोग साहित्यिक तथा पाठगत स्रोतों से प्राप्त साक्ष्यों की अभिपुष्टि के लिए किया गया (और प्राचीन भारत से संबंधित कुछ सिद्धांतों में तो आज भी उनका ऐसा उपयोग किया जा रहा है)। लेकिन पुरातात्विक तथ्य साहित्यिक साक्ष्यों की पुष्टि कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं। जहां वे उनकी पुष्टि नहीं करते वहां एक वैकल्पिक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। लिखित साक्ष्यों की अनुपस्थिति में या जहां लिखित साक्ष्यों को पढ़ा नहीं जा सकता वहां शिल्प-तथ्य रिक्त स्थानों की पूर्ति करते हैं। अभिपुष्टि की स्थिति एक के मुकाबले एक वाली नहीं है, क्योंकि पुरातात्विक तथ्य मुख्यतः शिल्प-तथ्यों के रूप में उपलब्ध होते हैं, जबकि पाठगत सूचना अमूर्त होती है और दोनों इतिहासकार की व्याख्या के वशीभूत हैं। साहित्यिक साक्ष्यों के साथ पुरातात्विक तथ्यों का संबंध जटिल है और प्रत्येक के मामले में विशेषज्ञता दरकार है। पाठों के पूर्ववर्ती आतंक के खिलाफ जो प्रतिक्रिया हुई उसका नतीजा यह है कि आज के कुछ पुरातत्वशास्त्री तुलनात्मक दृष्टि से भी उनका उपयोग करने के पक्ष में नहीं हैं।

खुदाई के परिष्कृत तरीके और खुदाइयों से प्राप्त सामग्री का वाचन तब की अपेक्षा बहुत जटिल हो गए हैं जब पुरातत्वशास्त्री को सिर्फ खुदाई करना और सामग्री को उद्घाटित करना पड़ता था। आज पुरातात्विक सामग्री के विश्लेषणों के लिए वैज्ञानिक विषयों से प्राप्त विभिन्न तकनीकों का इस्तेमाल किया जा रहा है और इनसे प्राप्त सूचनाओं की संभावनाएं अब बहुत बढ़ गई हैं। अब इनमें जलवायु, पारिस्थितिकी-बस्ती के रंग-रूप, पुरा-निदानशास्त्र (पौलियो-पैथोलॉजी), वनस्पतियों तथा वन्य प्राणियों तक से संबंधित सूचनाओं का समावेश है। पुरावनस्पति-विज्ञान, अर्थात् खुदाई में प्राप्त पौधों और बीजों के अवशेषों के अध्ययन के विज्ञान का संबंध वनस्पतियों तथा परिवेशगत स्थितियों से है। इसलिए इससे मानव बस्तियों को समझने की दृष्टि से एक और आयाम जुड़ जाता है। इसमें से कुछ सामग्री का सांख्यिकीय विश्लेषण

भी किया जा सकता है।

भारत में आज भी तरह-तरह के समाज मौजूद हैं। इनमें से कुछ तो पाषाण युग की परिस्थिति का आभास देते हैं। इस चीज को जीवंत प्रागितिहास कहा गया है। यह बात सांस्कृतिक उत्तरजीविता को रेखांकित करती है। अब नृजाति-विज्ञान तथा पुरातत्वशास्त्र के मिले-जुले दृष्टिकोण से काम लेते हुए उत्खनित मानव बस्तियों के संदर्भ में नृजाति-वैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयत्न किया जा रहा है। पारस्परिक संबंधों का यह निदर्शन कुछ शंकाएं उत्पन्न कर सकता है। लेकिन ऐसे अध्ययनों की उपयोगिता कुछेक सवाल उठाने में निहित है—जैसे सामाजिक संगठन के रूपों या शिल्प-तथ्यों से संबंधित प्रश्न। इन विधियों से काम लें तो जिन क्षेत्रों में प्राचीन संस्कृतियां आज भी जीवित हैं उनमें पाठगत अध्ययनों के अंग के रूप में किए गए क्षेत्रीय कार्य कभी-कभी सहायक हो सकते हैं और जैसा कि विद्वानों का कहना है, यह बात भारत में धर्म के अध्ययन के संदर्भ में विशेष रूप से प्रासंगिक है। क्षेत्रीय कार्य से ऐसी अंतर्दृष्टियां प्राप्त होती हैं जो पाठ के अर्थ की अभिवृद्धि कर सकती हैं। उदाहरण के लिए कर्मकांड में जो परिवर्तन होते हैं उनमें इतिहास के तत्व समाविष्ट होते हैं। ऐसा ख़ास तौर से उन समाजों में होता है जिनमें बहुत-से लोगों के लिए कर्मकांड या धार्मिक रीति-रिवाज धार्मिक सिद्धांत या रूढ़िवादिता से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। धर्मों के पूर्णतः पाठ-आधारित अध्ययनों की अनुपूर्ति अब विभिन्न धर्मों के आचरण के तुलनात्मक अध्ययनों से की जी रही है।

विगत आधी सदी के दौरान उत्खनित दूसरी और पहली सहस्राब्दी ई.पू. के ठिकानों से गुणवत्ता तथा परिमाण दोनों दृष्टियों से प्रभावोत्पादक साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। अब पश्चिमोत्तर भारत की प्रथम शहरी सभ्यता के पतन के बाद के काल की बस्तियों की रूपरेखा तैयार करना संभव हो गया है और इससे उस सभ्यता की उत्तराधिकारी संस्कृतियों के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र प्राप्त हो जाते हैं। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या इन संस्कृतियों का पूर्ववर्ती संस्कृतियों से सातात्य था। इन बाद की संस्कृतियों के स्वरूप को पहचानना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। इस बात के भी साक्ष्य मिले हैं कि गंगा के मैदान में और उसकी परिधि पर मध्य भारत में इन संस्कृतियों से पहले कुछ बस्तियां मौजूद थीं। इनसे पहली सहस्राब्दी के मध्य के शहरीकरण के स्वरूप को समझने के कुछ सूत्र प्राप्त होते हैं। लेकिन इन प्रश्नों के उत्तर बड़े-बड़े ठिकानों के क्षैतिज उत्खनन के बाद ही दिए जा सकते हैं, मगर इस काम की ओर अब तक ध्यान नहीं दिया गया है। विभिन्न प्रकार की महापाषाणिक कब्रें, जिनका काल दूसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध से आरंभ होता है, दक्षिण प्रायद्वीप की विशेषता हैं। उनके उद्‌भव और बस्तियों के साथ उनके संबंध किसी हद तक एक गुत्थी बने हुए हैं लेकिन उनसे उन सांस्कृतिक स्तरों और तंत्रों का साक्ष्य तो मिलता ही है जो अभिलेखों, सिक्कों और पाठों से प्राप्त सूचनाओं

में प्रतिबिंबित संस्कृतियों से पहले विद्यमान थीं।

पुरातात्विक सामग्री के हाल के अध्ययनों के फलस्वरूप इतिहास के निर्माण के एक कारक के रूप में पर्यावरण में विद्वानों की रुचि जगी है। इसकी शुरुआत इस संबंध में चलनेवाली लंबी बहस से हुई कि क्या सैंधव नगरों के पतन का बहुत बड़ा कारण पर्यावरणीय क्षय था। अब इसमें उत्तरी भारत में घग्घर-हकरा नदी के सूख जाने और उसके फलस्वरूप जल-स्थिति में हुए परिवर्तनों तथा उनके ऐतिहासिक फलितार्थों से संबंधित साक्ष्य भी जुड़ गया है। गुप्त काल में शहरी केंद्रों के ह्रास की बात भी पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर ही कही गई है। इस प्रकार गुप्त काल के प्रचुर शहरी समृद्धि के दावे पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है। शिल्प-तथ्यों को प्रौद्योगिकी के सूचक के रूप में परखा जा सकता है, और इसके फलस्वरूप इतिहास में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन की भूमिका की पड़ताल की जा सकती है। उदाहरण के लिए लौह प्रौद्योगिकी पर काफी लंबी बहस चली है, ख़ास तौर से गंगा के मैदान में शहरीकरण से संबंधित जंगलों को साफ करने और लोहे के फाल के उपयोग की प्रक्रियाओं के संदर्भ में।

पुरातात्विक साक्ष्यों ने इतिहास के लिए भूगोल के महत्त्व को भी रेखांकित किया है, विशेष रूप से बस्तियों की अवस्थिति, लोगों के देशांतरण और राज्यों की संरचना को समझने की दृष्टि से। उत्तर भारत में सैंधव-गांगेय मैदानों में बड़े-बड़े एकात्मक राज्यों का उदित होना अधिक आसान था। उपमहाद्वीप के दक्षिणी भाग, अर्थात् प्रायद्वीप को पहाड़, पठार और नदियों की घाटियां छोटे-छोटे क्षेत्रों में विभाजित कर देती थीं। इस भूस्थिति में विस्तृत राज्यों का काम करना अधिक कठिन था। साम्राज्यों के युग में, अर्थात् उन्नीसवीं सदी में, इतिहासकारों का ध्यान उत्तर के बड़े-बड़े राज्यों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। जिन कालों में ऐसे राज्य फूले-फले उन्हें 'स्वर्ण युगों' की संज्ञा दी गई और जिन कालों में छोटे-छोटे और अधिक स्थानीकृत राज्यों का विकास हुआ उन्हें 'अंधकारमय युग' कहा गया। प्रायद्वीप के इतिहास की ओर सिवाय तब के कम ध्यान दिया गया जब वहां भी बड़े-बड़े राज्य उभरे। इस कारण से उसकी और भी उपेक्षा हुई कि प्रायद्वीप की राजनीतिक रणनीति और आर्थिक संभावनाएं उत्तर भारत से भिन्न प्रकार की थीं। इस भिन्नता का एक ख़ास उदाहरण यह है कि प्रायद्वीप के कुछेक राज्यों में अर्थव्यवस्था के अंग के रूप में समुद्री व्यापार का उपयोग किया गया।

पूर्ववर्ती दृष्टियों के मुकाबले जो अधिक दिलचस्प बदलाव आए उनमें से एक यह एहसास है कि कोई ख़ास भौगोलिक क्षेत्र स्थायी रूप से ऐतिहासिक गतिविधियों के चूल नहीं बने रहते। वे बदल सकते हैं और बदलते हैं। यही बात उनके परिधिवर्ती क्षेत्रों पर भी लागू होती है। कभी-कभी कई केंद्रों का एक ही इतिहास होता है लेकिन कभी-कभी उनके अलग-अलग इतिहास भी होते हैं। ऐसे क्षेत्र क्यों बदलते हैं और

यह बदलाव ऐतिहासिक विकास को किस प्रकार से प्रभावित करता है, यह अपने-आप में छानबीन का एक योग्य विषय है। क्षेत्र के महत्त्व और भूआकृति तथा पारिस्थितिकी से उसका संबंध इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। लेकिन भारतीय उपमहाद्वीप का कोई क्षेत्र कोई अलग-थलग और अपने-आप में स्वतंत्र ऐतिहासिक हस्ती नहीं बन सकता और अनिवार्यत: क्षेत्रीय इतिहासों का संबंध अधिक विस्तृत समग्रताओं के साथ स्थापित करना पड़ता है। क्षेत्रों के विशद अध्ययनों के फलस्वरूप भूदृश्य में अभिरुचि जगी है और यह जिज्ञासा भी उत्पन्न हुई है कि उसमें बदलाव कैसे आया। परिवर्तन के कारक भूगर्भ-विज्ञान, भू-आकृति-विज्ञान और मानव गतिविधियों पर निर्भर हैं, लेकिन जिस वात की अधिक बारीकी से छानबीन करनी है वह है भूदृश्य के परिवर्तन का इतिहास पर पड़नेवाला प्रभाव। इसके सबसे स्पष्ट उदाहरण नदियों के मार्गों में आए बदलाव या निर्वनीकरण हैं। तब भी हममें यह मानने की प्रवृत्ति है कि आज का भूदृश्य भी कलवाला ही है।

क्षेत्रीय कार्य से ही जुड़ा हुआ है आनुश्रुतिक परंपरा का अध्ययन, जिसका उपयोग मानव-वैज्ञानिकों ने मिथकों तथा कौटुंबिक पद्धतियों के विश्लेषण के लिए सामग्री जुटाने में किया है। यद्यपि यह जरूरी नहीं है कि मिथकों का संबंध पूर्ववर्ती कालों से ही हो, तथापि कुछ मिथक ऐसे हो सकते हैं जो पूर्ववर्ती कालों के विचारों को आगे ले जाएं। लेकिन उनके अनिश्चित कालानुक्रम के कारण और इस बात को देखते हुए कि आम तौर पर वे वास्तविक घटनाओं के दस्तावेज नहीं होते, उनका इस्तेमाल सीमित तौर पर ही किया जा सकता है। मिथकशास्त्र और इतिहास बहुधा एक-दूसरे के विरुद्ध होते हैं और मिथक को तथ्यात्मक विवरण नहीं माना जा सकता। फिर भी मिथक में निहित सामाजिक मान्यताओं का पता लगाना कुछ किस्मों का इतिहास गढ़ने में सहायक हो सकता है। यदि मिथकों की व्याख्या सावधानी से की जाए तो वे अपने रचयिताओं की कल्पनाओं और उपचेतन विश्वासों का आभास दे सकते हैं और उधर मिथकों की संरचना से उन लोगों के समाज के अंदर के संबंधों और संघर्षों का संकेत मिल सकता है जो उन मिथकों का पोषण करते हैं। अब चूंकि इतिहास अनेक स्वरों को प्रतिध्वनित करता है, जिनमें से कुछ राजदरबारों से इतर स्रोतों से निसृत होते हैं, इसलिए आनुश्रुतिक परंपरा या अधिक लोकप्रिय परंपराओं को अब महत्त्वहीन कहकर खारिज नहीं किया जाता। स्पष्ट है कि आनुश्रुतिक परंपरा हाल के काल का अवशेष होती है, लेकिन आनुश्रुतिक परंपरा के मूल्यांकन की विधियों से परिचय उन पाठों की पुनर्परीक्षा में सहायक रहा है जो किसी समय पूर्ववर्ती आनुश्रुतिक परंपरा का अंग थे। आनुश्रुतिक स्रोतों को कभी-कभी इतनी सावधानी से कंठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था कि अनुश्रुत पाठ लगभग लिखित पाठ की तरह स्थिर हो जाता था। कतिपय वैदिक कर्मकांड से संबंधित ऋचाओं के मामले में ऐसा ही हुआ। लेकिन कंठस्थ करने की क्रिया

कभी-कभी कम बंधी और अधिक खुली हुई होती थी, जिसका उदाहरण *महाभारत* है। जिन मामलों में ऐसा होता था उनमें क्षेपक जोड़ने और मूल मौखिक रचना का विस्तार करने की बहुत संभावना रहती थी। आनुश्रुतिक परंपराएं जिन तरीकों से काम करती हैं उनके कारण आनुश्रुतिक पाठों के प्रति अनेक प्रकार के दृष्टिकोणों से काम लेने की गुंजाइश रहती है।

भाषा-विज्ञान एक और भी ऐसा क्षेत्र है जो प्रारंभिक भारत के इतिहासकारों के लिए मददगार साबित हो रहा है। किसी शब्द के विश्लेषण से उसके अर्थ को स्पष्ट करने में मदद मिलती है और यदि उसे ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जा सकता है तो उसके अर्थ में बहुत-कुछ जुड़ जाता है। राजा शब्द से पहले सरदार का बोध होता था और बाद में उस अर्थ का बोध होने लगा जिस अर्थ में हम आज उसका प्रयोग करते हैं। इस तरह के शब्दों का अपना अलग इतिहास होता है और उनका ऐतिहासिक वाचनों से संबंध होता है। समाज-भाषाविज्ञान से इस संबंध में साक्ष्य प्राप्त होता है कि शब्द किस प्रकार अपने प्रयोग के तरीकों के माध्यम से सामाजिक संबंधों का संकेत दे सकते हैं। भाषाओं के बीच संबंध होते हैं और भाषाएं अपने प्रयोग के कारण अन्य अलग-अलग भाषाएं बोलनेवाले लोगों के बीच के संपर्क के फलस्वरूप बदलती रहती हैं। इसलिए ये बदलाव अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन जाते हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से किसी भाषा का अध्ययन ध्वनि या अर्थ की समानताओं तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि उसमें भाषा की मूलभूत संरचना—व्याकरण, रूपविचार और ध्वनिशास्त्र—से परिचय का भी समावेश होता है और ऐसा परिचय किसी भाषा को सिर्फ बोलने और लिखने की अपेक्षा बहुत अधिक श्रमसाध्य होता है।

संभव है कि भारतीय उपमहाद्वीप में भाषिक विविधता अति प्रारंभिक काल से ही उपस्थित रही हो और हो सकता है कि सैंधव लिपि को पढ़ने के प्रयत्नों में एक बाधा यह भी रही हो। भारत में प्रयुक्त अनेक भाषाओं में से एक उदाहरण लें तो तिब्बती-बर्मी का संबंध पूर्वोत्तर सीमा क्षेत्रों और हिमालय के आसपास के इलाकों से रहा है। आस्ट्रो-एशियाई भाषा-समूह और ख़ास तौर से मुंडारी की प्रधानता मध्य भारत और पूर्वी भारत के कुछ हिस्सों में रही है। अगर उसके बोलनेवालों के मिथकशास्त्र में विश्वास करें या आद्यतम हिंद-आर्य रचनाओं के एक उपस्तर के रूप में लक्षित होनेवाले भाषाई तत्वों के साक्ष्य पर भरोसा करें तो मानना होगा कि उक्त भाषा-समूह का प्रयोग अधिक व्यापक था। संभव है कि द्राविड़ भाषा का प्रयोग आज की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्रों में होता रहा हो। इसके बोलनेवालों के कई समूह मध्य भारत में रहे होंगे और प्रायद्वीप में तो चार प्रमुख भाषाओं का जन्म इसी से हुआ है। इसके अतिरिक्त उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर हिस्से में भी ब्राहुई भाषा-भाषी हलके थे। कोई भाषा क्यों या किस प्रकार से विस्तार पाती है या

परिसीमित हो जाती है, इसके ऐतिहासिक कारण होते हैं।

हिंद-आर्य भाषा उत्तर भारत में धीरे-धीरे फैलती गई और इस क्रम में उसने आस्ट्रो-एशियाई और द्राविड़ भाषाओं के कुछ तत्व अपना लिए। यहां मैंने हिंद-आर्य भाषा मुहावरे का प्रयोग इरादतन किया है, क्योंकि हिंद-आर्य वास्तव में एक भाषागत छाप है, जिससे भारोपीय परिवार के एक भाषा-समूह का बोध होता है। वस्तुतः यह कोई नस्ल-सूचक शब्द नहीं है, इसलिए 'आर्य' को नस्ल कहना गलत है। हिंद-आर्य भाषाएं बोलनेवालों की नस्ली पहचानें अज्ञात हैं। जब पाठगत स्रोतों में *आर्य*का उल्लेख होता है तो तात्पर्य ऐसी पहचान से होता है जिसमें भाषा, सामाजिक स्थान और तत्संबंधी कर्मकांड तथा रीति-रिवाजों का समावेश है। इस पुस्तक में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।

सिवाय पुरातात्विक सामग्री के नए साक्ष्यों का कोई और ऐसा बड़ा स्रोत नहीं रहा है जिससे इस काल की हमारी समझ में आमूल परिवर्तन हो जाए। हाल में प्राप्त कुछ महत्त्वपूर्ण अभिलेखों और सिक्कों से कुछ अस्पष्टताओं के निराकरण में मदद मिली है। पाठगत सामग्री की छानबीन से ऐतिहासिक महत्त्व के कुछ पाठों से साक्ष्य एकत्र किए गए हैं, लेकिन ये पाठ संस्कृत से इतर भाषाओं में हैं। पाठगत सामग्री से संबंधित दृष्टिकोण में शायद सबसे अहम बदलाव इस बात की अधिकाधिक स्वीकृति है कि महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक, शिक्षात्मक पाठ या यहां तक कि अपने आज के रूप में दोनों महाकाव्य भी किसी एक निश्चित समय पर नहीं लिखे गए। दीर्घ काल तक उनका संपादन होता रहा और इस दौरान उनमें बहुत-कुछ जोड़ दिया गया। अमुक पाठ का रचयिता कोई एक व्यक्ति था, इस बात पर कोई आग्रह नहीं है। प्राचीन काल में पाठों की रचना और इस्तेमाल की परंपरा वैसी नहीं थी जैसी दृष्टि से रचनाकारों और पाठों को हम आज देखते हैं। यह स्वीकार किया जाता था कि जिनकी मान्यताएं आम तौर पर समान हों, ऐसे लेखकों का कोई सिलसिला एक ही पाठ का संपादन कर सकता है। अब जब पाठों से सामग्री एकत्र की जाती है तो रचनाकारों, उनके पाठकों-श्रोताओं और उनके प्रयोजन की ओर भी ध्यान दिया जाता है।

इन पाठों के कालानुक्रम पहले की ही तरह गुत्थी बने हुए हैं और इसलिए इन्हें ख़ास-ख़ास कालों से घनिष्ठता से जोड़ने के मार्ग में बाधा उपस्थित होती है। परंतु इनके अलावा अन्य कोटियों के पाठ भी काफी बड़ी संख्या में हैं, जैसे सृजनात्मक कृतियां। इनमें से प्रत्येक का एक अलग रचयिता है, भले ही इन पाठों के कालानुक्रम कभी-कभी अनिश्चित होते हों। इनका उपयोग तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक विश्लेषणों के लिए किया गया है। भाषा-शैली और मुहावरों की छानबीन के सिलसिले में पाठ-विशेष के संकलन के इतिहास का पता लगाने की भी कुछ कोशिश की गई है। कंप्यूटरों के इस्तेमाल से इस प्रकार की छानबीन में

कभी-कभी मदद मिली है, हालांकि यह विधि कठिनाइयों से सर्वथा मुक्त नहीं है।

भारतीय इतिहास के आरंभ से संबंधित चालू बहसों में से एक का संबंध पुरातत्व और भाषा-विज्ञान दोनों से है और साथ ही इस उपमहाद्वीप के मूल निवासियों तथा बाहर से आए लोगों के बीच भेद करने से भी है। लेकिन इतिहास ने यह दरशाया है कि समुदाय और उनकी पहचानें न तो स्थायी होती हैं और न स्थिर। या तो क्षेत्र-विशेष में नए लोगों के आगमन और नई प्रौद्योगिकियों के समावेश के कारण अथवा अधिक स्थानीय किंतु दूरगामी किस्म के ऐतिहासिक परिवर्तनों के फलस्वरूप उनका गठन बदल जाता है। कुछ क्षेत्र, जैसे सीमावर्ती प्रदेश, पहाड़ों के दर्रे और उपजाऊ मैदान अधिक परिवर्तन-प्रवण होते हैं, लेकिन संभव है कि घने जंगलों वाले इलाके या रेगिस्तान अपना अलगाव अधिक लंबे काल तक कायम रखें, और उनमें बदलाव तभी आए जब संसाधनों की खातिर बाहरी लोग उनमें दखल देने लगें। कुछ लोगों को मूल निवासी और कुछ को बाहरी बताना, इस उपमहाद्वीप के प्रथम निवासियों की पहचान के बारे में दलील करना और सुदूर अतीत के संदर्भ में इन कोटियों को छांटने की कोशिश करना असंभव को संभव बनाने का प्रयत्न है। संस्कृतियों के मूल अलग-अलग लोगों और विचारों के पारस्परिक मिश्रण में ही मिल सकते हैं। इसलिए मूल और बाहरी से संबंधित दलीलों के पीछे इतिहास के वाचन की नहीं बल्कि आज के विशेषाधिकार और सत्ता की चिंताओं की प्रेरणा है।

परिवर्तित केवल भूदृश्य ही नहीं हुआ, बल्कि समाज भी हुआ और बहुधा साफ दिखनेवाले ढंग से, लेकिन यह बात उपनिवेशवादी बोधों के अनुसार स्वीकार्य नहीं थी। इन बोधों के अंतर्गत आग्रह भारतीय इतिहास और समाज के अपरिवर्तनशील स्वरूप पर था। प्राचीन भारत के अध्ययन में राजवंशिक इतिहास पर ध्यान केंद्रित करने का कारण यह मान्यता थी कि 'प्राच्य' समाजों के रोजमर्रा के कार्यकलाप में भी राजा ही सर्वोपरि था। लेकिन सचाई यह है कि भारतीय राजनीतिक प्रणाली में रोजमर्रा के काम-काज के अधिकार क्वचित ही पूर्णतः केंद्र के हाथों में होते थे। प्राच्य निरंकुशता जैसे सिद्धांतों में जिन चीजों को मुख्यतः केंद्रीकृत समझा जाता था उनमें बहुत-कुछ ऐसा था जो स्थानीकृत था, और इनका प्रबंधन जाति-व्यवस्था या इसी तरह के अन्य संगठन संभालते थे। भारत में राजनीतिक सत्ता को समझने के लिए जाति-आधारित संबंधों और श्रेणियों तथा शहरी और ग्रामीण सभाओं जैसी संस्थाओं का विश्लेषण आवश्यक है। यहां हमारा काम मात्र राजवंशों के सर्वेक्षण से नहीं चल सकता। संस्थाओं के अध्ययन पर ख़ास ज़ोर नहीं दिया गया, इसका कुछ कारण यह विश्वास था कि उनमें विशेष परिवर्तन नहीं हुआ और उधर इस विचार का स्रोत यह मान्यता थी कि भारतीय संस्कृति अपरिवर्तनशील है, जिसका मुख्य कारण भारतीयों का आलस्य और जीवन के प्रति उनका निराशावादी, भाग्यवादी

दृष्टिकोण है। परंतु जातीय संरचना के अंतर्गत सामाजिक संबंधों में आए बदलावों या राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं के बीच के संबंधों अथवा सदियों के दौरान चलनेवाली भारतीयों की प्रबल व्यापारिक गतिविधियों के सतही विश्लेषण से भी गतिहीन या अपरिवर्तनशील सामाजार्थिक पद्धति का कहीं कोई भान नहीं होता। कुछ स्तरों पर भारत की सांस्कृतिक परंपराओं के कतिपय पहलुओं के मूल कुछ हजार साल पहले ढूंढ़े जा सकते हैं, लेकिन इस प्रकार के सातत्य को गतिशून्यता समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। गायत्री मंत्र[1] के जाप का इतिहास तीन हजार साल पुराना है, लेकिन इसके वर्तमान संदर्भ के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि तब से अब तक वह अपरिवर्तित रहा है और इतिहासकार के लिए किसी स्रोत के हवाले का उतना ही महत्त्व है जितना कि उसकी अंतर्वस्तु का।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ज्ञान की सभी शाखाओं में विशेषज्ञता पर बहुत अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। इसलिए किसी भी विषय में कोई गंभीर और सुविचारित राय बनाना तव तक असंभव है जब तक कि हमें उस विषय के संबंध में कुछ तकनीकी विशेषज्ञता हासिल न हो।

इस प्रकार की विशेषज्ञता से संपन्न होने से अध्ययनाधीन विषय हमें अधिक आनंद भी देता है और उसे समझने में हमें सहायता भी मिलती है। किसी पाठ, मुद्रालेख या पुरालेख को पढ़ पाना तो न्यूनतम अपेक्षित ज्ञान है, परंतु मुद्राशास्त्र के गणित, प्रतीकों के लक्षणशास्त्र और किसी पाठ के सांदर्भिक आयामों से थोड़ा-बहुत परिचय इतिहास को जितना समझा जाता था उसकी अपेक्षा बहुत अधिक समृद्ध ज्ञान-शाखा बना देता है। किसी पाठ की व्याख्या के लिए उसके रचनाकार, उसके मंतव्य, उसके पाठक-श्रोता, उसके ऐतिहासिक संदर्भ तथा उसी प्रकार के अन्य पाठों से उसकी तुलना का सहारा लेना आवश्यक होता है। फलतः पेशेवर इतिहासकार और शौकिया इतिहास-लेखक के बीच बहुत अंतर होता है। गरज यह कि इस प्रकार के इतिहास का काम ऐतिहासिक अनुसंधान में उभरती समृद्धतर अभिरुचि का कुछ सुवास प्रस्तुत करना है।

इस पुस्तक में मैं राजनीतिक इतिहास का उपयोग एक मोटे ढांचे के रूप में ही करने की कोशिश करूंगी, जिसका उद्‌देश्य सिर्फ एक कालानुक्रमिक दिशा का भान कराना होगा, भले ही कालानुक्रम हमेशा निश्चित न हो। इसमें शासकों के कुछ नामों का भी उल्लेख होगा, क्योंकि वह भारतीय इतिहास का अधिक परिचित पहलू है। लेकिन प्रत्येक अध्याय में मुख्य रूप से विचाराधीन काल के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक पहलुओं को मोटे तौर पर आपस में जोड़कर देखने का प्रयत्न किया गया है, जिसका उद्‌देश्य यह दरशाना है कि परिवर्तन कहां और क्यों हुए

---

1. सूर्य का आवाहन करनेवाली ऋग्वेद की एक ऋचा, जिसे विशेष रूप से पवित्र माना जाता है।

हैं और इन परिवर्तनों का प्रत्येक पहलू पर क्या प्रभाव पड़ा है। जहां सातत्य हैं वहां वे साफ दिखाई देंगे। इसलिए प्रत्येक अध्याय के उपविभागों का उद्देश्य यह दिखलाना नहीं है कि वे एक-दूसरे से अलग हैं, बल्कि वे यह दरशाते हैं कि संबंधित काल में क्या-कुछ महत्त्वपूर्ण था। पहले अध्याय में मैंने काल-विभाजन पर विचार किया है, लेकिन विभिन्न अध्यायों की अंतर्वस्तुएं प्रथम अध्याय में सूचीबद्ध कालों से ठीक-ठीक मेल नहीं खातीं, हालांकि पुस्तक में वहां सुझाई पद्धति का अनुसरण किया गया है।

परिवर्तन का सिलसिला ऐसे छोटे-छोटे समाजों और राज्यों से आरंभ होता है जिनका संगठन अपेक्षाकृत सरल था। धीरे-धीरे अधिक जटिल समाजों का उदय होता है, जिनमें बहुधा बड़े-बड़े राज्य होते हैं और साथ ही वे सब चीजें जो ऐसे राज्यों को दरकार हैं। संक्षेप में, दूसरे किस्म के समाजों में तरह-तरह के पहलुओं का समावेश था, जैसे ज़मीनी यथार्थ की दृष्टि से वस्तुतः विस्तृत क्षेत्र की व्यवस्था करने की आवश्यकता; विभिन्न प्रकार की कृषि-संबंधी और वाणिज्यिक अर्थव्यवस्थाएं; विविध प्रकार के सामाजिक रूप, जिनमें से कुछ को तो समरूप जाति-संगठन का अंग समझा जाता था लेकिन कुछ को उससे अलग बताया जाता था; ज्ञान की संरचनाएं और वह तरीका जिससे उनके विचारधारात्मक सूत्र समाज तथा संस्कृति के अन्य पहलुओं से जुड़े हुए थे; अनेक प्रकार के धार्मिक संप्रदाय, जिनमें सामाजिक सरोकार अभिव्यक्त होते थे और साथ ही जिनमें मिथकशास्त्र से लेकर दार्शनिक विचार तक समाविष्ट थे; विभिन्न प्रकार का रचनात्मक साहित्य; ऐसे पवित्र स्थलों की अवस्थिति जिनमें धार्मिक संप्रदायों को एवं उनके विविध उपासना-रूपों को मूर्त उपस्थिति प्राप्त होती थी। इन मदों की सूची में वे तरीके सहज समाविष्ट हैं जिनसे ये आपस में जुड़ी हुई थीं और उनके रूप या तो प्रभावपूर्ण रहे या क्रमशः तिरोहित हो गए। इन संबंधों और इनके द्वारा संपादित परिवर्तनों या दूसरे शब्दों में ऐतिहासिक परिवर्तन की व्याख्या को आगे के विवरण उद्घाटित करेंगे, ऐसी आशा की जाती है।

हम यह मानते हैं कि यहां विवेचित इतिहास का बहुत सारा अंश राज्यों के अस्तित्व से या कम-से-कम राजनीतिक संगठन के रूपों की स्वीकृति से उभरता है। किसी राज्य की संरचना एक स्वीकृत ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में बस्तियों का केंद्रीकरण होता है और इस तरह ये बस्तियां शहरों के रूप में विकसित हो सकती हैं। राज्य की उपस्थिति परिस्थिति में उससे अधिक जटिलताएं उत्पन्न करती है जितनी कि उन समाजों में दिखाई देती हैं जिनमें अभी राज्य विकसित नहीं हुए हैं। इससे यह धारणा भी उत्पन्न होती है कि प्राचीन इतिहास में विभिन्न प्रकार के राज्य हो सकते हैं। कोई राज्य कौन-सा रूप ग्रहण करता है, यह उसके घटकों पर निर्भर होता है। राज्य के रूप-विशेष का पता लगाना या वह किस प्रकार से

काम करता है, इसकी जानकारी हासिल करना भी संबंधित देश और काल के इतिहास के पर्यवेक्षण का एक तरीका हो जाता है। यह जरूरी नहीं कि सभी क्षेत्रों में राज्यों का उदय साथ-साथ हो। यह परिवर्तन अलग-अलग देशकालों में हो सकता है। इसलिए काल-निर्धारण किसी ख़ासे बड़े क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का ही संकेत है। प्राचीन काल में वह प्रत्येक क्षेत्र पर लागू हो, यह कोई जरूरी नहीं है। हां, कालांतर में परिवर्तन अधिक एकरूप अवश्य हो गया।

राज्य का स्वरूप निर्धारित करने में प्रशासन की संरचना से मदद मिली। इस संरचना की शुरुआत एक ऐसे आरंभिक ढांचे के रूप में हुई जिसका प्रयोजन यह सुनिश्चित करना था कि सरकार, चाहे वह किसी सरदार की सरकार हो या राजा की या अन्य किसी प्रकार के राज्य की, ठीक से काम करे। लेकिन धीरे-धीरे वह अधिकाधिक जटिल होती चली गई, जिसका कारण यह था कि उसे अपने परिवेश से-जंगलों, चरागाहों, रेगिस्तान, खेतों, पहाड़ों, समुद्रों से-अपना सामंजस्य बैठाना पड़ा और बड़े-बड़े राज्यों के परिवेश में बहुत विविधताएं हो सकती थीं, जिससे कभी-कभी कोई कटा-तराशा समरूप प्रशासन स्थापित करने में रुकावट पैदा होती थी। इसलिए शासन की अवधारणा को एक हद तक स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप संशोधित करना पड़ता था। सत्ता के केंद्रीकरण और वितरण के बीच संतुलन प्रशासन का एक अन्य निर्धारक तत्व था। यही बात संसाधनों के नियंत्रण पर भी लागू होती थी। शासन के सिद्धांतों ने प्रशासन के रूप को प्रभावित भी किया होगा और वे स्वयं उससे प्रभावित भी हुए होंगे। राज्य-विशेष में प्रदेशों का समावेश सैनिक अभियानों पर निर्भर हो सकता था। यदि अभियान सफल होता होगा तो उसमें अधिक प्रदेश शामिल हो जाता होगा और विफल होने पर मौजूदा प्रदेश भी हाथ से निकल जाता होगा। इस प्रकार के सीमांकनों का आधार राजनीति होती थी, लेकिन उससे कम हद तक किसी क्षेत्र की भौगोलिक आकृति भी।

अर्थव्यवस्थाएं राज्यों के रूपों और उसके हाथों में निहित सत्ता के अनुरूप होती थीं। कृषि-अर्थव्यवस्थाओं में पारिस्थितिकी, फसलों के रूपों, सिंचाई की पद्धतियों और कृषि-भूमि पर नियंत्रण के सोपान के अनुसार फर्क होता था। नियंत्रण के सोपान में आरंभ में विविधता थी, लेकिन कालांतर में उसने ऐसे रूप ग्रहण कर लिए जिनका फैलाव बड़े-बड़े क्षेत्रों तक होता था। ये रूप सत्ता के स्रोतों, अर्थव्यवस्थाओं के संसाधनों तथा मानव श्रम प्राप्त करने और उसे नियंत्रित करने के अलग-अलग तरीकों की उपज थे। नगरों का विकास वाणिज्य का भी सूचक है। कुछ क्षेत्रों में तो व्यापार सबसे अधिक प्रभावकारी अर्थव्यवस्था था। अतीत में भारत के इतिहास को मुख्य रूप से थल-सीमित रखा गया है और समुद्री व्यापार को सीमांत भूमिका ही प्रदान की गई है। लेकिन अब समुद्री व्यापार की ओर ध्यान देकर इस भूल को दुरुस्त किया जा रहा है और उसकी ओर ध्यान न केवल वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था की दृष्टि

से दिया जा रहा है, बल्कि भारत में बस जानेवाले व्यापारियों द्वारा सृजित नई पहचानों की दृष्टि से भी दिया जा रहा है।

जाति को इस उपमहाद्वीप का एक समरूप सामाजिक संगठन मानने की प्रवृत्ति रही है। लेकिन वस्तुतः उसमें इस दृष्टि से विविधता रही है कि वर्चस्व भूस्वामी समूहों का था या व्यापारिक समूहों का। इस दृष्टि से अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्नता हो सकती थी। समाज की सोपान-व्यवस्था तो समरूप हो गई, लेकिन इस सोपान से पेश आने के अलग-अलग तरीके थे, जिससे विविधता आई। कृषि और वाणिज्य जातियों को अलग-अलग प्रकार की स्वतंत्रता देते हैं और उन पर भिन्न-भिन्न किस्म की पाबंदियां लगाते हैं। इससे स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि कुछ परिस्थितियों में क्या संरक्षण-दाता और सत्ता की स्थिति की प्राप्ति का अधिक प्रभावकारी पैमाना जातीय दर्जे की अपेक्षा संपत्ति नहीं थी। अब जातियों की संरचना की पड़ताल यह समझने के एक उपाय के तौर पर की जा रही है कि भारतीय समाज किस प्रकार से काम करता था। जातियों के उदय की कई संभावनाएं बताई जा रही हैं – जैसे वनवासी कबीलों में से उनका उदय, पेशेवर समूहों या धार्मिक संप्रदायों के जातियों के रूप में उभरकर सामने आना। इसलिए जाति को आज पहले की अपेक्षा कम कठोर और जड़ीभूत व्यवस्था माना जा रहा है। लेकिन साथ ही इससे सामाजिक इतिहासकारों के लिए कई नए प्रश्न उत्पन्न होते हैं।

संरचनाबद्ध ज्ञान की बहुविध अभिव्यक्तियों को सामान्यतः दार्शनिक विचारों से जुड़ा हुआ माना जाता है और वे वस्तुतः ऐसी थीं भी। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि प्रौद्योगिकीय व्यवहारों से इनका कोई संबंध ही नहीं था। दरअसल तो ऐसे विषयों पर पाठों की रचना भी हुई। ज्ञान के परिरक्षण और अभिवृद्धि के तरीके अनेक थे, जिनमें एक ओर अनुश्रुति का तो दूसरी ओर लिखित पाठ का समावेश था। इन्हीं तरीकों से प्रौद्योगिकीय ज्ञान से लेकर सैद्धांतिक ज्ञान तक का परिरक्षण और अभिवर्धन किया गया। इस संदर्भ में असनातन प्रवृत्ति और सनातन प्रवृत्ति, विश्वास के स्वरूप और शंका के स्वरूप के बीच चलनेवाली बौद्धिक खींचतान भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

सृजनात्मक साहित्य की रचना प्रत्येक काल में हुई, लेकिन उसने जो प्रमुख रूप ग्रहण किए, उनमें विविधता दिखाई देती है। महान् आनुश्रुतिक रचनाएं, जैसे महाकाव्य, अधिक पुराने युग की हैं, लेकिन शिक्षित अभिजन वर्ग के अधिक दरबारी किस्म के साहित्य के प्रणयन में ईसवी सन् की प्रारंभिक सदियों में तीव्रता आई। मगर दरबारों द्वारा परिष्कृत ढंग के काव्य और नाटकों को प्रोत्साहन दिए जाने के बावजूद महाकाव्यों की लोकप्रियता कायम रही। उनकी लोकप्रियता दरबारी साहित्य के लिए लोकोन्मुख साहित्य से समय-समय पर चुने गए विषयों में परिलक्षित होती है, हालांकि उन विषयों का निरूपण दरबारी साहित्य में भिन्न प्रकार से किया गया।

इसी प्रकार, धार्मिक साहित्य में कर्मकांडी पाठों से लेकर धार्मिक कवियों और शिक्षकों द्वारा आम लोगों के लिए सृजित रचनाओं और साथ ही एक विशेष प्रकार के लोगों के लिए प्रणीत दार्शनिक चिंतन से संबंधित रचनाओं का समावेश है। चूंकि स्रोत मुख्य रूप से अभिजन वर्ग से संबंधित हैं, इसलिए साधारण लोगों के धर्म के संबंध में हमें कम जानकारी है और जो जानकारी है वह स्रोतों से अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुई है। हो सकता है, भविष्य में की जानेवाली बस्तियों की खुदाइयों से लोक-धर्म के संबंध में अधिक सामग्री प्राप्त हो। लेकिन जितनी कुछ जानकारी मिल सकती है उससे लगता है कि आम लोगों के स्तर पर धर्म में स्वाभाविक रूप से काफी सातत्य था, जैसे स्थानीय देवियों की पूजा।

भारत के धर्मों की आरंभिक समझ पाठों पर आधारित थी। सो भारत में धर्मों के इतिहास के अध्ययन में उन पाठों का उपयोग तो किया ही गया है, साथ ही कर्मकांड और विश्वास से संबंधित जानकारी के साथ विभिन्न उपासनाओं का भी अन्वेषण किया गया है और उन अनेक संप्रदायों के इतिहास पर दृष्टिपात किया गया है जो ख़ास-ख़ास धार्मिक विश्वासों और पूजा के रूपों का समर्थन करनेवाले सामाजिक समूहों में फैले हुए हैं। वैदिक ब्राह्मण-धर्म को, जिसकी पहचान वैदिक साहित्य पर आधारित है, धर्म का ऐसा रूप बताया गया है जो सामाजिक दृष्टि से प्रभुत्वशाली समूहों से संबंधित था और ऐसे आचारों और विश्वासों का समर्थन करता था जिन्हें एक प्रकार का रूढ़िवाद कहा जा सकता है। इसके साथ ही उन आंदोलनों का अध्ययन भी किया गया है, जो विभिन्न दृष्टियों से वैदिक ब्राह्मण-धर्म से अलग हैं। ऐसा एक सुप्रतिष्ठित समूह श्रमणों का है, जिसमें बौद्ध धर्म, जैन धर्म तथा अनेक 'असनातनी' संप्रदाय शामिल हैं। अपेक्षाकृत हाल के अध्ययनों में हिंदू परंपरा के अंतर्गत आनेवाले तथा आगमों एवं पुराणों के रूप में ज्ञात पाठों से अपनी पहचान ग्रहण करनेवाले और सनातनता से विभिन्न रूपों में संबद्ध या विच्छिन्न संप्रदायों को उस चीज के घटकों के रूप में देखा गया है जिसे धर्मों के कुछ इतिहासकार पौराणिक हिंदू धर्म या पौराणिक धर्म कहना पसंद करते हैं। वैदिक ब्राह्मण-धर्म के विश्वास और कर्मकांड से इन संप्रदायों के अंतर इनकी विलक्षणतासूचक विशेषताएं हैं। इन संप्रदायों के इतिहास से या तो इनके द्वारा अपनी विलक्षणताओं को कायम रखने की प्रक्रिया या वैदिक ब्राह्मण-धर्म से सामंजस्य स्थापित करने की प्रक्रिया का पता चलता है।

भारत के धर्म में धार्मिक संप्रदायों और जातियों के बीच बहुधा प्रचुर अंतरंगता रही है, और काफी हद तक स्वतंत्र संप्रदायों की बहुलता को देखते हुए कुछ विद्वान हिंदू धर्म की अपेक्षा 'हिंदू धर्मों' मुहावरे का प्रयोग करते हैं। धार्मिक पहचान का वर्णन करने के लिए 'हिंदू' शब्द का प्रचलन काफी बाद के काल में, अर्थात् दूसरी सहस्राब्दी ई. में हुआ। उसके पूर्व तक बहुधा सांप्रदायिक पहचानों की ही बात की

जाती थी, क्योंकि व्यापक अर्थों वाले शब्द 'धर्म' में न केवल धार्मिक कर्तव्यों का समावेश था बल्कि उसमें बहुत सारे सामाजिक दायित्व भी शामिल थे। संप्रदाय हमेशा दीर्घ काल से प्रवाहित धार्मिक मुख्यधारा से टूटकर ही नहीं बनते हैं, बल्कि कभी-कभी उनका जन्म किसी विश्वास, पूजा-पद्धति और मिथक के पारस्परिक मिश्रण से भी होता था। धार्मिक संप्रदायों को समाज के खंडों के रूप में जातियों से जोड़कर देखने से पता चलता है कि किस बिंदु पर जाकर धार्मिक और सामाजिक सरोकार एक-दूसरे का अतिक्रमण करने लगते हैं। इससे अधिक दिलचस्पी की बात यह है कि धर्म की इन लोकप्रिय अभिव्यक्तियों में से कुछ को किस प्रकार अभिजन वर्ग की धार्मिक प्रवृत्ति में भी स्थान मिल जाता है।

इस अंतिम पहलू के फलस्वरूप कला के इतिहास से संबंधित एक आयाम सामने आ जाता है, जिसे इतिहास के साथ शायद अधिक घनिष्ठता से जोड़ने की आवश्यकता है। अब कला का इतिहास संग्रहालय में पड़ी किसी अकेली प्रतिमा या अपने-आप में एक अलग हस्ती के रूप में किसी संरचना के विवेचन तक सीमित नहीं है। प्रत्येक एक बृहत्तर इतिहास का हिस्सा है। उदाहरण के लिए, स्थापत्य को एक संस्था के प्रतिनिधि के रूप में भी देखना है और संस्थागत एवं सौंदर्यशास्त्रीय दोनों तरह की आवश्यकताएं मिलकर ही उसका रूप निर्धारित करेंगी। इस मामले में आख्यान-कला, चाहे उसका संबंध बुद्ध के जीवन की कथाओं से हो या देवी-देवताओं से संबद्ध मिथकों से, कई प्रकार से सेतु का काम करती हैं। एक स्तर पर तो ये वास्तविकता के बोधक है, लेकिन साथ ही ये यहीं तक सीमित नहीं हैं और इनके अन्य अर्थों को भी झांक कर देखना है। इसी प्रकार यह सनातन प्रश्न भी अपनी जगह कायम है कि किसी उपास्य की प्रतिमा को मुख्य रूप से कलाकृति के रूप में देखना है या धार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में या कि दोनों रूपों में और साथ ही उससे भी अथवा इस सबसे किसी बड़ी चीज के तौर पर। कला के इतिहासकारों ने यह प्रश्न भी उठाया है कि कोई प्रतिमा कब रूढ़ रूप ग्रहण कर लेती है, इसका संबंध कलाकारों या वास्तुकारों की पहचानों से है। पूर्ववर्ती काल में ये लोग मुख्यतः गुमनाम ही रह जाते हैं। हाँ यदा-कदा इक्के-दुक्के नाम आ जाते हैं। बाद के काल में जाकर उनके नामों का उल्लेख अधिक होने लगता है और तब हमें उनके बारे में कुछ जानकारी मिलने लगती है। लेकिन यह जानकारी भी सीमित ही रहती है, हालांकि उनके संरक्षकों के बारे में हमें अधिक सूचना मिलती है। हमारे समकालीन सौंदर्यशास्त्रीय सरोकार प्राथमिक हो जाते हैं, यद्यपि ये पूर्वकालीन सौंदर्यशास्त्र से भिन्न हैं। सही कहा गया है कि हमें इस बात का पता लगाना होगा कि कितना-कुछ बंधी-बंधाई परिपाटी का हिस्सा था और कितने के पीछे संबंधित काल की प्रेरणा थी, जिसका मतलब यह हुआ कि इतिहासकारों को 'संबंधित काल की दृष्टि' का पता लगाना है।

यहां निर्दिष्ट मदों की सूची और अतीत के पहलुओं के रूप में उन मदों के वर्णन और विवेचन में व्याख्या के सिद्धांत सहज समाहित हैं। इन पहलुओं के विवेचन का मैंने जो प्रयत्न किया है उससे यह रहस्य खुलता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में इतिहास की गति कैसी थी और समाज किस प्रकार बदले। पूर्वकालीन भारत के इतिहासकारों में इस संबंध में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक संवेदनशीलता है कि पूर्वकालीन इतिहास किस प्रकार लिखा जाए। इतनी ही जागरूकता इस प्रकार के इतिहास-लेखन के बौद्धिक आयामों के प्रति भी है। चार दशक पूर्व यह एक प्रारंभिक पड़ताल थी, लेकिन अब यह प्रचुर ऐतिहासिक दिलचस्पी का विषय बन गया है। इससे स्वयं इतिहासकार भी इतिहास लेखन संबंधी नक्शे (Historiographical map) पर अपनी स्थिति के संबंध में अधिक सजग हो गए हैं। उस हद तक ऐतिहासिक दलील में बहुत कसावट आ गई है और वह अत्यधिक सावधानी और श्रम की अपेक्षा रखती है। उसके उपरांत ऐतिहासिक अनुसंधान का जो सिलसिला शुरू हुआ उसमें व्याख्या के सिद्धांतों के केंद्रीय महत्त्व के कारण इतिहास के विवरण को ऐसी दिशा में बढ़ावा दिया गया है जिससे जहां सूचना उपलब्ध है वहां अतीत के व्यक्तित्वों, उनके कार्यों तथा इस बात के बीच के संबंध उजागर हों कि उन्होंने किस हद तक ऐतिहासिक संदर्भ का निर्माण किया या ऐतिहासिक संदर्भ ने किस हद तक उनका निर्माण किया। तथापि कुछ अपवादों को छोड़कर असली महत्त्व की बात ऐतिहासिक संदर्भ ही है और यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि अब ध्यान का केंद्र समूह बन गए हैं। जिन समूहों को पहले महत्त्वहीन माना जाता था और जिन गतिविधियों को पहले कोई अहमियत नहीं दी जाती थी उनकी ओर कुछ ध्यान देने के फलस्वरूप इतिहास के मैदान के खिलाड़ियों की संख्या अनिवार्यतः बढ़ गई है। इस परिवर्तन का उद्देश्य एक जटिल समाज का, उसके बदलावों के सिलसिले का, उसकी सृजनात्मकता का, और सभ्यता की अभिवृद्धि में योगदान करने के उसके प्रयत्नों का अधिक समेकित बोध प्राप्त करना है।

अध्याय : एक

अतीत के बोध

उपनिवेशवादी व्याख्या : प्राच्यवादी वाचन

भारतीय इतिहास पर आधुनिक लेखन भारतीय अतीत के संबंध में उन उपनिवेशवादी बोधों से आरंभ हुआ, जिन्होंने उसकी आगे की व्याख्याओं के लिए बीजांकुर का काम किया। उसने अठारहवीं सदी से इस उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ आकार ग्रहण किया। यूरोपीय विद्वानों ने भारत के इतिहासों की तलाश की तो उन्हें ऐसा कोई इतिहास नहीं मिला जो इतिहास कैसा होना चाहिए, इस विषय में यूरोपियों की परिचित दृष्टि से मेल खाता हो। इतिहास के संबंध में उनकी यह दृष्टि अंशतः यूरोपीय पुनर्जागरण से प्रभावित थी। उन्हें जो एकमात्र कृति इतिहास-जैसी लगी वह थी *राजतरंगिणी*, जो कश्मीर का इतिहास थी और जिसे कल्हण ने लिखा था। उन्होंने भारत को मात्र एक हिंदू और सांस्कृतिक (अर्थात् संस्कृत भाषा से संबंधित) सभ्यता के रूप में देखा। निदान उन्होंने उन अनेक इतिवृत्तों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जो मुख्यतः फ़ारसी में तुर्क, अफगान और मुगल शासकों के दरबारी कवियों और इतिवृत्तकारों द्वारा लिखे गए थे। इन सबको भारतीय सभ्यता के लिए पराया माना गया, यद्यपि इनकी अंतर्वस्तु का संबंध भारतीय समाज तथा राजनीति से था और जिन लोगों के विषय में इनमें लिखा गया था वे भारत में बसकर उसके समाज के अंग बन चुके थे। अब तक वे अन्य संस्कृत अन्य स्रोतों से भी – जैसे स्थानीय इतिवृत्तों से या उन लंबे अभिलेखों से परिचित नहीं थे जो विभिन्न शासकों द्वारा जारी किए गए थे और एक तरह से राजवंशीय विवरण थे।

हिंदू और सांस्कृतिक तत्वों को विश्व इतिहास को भारत के योगदान के रूप में खूब उछाला गया और अन्य धार्मिक तथा भाषाई संस्कृतियों को, जैसे बौद्ध और जैन संस्कृतियों को, भारतीय सभ्यता की संरचना की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं दिया गया; बल्कि वस्तुतः तो इसलाम भारत में जिस रूप में विकसित हुआ, उस रूप

में उसके योगदान को भी नकार दिया गया। बौद्ध धर्म के प्रति कुछ उदारता बाद में दिखाई गई। इसलाम के विरुद्ध आरंभिक शत्रुता में निस्संदेह ऐतिहासिक कारणों से, जिनकी शुरुआत धर्मयुद्धों से हुई, तीक्ष्णता आ गई थी। यदि इसलाम की भूमिका को किंचिन्मात्र स्वीकार भी किया गया, तो उसे नकारात्मक ही कहा गया। इस प्रकार के फैसले नगण्य·साक्ष्यों के आधार पर या बिना किसी साक्ष्य के दिए गए, क्योंकि तब तक भारत में इसलाम के इतिहास की कोई पड़ताल नहीं हुई थी।

अतीत को समझने के और भी तरीके हो सकते थे या भारतीयों ने अपने इतिहास को किसी और ढंग से देखा होगा, इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। समाजों को ऐसे दो भागों में बांट दिया गया जिनमें इतिहास-बोध है या उसका अभाव है। उन्होंने माना कि भारत का कोई इतिहास तो नहीं ही है, और साथ ही उसकी अनुपस्थिति का कारण उन्होंने यह बताया कि प्राचीन भारत में काल की अवधारणा चक्रीय थी। इसलिए सभी मानवीय कार्यों की प्रत्येक चक्र में पुनरावृत्ति होती रहती है, ऐसी भारतीयों की मान्यता रही है। उनके लेख ऐतिहासिक दृष्टिकोण के लिए हानिकर था, क्योंकि यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रत्येक घटना को विलक्षण मानने की अपेक्षा रखता है। रेखीय अवधारणा इसी दृष्टिकोण का समर्थन करती थी, जिसमें काल-चक्रवत नहीं चलता है बल्कि सीधी रेखा की तरह चलता है, एक ख़ास आरंभ से एक निश्चित अंत की ओर। शासकों का कालानुक्रम तैयार करने के लिए भारतीय अतीत को वंशवृक्षों, इतिवृत्तों और वृत्तांतों के रूपों में देखने के उन तरीकों का अध्ययन अवश्य किया गया जो काल की रेखीय अवधारणा से मेल खाते थे, परंतु काल की अवधारणा के विवेचन में उनके स्पष्ट रेखीय आयाम की उपेक्षा कर दी गई। प्राचीन भारत में रेखीय और चक्रीय दोनों प्रकार के कालों के उपयोग के साक्ष्य मिलते हैं और इसको समझने का सर्वाधिक अंर्तदृष्टिपूर्ण तरीका दोनों के पारस्परिक विच्छेदन की ओर ध्यान देना होगा, इस तरह का कोई विचार इन विद्वानों के लिए पराया था।

अति प्रारंभिक काल से भारतीय उपमहाद्वीप की घटनाओं के संबंध में आपस में जुड़ा कोई स्पष्ट विवरण नहीं था, इसलिए उसके इतिहास का आधुनिक लेखन इस प्रारंभिक यूरोपीय अन्वेषण के आधार पर तैयार किए गए विवरणों से आरंभ हुआ। यही कारण है कि हमें भारतीय अतीत की 'खोज' और 'पुनर्खोज' जैसे शब्दों के उल्लेख देखने को मिलते हैं। विद्या की एक पृथक् शाखा के रूप में इतिहास यूरोप में अपना स्थान बना रहा था और उसे तरह-तरह के इतिहास-लेखक रूपाकार दे रहे थे। यूरोपीय जागरण से उत्पन्न विचारों से अतीत का जो बोध उभरा, उसने इतिहास-लेखन को रूप दिया। एडवर्ड गिबन द्वारा प्रस्तुत रोम साम्राज्य के विवरण जैसी कृतियों ने भी इसमें योगदान किया। भारत के संबंध में यूरोपीयों के मानस में, जो छवि बनी वह आरंभ में तैयार की गई इन्हीं तसवीरों से अनुप्रेरित थी, हालांकि

इन वाचनों पर जो प्रश्नचिह्न लगाए गए, उनके फलस्वरूप यह छवि तिरोहित हो गई है।

आरंभ में भारतीय सभ्यता की यूरोपीय व्याख्या की दो प्रमुख लड़ियां थीं, जिन्हें प्राच्यवादी और उपयोगितावादी की संज्ञाएं दी गईं। इनका विकास भारत के साथ व्यापार करनेवाली ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए काम करनेवाले उन अधिकारियों के द्वारा या किए गए अध्ययनों से हुआ जिनमें से कुछ तो भारत में पदासीन थे लेकिन कुछ स्वदेश से ही काम करते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासनिक प्रकार्यों का तक़ाजा था कि उसके अधिकारी भारतीय रीति-रिवाजों से परिचित हों। यह स्थिति ख़ास तौर पर तब उत्पन्न हुई जब भारत के कुछ हिस्से कंपनी के प्रशासन के अधीन हो गए और अंततः उपनिवेश बन गए। इसके फलस्वरूप कंपनी के अधिकारी संस्कृत, फ़ारसी, बंगला, तमिल और अन्य अनेक भारतीय भाषाओं का अध्ययन करने और साथ ही अंग्रेजी में इनके व्याकरण भी लिखने लगे, जो इस अध्ययन के आवश्यक औज़ार बन गए। प्रशासनिक अपेक्षाओं के कारण उन कृतियों का भी अनुवाद किया जाने लगा जिन्हें विधि संहिताएं माना जाता था। इनमें धर्मशास्त्र भी शामिल थे, जो वस्तुतः विधि-संहिताएं नहीं थे, बल्कि सामाजिक दायित्वों तथा कर्मकांडी अपेक्षाओं से संबंधित सामान्य नियम थे।

इस प्रवृत्ति को बहुत हद तक इस विश्वास से प्रोत्साहन मिला कि उपनिवेश संबंधी ज्ञान उस पर अधिक नियंत्रण स्थापित करने में मददगार होगा और औपनिवेशिक अधिकारी जिस सत्ता का प्रयोग करते थे उसे सुदृढ़ आधार प्रदान करेगा। इसे 'साम्राज्य का आवश्यक उपस्कार' 'द नेसिसरी फर्नीचर ऑफ एंपायर' माना गया और इस ज्ञान को मनचाहा रूप देना उतना ही महत्त्वपूर्ण हो गया जितनी कि उसकी प्राप्ति थी। जिस चीज को हिंदू धर्म की संज्ञा दी गई उसकी और उसके विश्वास, कर्मकांड और रीति-रिवाज के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल के दौरान उनमें से कई उस धर्म को देखकर भौंचक्के रह गए जो उनके अपने धर्म से सर्वथा भिन्न था। वह एकेश्वरवादी नहीं था, उसका कोई ऐतिहासिक संस्थापक नहीं था, कोई एक धर्मग्रंथ नहीं था, न कोई अनुल्लंघनीय सिद्धांत और न धार्मिक संगठन ही था—और वह जाति से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। इसलिए उसे सुपरिचित धर्मों के ज्ञात सांचे में ढालना अत्यावश्यक था, क्योंकि तभी वह अधिक लोगों की पहुंच के अंदर आ सकता था। कुछ विद्वानों की राय है कि आज हिंदू धर्म को जिस रूप में सूत्रबद्ध किया जाता है और समझा जाता है वह पूर्ववर्ती काल से बहुत भिन्न है, और इस सूत्रीकरण तथा समझ का जन्म मुख्य रूप से उसी पुनर्सूत्रीकरण से हुआ। भारत में विविध और अनेक धर्मों का आचरण किया जाता था और राज-संरक्षण एकाधिक धर्मों को प्राप्त रहता था। यह यूरोपीय अनुभव से बिलकुल उलटा था। वहां सिर्फ एक धर्म को अर्थात् ईसाइयत को और कभी-कभी तो उसके

केवल एक विभाग, यानी रोमन कैथलिक पंथ अथवा प्रोटेस्टेंट पंथ को ही राज-संरक्षण दिया जाता था।

इस तरह की सरगरमियों से उस चीज को प्रोत्साहन मिला जिसे प्राच्यवादी अध्ययन की संज्ञा दी गई और इन अध्ययनों में आरंभ में जो प्रमुख अंग्रेज विद्वान शामिल हुए वे थे विलियम जोंस, हेनरी कोलब्रुक, नेथेनियल हालहेड, चार्ल्स विल्किंस और होरेस हाईमेन विलसन। उनकी आरंभिक शोधों और आलेखों से कुछ प्रबंधों के रूप में लेकिन ज़्यादातर विनिबंधों के रूप में *एशियाटिकरिसर्चेज* में प्रकाशित हुए, जो 1784 में स्थापित एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की पत्रिका थी। कोलकोता में एशियाटिक सोसाइटी की बैठकों में खूब बहसें होती थीं, जिनके मुख्य विषय थे–भाषा के उद्‌भव तथा पुनर्रचना और धर्म तथा रीति-रिवाज। लेकिन विचित्र बात है कि इस संस्था की सदस्यता के द्वार भारतीयों के लिए कई वर्षों तक बंद रहे, यद्यपि जो लोग अपने शोध-परिणाम प्रस्तुत कर रहे थे वे भारतीय विद्वानों द्वारा ही प्रशिक्षित थे।

इससे पहले की सदियों के दौरान भारत आने वाले यूरोपीय मिशनरियों और यात्रियों ने संस्कृत तथा कुछ यूरोपीय भाषाओं के बीच समानताएं लक्ष्य की थीं। अब विलियम जोंस ने दोनों के बीच के संबंधों को अधिक व्यवस्थित ढांचे में प्रस्तुत किया। उनकी राय यह थी कि इन भाषाओं का मूल एक ही था, जिसके आधार के रूप में उन्होंने यह दिखलाया कि इनके बोलनेवालों के पूर्वज एक ही थे। संस्कृत के व्याकरणों और विश्लेषणों से इस बात की पुष्टि हुई कि संस्कृत, ग्रीक और लैटिन के बीच आपसी संबंध थे और इस सबसे अंत में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान नामक विषय का विकास हुआ। प्राचीन पाठों का–जैसे पुराणों का–बाइबिल के कालानुक्रम के साथ मेल बैठाने का भी कुछ प्रयत्न किया गया, लेकिन वह सफल नहीं हुआ। यह भी कहा गया कि नूह के एक बेटे ने भारत को आबाद करने के लिए इस उपमहाद्वीप को देशांतरण किया, लेकिन इसे सिद्ध करने के लिए साक्ष्य नहीं मिले। तुलनात्मक धर्म के क्षेत्र में किए गए आरंभिक प्रयत्नों में यूनानी-रोमन देवी-देवताओं तथा भारतीय देवी-देवताओं के बीच तुलना की गई और भारतीय मिथकशास्त्र ने यूरोप की रोमानी कल्पना को काफी प्रभावित किया।

इन अध्ययनों से उद्‌भूत भारतीय अतीत की व्याख्याएं, अनिवार्यतः, औपनिवेशिक सरोकारों और हितों से और साथ ही इतिहास, सभ्यता तथा प्राच्य संसार के संबंध में प्रचलित यूरोपीय विचारों से प्रभावित थीं। प्राच्यवादी विद्वानों ने चुनिंदा भारतीय विद्वानों के साथ भाषाओं तथा पाठों का अध्ययन किया, लेकिन जो लोग उन्हें इस कार्य की शिक्षा दे रहे थे उनकी विश्वदृष्टि को समझने की कोई कोशिश नहीं की। इसलिए उनके वाचन भारतीय अतीत को देखने के पारंपरिक तरीकों से कुछ-कुछ कटे हुए हैं। इन वाचनों पर हावी पूर्वगृहीत यूरोपीय धारणाएं धीरे-धीरे स्वयं भारतीयों

द्वारा अपनी संस्कृति को देखने के तरीकों को प्रभावित करने लगीं। भारतीय संस्कृति का यह पुनर्विन्यास स्वयं भारतीयों के आत्मबोध को एक ख़ास दिशा में ले जाने में सहायक हुआ।

प्राच्यवाद ने यूरोपीय रूमानियत (रोमैन्टिसिज्म) की कल्पना की उड़ान को और उसकी स्वतंत्रता की भूख को खूब खुराक दी। ऐसा ख़ास तौर से अधिक अनुशासित नवक्लासिकीवाद के प्रति उसके विरोध के संदर्भ में हुआ। एशिया की संस्कृतियों को एक नए रोमानी प्रतिमान के उद्वाहक के रूप में देखा गया। प्राच्य संसार से परिचय के माध्यम से एक और पुनर्जागरण के आगमन का पूर्वानुमान लगाया गया, जो उनके ख़्याल में यूनानी पुनर्जागरण से भिन्न होनेवाला था। ऐसा माना गया कि यह प्राच्यवादी पुनर्जागरण यूरोपीय चिंतन और साहित्य को अनुशासन और बुद्धिवादिता पर अधिकाधिक ज़ोर देने की उस प्रवृत्ति से मुक्त करा देगा जो पूर्ववर्ती जागरण के बाद से चली आ रही थी। हर्डर या विलहेल्म तथा आगस्ट श्लेगल बंधुओं या नोवालिस जैसे जर्मन लेखकों के लेखन में भारत के प्रति जो उत्साह दिखाई देता है उसका कारण एक हद तक यही था। वर्ड्सवर्थ तथा कोलरिज जैसे अंग्रेज कवि औद्योगीकरण से प्रतिफलित परिवर्तनों को शंका की दृष्टि से देखते थे और वे भी प्रकृति तथा प्राच्य संसार से संबंधित कल्पना-लोक की ओर उन्मुख हुए।

लेकिन धीरे-धीरे यह उत्साह बदल गया और उसने ऐसा रूप ग्रहण कर लिया जो आगे चलकर उन्नीसवीं सदी में यूरोपीय सभ्यता की सहज श्रेष्ठता पर दिए जानेवाले ज़ोर से मेल खाने लगा। अब प्राच्य सभ्यताओं के बारे में माना जाने लगा कि कभी वे महान थीं लेकिन आज ह्रासोन्मुख हैं। प्राच्यवाद के विभिन्न चरण भारतीय अतीत की यूरोपीय समझ को एक ख़ास दिशा में ढालने में प्रवृत्त हो गए। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उसने उदीयमान भारतीय मध्यवर्ग की स्वयं अपने अतीत की समझ को प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति को एकरूप दरशाने का प्रयास किया गया। इस तरह के सूत्र कुछ ख़ास पाठों को प्राथमिकता देकर गढ़े गए। भारत की तथाकथित 'खोज' मुख्य रूप से संस्कृत के कुछ चुनिंदा साहित्य के माध्यम से की गई। इस व्याख्या में भारतीय संस्कृति के अनैतिहासिक पहलुओं पर ज़ोर था—उदाहरण के लिए इस विचार पर कि 3000 वर्षों के दौरान समाज और धर्म का अपरिवर्तित सातत्य कायम रहा; और साथ ही ऐसा माना गया कि भारतीय जीवन-पद्धति का रहस्यवाद और धार्मिक विश्वासों की सूक्ष्मताओं से इतना गहरा सरोकार था कि मूर्त पहलुओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

जर्मन रोमानियत ने भारत की इस छवि का अनुमोदन किया, और बहुत-से यूरोपियों के लिए यह रहस्यवादी देश बन गया, जहां अति साधारण कर्म भी जटिल प्रतीकवाद से अनुप्रेरित थे। यही आध्यात्मिक प्राच्य संसार की कल्पना का मूल था और प्रसंगवश उन यूरोपीय बौद्धिकों की शरणस्थली भी जो स्वयं अपने समाजों के

बदलते रूपों से अपने को दूर रखना चाहते थे। मूल्यों के बीच एक द्विभाजकता कायम रखी गई। भारतीय मूल्यों को 'आध्यात्मिक' और यूरोपीय मूल्यों को 'भौतिकवादी' कहा गया और इन मूल्यों को भारतीय समाज के यथार्थ के रू-ब-रू रखकर उसे देखने की कोई कोशिश नहीं की गई। पिछले सौ सालों के दौरान भारतीय मत का एक हिस्सा इस विषय का और भी दृढ़ता से अनुमोदन करता आया है। यह पश्चिमी दुनिया की तकनीकी श्रेष्ठता का मुकाबला करने में अपने को अक्षम माननेवाले भारतीय बौद्धिक वर्ग के लिए सांत्वना का विषय था। इसी श्रेष्ठता के कारण यूरोप ने एशिया और विश्व के अन्य भागों का औपनिवेशीकरण किया। जब उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद अपने मध्याह्न पर था तब इस विचार ने ब्रिटेन का उपनिवेश बन जाने के दर्द के लिए एक मरहम का काम किया।

उपनिवेशवादी व्याख्याएं : उपयोगितावादी समीक्षा

भारतीय अतीत की यूरोपीय व्याख्या की अन्य लड़ी भारतीय संस्कृति की समीक्षा थी। उसका प्रेरणा-स्रोत उन दिनों ब्रिटेन में प्रचलित उपयोगितावादी, विधिवादी दर्शन था, और उक्त समीक्षा मुख्य रूप से उन लोगों की लेखनियों से निसृत हुई, जो ब्रिटेन में बैठे-बैठे ही भारत के विषय में लिख रहे थे। यह व्याख्या सबसे अच्छी तरह जेम्स मिल और टॉमस मेकाले के विचारों में प्रतिबिंबित हुई है और उसका अंशतः अनुमोदन ईसाई मिशनरियों में से इवेंजेलिकलों ने किया, हालांकि उन्होंने इसका अनुमोदन अन्य कारणों से किया। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में अपनी कृति *हिस्टरीऑफब्रिटिशइंडिया* की रचना करते हुए मिल ने पहली बार भारतीय इतिहास का काल-विभाजन किया। यह विभाजन था हिंदू सभ्यता, मुसलमानी सभ्यता और ब्रिटिश काल। यह विभाजन भारत का अध्ययन करनेवालों की चेतना में इस तरह बद्धमूल हो गया है कि यह आज भी किसी-न-किसी प्रकार से प्रचलित है। आज के धार्मिक राष्ट्रवादों की विचारधाराओं के मूल में इसी विभाजन का बोध काम कर रहा है और इसलिए वह दक्षिण एशिया की राजनीति में अब भी एक भूमिका निभा रहा है। इसके फलस्वरूप भारतीय इतिहास में विकृति आई है, और ऐतिहासिक परिवर्तन के धर्म के सतही मूल्यांकन से संबंधित कारण के अलावा अन्य कारणों की तलाश में यह चीज बहुधा बाधक सिद्ध हुई है।

राय जाहिर की गई कि भारतीय सभ्यता में उन गुणों का अभाव है जिनकी यूरोप कद्र करता है। उदाहरण के लिए, इस राय के अनुसार, बुद्धिवादी चिंतन और व्यक्तिवाद पर इस सभ्यता में कोई आग्रह नहीं रहा, और भारतीय संस्कृति गतिहीन रही है। इस दृष्टिकोण का शायद सबसे अच्छा उदाहरण हर भारतीय चीज के प्रति, ख़ास तौर से पारंपरिक भारतीय शिक्षा और ज्ञान के संबंध में मेकाले का

तिरस्कार-भाव है। भारत की राजनीतिक संस्थाओं को मुख्य रूप से महाराजाओं और सुल्तानों का शासन बताकर खारिज करते हुए कहा गया कि निरंकुशता और लोकमत की सरासर उपेक्षा ही उनकी विशेषता थी और लोकतांत्रिक क्रांति के युग में तो यह सबसे बड़ा पाप था। मिल ने इन मान्यताओं का प्रतिपादन अपनी पुस्तक *'हिस्टरी ऑफब्रिटिशइंडिया'* में किया। मिल की यह पुस्तक उन्नीसवीं सदी में सर्वप्रमुख पाठ्य पुस्तक बन गई। भारत से संबंधित बहुत-से टीकाकार और प्रशासक उससे प्रभावित हुए। मिल के विचार औपनिवेशिक नीति के अनेक पहलुओं में प्रतिबिंबित हुए। इस उपमहाद्वीप की विजय और इसकी अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्विन्यस्त करना ही इस नीति का अधिकाधिक सरोकार बनता चला गया।

भारत की उपयोगितावादी समीक्षा का दृष्टिकोण यह था कि पिछड़ेपन का इलाज उपयुक्त कानून बनाना है, जिनका उपयोग अंग्रेज भारतीय समाज के उस गतिहीन स्वरूप को बदलने के लिए कर सकते हैं जो इस उपमहाद्वीप की प्रगति में बाधक रहा है। भारत की इस स्थिति को बदलने के लिए ब्रिटेन में कानून बनाने की जो मुहिम मिल ने छेड़ी उसके अंग के रूप में उन्होंने भारत की इन नकारात्मक विशेषताओं पर अपने आग्रह का इस्तेमाल किया। भारत की अवस्था का मूल्यांकन करनेवाली अनेक बहसों को उन दिनों ब्रिटेन में राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में चल रही बहसों की जानकारी के संदर्भ में ज़्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

एशियाई सभ्यताओं के संबंध में उपयोगितावादी दृष्टि के साथ जो सिद्धांत बहुधा जुड़ा रहा वह था प्राच्य निरंकुशता का सिद्धांत। इसमें एक ऐसे शासन की कल्पना समाहित थी जिसमें संपूर्ण सत्ता से युक्त एक निरंकुश राजा होता था, जो एशियाई समाजों की ख़ास विशेषता थी। ऐसे समाजों की ख़ासियत यह भी थी कि उनमें एक-दूसरे से कटे हुए आत्मनिर्भर ग्राम समुदाय होते थे, जिनके अधिशेष उत्पादन का दोहन निरंकुश राजा और उसका दरबार करता था और यह राजा तथा उसका दरबार स्वेच्छाचारी नौकरशाही के जरिए शासन करता था। नौकरशाही जल-प्रबंधन पर आश्रित कृषि के लिए आवश्यक सिंचाई व्यवस्था पर नियंत्रण रखती थी और साथ ही अधिशेष उपज की वसूली की व्यवस्था भी करती थी। माना जाता था कि एशिया का अधिकतर हिस्सा अनुर्वर और शुष्क रहा है। इस स्थिति में राज्य सिंचाई की व्यवस्था करता था, जिस पर नौकरशाही नियंत्रण रखती था, ताकि अधिशेष कृषि आय सुनिश्चित हो और निरंकुश राजा को भरपूर राजस्व प्राप्त हो। किसान को दबा कर रखा जाता था और उसे कोई आज़ादी नहीं होती थी। नगर मुख्य रूप से प्रशासनिक केंद्र होते थे और उनमें कोई वाणिज्यिक आदान-प्रदान नहीं चलता था। दैवी शक्ति के साथ राजत्व के संबंध की मान्यता राजा की स्थिति को मजबूत बनाती

थी। इस सिद्धांत के अनुसार, एशियाई साम्राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था इस प्राच्य निरंकुशता में ही समाहित थी।

इस दृष्टि के मूल का निर्देश प्राचीन यूनानी स्रोतों में किया जा सकता है, जिनमें प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य के हखामनी साम्राज्य को निरंकुश माना गया है। स्वयं यूनानियों को यदा-कदा निरंकुश व्यवहार करने से कोई परहेज नहीं था, लेकिन एशियाई समाजों को सांस्कृतिक दृष्टि से पराया माननेवाली उनकी दृष्टि के कारण इस तरह के अतिरंजित विवरण लिखे गए। साथ ही प्राच्य दरबारों की विलासिता की उनकी कल्पना भी इसमें जुड़ गई। इस कल्पना का कुछ हद तक एक कारण तो प्रारंभिक काल से ही पूर्वी दुनिया के साथ चलने वाला विलास सामग्री का व्यापार था और इसका आंशिक कारण था, प्राच्य संसार की यात्रा करनेवाले यूनानियों द्वारा वर्णित पूर्वी दुनिया की कल्पनायुक्त तसवीर। उदाहरण के लिए, ईरानी दरबार में कार्यरत यूनानी चिकित्सक टेसियस ने पूर्वी देशों की शान-शौकत, रहस्यों तथा धन-संपत्ति का वर्णन करने में अपनी कल्पना के घोड़े को बेलगाम छोड़ दिया। धर्म-युद्धों तथा उनके बाद तुर्कों के संबंध में प्रणीत साहित्य ने इन धारणाओं को और भी पुष्ट किया होगा। यूरोपीय पाठकों को प्रभावित करने के लिए इनमें से बहुत सारी धारणाओं को खूब रंग-रोगन लगाकर पेश किया गया।

अठारहवीं सदी के फ्रांस और इंग्लैंड के सरोकारों की ओर ध्यान दें तो मुख्य प्रश्न भूमि के निजी स्वामित्व को माना गया। प्राच्य निरंकुशता के सिद्धांत में यह मान्यता निहित थी कि एशिया में भूमि पर निजी स्वामित्व रहा ही नहीं और सारी ज़मीन का मालिक राजा रहा है। वाल्टेयर और मांटेस्क्यु के बीच इस प्रश्न पर काफी विवाद चला। भूमि और कृषि को धन का स्रोत माननेवाले भू-अर्थशास्त्रियों (फिजियोक्रैटों) द्वारा समर्थित वाल्टेयर का कहना था कि एशिया में भूमि पर राज्य का स्वामित्व नहीं रहा है, लेकिन मांटेस्क्यु इससे ठीक उलटी बात कह रहे थे। भारत भेजे जाने से पहले प्रशासकों को हेलीबरी कॉलेज में प्रशिक्षण दिया जाता था और वहां भारत की पारंपरिक अर्थव्यवस्था पर जो पाठ्यपुस्तक थी उसके रचयिता प्राच्य निरंकुशता के हामी रिचर्ड जोंस थे। मानक इतिहास ग्रंथ जेम्स मिल का लिखा हुआ था। उन्हें भी प्राच्य निरंकुशता के सिद्धांत पर कोई एतराज नहीं था। जो लोग भारत की शासन-व्यवस्था चलाने के लिए यहां आए, उन्हें इस सिद्धांत के तत्वतः सही होने का भरोसा था और उनमें से कुछ तो उन दिनों भारत का इतिहास लिखने वाले प्रमुख इतिहासकार भी थे।

यह सिद्धांत उन्नीसवीं सदी में भारत के अतीत की व्याख्या की कुंजी बन गया। यह बात भूमि-संबंधों और किसान पर राज्य के अधिकारों के संदर्भ में ख़ास तौर से लागू होती थी। भूमि के स्वामित्व के स्वरूप पर और साथ ही इस प्रश्न पर भी बहस-मुबाहिसे चले कि ज़मीन का मालिक कौन है—राजा/राज्य या काश्तकर

व्यक्ति अथवा ग्रामीण समुदाय। ग्रामीण समुदाय को कभी-कभी स्वायत्त गणतंत्र अथवा करों की उगाही और अदायगी के काम आनेवाले समूह के रूप में प्रस्तुत किया गया। ये बहसें हेनरी मेन, बैडन-पॉवेल, मुनरो और मोंटस्टुअर्ट एलफिंस्टन जैसे प्रशासकों तथा इतिहासकारों की कृतियों में उभरकर सामने आईं। इन प्रश्नों के उत्तर देने की प्रक्रिया में प्राक्-औपनिवेशिक प्रि-कोलोनियल भारत में विद्यमान स्थितियों को महत्त्व दिया जाने लगा। भू-स्वामित्व और राज्य द्वारा करों की वसूली ऐतिहासिक अध्ययन के विषय बन गए, लेकिन इन प्रश्नों की छानबीन भारत के अतीत के संबंध में इन दिनों प्रचलित बोधों से प्रभावित थी।

'पराए' के रूप में भारत

एशिया के संबंध में प्राच्यवादी और उपयोगितावादी अभिधारणाओं से व्युत्पन्न इस प्रकार की प्रवृत्तियों के फलस्वरूप उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में एशिया को एक नितांत भिन्न-यूरोप के लिए 'पराया'-संसार माना जाने लगा। मुख्य प्रश्न का संबंध एशिया में पूंजीवादी व्यवस्था के अभाव से था और ऐसा माना गया कि इसका उत्तर भारतीय समाज और धर्म के प्राक्-आधुनिक इतिहास में निहित है। जिस चीज को कार्ल मार्क्स ने एशियाई उत्पादन पद्धति की संज्ञा से अभिहित किया, उसमें उन्होंने जो विश्लेषण प्रस्तुत किए उनके अनुसार उस पद्धति की मुख्य विशेषताएं निरंकुशता और गतिहीनता थीं, जिनके कारण एशिया में यूरोप की तरह परिवर्तन की दिशा में कोई गति नहीं बन पाई। उनके अनुसार, निजी संपत्ति की अनुपस्थिति में राजा और किसान के बीच कोई मध्यवर्ती तत्व नहीं था और न वैसे वर्ग थे, न वैसा वर्ग-संघर्ष था जिससे द्वंद्वात्मक (डाइलेक्टिकल) परिवर्तन प्रतिफलित होता। एक और बाधा यह थी कि एशिया में ऐसे वाणिज्यिक केंद्र और नगर नहीं थे जो ख़ास-तौर से बाजार के लिए उत्पादन करते हों। यदि ऐसे केंद्र होते तो उनसे आर्थिक परिवर्तन को शायद बढ़ावा मिलता। पिछली सदी के दौरान तत्कालीन राजनीति के तकाजे पर यह समझाने के लिए एशियाई उत्पादन पद्धति का सहारा बार-बार लिया जाता रहा है कि एशियाई समाज पूंजीवादी पद्धतियां क्यों नहीं विकसित कर पाए। प्राच्य निरंकुशता की कल्पना को स्वीकार करते हुए कार्ल विटफोगल ने कहा कि एशियाई राज्यों में सिंचाई व्यवस्था पर नौकरशाही का नियंत्रण था और इसके फलस्वरूप राजा को निरंकुश होने की सुविधा मिली। इस सिद्धांत पर एशियाई मार्क्सवादी इतिहासकारों ने विस्तार से विचार करते हुए बताया कि इसका समर्थन करने के लिए कोई ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। बहरहाल, प्रौद्योगिकियों का प्रश्न-जैसे कि सिंचाई और भारत पर उसके प्रभाव का प्रश्न-बहुत जटिल है। और, उसका उत्तर नौकरशाही द्वारा जल-प्रबंधन पर और फलस्वरूप पूरी अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण रखे जाने की अति

सरलीकृत मान्यता में नहीं मिल सकता।

उन्नीसवीं सदी में भारतीय प्रशासन से जुड़े लोगों के बीच बहसों के एक और मुद्दे का संबंध जाति के उद्भवों से था। कहा गया कि इसका मूल शायद कौटुंबिकता और विवाह से संबंधित नियमों या पेशे, धर्माचरणों या राजनीतिक सोपानों में समाया हुआ है। जाति का संबंध धर्म से बताया गया और दोनों के घनिष्ठ संबंध को आर्थिक परिवर्तन के मार्ग में बाधक माना गया। इसका विवेचन ख़ास तौर से हिंदू धर्म को केंद्र में रखते हुए भारत के धर्म पर लिखी गई मैक्स वेबर की कृति में किया गया। जातियों को एक-दूसरे से भिन्न और सर्वथा पृथक् बताया गया और कहा गया कि इसके कारण जातियों की मर्यादाओं को तोड़कर कोई सामाजिक कार्रवाई की ही नहीं जा सकती। भारत में पूंजीवाद के उदित नहीं होने के प्रश्न पर वेबर ने भी विचार किया, लेकिन उनका परिप्रेक्ष्य मार्क्स से भिन्न था। उन्होंने विभिन्न प्रकार के धार्मिक संप्रदायों का सर्वेक्षण करके उनकी जिस विशेषता पर ख़ास ज़ोर दिया, वह यह थी कि उनके विश्वास और आचरण में विशुद्धतावादी (प्यूरिटन) नैतिकता अनुपस्थित थी। उनकी दृष्टि में यह नैतिकता यूरोप में पूंजीवाद के उदय का एक निर्णायक कारण थी। विशुद्धतावादी नैतिकता मितव्ययिता, बचत और धन के निवेश का मार्ग प्रशस्त करती थी। वह किसी पेशे से प्रतिबद्धता और आत्मा की मुक्ति पर ज़ोर देती थी। नैतिकता की धार्मिक शिक्षा में आर्थिक तर्क की उपस्थिति आवश्यक थी। वेबर का मानना था कि अनेक हिंदू, बौद्ध तथा जैन संप्रदायों के आर्थिक तर्क ने मात्र एक सीमांत भूमिका ही निभाई। उन्होंने भारत में विद्यमान उन इसलामी संप्रदायों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जो यहां के वाणिज्य-व्यापार के लिए काफी महत्त्वपूर्ण थे और जिनके धार्मिक बोध वाणिज्यिक जातियों की स्थानीय धार्मिक रुचियों से बहुत अनुप्राणित थे। इसका कारण यह था कि भारत को सिर्फ हिंदू सभ्यता माना जाता था। विचित्र बात है कि यूरोप में पूंजीवाद के उदय में उपनिवेशवाद के योगदान की ओर इस विश्लेषण में कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसके पीछे मंशा यूरोप की स्थिति के मुकाबले बिलकुल प्रतिकूल स्थिति चित्रित करने की थी, भले ही उस चित्रण में अतिशयोक्ति का ही सहारा क्यों न लेना पड़े।

भारतीय समाज के जातीय घटकों तथा धार्मिक गतिविधियों से उसके अंतरंग संबंध पर ज़ोर देते हुए उस समाज का अध्ययन करने वाले अकेले वेबर ही नहीं थे। सच तो यह है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं के आरंभिक चरण में अनेक भाषावैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों तथा धार्मिक अध्ययनों के विशेषज्ञों में इस क्षेत्र के प्रति रुचि का विकास हुआ। उन लोगों ने भारतीय साक्ष्यों को बहुधा एक ऐसी जीवन-पद्धति का बोध कराते देखा जो उन पद्धतियों से भिन्न थी जिससे उस दौर के यूरोपीय विद्वान अवगत थे। एमिल डरखाइम के अध्ययनों से परवर्ती ऐतिहासिक कालों के कर्मकांडों में पूर्ववर्ती समाजों के अवशेषों की पहचान करने

में मदद मिली। उन्होंने विश्वासों और कर्मकांडों के बीच जो भेद किया, वह वैदिक यज्ञों के परवर्ती अध्ययनों के लिए काफी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ और धर्म में देवी-देवता के केंद्रीय महत्त्व और बौद्ध धर्म में उसकी अनुपस्थिति पर भी धर्म को परिभाषित करने के संदर्भ में काफी बहस चली। मार्सेल मॉस और एच. ह्युबर्ट ने यज्ञ कर्मकांड का विश्लेषण किंचित् विस्तार से किया—ख़ासतौर से उसके धार्मिक और सांसारिक पक्षों के बीच के भेद को दरशाने के संदर्भ में। मॉस ने दान देने के विषय पर जो कार्य किया, वह सामाजिक तथा धार्मिक संबंधों के बीच की कड़ियों के अनुसंधान में नए मार्ग का अन्वेषक सिद्ध हुआ और इन अध्ययनों में प्राचीन ग्रंथ सर्वाधिक महत्त्व के थे। स्लेस्टिन बूगले ने यह प्रश्न उठाया कि जाति प्रथा केवल हिंदू समाज की विशेषता थी या कि वह अन्य समाजों में भी दृष्टिगोचर हो सकती है। इसके फलस्वरूप उन्होंने जाति की जो परिभाषा प्रस्तुत की वह इस शब्द के आजवाले अर्थ से अधिक संगत थी। इस परिभाषा के अनुसार जातियों का अर्थ है सोपानबद्ध रूप से व्यवस्थित वंशानुगत समूह, जिनके अधिकार असमान हैं, जिन्हें रोटी-बेटी-व्यवहार से संबंधित निषेध और अलग-अलग रीति-रिवाज एक-दूसरे से पृथक् करते हैं तथा जिनमें दूसरों के साथ एकीकरण के प्रति सहज प्रतिरोध की प्रवृत्ति है। यह अनेक भारतविदों के विश्लेषण से भिन्न व्याख्या थी क्योंकि उनके लिए जाति की परिभाषा वर्ण या कर्मकांडी दर्जे तक सीमित थी और उसे केवल ब्राह्मणीय संस्कृति की दृष्टि से देखा गया। जाति और वर्ण एक-दूसरे को नकारते नहीं थे, लेकिन दोनों के उद्‌भव और प्रकार्य अलग-अलग थे।

भारतीय अतीत की 'खोज'

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में जब भारत के अतीत के प्रति यूरोपीय विद्वानों की जिज्ञासा जगी तब उनके ज्ञान के स्रोत मुख्यतः ब्राह्मण थे, जो मानते थे कि प्राचीन परंपरा संस्कृत साहित्य में सुरक्षित है और इस साहित्य का ज्ञान केवल ब्राह्मणों को ही है। फलतः भारत के प्राचीन इतिहास की तसवीर लगभग पूर्णतः संस्कृत पाठों के आधार पर ही तैयार की गई और स्वभावतः उसमें उन पाठों के रचयिताओं के विचार ही प्रतिबिंबित हुए। इन कृतियों में से अनेक धर्म से संबंधित पाठ या कर्मकांडों की संहिताएं थीं। जिन पाठों के विषय धर्म तथा कर्मकांड से इतर थे उनके भी लेखक और टीकाकार बहुधा ब्राह्मण ही होते थे और इसलिए उनका रुझान सत्ता-प्रतिष्ठान के पक्ष में था। उनमें सामान्यतः समाज के ब्राह्मणीय सिद्धांतों का ही समर्थन किया जाता था, चाहे इतिहास के दौर में वे सिद्धांत समाज पर व्यापक रूप से लागू होते रहे हों या नहीं। उदाहरण के लिए, धर्मशास्त्रों जैसे ग्रंथों में जाति का जो वर्णन किया गया था वह वर्ण-भेद का द्योतक था और वर्ण-भेद कर्मकांडी सोपानों

की एक व्यवस्था था, जिसमें समाज को अनुल्लंघनीय सोपानों में विभाजित कर दिया गया था। स्पष्ट ही यह व्यवस्था प्रारंभिक काल में ही थोप दी गई और उसके बाद सदियों तक लगभग अक्षत अवस्था में कायम रखी गई। निम्न जातियों को इन पाठों के उच्च-जाति ब्राह्मण रचयिताओं के दृष्टिकोण से देखा जाता था। लेकिन भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था का जो व्यावहारिक रूप था उसमें स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विविधता के लिए काफी गुंजाइश थी, यद्यपि धर्मशास्त्र उसे मानने में झिझकते थे।

विचित्र बात है कि भारतविदों द्वारा अधीत पाठों को मानवजाति-शास्त्रियों द्वारा एकत्र सामग्री से मिलाकर देखने की कोशिश नहीं की गई। विद्या की इन दोनों शाखाओं ने भारतीय समाज के संबंध में प्रचुर ज्ञान सुलभ कराया, लेकिन दोनों द्वारा सुलभ कराए ज्ञान एक-दूसरे से भिन्न हैं। यह अलगाव शायद 'सभ्य' और 'आदिम' लोगों के बीच किए जानेवाले भेद से प्रभावित था। आदिमों के बारे में कहा गया कि उनका कोई साहित्य नहीं है। श्रुत परंपराओं का अध्ययन करनेवालों को विद्वान तो माना गया लेकिन भिन्न कोटि की ऐसी परंपराओं को भाटों, निचली जातियों तथा कबीलाइयों तथा वनवासियों तक सीमित माना जाता था और इसलिए ऊंची जातियों तथा अभिजनों द्वारा प्रणीत ग्रंथों की तुलना में विश्वसनीय नहीं समझा जाता था। यदि दोनों को एक ही समाज के पहलू माना गया होता तो जाति के व्यावहारिक रूप को धर्मशास्त्रों के सिद्धांतों से भिन्न रूप में देखा जाता।

विभिन्न प्रकार के अन्य स्रोतों से, जो आगे चलकर प्रमुखता की स्थिति प्राप्त कर लेनेवाले थे, उपलब्ध साक्ष्य पाठगत साक्ष्यों के कुछ पहलुओं के लिए तो चुनौती थे, लेकिन कुछ पाठों की उनसे अभिपुष्टि होती थी। इस प्रकार उनसे अतीत की अधिक यथार्थ और कम एकपक्षीय तसवीर उभरती थी। उदाहरण के लिए, समकालीन अभिलेखों से प्राप्त साक्ष्य अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होते चले गए। वंशावलियों और स्थानीय इतिवृत्तों में भी कुछ रुचि जगी। जेम्स टाड ने विभिन्न राजपूत कुलों के इतिहास के लिए चारणों तथा स्थानीय इतिवृत्तिकारों से जानकारी इकट्ठी की, लेकिन इसके फलस्वरूप चारणीय साक्ष्यों के संग्रह के प्रति रुचि की अभिवृद्धि नहीं हुई और न स्थानीय इतिहास के लेखकों के रूप में चारणों की भूमिका के मूल्यांकन का ही कोई प्रयत्न किया गया। टाड का रुझान एकत्रित सामग्री को मध्यकालीन यूरोपीय समाज से संबंधित अपनी बनी-बनाई धारणाओं के आईने में देखने की ओर था और वे उन लोगों में से थे जिन्होंने यहां के समाज में यूरोपीय सामंतवाद से सादृश्य—हालांकि सतही ढंग का ही सादृश्य—दिखलाने का प्रयत्न किया। उन्होंने इस धारणा को लोकप्रिय बनाया कि राजपूत देश का पारंपरिक अभिजात वर्ग था। उन्होंने ही मुसलमानी शासन का प्रतिरोध किया लेकिन उन्होंने मुसलमान शासकों से उनके राजनीतिक गठबंधनों तथा वैवाहिक संबंधों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

एल.पी. टिसीटोरी ने वंशावलियों का संग्रह करके उनका विश्लेषण करने का प्रयत्न किया, लेकिन उनके विश्लेषण कभी ठेठ इतिहास का रूप ग्रहण नहीं कर पाए। उन्होंने भी राजस्थान के स्थानीय चारणों से संपर्क करके उनके प्रलेख एकत्र किए।

भारत की भाषाओं और साहित्यों, उसके नृजाति-विज्ञान और धर्म के माध्यम से उसके अतीत और वर्तमान का अध्ययन करने में रुचि रखनेवालों की संख्या क्रमशः बढ़ती गई। उन्नीसवीं सदी में उस विद्या की खूब प्रगति हुई जो 'इंडोलजी' या भारतविद्या के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका मतलब था उन्नीसवीं सदी में यूरोपीय विद्वानों द्वारा विकसित अन्वेषण पद्धतियों के माध्यम से गैर-भारतीयों द्वारा भारत का अध्ययन। भारत में भारत के अतीत की 'पुनर्खोज' के लिए आधुनिक प्रविधियों का प्रयोग आरंभ हुआ। इन्हीं में से एक था ब्राह्मी लिपि का वाचन। यह काम मुख्य रूप से जेम्स प्रिंसेप ने किया। प्रारंभिक अतीत के बहुत-से अभिलेख ब्राह्मी लिपि में थे, लेकिन उसका वाचन लोग भूल गए थे। चूंकि अभिलेख भारतीय इतिहास के वृत्तांत हैं इसलिए यह वाचन एक बहुत बड़ी प्रगति का द्योतक था। इससे भारतीय अतीत धार्मिक तथा साहित्यिक स्रोतों से इतर स्रोतों द्वारा क्रमशः उद्घाटित होने लगा। अभिलेखगत स्रोतों ने अनेक नए परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किए और यह सिलसिला आज भी जारी है। उनका इस्तेमाल ऐतिहासिक कालानुक्रम की पुष्टि के लिए किया गया, लेकिन सामाजिक तथा आर्थिक इतिहास और साथ ही धार्मिक संप्रदायों के इतिहास के लिए उनके संभावनायुक्त साक्ष्यों के महत्त्व को कुछ काल बाद ही पहचाना जा सका। मुद्राशास्त्र का प्रयोग द्विभाषी मुद्रा-लेखों के वाचन से आरंभ हुआ। इनमें से कुछ मुद्रालेख यूनानी और ब्राह्मी लिपियों में ईसवी सन् के प्रारंभ के हिंद-यूनानी सिक्कों में अंकित थे। यूनानी में लिखे राजा के नाम का पर्याय ब्राह्मी में दिया गया था। वस्तुतः तो इससे ब्राह्मी को पढ़ने की कुछ तदवीर भी मालूम हुई। अलेक्जैंडर कनिंघम ने पुरावशेषों की तलाश में ग्रामीण क्षेत्रों का भ्रमण किया। इसके लिए उन्होंने सातवीं सदी के चीनी बौद्ध यात्री हुआन-सांग के यात्रा-पथ को अपना मार्गदर्शक बनाया। अपने अन्वेषण का सार उन्होंने *एशंटज्याग्रफीऑफइंडिया* में प्रस्तुत किया। पेशे की दृष्टि से ये विद्वान् सर्वेक्षक और इंजीनियर थे और उन्होंने ब्रिटेन के इस उपनिवेश की तसवीर कई दृष्टियों से गढ़ी। जो पाठगत विश्लेषण संस्कृत पाठों से आरंभ हुआ था, उसमें धीरे-धीरे बौद्ध धर्म से संबंधित पवित्र पाठों का और बाद में जैन परंपराओं से जुड़े प्राकृत पाठों का भी समावेश होने लगा। यह काम बहुत सावधानी और ढंग से किया गया और इसके फलस्वरूप भारतीय अतीत से संबंधित जानकारी के भंडार में वृद्धि हुई। अलबत्ता जो-कुछ प्राप्त हुआ उसकी व्याख्या मुख्यतः भारतीय अतीत के संबंध में औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य में ही की गई।

सुदूर अतीत में भारत की यात्रा करनेवालों में से बहुतों ने अपने मन पर पड़नेवाली उसकी छापों को विभिन्न प्रयोजनों से लिपिबद्ध कर लिया था। ये

यात्रा-वृत्तांत यूनानी, लैटिन, चीनी और अरबी भाषाओं में उपलब्ध हैं। इनसे हमें ऐसे परिप्रेक्ष्य प्राप्त होते हैं जो स्वदेश के संबंध में समकालीन भारतीयों के परिप्रेक्ष्यों से भिन्न हैं। इन यात्रा-वृत्तातों को कभी-कभी खुदाइयों से प्राप्त मूर्त पुरावशेषों से मिलाकर भी देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, श्रीलंका में प्राप्त इतिवृत्तों की उपलब्धता से बौद्ध धर्म संबंधी साक्ष्यों की काफी अभिवृद्धि हुई। बौद्ध धर्मशैक्षिक पाठों का अनुवाद चीनी और विभिन्न मध्य एशियाई भाषाओं में होने से भी ऐतिहासिक ज्ञान संबंधी अनेक कमियां दूर हुईं, क्योंकि इन अनुवादों से कहीं-कहीं ऐसे अर्थ ध्वनित होते हैं जो नई जानकारियों के स्रोत बन जाते हैं। इसी प्रकार, भारत के इतिहास से संबंधित अरबी तथा फ़ारसी पाठों का अध्ययन उनके अपने अलग महत्त्व के कारण किया जाने लगा और विद्वानों ने उन्हें पश्चिमी एशिया में इसलामी संस्कृति के मात्र अनुपूरकों के रूप में देखना छोड़ दिया। हैरत की बात है कि इस उपमहाद्वीप से बाहर के देशों की यात्रा करनेवाले भारतीयों ने इस संबंध में अपने पीछे कोई जानकारी नहीं छोड़ी है कि वे कहां गए और उन्होंने क्या देखा। उनके विवरणों में दूरस्थ देशों का वर्णन यदा-कदा ही हुआ है।

प्रजाति-विषयक अभिधारणाएं और भारतविद्या पर उनका प्रभाव

भाषिक अध्ययनों से-ख़ास तौर से संस्कृत वैयाकरणों के ऐसे अध्ययनों से-यूरोप में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान नामक विषय के विकास में सहायता मिली और इसके परिणामस्वरूप न केवल एशिया की प्राचीन भाषाओं के अध्ययन को बढ़ावा मिला बल्कि यूरेशिया के प्राचीन इतिहास के पुनर्वाचन को भी प्रोत्साहन मिला। संस्कृत तथा भारत के नृजाति-वर्णन (एथनोग्राफी) के अध्ययन से मानव समाज के संबंध में उभर रहे एक नए परिप्रेक्ष्य को बल मिला, जो आगे चलकर 'प्रजाति-विज्ञान' नामक विषय के रूप में प्रसिद्ध हुआ। प्रजाति एक यूरोपीय आविष्कार थी, जिसे विभिन्न प्रकार के समकालीन अध्ययनों और परिस्थितियों से खुराक मिली। इसके उदाहरण हैं लिनेअस द्वारा प्रस्तुत पौधों का वर्गीकरण, योग्यता की उत्तरजीविता (अर्थात् जो सभी प्रकार से सबल-सक्षम है उसी का अस्तित्व कायम रहता है) की हिमायत करनेवाला सामाजिक डारविनवाद और साम्राज्यवाद की विजय, जिसका इस्तेमाल यूरोपीयों के लिए श्रेष्ठता का दावा करने के लिए किया गया।

अपने साम्राज्य के प्रति अंगरेजों का दृष्टिकोण सामाजिक सरोकारों से परिचालति था जिनमें बाद में प्रजातीय रवैये भी शामिल हो गए। पारंपरिक अभिजात वर्गों को प्रजातिगत दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता था और नई औपनिवेशिक सोपान-व्यवस्था में उन्हें शामिल करने से पहले उनके दर्जे-रुतबे को समर्थन दिया जाता था। इससे उपनिवेश बसानेवालों के दर्जे की भी अभिवृद्धि होती थी। गढ़े हुए इतिहास और

वैधीकरण करनेवाली सत्ता के सहारे परंपराओं का आविष्कार किया जा सकता था, लेकिन प्रजाति के सिद्धांत ऐसे लोगों के बृहत्तर वर्गों पर भी लागू किए जा सकते थे जिन्हें सभ्यताओं के निर्माता माना जाता था।

संस्कृत का अध्ययन करते हुए प्रजाति पर विचार करनेवाले विद्वानों का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण एफ० मैक्स मुलर हैं। भारतीय इतिहास की व्याख्या में उनका प्रमुख योगदान यह था कि वेदों के अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने आर्यों की—बल्कि कभी-कभी तो एक प्रजाति की भी—एक कल्पित-सी उपस्थिति की तसवीर गढ़ दी। मिल की तरह ही मैक्स मुलर को भारत को देखने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई। फिर भी उन्होंने भारतीय समाज को यूरोपीय समाज के ठीक विपरीत रूप में चित्रित कर दिया। *इंडिया,व्हाटकेनइटटीचअसज*और *बायोग्राफीज ऑफवर्ड्सएंडदहोमऑफदआर्यज*, उनकी इन दो कृतियों में यह बात देखी जा सकती है। उन्होंने भारतीयों का जो विलक्षण वर्णन किया उसके अनुसार वे बड़े सौम्य, शांत-चित्त लोग थे, जो ध्यान-योग में अपना समय व्यतीत करते थे। मैक्स मुलर का वैदिक संस्कृत तथा भाषा-विज्ञान का अध्ययन उन्हें बरबस उनके आर्य-विषयक सिद्धांतों तक ले गया। संस्कृत, यूनानी और लैटिन भाषाओं के बीच समानता दरशाते हुए विलियम जोंस ने भाषा के एकोद्भव के समर्थन में दलील दी थी और यह सुझाव दिया था कि इन सबकी जननी कोई एक ही भाषा थी। अब भारोपीय भाषा को ऐसी भाषा के रूप में पेश किया गया। यह एक काल्पनिक भाषा थी, जिसकी तसवीर उन ज्ञात भाषाओं के आधार पर गढ़ी गई थी जो भाषा-वैज्ञानिक नियमों की एक संरचना के अंतर्गत एक-दूसरे से संबद्ध थीं। बहुधा इसका गलत इस्तेमाल करते हुए इसके आधार पर यह दिखलाने की कोशिश की गई कि भारोपीय भाषाएं बोलनेवाले सभी लोग आर्य नामक प्रजाति के सदस्य थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सामाजिक असमानता से संबंधित बहसों में अकसर प्रजातीय दृष्टिकोण से काम लिया जाता था, जैसा कि हमें गोबिनो के लेखन में देखने को मिलता है।

मैक्स मुलर का मानना था कि आर्यों का उद्भव मध्य एशिया में हुआ था। वहां से उनकी एक शाखा देशांतरण करके यूरोप चली गई और दूसरी ईरान और इस ईरानी शाखा का ही एक हिस्सा बाद में भारत पहुंचा। उन्होंने इस शाखा की आद्यतम रचना *ऋग्वेद*का काल 1200 ई.पू. के आसपास माना। उनका विचार था कि आर्य लोग इस देश पर बड़ी संख्या में चढ़ आए थे और दूसरी सहस्राब्दी ई. पू. में उन्होंने उत्तरी भारत के मूल निवासियों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। मैक्स मुलर के अनुसार, उन्हीं लोगों ने यहां हिंद-आर्य भाषा को, एक श्रेष्ठ सभ्यता का प्रतिनिधित्व करनेवाले विजेताओं की भाषा को स्थापित कर दिया। यही सभ्यता वैदिक संस्कृति के रूप में उभरी और भारतीय संस्कृति की आधारशिला बन गई। चूंकि प्रजातिगत अलगाव के लिए किसी युक्ति की आवश्यकता थी इसलिए

समाज को सामाजिक दृष्टि से आत्मनिर्भर और पृथक् वर्णों में बांट दिया गया। प्रजातिगत ठप्पा लगाने का कारण शायद आर्य और दास का भेद भी रहा होगा, क्योंकि यह दलील दी गई कि आर्यों की आद्यतम रचना *ऋग्वेद* में दास का वर्णन आर्य से शारीरिक रूप से भिन्न रूप में हुआ है, विशेषतः चमड़ी के रंग की दृष्टि से। इसे दो प्रजातीय रूपों के तौर पर पेश किया गया। प्रजाति को जाति की वैज्ञानिक व्याख्या के रूप में देखा गया और बताया गया कि चार मुख्य जातियां या वर्ण प्रमुख प्रजातिगत समूहों के द्योतक हैं। इन चारों के बीच बेटी-व्यवहार पर कठोर अंकुश लगाकर इनकी प्रजातिगत पहचानों को कायम रखा गया।

भाषा और प्रजाति के समीकरण को मैक्स मुलर ने भी दोषपूर्ण माना, परंतु एक सुविधाजनक विभेद के रूप में उसका इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति बनी रही। अपने परवर्ती लेखन में उन्होंने इस दोष को स्पष्ट किया, लेकिन तब तक तो उसका पूरा बोलबाला हो चला था। आर्यों को एक प्रजाति के रूप में देखा जाए, यह विचित्र बात थी, क्योंकि वैदिक ग्रंथों में इसका प्रयोग ऐसे प्रतिष्ठित लोगों के लिए किया गया है जो संस्कृत बोलते हैं और वर्ण-नियमों का पालन करते हैं। इस समीकरण का इससे भी अधिक व्यापक प्रभाव हुआ। यह समीकरण द्राविड़ भाषाओं पर काम करनेवाले कुछ लोगों को भी भा गया और उन्होंने यह सिद्धांत सामने रख दिया कि आर्यों से पूर्व और उनसे पृथक द्राविड़ भाषाएं बोलनेवाली एक द्राविड़ प्रजाति भी थी। अपने समर्थन में उन्होंने इस तथ्य का हवाला दिया कि हिंद-आर्य विभक्तियुक्त भाषा है, लेकिन द्राविड़ भाषाएं संश्लिष्ट हैं। धीरे-धीरे आद्य द्राविड़ को मूल भाषा के रूप में पेश किया जाने लगा और उसे तमिल का पर्याय बताया जाने लगा, यद्यपि यह समीकरण ऐतिहासिक अथवा भाषिक दृष्टि से सही नहीं है। भारोपीय की तरह आद्य-द्राविड़ भी एक काल्पनिक भाषा है, जिसे ज्ञात द्राविड़ भाषाओं के आधार पर गढ़ा गया, और चूंकि उन भाषाओं से तमिल भी एक थी इसलिए मान लिया गया कि उसका विकास तथाकथित आद्यद्राविड़ के बाद ही हुआ होगा। आर्यों के आगमन के पूर्व एक द्राविड़ सभ्यता के अस्तित्व के सिद्धांत की अभिपुष्टि 1920 वाले दशक में तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. की सैंधव सभ्यता के मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा नगरों की खुदाई के बाद की जानेवाली थी।

आर्य प्रजाति के सिद्धांत की भारत में व्यापक प्रतिक्रिया हुई, जो इतिहासकारों के दायरे तक ही सीमित नहीं रही। उसका उपयोग विभिन्न समूहों की राजनीतिक स्पर्धाओं में किया गया और आज भी किया जा रहा है। इस परिदृश्य के दो छोरों पर दो ऐसे उदाहरण सामने आते हैं जिनसे बात स्पष्ट हो जाती है। दलितों के प्रमाण-पुरुष ज्योतिबा फुले ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में यह दलील दी कि संस्कृत-भाषी ब्राह्मण आर्यों की संतान हैं, जो भारत के लिए पराए लोग थे, इसलिए निचली जातियों के देशी लोग इस देश के असली हकदार हैं। इस दलील में

प्रभुत्वशाली ऊंची जातियों तथा पराभूत, दलित निचली जातियों के बीच सहज संघर्ष का समावेश है। यह जातीय स्पर्धा की बुनियाद और जातीय सोपान-व्यवस्था की व्याख्या थी। बाद में इसका व्यापक उपयोग उन राजनीतिक आंदोलनों में, ख़ास तौर से दक्षिण भारत में, किया जानेवाला था जिन्होंने अपने गैर-ब्राह्मण स्वरूप तथा ब्राह्मण-विरोधी तेवर का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

इसके दूसरे छोर पर अब कुछ लोग भारतीय इतिहास की ऐसी व्याख्या प्रचारित कर रहे हैं जो हिंदू राष्ट्रवाद पर आधारित है और जिसे अब हिंदुत्ववादी विचारधारा कहा जाता है। बीसवीं सदी के आरंभ से यह दृष्टिकोण धीरे-धीरे भारत पर आर्यों के आक्रमण के सिद्धांत के समर्थन से विमुख होता गया और अंत में इस तरह की किसी घटना की संभावना को ही अस्वीकार करते हुए यह स्थिति अपना ली गई कि आर्य और उनकी भाषा संस्कृत दोनों भारतीय मिट्टी की उपज हैं। यह संशोधित सिद्धांत इस विश्वास का सहज प्रतिपादक बन गया कि जिन लोगों के लिए यह उपमहाद्वीप अपने पुरखों का देश नहीं है और न उनके धर्म के उद्भव की भूमि है वे सब इसके लिए पराए हैं। इससे कौन देशी हैं और कौन विदेशी, इसकी परिभाषा का केंद्र-बिंदु बदल गया। अब उसका केंद्र-बिंदु जाति की अपेक्षा धर्म बन गया। अब इस देश के लिए पराए ऊंची जातियों के लोग नहीं बल्कि मुसलमान और ईसाई थे, जिनके धर्मों का जन्म पश्चिमी एशिया में हुआ था। बहुत हद तक तो इनमें साम्यवादियों को भी शामिल कर लिया गया। इस सिद्धांत के अनुसार, आर्यों के वंशज होने के कारण केवल हिंदुओं को ही देशी और इसलिए इस देश के उत्तराधिकारी कहा जा सकता है, और यहां तक कि वे लोग भी इसके उत्तराधिकारी नहीं हैं जिनके पूर्वज तो यहीं के निवासी थे लेकिन जिन्होंने किसी दौर में इसलाम या ईसाई धर्म को अपना लिया।

इससे पहले के एक दौर के मुख्य धारा के इतिहासकार इन दोनों व्याख्याओं से और ख़ास तौर से दूसरी व्याख्या से असहमत थे। वे आक्रमण के सिद्धांत को स्वीकार करते थे। वे मानते थे कि इस आक्रमण के साथ इस देश में हिंद-आर्य भाषा आई, जिसके बोलनेवाले भारतीय इतिहास की आधारशिला थे। ऊपरी जातियों के लोगों को यह बात अच्छी लगी। वे अपने को एक श्रेष्ठ प्रजाति, अर्थात् आर्य की संतति मानते थे और कुछ का आग्रह तो यहां तक था कि इस प्रजाति की सदस्यता का निहितार्थ अंगरेजों के साथ रिश्तेदारी है! इस सिद्धांत ने एक ऐसी चीज सामने रखी जिसे ऊंची जाति के हिंदुओं का अविच्छिन्न वंशानुगत इतिहास माना जाता था। लेकिन 1920 वाले दशक में सैंधव सभ्यता तथा उसकी नगर संस्कृति की खोज ने प्रत्यक्ष वंशानुगतता के सिद्धांत का खंडन कर दिया। सैंधव सभ्यता के नगर वैदिक साहित्य—हिंद-आर्य भाषा-भाषी लोगों के साहित्य—की रचना से पहले के काल के हैं और इस परवर्ती संस्कृति से उनका कोई साम्य दिखाई नहीं देता।

अब जो वैदिक संस्कृति के काल को पीछे ले जाने और सैंधव सभ्यता से उसका तार मिलाने के कुछ प्रयत्न किए जा रहे हैं उनका कारण हिंदुओं के वंशानुगत इतिहास पर किया जानेवाला आग्रह ही है। आज मुख्य धारा के इतिहासकारों की दलील यह है कि इस बात का कोई पुरातात्विक प्रमाण तो नहीं मिलता कि आर्यों ने बड़े पैमाने पर इस देश पर आक्रमण किया और फलतः यहां की स्थानीय संस्कृतियां विस्थापित हो गईं, फिर भी इस बात के भाषिक साक्ष्य उपलब्ध हैं कि हिंद-आर्य भाषा भारोपीय परिवार की है, जिसे उत्तरी भारत में हिंद-ईरानी सीमा-प्रदेशों से बाहर से लाया गया था और जिसका विकास शायद छोटे पैमाने के देशांतरणों तथा बसावटों के सिलसिले के परिणामस्वरूप हुआ था।

'आर्यों' से संबंधित आज की हिंदुत्ववादी दृष्टि और उन्नीसवीं सदी की औपनिवेशिक दृष्टियों और विशेषतः कतिपय थियोसफीवादियों के सिद्धांतों के बीच काफी निकटता देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए, कर्नल आलकाट उन प्रारंभिक थियोसफीवादियों (Theosophists) में से थे जो मानते थे कि आर्य और हिंद-आर्य भाषा दोनों भारतीय मूल के हैं; सभ्यता के पालने का काम करनेवाली आर्य संस्कृति का प्रसार यूरोप में भारत से हुआ; और आर्य साहित्य अर्थात वैदिक साहित्य ज्ञान की आधारशिला है। इस प्रकार के थियोसफीवादी दृष्टिकोणों ने उन्नीसवीं सदी के आर्य समाज जैसे कुछ धार्मिक-सामाजिक सुधार आंदोलनों का भी ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। भारत के थियोसफीवादी आंदोलन के अनेक अंगरेज तथा अन्य यूरोपीय सदस्य भी थे, जिनमें से शायद कुछ ने भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति सहानुभूति के तौर पर इन विचारों का समर्थन किया होगा। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं के आरंभिक चरण में व्यापक या संकुचित दृष्टियोंवाले विभिन्न प्रकार के ऐसे विचारों का एक सिलसिला उभर आया था जो आपस में जुड़े हुए थे और जिनमें से कुछ का संबंध प्रजाति, आर्यों, थियोसफी और राष्ट्रीयताओं के सिद्धांतों से था।

बीसवीं सदी का मध्य आते-आते भाषा तथा प्रजाति के समीकरण की वैधता चुक गई, बल्कि सच तो यह है कि एकात्मक प्रजातियों की पूरी संकल्पना पर ही गंभीर शंका की जाने लगी। आर्य प्रजाति की कल्पना धराशायी हो गई। प्रजाति तत्वतः एक सामाजिक रचना है, यद्यपि आरंभ में उसके जन्म पर आधारित होने का दावा किया गया। हाल के आनुवंशिक अध्ययनों ने इस दावे का दिवालियापन और भी साबित कर दिया है। इसलिए 'आर्यों' शब्द के बदले 'हिंद-आर्य भाषा-भाषी लोगों' का प्रयोग करना अधिक सही होगा, यद्यपि संक्षेप में इसके लिए हम 'आर्य' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। लेकिन इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह एक भाषाई समूह का बोध कराता है, किसी प्रजाति का नहीं और भाषाई समूह में तरह-तरह के लोग शामिल हो सकते हैं।

इतिहास और राष्ट्रवाद

जैसा कि हम देख चुके हैं, उन्नीसवीं सदी में भारत से जिनका सबसे सीधा सरोकार था वे अंगरेज प्रशासक थे, जिनमें से बहुतों ने भारत के इतिहास पर लिखा। ऐसे इतिहास 'प्रशासकों के इतिहास' की किस्म की चीजें हुआ करते थे, जिनमें राजतंत्रों तथा साम्राज्यों के उत्थान और पतन के वृत्तांत प्रस्तुत किए जाते थे। उस दौर में यूरोप में भी ऐतिहासिक अध्ययन का यही प्रमुख विषय था। रोम साम्राज्य की छाप उन लोगों के मानस में भी अंकित थी जो ब्रिटिश साम्राज्य की ख़ातिर काम कर रहे थे और विंसेंट स्मिथ जैसे इतिहासकारों के मानस पर भी, जो बीसवीं सदी के आरंभ में भारतीय इतिहास पर लिख रहे थे। प्रथम साम्राज्य दूसरे के लिए नमूने का काम कर रहा था। इतिहास-पुरुष राजा थे, और घटनाओं का वर्णन उन्हीं के इर्द-गिर्द चक्कर लगाता था। उन इतिहासकारों की दृष्टि में सभी भारतीय राजा निरंकुश राजा थे। इसके इक्के-दुक्के अपवाद ही थे, जैसे अशोक, चंद्रगुप्त द्वितीय और अकबर। जहां तक वास्तविक शासन का संबंध था, अंतर्निहित मान्यता यह थी कि ब्रिटिश शासन औरों से श्रेष्ठ था और केंद्रीकृत नौकरशाही प्रशासन का सबसे अच्छा रूप था।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय इतिहासकारों ने राजनीतिक तथा प्रशासनिक इतिहास के नमूने का ही अनुसरण किया और राजाओं के जीवन-चरितों को रेखांकित करते हुए वंशानुगत इतिहासों की रचना की। लेकिन भारतीय अतीत की औपनिवेशिक व्याख्याएं भारतीय इतिहासकारों को हमेशा स्वीकार्य नहीं होती थीं। ऐतिहासिक सिद्धांत बढ़ती हुई राजनीतिक स्पर्धा का अंग थे, ख़ास कर अब जब कि सत्ता तथा ज्ञान के बीच के अंतरंग संबंध को मूक रूप से स्वीकार किया जा रहा था। अंगरेजी भाषा से परिचित एक भारतीय मध्य वर्ग का विकास उपनिवेशियों और उपनिवेशितों के बीच अधिक संपर्क का सूचक था।

बीसवीं सदी के प्रारंभ के अधिकतर इतिहासकार या तो राष्ट्रीय आंदोलन में भागीदर थे या उससे प्रभावित थे। उनमें प्रमुख थे आर. मित्र, आर.जी. भंडारकर, आर.सी. दत्त, ए.एस. अलतेकर, यू.एन. घोषाल, के.पी. जायसवाल, एच.सी. रायचौधरी, आर.के. मुखर्जी, आर.सी. मजुमदार, के.ए. नीलकंठ शास्त्री और एच.सी. ओझा, जिनमें से सबने कमोबेश राष्ट्रवादी भावना का परिचय दिया। ऐतिहासिक व्याख्या को बहुधा मौजूदा विचारों से खुराक मिलती थी, लेकिन उसे वह रूप दिया जा सकता था जिसे अब उचित राष्ट्रवादी व्याख्या माना जाता था। भारत के सुदूर अतीत का उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने जहां अनुकूल चित्रण किया था वहां तो राष्ट्रवादी इतिहासकार उस चित्रण को स्वीकार करने को तैयार थे लेकिन जहां उसका चित्रण आलोचनात्मक होता था वहां वह उन्हें स्वीकार्य नहीं होता था। उदाहरण के लिए,

यह दावा किया गया कि अतीत का भारत लोकतंत्र तथा सांविधानिक राजतंत्र से परिचित था। मंत्रिपरिषद् के उल्लेखों की तुलना ब्रिटेन की प्रिवी काउंसिल से की गई। यह बताया गया कि अहिंसा सभ्यता को भारत की विशेष देन है। लेकिन साथ ही गुप्त राजा समुद्रगुप्त को भारत का नेपोलियन कहा गया और उसकी विजयों की खूब प्रशंसा की गई। राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति के मूल को पीछे चौथी सदी ई.पू. में पहुंचा दिया गया, जब भारत में सिकंदर का प्रतिरोध हुआ था और प्राय: संपूर्ण उपमहाद्वीप पर मौर्य साम्राज्य स्थापित किया गया था। आर्य वैदिक संस्कृति को भारतीय सभ्यता की बुनियाद बताते हुए उसके काल को दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. में दरशाया गया। अतीत की अनेक उपलब्धियों के देशी मूल निर्दिष्ट करने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे स्पष्ट होती जा रही थी। स्वभावत: प्राच्य निरंकुशता के सिद्धांत पर आपत्ति की गई, लेकिन प्राचीन अतीत के 'स्वर्ण-युग' होने की मान्यता का समर्थन किया गया। सभ्यता की दावेदारी के लिए उसमें ऐसे किसी युग का होना आवश्यक था। यह दृष्टिकोण बीसवीं सदी की राष्ट्रवादी आकांक्षाओं का एक अनिवार्य तत्व था। या तो पूरा हिंदू शासन-काल स्वर्ण-युग था या कम-से-कम गुप्तकाल, जो भारतीय तथा अंगरेज दोनों इतिहासकारों के अनुसार अनेक सद्गुणों से आपूरित और ब्राह्मणीय धर्म तथा संस्कृति के पुनरुत्थान का युग था।

सांस्कृतिक उपलब्धि को कला, साहित्य और दर्शन को ध्यान में रखकर परखा गया, लेकिन सामाजिक यथार्थों की ओर कम ध्यान दिया गया। राष्ट्रवादी इतिहास ने पालि, प्राकृत या अन्य भाषाओं के स्रोतों की तुलना में संस्कृत स्रोतों को प्राथमिकता दी। संस्कृत दरबारों और उच्च जातियों के हिंदुओं की भाषा थी। जिन्हें छोटी भाषाएं समझा गया उनके बारे में माना गया कि उनका उपयोग निचले तबके के लोग करते थे। जहां एक ही वृत्तांत के विभिन्न रूप अलग-अलग भाषाओं में उपलब्ध थे वहां संस्कृत में उपलब्ध रूप को प्राथमिकता दी गई। यद्यपि इन अलग-अलग रूपों की जानकारी उन विद्वानों को थी तथापि उनका ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक ढंग से उपयोग नहीं किया गया। इसका एक उदाहरण रामकथा के विभिन्न रूप हैं। बौद्धों की पालि में रचित जातक-कथाओं या जैन लेखकों के प्राकृत पाठ-रूपों का विवेचन जातकों या जैन ग्रंथों के अध्ययन के संदर्भ में तो किया गया, लेकिन इसी प्रकार की संस्कृत कृतियों, जैसे कि वाल्मीकीय रामायण के साथ तुलनात्मक अध्ययन के लिए उनका उपयोग कभी नहीं किया गया।

इसी से जुड़ी हुई एक बात राष्ट्रवादियों को ख़ास तौर से चिढ़ानेवाली थी और यह बात प्राचीन भारत पर आरंभ में प्रणीत अधिकतर कृतियों में देखने को मिलती है। इस दौर में काम करनेवाले यूरोपीय इतिहासकारों के मानस का विकास क्लासिकी यूरोपीय परंपरा की खुराक पर हुआ था, सो वे मानते थे कि विश्व की महानतम मानवीय उपलब्धि प्राचीन यूनानियों की सभ्यता थी। फलत: हर नव-अनुसंधानित

संस्कृति को प्राचीन यूनान द्वारा प्रस्तुत मापदंड से परखा जाता था और सामान्यतः उसे उस पर पूरा उतरते नहीं ही माना जाता था या यदि किसी संस्कृति में इक्की-दुक्की प्रशंसनीय विशेषताएं होती थीं तो उसे प्रयासपूर्वक यूनानी संस्कृति से किसी-न-किसी तरह जोड़ दिया जाता था। कुछ दशकों तक प्राचीन भारत के सर्वप्रमुख इतिहासकार माने जानेवाले विंसेंट स्मिथ में यह प्रवृत्ति ख़ास तौर पर थी। अजंता के प्रसिद्ध बौद्ध ठिकाने के भित्तिचित्रों और ख़ास तौर से जिस चित्र को फारस के एक ससानी राजा के दूतमंडल का आगमन माना जाता है और जिसका यूनान से न कोई कलात्मक संबंध है और न ऐतिहासिक, उसके बारे लिखते हुए स्मिथ कहते हैं :

> यह चित्र भारत और फारस के बीच के असामान्य राजनीतिक संबंधों के एक समकालीन प्रमाण के रूप में तो दिलचस्प है ही, साथ ही कला के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव के रूप में भी बहुत मूल्यवान है। इससे न केवल अजंता के कुछ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण चित्रों की तिथि निश्चित होती है और इस प्रकार अन्य चित्रों की तिथि निर्धारित करने का एक मापदंड स्थापित होता है, बल्कि इससे यह आभास भी होता है कि संभवतः अजंता चित्रकारी की शैली फारस से और अंत में देखें तो यूनान से ग्रहण की गई।
>
> अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया (ऑक्सफोर्ड, 1924), पृ. 442.

इस प्रकार के वक्तव्यों पर भारतीय इतिहासकारों की प्रतिक्रिया बहुत तीव्र होती थी। उन्होंने या तो यह सिद्ध करने की कोशिश की कि भारत ने अपनी संस्कृति का कोई तत्व यूनान से उधार नहीं लिया था या यह कि भारत की संस्कृति यूनानी की समकक्ष थी और उसमें उन सभी खूबियों के दर्शन होते हैं जो यूनानी संस्कृति में थीं। प्रत्येक सभ्यता अन्य सभ्यताओं के साथ अंतर्क्रिया से उभरती है लेकिन फिर भी वह अपना कुछ ख़ास चमत्कार दिखाती है, इस बात को अभी न यूरोपीय इतिहासकार स्वीकार कर पाए थे और न भारतीय। विभिन्न संस्कृतियां एक-दूसरे से रस ग्रहण करके इतिहासों को उनके रूपाकार देती हैं, इस एहसास का जगना अभी बाकी था।

बीसवीं सदी के यूरोपीय इतिहासकारों ने परिवर्तन तथा विकास के सिलसिलों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया, लेकिन भारतीय इतिहास के प्रति कभी इस दृष्टिकोण से काम नहीं लिया गया। उसे काल के दौर में द्वीपों की एक श्रृंखला के रूप में प्रस्तुत किया गया, जिनमें से प्रत्येक को किसी-न-किसी राजवंश के नाम पर पहचान दी गई। इसका मतलब यह कहना नहीं है कि अन्य पहलुओं की उपेक्षा कर दी गई, लेकिन यह बात अवश्य थी कि उन पहलुओं को संबंधित काल के

इतिहास में समेकित करने की प्रवृत्ति नहीं थी। भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं और उसके धार्मिक आचार-व्यवहारों के संबंध में महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प जानकारी इकट्ठी की गई, लेकिन मानक ऐतिहासिक कृतियों में या यहां तक कि धर्म के इतिहासों में भी इस सूचना को क्वचित् ही समाविष्ट किया गया। इसके बदले आम तौर पर इस सूचना को ख़ास-ख़ास कबीलों, जातियों और समुदायों के अध्ययनों के रूप में विन्यस्त कर दिया जाता था। अलबत्ता ए.एल. बैशम एक ऐसे भारतविद् थे जिनका दृष्टिकोण इस देश के संबंध में अधिक विस्तृत था और जिनकी रुचि प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में प्रवष्टि हो रहे नए प्रभावों को ग्रहण करके चलने में थी। उन्होंने अपने गौरव-ग्रंथ *दवंडरदैटवाजइंडिया* में भारतीय सांस्कृतिक इतिहास को जिस संवेदनशीलता तथा ऐतिहासिक दृष्टि से कठोर मापदंड का ध्यान रखते हुए निरूपित किया वह उनकी सजगता का प्रमाण है। इस कृति में इतिहास के मानदंडों के विस्तार का भी प्रयत्न दिखाई देता है, जो उस दौर के लिए विरल था।

राजवंशीय इतिहास पर ज़ोर देने से भारतीय इतिहास को हिंदू, मुसलिम और ब्रिटिश इन तीन प्रमुख कालों में विभाजित करने की प्रवृत्ति को समर्थन मिला। यही तीनों काल आगे चलकर प्राचीन, मध्य और आधुनिक काल हो गए, जो आज भी काल-विभाजन की दृष्टि से कायम हैं। चूंकि कालखंड वही रहे इसलिए नामों के परिवर्तन के बावजूद पूर्ववर्ती विभाजन अक्षुण्ण रहा। प्राचीन काल सैंधव सभ्यता से आरंभ होता है, जिसने इससे पहले लिखे गए इतिहासों में प्रयुक्त 'आर्य-काल' का स्थान ले लिया। इस काल का अंत ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में उत्तरी भारत पर तुर्कों के आक्रमण और तेरहवीं सदी में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ होता है। प्राचीन को हिंदू तथा मध्य को मुसलिम का पर्याय मानने का कारण यह था कि प्रथम-काल के बहुत से राजवंश हिंदू थे, जब कि दूसरे के मुसलमान। इस बात पर ज़ोर दिया गया कि हिंदू और मुसलिम संस्कृतियां सभी स्तरों पर एक-दूसरे से अलग थीं और इसलिए तुर्क-अफगानों तथा मुगलों का शासन एक अलग काल था। इस सिद्धांत का औचित्य मुसलमान धर्मतत्वज्ञों और मुसलमान शासकों के दरबारी इतिवृत्तकारों के लेखन में निर्दिष्ट करने का प्रयत्न किया गया। बहुत अनुकूल समय में भी दरबार के हित आम जनता के हितों से भिन्न होते हैं—तब तो और भी जब इतिवृत्तकार या इतिहासकार का ध्यान अपने धर्म के आदर्श संरक्षक के रूप में शासक का गुण-गान करने पर केंद्रित रहा हो। दरबारी इतिवृत्त चाहे दुनिया के किसी भी हिस्से से संबंधित हो, उसके मंतव्य को अंदर झांक कर देखना आवश्यक है और उसे तथ्यात्मक वर्णन नहीं माना जा सकता। बहरहाल, बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के भारत की वर्चस्वी राजनीतिक प्रवृत्तियों ने (और बातों के अलावा) बहुत-से भारतीय और गैर-भारतीय इतिहासकारों द्वारा अनुमोदित हिंदू और मुसलिम काल-विभाजन का

हवाला देकर पृथक् धार्मिक राष्ट्रीयताओं के औचित्य का प्रतिपादन किया। उस पर आपत्ति कुछ थोड़े-से लोगों ने ही की। लेकिन भारतीय इतिहास का ऐसा काल-विभाजन इसमें निहित मान्यताओं के कारण आपत्तिजनक होने के साथ ही इसमें जिन बातों पर ज़ोर दिया जाता है उनकी वजह से भ्रामक भी है। शासकों के धर्म भारतीय इतिहास में परिवर्तन का मुख्य कारक नहीं थे, लेकिन धार्मिक राष्ट्रवाद के हिमायतियों की बातों से तो ऐसा ही ध्वनित होगा। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उनके धर्म परिवर्तन के अनेक कारकों में से एक थे।

आरंभ में भारतीय इतिहासकारों में यूरोपीय इतिहासकारों द्वारा स्थापित पद्धति का ही अनुसरण करने की प्रवृत्ति थी और इसलिए उन्होंने भी मुख्य रूप से राजवंशीय इतिहास ही लिखा। लेकिन राष्ट्रवादी विचारधारा की बढ़ती हुई उपस्थिति के साथ भारतीय इतिहास की राष्ट्रवादी व्याख्या का महत्त्व बढ़ता गया। इस दृष्टिकोण को उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध की उदारवादी परंपरा, जैसे राममोहन राय के लेखन तथा भारतीय अतीत पर प्राच्य निरंकुशता जैसे दोषों के आरोपण के प्रत्याख्यान से प्रेरणा और ऊर्जा प्राप्त हुई। राष्ट्रीय पहचान और संस्कृति की रचना में एक महत्त्वपूर्ण घटक की भूमिका निभानेवाले विषय के रूप में इतिहास उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवादियों तथा उपनिवेशवादी विचारों का समर्थन करनेवालों के बीच एक बहस का विषय बन गया, यद्यपि कुछ उपनिवेशवादी विचारों को—जैसे कि प्राच्यवादियों के विचारों को—राष्ट्रवादी लेखन में सहानुभूति की दृष्टि से देखा गया। राष्ट्रवाद अपनी वैधता की तलाश अतीत में करता है और इसलिए इतिहास एक संवेदनशील विषय बन जाता है। अगर राष्ट्रवादी इतिहास ने भारतीय अतीत की कोई नई व्याख्या प्रस्तुत न की हो तो भी अतीत को लेकर चलनेवाली बहस में उसका स्वर काफी ओजपूर्ण था।

सांप्रदायिक इतिहास का बीजारोपण

भारतीय राष्ट्रवादी इतिहास ने उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन के कुछ पहलुओं को चुनौती दी और इस प्रकार ऐतिहासिक लेखन को भारतीय अतीत के संबंध में अपेक्षाकृत अधिक नकारात्मक उपनिवेशवादी सिद्धांतों के प्रभाव से मुक्त कराने में सहायता दी। लेकिन भारतीय अतीत की अनुकूल छवि प्रस्तुत करनेवाले कुछ अन्य सिद्धांतों का अनुमोदन करने के फलस्वरूप कुछ ऐसी ऐतिहासिक व्याख्याएं उभरीं जिनकी जड़ें इन उपनिवेशवादी सिद्धांतों में बहुत गहराई से जमी हुई थीं। वांछनीय तो यह था कि इन सिद्धांतों का पुनर्मूल्यांकन किया जाता, लेकिन हुआ यह कि ये सिद्धांत एक और भी कोटि के ऐसे इतिहासों का आधार बन गए जो राष्ट्रवादी होने का दावा करते थे। इस दूसरे प्रकार के 'राष्ट्रवादी' इतिहासों की परिभाषा किसी

एक तत्व के आधार पर की जाती है—जैसे धर्म के आधार पर मुसलिम और हिंदू राष्ट्रवादों को अपनी खुराक उपनिवेशवाद-विरोधी, राष्ट्रवादी विचारधारा से मिली, लेकिन उन्होंने अपने हितों को ऐसे राष्ट्रवाद में परिवर्तित कर दिया जिसने अपने को एक ही सरोकार की अभिव्यक्ति तक सीमित कर लिया। वह सरोकार था इतिहास की व्याख्या एकखंडीय धार्मिक पहचानों की दृष्टि से करना। इन विचारधाराओं के मूल तो इतिहास-लेखन के राष्ट्रवादी दौर में समाए हुए हैं, लेकिन राजनीतिक लामबंदी के स्रोतों के रूप में उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद की सफलता के बाद से ये सामान्यतः अधिक प्रभावशाली हो गए हैं। ये प्रवृत्तियां भावना और धार्मिक विश्वास के तार को छूती हैं, इसलिए ये ऐतिहासिक विमर्श की बौद्धिक बुनियाद को खतरे में डाल सकती हैं। मुसलिम और हिंदू दोनों प्रकार के (बल्कि वस्तुतः तो क्षेत्रीय स्तरों पर अन्य प्रकारों के भी) राष्ट्रवादी इतिहास लिखने की कोशिशों से ऐसा ही हुआ है। अतीत की व्याख्या के लिए अन्य दृष्टिकोणों से काम लेने से इनकार करने से इतिहास के प्रति विवादास्पद दृष्टियां उत्पन्न होती हैं।

प्राक्-औपनिवेशिक भारत में पहचान तरह-तरह की विशेषताओं पर निर्भर थी—जैसे जाति, पेशा, भाषा, संप्रदाय, क्षेत्र और स्थान। अभी अठारहवीं सदी तक जाति को धर्म के मुकाबले तरजीह दी जाती थी, यद्यपि एक ही जाति के लोग अलग-अलग संप्रदायों के भी हो सकते थे और एक ही संप्रदाय के लोग अलग-अलग जातियों के भी। लेकिन भारतीय समाज की जो उपनिवेशवादी तसवीर तैयार की गई उसमें धर्म को, ख़ास तौर से पहचान की छाप के रूप में, प्राथमिकता दी गई। उपनिवेशवादी इतिहासकारों का कहना था कि इसलाम के अनुयायियों के समूहों के आगमन के साथ हिंदू धर्म और इसलाम के बीच मुकाबले की स्थिति पैदा हो गई, जिसके फलस्वरूप हिंदू और मुसलमान ये दो समुदाय उभरकर सामने आए। इसलिए सामाजिक एवं राजनीतिक अंतर्क्रियाओं की अवधारणा दो समुदायों की दृष्टि से की गई और यह द्वैधता भारतीय इतिहास की व्याख्या का निर्धारक तत्व बन गई। इसके अतिरिक्त यह भी माना गया कि नई परिस्थिति में हिंदू समाज ने अपने जातीय विभाजन को महत्त्व देना छोड़ दिया और मुसलमान समाज में तो जातीय पहचानें थीं ही नहीं। अब इन दोनों मान्यताओं पर शंका की जा रही है। दूसरी सहस्राब्दी ई. के भारत के इतिहास को अब दो धार्मिक समुदायों के बीच की मुकाबले की स्थिति के रूप में नहीं देखा जा रहा है, और इन दोनों धार्मिक समुदायों के लिए जाति, पेशे, भाषा तथा क्षेत्र से प्राप्त सामाजिक पहचानें उतनी ही महत्त्वपूर्ण मानी जा रही हैं।

तथापि जिसे सांप्रदायिक इतिहास कहा जाता है उससे या धार्मिक राष्ट्रवादों पर आधारित इतिहास से निर्धारित व्याख्याओं का प्रभाव आज भी कायम है। यह उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवादी इतिहास से भिन्न है लेकिन कभी-कभी दोनों

एक-दूसरे में गड्डमड्ड भी हो जाते हैं। राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य विस्तृत और ग्रहणशील था, लेकिन सांप्रदायिक इतिहास-लेखन संप्रदाय-विशेष का इतिहास प्रस्तुत करने तक सीमित है। उस संप्रदाय की मुख्य पहचान एक एकखंडीय धर्म है और उसके इतिहास में अन्य विषयों के अध्ययन की उपेक्षा कर दी जाती है। मुसलिम राष्ट्रवादी इतिहास भारतीय इतिहास को हिंदुओं के मुकाबले मुसलिम समुदाय की भूमिका की दृष्टि से देखता है और हिंदू धार्मिक राष्ट्रवाद हिंदू समुदाय को मुसलमानों के मुकाबले में खड़ा दिखलाता है, यद्यपि आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा अतीत में इन दृष्टियों पर आधारित पहचान को अस्पष्ट मानता था। संप्रदायवादी इतिहास समुदायों के स्वरूप और उनके बदलते इतिहास का विश्लेषण करने की कोशिश नहीं करता। दोनों में से प्रत्येक समुदाय को एक समांग समग्रता (होमोजीनियस होल) के रूप में देखा जाता है और उसे इतिहास की एक इकाई के तौर पर क्रियाशील एक समरूप, एकखंडीय धार्मिक समुदाय के रूप में परिभाषित किया जाता है।

धार्मिक राष्ट्रवाद भारतीय इतिहास के उपनिवेशवादी काल-विभाजन को कायम रखता है और इस बुनियादी व्याख्या को भी कि भारत बहुसंख्य हिंदू समुदाय और अल्पसंख्य मुसलिम समुदाय से बना है, जिसमें कुछ अन्य छोटे अल्पसंख्यक समुदाय भी शामिल हैं। ऐतिहासिक कारणों को लगभग पूर्ण रूप से धर्म से संबंधित मामलों से उत्पन्न बनाया जाता है और इन धार्मिक मामलों के संबंध में ऐसा माना जाता है कि वे हमेशा एक-दूसरे से मुकाबले की स्थिति में रहते हैं। कुछ लोगों के लिए यदि 'हिंदू' काल सर्वथा दोषरहित स्वर्ण युग था तो 'मुसलिम काल' अंधकारपूर्ण युग था, और जिनके विश्वास इसके विपरीत हैं वे लोग इस छवि को उलटकर पेश करते हैं। जिस द्विराष्ट्र सिद्धांत के फलस्वरूप 1947 में भारत का विभाजन हुआ उसका औचित्य सिद्ध करने का मार्ग इस विश्वास के कारण सुगम बन गया कि हिंदू और मुसलिम समुदाय, भारतीय इतिहास में अपने संबंधों के आरंभ से ही, दो अलग राष्ट्र रहे हैं, इसलिए हमारे युग में एक हिंदू और एक मुसलिम राज्य का बनना अनिवार्य था।

'हिंदू' काल को चूंकि स्वर्ण युग बताया गया है इसलिए इस काल की घटनाओं और लोगों के आलोचनात्मक मूल्यांकन को स्वीकार करने में संकोच किया जाता है। एक ख़ास सांचे में ढालकर लिखी ऐतिहासिक कृतियों को यथार्थ के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है और उनका वाचन पूर्ण रूप से मेलजोल भरे समाज के सही वर्णन के रूप में किया जाता है। उदाहरण के लिए, पूरी दृढ़ता के साथ माना जाता है कि प्राक्-इसलामी भारत एक सहिष्णु समाज था और धार्मिक तथा सामाजिक असहिष्णुता को जानकारी के स्रोतों की गलत समझ का परिणाम बताया जाता है या उनकी उपेक्षा कर दी जाती है।

जब बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में अलग-अलग क्षेत्रों के इतिहास लिखे जाने लगे

तो उन इतिहासों में भी राष्ट्रवादी इतिहासों के दोष प्रतिबिंबित हुए। हिंदू, मुसलिम और ब्रिटिश इस त्रिखंडीय काल-विभाजन को सर्वत्र लागू होनेवाला माना गया। लेकिन इसे लागू करने में जो कालानुक्रम अपनाया गया वह समान नहीं था। कुछ क्षेत्रों में तो आठवीं सदी से मुसलिम शासन का आरंभ माना गया लेकिन कुछ क्षेत्रों में उसकी शुरुआत उससे हजार साल बाद मानी गई। एक हद तक तो क्षेत्रीय इतिहास भारतीय इतिहास को गंगा के मैदान के इतिहास के रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया का परिणाम था, क्योंकि प्रारंभिक लेखन में बहुधा ऐसा ही किया गया था। 1947 के बाद भारतीय संघ में नए राज्यों की स्थापना के साथ स्थानीय स्रोतों की ओर ध्यान दिए जाने से क्षेत्रीय इतिहास लिखने की प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिला। आज के राज्यों की सीमाओं के अनुसार किसी क्षेत्र को परिभाषित करना अपने-आपमें दोषपूर्ण है, क्योंकि ऐसी सीमाएं तो खुद ही ऐतिहासिक कार्रवाइयों की उपज हैं। क्षेत्रीय इतिहास के लिए यह अधिक उपयुक्त होगा कि भारत के भूगोल में परिभाषित क्षेत्रों का उपयोग किया जाए।

क्षेत्रीय स्रोतों पर अनुसंधान की अभिवृद्धि हो रही है। इसमें से कुछ के परिणामस्वरूप उपमहाद्वीप के इतिहास का पूर्ववर्ती परिप्रेक्ष्य संशोधित हुआ है। इस अनुसंधान से ऐतिहासिक समस्याओं के अधिक गहन विश्लेषण में भी मदद मिलती है। उदाहरण के लिए, चूंकि जाति-व्यवस्था के रंग-रूप क्षेत्र-दर-क्षेत्र बदलते जाते हैं इसलिए सर्वत्र चातुवर्ण्य की तलाश करने की अपेक्षा उनके रूप-वैविध्य की पड़ताल करना अधिक सार्थक होगा। इसी प्रकार अलग-अलग क्षेत्रों के पर्यावरण, संसाधनों एवं अर्थव्यवस्थाओं के अलग-अलग रूप क्षेत्रीय इतिहास के पहलुओं को परिभाषित करने में मददगार साबित हो सकते हैं। राष्ट्रवादी इतिहास के सरोकारों से ही अपेक्षाकृत हाल में एक और प्रवृत्ति उधार ली गई है। इससे तात्पर्य क्षेत्र-विशेष में आज के दौर में प्रभुत्वशाली स्थिति रखनेवाले समुदाय इतिहास को उस क्षेत्र के इतिहास का द्योतक मानकर लिखने की प्रवृत्ति से है। इसके कुछ उदाहरण सामने आए हैं। इसमें उस क्षेत्र के समग्रतापूर्ण इतिहास को विकृत करने की प्रवृत्ति है। आदर्शगत दृष्टि से देखें तो क्षेत्रीय इतिहास का महत्त्व किसी क्षेत्र के संबंध में अधिक जानकारी देने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह विविधताओं एवं समानताओं का निर्देश करने में भी समाहित है, क्योंकि ऐसा करने से ही बृहत्तर स्तर पर होनेवाले ऐतिहासिक परिवर्तन के संबंध में किए जानेवाले सामान्यीकरण अधिक सटीक होंगे।

मार्क्सवादी इतिहास और तज्जनित बहसें

सन् 1950 वाले दशक से ऐतिहासिक बहसों के रूप में मार्क्सवादी व्याख्याओं का जो सिलसिला आरंभ हुआ उसके फलस्वरूप भारत में ऐतिहासिक परिवर्तन की समझ

में एक समग्रतापूर्ण बदलाव आया। ख़ास तौर से डी.डी. कोसंबी के ऐतिहासिक लेखन में इस परिवर्तन का सार सन्निहित था। केवल राजवंशीय इतिहास की अपेक्षा सामाजिक तथा आर्थिक इतिहास में रुचि का समारंभ हो चुका था और अब उसमें तीव्रता आई, जिससे सामाजिक परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए एक भिन्न काल-विभाजन की आवश्यकता उत्पन्न हुई। स्वयं मार्क्स के भारत-विषयक नमूने पर, जो एशियाई उत्पादन पद्धति की उनकी कल्पना में शामिल था, शंका उठाई गई, और मोटे तौर पर उसे खारिज कर दिया गया, यद्यपि कुछ ऐसे इतिहासकार और समाजशास्त्री भी थे जो मानते थे कि यदि मार्क्स की वह मान्यता समग्रतः लागू न होती हो तो भी उससे कुछ विचारणीय प्रश्न तो उठते ही हैं। इसमें भी वैसा ही दोष था जैसा एशिया से संबंधित उन्नीसवीं सदी के कई सिद्धांतों में था, जिसका कारण यह था कि यूरोपीय विद्वानों को उन्नीसवीं सदी में एशियाई इतिहास के जो स्रोत उपलब्ध थे वे बहुत सीमित थे और उपलब्ध स्रोतों की छान-बीन गहराई से नहीं की गई।

इंट्रोडक्शनटुदस्टडीऑफइंडियनहिस्टरी में कोसंबी ने राजवंशीय इतिहास से हटकर भारतीय इतिहास के विभिन्न चरणों में अर्थव्यवस्था और समाज की परिवर्तनशीलता का वर्णन किया। उन्होंने, उन्हीं के शब्दों का इस्तेमाल करें तो, 'सजीव प्रागितिहास' और सांस्कृतिक अवशेषों के महत्त्व पर ज़ोर दिया, क्योंकि उनके आधार पर पुरातात्विक और ऐतिहासिक संस्कृतियों की तसवीर अधिक समानुभूति के साथ तैयार की जा सकती है। *मिथएंडरिअलिटी*में संकलित उनके आलेखों में विचारधारात्मक अवधारणाओं के सामाजिक आधार का और अधिक नवोन्मेषक अन्वेषण किया गया। इससे मातृदेवियों से लेकर लघु-अश्मों, तीर्थयात्रा मार्गों और *भगवद्गीता* तक अनेक विषयों के सृजनात्मक विश्लेषण में सहायता मिली। कोसंबी का उद्देश्य उन चरणों का निर्देश करने का था जिनसे होकर भारतीय समाज, उनकी समझ के मुताबिक, गुजरा था और वे यह बतलाना चाहते कि जो परिवर्तन हुए उनके कारण क्या थे। आज उन चरणों को लेकर विवाद हो सकता है और वह ऐसा विवाद है जो सामाजिक परिवर्तन के अन्य सिद्धांतों से प्रभावित रहा है, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि परिवर्तन का एक सिलसिला तो था। इस परिवर्तन के लिए बताए जानेवाले स्पष्टीकरणों की संख्या बढ़ती ही रही है और उनमें से कुछ में कतिपय अतिरिक्त कारणात्मक विशेषताओं की ओर निर्देश किया गया है।

एशियाई उत्पादन पद्धति की आलोचना के फलस्वरूप मार्क्सवादी विश्लेषणों को खारिज नहीं कर दिया गया। यह पता लगाने की कोशिश की गई कि प्राक्-आधुनिक भारत के इतिहास के पहलुओं के स्पष्टीकरण के लिए क्या दास उत्पादन पद्धति या सामंतवादी उत्पादन पद्धति जैसी अन्य उत्पादन पद्धतियों का प्रयोग किया जा सकता है। सबसे अधिक विचार इस प्रश्न पर किया गया और सबसे गहरी बहस इस सवाल

पर चली कि क्या भारतीय अतीत में सामंतवादी उत्पादन पद्धति या यहां तक कि स्वयं सामंतवाद भी था। इससे राज्य के स्वरूप, विभिन्न कालों में बदलती अर्थव्यवस्थाओं तथा धर्मों और सामाजिक समूहों के पारस्परिक संबंधों के बारे में कई नए परिप्रेक्ष्यों के द्वार खुले।

इससे पहले के दौर में इतिहासकारों ने सामंती यूरोप के साथ भारतीय स्थिति की जो तुलनाएं की थीं वे कमोबेश हालात के सतही वाचनों पर आधारित थीं और उनसे इसका स्पष्टीकरण नहीं होता था कि भारत में इस प्रकार के समाज किस तरह काम कर सकते थे। प्रथम सुव्यवस्थित विश्लेषण कोसंबी का था, जिन्होंने उस काल को मात्र छोटे-छोटे राज्यों के काल के रूप में देखने के बदले सामंतवादी उत्पादन पद्धति से युक्त काल के रूप में देखा। उनके इस विवेचन का सूत्रपात मार्क्सवादी नमूने के संशोधन से होता है। इसे उन्होंने दो प्रकार से विकसित सामंतवाद के रूप में पेश किया — ऊपर से विकसित सामंतवाद और नीचे से विकसित सामंतवाद। जहां फ्युडेटरी या सामंत सरदार सीधे राजा के अधीन थे और दोनों के बीच कोई मध्य वर्ग नहीं था वह पहले का उदाहरण था और जहां राजा और किसानों के बीच भूस्वामी मध्यवर्ती वर्गों का एक सोपान था वह दूसरे का उदाहरण था। इन दो चरणों को सामान्यत: स्वीकार नहीं किया गया है, लेकिन सामंतवाद क़ा अनुमोदन करनेवाली मोटी दलील पर विचार किया गया है। यह कहा गया कि राजा द्वारा धार्मिक भोक्ताओं या राज्याधिकारियों को उनकी सेवाओं के एवज में दिए गए प्रचुर भूमिदानों के फलस्वरूप तत्कालीन भूमि-अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना हुई। कालांतर में इन दानों के साथ राजा भोक्ताओं को राजस्व तथा न्याय संबंधी अधिकार भी प्रदान करने लगा, जिससे भोक्ता ऐसे भूस्वामी मध्यवर्ती वर्ग बन गए जिन्हें किसानों के श्रम का शोषण करने का व्यापक अधिकार प्राप्त था। शोषण का यह रूप सर्फ्डम या कृषिदासता था या नहीं, यह विषय विवादास्पद है। जिन दानपत्रों का अध्ययन पहले केवल राजवंशों, राजाओं और कालानुक्रम की जानकारी एकत्र करने के लिए किया जाता था। उनका उपयोग अब सामाजिक एवं आर्थिक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए किया जाने लगा। सामंतवादी समाज के सांस्कृतिक तथा विचारधारात्मक पहलुओं को भी विवेचन का विषय बनाया गया।

आरंभ में सामंवादी पद्धति के प्रयोग के साथ उसकी आलोचना करने का काम भी मार्क्सवादियों ने ही किया। भारतीय सामंतवाद का विवेचन करते हुए अनेक प्रकार के तीव्र वाद-विवाद उठे, जिससे अंततः मार्क्सवादियों के साथ गैर-मार्क्सवादी भी उसकी ओर आकृष्ट हुए। इस प्रकार, राज्य-सत्ता के विकेंद्रीकरण तथा संसाधनों एवं श्रम के उपयोग और साथ ही उस काल की धार्मिक अभिव्यक्तियों पर एक जीवंत बहस की शुरुआत हुई। इस काल पर लिखनेवाले इतिहासकारों के बीच आज भी एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में सामंतवाद पर बहस चल रही है और इस

सिलसिले में विभिन्न नमूनों का उपयोग किया जा रहा है। सामंतवादी उत्पादन पद्धति की मार्क्सवादी अवधारणा प्रस्थान बिंदु के रूप में अधिक परिचित प्रवर्ग है। इस अवधारणा में भूस्वामियों तथा पारिवारिक जोतोंवाले किसानों के पृथक् वर्गों पर और इस बात पर ख़ास ज़ोर है कि इन दोनों के बीच के संबंधों की विशेषता प्रथम वर्ग द्वारा दूसरे पर किया जानेवाला बल-प्रयोग या बल-प्रयोग की धमकी है, जिसके सहारे वह दूसरे वर्ग से उसके उत्पादन का अधिशेष हड़प लेता है और विभिन्न प्रकार के बेठ-बेगार की मांग करता है। लेकिन समस्या यह है कि यूरोप के संदर्भ में मार्क्स ने जिस अनुक्रम का निर्देश किया है उस ढंग पर भारत में इस व्यवस्था का उद्भव दासता से कृषिदासता की ओर संक्रमण के दौर में समाहित नहीं है, क्योंकि यद्यपि भारत में भी दास श्रम का अस्तित्व था तथापि यहां वैसी कोई दास उत्पादन पद्धति नहीं थी जैसी पद्धति का चलन कुछ विद्वान यूरोप में बताते हैं। इसके अलावा, भारत में कृषिदासता के चलन के बारे में भी मतैक्य नहीं है। सो सामंतवाद के उद्भव की तलाश अन्य परिवर्तनों में करनी है।

कुछ विद्वानों ने सामंतवाद के अन्य नमूनों को ठीक माना है, जैसे कि उस नमूने को जिसमें मध्यकालीन यूरोप के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य वर्णन का अनुसरण करने का प्रयत्न किया गया। इस वर्णन के अनुसार यूरोप जागीरों (फीफ) और जागीरदारों (वेसल) का समाज था, लेकिन उसमें भी रूप-वैविध्य था। यह आवश्यक नहीं कि भारत में उस चीज को हू-ब-हू उसी रूप में देखा गया हो, लेकिन उससे जो समानताएं दृष्टिगोचर होती थीं उनके आधार पर वस्तु-स्थिति को तुलनात्मक ढंग से एक नई दृष्टि से देखा जा सकता था। उदाहरण के लिए, बहुत-से मध्यकालीन समाज पराधीन किसान वर्ग पर ज़ोर-ज़बरदस्ती करते हुए काम करते थे और इस वर्ग पर सेवा की शर्तों पर प्रदत्त ज़मीन के पट्टों के सहारे नियंत्रण रखा जाता था, क्योंकि संबंधों का आधार भूमि थी और ऐसे समाजों में सत्ता विकेंद्रित थी। 'सामंतवाद' शब्द का प्रयोग एक-दूसरे से इतनी भिन्न स्थितियों के लिए किया गया है कि सब पर लागू होनेवाली उसकी कोई एक परिभाषा करना कठिन है।

उत्पादन पद्धतियों में विविधता की स्वीकृति इस विचार से प्रेरित थी कि इतिहास के संबंध में किन्हीं सूत्रों तक पहुंचने के लिए द्वंद्वात्मक पद्धति का इस्तेमाल तो किया जा सकता है, लेकिन यह जरूरी नहीं कि वह मार्क्स द्वारा वर्णित उन पांच अवस्थाओं या पद्धतियों का ही अनुसरण करें जिनमें से आदिम साम्यवाद, दासता और सामंतवाद भारत के प्राक्-औपनिवेशिक इतिहास पर लागू होंगे। उदाहरण के लिए, मार्क्सवाद से ग्रहण किए गए कुछ सिद्धांत यूरोप के संदर्भ में परिभाषित पद्धतियों से दूर चले गए हैं और अपने पद्धतिशास्त्र की दृष्टि से अन्य नवोन्मेषकारी रूपों से भी प्रभावित हुए हैं। इसके उदाहरण राज्यों की संरचना—ख़ास तौर से पहली सहस्राब्दी ई.पू. में उनकी संरचना—से संबंधित कुछ अध्ययन तथा जिस ढंग से शासक कुलों और उनके

सरदारों ने राज्यों तथा राजाओं की विशेषताएं प्राप्त कीं-उसके बारे में लिखी कतिपय कृतियां हैं। इस प्रक्रिया के विवेचन में प्रारंभिक राज्य के मानव वैज्ञानिक विश्लेषणों से परिचय के प्रमाण मिलते हैं, यद्यपि ऐसे नमूनों का उपयोग एक सीमा तक ही किया गया है। उस काल के मानव वैज्ञानिकों में सिंचाई-व्यवस्था, श्रम, संसाधनों एवं प्रौद्योगिकियों पर नियंत्रण से संबंधित प्रश्नों के प्रति काफी रुचि थी और ये प्रश्न राज्य संबंधी आरंभिक धारणाओं में भी प्रतिबिंबित हुए हैं।

राज्य के विकास के विभिन्न पहलुओं के विवेचन में उत्तर भारत में 500 ई. पू. के ऐन पहले तक हुए उन परिवर्तनों पर भी विचार किया गया है जिनके फलस्वरूप यह विकास संपन्न हुआ। राज्य-प्रणालियों की दिशा में हुए संक्रमणों और उनके साथ ही शहरी केंद्रों का विश्लेषण प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य के गंगा के मैदान के राज्यों के संदर्भ में किया गया है, जिसमें परिवर्तन के अभिकरणों का निर्देश करने पर विशेष ज़ोर दिया गया है। ये अभिकरण हैं प्रदेश की पहचान, देश-विजय और सत्ता की अभिधारणा को बढ़ावा देनेवाले कर्मकांड, लौह प्रौद्योगिकी का उपयोग, कृषि अधिशेष का उत्पादन, प्रशासनिक नियंत्रण की शुरुआत और पहले से ही स्थापित विचारधाराओं के मुकाबले में आ खड़ी होनेवाली नई विचारधाराएं। मौर्य काल में साम्राज्य के उदय के साथ साम्राज्य तथा राज्य के बीच अंतर सुझाया गया है। यह अंतर 'साम्राज्य' शब्द के मनमाने प्रयोग के स्थान पर उसकी संरचना की विलक्षणता का निर्देश करता है। इसकी कुछ प्रासंगिकता राजतंत्रों की परिभाषा की दृष्टि से भी है।

राज्य की, और ख़ास तौर से आठवीं सदी ई. के बाद के राज्य की व्याख्या करनेवाले अन्य सिद्धांतों में मार्क्सवादी नमूने का अनुसरण नहीं किया गया है, लेकिन विद्वानों ने इस नमूने की आलोचना को अपने सूत्रों की रचना का प्रस्थान-बिंदु बनाया है। एक दृष्टि यह है कि गुप्तोत्तर काल के राज्य पहले के राज्यों से भिन्न थे, लेकिन इस परिवर्तन का मतलब सामंतवाद नहीं था। नए नामों से प्रदेशों का उदय हुआ और शासक वंशों को अपने कुलों के नामों के बदले ये प्रादेशिक नाम प्राप्त हुए। प्राक्-राज्य व्यवस्थाओं को राज्यों से रूपांतरित कर दिया गया और सत्ता के किसी केंद्र की स्थापना का रूप यह था कि मुख्य राजवंश के अधीनस्थ शाखा-वंशजों को नए क्षेत्र में बसा दिया जाता था। इसे विकेंद्रीकृत सामंतवादी व्यवस्था के बदले प्राक्-राज्य समाजों में राजतंत्र के प्रसार और 'समेकनकारी व्यवस्था' (Integrative Polity) के दाखिले के रूप में देखा गया है। इस सिद्धांत पर केवल राजस्थान के संदर्भ में विचार किया गया है, लेकिन अभी यह पता लगाना शेष है कि यह कितना व्यापक रहा होगा। और कहने की ज़रूरत नहीं कि हर राज्य-व्यवस्था किसी-न-किसी प्रकार से समेकनकारी होती है। जिन क्षेत्रों में नए राज्यों की संरचना हो रही थी उनके लिए यह प्रक्रिया प्रासंगिक हो सकती है, लेकिन जिन प्रदेशों में पुराने, प्रतिष्ठित राज्य

मौजूद थे उन पर यह शायद कम लागू हो। यह नई प्रक्रिया पुरानी से कितनी भिन्न थी, इसका पता भी लगाना होगा।

एक और भी नमूना है अर्थात् खंडीय राज्य का नमूना। मूलतः इसका सूत्रीकरण अफ्रीका के उन समाजों के संदर्भ में किया गया था जो सामाजिक संगठन के खंडीय रूप का अनुसरण करते थे लेकिन जिनके पास राज्य जैसा कोई स्पष्ट संगठन नहीं था। खंडीय समाज का संबंध सामान्यतः ऐसी प्रणालियों से बताया जाता है जिनमें वंशों से वंशज समूहों की पहचान निर्धारित होती है। इस प्रकार खंडीय राज्य अपने-आप में एक विरोधाभासी पद है। पूर्व अफ्रीका में अलूर को एक ऐसी उभरती हुई राज्य प्रणाली के रूप में निर्दिष्ट किया गया जिसकी जड़ें अब भी खंडीय रूपों में समाई हुई थीं। इस नमूने को भारतीय राज्यों, ख़ास तौर से दक्षिणी राज्यों पर लागू किया गया। इसमें राजनीतिक प्रभुसत्ता को कर्मकांडी सत्ता से अलग माना जाता है और यह दलील दी जाती है कि राजनीतिक प्रभुसत्ता राज्य के केंद्रीय प्रदेश तक सीमित रहती है और कर्मकांडी सत्ता सीमावर्ती क्षेत्रों तक पहुंचती है। शीर्ष पर केंद्र के नियंत्रण के द्वारा एकता संपादित करने का प्रयत्न किया जाता है, लेकिन सामान्यतः उसके लिए कर्मकांडों के समान अनुपालन का ही सहारा लिया जाता है। यह सिद्धांत राजनीतिक व्यवस्थाओं के रंगरूप का खुलासा नहीं कर पाता और इसे कोई ख़ास अनुमोदन प्राप्त नहीं है, यद्यपि इस प्रसंग में भी बहस में जो आरंभिक दलीलें दी गईं उनके फलस्वरूप दक्षिण भारतीय इतिहास की कुछ दिलचस्प छानबीन की गई।

इन सिद्धांतों में जिन दलीलों और साक्ष्यों का इस्तेमाल किया गया उनसे और ख़ास तौर से उनके फलस्वरूप जिन आलोचनाओं-प्रत्यालोचनाओं का सिलसिला चला, उनके कारण निष्कर्ष यह सामने आया है कि प्रत्येक राज्य पर किसी एक ही पद्धति को लागू नहीं किया जा सकता। इससे इस काल के इतिहास के कुछ पहलुओं को स्पष्ट करने में सहायता मिली है। उदाहरण के लिए, जापानी और दक्षिण भारतीय विद्वानों ने अभिलेखों के कंप्यूटर-आधारित विश्लेषणों का इस्तेमाल करके जो प्रभावोत्पादक अनुसंधान किया है उससे इस काल से संबंधित पद्धतियों और सामान्यीकरणों में निखार आया है। इस विवेचन की ख़ास खूबी यह है कि इससे कृषि तथा वाणिज्य संबंधी संरचनाएं शासकीय सत्ता एवं प्रशासनिक तंत्र से अपने संबंधों के साथ उभरकर सामने आती हैं। अन्य प्रक्रियाओं की ओर भी ध्यान दिया गया है, जैसे नई जातियों की सृष्टि और नए धार्मिक विश्वासों और आचारों का उदय। इन ऐतिहासिक विषयों का विवेचन प्रासंगिक अध्यायों (11 और 13) में विस्तार से किया जाएगा। यहां मंशा सिर्फ उन दिशाओं का संकेत देने की है जो उन्होंने ग्रहण कीं।

सामाजिक और मानवीय विज्ञान के रूप में इतिहास

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होगा कि भारतीय इतिहास-लेखन के क्षेत्र की अन्य परिघटनाओं के साथ ही मार्क्सवादी इतिहासों का लेखन भी प्रारंभ हुआ। भारत में 1950 और 1960 वाले दशकों में सामाजिक विज्ञानों ने, जिनका अंकुरण पहले ही हो चुका था, विद्या के सुस्थापित अनुशासनों का रूप ग्रहण कर लिया। इसका कुछ-कुछ संबंध स्वातंत्र्योत्तर काल से था, जब भारतीय समाज के यथार्थ मूल्यांकन की आवश्यकता उत्पन्न हुई। विकास अर्थव्यवस्था, जनसंख्याशास्त्र, सामाजिक मानव विज्ञान और समाजशास्त्र, सामाजिक भाषा-विज्ञान, पुरातत्व और इतिहास जैसे परस्पर संबद्ध विषयों में से प्रत्येक में रुचि की अभिवृद्धि के साथ उनका स्वतंत्र विकास तो हुआ ही, साथ ही उन्हें एक-दूसरे के परिप्रेक्ष्य में रखकर किए जानेवाले अंतर्विषयी अनुसंधान की भी अच्छी प्रगति हुई। एक विषय में उठाए गए प्रश्नों में दूसरे विषयों के विद्वानों में रुचि उत्पन्न होने लगी।

इनमें इतिहास का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि अतीत की तुलना वर्तमान से करने की जिज्ञासा हमेशा रही है। इतिहासकारों ने जैसे सवाल अब तक पूछे जाते रहे थे उनसे भिन्न सवाल पूछना शुरू किया और वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरणों तथा व्याख्याओं के दायरे को बढ़ा दिया। समाज, अर्थव्यवस्था, संस्कृति तथा धर्म से संबंधित इतिहास का अन्वेषण किया गया और इन सबके बीच के संबंधों के प्रति रुचि जगी। शिल्प तथ्यों से लेकर पाठों तक में उपलब्ध विभिन्न प्रकार की स्रोत-सामग्री से जूझने में ऐतिहासिक अनुसंधान के लिए तकनीकी विशेषज्ञता तो पूर्ववत् दरकार रही ही, लेकिन इसके अतिरिक्त उसे विश्लेषण की सैद्धांतिक विधियों की कुछ समझ की भी ज़रूरत पड़ी। यह चीज उन लोगों के दृष्टिकोण से भिन्न थी जिनके लिए इतिहास सिर्फ जानकारी देने की ओर अभिमुख अतीत का एक विवरण था। ऐतिहासिक कल्पना अतीत की तसवीर गढ़ने के रोमांच से हटकर अधिक रचनात्मक अनुसंधान की ओर अग्रसर हुई और अब तरह-तरह के बहुत सारे प्रश्न उठाए जाने लगे और उनके उत्तरों की तलाश की जाने लगी।

मार्क्सवादी हस्तक्षेप के फलस्वरूप ऐतिहासिक अध्ययनों में नए परिप्रेक्ष्यों का तो समावेश हुआ ही, लेकिन उसके अलावा उससे तरह-तरह के उन नए विषयों को भी प्रोत्साहन मिला जिन्हें ऐतिहासिक विश्लेषण के लिए उचित और उपयुक्त माना गया। जब इन अनुसंधानों का दौर चल रहा था तभी प्रभावशाली फ्रेंच अनाल स्कूल के तत्वावधान में इतिहास पर लिखी कृतियां प्रकाशित हुईं, जो कुछ दशक पूर्व अंगरेजी में उपलब्ध हो जाने के बाद व्यापक रूप से पढ़ी जाने लगीं। इन कृतियों के रचयिता ऐसे इतिहासकार थे जो इतिहास को समाज, अर्थव्यवस्था, जनसंख्या, पर्यावरण और अपने इर्द-गिर्द के संसार के प्रति लोगों के विचारों एवं दृष्टिकोणों

के अध्ययन के और भी निकट ले गए। अनिवार्यतः, इसका मतलब सामाजिक तथा आर्थिक मानव विज्ञान, धर्म के समाजशास्त्र, पर्यावरणीय अध्ययनों तथा बौद्धिक इतिहास के पद्धतिशास्त्र का इस्तेमाल करना था, जिसके फलस्वरूप उपलब्ध तथ्यों के संदर्भ में नए सवाल उठाए गए या साक्ष्यों के विश्लेषण के लिए नए तरीके तैयार किए गए। उन अनेक पहलुओं को आपस में जोड़ने के लिए अंतर्संबंध स्थापित किए गए जिन पर पहले एक-दूसरे से अलग-थलग रखकर विचार किया जाता था या जिनकी उपेक्षा कर दी जाती थी।

इन परिवर्तनों में योगदान करनेवालों के ढंग के इतिहास में दृष्टिगोचर होनेवाली अभिरुचियां अंशतः इस धारणा की उपज हैं कि सामाजिक विज्ञान या यदि कुछ लोगों की पसंद के पद का इस्तेमाल करें तो—मानवीय विज्ञान मानवीय अतीत की छानबीन के वैध उपाय हैं। इसके लिए ऐतिहासिक सामग्री के दायरे को विस्तृत करके देखना आवश्यक था। उसमें केवल कार्रवाइयों के ही नहीं बल्कि उस तरीके के वर्णन का भी समावेश था जिस तरीके से शब्दों, वस्तुओं या मनुष्य की उपस्थिति को प्रतिबिंबित करनेवाली लगभग हर चीज में दखल देनेवाले भू-दृश्य के माध्यम से वे कार्रवाइयां अभिव्यक्त हुईं। ध्यान यथार्थ की तसवीर गढ़ने पर कम और अतीत को बोधगम्य बनाने पर अधिक था। इसके लिए जरूरी था किसी एकल घटना से परे जाकर कार्रवाइयों को केवल व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के रूप में नहीं बल्कि मानवीय और सामाजिक कार्रवाई के बृहत्तर संदर्भ के अंग के रूप में देखना। इसीलिए समाज, अर्थव्यवस्था, धार्मिक अभिव्यक्तियों, कला, साहित्य और ज्ञान-प्रणालियों पर ज़ोर दिया गया। इससे अनिवार्यतः कारणों के क्षेत्र का जो विस्तार हुआ उसके फलस्वरूप ऐतिहासिक व्याख्या के दायरे में भी फैलाव आया। मसलन, संस्कृति का सामाजिक आयाम हमें ऐसे प्रश्न पूछने को प्रेरित करता है कि उस संस्कृति का जो रूप है उसकी सृष्टि किसने की, उसका कार्य क्या था, उसे ग्रहण करनेवाला कौन था और उसका प्रचार कैसे किया गया। इस प्रकार का परिप्रेक्ष्य न केवल ऐतिहासिक देश का विस्तार करता है बल्कि काल के भी एकरेखीय विवरण तक सीमित किए जाने पर रोक लगाता है। काल की अलग-अलग अवधारणाओं का सह-अस्तित्व संभव हो जाता है। उदाहरण के लिए, फर्नांड ब्राउडेल ने घटना-विशेष के ऐतिहासिक क्षण, उसके बृहत्तर सामाजिक तथा आर्थिक संदर्भ के संयोग तथा जिस भू-दृश्य एवं भौमिकी के अंतर्गत वह घटना घटी उसकी दीर्घ आयु के संबंध में लिखा है।

ऐसे अध्ययनों के फलस्वरूप भारतीय इतिहास पर एक तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य भी सामने आ रहा है, जो किसी एक संस्कृति को आदर्श रूप में प्रस्तुत करके अन्यों को इसी के मानदंड से परखने की पुरानी पद्धति का अनुसरण करने की बजाय एकाधिक संस्कृतियों के रूपों और प्रकार्यों के तुलनात्मक विश्लेषण की पद्धति अपनाकर चलता है। इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप विश्व के अन्य भागों के

ऐतिहासिक अध्ययन प्राचीन भारत के इतिहासकार की बौद्धिक तैयारी के लिए प्रासंगिक हो गए हैं। इस तरह के कतिपय उल्लेखनीय अध्ययन हैं, यूनानी-रोमन संसार पर मोसेज फिनले और मोमिलयानो की कृतियां, मध्यकालीन यूरोप पर मार्क ब्लाख की रचनाएं, चीन के वैज्ञानिक चिंतन और कार्यों पर जोजेफ नीरूम का कार्य, स्पेन की देश-विजय के संबंध में पेरूवासियों के बोध का नैथन वैसटेल द्वारा किया गया अध्ययन तथा आनुश्रुतिक परंपरा पर जैन वैनसीना की हाल की कृति। इन विद्वानों की कृतियों से विभिन्न समाजों एवं संस्कृतियों से संबंधित तरह-तरह के इतिहासकारों के बीच जो बहसें छिड़ गई हैं उनसे भारतीय इतिहास की समझ के लिए भी तुलनात्मक तरीके सामने आ गए हैं, यद्यपि कहने की ज़रूरत नहीं कि भारतीय इतिहास की विशिष्टताएं तब भी अपनी जगह कायम रहेंगी।

भारत पर ऐतिहासिक लेखन के बदलते दृष्टिकोण का संकेत देने का प्रयोजन पूर्ववर्ती इतिहासकारों की कृतियों को महत्त्वहीन बताकर खारिज कर देना या उनकी विद्वत्ता को कम करके आंकना नहीं है। उनकी व्याख्याओं की कमियां बहुधा उनके काल की कमियां थीं, क्योंकि इतिहासकारों को जितना एहसास होता है उसकी अपेक्षा वे अपने काल के बहुत बड़े प्रतिनिधि होते हैं। अपनी कमियों के बावजूद इन कृतियों ने भारत के इतिहास की नींव रखी; उसे एक ऐसा कालानुक्रमिक और ऐतिहासिक ढांचा प्रदान किया जिसे केंद्र में रखकर नई व्याख्याओं की रचना की जा सकती थी और जो भारतीय सभ्यता के विचारों और संस्थाओं को ऐसा परिप्रेक्ष्य प्रदान करने की स्थिति में था जिसे महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। ऐतिहासिक दृष्टिकोण की अपेक्षाओं में आए परिवर्तनों के कारण अब कालानुक्रमिक और राजवंशीय तसवीर तैयार करने पर कम ज़ोर दिया जाता है और अतीत के समाजों के स्तरित स्वरूप को समझने पर अधिक।

सामाजिक इतिहास में अब भारतीय अतीत के अनेकानेक समाजों की कौटुंबिकता और लिंग-संबंधों के विविध रूपों के अध्ययन को महत्त्व दिया जा रहा है। इन्हें मानव वैज्ञानिक अध्ययनों और साथ ही लिंग के संबंध में काम करनेवाले इतिहासकारों से प्रोत्साहन मिला है। स्त्रियों के स्थान से संबंधित पूर्ववर्ती कृतियां मुख्य रूप से स्त्रियों के जीवन के बारे में सूचनाओं के संकलन ही थीं। उनमें धर्मशास्त्रों तथा अन्य आचार-विषयक कृतियों में निर्दिष्ट उनके स्थान को अनुमोदन की दृष्टि से देखा गया। यह हमारे इतिहास में एक स्वर्ण युग के अस्तित्व की मान्यता का अंग था। यह स्त्रियों को राष्ट्रीय आंदोलन में शरीक होने के लिए दिया गया एक प्रोत्साहन भी था, जिसके नेपथ्य में यह दलील मौजूद थी कि प्राचीन काल में भी वे पुरुषों की सम्मानित सहभागिनियां थीं। उनकी दशा में गिरावट आई तो बाद में आई। इस विषय पर जो नया काम किया जा रहा है उसमें पहले की अपेक्षा बहुत पैनी परख है। उसमें विभिन्न कालों, क्षेत्रों एवं जातियों को ध्यान में रखकर स्त्रियों

के स्थान में परिलक्षित विविधताओं की व्याख्या करने की कोशिश की जा रही है। जो सामाजिक पहलू स्थान निर्धारित करते हैं उनसे—जैसे संपत्ति के अधिकार, विवाह-संबंधी नियम और नारी श्रम के उपयोग से—अनिवार्यतः यह संकेत मिलता है कि पहले के विशुद्ध सकारात्मक चित्रण में दोष थे। आज पितृसत्तात्मक व्यवस्था के फलितार्थों को अधिकाधिक समझा जा रहा है—सो केवल लिंगगत संबंधों के निर्धारण की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि समाज की एक अवस्था के रूप में और सामाजिक नियमों, धार्मिक विश्वासों या स्त्रियों द्वारा किए जानेवाले कार्यों के माध्यम से जिस प्रकार से यह व्यवस्था अपना दबदबा कायम करती है उसके मद्दे-नजर भी। स्त्रियों का कोई विशिष्ट या अलग वर्ण नहीं था, बल्कि वे सामाजिक प्रक्रिया का अभिन्न अंग थीं। इसलिए स्त्रियों का स्थान समाज की टीका बन जाता है।

अब ऐतिहासिक विवरणों में निम्न जातियों, हाशिए पर ढकेल दिए गए समूहों और अछूतों का प्रवेश होता है और कभी-कभी तो महत्त्वपूर्ण भूमिकाओं में, जैसे सामाजिक सरोकारों से परिचालित धार्मिक आंदोलनों में। जो लोग मेहनत-मशक्कत करते थे उन्हें ऐतिहासिक परिवर्तन में कोई भूमिका निभानेवाला नहीं माना जाता था—शायद इसलिए कि जो श्रम नहीं करते थे उन्होंने उन स्रोतों को प्रणीत किया जिन्हें इतिहासकारों ने उद्धृत किया। तथापि पाठों में श्रम करनेवालों के जो प्रासंगिक उल्लेख हुए हैं उनसे उनके जीवन के बारे कभी-कभी कुछ नतीजे निकालना संभव है। परंतु अतीत के जिन क्रियाकलापों की प्रशंसा की जाती है उनकी पूर्वशर्त के रूप में श्रम के महत्त्व की स्वीकृति के कारण इतिहासकार समाज की तसवीर को पूर्णता प्रदान करने के लिए ऐसे उल्लेखों की ओर ध्यान देने के लिए प्रोत्साहित हुए हैं।

भारत के इतिहासकार को किसी समय मुख्य रूप से प्राच्यवादी या भारतविद् माना जाता था। ये वे दिन थे जब एशिया की भाषाओं तथा संस्कृतियों के अध्ययन दूरदेश से आई खुशबू में बसे हुए थे। प्राच्य अध्ययनों की यह अवधारणा भारत में और अन्यत्र भी बदलती रही है। समकालीन विश्व में प्राचीन समाजों के इतिहासों को उन युगों तक सीमित रखने की अपेक्षा जिन्हें 'क्लासिकी संस्कृतियों' का सृजन करनेवाला कहा जाता था, अनेक परिप्रेक्ष्यों से देखा जा रहा है। राजनीतिक इतिहास और राजवंशों के अध्ययन आज भी ऐतिहासिक व्याख्या का एक महत्त्वपूर्ण पहलू हैं, लेकिन अब इन्हें किसी समाज या संस्कृति की रचना करनेवाली अन्य विशेषताओं को ध्यान में रखकर देखा जा रहा है। राजनीतिक रूपरंग में होनेवाले परिवर्तन आर्थिक संरचना एवं सामाजिक संबंधों में होनेवाले बदलावों से अविच्छेद्य रूप से जुड़े हुए हैं। यदि किसी धार्मिक आंदोलन को बहुत सारे अनुयायी मिल जाते हैं तो उसके आकर्षण की वैसे लोगों के लिए अवश्य ही कुछ प्रासंगिकता होगी जैसे लोग उसे समर्थन देते हैं। कोई नई भाषा और नया साहित्य तभी उभर सकता है जब वे उस

समाज की आवश्यकता पूरी करें जिसमें उनकी जड़ें समाई हुई हैं। जिन लोगों ने भारत के इतिहास के बाहरी रूप की रचना करने का प्रयत्न किया, केवल उन्हीं के विचारों को प्रस्तुत करना इतिहासकार के लिए काफी नहीं है। उन विचारों का उदय कैसे हुए और समाज में वे किस हद तक ग्राह्य थे, यह जानना बहुत जरूरी है।

काल-विभाजन पर पुनर्विचार

ऐतिहासिक परिवर्तन के स्वरूप के विवेचनों के कारण तथा नए प्रकार के स्रोतों का उपयोग आरंभ होने की वजह से भी काल-विभाजन पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए, पुरातात्विक साक्ष्य किसी समाज को उससे भिन्न दृष्टियों से परिभाषित करते हैं जिन दृष्टियों से साहित्यिक साक्ष्य करते हैं। अतीत के इन परिप्रेक्ष्यों के कारण भारतीय इतिहास के काल-विभाजन के प्रचलित रूपों पर शंका उठाना अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन काल, मध्य काल और आधुनिक काल यूरोपीय इतिहास से उधार लेकर भारतीय इतिहास के मौजूदा त्रिभागीय विभाजन पर लागू कर दिए गए। यूरोपीय इतिहास में यूनानी-रोमी सभ्यता के सूचक पुरातन प्राचीन काल और मुख्यतः ईसाई यूरोप का बोध करानेवाले मध्य काल के बीच भेद किया गया। यूरोपीय इतिहास में प्राचीन काल और मध्य काल के अपने-अपने विशेष अर्थ थे, जो भारतीय इतिहास के लिए प्रासंगिक नहीं थे।

भारतीय इतिहास में 'प्राचीन' एक अस्पष्ट शब्द ही रहता है, जो इस काल के किसी अर्थ का बोध नहीं कराता और 'मध्यकाल' का मतलब सिर्फ बीचवाला काल होता है। इसके अतिरिक्त, प्राचीन काल का विस्तार इतना अधिक है कि इसमें इसके दौरान होनेवाले अनेक बड़े-बड़े परिवर्तनों का समावेश हो जाता है। इस उपमहाद्वीप में हुए ऐतिहासिक परिवर्तन की विभिन्न रूपावलियों को किसी एक रूपावली में समेट पाने में भी कठिनाइयां सामने आती हैं। हाल के वर्षों में इस त्रिभागीय विभाजन को इस प्रकार से संशोधित किया गया है जो भारतीय इतिहास के उपयुक्त हो। प्रथम काल को प्रारंभिक ऐतिहासिक काल कहा गया है, जो आठवीं सदी ई. के आसपास समाप्त हो जाता है। उसके उपरांत आता है पूर्व मध्यकाल—आठवीं सदी से लेकर तेरहवीं सदी तक। मध्यकाल तुर्क शासन या सल्तनतों के साथ आरंभ होता है और मुगलों के ह्रास के साथ समाप्त हो जाता है। चौथा और अंतिम है आधुनिक काल, जिसका श्रीगणेश अठारहवीं सदी में अंगरेजी राज की स्थापना के साथ होता है।

यह त्रिभागीय विभाजन से बेहतर तो है, फिर भी अस्पष्ट ही रह जाता है। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल की शुरुआत आम तौर पर गंगा के मैदान में 500 ई.पू.

के आसपास शहरी केंद्रों और राज्यों के उदय से माना जाता है। ये घटनाएं इससे पहले के काल के मुकाबले एक बड़े परिवर्तन का द्योतक समझी जाती हैं, लेकिन इसमें प्राक्-राज्य और प्राक्-शहरी समाज के उस दीर्घ काल का समावेश नहीं हो पाता जो सैंधव सभ्यता के ह्रास के बाद आता है और जो प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य में उदित होनेवाली स्थिति से भिन्न है। समकालीन लिखित दस्तावेज तीसरी सदी ई.पू. में जाकर उपलब्ध होने लगते हैं, लेकिन इसके पूर्व का काल किसी उपयुक्त संज्ञा से विहीन ही रह जाता है। आठवी सदी ई. में इस उपमहाद्वीप में जो सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन हुए और धर्मों के क्षेत्र में जो कुछ नया घटित हुआ उसके मद्देनजर इस सदी के आसपास एक काल की समाप्ति मानना निश्चित ही उचित दिखाई देता है, लेकिन यह बात और है कि पूर्व मध्यकाल संज्ञा इन परिवर्तनों का बोध कराती है या नहीं। काल-विभाजन को यदि मात्र कालानुक्रमिक विभाजन नहीं होना है तो उसे सामाजिक परिवर्तनों का संकेत करना चाहिए और यह दरशाने वाला एक अनुक्रम प्रस्तुत करना चाहिए कि पहले क्या हुआ और उसके बाद क्या? इसलिए ऐतिहासिक ज्ञान की प्रगति से काल-विभाजन बदल सकता है। अब 'मध्यकाल' की अस्पष्टता को लेकर यूरोपीय इतिहास के संदर्भ में भी बहस चल रही है और किसी निश्चयवाचक शब्द पर विचार करना बेहतर हो सकता है।

एक संभावित वैकल्पिक काल-विभाजन, जिसमें अधिक वर्णनात्मक शब्दों का इस्तेमाल करना होगा, निम्नवत् हो सकता है। यह भी कुछ निश्चयवाचक नहीं है और झट से लिख या बोल देने लायक छोटी और आसान संज्ञाएं भी इसमें देखने को नहीं मिलेंगी, लेकिन यह ऐतिहासिक परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण बिंदुओं की ओर ध्यान अवश्य आकृष्ट करता है। निम्नलिखित विभाजनों की लंबाई समान नहीं होगी। उन्हें अपेक्षाकृत बड़े कालखंडों में समूहबद्ध करने के लिए ध्यान किसी मुख्य विषय पर केंद्रित करना होगा, जिसकी ओर ऐतिहासिक कार्रवाइयों का रुख हो या जिससे वे निसृत होती हों। यहां परिवर्तन के प्रति एक अधिक यथार्थवादी दृष्टि अपनाने की दिशा में कुछ विचार सामने रखने और यह बताने की कोशिश की गई है कि उस परिवर्तन की विशेषताएं क्या हो सकती हैं।

सुझाव के तौर पर पेश किया गया काल-विभाजन नीचे दिया जा रहा है :

1. आखेटक-खाद्य-संग्राहक, पशुचारक और प्रारंभिक किसान
2. प्रथम शहरीकरण : सिंधु का मैदान और पश्चिमोत्तर भारत
3. दक्षिणी प्रायद्वीप की महापाषणिक बस्तियां

(इन तीन कालों का केंद्र-बिंदु सैंधव शहरीकरण था, जिसके साथ वे संस्कृतियां जुड़ी हुई हैं जिनके कारण यह शहरीकरण संभव हुआ और वे भी जो उसके ह्रास

के बाद उससे छिटक कर इधर-उधर फैल गईं।)

4. सरदार और राजतंत्र 1200-600 ई.पू.
5. दूसरा शहरीकरण और गंगा के मैदान में राज्यों की संरचना, लगभग, 600-400 ई.पू.

   (यहां केंद्र-बिंदु गंगा के मैदान में राज्यों की संरचना और शहरीकरण है। चौथे काल में उन कारकों का विचार करना होगा जिन्होंने इन परिघटनाओं को संभव बनाया। साक्ष्य पुरातात्विक सामग्री और बाद में लिपिबद्ध की गई आनुश्रुतिक परंपराओं से प्राप्त होते हैं। पूर्ववर्ती शहरीकरण से इस शहरीकरण के भेद की ओर ध्यान देना आवश्यक है।)
6. मौर्य राज्य, लगभग 400-लगभग 200 ई.पू.

   (साम्राज्य स्थापना का पूर्वतम प्रयत्न। तरह-तरह के स्रोतों की छानबीन की संभवना बढ़ जाती है।)
7. व्यापारिक समुदाय का उत्थान और अंतर्सांस्कृतिक संपर्क, लगभग 200 ई.पू-300 ई.

   (इस काल में बहुत-से राज्य उभर आए और विभिन्न प्रकार के आर्थिक एवं धार्मिक तंत्र फैल गए, जिनमें व्यापारिक समुदाय तथा अंतर्सांस्कृतिक रूपकों की भूमिका पहले से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई और उससे देशातीत संस्कृतियों के विकास में सहायता मिली।)
8. सांस्कृतिक संस्कृतियों की सृष्टि, लगभग 300-700 ई.

   (इस काल की विशेषता सांस्कृतिक एकीकरण के तत्व हैं। एकीकरण का यह कार्य एक दरबारी संस्कृति के विकास के माध्यम से संपन्न हो रहा था। इस संस्कृति के विकास के प्रमाण इस उपमहाद्वीप के अनेक भागों में मिल सकते हैं। इसमें नए राज्यों की सृष्टि की संभावनाएं भी निहित थीं।)
9. वितरणवादी राज्य-व्यवस्थाएं और स्थानीय संस्कृतियां, लगभग 700-1300 ई.

   (राज्य-संरचनाएं और सांस्कृतिक संपर्क दोनों क्षेत्र-दर-क्षेत्र अधिकाधिक पूर्वानुमेय होते गए, जिसका कारण सांस्कृतिक संस्कृतियों का व्यापक प्रभाव था, जो भूमिदान के रूप में उभरनेवाली वितरणवादी अर्थव्यवस्थाओं से जुड़ी हुई थीं। स्थानीय संस्कृतियों के उदय पर ज़ोर देने का मतलब राजनीतिक विखंडन की तसवीर पेश करना नहीं है, बल्कि राजनीति, समाज तथा संस्कृति को एक ऐसे सांचे में ढालने प्रक्रिया को रेखांकित करना है जो पूर्ववर्ती प्राक्-गुप्तकाल से भिन्न था।)

10. क्षेत्रीय पहचानों का आग्रह, 1300–1550 ई.
(राजनीतिक व्यवस्थाओं और संस्कृतियों के क्षेत्रों में क्षेत्रीय पहचानों का आग्रह अधिक स्पष्ट हो जाता है, लेकिन इतना नहीं कि शक्तिशाली आधिपतित्वपूर्ण राज्य की स्थापना को रोक सके।)

11. मुगल राज्य और उसके बाद की क्षेत्रीय राजशाहियां, लगभग 1550–1750
12. ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन और उसका राष्ट्रवादी उत्तर।

इतिहास में कालों की परिभाषा करना महत्त्वपूर्ण होता है। लेकिन परिवर्तन का कारण निर्धारित करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है, जो एक ऐसा प्रश्न है जिसका जिक्र कभी-कभी एक से दूसरे काल की ओर संक्रमण के प्रश्न के रूप में भी किया जाता है। विशिष्ट परिवर्तन भी अकस्मात् आरंभ हो सकते हैं, लेकिन यदि वे पर्याप्त सातत्य के साथ होते हैं तो वे समाज के काम करने के ढंग को नई दिशा दे सकते हैं और इसी में ऐतिहासिक परिवर्तन सन्निविष्ट होता है। इसलिए संक्रमण का स्वरूप काल-विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू बन जाता है। विभिन्न कालों के बीच का भेद काल-विशेष में राज्य-व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, प्रौद्योगिकी, समाज और धर्म की विशेषताओं से और साथ ही जहां उपलब्ध हो वहां घटनाओं के संपादकों के हवाले से निर्धारित होता है। अनिवार्यतः अभिजन समूहों के संबंध में अधिक सूचना उपलब्ध रहती है, क्योंकि वही लेखक और संरक्षक थे। कभी-कभी जब पुरातत्व से साधारण जनों की भौतिक संस्कृति के साक्ष्य प्राप्त हो जाते हैं, तब इस दोष का मार्जन हो जाता है।

भिन्न प्रकार के सांस्कृतिक इतिहास

ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के इस तरह के सारांश में कम-से-कम इस बात का उल्लेख तो होना ही चाहिए कि भाषा पर या जिसे 'साहित्यिक मोड़' कहा गया है उस पर ज़ोर देनेवाले सिद्धांतों के कारण इतिहास नामक विषय के समक्ष एक सवाल खड़ा होता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि चूंकि भाषा ज्ञान का माध्यम है इसलिए जो चीज भाषा के रूप में सामने आती है वह पाठ है; चूंकि भाषा का अर्थ व्यक्ति लगाता है इसलिए उस व्यक्ति द्वारा किया गया वाचन उस पाठ को अर्थ देता है और इसलिए जितनी बार कोई पाठ एक अलग व्यक्ति द्वारा वाचित किया जाता है उतनी बार वह एक नया अर्थ प्राप्त कर लेता है। यदि इसे तर्कसंगत निष्कर्ष तक ले जाएं तो इसका मतलब यह होगा कि किसी पाठ का कोई सामान्यतः स्वीकार्य अर्थ हो ही नहीं सकता और यदि ऐसा है तो इसका ध्वन्यर्थ ऐतिहासिक प्रतिरूपण के प्रयत्नों या आपेक्षिक वस्तुपरकता के दावों को नकारना है, क्योंकि प्रत्येक वाचक के साथ अर्थ बदलता जाएगा। लेकिन प्रचलित विचार इससे अधिक सूक्ष्म हैं।

वाचन वर्चस्ववादी हो सकते हैं या वैकल्पिक वाचनों की उपेक्षा करने का प्रयत्न किया जा सकता है, लेकिन किसी पाठ का वाचन कैसे किया जाए, इस संबंध में कोई ख़ास ढांचा न होने या बिलकुल कोई भी ढांचा न होने के कारण ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से वाचन निरर्थक भी हो सकता है। अधिक ग्राह्य ऐतिहासिक दलील यह होगी कि वैकल्पिक पाठों और वाचनों के प्रति तथा एकाधिक स्वरों के प्रति अधिक संवेदनशीलता के लिए गुंजाइश है, लेकिन इस सबमें ऐतिहासिक विश्लेषण की कार्य-विधियों का पालन किया जाना चाहिए। संस्कृति, विश्वासों तथा विचारधाराओं पर विशेष ध्यान देना राजनीति तथा अर्थव्यवस्था पर पूर्ववर्ती इतिहास में दिए जानेवाले ज़ोर में एक आवश्यक योग हो सकता है, लेकिन यह अपने-आप में निश्चयात्मक इतिहास नहीं है, क्योंकि इतिहास किसी पाठ के वाचन और उसके बहुस्तरीय ऐतिहासिक संदर्भों के बीच पारस्परिक संबंध की अपेक्षा रखता है। इससे पाठ में जो कुछ स्पष्ट कहा गया है उसे समझने में तो मदद मिलती ही है लेकिन साथ ही जो कुछ ध्वनित रूप से कहा गया है उसे समझने में भी सहायता मिलती है, और यह दूसरी समझ भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कि पहली।

इन परिघटनाओं के साथ-साथ बीच-बीच में व्याख्या के सिद्धांतों की सुध लेने का भी सिलसिला चलता रहा है, और इस क्रम में कुछ की तो छानबीन करके उनका विकास किया गया है और कुछ के स्थान पर दूसरे सिद्धांत प्रतिष्ठित कर दिए गए हैं। उदाहरण के लिए, किसी समय कुछ लोग मार्क्सवाद को आर्थिक नियतवाद का पर्याय मानते थे, लेकिन हाल के दौर में उसके मानववादी, अस्तित्ववादी, संरचनावादी आदि विभिन्न रूपों के माध्यम से जो बहसें चलती रही हैं उनकी ओर ध्यान दें तो आज हम मार्क्सवाद को आर्थिक नियतवाद नहीं कह सकते। उपनिवेशवादी वाचनों से उत्पन्न सिद्धांतों का स्थान अपेक्षाकृत अधिक विश्लेषणात्मक अध्ययन ले रहे हैं, जो ज़्यादा सामग्री और व्याख्याओं का इस्तेमाल करते हैं। प्रतिमानों या समझ के ढांचों को नए सिरे से गढ़ा जाता है और इतिहास में इस परिवर्तन का सबसे नजदीकी रिश्ता तथ्यों और अवधारणाओं के प्रश्न से होता है। नए प्रतिमानों की रचना बहुधा आसपास की दुनिया पर गौर करने और उसे समझने की कोशिश के माध्यम से होती है।

सांस्कृतिक इतिहास में अधिक व्यापक दिलचस्पी जगने के कारण पाठों के विश्लेषणात्मक अध्ययन किए जाने लगे हैं, जिसका उद्देश्य मात्र वैकल्पिक या भिन्न प्रकार के वाचनों तक पहुंचना नहीं है, बल्कि पाठ को इतिहास के एक शिल्प-तथ्य के रूप में देखना भी है। इसके लिए अलग-अलग पाठ-रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करना और साथ ही उसे उसके अपने संदर्भ में रखकर देखना आवश्यक है। प्रमुखता रचयिता के और यदि कोई संरक्षक हो तो उसके इरादे को दी जाती है। साहित्य तथा कला दोनों माध्यमों से व्यक्त संस्कृति के साथ संरक्षकत्व का घनिष्ठ

संबंध सांस्कृतिक इतिहास का एक आवश्यक घटक है। इससे बहुधा कुछ ख़ास सवाल खड़े हुए हैं–जैसे यह कि जिनके लिए पाठ की रचना की गई वे कौन लग हैं। उधर इसके फलस्वरूप इतिहासकार इस बात की ओर ध्यान देने को प्रेरित हु हैं कि पाठकों, श्रोताओं या दर्शकों के वे कौन-से ख़ास समूह हैं जिनसे को कलात्मक या साहित्यिक रूप निर्धारित हुआ है या जिनके कारण उस रूप मे भिन्नताएं आई हैं।

पाठक-श्रोता-दर्शकों का और उद्देश्य का पता लगाना इतिहास-पुराण परंपरा के उन पाठों की पहचान करने के प्रयत्न में उपयोगी सिद्ध हुआ जिनमें अतीत के इतिहास-बोधों का समावेश है। इतिहास का शब्दार्थ है 'ऐसा था' और पुराण से जैसा-कुछ अतीत या उसका बोध होता है। यह परंपरा अनेक रूपों में सामने आती है। प्रारंभिक पुराणों में वंशावलियां हैं, जिनमें से कुछ काफी काल्पनिक हैं। धीरे-धीरे ये राजवंशीय उत्तराधिकारियों की अपेक्षाकृत यथार्थ सूचियां देने लगते हैं। बाद में राजाओं की और कभी-कभी तो किसी मंत्री की भी ऐतिहासिक जीवनियां दी जाने लगती हैं, जो मुख्य रूप से तो महापुरुष-चरित जैसी ही हैं लेकिन जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं के कुछ पहलू सन्निविष्ट हैं। इनके अलावा, क्षेत्रीय इतिहासों के इतिवृत्त भी हैं, जिनका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण निस्संदेह कल्हणकृत *राजतरंगिणी* है। बौद्ध विहारों के कुछ इतिवृत्तों को भी ऐतिहासिक विवरणों के रूप में देखा जाता है। किसी राजा के शासन या किसी राजवंश के इतिहास को अभिलेखों के रूप में लिपिबद्ध करने का सिलसिला ईसवी सन् के आरंभ के कुछ ही पहले शुरू हुआ, लेकिन आठवीं सदी के बाद के काल में यह चलन काफी आम हो गया। ये अभिलेख प्राचीन भारतीय इतिहास के वर्ष-वृत्तांत हैं।

उपर्युक्त पाठ आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं है, बल्कि अतीत को ख़ास रूपों में लिपिबद्ध करके वर्तमान दावों के वैधीकरण के लिए उनका उपयोग करने का प्रयत्न किया गया। ये विवरण रेखीय काल को ध्यान में रखकर व्यवस्थित किए गए हैं। उनके लेखन का संबंध उस इतिहास के प्रणयन का आदेश देनेवाले संरक्षक, उनका मसौदा तैयार करनेवाले लेखक और उन अभिप्रेत पाठक-श्रोताओं से है जिन्होंने उन पाठों को मूक भाव से स्वीकार किया। इनके रूप परस्पर विच्छिन्न नहीं हैं और उनमें जो कुछ पहले हुआ है उससे उधार लेने या उसे अपने सांचे में ढालकर पेश करने का प्रयत्न किया गया है। इतिहास-पुराण-परंपरा घटनाओं का विवरण, उनकी व्याख्या और उनका योगफल देने का एक प्रयत्न प्रस्तुत करती है। विश्लेषणों और ऐतिहासिक सामान्यीकरणों की आधुनिक धारणाओं को ये स्वीकार्य नहीं हैं, लेकिन इनसे इस संबंध में अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है कि सदियों पहले अलग-अलग कालों में अतीत को किस तरह से देखा जाता था।

ऐतिहासिक परंपरा के वर्ग से बाहर लेकिन इसी से जुड़े हुए हैं वे हजारों

अभिलेख जिनका उपयोग पहले राजवंशीय इतिहास की तसवीर तैयार करने के लिए किया गया, और अब जिनका पुनर्वाचन इतिहास के अन्य विभिन्न पहलुओं के संबंध में जानकारी प्राप्त करने के लिए किया जा रहा है। पाठों की दृष्टि से विचार करें तो उनमें कभी-कभी लीकबद्ध साहित्य से भिन्न वैकल्पिक वक्तव्य देखने को मिलते हैं। प्रथम सहस्राब्दी के मध्य के बाद के अभिलेख मुख्यधारा और क्षेत्रों की संस्कृतियों का मिश्रण प्रस्तुत करते हैं। यदि इन्हें विश्लेषणात्मक ढंग से पढ़ा जाए तो इस प्रकार के साक्ष्यों से हमें उन स्वरों को समझने की कुंजियां मिल सकती हैं जो मुख्यधारा के पाठों के लेखकों के स्वरों से भिन्न हैं।

इतिहास के राजनीतिक, पर्यावरणीय, प्रौद्योगिकीय, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य पहलुओं के अलग-अलग द्वीपों या टुकड़ों को सिलसिले से लगाकर रख देने का मतलब ऐतिहासिक अध्ययन नहीं है। ऐतिहासिक अध्ययन के लिए इन टुकड़ों को पहचानना तो जरूरी है, लेकिन साथ ही उन्हें उस समग्र से जोड़कर देखना जो घटनाओं को संभव बनाता है और एक व्याख्या की रचना करना भी आवश्यक है। इनमें से प्रत्येक की जटिलताओं को पाठ के वाचन पर अधिक सटीक ध्यान देकर सुलझाया जा सकता है और ऐसे वाचन के लिए जो सुविदित हैं उनके अतिरिक्त अन्य परिप्रेक्ष्यों का भी इस्तेमाल करना होगा, लेकिन तब भी ये टुकड़े ऐतिहासिक विश्लेषण के आवश्यक तत्वों के रूप में तो अपनी जगह कायम रहते ही हैं।

इतिहास का सरोकार परिवर्तन से और ऐतिहासिक परिवर्तन से है और यद्यपि इस परिवर्तन को निर्धारित नहीं किया जा सकता तथापि यह मनमाना और निष्प्रयोजन भी नहीं होता। किसी क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के समाजों की संरचना ऐतिहासिक विश्लेषण से उद्घाटित होती है और इस उद्घाटन के क्रम में इतिहासकार पात्रों और संदर्भों का निर्देश करता है। व्याख्या के सिद्धांत संदर्भ को समझने में सहायता देते हैं और ऐसे सिद्धांतों में भिन्नता होती है। कुछ के लिए सत्ता-संबंध बुनियादी महत्त्व की चीज हो सकता है; कुछ के लिए संसाधनों तथा श्रम पर नियंत्रण रखनेवालों और श्रम करनेवालों के बीच का द्वंद्व प्रमुख हो सकता है; और फिर कुछ के लिए सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं और उनसे उत्पन्न विचारधाराओं अथवा विचारधाराओं और उनसे उद्भूत सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं के बीच का संबंध आवश्यक हो सकता है। कुछ इतिहासकारों के लिए इन सबका अंतर्संबंध भी असली अहमियत रख सकता है।

इस अध्याय में व्याख्या के सिद्धांतों को अनिवार्यतः अनुक्रमिक मानकर प्रस्तुत करने का इरादा नहीं है, यद्यपि उनके बीच प्रासंगिक संबंध हैं। वे देश, काल और घटनाओं के विशिष्ट संदर्भों की अभिव्यक्ति हैं। उनके अपने इतिहास हैं और वे ऐतिहासिक चिंतन की अनेक लड़ियां हैं। चूंकि वे मात्र सामग्री का विस्तार या विपर्यय नहीं हैं, बल्कि उनका उद्देश्य जटिल समस्याओं को सुलझाना है, इसलिए उनकी

आयु भी भिन्न-भिन्न रही है। कुछ सिद्धांतों का ह्रास होता है या वे मिट जाते हैं। कुछ अन्य कायम रहते हैं, लेकिन आम तौर पर संशोधित रूप में। कुछ बहुत ही आक्रामक रूप से उभर आते हैं, ख़ासकर तब जब राजनीतिक लामबंदी की विचारधाराओं के रूप में उनका प्रयोजन ऐतिहासिक व्याख्या के उनके प्रयोजन से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कुछ अन्य नए सिद्धांतों को जन्म देते हैं और ये ऐतिहासिक विश्लेषण की पहुंच का विस्तार करनेवाले होते हैं।

इस पुस्तक में भारतीय अतीत को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ विषयों और प्रश्नों का पूर्वभास देने और उन लोगों, घटनाओं तथा संस्थाओं का संकेत देने का प्रयत्न किया गया है जिन्होंने काल के दौर में भारतीय समाज को बनाने में योगदान किया है। लेकिन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति का मूल्यांकन पूर्णतः निःशंक रूप से करने और सर्वथा बेबाक राय जाहिर करने की प्रवृत्ति से बचने की कोशिश की गई है, क्योंकि इस संक्षिप्त इतिहास में ऐसे मूल्यांकन का परिणाम लीक पीटने के रूप में ही सामने आ सकता है। भारतीय जीवन के कतिपय पहलुओं– पर्यावरण और आर्थिक संरचना, बदलते सामाजिक संबंधों, धार्मिक आंदोलनों के ऐतिहासिक संदर्भ, भाषाओं के उदय और अभिवृद्धि आदि–के विकास की रूपरेखा निर्दिष्ट करने के क्रम में कुछ ऐसी आकृतियां उभर आई है जिन्हें पहचाना जा सकता है। इन आकृतियों का वर्णन और व्याख्या उन्हीं पद्धतियों पर की गई है जो उपलब्ध साक्ष्यों और उनके विश्लेषण में निहित तर्क को देखते हुए मुझे सर्वाधिक विश्वासोत्पादक लगीं। इस प्रकार के सर्वेक्षण में उद्देश्य भारतीय अतीत की विशेषताओं को समझ में आने लायक ढंग से प्रस्तुत करने का है, यद्यपि इन विशेषताओं की जटिलताओं को देखते हुए इस उद्देश्य में सफलता की आशा ही की जा सकती है। इतिहासकार के रूप में मुझे इस बात का एहसास है कि मैं भी ऐतिहासिक प्रक्रिया का अंग हूं और भविष्य में प्रतिमान बदलेगा। हो सकता है उस बदलाव की दिशा वर्तमान में इतिहास को जिस ढंग से देखा जा सकता है उससे कुछ ग्रहण करे।

अध्याय : दो

भू-दृश्य और लोग

देश और काल

लाक्षणिक भाषा में कहें तो देश और काल इतिहास के ताने-बाने हैं। भारत में काल-बोध में अमूर्त अवधारणाओं का भी समावेश है, जैसे ब्रह्मांड का घटक-रूप चक्रीय काल और मानव कर्मों से उत्पन्न रेखीय काल। *महाभारत*,*मानवधर्मशास्त्र* और *विष्णुपुराण* और विभिन्न पाठों में चक्रीय काल ब्रह्मांड-शास्त्र का अंग है और इस ब्रह्मांड-शास्त्र का पल्लवन शायद ईसवी सन् के आरंभ में ही किया गया। उन पाठों में से *विष्णुपुराण* में वंशावलियों तथा राजवंशों पर भी एक विभाग है, जो रेखीय काल का संकेत देता है, लेकिन काल की अवधारणाओं के आधुनिक अध्ययनों में इसकी उपेक्षा कर दी गई और कहा गया कि भारतीय सभ्यता का केवल चक्रीय काल से ही परिचय था।

काल-चक्रों की काल्पनिक विराटता एक ब्रह्मांड-शास्त्रीय ढांचा प्रस्तुत करता है। इसमें महाचक्र या महायुग का विस्तार 4,320,000 वर्ष है। खगोल-शास्त्रीय गणना के लिए काल का ऐसा विस्तार आवश्यक था। इस महायुग में चार छोटे युगों का समावेश है, जिनमें से प्रत्येक अगला पिछले से छोटा है। ये चार युग हैं कृत या सत्य युग, त्रेता या तीसरा युग, द्वापर या दूसरा युग तथा कलियुग। हम सब कलियुग में जी रहे हैं, जिसका आरंभ, हिसाब लगाकर, 3102 ई.पू. बताया गया है और जिसे कुल 432,000 वर्ष चलना है। हर अगले युग के वर्षों की संख्या में कमी आने के साथ ही उसमें जीवन की गुणवत्ता का भी ह्रास होता जाता है। इसकी तुलना वृषभ से की गई है, जो पहले चार पैरों पर खड़ा है, लेकिन प्रत्येक युग में वह अपना एक पैर खोता जाता है और इसलिए आज वह एक ही पैर पर खड़ा है। प्रथम युग को छोड़कर शेष के नाम जुए की फेंकों पर रखे गए हैं। इस तरह काल की अवधारणा में संयोग के तत्व का समावेश कर दिया गया है और इसलिए कलियुग का अनुवाद खोती हुई बाजी करना उचित ही है।

रेखीय काल उस चीज से मर्यादित है जिसे मानवीय इतिहास के आदि और अंत के रूप में देखा जाता है। वह किसी कुल या राजवंश की वंशावली के छोटे या लंबे सिलसिले के वर्णन का रूप ले सकता है, जिसमें एक ओर यदि मात्र मनुष्य की आयु के बराबर विस्तारवाली जीवनी का समावेश हो सकता है तो दूसरी ओर राजाओं या राजवंशों की सत्ता की धाक जमाने के लिए लिखे गए अनेकानेक ऐसे इतिवृत्त भी शामिल हो सकते हैं जिनमें प्रथम सहस्राब्दी ई. से उनके द्वारा प्रवर्तित संवतों का भी जिक्र किया गया हो। यहूदियों और ईसाइयों की परंपरा में एक निश्चित आदि और कयामत के दिन के रूप में एक निश्चित अंत भी है। लेकिन कालारंभ और कालांत का भारतीय रूप कुछ कमज़ोर है। फिर भी अतीत को लिपिबद्ध करने में मूलभूत दृष्टिकोण के रूप में रेखीयता की अवधारणा स्पष्ट देखी जा सकती है। रेखीय काल नायकों और राजाओं के लिए और साथ ही संस्थाओं एवं राज्यों के विवरण के लिए निकटतम संदर्भ है। मालूम होता है, चक्रीय और रेखीय कालों के अलग-अलग प्रयोजन थे, और भारतीय पाठों में वे जिस रूप में प्रतिबिंबित हुए हैं उस रूप में उनके पारस्परिक संबंधों की छानबीन अभी प्रारंभिक अवस्था में ही है।

ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टिकोण से देखें तो ऐतिहासिक घटनाओं में *देश* को अपने घेरों में समेटे अलग-अलग क्षेत्र सक्रिय भूमिका निभाते हैं। क्षेत्र एक-जैसे नहीं हैं और न वे एक साथ उदित होते हैं। वे असमान रूप में सामने आते हैं। इस असमानता का कारण पहले से मौजूद भू-दृश्य एवं पर्यावरण के साथ ही मनुष्य द्वारा की गई कार्रवाई भी होती है। इसमें भौतिक भू-दृश्य की अवस्थाएं शामिल होंगी और आबोहवा, मिट्टी, जल-संसाधनों, फसलों, सूखे और बाढ़ के साथ ही पर्यावरण एवं भू-दृश्य में परिवर्तन लानेवाली प्रौद्योगिकियों के द्वारा बनाव-बिगाड़ लाया जाएगा।

इसके अलावा ऐसे *देश* भी हैं जिनका संबंध इस बात से है कि किसी भौगोलिक इकाई को ऐतिहासिक दृष्टि से किस रूप में देखा जाता है। भूविज्ञान की दृष्टि से देखें तो इस उपमहाद्वीप की रचना गोंडवानादेश की भूराशि के खिसकने और समुद्रों के भरने से हुई। जो भाग समुद्रों के भरने से बना वही अब उत्तरी मैदान है। एक बार जब इस उपमहाद्वीप की रचना हो गई तो यह सहस्राब्दियों तक एक हस्ती बना रहा। परंतु इसकी ऐतिहासिक पहचान अपेक्षाकृत हाल के काल की है और इस हाल की पहचान के अंतर्गत भी इसकी ऐतिहासिक पहचान के लिए प्रयुक्त नाम *देश* की अलग-अलग अवधारणाओं का बोध करानेवाले रहे हैं, और सामान्यतः इनमें से प्रत्येक नाम पिछलेवाले नाम की अपेक्षा अधिक विस्तृत देश का संकेत देता है। उदाहरण के लिए, इनमें से एक था *अवेस्ता* में प्रयुक्त 'हेप्ताहिंदु', जो ऋग्वैदिक 'सप्तसिंधु' (सिंधु और उसकी सहायक नदियों) का पर्याय था। ईरान के हखामनी अभिलेखों में 'हि(न)दुश' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो सिंधु नदी से ही लिया गया नाम था और पश्चिमोत्तर भारत का बोध कराता था। एक तीसरा नाम है 'आर्यावर्त',

जिससे गंगा के मैदान और उसके परिधिवर्ती इलाकों का बोध होता है, हालांकि कभी-कभी इसका विस्तार करके इसमें उत्तर भारत के अधिक बड़े हिस्से को शामिल कर लिया जाता था। तीसरी सदी ई. के ससानी अभिलेख शाहपुर 1 में 'हन्दस्तन' या हिंदुस्तान शब्द आता है, लेकिन इससे इस पूरे उपमहाद्वीप का नहीं, बल्कि सिर्फ पश्चिमोत्तर भारत का ही बोध होता था। अरबी स्रोतों में 'अल-हिंद' शब्द मिलता है, जिसका मतलब था सिंधु नदी से आगे का भूभाग।

ब्रह्मांडशास्त्र में पृथ्वी चपटी और गोल बताई गई है, जिसके केंद्र में मेरु पर्वत है। मेरु पर्वत को चार महाद्वीप घेरे हुए थे, जिन्हें सिर्फ द्वीप कहा गया है। इन महाद्वीपों को समुद्र एक-दूसरे से अलग करते थे। दक्षिणी महाद्वीप जंबूद्वीप था, जिसका शब्दार्थ था जामुन के पेड़वाला द्वीप और जिसका उल्लेख मौर्य अभिलेखों में भी हुआ है। इसके अंदर ही हिमालय से दक्षिण 'भारतवर्ष' था, जिसका नाम राजा भरत के नाम पर पड़ा था। इस योजना के विस्तृत रूप में कई महाद्वीपों और समुद्रों का समावेश था।

तीर्थस्थलों के सूचीबद्ध किए जाने और इन सूचियों के क्रमिक विस्तार से *देश* की अवधारणा के प्रति जागरूकता का पता चलता है। गुप्तोत्तर काल में 'दिग्विजयी' की उपाधि धारण करनेवाले राजाओं के दावों में एक परिपाटी के तौर पर विजित क्षेत्रों का उल्लेख भी *देश* की अवधारणा का आभास देता है। परिधिवर्ती और अनजाने इलाकों के मुख्यधारा के अंग बनने के साथ क्षेत्रों और उनसे बड़ी इकाइयों के संबंधों में बदलाव आए। लेकिन इस मुख्यधारा को और भी विस्तृत हस्तियों के खिंचावों को झेलना पड़ता था; उत्तर को मध्य एशिया की ओर से पश्चिमी तटीय क्षेत्रों को पश्चिम एशिया की ओर से; और दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर विभिन्न दिशाओं से। इसलिए इस उपमहाद्वीप को केवल ऐसे क्षेत्रों की दृष्टि से देखना ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं होगा जिनका रुख केंद्रीभूत दिशाओं की ओर था, भले ही इसके इतिहास के निरूपण के लिए यह दृष्टि जितनी भी सुविधाजनक हो।

जहां तक भूमि और मनुष्य के बीच के संबंध का प्रश्न है, कहते हैं, दो तरह के क्षेत्र होते हैं। एक तो हैं आकर्षण के क्षेत्र, जहां भू-दृश्य में लाए गए बदलावों में मनुष्य द्वारा किए गए प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देते हैं। दूसरे हैं विकर्षण के क्षेत्र, जिनमें मानव बस्तियां कहीं-कहीं ही होती हैं और भू-दृश्य अपरिवर्तित रहता है। लेकिन इस द्विभाजन को ज़रूरत से ज़्यादा सही नहीं मानना चाहिए। इन दो के अलावा आपेक्षिक विकर्षणवाले क्षेत्र भी होते हैं, जो कालांतर में राज्यों के प्रदेशों में खपा लिए जाते हैं। उदाहरण के लिए, जंगल और रेगिस्तान विकर्षणवाले क्षेत्र होंगे, यद्यपि जंगल राज्यों द्वारा काम में लाए जाने वाले अनेक संसाधन-जैसे लकड़ी, हाथी और नीमकीमती पत्थर—मुहैया करते थे, और रेगिस्तानों से होकर गुजरनेवाले मार्गों के उपयोग के फलस्वरूप आसपास के क्षेत्रों के बीच संचार में गति आई। उपयोग की

अनुमति अकसर उन लोगों से वार्ता करके प्राप्त की जाती थी जो संबंधित क्षेत्र में निवास करते थे।

उत्तरी पर्वतमालाएं

भौगोलिक दृष्टि से इस उपमहाद्वीप को तीन भागों में बांटा गया है : उत्तरी पर्वतमालाएं, गंगा-सिंधु का मैदान और दक्षिणी प्रायद्वीप। अतीत में उत्तरी पर्वतमालाओं का वर्णन ऐसे अवरोध के रूप में किया गया है जो उत्तरी भारत को एशिया से अलग करता था। लेकिन वास्तव में वे कोई अवरोध नहीं थीं और इस उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर भाग का संपर्क पश्चिमी और मध्य एशिया के लोगों और स्थानों से लगातार बना रहा। स्थिति ऐसी लगती है कि पश्चिमोत्तर पर्वतमालाओं के दर्रों को संचार का ख़ास माध्यम बनाकर अंतर्-सांस्कृतिक गतिविधियों में खूब तेजी लाई गई।

उत्तरी मैदान पश्चिमोत्तर में हिंदूकुश तथा सुलेमान और किरथार पर्वतश्रेणियों से एवं उत्तर में हिमालय पर्वतमाला से घिरा हुआ है। हिंदूकुश एक जल-विभाजक भी है, ऐसा उभरा हुआ क्षेत्र जो आमू दरिया और सिंधु की घाटियों के बीच भौगोलिक योजक का काम करता है। इस दृष्टिकोण से देखें तो यह मध्य एशिया के साथ संपर्क को रोकनेवाला अवरोधक नहीं रह जाता, जैसा कि पहले कभी माना जाता था।

पश्चिमोत्तर पर्वतमालाओं के दर्रे वीरान तो थे, लेकिन उनसे ऊंचे पड़नेवाले हिमालय की अपेक्षा कम बर्फीले थे और इसलिए उनका उपयोग अधिक किया जाता था। ये थे बोलन, गोमल और खैबर दर्रे। हुंजा और ऊपरी सिंधु घाटी की तरह उपजाऊ स्वात घाटी से भी एक और मार्ग बनता था। उन्नीसवीं सदी में अफगानिस्तान पर नियंत्रण स्थापित करने और रूसी उपस्थिति पर अंकुश लगाने के अंगरेजों के प्रयत्न में खैबर दर्रे ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और इसलिए साहित्य में उसकी काफी चर्चाएं हुई हैं। इस तरह वह इतिहासकारों के ध्यान का केंद्र बन गया है। लेकिन लगता है, सबसे आरंभिक काल में बोलन अधिक महत्त्वपूर्ण मार्ग रहा होगा। इस दर्रे से होकर अफगानिस्तान में सेइस्तान और हेलमंड घाटी तक पहुंचा जा सकता था और वहां से पूर्वोत्तर ईरान तथा मध्य एशिया में। स्वात घाटी की ओर आधुनिक इतिहासकारों का ध्यान इसलिए आकृष्ट हुआ कि उसका संबंध मकदूनियाई विजेता सिकंदर के मार्ग से था।

अफगानिसतान और यहां तक कि मध्य एशिया से भी आते-जाते रहनेवाले पशुचारक इन दर्रों और घाटियों से होकर नियमित रूप से गुजरते थे। अभी कुछ साल पूर्व तक वे ऐसा करते रहे। यही बात मध्य एशिया, ईरान या अफगानिस्तान

से भारत आनेवाले आव्रजकों या इन क्षेत्रों के साथ व्यापार करनेवाले और वहां बस जानेवाले भारतीयों के बड़े-बड़े समूहों के बारे में भी कही जा सकती है। ईरान से आनेवाले धर्मप्रचारकों, सौदागरों के कारवांओं और समय-समय पर हमलावर सेनाओं ने भी इन्हीं मार्गों का उपयोग किया। इन दर्रों के दोनों ओर की बस्तियां इन पर नियंत्रण का महत्त्व दरशाती हैं। प्राचीन काल में खैबर पर तक्षशिला और *बेग्राम* नगरों का नियंत्रण था और उसके बाद पेशावर और काबुल का। दर्रे का जहां मैदान से मिलन होता है वह हिस्सा स्थानीय इलाकों की राजनीति और व्यापार के लिए ख़ास तौर से संवेदनशील है। इन दर्रों का इस्तेमाल इतना ज़्यादा किया जाता था कि पश्चिमोत्तर पर्वतमाला को अवरोधक कहना गलत होगा। वस्तुतः वे संपर्क के गलियारे थे। आज जिन क्षेत्रों को मध्य एशिया, ईरान और अफगानिस्तान कहा जाता है उनसे तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. में भी संपर्क था अर्थात् सैंधव सभ्यता काल में और लगता है, इन दर्रों का उपयोग लोग पूर्ववर्ती काल में भी करते होंगे। उत्तर भारत में बाहरी लोगों के आगमन में एक प्रकार की ऐतिहासिक निरंतरता थी। उदाहरण के लिए यहां हिंद-आर्य भाषा-भाषी लोग आए, फिर मकदूनिया के सिकंदर की सेना के साथ छिटपुट तौर पर बहुत-से लोग आए और तब हिंद-यूनानियों, पहलवों, शकों, कुषाणों, हूणों और तुर्कों का सिलसिलेवार आगमन हुआ। सबसे नियमित आवागमन चरवाहों और व्यापारिक कारवांओं का होता था।

उत्तर दिशा में पड़नेवाली हिमालय पर्वतमाला इससे कुछ भिन्न है और उसे अवरोध तो नहीं कहा जाएगा, फिर भी उस रास्ते से अपेक्षाकृत कम संचार हुआ। तिब्बत का पठार खुद भी मध्य एशिया और चीन से दूर पड़ता था। यहां के दर्रे काफी ऊंचाई पर हैं और शीत ऋतु में दुर्गम हो जाते हैं तथा सामान्यतः बर्फ से ढके रहते हैं। फिर भी उनसे होकर व्यापार और आवागमन हुआ है। मध्य एशिया को जानेवाला रास्ता हाल में पता लगाए गए काराकोरम उच्च पथ पर पड़ता था, वह गिलगिट, चित्राल और हुंजा से गुजरता था और उस मार्ग से मिल जाता था जिसे मध्य एशियाई रेशम मार्ग की संज्ञा दी गई। विगत एक-दो सदियों के दौरान इन क्षेत्रों ने उस 'महा खेल' ('ग्रेट गेम') की पीठिका के रूप में लोगों का ध्यान आकृष्ट किया जिसका मतलब था मध्य एशिया और तिब्बत के द्वार खोलने का ब्रिटेन का प्रयत्न।

उससे पूरब की ओर बढ़ें तो तिब्बत से संपर्क का संबंध पशुचारक समूहों के ऋतु-प्रवास से था, क्योंकि ग्रीष्म ऋतु में वे चरागाहों की तलाश में उत्तर की ओर चले जाते थे, जिसके लिए दर्रों का उपयोग करते थे। और भी पूरब की ओर चलें तो जिस भाग को आज पूर्वोत्तर भारत कहा जाता है उस भाग के पर्वतों को पार करना कठिन था, क्योंकि यहां पर्वतश्रेणियों की दिशा ऐसी हो जाती है कि पश्चिम से पूरब की ओर जाना आसान नहीं रह जाता। इसलिए देशांतरण और व्यापार की

नियमितता एवं इतिहास में इनकी भूमिका क्षेत्र-दर-क्षेत्र बदलती रही।

पश्चिमोत्तर पर्वतश्रेणी और पूर्वोत्तर पर्वतश्रेणी की भू-रचना की भिन्नता और इन पर्वतश्रेणियों से बाहर के पड़ोसी क्षेत्रों की संस्कृतियों के बीच के फर्क के कारण पश्चिमोत्तर तथा पूर्वोत्तर की संस्कृतियों के बीच अंतर को बढ़ावा मिला। यह बात मैदानी क्षेत्रों तथा पर्वतीय प्रदेशों के बीच की अंतर्क्रिया में उभरकर सामने आई। पश्चिमोत्तर में लोगों का आना-जाना लगातार होता रहा, बस्तियां बस्ती रहीं और अलग-अलग भाषाओं का प्रयोग चलता रहा। लेकिन उत्तरी हिमालय की घाटियां आम तौर पर बाहर के क्षेत्रों से अलग-थलग रहीं और ऐसा बावजूद इसके हुआ कि दोआब तथा मध्य गांगेय मैदान को एक-दूसरे से जोड़नेवाला मार्ग हिमालय की तराई से होकर गुजरनेवाले उत्तरापथ पर पड़ता था। प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. में जब जल विभाजक से गंगा के मैदान की ओर जन-जीवन का विस्तार आरंभ हुआ तब शायद अधिक ऊंचे और कम घने जंगलों से होकर मार्ग बनाना गंगा के मैदान के घने मानसूनी जंगलों को साफ करके रास्ता बनाने से अधिक आसान था। पहली सहस्राब्दी ई. में उत्तरी घाटियों में राज्य स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा रखनेवाले लोग मैदानी क्षेत्रों से वहां पहुंचने लगे। इसके फलस्वरूप मैदानी क्षेत्रों के राज्यों तथा पर्वतश्रेणियों में अंदर की ओर पड़नेवाले क्षेत्रों के बीच अधिक संपर्क तथा आदान-प्रदान होने लगा। पूर्वोत्तर में अपेक्षाकृत अलग-थलग पड़े हुए क्षेत्र थे और कुछ ऐसे भी थे जिनमें राजनीतिक सत्ता का संबंध पर्वत-पार के प्रदेशों से जुड़ता था।

सिंधु-गंगा का मैदान

उत्तर की नदियों को जल की सतत् आपूर्ति हिमनदों (ग्लेशियरों) से होती है। इन हिमनदों ने तंग घाटियां बनाकर या ऊंचाइयों को कम करके घास के मैदानों की सृष्टि करते हुए उत्तरी पर्वतश्रेणी के भू-दृश्य को भी बदलने का काम किया है। भौगोलिक दृष्टि से देखें तो उत्तरी मैदान समुद्र के भरने से बना है और इसमें नदियों ने भी अपनी भूमिका निभाई है। ये नदियां वहां के किसानों के लिए वरदानस्वरूप हैं जहां इन्होंने उपजाऊ मिट्टी की परत फैला दी है, लेकिन सतलज, कोसी, तिस्ता और ब्रह्मपुत्र जैसी कुछ नदियां बड़े पैमाने पर अपनी धाराएं बदलकर या बाढ़ लाकर विपत्तियां भी उत्पन्न करती रहती हैं।

उत्तरी मैदान की ऊंचाई समान नहीं है। इसमें पश्चिम से पूरब की ओर हलकी-सा ढलान है, जो पंजाब के मैदान में जल-विभाजक के पास आरंभ होकर गंगा के मैदान के साथ उसके पूर्वी हिस्से और ब्रह्मपुत्र के मैदान तक पहुंचता है।

उत्तरी मैदान दो नदी-तंत्रों में विभाजित है—सिंधुतंत्र और गंगातंत्र। सिंधु नदी हिमालय-पार से निकलकर एक सोते के रूप में पर्वतीय क्षेत्र में उत्तर की ओर

बढ़ती है और उसके बाद दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़कर मैदान में प्रवेश करती है। मध्यवर्ती सिंधु तत्वतः वह क्षेत्र है जहां उत्तरी हिमालय से निकलकर पंजाब के मैदान में बहनेवाली उसकी सहायक नदियां उससे आकर मिलती हैं। इन सहायक नदियों के नाम हैं झेलम, चनाब, रावी, सतलज और व्यास। इनमें से सतलज ने अपनी धारा कई बार बदली है। निचली सिंधु नदी डेल्टा में बदल जाती है, जिसमें गाद जमा होते रहने के कारण इसके बंदरगाह दीर्घजीवी नहीं हो पाते थे। उससे पश्चिम में दुर्गम मकरान तट है, जिससे होकर गुजरना सिकंदर की बेबिलोन की ओर लौटती सेना के लिए एक दुःस्वप्न-सा हो गया था।

एक और भी नदी, जिसका इतिहास सिंधु के मैदान से जुड़ा हुआ था, हकरा थी। समझा जाता है कि किसी जमाने में यह एक महत्त्वपूर्ण नदी थी, जो आज की सतलज की धारा और निचली सिंधु के लगभग समानांतर बहती थी और उसका मुहाना कच्छ की खाड़ी में था। लेकिन प्राकृतिक जलीय परिवर्तनों के फलस्वरूप उसके ऊपरी हिस्से के, जिसे कभी-कभी घग्घर भी कहा जाता था, जल के बहाव की दिशा बदल गई। जो नदियां मूलतः हकरा में आकर मिलती थीं वे सतलज में मिल गईं, जो सिंधु की सहायक नदी बन गई और व्यास तथा यमुना से जुड़कर गंगा में मिलकर बहने लगी। इसके साथ ही हकरा क्रमशः सूखती गई और आज घग्घर की विशृंखल धाराओं के अलावा उसका कुछ भी शेष नहीं रह गया है। दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के उत्तरार्ध में हकरा के सूखे पाट में बस्तियां बसी हुई थीं, इससे लगता है कि इस नदी के सूखने का सिलसिला इसी काल के आसपास पूरा हुआ होगा। इससे यह भी लगता है कि यह सिलसिला आरंभ पहले ही हो चुका होगा, जिसका काल हम दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. का पूर्वार्ध मान सकते हैं।

*ऋग्वेद*में उल्लिखित सरस्वती की पहचान घग्घर के रूप में करना विवादास्पद है। इसके अतिरिक्त, सरस्वती के प्रारंभिक उल्लेखों को अफगानिस्तान के हरक्सवती मैदान का सूचक माना जा सकता है। उपर्युक्त पहचान इस दृष्टि से भी समस्या खड़ी करती है कि वर्णन के अनुसार सरस्वती नदी ऊंचे पहाड़ों से रास्ता बनाती हुई बहती थी और घग्घर की धारा का भू-दृश्य ऐसा नहीं है। यद्यपि *ऋग्वेद* में सरस्वती का वर्णन बहुत ओजपूर्ण ढंग से किया गया है, तथापि सतलज और यमुना पहले से ही अलग-अलग नदियां थीं और घग्घर में उनका संगम नहीं होता था। इससे प्रकट होगा कि ये ऋचाएं हकरा घग्घर में हुए परिवर्तनों के बाद रची गईं। पूर्ववर्ती नदी की स्मृति का आवाह्न करके जब एक बार उसका मिथकीकरण कर दिया गया तब उसका सरस्वती नाम कई नदियों को दिया जा सकता था। इस उपमहाद्वीप के कई हिस्सों में ऐसा हुआ है।

सिंधु-गंगा जल-विभाजक का उच्च क्षेत्र पश्चिम में पड़नेवाले सिंधु-तंत्र को पूरब में पड़नेवाले गंगा-तंत्र से अलग करता है। इस अलगाव को अरावली पहाड़ियों

से और भी बल मिलता है, जो राजस्थान के शुष्क प्रदेश को गंगा के पश्चिमी मैदान से अलग करती हैं। सिंधु-गंगा जल-विभाजक पश्चिमोत्तर से गंगा के मैदान में बलात् प्रवेश के खिलाफ सरहद का भी काम करता है। गंगा हिमालय से निकलकर दक्षिण की ओर बहती है और फिर पूरब की ओर मुड़ जाती है। अपनी सहायक नदियों के मिलने से यह एक ऐसा जल-तंत्र कायम कर देती है जिसका उपयोग जल-परिवहन के लिए अभी हाल तक होता रहा। यमुना गंगा के लगभग समानांतर बहती है, लेकिन आगे चलकर उसमें मिल जाती है। इन दोनों नदियों के बीच के हिस्से को दोआब कहा जाता है, जिसका मतलब है दो नदियों के बीच का क्षेत्र। उससे और पूरब जाने पर हिमालय से दक्षिण की ओर बहनेवाली नदियों—गोमती, सरयू, घाघरा और गंडक–का उससे संगम होता है। सोन, बेतवा और चंबल (जिसके बीहड़ डाकू क्षेत्र के रूप में मशहूर हैं) विंध्य पहाड़ियों से उत्तर दिशा में बहकर गंगा से मिलती हैं। और भी पूरब जाने पर गंगा दो धाराओं में बंट जाती है। भागीरथी नामक धारा दक्षिण की ओर मुड़ जाती है, जो अपने बहाव-क्षेत्र को बदलते रहने के लिए प्रसिद्ध है और जिस प्रसिद्धि की पुष्टि भू-विज्ञान के साथ ही मिथकशास्त्र भी करता है। दूसरी धारा है पद्मा, जो दक्षिण-पूर्व दिशा में बहती है।

अपने पूर्वी छोर पर गंगा का मैदान ब्रह्मपुत्र के मैदान से जा मिलता है। हिमालय-पार से निकलकर ब्रह्मपुत्र बहुत लंबी दूरी तक पश्चिम से पूरब की ओर बहती हुई तिब्बत पार करती है, जहां उसका नाम सांग-पो है। उसके बाद वह उल्टी दिशा में मुड़ जाती है और पूर्वोत्तर भारत के मैदान में लगभग पूरब से पश्चिम की ओर बहती हुई आगे बढ़ती है। मैदानी क्षेत्र में वह धीमी गति से बहनेवाली एक विशाल नदी का रूप ले लेती है, जिसमें बीच-बीच में द्वीप बने हुए हैं। सिंधु और ब्रह्मपुत्र के उद्गम बिलकुल आसपास हैं, लेकिन दोनों बहुत लंबी दूरियों तक अलग-अलग दिशाओं में बहती हैं। मानसरोवर झील और निकटवर्ती कैलाश पर्वत को पवित्र माना जाने लगा है। पूरब में ब्रह्मपुत्र पद्मा में मिल जाती है, और कुछ आगे चलकर मेघना भी। इससे मानसून के दौरान एक विस्तृत जल-क्षेत्र की सृष्टि हो जाती है और यहां के नाविकों का इस क्षेत्र के लोक-साहित्य में महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक स्थान है।

नदियों की घाटियां या नदियों द्वारा सृजित मैदान बहुधा शहरी केंद्रों के उदय के लिए आदर्श क्षेत्र होते हैं—ख़ास तौर से ऐसे क्षेत्रों के कतिपय केंद्रीभूत स्थान, जैसे नदियों के संगम-स्थल। सैंधव तंत्र की शहरी सभ्यता तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. में फूली-फली और गांगेय तंत्र में ऐसी सभ्यता का उदय प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. में हुआ। ब्रह्मपुत्र के मैदान में शहरी केंद्र इससे कुछ बाद में विकसित हुए। इसका कारण शायद यह था कि पर्यावरणीय तथा प्रौद्योगिकीय अवस्थाओं के कारण जंगलों की सफाई और बसावट को आरंभ में प्रोत्साहन नहीं मिला। इसका कुछ संबंध इस बात

से भी है कि पूर्वोत्तर भारत के पर्वतीय क्षेत्र तथाकथित 'जनजातीय समाजों' के अनेक समूहों को पोषण देते रहे, क्योंकि दीर्घ काल तक वह क्षेत्र अपेक्षाकृत अलग-थलग पड़ा रहा। वे मुख्यधारा से अपेक्षाकृत विच्छिन्न रहे। गंगा डेल्टा से पूरब की भूमि को भी साफ किया गया और प्रथम सहस्राब्दी ई. में उस क्षेत्र में भी धीरे-धीरे बस्तियां बसाई गईं। मालूम होता है, सिंधु के मैदान में गंगा के मैदान जितने घने जंगल नहीं थे, यद्यपि हड़प्पाई मुहरों में बाघों और गैंडों की आकृतियां दरशाई गई हैं, जिनका संबंध सामान्यतः ऊष्णकटिबंधी जंगलों से होता है। गंगा के मैदान के जंगलों को इस तरह सिरे से साफ कर दिया गया है कि आज यह विश्वास करना कठिन है कि कभी वह घने मानसूनी जंगलों से ढका हुआ था। इन मैदानों, ख़ास तौर से उनके मौसमी बाढ़ों में डूब जानेवाले हिस्सों के उपजाऊपन ने कृषि को आकृष्ट किया, बावजूद इसके कि लगभग हर साल बाढ़ से फसलों को भारी नुकसान पहुंचता था।

लेकिन उत्तरी मैदान के सभी हिस्से समान रूप से उपजाऊ नहीं थे। राजस्थान के थार रेगिस्तान और उसके इर्द-गिर्द के अर्ध-शुष्क इलाकों में ख़ास खेती-बाड़ी की गुंजाइश नहीं थी। लेकिन रेगिस्तानों की अपनी विशेषता के अनुसार, ये क्षेत्र ऐसे मार्गों की दृष्टि से बहुत उपयुक्त साबित हुए जिनका इस्तेमाल व्यापारी लोग ऊंटों के कारवांओं के जरिए अपने माल के परिवहन के लिए करते थे। धीरे-धीरे विनिमय के छोटे-छोटे केंद्र या पड़ाव उभर आए, जिनमें से कुछ शहरों के रूप में विकसित हुए। सिंचाई की ओर विशेष ध्यान देने पर इनमें से भी कुछ इलाकों में खेती-बाड़ी लाभदायक हो गई।

प्रायद्वीप

तीसरा बड़ा क्षेत्र है प्रायद्वीप। विंध्य पर्वतमाला, सतपुड़ा की पहाड़ियों और नर्मदा नदी से दक्षिण पड़नेवाला यह भाग मुख्य रूप से एक पठार है, लेकिन पश्चिमी और पूर्वी घाटों में पहाड़ी प्रदेश हैं। इस प्रायद्वीप के उत्तरी अर्धांश में पड़नेवाले पठार को दकन कहते हैं, जो दक्षिण शब्द का एक देशज रूप है, जिसका प्रयोग उत्तर भारतीयों ने इस क्षेत्र के लिए प्रारंभ किया। ऐतिहासिक काल में दक्षिण की ओर जानेवाले एक प्रमुख मार्ग—दक्षिणापथ—का उल्लेख पाठों में अकसर मिलता है। यह पठार ज्वालामुखी चट्टान से बना है, जो उत्तरी पहाड़ों की चट्टान से बहुत भिन्न है। ऐसी चट्टान को आसानी से काटा जा सकता है। इसीलिए दकन में चट्टान काटकर बनाए गए विहारों और मंदिरों की बहुलता है।

पश्चिमी घाट पश्चिमी तट के निकट बहुत सीधी ऊंचाईवाला है, लेकिन पूरब दिशा में यह क्रमिक रूप से ढालुआं होता चला जाता है और प्रायद्वीप के पठार

में मिल जाता है। इसमें जुनार, कंहेरी, कार्ले और कराड जैसे बहुत-से दर्रे हैं, जो पठार से होकर निकलनेवाले व्यापारिक मार्गों को पश्चिमी तट के बंदरगाहों से जोड़ते थे। दर्रों के इर्द-गिर्द चट्टान काटकर बनाए गए बौद्ध विहारों की बहुलता थी। दक्षिणी छोर पर पालघाट की घाटी से होकर पश्चिमी तट से कावेरी घाटी में पहुंचा जा सकता था। पालघाट की घाटी भारत-रोम व्यापार के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण थी।

पूर्वी घाट बहुत हलके ढलान के साथ पठार और पूर्वी तट से जाकर मिल जाता है। प्रमुख नदियां लगभग समानांतर बहती हैं, जिसका एकमात्र अपवाद प्रायद्वीप के पूर्वी छोर पर पड़नेवाली महानदी है। अपेक्षाकृत अधिक उत्तर की ओर पड़नेवाली नदियां–नर्मदा और ताप्ती–पूरब से पश्चिम की ओर बहती हैं, लेकिन दक्षिण की ओर पड़नेवाली नदियां, जैसे गोदावरी, कृष्णा, तुंगभद्रा और कावेरी पश्चिम से पूरब दिशा में बहती हैं। नदियों को पवित्र माना जाता है। तीर्थस्थल ज़्यादातर नदी-तटों पर स्थित हैं। नर्मदा की तीर्थयात्रा का मतलब था उसके उद्‌गम स्थान से यात्रा शुरू करके उसके किनारे-किनारे चलते जाना और फिर उसे पार करके उसके दूसरे किनारे से चलते हुए वापस उद्‌गम स्थल तक पहुंचना। अन्य नदियों के संबंध में ऐसा कोई रिवाज दिखाई नहीं देता।

प्रायद्वीप को नदियों और उभरे क्षेत्रों द्वारा बनाई गई स्थलाकृति टुकड़ों में विभाजित करती है। यही कारण है कि यहां उत्तर के मैदान की तरह विस्तृत भू-क्षेत्रवाले कृषि-आधारित राज्य उदित नहीं हो पाए। बड़ी बस्तियां उत्तरी मैदान से दक्कन की ओर जानेवाले अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त मार्गों के आसपास बसी हुई थीं। इन बस्तियों का जंगलों में निवास करनेवाले लोगों पर कोई ख़ास प्रभाव नहीं पड़ा। लेकिन बाद की सदियों के दौरान जब लकड़ी, हाथियों और खेती की ज़मीन के लिए जंगलों का अतिक्रमण किया जाने लगा तब स्थिति बदल गई। मध्य भारत को 'जनजातीय समाजों' और वनवासियों के लिए विशेष उपयुक्त निवास-क्षेत्र माना जाता था, यद्यपि इस प्रकार के समाज पूरे उपमहाद्वीप में बिखरे पड़े थे। अब भी जहां-तहां इनके हलके हैं ही। इस तरह के 'जनजातीय समाजों' या वनवासियों के अलग-अलग समूहों की जनसंख्या में बहुत फर्क है। जहां अंडमान-निवासी ओंगे लोगों की संख्या सौ के ही आसपास है वहीं मुंडा, ओरांव, भील, गोंड और मीणा जैसे कबीलों के लोगों की संख्या दसियों लाख तक पहुंचती है। जीवन-यापन के लिए ये आखेट-खाद्य-संग्रह से लेकर झुम खेती, बागवानी और सामान्य खेती-बाड़ी तक का सहारा लेते हैं। इन समाजों और पड़ोसी कृषक समाजों के बीच एक भेद यह था कि दूसरे प्रकार के समाजों में हल-कृषि और कृषि-भूमि की पट्टेदारी सबसे प्रमुख तथ्य थी, यद्यपि हाल के दौर में इनका प्रवेश वनवासी समाजों में भी हो गया है। क्षेत्र पर्यावरण के अनुसार स्पष्ट रूप से सीमांकित नहीं थे और पड़ोसी क्षेत्रों के पर्यावरणीय रूप चाहे जो रहे हों, उनके बीच एक अटूट सहज संबंध था। जंगल-

झाड़ आज की अपेक्षा अतीत में बहुत विस्तृत थे। अंशतः इसी कारण से कुछ क्षेत्रों में वनवासियों की घनी आबादियां थीं। ऐसी आबादियों के बीच कृषक गांव क्रमिक रूप से ही बसाए जा सके। प्रारंभिक पाठों में एक शहर से दूसरे में जाने के क्रम में जंगलों से होकर यात्रा करने के उल्लेख बार-बार मिलते हैं। जंगलों को अपना घर माननेवाले लुटेरे लंबी यात्रा में भय का एक और सबब थे।

तटवर्ती क्षेत्र

अपने विस्तृत पश्चिमी और पूर्वी तटों के कारण अनिवार्यतः इस प्रायद्वीप का समुद्री गतिविधियों का अपना एक इतिहास है। इन गतिविधियों को यथेष्ट महत्त्व नहीं दिया गया है, जिसका कारण मुख्यतः यह है कि इस उपमहाद्वीप का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य स्थलबद्ध रहा है। मानसून एक प्रमुख विशेषता थी, क्योंकि मानसूनी हवाओं का सही प्रौद्यौगिकी के सहारे उपयुक्त उपयोग करने पर वे पालदार जहाजों को शक्ति प्रदान करती थीं। दूरगामी जलमार्ग बीच समुद्र से होकर गुजरते थे, जिनके लिए हवाओं और प्रवाहों का ज्ञान आवश्यक था। तटवर्ती मार्गों के तंत्र काफी हद तक जैसे-के-तैसे रहते थे। दोनों में से प्रत्येक तट के समुद्र से जुड़े अपने ख़ास क्षेत्र थे। तट-रेखा की भू-आकृति और नौचालन कौशल तथा जहाजरानी की प्रौद्योगिकी के कारण पत्तन और बंदरगाह बहुधा सदियों तक कायम रहते थे। इसका एक सटीक उदाहरण केरल का मुजिरिस पत्तन है, जिसकी पहचान अगर कोडांगलूर/क्रेंगानूर के रूप में की जाए–जैसी कि आम तौर पर की भी जाती है—तो वह ईसवी सन् के आरंभ से लेकर पंद्रहवीं सदी में पुर्तगालियों के भारत आगमन तक सक्रिय रहा।

और इतिहास के अधिकांश दौर में गुजरात से लेकर केरल तक के पश्चिमी तट पर उतने ही सक्रिय जलदस्यु भी रहे। जलदस्युओं के खतरे और उनका प्रतिरोध करनेवाले वीर नायकों की गाथाओं के उल्लेख बार-बार मिलते हैं। जल-दस्युवृत्ति एक हद तक विनिमय को मापने का पैमाना और लूट के माल के पुनर्वितरण का रूप है। जल-दस्युता से खतरा यह था कि अगर वह अनियंत्रित रही तो व्यापार को मिटा सकती थी। जल-दस्युता जैसी ही एक और प्रवृत्ति थल-दस्युता की थी। प्रारंभिक समाजों ने दोनों पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया, लेकिन उन्हें दोनों के साथ ही जीना पड़ा।

भारतीय प्रायद्वीप हिंद महासागर को दो अर्धवृत्तों में बांट देता है : अरब सागर और भारत का पश्चिमी तट तथा बंगाल की खाड़ी और पूर्वी तट। पश्चिमी तट को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने का सबसे अच्छा तरीका उसके केंद्रस्थ क्षेत्रों को ध्यान में रखना हो सकता है। सिंधु डेल्टा, गुजरात, सौराष्ट्र, ठाणा (मुंबई के निकट), कोंकण (उससे दक्षिण) और मलाबार (केरल) पूर्वी तट के केंद्रीय क्षेत्र थे : गंगा डेल्टा, कलिंग (उड़ीसा), गोदावरी और कृष्णा के डेल्टे और कारोमंडल तट, जो

कावेरी डेल्टा (तमिलनाडु) से जुड़ा हुआ था। ये केंद्रीय क्षेत्र अकसर राज्यों के नाभि-केंद्र हुआ करते थे और इन राज्यों की समुद्री महत्त्वाकांक्षाएं और समुद्री अर्थतंत्र भी हुआ करते थे।

कई शताब्दियों के दौरान समुद्र की सतह में उठान या गिरावट आने से भी तटवर्ती प्रदेशों में परिवर्तन हुए हैं। समुद्र की सतह में उठान का मतलब यह था कि पश्चिमी भारत का कच्छ के रन जैसा क्षेत्र किसी समय उथला समुद्र रहा होगा, जहां छोटे जहाज आ सकते थे। समुद्र की सतह में गिरावट आने से कुछ बंदरगाह सूख जाएंगे, यद्यपि नई ज़मीन का उभर आना मनुष्यों और पशुओं के लिए लाभदायक होगा। ये परिवर्तन ख़ास तौर से निचाई में पड़नेवाले तटवर्ती क्षेत्र को प्रभावित करते थे–जैसे गंगा के डेल्टा में सुंदरबन इलाके को और बांग्लादेश में पड़नेवाले कुछ मुहानों को, जहां ज़मीन का कुछ हिस्सा या तो डूब सकता था या गाद के जमाव के कारण उभर सकता था। इस प्रकार यहां ज़मीन का रूप हमेशा बदलता रहेगा।

पूर्वी तट इस बात के साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि बौद्ध धर्म पूर्वी भारत से निकल कर इस तट से दक्षिण की ओर आगे बढ़ते हुए दक्षिण भारत और श्रीलंका पहुंचा। यह बात प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के उत्तरार्ध के आसपास की है। पूर्वी तट के व्यापारियों ने दक्षिण-पूर्व एशिया और दक्षिणी चीन के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित करने में भी पहल की। पश्चिमी तट और पश्चिम एशिया के बीच समुद्री संपर्क तो तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. में ही आरंभ हो चुका था। सैंधव नगरों और मेसोपोटामिया के बीच समुद्री मार्ग से यातायात होता था। खाड़ी क्षेत्र में दक्षिण एशिया की उपस्थिति लगभग निरंतर बनी रही है। आगे चलकर पहली सदी ई.पू. से लाल सागर के बंदरगाहों से होकर रोम साम्राज्य के भूमध्य सागरीय प्रदेशों के साथ चलनेवाला व्यापार बहुत लाभदायक होता गया। निस्संदेह, इसी व्यापार की सफलता से प्रेरित होकर पहली सहस्राब्दी ई. में इस कड़ी को और बढ़ाते हुए अफ्रीका के पूर्वी तट के साथ व्यापारिक गतिविधियां चलाई जाने लगीं। पश्चिमी तट को ईसाई, पारसी, अरब, यहूदी आदि अनेक व्यापारिक समुदायों ने अपना घर ही बना लिया। पश्चिमी तट की दिशा में एक और भी भौगोलिक संरचना है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा अप्रासंगिक नहीं है, हालांकि किसी समय ऐसा ही माना जाता है। तात्पर्य है लक्ष्यद्वीप, मिनीकाय और मालदीव के प्रवालद्वीपों (कोरल आइलैंड्स) के समूह से। ये द्वीप भारतीय उपमहाद्वीप की दिशा में आनेवाले मानसून की प्रचंडता को शमित करते थे और दोनों दिशाओं में आने-जानेवाले व्यापारियों और उनके जहाजों के लिए बाहरी चौकियों का काम कर सकते थे।

पूर्व दिशा में बहुत दूर स्थित हैं अंडमान और निकोबार द्वीप-समूह, जो भारत की अपेक्षा दक्षिण-पूर्व एशिया के अधिक निकट हैं। वे हिंद महासागर के मार्गों पर पड़ावों का काम कर सकते थे, लेकिन लगता है, उनका ऐसा कोई प्रयोग नहीं किया

जाता था। शायद वहां के निवासी वैसे मेहमाननवाज नहीं थे। 'आदिम' को परिभाषित करने के प्रयत्न में औपनिवेशिक मानववैज्ञानिकों (एंथ्रोपालेजिस्ट्स) ने विगत एक-दो सदियों के दौरान इनका अध्ययन किया।

सरहदें

कहते हैं, कभी-कभी भौगोलिक विशेषताएं राज्यों के बीच सरहदों का काम करती हैं। पूर्वकाल में राज्य की सरहद की कल्पना आज से भिन्न थी। मानचित्रों की अनुपस्थिति में सरहद दिखानेवाली और स्पष्ट रूप से खींची गई मानचित्रीय रेखा भी नहीं थी। भू-दृश्य की विशेषताएं-जैसे पर्वतश्रेणी, जंगल, नदी, समुद्रतट या रेगिस्तान आदि सीमा-क्षेत्रों का काम तो कर सकती थीं, लेकिन सीमा-रेखाओं का नहीं। सीमा-क्षेत्र किसी एक अधिकार-क्षेत्र के अंदर और बाहर रहनेवालों के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान और संबंध के क्षेत्र का काम करता था। सरहद की पहचान शायद अकसर भाषा और रीति-रिवाज के परिवर्तनों से की जाती थी। इस लचीलेपन के कारण कूटनीतिक स्वतंत्रता के लिए गुंजाइश रहती थी। इससे यात्रा के सामान्य अंग के रूप में सरहदों को पार करने की सुविधा भी मिलती थी। व्यापारी और सौदागर दूर-दूर की यात्राएं किया करते थे और धातुकर्मियों तथा पशुचारकों के अपने हलके होते थे। प्रथम सहस्राब्दी ई. के बाद ब्राह्मण भी अधिकाधिक गतिशील होते गए। वे दरबार-दरबार जाकर रोज़गार की तलाश करने लगे। तीर्थयात्रियों पर सरहदों के बंधन शायद और भी कम लगते थे, क्योंकि उनकी यात्रा के प्रयोजन को आत्मोत्थानकारी और किसी व्रत का पालन माना जाता था।

सरहदों का इस विचित्र वास्तविकता से भी कुछ संबंध है कि किस प्रकार कुछ भाषाएं तो फैल जाती हैं लेकिन कुछ अन्य किसी एक स्थान तक ही सीमित रह जाती हैं। संस्कृत के रूप में हिंद-आर्य भाषा आरंभ में अभिजन-समूह तक ही सीमित थी। जब विभिन्न राजवंशों ने आम लोगों की भाषा प्राकृत की तुलना में संस्कृत को अपनी राजभाषा के रूप में प्राथमिकता दी तो उसका प्रयोग पूरे उत्तर भारत में अधिक व्यापक हो गया। वह *मार्ग* और देशी इन दो संस्कृतियों के बीच विभाजन का अंग बन गई। पहली का मतलब था संस्कृत भाषा का इस्तेमाल करनेवाली मुख्यधारा और दूसरी का मतलब था क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग करनेवाली संस्कृति। संस्कृत दरबार की, क्लासिकी साहित्य और दार्शनिक कृतियों की भाषा बन गई; संक्षेप में कहें तो इस उपमहाद्वीप के अभिजन वर्ग की भाषा बन गई। जब किसी क्षेत्र का प्रशासन फ़ारसी या क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग करने लगता था तब संस्कृत दरबार से निष्कासित हो जाती थी। क्षेत्रीय भाषाएं, जिनमें से कुछ द्राविड़ स्रोत से निकली थीं और कुछ हिंद-आर्य स्रोत से, तब भी मोटे तौर पर क्षेत्रीय सरहदों तक ही सीमित

रहीं जब उनमें से कुछ दरबारी भाषाएं बन गईं। भाषा का परिवर्तन केवल भाषा-विज्ञान से संबंधित मामला नहीं था, बल्कि उसका संबंध सत्ता-विशेष के प्रभाव-क्षेत्र तक और उस सत्ताधारी की पहचान से भी था।

धार्मिक विश्वास के क्षेत्र से भूगोल और भू-दृश्य विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करते हैं। तीर्थ और जियारत इस पूरे उपमहाद्वीप में बिखरे पड़े हैं। तीर्थयात्रा सरहदों के बंधनों को नहीं मानती, और वह सांस्कृतिक मुहावरे को एक स्थान से दूसरे को ले जाती है। कुछ ठिकानों का किसी एक धर्म से विशिष्ट संबंध होता है और जब तक वे उस धर्म के संरक्षण का भरोसा कर सकते हैं तब तक उनकी प्रमुखता बनी रहती है। लेकिन बहुत-से स्थान ऐसे होते हैं जो सहज ही पवित्रता का एक आभामंडल प्राप्त कर लेते हैं और तब उनमें अनेक धर्मों के तीर्थस्थल पनपने लगते हैं, कभी तो सिलसिले से एक-के-बाद एक धर्म का और कभी एक ही साथ अनेक धर्मों के। गुजरात में सोमनाथ और उसका पड़ोसी हलका वैष्णवों, बौद्धों,-शैवों, जैनों और मुसलमानों के तीर्थस्थलों का गढ़ था।

इस तरह की स्थितियों को केवल धार्मिक सहिष्णुता की दुहाई देकर स्पष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रकार के कुछ स्थानों में धार्मिक असहिष्णुता की अभिव्यक्तियां भी होती रहती थीं। स्पष्ट ही कुछ और भी सरोकार थे जिनके चलते ये स्थान आकर्षक बन गए। किसी तीर्थस्थल पर कोई विजयी धर्म भी क़ाबिज हो सकता था। उदाहरण के लिए अमरावती में एक बौद्ध स्तूप के निर्माण के लिए एक महापाषाणीय ठिकाने पर कब्जा कर लिया गया; शेजरला में एक बौद्ध चैत्य को हिंदू मंदिर बना दिया गया; अजमेर में एक हिंदू मंदिर को मसजिद में बदल दिया गया। ऐसे और भी बहुत-से उदाहरण हैं। संभव है कि कुछ ठिकानों को सहज पवित्र माना जाता रहा हो और इसलिए नए धर्म उनकी ओर आकृष्ट होते हों या यह भी हो सकता है कि किसी पवित्र स्थल पर अधिकार कर लेना शक्ति का प्रदर्शन होता हो। पवित्र उपवन और वृक्ष, पर्वत और पहाड़ियों में बनी गुफाएं, झरने और तालाब लोक-पूजा के अंग हैं, जहां भूदृश्य और मानवीय श्रद्धा का मिलन होता है। उन्हीं पर जब कोई शक्तिशाली और श्रीसंपन्न व्यक्ति अधिकार कर लेता है तब वहां स्मारक खड़े हो जाते हैं।

परिवहन

स्थल पर परिवहन के लिए मानव भारवाहकों और पशुओं दोनों का उपयोग किया जाता था। परिवेश के अनुसार पशु बदल जाते थे। सबसे व्यापक उपयोग लदना बैलों, खच्चरों और गधों का और साथ ही कुछ स्थानीय नस्लों के घोड़ों का, जैसे कि बाद के काल में पश्चिमी भारत में जन्मे-पले घोड़ों का, इस्तेमाल होता था। विशिष्ट

क्षेत्रों में पशु बदल जाते थे, जैसे जंगलों में हाथियों और शुष्क प्रदेशों में ऊंटों–सांड़नियों से काम लिया जाता था तो पहाड़ों पर भेंड़ों, बकरों, याकों और जोओं का इस्तेमाल किया जाता था। पशुओं के कारवां पगडंडियों से होकर आगे बढ़ते थे, लेकिन बैलगाड़ियों के लिए तो किसी-न-किसी प्रकार की सड़क जरूरी होती होगी। नदियों को नौकाओं और नौका-सेतुओं से पार किया जा सकता था। नौवीं सदी से टोडेदार मेहराबों के सहारे पत्थर के पुल बनाए जाने लगे। बहुत पहले तीसरी सदी ई.पू. में ही सम्राट् अशोक गर्व के साथ दावा करता है कि उसने राजमार्गों पर धर्मशालाएं बनवाईं, कुएं खुदवाए और छायादार वृक्ष लगवाए। माल का परिवहन सालभर संभव था, लेकिन मानसून के तीन महीनों के दौरान कठिन था।

मालूम होता है, उन्नीसवीं सदी से पहले तक थोक माल के परिवहन के लिए, जहां कहीं संभव था, जलमार्ग को प्राथमिकता दी जाती थी और अधिकतर नदियां, ख़ास तौर से अपने निचले बहावों में, नौवहन के उपयुक्त थीं। इसलिए नदियों के बंदरगाह नाभि-केंद्रों के रूप में उभरकर सामने आए। उदाहरण के लिए, गंगा और यमुना का संगम ऐसा स्थल था जहां गंगा एक महत्त्वपूर्ण जलमार्ग बन जाती थी। प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य में कौशांबी का प्रमुख नगर संगम के अधिक निकट रहा होगा। कम दूरी तय करने या नदी को पार करने के लिए बेड़ों, चर्म-नौकाओं, डोंगियों, टोकरी नौकाओं आदि का उपयोग सबसे आम था। भारी काम के लिए लकड़ी की बनी नौकाओं का अधिक नियमित उपयोग किया जाता था। स्थानीय लकड़ी न केवल नदी के जल को बर्दाश्त करने लायक होती थी—जैसे कि सागवान–बल्कि समुद्रगामी जहाज बनाने के लिए भी बहुत उपयुक्त होती थी। ऐसी नावों के आकार, उनके अंदर के स्थान और उनकी माल रखने की क्षमता तथा उनके पालों के स्वरूप में भी भिन्नता होती थी। तटवर्ती प्रयोजनों के लिए डोंगी की विधि से बनाई गई बड़ी नौकाओं या बड़े-बड़े लट्ठों को आपस में बांधकर अथवा तख्तों को जोड़कर बनाई गई नावों का उपयोग किया जाता था। गहरे समुद्र में चलनेवाले जहाज अधिक बड़े होते थे और गोदियों में बनाए जाते थे। इन जहाजों को चलाने के लिए हवाओं और प्रवाहों के अच्छे ज्ञान की आवश्यकता होती थी–ख़ास तौर से जब दक्षिण-पश्चिम मानसून का उपयोग करना पड़ता था तब। उतनी ही आवश्यक पहचान के तटवर्ती निशानों की जानकारी थी, और ताराओं के पर्यवेक्षण पर आधारित खगोल-विज्ञान का ज्ञान तो अनिवार्य था ही। जब समुद्री व्यापार में तेजी आती थी तब नक्षत्र-विज्ञान के ज्ञान की भी प्रगति होती थी।

जलवायु और कृषि

कृषि और जलवायुगत अवस्थाओं को मानसून या मौसमी वर्षा बहुत अधिक प्रभावित

करती है। दक्षिण-पश्चिम मानसून अरब सागर पार करते हुए इस उपमहाद्वीप में पहुंचता है और यह सिलसिला जून से लेकर सितंबर तक लगभग चार महीने कायम रहता है। इससे कमज़ोर किस्म का है उत्तर-पूर्व मानसून, जो दिसंबर से फरवरी तक उल्टी दिशा में चलता है और मुख्य रूप से पूर्वोत्तर तथा प्रायद्वीप को प्रभावित करता है। इससे पूर्वोत्तर तथा बंगाल, उड़ीसा और केरल में बहुत अधिक नमी छा जाती है, खूब वर्षा होती है तथा घने पेड़-पौधों का वितान फैल जाता है। इसके विपरीत दकनी पठार के कुछ हिस्से तथा राजस्थान वर्ष में अधिकांशतः अर्ध-शुष्कता की अवस्था में रहते हैं। जलवायु और वर्षा की विभिन्नता क्षेत्रीय भेद भी उत्पन्न करती हैं। ऊंचा हिमालय मध्य एशिया से चलनेवाले ठंडे बयार के लिए अवरोधक का काम करता है, और वह मानसून को पार जाने से भी रोकता है।

संभव है कि जलवायु में आए कुछ परिवर्तनों से कृषि उत्पादन प्रभावित होता रहा हो, लेकिन ऐसे परिवर्तनों का निर्देश करना हमेशा संभव या सही भी नहीं होता, क्योंकि हमारे पास पूर्व काल से संबंधित साक्ष्यों का अभाव है। खुदाइयों से प्राप्त पौधों के अवशेषों और मिट्टी के विश्लेषणों से लगता है कि हड़प्पोत्तर काल में पश्चिमोत्तर भारत में शुष्कता बढ़ती गई। प्रथम सहस्राब्दी ई. के मध्य में भी जलवायु में परिवर्तन होने का अनुमान लगाया गया है।

बसावट के रंग-रूपों और घरेलू स्थापत्य में भिन्नता पर्यावरणीय तथा परिवेशगत भेदों के साथ-साथ जलवायुगत अवस्थाओं की भी उपज थी। यहां प्रसंगवश इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि घरेलू स्थापत्य ने अन्य स्थापत्य-रूपों को भी प्रभावित किया। एक प्रकार का गांव वह है जिसमें सभी घर एक स्थान में केंद्रित होकर बने हुए हैं। उनके चारों ओर खेत हैं और उनसे परे पालतू पशुओं के लिए चरागाह। बसावट का यह रूप उन क्षेत्रों में देखने को मिलता है जिनका परिवेश आम तौर पर सूखा और शुष्क है। जो क्षेत्र नमीवाले हैं और जहां धान की खेती होती है—जैसे कि पूर्वी और दक्षिणी भारत में—वहां कतार में बने घरों की पद्धति को प्राथमिकता मिली है। घर बांस की धरनों और बुने हुए फूस तथा चटाइयों से या लकड़ी के खंभे गाड़कर तथा मिट्टी के लेप लगी पेड़ों की टहनियों की टट्टियों से बनाए जा सकते थे। बहुत सादी किस्म की झोंपड़ियां गोल या वर्गाकार अथवा आयताकार होती थीं। शहरी केंद्रों में इनका स्थान धीरे-धीरे लकड़ी के ढांचों ने ले लिया। वैसे शहरों के अपेक्षाकृत खुशहाल लोग कच्ची ईंटों का और बहुत समृद्ध लोग पकाई हुई ईंटों का भी इस्तेमाल करने लगे। घर की योजना बहुधा यह होती थी कि एक आंगन के गिर्द कमरे बना दिए जाते थे। मैदानी इलाकों में अभी हाल तक यही मानक स्थापत्य-रूप रहा। राजमहल और मंदिर जैसी इमारतों जो दीर्घायु होने के ख्याल से बनवाई जाती थीं—वे बहुधा पत्थरों से निर्मित की जाती थीं। छतें भी क्षेत्र-विशेष के जलवायु के अनुसार बदलती रहती थीं। वे चौरस भी हो सकती

थीं और ढालुआं भी और वे फूस की भी बनी हो सकती थीं और खपड़ों की भी। पहले लकड़ी की और कभी-कभी पत्थर की भी मेहराबी छतें बनाई जाती थीं, लेकिन धीरे-धीरे उनका स्थान चौरस छतों ने ले लिया। जो छतें बहुत ऊंची होती थीं-जैसे कि मंदिरों की-उनमें टोडेदार निर्माण की पद्धति का प्रयोग किया जाता था।

क्षेत्रीय भेद की उपर्युक्त अवस्थाओं के ही कारण यह उपमहाद्वीप वानस्पतिक विविधता की दृष्टि से एक सर्वाधिक समृद्ध भूभाग बन गया। इसमें चीड़ और देवदारू के जंगलों से लेकर उष्णकटिबंधीय पतझड़ जंगल और कुछ अधिक नम क्षेत्रों में विस्तृत बरसाती जंगल तक शामिल थे। सैंधव मैदान के शुष्क उष्णकटिबंधीय जंगल गांगेय मैदान के घने जंगलों से भिन्न थे। सागवान की लकड़ी अपने टिकाऊपन के लिए, आबनूस अपने रंग के लिए, चंदन की लकड़ी सुगंध के लिए प्रसिद्ध हो गई। सूखे क्षेत्रों में सवाना, झाड़ियां और रूखी धारधार पत्ते-पत्तियोंवाली घास उगती थी। यदि निचले हिमालय में घास के ढालुआं मैदान हैं तो राजस्थान के रेगिस्तान में रेत के टीले और मध्यवर्ती पठार में विशाल चट्टानें। अनेक मुहानों पर कच्छ वनस्पति (ऊष्णकटिवंधीय वनस्पति) से भरे दलदल हैं-जैसे सिंधु, गंगा तथा महानदी के मुहानों और साथ ही अंडमान द्वीपों के तटों पर।

जलवायुगत अवस्थाओं का कृषि-उत्पादन से घनिष्ठ संबंध है और उधर कृषि उत्पादन बुवाई और कटाई के सबसे उपयुक्त समयों के ज्ञान पर निर्भर है। इन समयों का अनुमान अकसर स्थानीय ब्राह्मण चंद्र और सौर पंचांगों के आधार पर लगाते थे। कृषि और चंद्रमा से संबंधित पंचांग त्यौहारों की तिथियां तय करने में भी सहायक होता था। आरंभ में समय तय करने के काम में सत्ताईस नक्षत्रों का सहारा लिया जाता था और चंद्रमा की अवस्थाएं चंद्र मास में समय-सूचक स्थितियों के सूत्र उपलब्ध कराते थे। बाद में इसमें सौर पंचांग पर आधारित अनुमान जोड़ दिए गए-जैसे विषुव (वह समय जब दिन-रात का मान बराबर होता है) और अयनान्त (वे दो सम जब सूर्य भूमध्यरेखा से सर्वाधिक दूर होता है)। जानकारियों का इस तरह एक-दूसरे से जोड़ा जाना किसान के लिए महत्त्वपूर्ण था और एक हद तक यही कारण है कि वह पंचांग बनानेवालों पर निर्भर हुआ करता था। मिट्टी की गुणवत्ता, बीज और सिंचाई पर तो उसे निर्भर होना ही था।

मिट्टी की गुणवत्ता की परख उसके प्राकृतिक पोषक तत्त्वों, उसकी पानी जज्ब करने की क्षमता और इस बात से की जाती है कि उसे जोतना किस हद तक सुविधाजनक है। एक से दूसरे क्षेत्र की मिट्टी में बहुत फर्क होता है। कहीं नरम कछारी मिट्टी मिलती है तो कहीं कपास की खेती के लिए ख़ास उपयुक्त काली और कहीं लाल मिट्टी मिलती है तो कहीं मखरली (लेटराइट)। कृषि के इतिहास के संबंध में सामान्यीकरण करते हुए इन फर्कों का ख्याल रखना जरूरी है। ठीक ही कहा गया है कि कृषि का इतिहास लिखनेवाले के जूते बहुत मजबूत होने चाहिए,

क्योंकि अगर वह सही इतिहास लिखना चाहता है तो उसके लिए उसे देहातों की खाक छाननी पड़ेगी। बहुत-से क्षेत्रों में अच्छी मिट्टी नदियों के किनारे मिलती है, क्योंकि वे अपने बाढ़-क्षेत्रों में साल-दर-साल गाद जमा करती रहती हैं। ये बहुधा कृषक समुदायों की पसंद के लेकिन साथ ही खतरनाक इलाके होते हैं। अधिक स्थायी बस्तियां ऊंचाईवाले क्षेत्रों में होती हैं। जहां उपजाऊ मिट्टी ऊपरी परत के नीचे होती है या जहां मिट्टी भारी होती हैं, वहां गहरी जोताई की ज़रूरत पड़ती है। इस कारण से इतिहासकारों के बीच यह बहस छिड़ गई है के लोहे की फाल का उपयोग सर्वप्रथम कब किया गया, कितने बड़े पैमाने पर किया गया और उसके ऐतिहासिक परिणाम क्या हुए। उपमहाद्वीप के कई हिस्सों में–ख़ास तौर से प्रायद्वीपीय क्षेत्रों में–लकड़ी के फालों के उपयोग से इस बहस में एक दिलचस्प प्रति-स्वर उभरता है।

वर्षा पर कृषि की निर्भरता को देखते हुए पश्चिमोत्तर में गेहूं और जौ मुख्य खाद्यान्न फसलें थीं। अधिक सूखे क्षेत्रों में–जैसे प्रायद्वीप के कुछ हिस्सों में–विभिन्न प्रकार के मोटे अनाजों की खेती की जाती थी। धान की सिंचित खेती से मध्य गांगेय मैदान और पूर्वी भारत के बहुत बड़े क्षेत्रों को और प्रायद्वीप की अपेक्षाकृत चौड़ी घाटियों तथा तटवर्ती प्रदेशों को मुख्य खाद्यान्न प्राप्त होता था। धान की सिंचित खेती से अन्य खाद्यान्न फसलों की अपेक्षा बहुत अधिक उपज होती है और शायद इसीलिए धान की खेती जटिल समाजों को पोषण देने में अधिक सक्षम होती है। अपेक्षाकृत सूखे क्षेत्र पशु-पालन के केंद्र थे। जहां पानी कुछ अधिक मिलता था वहां भैंस-पालन को प्राथमिकता दी जाती थी। खेती अनेक प्रकार से की जाती थी। कुछ इलाकों में झूम खेती का चलन था, जिसमें जंगल-झाड़ काट-जलाकर उसमें खेती की जाती है और फसल लेने के बाद आसपास के ऐसे ही किसी और स्थान को इस तरह की खेती के लिए चुना जाता है। इसमें खेती के स्थान तो बदलते हैं लेकिन जरूरी नहीं कि उसके साथ बस्ती की जगह भी बदल जाए, हालांकि कभी-कभी बदलती भी है। इस तरह की खेती से प्राथमिक जंगलों का बहुत विनाश हुआ और ऐसे स्थानों में छोटे-छोटे पौधों और झाड़ियोंवाले द्वितीयक जंगल ही रह गए। इस खेती से जीवन-यापन के लायक उपज तो मिल जाती है, लेकिन ज़्यादा नहीं। पूर्वोत्तर भारत में कहीं-कहीं आज भी इस तरह की खेती होती है। वैसे अधिकतर क्षेत्रों में फावड़ा-खेती और हल-खेती का ही दस्तूर था। स्थायी खेती के लिए जंगलों को साफ करने और इस प्रकार कृषि क्षेत्र का विस्तार करने का सिलसिला उपमहाद्वीप में लगातार जारी रहा है। लेकिन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, जिसे राज्य-व्यवस्था पर मौर्य तथा मौर्योत्तर काल की रचना माना जाता है, इस प्रवृत्ति पर कठोर राजकीय नियंत्रण की अनुशंसा की गई है, जिसका उद्देश्य यह है कि कृषि-विस्तार से प्राप्त होनेवाले राजस्व पर नजर रखी जा सके और शायद यह भी कि भूमि का अतिशोषण

न किया जाए। जब तक आबादी कम थी, क्षति सीमित रही, लेकिन हाल की सदियों में जंगलों की नियमित और विस्तृत कटाई से भूमि का वनाच्छादन बहुत कम हो गया है।

खेतों को सींचने के तरीके प्राकृतिक अवस्थाओं और सिंचाई-व्यवस्था के नियंत्रण के अनुसार अलग-अलग थे। विस्तृत खेती नियमित जलापूर्ति पर निर्भर थी। सिंचाई प्रणालियां सरल से लेकर जटिल तक थीं। इनमें निम्नलिखित का उल्लेख किया जा सकता है: नदियों से पानी निकालकर नालियों के जरिए उसे खेतों तक पहुंचाना; कुओं और नदियों से सीधे पानी निकालना; कुओं से जुड़े बाल्टियां बंधे चक्र; गेयर यंत्र से युक्त फ़ारसी चक्र; सीढ़ीदार खेतों को पानी देने के लिए पहाड़ी, नाले; तालाब, जलाशयों में पानी सुरक्षित करने के लिए बंधारों से युक्त तटबंध; जल-आवाह-क्षेत्रों के गिर्द घेराबंदी; नहरें और एनिकट; भूतल नालियां और छोटे बांध। किस प्रणाली का कहां उपयोग किया जाता था, यह इस बात पर निर्भर था कि संबंधित क्षेत्र का परिवेश कैसा है, कितनी ज़मीन में खेती की जाती है और सिंचाई प्रणाली स्थापित करने में पहल किस व्यक्ति या संस्था ने की। प्राक्-आधुनिक भारत की कृषि और राजनीति की विशेषता के रूप में इस सिद्धांत का हवाला दिया गया है कि जलतंत्र पर राज्य की नौकरशाही का नियंत्रण होता था और उस पर निर्भर किसान राजा की निरंकुशता के अधीन होता था। कृषि के इतिहास के अध्ययनों ने इस सिद्धांत को गलत साबित कर दिया है। राज्य-नियंत्रित सिंचाई प्रणालियां, जैसे बड़े-बड़े जलाशय, बांध या एनिकट बहुत कम थे। सामान्यत: काम में लाई जानेवाली प्रणालियों की स्थापना या तो धनाढ्य किसानों और भूस्वामियों के निजी प्रयत्नों से या ग्रामीण समुदायों के सहकारी प्रयत्नों से की जाती थी। मानसून के दौर में पर्याप्त वर्षा न होने पर सूखा पड़ जाता था और हमें अकाल के भी उल्लेख मिलते हैं। लेकिन नदियों में बार-बार बाढ़ आना और उनका अपनी धाराएं बदलना भी भूकंप या अकाल से छोटी विपत्तियां नहीं थीं। छोटे पैमाने की सिंचाई सूखे की विपत्ति से बचने का किसान का अपना उपाय था।

जनसंख्या

भारत के अतीत के संबंध में जनसंख्या का निर्धारण आज भी एक अनसुलझी गुत्थी बना हुआ है। परिवेश, जलवायु और फसलों की किस्मों में जो भारी अंतर हैं उनके कारण कोई आंकड़ा पेश करने में अनेक समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं। यह तो निश्चित है कि बाद के काल की तुलना में जनसंख्या बहुत कम ही रही होगी और इसलिए महामारियां, युद्ध और प्राकृतिक आपदाएं उसे बहुत अधिक प्रभावित करती होंगी। उत्खननों के आधार पर मानवों से उनके निवास-स्थानों का संबंध जोड़कर

क्योंकि अगर वह सही इतिहास लिखना चाहता है तो उसके लिए उसे देहातों की खाक छाननी पड़ेगी। बहुत-से क्षेत्रों में अच्छी मिट्टी नदियों के किनारे मिलती है, क्योंकि वे अपने बाढ़-क्षेत्रों में साल-दर-साल गाद जमा करती रहती हैं। ये बहुधा कृषक समुदायों की पसंद के लेकिन साथ ही खतरनाक इलाके होते हैं। अधिक स्थायी बस्तियां ऊंचाईवाले क्षेत्रों में होती हैं। जहां उपजाऊ मिट्टी ऊपरी परत के नीचे होती है या जहां मिट्टी भारी होती हैं, वहां गहरी जोताई की ज़रूरत पड़ती है। इस कारण से इतिहासकारों के बीच यह बहस छिड़ गई है के लोहे की फाल का उपयोग सर्वप्रथम कब किया गया, कितने बड़े पैमाने पर किया गया और उसके ऐतिहासिक परिणाम क्या हुए। उपमहाद्वीप के कई हिस्सों में—ख़ास तौर से प्रायद्वीपीय क्षेत्रों में—लकड़ी के फालों के उपयोग से इस बहस में एक दिलचस्प प्रति-स्वर उभरता है।

वर्षा पर कृषि की निर्भरता को देखते हुए पश्चिमोत्तर में गेहूं और जौ मुख्य खाद्यान्न फसलें थीं। अधिक सूखे क्षेत्रों में—जैसे प्रायद्वीप के कुछ हिस्सों में—विभिन्न प्रकार के मोटे अनाजों की खेती की जाती थी। धान की सिंचित खेती से मध्य गांगेय मैदान और पूर्वी भारत के बहुत बड़े क्षेत्रों को और प्रायद्वीप की अपेक्षाकृत चौड़ी घाटियों तथा तटवर्ती प्रदेशों को मुख्य खाद्यान्न प्राप्त होता था। धान की सिंचित खेती से अन्य खाद्यान्न फसलों की अपेक्षा बहुत अधिक उपज होती है और शायद इसीलिए धान की खेती जटिल समाजों को पोषण देने में अधिक सक्षम होती है। अपेक्षाकृत सूखे क्षेत्र पशु-पालन के केंद्र थे। जहां पानी कुछ अधिक मिलता था वहां भैंस-पालन को प्राथमिकता दी जाती थी। खेती अनेक प्रकार से की जाती थी। कुछ इलाकों में झूम खेती का चलन था, जिसमें जंगल-झाड़ काट-जलाकर उसमें खेती की जाती है और फसल लेने के बाद आसपास के ऐसे ही किसी और स्थान को इस तरह की खेती के लिए चुना जाता है। इसमें खेती के स्थान तो बदलते हैं लेकिन जरूरी नहीं कि उसके साथ बस्ती की जगह भी बदल जाए, हालांकि कभी-कभी बदलती भी है। इस तरह की खेती से प्राथमिक जंगलों का बहुत विनाश हुआ और ऐसे स्थानों में छोटे-छोटे पौधों और झाड़ियोंवाले द्वितीयक जंगल ही रह गए। इस खेती से जीवन-यापन के लायक उपज तो मिल जाती है, लेकिन ज़्यादा नहीं। पूर्वोत्तर भारत में कहीं-कहीं आज भी इस तरह की खेती होती है। वैसे अधिकतर क्षेत्रों में फावड़ा-खेती और हल-खेती का ही दस्तूर था। स्थायी खेती के लिए जंगलों को साफ करने और इस प्रकार कृषि क्षेत्र का विस्तार करने का सिलसिला उपमहाद्वीप में लगातार जारी रहा है। लेकिन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, जिसे राज्य-व्यवस्था पर मौर्य तथा मौर्योत्तर काल की रचना माना जाता है, इस प्रवृत्ति पर कठोर राजकीय नियंत्रण की अनुशंसा की गई है, जिसका उद्देश्य यह है कि कृषि-विस्तार से प्राप्त होनेवाले राजस्व पर नजर रखी जा सके और शायद यह भी कि भूमि का अतिशोषण

न किया जाए। जब तक आबादी कम थी, क्षति सीमित रही, लेकिन हाल की सदियों में जंगलों की नियमित और विस्तृत कटाई से भूमि का वनाच्छादन बहुत कम हो गया है।

खेतों को सींचने के तरीके प्राकृतिक अवस्थाओं और सिंचाई-व्यवस्था के नियंत्रण के अनुसार अलग-अलग थे। विस्तृत खेती नियमित जलापूर्ति पर निर्भर थी। सिंचाई प्रणालियां सरल से लेकर जटिल तक थीं। इनमें निम्नलिखित का उल्लेख किया जा सकता है: नदियों से पानी निकालकर नालियों के जरिए उसे खेतों तक पहुंचाना; कुओं और नदियों से सीधे पानी निकालना; कुओं से जुड़े बाल्टियां बंधे चक्र; गेयर यंत्र से युक्त फ़ारसी चक्र; सीढ़ीदार खेतों को पानी देने के लिए पहाड़ी, नाले; तालाब, जलाशयों में पानी सुरक्षित करने के लिए बंधारों से युक्त तटबंध; जल-आवाह-क्षेत्रों के गिर्द घेराबंदी; नहरें और एनिकट; भूतल नालियां और छोटे बांध। किस प्रणाली का कहां उपयोग किया जाता था, यह इस बात पर निर्भर था कि संबंधित क्षेत्र का परिवेश कैसा है, कितनी ज़मीन में खेती की जाती है और सिंचाई प्रणाली स्थापित करने में पहल किस व्यक्ति या संस्था ने की। प्राक्-आधुनिक भारत की कृषि और राजनीति की विशेषता के रूप में इस सिद्धांत का हवाला दिया गया है कि जलतंत्र पर राज्य की नौकरशाही का नियंत्रण होता था और उस पर निर्भर किसान राजा की निरंकुशता के अधीन होता था। कृषि के इतिहास के अध्ययनों ने इस सिद्धांत को गलत साबित कर दिया है। राज्य-नियंत्रित सिंचाई प्रणालियां, जैसे बड़े-बड़े जलाशय, बांध या एनिकट बहुत कम थे। सामान्यत: काम में लाई जानेवाली प्रणालियों की स्थापना या तो धनाढ्य किसानों और भूस्वामियों के निजी प्रयत्नों से या ग्रामीण समुदायों के सहकारी प्रयत्नों से की जाती थी। मानसून के दौर में पर्याप्त वर्षा न होने पर सूखा पड़ जाता था और हमें अकाल के भी उल्लेख मिलते हैं। लेकिन नदियों में बार-बार बाढ़ आना और उनका अपनी धाराएं बदलना भी भूकंप या अकाल से छोटी विपत्तियां नहीं थीं। छोटे पैमाने की सिंचाई सूखे की विपत्ति से बचने का किसान का अपना उपाय था।

जनसंख्या

भारत के अतीत के संबंध में जनसंख्या का निर्धारण आज भी एक अनसुलझी गुत्थी बना हुआ है। परिवेश, जलवायु और फसलों की किस्मों में जो भारी अंतर हैं उनके कारण कोई आंकड़ा पेश करने में अनेक समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं। यह तो निश्चित है कि बाद के काल की तुलना में जनसंख्या बहुत कम ही रही होगी और इसलिए महामारियां, युद्ध और प्राकृतिक आपदाएं उसे बहुत अधिक प्रभावित करती होंगी। उत्खननों के आधार पर मानवों से उनके निवास-स्थानों का संबंध जोड़कर

कुछ सर्वेक्षण करने का प्रयत्न किया गया है, लेकिन अनिवार्यतः ये सर्वेक्षण अनन्तिम ही रह जाते हैं। हड़प्पाई नगरों में से प्रत्येक के क्षेत्रफल के आधार पर उनकी आबादियों के मोटे अनुमान पेश किए गए हैं, लेकिन आंकड़ों के संबंध में कोई आम सहमति नहीं हो पाई है। मोहेंजोदड़ों के दुर्गवाले हिस्से की तुलना में अधिक घना आबाद निचले शहरी हिस्से के बारे में समझा जाता है कि उसकी आबादी 42,000 थी, लेकिन कुछ विद्वान इस संख्या को बहुत कम मानते हैं।

एक राय यह है कि चौथी सदी ई.पू. के उत्तरार्ध में इस उपमहाद्वीप की जनसंख्या 18 करोड़ 10 लाख थी, लेकिन स्पष्ट ही यह आंकड़ा बहुत बड़ा था। इसका अनुमान यूनानी स्रोतों से प्राप्त आंकड़ों पर आधारित मौर्य सेना के आकार को ध्यान में रखते हुए लगाया गया था। निस्संदेह यूनानी आंकड़े अतिरंजित थे, क्योंकि इनका उद्‌देश्य यह दिखलाना था कि यदि सिकंदर अपना अभियान गांगेय मैदान में चलाता तो उसे वहां कैसी दुर्धर्ष सैनिक शक्ति का सामना करना पड़ता। हाल में दो जिलों के पुरातत्व के आधार पर जनसंख्या का अनुमान लगाने का प्रयास किया गया है। इनमें से एक पश्चिमी गांगेय मैदान में है और दूसरा पश्चिमोत्तर महाराष्ट्र में। इस अनुमान में यह संख्या बहुत कम बताई गई है। आगे और भी अनुमान लगाते हुए प्रथम शताब्दी ई.पू. के मध्य में भारत की आबादी 2 करोड़ के आसपास बताई गई है। इस काल में कौशांबी नगर की आबादी 36,000 सुझाई गई है, जो मोहेंजोदड़ों की आबादी से दिलचस्प तुलना का विषय बन जाती है।

जनसंख्या में भिन्नता का कारण प्राकृतिक बिपदाएं भी रही होंगी, जिनमें से कुछ का उल्लेख हमने ऊपर किया है। लेकिन प्राचीन भारत के संबंध में जिस पहलू की छानबीन नहीं की गई है वह है बीमारियों और महामारियों की घटनाएं। एक सुझाव यह दिया गया है कि मोहेंजोदड़ों में बहुत बड़ी संख्या में लोगों की मृत्यु का कारण तीव्र रक्तक्षीणता थी। बहुत संभव है कि बार-बार आनेवाली बाढ़ों के कारण मलेरिया या इसी तरह की दूसरी बीमारियां फैल गई होंगी। अब यह भी कहा जा रहा है कि एक ही झोंपड़े में मनुष्यों के साथ पशुओं का भी रखा जाना—जैसा कि कृषि-समाजों में बहुधा होता है—रोगाणुओं के फैलने का कारण होता होगा। सभी जानते हैं कि शहरी भीड़भाड़ से तरह-तरह की बीमारियां फैलती हैं और सैंधव सभ्यता के पतनोन्मुख दौर में कई छोटे शहरों की स्थिति ऐसी ही थी।

सत्रहवीं सदी के आरंभ में मुगल साम्राज्य की आबादी का अनुमान 15 करोड़ के आसपास है। ब्रिटिश भारतीय प्रशासन द्वारा सर्वप्रथम 1881 में करवाई गई जनगणना के अनुसार आबादी 25 करोड़ 30 लाख से कुछ अधिक थी। इसलिए हाल की इन दृष्टियों से इस दलील का समर्थन नहीं होता दिखाई देता है कि लगभग 500 ई.पू. और 1500 ई. के बीच जनसख्या में एक प्रकार की स्थिरता की स्थिति थी।

आबादी की वृद्धि का मानवीय कार्यकलाप से घनिष्ठ संबंध होगा और मानवीय कार्यकलाप के अति आरंभिक रूपों को छोटी आबादियां ही दरकार रही होंगी, लेकिन ज्यों-ज्यों यह कार्यकलाप अधिक जटिल होता गया होगा और खाद्य पदार्थों की उपलब्धता अधिक आसान होती गई होगी त्यों-त्यों जनसंख्या भी बढ़ती गई होगी।

समाजों की कोटियां

भारतीय उपमहाद्वीप अनेक समाजों का निवास-स्थान रहा है। इनमें अपेक्षाकृत सरल संगठनवाले समाजों से लेकर अधिक जटिल संगठनोंवाले तरह-तरह के समाजों का समावेश है, जिससे सामान्य रीति से कोई बात कहना आसान नहीं रह जाता। स्पष्ट ही जटिल समाज अधिक प्रभुत्वशाली थे और इसलिए उन्होंने इतिहास में अपना स्थान बना लिया। दूसरे समाज अपनी हरकतों को लगाम देने के लिए मजबूर हो गए लेकिन वे परिदृश्य से मिट नहीं गए। बहुधा ऐसे विभिन्न प्रकार के समाजों के पारस्परिक संपर्क से ही भारतीय संस्कृति के रंगरूपों की रचना हुई। भारत के 'सजीव प्रागितिहास' के रूप में इतिहास में उनके अस्तित्व और उपस्थिति को स्वीकार करना ही होगा, भले ही काल के दौर में उनके रूप में कुछ बदलाव आ गए हों।

प्राक्-आधुनिक समाजों का अध्ययन करनेवाले मानव-वैज्ञानिकों से और प्राक्-पूंजीवादी व्यवस्थाओं का विश्लेषण करनेवाले विद्वानों से प्राचीन समाजों को समझने में सहायता मिली है। इन अध्ययनों में न केवल प्रारंभिक और वर्तमान समाजों के बीच के अंतर की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है, बल्कि उन्होंने इतिहासकारों को अतीत के समाजों के संबंध में अधिक गहरे प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित किया है। सुदूर अतीत से आरंभ करके भारतीय समाज का ऐतिहासिक रूपांकन करने की प्रस्तावना के तौर पर यहां समाज की उन कुछेक कोटियों को समझने और उनके बीच के भेद का निर्देश करने का प्रयत्न किया जा रहा है जिनकी ओर ख़ास ध्यान दिया गया है। भारत के विभिन्न भागों में इन समाजों का अस्तित्व आज भी कायम है, हालांकि कुछ का तो अत्यंत क्षीण रूप में ही। ये समाज उस चीज का अंग हैं जिसे सांस्कृतिक अवशेष की संज्ञा दी गई है। इसलिए उनके संबंध में वर्तमान काल में बात करना भी संभव होगा। लेकिन चूंकि यहां हम विचार कर रहे हैं इतिहास में उनकी भूमिका पर, इसलिए भूत काल का इस्तेमाल करना अधिक उपयुक्त होगा।

सुविधा के लिए समाज की इन कोटियों का उल्लेख आखेटक-खाद्य-संग्राहक, पशुचारक, किसान और शहरी लोग के रूप में किया जा सकता है। इन कोटियों को सामने रखने में इरादा ऐसा-कुछ बताने का नहीं है कि इतिहास के पूरे दौर में वे अपनी-अपनी हदों में बंधे और एक-दूसरे से अलग थे। अलग-अलग पर्यावरणीय

क्षेत्रों में इनमें से अलग-अलग कोटियों की प्रधानता थी, लेकिन इनमें पारस्परिक अतिक्रमण की भी स्थितियां आती थीं और संबंधित क्षेत्र में जो ऐतिहासिक परिवर्तन होता था उसके समानांतर इनमें भी कुछ परिवर्तन होते रहते थे। इसी तरह हमारा इरादा इन्हें विकासक्रम के रूप में प्रस्तुत करने का भी नहीं है, अर्थात् हम यह नहीं कहना चाहते कि प्रत्येक कोटि पूर्ववर्ती अवस्था से गुजरकर अगली अवस्था में पहुंची। आखेटक-खाद्य-संग्राहकों के पास न्यूनतम संगठन ही था, जब कि शहरी समाज बहुत अधिक जटिल थे। जब ये कोटियां ऐतिहासिक स्रोतों में और साथ ही ऐतिहासिक घटनाओं के अंग के रूप में भी सामने आती हैं तो उनके क्रियाकलाप और एक-दूसरे से उनके संबंधों की व्याख्या आवश्यक हो जाती है। इन समाजों की यह विशेषता नहीं थी कि वे हमेशा आत्मनिर्भर और एक-दूसरे से अलग-थलग हों, क्योंकि इनमें पारस्परिक अतिक्रमण होते थे, जैसे कि कौटुंबिक प्रणालियों के मामले में या कुछ की पारस्परिक निर्भरता की दृष्टि से। एक समांग समाज की तसवीर पेश करनेवाले धर्मशास्त्रों में भी पेशे, पितृतंत्र, मातृतंत्र, विवाह-रूपों तथा उत्तराधिकार नियमों में भिन्नता के लिए गुंजाइश करनी पड़ी। इन कोटियों का महत्त्व इस बात में निहित है कि अभी हाल की सदियों के पूर्व तक इस उपमहाद्वीप के अनेक भागों में इस तरह के समुदाय साथ-साथ देखे जा सकते थे, यद्यपि हर क्षेत्र में कोटि-विशेष की प्रधानता होती थी। अब चूंकि उनकी पहचान कर ली गई है, इसलिए भारतीय संस्कृति की रचना में उनके योगदान की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा है।.

आखेटक-खाद्य-संग्राहक

जैसा कि आखेटक-खाद्य-संग्राहक पद से ध्वनित होता है, ये लोग आहार तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वन्य पशुओं के आखेट एवं खाद्य पौधों की तलाश पर जीवन-यापन करते थे। पशु-पालना या फसलें उगाना उनके कार्यकलाप का अंग नहीं था, इसलिए वे लोग पशुचारकों और किसानों से भिन्न थे। वे छोटी-छोटी टोलियों में बंटे होते थे, जिनमें से प्रत्येक में कभी-कभी तो चंद परिवार ही शामिल रहते थे। दर्जे के किसी भेद या सामाजिक संगठन से वे अपरिचित थे। वे जंगल-झाड़ियों का इस्तेमाल अपने संसाधन के रूप में करते थे। हो सकता है, आखेट-क्षेत्र नाममात्र को सीमांकित होते हों, लेकिन ये क्षेत्र इतने विस्तृत होते थे कि इनमें से एक-एक में कई-कई समूहों के लिए गुंजाइश हो सकती थी। इसलिए ऐसे समूह दूसरों से कटकर रह सकते थे, बशर्ते कि वे जिस क्षेत्र में शिकार करते थे उस पर हाथ डालने का प्रयत्न कोई और न करे। जब ऐसे प्रयत्न किए जाते थे—उदाहरण के लिए जब निकटवर्ती गांवों के किसान या पड़ोसी राज्य जंगलों को साफ करके उस ज़मीन

में खेती करना शुरू करते थे–तब वहां के आखेटक-खाद्य-संग्राहक स्वभावत: खूंखार बनकर अपने क्षेत्र की रक्षा करते थे। हो सकता है कि वर्ण-व्यवस्था से बाहर के लोगों के जो वर्णन पाठों में मिलते हैं वे अतिक्रमणकारियों का प्रतिरोध करनेवाले ऐसे ही वनवासियों के अतिरंजित विवरण हों। संभव है, इनमें शबर जैसे लोग शामिल रहे हों या शायद वे भी जिन्हें जंगलों में निवास करनेवाला राक्षस कहा गया है और जिनके विरुद्ध महाकाव्यों के नायकों को लड़ना पड़ा था। पाठों में राक्षसों को लोकोत्तर हस्तियों के रूप में चित्रित किया गया है, और अज्ञात बीहड़ों के अंग के रूप में कुछ को राक्षसवत् वनवासी भी बताया गया है।

बस्ती बसाने के लिए जंगल साफ करने का एक सबसे सजीव वर्णन *महाभारत* में मिलता है। इसके अनुसार इंद्रप्रस्थ नगर बसाने के लिए खांडव वन को जलाने के क्रम में बड़ी संख्या में पशु, मनुष्य और दानव जल कर मर गए। वनवासियों को दानववत् चित्रित करने का प्रयोजन शायद उनके वर्ण-समाज से इतर होने पर ज़ोर देना रहा हो। प्रारंभिक पाठों में बहुधा उल्लिखित शबर, पुलिंद, निषाद आदि इनके आदि प्ररूप रहे होंगे। पारंपरिक वर्णन के अनुसार वे विशालकाय और कृष्णवर्ण होते थे और उनकी आंखें लाल-लाल होती थीं एवं वे एक विचित्र भाषा बोलते थे। सातवीं सदी के लेखक बाणभट्ट ने *हर्षचरित* में ऐसे समूहों का वर्णन किया है, लेकिन उनमें से कुछ का सांस्कृतीकरण हो चुका था और उनके कार्यकलाप पड़ोसी कृषक समाजों के कार्यकलाप जैसे थे।

जैसा कि इन वर्णनों से लगता है, वनवासी लोगों के क्रियाकलाप आखेट और खाद्य-संग्रह तक सीमित नहीं थे। कुछ लोग झूम खेती अर्थात् स्थानांतरण कृषि या बागवानी करते थे, और कुछ लोग स्थिर खेती भी करते थे। उनके समाज कुलों में संगठित थे और अधिक बड़ी इकाई कबीला था। यह संगठन उन्हें किसानों और वर्ण-समाज से अलग करता था। सामाजिक सोपान जैसी कोई बात नहीं थी और आम तौर पर भेद सरदार ओर कुलबंधुओं के बीच होता था। सरदार का स्थान सबसे ऊंचा था। कौटुंबिक संबंधों पर आधारित दर्जे और रिश्ते अधिक आम थे। उन्हें जंगलों में रहना पसंद था और वे थोड़ी-बहुत प्रौद्योगिकी का ही इस्तेमाल करते थे। उनका धर्म मुख्य रूप से जड़ात्मवादी (एनिमिस्टिक) था। उनके कर्मकांड और विश्वास ओझाओं की सृष्टि थे और अलग-थलग रहने के कारण वे ख़ास अपनी ही भाषा का इस्तेमाल कर सकते थे।

प्रारंभिक स्रोतों से ऐसे समूहों के प्रति जागरूकता का पता चलता है। परिवेश और मानवीय क्रियाकलाप से संबंधित चिंतन में जो एक द्विभाजकता का तत्त्व अंतर्निहित था उससे ये समूह बिलकुल बाहर नहीं थे। एक ओर ग्राम और दूसरी ओर अरण्य तथा बाद में क्षेत्र और वन के बीच की विभाजन-रेखा दोनों प्रणालियों के बीच विरोध के बोध को प्रतिबिंबित करती है। व्यवहार में यह द्विभाजकता उतनी

तीव्र नहीं थी और एक का दूसरे में समाहार भी होता था, लेकिन सिद्धांत में इस विभाजन को कायम रखा गया। वन अज्ञात था, बीहड़ था, चंचल था। बस्ती स्थिर थी और नियमों के अधीन। वन-प्रांतर से संबंधित कल्पनाएं, चाहे वे अप्सराओं के रूप में सामने आती हों या राक्षसों तथा दैत्यों के रूप में, पूर्ववर्ती साहित्य में अधिक देखने को मिलती हैं।

लेकिन वनवासियों के प्रति पूर्ववर्ती काल के दृष्टिकोण में परवर्ती काल में स्पष्ट बदलाव आया। आरंभ में वन उनका निवास-स्थान था जिन्हें सामाजिक दायरे से बाहर माना जाता था। बाद में जंगलों में आश्रमों की स्थापना और वनों की शांति और एकांत के प्रति संन्यासियों के आकर्षण के फलस्वरूप उन पर एक रोमानी कल्पना का रंग चढ़ा दिया गया। फिर भी राज्य और राजा वनवासियों को कुछ संदेह की दृष्टि से देखते थे। कौटिल्य के*अर्थशास्त्र* में राजा को सलाह दी गई है कि वह वनवासी सरदार पर विश्वास न करे। यह कृति उनके साथ लगभग शत्रुता का संबंध रखने का परामर्श देती है। प्रथम सहस्राब्दी ई. के मध्य से नए राज्यों की स्थापना के लिए वनवासियों के उच्छेद या उन्हें विजित करने अथवा उनका समाहार कर लेने की आवश्यकता के उल्लेख होने लगे। निस्संदेह, इस काल से अतिक्रमणों में तीव्रता आई, क्योंकि अब जंगलों को खेती के लिए साफ किया जाने लगा या उनके बीच से रास्ते बनाए जाने लगे। ऐसे समाज आज तक अच्छी ख़ासी संख्या में टिके हुए हैं, यह इस बात का प्रमाण है कि वनवासी आबादी में काफी दमखम था और उनकी अपनी अलग संस्कृति थी।

हाल के समय में इस बात पर एक बहस छिड़ गई है कि उन्हें आदिवासी मानना चाहिए या नहीं। 'सबसे पहला कौन था' का जो खेल आर्यों अथवा द्राविड़ों या ऑस्ट्रो-एशियाइयों अथवा जिस-किसी की ओर से भी बोलनेवाले लोग खेल रहे हैं वह इतिहास के अखाड़े में चलनेवाला नहीं है। बात न केवल इतनी है कि इन पहचानों के ऐतिहासिक होने या इनके अत्यधिक प्राचीन होने के दावे तर्कसंगत नहीं है, बल्कि इन्हें सिद्ध करने के लिए अपेक्षित साक्ष्यों के अभाव के कारण इनके कोई निश्चित उत्तर देना असंभव हो जाता है। आदिवासी समाज कोई निर्जीव समाज नहीं है। वनवासी कबीलों के जैसे समूहों की ऐतिहासिक वैधता इस बात में निहित है कि हम उनकी जीवन-पद्धति को मान दें और प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति के निर्माण में उनके योगदान के महत्त्व का विश्लेषण करें। 'कबीला' शब्द का सटीक अर्थ विवादास्पद है और इसकी कोई एक जैसी परिभाषा नहीं की गई है, इस बात को ध्यान में रखते हुए इसका कोई प्रामाणिक इतिहास गढ़ पाना और भी कठिन हो जाता है। वनवासियों और देशांतरणकारी किसानों के बीच टकराव में अथवा राज्य की सेनाओं के साथ उनका मुकाबला होने पर यदि वे हार जाते होंगे तो नतीजा यही निकलना होगा कि वे लोग वर्ण-समाज में समाहृत हो जाते होंगे।

पशुचारक

एक और कोटि है पशुचारकों की। भारतीय इतिहास में इनसे हमारा साबका उससे कहीं अधिक पड़ता है जितना इतिहासकार मानते हैं। कुछ पशुचारक यायावर थे और उनके परिपथों की दूरियों में फर्क होता था। कुछ अन्य अर्ध-स्थिर होते थे और वे थोड़ी-बहुत खेती भी कर लेते थे। अधिकतर पशुचारक एक प्रकार की विनिमय प्रणाली के अंग होते थे, जिससे किसानों तथा दूसरे लोगों से भी उनका संपर्क होता था। इसलिए कृषि-पशुचारण पद्धति पद अधिक उपयुक्त लगता है। इसमें इस तथ्य का समावेश हो जाता है मुख्य रूप से पशुचारक समाजों में भी खेती की जाती थी। उनमें से कुछ लोग माल को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने का काम करते थे, जिससे उनके संपर्क का क्षेत्र और बढ़ जाता था। पशुचारक परिपथ देशांतरण और नए चरागाह क्षेत्रों की खोज की संभावनाओं को बढ़ाते थे और इसलिए विभिन्न जनसमाजों के देशांतरणों के इतिहास से भी उनका संबंध था।

पशुचारक समाजों का आम तौर पर एक कमोबेश ख़ास सांचे में ढला संगठन होता था, जिसमें मामूली-सा फर्क हो सकता था। मूल इकाई परिवार था और वंशानुगत पद्धति का अनुसरण करते हुए लोग अकसर अपने को किसी सामान्य पूर्वज की संतति बताते थे। पहचान और वफादारी के लिए वास्तविक या गढ़ी हुई कौटुंबिकता आवश्यक थी। पहचान से भी अधिक महत्व वफादारी का था, क्योंकि उससे बृहत्तर इकाई, जैसे कुल के अंदर जुड़ाव सुनिश्चित होता था। इसके अभाव में कुल के बिखर जाने का खतरा था, क्योंकि वे लोग अकसर अपना स्थान बदलते रहते थे। आक्रमण होने पर कुल का बचाव करने से करिश्माई व्यक्तित्व उभरते थे। कुल कमोबेश समतावादी होता था और उसके सभी सदस्य उत्पादन को आपस में बांट लेते थे। अलबत्ता, सरदार को कुछ बेहतर या बड़ा हिस्सा मिलता था। जहां पशु हमलों की बदौलत हासिल किए जाते थे–इसका वर्णन *ऋग्वेद*में मिलता है–वहां कुल के सरदार को अपना स्थान बनाए रखने के लिए सफल हमलावर होने का परिचय देना पड़ता था। कुछ कुलों को मिलाकर वह इकाई बनती थी जिसे कबीला कहा गया है, यद्यपि इस शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों के लिए किया जा सकता है। पशुचारकों के बीच कबीले की सदस्यता के लिए आम तौर पर सामान्य चरागाह क्षेत्रों का हकदार और सामान्य पूर्वज के वंशज होना और इसके साथ ही सामान्य भाषा का प्रयोग एवं सामान्य रीति-रिवाजों तथा कर्मकांडों का पालन आवश्यक होता था। कबीले का गठन राजनीतिक आवश्यकताओं के कारण–जैसे यदि नई चरागाहों की तलाश करनी हो या स्थिर तौर पर बसी आबादी पर हमला करना हो तो–किया जा सकता था। कबीले को खंडीय संगठन के रूप में देखा जा सकता है। परिवार नाभिकीय केंद्र था, जिससे वंश जैसी बड़ी इकाइयां

निकलीं, जो अपनी पहचान किसी एक मिथकीय पूर्वज से बताती थीं। जहां संततियां एकवंशीय थीं वहां ज़ोर कौटुंबिकता पर—चाहे वह वास्तविक हो या काल्पनिक—होता था।

मध्य एशिया के पशुचारक समय-समय पर भारत के इतिहास में दखल देते रहे। इसका कारण बहुधा मध्य एशिया में पैदा होनेवाली गड़बड़ी होती थी, जिससे मजबूर होकर वहां के लोग दक्षिण की ओर देशांतरण करते थे या इस तरफ घुस आते थे या इधर के प्रदेशों पर काबिज होकर यहां बस जाते थे। समझा जाता है कि इसी तरह की गड़बड़ियों के दबाव के चलते हिंद-आर्य भाषा-भाषी लोग, पहलव, शक, कुषाण, हूण और तुर्क भारत आए। लेकिन इस उपमहाद्वीप के अंदर के अन्य पशुचारक समूह भी महत्त्वपूर्ण थे—जैसे कि प्रायद्वीप के पशुपालक। कृषि तथा विनिमय के घटक के रूप में ये समूह कृषक समाजों के बीच के रिक्त स्थानों की पूर्ति करते थे। पशुपालक पशु-उत्पाद सुलभ कराने के साथ ही अदला-बदली के लिए माल को एक से दूसरे स्थान को ले जाने का काम भी करते थे। बनजारे यह भूमिका काफी हाल तक निभाते रहे। पशुओं के झुंडों की रक्षा करने में पराक्रम दिखानेवालों के जो बहुत-से स्मृति-चिह्न पश्चिमी भारत और प्रायद्वीप में मिलते हैं वे पशुचारक व्यवस्था के महत्व के द्योतक हैं।

विश्व के कई भागों की तरह इस उपमहाद्वीप में भी पर्वतश्रेणियों के ऊपरी हिस्सों में, जहां खेती-बाड़ी नहीं होती थी, ऋतु-परिवर्तन के कारण ऋतु-प्रवास एक आम दस्तूर बन गया। ग्रीष्म ऋतु में घास की कमी हो जाने पर चरवाहे अपने पशुओं को लेकर ऊंचाई पर चले जाते थे और ग्रीष्म ऋतु के समाप्त होने और नीचे घास की उपलब्धता होने पर वे नीचे आ जाते थे। इस नियमित आवागमन से प्रारंभिक किस्म के व्यापार को बढ़ावा मिला। उदाहरण के लिए, हिमालयी क्षेत्र के भारतीय चावल के बदले तिब्बत से चाय ली जाती थी। इस वस्तु-विनिमय को अन्यत्र 'अनुलंबीय अर्थव्यवस्था' कहा गया है।

ऋतु-प्रवास से अतिरिक्त चरागाह उपलब्ध हो जाता था, लेकिन निचले इलाकों में इसके लिए चारा फसलों की खेती की जाती थी या किसानों के साथ समझौते किए जाते थे। पशुचारकों तथा किसानों के बीच काफी आदान-प्रदान होता था। इस दृष्टि से उनकी स्थिति आखेटक-खाद्य-संग्राहकों से भिन्न थी, जिनका अन्य समाजों से कोई लेना-देना नहीं होता थ। पशुचारकों का किसानों से आम तौर पर अटूट संबंध होता था और आज भी है। जब फसल कट जाती थी तब चरवाहे अपनी भेड़-बकरियों के झुंड या मवेशी लेकर खेतों में फसलों के ठूंठ चराने आ जाते थे। पशुओं के मलमूत्र-विसर्जन से खेतों को खाद मिलती थी। प्रसंगवश आवश्यक वस्तुओं की कुछ अदल-बदली भी हो जाती थी। इस प्रणाली के प्रभावकारी होने के लिए यह जरूरी था कि पशुचारकों का वार्षिक चक्कर का मार्ग और समय काफी

हद तक अपरिवर्तित रहे, ताकि कटनी से उसका तालमेल बैठाया जा सके। चरवाहे और किसान के बीच का संबंध लगभग अनुबंधात्मक था। इन दोनों के संबंध शायद बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे होंगे।

जिन समाजों के संगठन में कुल-तत्व बहुत प्रबल था या जिनका रूप वंशगत पहचान से निर्धारित होता था वे बहुधा सरदारतंत्र हुआ करते थे। वे छोटे और सरल भी हो सकते थे और बड़े संघ भी। ज़ोर रिश्तेदारी पर आधारित संबंध पर होता था। वैवाहिक हलके, अर्थात विवाह में कन्याएं लेने और देने के नियम, विभिन्न कुलों के संबंधों को ध्यान में रखकर तय किए जाते थे। उत्तराधिकार के नियम भी किसी कुल के दर्जे का द्योतक हो सकते थे। अधिक जटिल प्रणालियों में उन लोगों को उत्तराधिकार से वंचित रखा जाता था जो कुल के सदस्य नहीं थे लेकिन फिर भी जो अन्य प्रकार से कुल से संबंधित थे। ऐसे लोगों में ओझा या पुरोहित या कुल को अपना श्रम देनेवाले लोग शामिल हो सकते थे। ओझा और पुरोहित कुल के धार्मिक विश्वासों और कर्मकांडों को परिभाषित करते थे। श्रमिकों में कभी-कभी गुलाम बनाए गए वे लोग भी शामिल हो सकते थे जिन्हें किसी हमले के बाद बंदी बना लिया गया हो, या वे भी हो सकते थे जो कुल के सदस्य नहीं थे। सरदारतंत्र का राजतंत्र में परिवर्तन या राजनीतिक सत्ता के केंद्रीकरण, प्रारंभिक किस्म के प्रशासन, राजस्व तथा अन्य अपेक्षित बदलावों के फलस्वरूप राज्य का उदय सामान्यतः किसानों द्वारा स्थिर तौर पर की जानेवाली खेती पर अधिक निर्भर होता था।

किसान

सबसे प्रमुख थी कृषक समाज की कोटि। खाद्य पदार्थों के उत्पादकों और राजस्व-दाताओं के रूप में किसानों की भूमिका पर इतिहासकारों ने यथेष्ट ज़ोर दिया है। शासक समूह द्वारा वसूल किया गया कृषि उत्पाद का निर्धारित अंश राजस्व होता था। आखेटक-खाद्य-संग्राहक से पशुचारक व्यवस्था और फिर कृषि की दिशा में परिवर्तन का मतलब था भूमि के उत्तरोत्तर घटते क्षेत्र का लेकिन बढ़ती गहनता के साथ उपयोग। पूर्ववर्ती दोनों कोटियों में भू-दृश्य सारतः अपरिवर्तित रहता था लेकिन कृषि के लिए भूमि की सफाई और कोड़ाई की आवश्यकता होती थी। यदि सफाई का काम चरागाह क्षेत्र या जंगलवाले इलाकों में किया जाता था तो इनमें से प्रत्येक में निवास करनेवाले समाजों के साथ टकराव हो सकता था। आम तौर पर माना जाता है कि कृषि के फलस्वरूप आबादी बढ़ी, क्योंकि अधिक बड़ी आबादी के भरण-पोषण के लिए कृषि-उत्पाद का एक हद तक पूर्वानुमान लगाया जा सकता था। अधिशेष खाद्य पदार्थ से उन लोगों को भोजन उपलब्ध हो जाता था जो उसके

उत्पादन का काम नहीं करते थे और इसलिए इस समाज में अभिजनों, पुरोहितों, सैनिकों और व्यापारियों का अस्तित्व सुसाध्य हो जाता था। पशुचारक समाज के उत्पाद अधिक समय के लिए भंडारित नहीं किए जा सकते, लेकिन अनाज का भंडारण करना ज़्यादा आसान था और उसे भंडार में अपेक्षाकृत लंबी अवधि तक रखा जा सकता था। कुछ विद्वानों ने यह राय भी जाहिर की है कि आबादी के घनत्व और हमेशा उसके पशुओं के निकट रहने से बीमारी तेजी से फैल सकती है, जिसके फलस्वरूप आबादी की वृद्धि किसी हद तक प्रति-संतुलित हो जा सकती थी।

अन्य दोनों कोटियों के लोगों के विपरीत किसान उस भूमि के स्थिर और स्थायी निवासी होते थे जिसमें वे खेती करते थे और खेती-बाड़ी दूर-दूर तक बिखरे रूप में नहीं की जाती थी। इस कारण से किसान पशुचारकों की अपेक्षा कम स्वायत्त थे। इससे उन्हें दबाकर रखने में भी एक हद तक मदद मिली और सामाजिक सोपान में किसानों को आम तौर पर अधीनता की स्थिति झेलनी पड़ी है। भारत में किसानों का अपने असंतोष का इजहार करने का सबसे आम तरीका यह था कि वे अपना स्थान छोड़कर दूसरे इलाकों में चले जाते थे। इस प्रवृत्ति के साक्ष्य दूसरी सहस्राब्दी ई. के आरंभिक दौर में जाकर मिलने लगते हैं, जिसे कुछ विद्वानों ने किसानों का विद्रोह कहा है। इस मामले में इस उपमहाद्वीप के किसानों की स्थिति चीनी किसानों से भिन्न है, जो प्राचीन काल में बार-बार विद्रोह किया करते थे। किसान ज़मीन पर बहुत अधिक निर्भर थे। इस निर्भरता की अभिव्यक्ति भूमि तथा उर्वरता से संबंधित देवियों की पूजा में भी होती थी।

किसानों की पहचान अकसर जातियों से होती थी। जातियां कुलों से भिन्न होती थीं, क्योंकि आम तौर पर वे कौटुंबिकता से संबंधित नहीं होती थीं और न सामान्यतः संसाधनों पर उनका सामूहिक स्वामित्व होता था। कृषक समाज कई प्रकार का होता था। किसान भूमि के स्वामी हैं या श्रेष्ठतर भूस्वामियों अथवा राज्य के पट्टेदार हैं, इस बात से उनके दर्जे में फर्क पड़ता था। स्थिति को सरल बनाकर देखें तो जो किसान अपनी ज़मीन में खेती करते थे वे राज्य को कर देते थे और जो भूस्वामियों की भूमि में खेती करते थे वे लगान देते थे। ऐतिहासिक विश्लेषण किसानों से श्रम के रूप में राजस्व की वसूली और उनकी अस्वतंत्रता की सीमाओं की छानबीन का तक़ाजा रखते हैं। किसानों द्वारा की जानेवाली स्थिर और स्थायी कृषि राज्य-संरचना और नगरों के विकास की भी पूर्व-शर्त थी, क्योंकि ऐसी खेती से ही ऐसी आबादी का पोषण हो सकता था जो अपना खाद्य पदार्थ स्वयं उत्पादित करने के लिए बाध्य नहीं हो।

कृषक समाजों का राज्य के उदय से घनिष्ठ संबंध था। ऐसा राज्य किसी क्षेत्र में निर्मित प्राथमिक राज्य भी हो सकता था, या उस हालत में द्वितीयक राज्य भी हो सकता था जब पहले तो वह किसी राज्य का अंग रहा हो लेकिन बाद में उससे

टूटकर अलग राज्य बन गया हो। राज्य एक सीमांकित प्रदेश पर अधिकार का दावा करने के अतिरिक्त उस प्रदेश की आबादी और संसाधनों पर कानूनी सत्ता भी रखता था, उसके शासन का सर्वोच्च स्वामी होता था और अपने प्रशासनिक तंत्र के माध्यम से अपनी सत्ता का उपयोग करता था। राजकोष, प्रशासनिक संरचना, सेना या दंड-शक्ति की व्यवस्था में सन्निहित इसकी सत्ता आदि राज्य की जो संस्थाएं थीं वे सब राजधानी में केंद्रित होती थीं, जो आम तौर पर उसका सबसे महत्त्वपूर्ण नगर होती थी।

शहरी लोग

शहरों का उद्‌भव कई प्रकार से हुआ। कुछ का आरंभ प्रशासनिक केंद्रों के रूप में हुआ, जिनमें मुख्य महत्व की चीज राजकोष था, जिसमें नजराने की राशियां रखी जाती थीं। कुछ का उदय गांवों की तुलना में अधिक विशेषज्ञतायुक्त शिल्प-उत्पादन केंद्रों के रूप में हुआ। कुछ अन्य तीर्थस्थलों और माल की अदला-बदली के केंद्रों के रूप में उभरे। क्षेत्र-विशेष में गांवों और छोटे शहरों का ऐसा सोपान हो सकता था जिसके शीर्ष पर कोई नगर स्थित हो। शहर की भौतिक योजना में प्रतिरक्षा के एक घेरे पर तथा उस घेरे के केंद्र में स्थित सत्ताधारियों के समूह पर विशेष ज़ोर था। इसके अलावा उसमें उत्पादन और विनिमय के आर्थिक संबंध भी लक्षित होते थे। संपत्ति का उपभोग भी कुछ नगरों की विशेषता माना जाता था। उनमें मुख्य रूप से ऐसे लोग बसे होते थे जो आम तौर पर ख़ास-ख़ास किस्म की चीजों के उत्पादन ओर विनिमय से जुड़े होते थे, यानी वे कारीगर और व्यापारी होते थे। लेकिन उनमें से बहुत-से लोग ग्रामीण क्षेत्रों से अपने तार जोड़े रहते थे, और शहरों में ऐसे समूह भी निवास करते थे जो समय-समय पर गांव और नगर दोनों में निवास करते थे। शहरी लोग अपनी खाद्य पदार्थों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए बहुत हद तक गांवों पर निर्भर होते थे। इससे शहरों और गांवों के बीच संबंधों को बढ़ावा मिलता था। ये संबंध समान नहीं बल्कि अलग-अलग प्रकार के होते थे।

विशेषज्ञता के मामले में, जो गांवों के मुकाबले शहरों की ख़ास खूबी थी, विभाजन अधिक स्पष्ट था। शिल्पोत्पादों और विनिमय के केंद्रों के रूप में परिमाण पर ख़ास ज़ोर दिया जाता था, क्योंकि उत्पादों से एकाधिक गांवों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी और चूंकि शहरों में विशेषज्ञों का अधिक संकेंद्रण था तथा उत्पादों का वितरण अधिक बड़े क्षेत्रों में होता था, इसलिए गुणवत्ता पर भी ज़ोर दिया जाता था। इन दोनों कारणों से कारीगरों और शिल्पियों का कोई संगठन या संघ आवश्यक हो जाता था, जिसका मुख्य कार्य पेशागत आवश्यकताओं की पूर्ति होता था। संगठन या संघ व्यापारियों के भी होते थे, जिनका काम विनिमय के लिए उत्पादित माल

का परिवहन और वितरण होता था। गिल्डों से मिलते-जुलते ऐसे संघ, जिन्हें सामान्यत: श्रेणी कहा जाता था, शहरी जीवन के लिए बहुत महत्वपूर्ण हो गए। इस तरह के जुड़ाव की शुरुआत तो पेशे को लेकर हुई, लेकिन यदि संघ काफी विस्तृत हो गया तो उसमें वैवाहिक हलके का भी समावेश हो गया। जब उसे निवेश और संपत्ति प्राप्त होने लगी तो उसकी पहचान और भी स्थिर हो गई। ऐसे संघ धार्मिक संप्रदायों के भी संरक्षक बन गए और उनमें से जिनके पास संपत्ति थी उन्होंने अपनी पसंद के संप्रदायों को दान दिए, जो उन संप्रदायों के पवित्र स्थलों पर प्रलेखबद्ध कर दिए गए।

विनिमय संबंध संबंधित उत्पादों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते थे। वस्तु-विनिमय या अदला-बदली के भाव प्रत्येक वस्तु की कीमत को ध्यान में रखकर आपसी बातचीत से तय किए जाते थे। वस्तु-विनिमय मुख्य रूप से स्थानीय और कुछ थोड़ी-सी वस्तुओं तक सीमित रहती थी। प्रारंभिक किस्म के बाजारों के रूप में विनिमय केंद्र अनेक प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करते थे, जिनमें बहुत कीमती वस्तुएं भी शामिल हो सकती थीं। विनिमय का आधार कभी-कभी आर्थिक की अपेक्षा सामाजिक दृष्टियां हुआ करती थीं। उदाहरण के लिए अधिक मूल्यवान वस्तुएं प्रतिष्ठा की भी सूचक थीं और इनका विनिमय बहुधा व्यापारिक क्षेत्र से बाहर अधिक प्रतिष्ठित परिवारों के बीच या संरक्षकता के उपादान के रूप में होता था। व्यापार की बदौलत उत्पाद माल बन जाता था और उसे दूर-दूर के स्थानों में ले जाया जा सकता था। बिक्री में आम तौर पर मौद्रिक सौदे होते थे। धातु की मुद्रा ने विनिमय के स्वरूप को आमूलचूल बदल दिया। माल का मूल्यांकन सामान्य माध्यम अर्थात् मुद्रा से किया जाने लगा। श्रेणी या राज्य जैसी किसी संस्था द्वारा जारी की गई मुद्रा धातु की किस्म और वजन के अनुसार भिन्न-भिन्न मूल्यों की हो सकती थी। मुद्रा को आसानी से कहीं भी ले जाया जा सकता था, जिससे दूरदेशीय विनिमय में सुविधा हुई। इससे धन-संचय को बढ़ावा मिला और उसके साथ ही सट्टेबाजी को भी। जटिल विनिमय से बाजार का विकास हुआ।

विविधता गांव के विपरीत शहरी जीवन की ख़ास खूबी थी। शहर में घनी बसी बस्तियां होती थीं, जिनकी आबादियां गांव से बहुत बड़ी होती थीं। सामाजिक आचार के नियम अधिक लचीले थे और असनातनी (हेटरोडाक्स) विचार बहुधा शहरी केंद्रों या उनसे संबंधित स्थानों में पनपते थे। प्रारंभिक धर्मशास्त्रों में शहरों के प्रति अननुमोदन का दृष्टिकोण देखने को मिलता है, यद्यपि बाद की कृतियों में यह दृष्टि बदल जाती है। परिष्कृत सांस्कृतिक संस्कृति नगर-आधारित हो गई और शहरी आदमी अनेक कृतियों में केंद्रीय पात्र के रूप में सामने आया। वह सरल गंवार आदमी का ठीक विलोम था।

वर्णों/जातियों का सृजन

समाजों की इन कोटियों की चर्चा एक ऐसे सामाजिक संगठन की प्रक्रिया से जाकर जुड़ती है जो भारतीय समाज को समझने के लिए बुनियादी महत्व की चीज है। तात्पर्य वर्णों/जातियों के रूप में उल्लिखित उन समूहगत पहचानों से है जो प्राचीन काल से लेकर आज तक प्रचलित हैं। वर्ण को अब बहुधा एक कर्मकांडी अवधारणा माना जाता है। दर्जों के सोपान में सबसे ऊपर और सबसे शुद्ध ब्राह्मण वर्ण था। दिलचस्प बात है कि यूनानी दूत मेगास्थनीज ने चौथी सदी ई.पू. में भारतीय समाज का जो विवरण लिखा उसमें उसने सात मोटे विभागों का उल्लेख किया है, लेकिन शुद्धता के किसी परिमाण का जिक्र किए बिना। उसका कहना है कि दार्शनिक सबसे अधिक सम्मानित हैं, लेकिन इस समूह में वह ब्राह्मणों के साथ ही असनातनी विचारधारा के श्रमणों को भी शामिल कर लेता है, जो ब्राह्मणों को दर्जे में सबसे ऊपर नहीं मानते थे। वर्ण/जाति के कुछ तत्व अन्य समाजों में भी दिखाई देते हैं, लेकिन भारतीय समाज में वे जिस रूप में सामने आते हैं वह सबसे भिन्न है।

कर्मकांडी दर्जे को केंद्र मानकर निर्मित की गई संरचना के रूप में उसमें ब्राह्मण का स्थान सबसे ऊंचा होता ही था, क्योंकि ब्राह्मण सबसे शुद्ध कोटि का प्रतिनिधित्व करता था। इस कल्पना का विकास वैदिक साहित्य में देखा जा सकता है और चूंकि वैदिक साहित्य आद्यतम साहित्यिक स्रोत है, इसलिए उसे वर्ण/जाति का उद्‌गम माना जाने लगा। इन पाठों में वर्ण की ब्राह्मणीय दृष्टि प्रतिबिंबित हुई है और माना गया है कि वर्णों की सृष्टि एक विशिष्ट अवसर पर हुई और तब से वे अपरिवर्तित रहे। कर्मकांड पर नियंत्रण के कारण ब्राह्मणों को न केवल सत्ता प्राप्त हुई, बल्कि शुद्धता के आग्रह ने उन्हें सबसे अलग प्रतिष्ठित कर दिया। समाज की वर्ण-व्यवस्था में शौच और अशौच के विचार मुख्य थे और विभिन्न कर्मों का निर्देश इसी संदर्भ में किया गया। वर्ण सूत्रबद्ध और व्यवस्थित है, जो समाज को सोपानबद्ध रूप से चार समूहों में विभाजित करता है–ब्राह्मण (पुरोहित), क्षत्रिय (योद्धा अभिजात), वैश्य (कृषक और व्यापारी) तथा शूद्र (शेष तीन वर्णों के लिए श्रम करनेवाले)। पांचवां था अस्पृश्य, जो अपनी अस्पृश्यता के कारण ही इस व्यवस्था से बाहर था।

लेकिन वर्ण/जाति समाज के उद्‌भव और काम करने के तरीकों को देखने के दूसरे नज़रिए भी रहे हैं। वर्ण/जाति की आवधारणा के लिए प्राय: जाति (JATI) शब्द का समान रूप से प्रयोग किया जाता है। जाति शब्द एक जन्मार्थक धातु से निकला है। जातियों की संख्या नाम के साथ सूचीबद्ध की गई हैं। इन्हें गिनना भी आसान नहीं है। जातियों की सोपानबद्ध व्यवस्था न तो सुसंगतिपूर्ण है और न समान, यद्यपि इस बात में संदेह नहीं कि उन पर सोपान-व्यवस्था लागू होती है। वर्ण और जाति की दोनों अवधारणाएं अंशत: एक-दूसरे में समाई हुई हैं लेकिन वे एक-दूसरे

से भिन्न भी हैं। इसलिए प्रश्न यह उठता है कि वर्ण/जाति समाज का विकास कैसे हुआ और वर्ण पहले आया या जाति। कुछ विद्वानों के अनुसार, सबसे पुरातन और मूलभूत विभाजन वर्ण था और जातियां वर्ण के उपविभाग थीं। इस मान्यता का कारण विशेष रूप से यह है कि आद्यतम साहित्यिक स्रोत अर्थात वैदिक साहित्य में वर्णों के उल्लेख हुए हैं। लेकिन यह भी कहा जा सकता है कि वर्ण और जाति के मूल अलग-अलग थे और उनके कार्य तथा प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न थे और जातियों का वर्णों में समाहार एक ऐतिहासिक प्रक्रिया था।

वैदिक साहित्य के उल्लेखों से वर्ण का मूल न्यूनाधिक स्पष्ट है। उद्भव-कथा में आदि यज्ञ तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार समूहों के उद्भव का वर्णन किया गया है। यही चार समूह चार वर्ण कहलाए। जातियों का उल्लेख उत्तर वैदिक साहित्य से पूर्व नहीं मिलता और उस साहित्य में भी उनके प्रसंगोपपात जिक्र ही हुए हैं, जिसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि यह साहित्य मुख्य रूप से कर्मकांडी पाठों का संकलन है। फिर भी यह संभव है कि जातियों की संरचना वर्णों से भी पहले की प्रक्रिया हो। जाति के बीज कुल में देखे जा सकते हैं।

किसी समाज के वर्ण/जाति आधारित होने की तीन पूर्वशर्तें हैं : उस समाज में सामाजिक असमानताएं हों, उस समाज के विभिन्न समूहों के आर्थिक संसाधनों पर असमान अधिकार हों; असमानताओं का वैधीकरण ऐसी सोपान-व्यवस्था के माध्यम से किया गया हो जिसमें सिद्धांततः कोई उलटफेर नहीं हो सकता हो और सोपान-व्यवस्था के दावे का आधार लोकातीत सत्ता हो। असमानताओं का वैधीकरण ऐसे कर्मकांडी विभाजन का रूप ले लेता है जो धार्मिक विचारधारा पर नियंत्रण रखनेवालों द्वारा निर्धारित शौच (purity) या अशौच (pollution) के परिमाणों पर निर्भर है। उपर्युक्त तीन विशेषताओं में से प्रथम दो किसी हद तक तो बहुत-से समाजों में मिल जाएंगी। ये जाति के आवश्यक लक्षण होंगी और कुछ कमज़ोर रूप में कुल संगठनों में भी उभर सकती हैं। विचारधारात्मक कारक वर्ण से उद्भूत होता है और वह हिंदू समाज की अपनी ख़ास विशेषता है। एक समूह के संपूर्ण शौच के आग्रह का मतलब किसी अन्य का संपूर्ण अशौच भी है, जो प्रस्तुत प्रसंग में अस्पृश्यों का प्रारब्ध है।

सामाजिक संगठन के एक रूप के तौर पर कुल और जाति के बीच बहुत समानताएं हैं। जाति अपना अर्थ जन्म से ग्रहण करती है और जन्म से किसी समूह की सदस्यता और उस समूह के अंदर उसका दर्जा तय होता है; उसी से वह सामाजिक हलका भी तय होता है जिसके अंदर विवाह हो सकता है या नहीं हो सकता है; और वही संपत्ति के उत्तराधिकार के नियम भी निर्धारित करता है। इन सबसे जातियों के बीच अलग-अलग पहचानों को बल मिलेगा तथा इस अलगाव की और भी पुष्टि कर्मकांड और पूजा-उपासना की भिन्नता एवं जातियों के बीच

सोपान-व्यवस्था की स्वीकृति से होगी। इसलिए ये ऐसी हस्तियां हैं जो धीरे-धीरे अपनी अलग-अलग सांस्कृतिक पहचानें विकसित कर लेती हैं, जिनमें भाषा, रीति-रिवाज और धार्मिक आचरण की भी भिन्नताएं हो सकती हैं। कुलों और जातियों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि जातियों में पेशा दर्जे का द्योतक बन जाता है, क्योंकि जातियों का उदय ऐसी अवस्थाओं में होता है जिनमें कुल-आधारित समाजों की अपेक्षा बहुत अधिक किस्म के पेशे होते हैं।

सामाजिक संगठन की प्रणालियों के विकसित होने में समय लगता है। प्राक्-वैदिक समाजों के स्वरूप की छानबीन काफी तफसील से नहीं की गई है, क्योंकि साक्ष्य पुरातात्विक हैं और इसलिए इस प्रयोजन से उनका अर्थ निकालना आसान नहीं है। सो अनिवार्यतः व्याख्याएं आनुमानिक ही रह जाती हैं, जैसी कि यहां प्रस्तुत की जा रही व्याख्या है। ताम्रपाषाणिक समाजों को कभी-कभी सरदारतंत्री समाज कहा जाता है, जिसका मतलब यह होगा कि उनमें किसी-न-किसी प्रकार का कुल संगठन रहा होगा। हड़प्पा की शहरी संस्कृतियों से अधिक जटिल प्रणालियों का संकेत मिलता है, जिनमें शायद नगरों के उत्पादन का नियंत्रण करनेवाले सत्ताधारियों और उनके लिए श्रम करनेवाले लोगों के बीच भेद था। उत्खनित सामग्री से उस सिद्धांत का पता नहीं चलता जिसने इस भेद को वैधता दिलाई होगी, लेकिन सामाजिक सोपान स्पष्ट दिखाई देते हैं। खेतों को जोतने-बोनेवाले किसान और पशुचारक नगरों को खिलाते थे; उनके निर्माण और रखरखाव के काम में विभिन्न प्रकार के श्रमिक लगे रहते थे; कारीगर विनिमय के लिए माल का उत्पादन करते थे; और सबके ऊपर एक सत्ताधारी समूह था, जो वितरण का नियंत्रण करता था और शासन के अधिकारों का प्रयोग करता था। यह काफी संभव दिखाई देता है कि इस प्रकार का समाज जातियों के सोपान पर आधारित था और जो लोग उत्पादन का काम करते थे उनके तथा जिनके हाथों में नियंत्रण था उनके बीच के भेद को कोई विचारधारा, शायद धार्मिक विचारधारा, वैधता प्रदान करती थी। सामाजिक सोपान को विचारधारात्मक वैधीकरण की आवश्यकता रहती है। जब शहरी प्रणाली भहरा गई तो संभव है वैधीकरण भी तिरोहित हो गया होगा, यद्यपि हो सकता है कि कुछ कुलों और संभावित या वास्तविक जातियों का बुनियादी सामाजिक संगठन विभिन्न रूपों में कायम रह गया हो।

खंडीकरण तथा सोपान इस प्रकार के समाज पर नियंत्रण रखना आसान बना देते थे, लेकिन दोनों के सातत्य के लिए किसी विचारधारात्मक आधार की आवश्यकता थी। पेशों को भी सोपान के अंदर लाना था, क्योंकि उससे प्रणाली पर नियंत्रण रखने में सहायता मिलती। उदाहरण के लिए, श्रम को सबसे निचले सोपान पर रखना था, ताकि उसकी उपलब्धता और सातत्य बना रहता। इसलिए संभव है कि हड़प्पोत्तर काल में वैदिक संस्कृति के उदय के साथ विचारधारात्मक वैधीकरण

वर्ण में निहित हो गया था, जो सोपान, पेशे और शौच पर विशेष ज़ोर देता था। उसके बाद वर्ण की विचारधारा उन समाजों पर थोप दी गई होगी जो जाति की कल्पना से परिचित थे। धार्मिक समादेश से गृहीत और जाति संरचना में गूंथ दिए गए शौच-अशौच के विचार ने उस प्रणाली को बदलना असंभव बना दिया।

कम-से-कम कुछेक प्रारंभिक जातियों की संरचना का सूत्र स्थिर रूप से बसे समाजों तथा अन्य समाजों के बीच के संबंध पर पीछे जाकर दृष्टिपात करने से मिल सकता है। उदाहरण के लिए, वनवासियों और जाति-समाज में एक भेद यह है कि वनवासी जातीय नियमों का पालन नहीं करते। ऐतिहासिक दबावों के कारण उन दोनों को जोड़नेवाली बीच की कड़ी की सृष्टि हुई। उदाहरण के लिए, जंगलों में आश्रमों का स्थापित किया जाना, राजाओं द्वारा जंगली प्रदेशों का अतिक्रमण, जंगलों के बीच से मार्ग बनाना या स्थानीय प्रशासनों द्वारा जंगल के संसाधनों की मांग इसी प्रकार की कड़ी का काम करते थे। जातीय नियमों के अनुसार, वनवासी म्लेच्छ या जाति-आधारित समाज से बाहर के लोग थे। किसान या कारीगर बना लिए जाने पर अगर उन्हें जातिगत दर्जा दे दिया जाता तो वे एक स्वीकार्य सोपान का अंग बन जाते। ऐसा दर्जा उन्हें वहां दे दिया जाता होगा जहां राज्य के रूप में काम करनेवाले समाज की ज़रूरत की वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए भली भांति नियंत्रित श्रम की आवश्यकता थी।

ऐसा माना जा सकता है कि कोई वनवासी कुल सामान्यतः ऐसे लोगों का समूह होगा जो एक निश्चित क्षेत्र में रहते होंगे, जिनमें कौटुंबिक संबंध होगा, जिनकी एक समान भौतिक संस्कृति होगी, जो लगभग समान दर्जे का उपभोग करेंगे और जिनके समान रीति-रिवाज और कर्मकांड होंगे। जहां ऐसा समूह यह स्वीकार करने लग जाता है कि संसाधनों की उपलब्धता के मामले में उसके सदस्यों के बीच असमानता हो सकती है और इस भेद को जन्म से प्राप्त सोपानीकृत दर्जा मानने लग जाता है वहीं उसमें जाति के तत्व उभरने लग जाते हैं। संसाधनों और सत्ता के प्रति नए दृष्टिकोण अथवा जाति-भेद के हामी समाज से निकटतापूर्ण एवं सतत संपर्क से इस बदलाव को बढ़ावा मिलेगा। उसके बाद वर्ण-भेद अपना काम करना शुरू करेगा और ऐसे समूह कर्मकांडों का संपादन करने लगेंगे और धर्मशास्त्रों में विहित कतिपय नियमों के अनुसार कम-से-कम सिद्धांततः सोपान-व्यवस्था का पालन करने लगेंगे, और साथ ही जातियों के बीच शौच-अशौच की मान्यता को भी स्वीकार करने लगेंगे, सरदारों के परिवार क्षत्रिय या अभिजात दर्जा प्राप्त करने की कोशिश करेंगे और दूसरे लोग शूद्र जातियों की निम्नतर कोटि में खप जाएंगे। जहां हिंदू धर्म को किसी स्थानीय उपासना को अपने अंदर खपाना होता था वहां उस उपासना के पुरोहित को ब्राह्मण का दर्जा दे दिया जा सकता था या यदि उपासना कुछ कम महत्त्वपूर्ण होती थी तो उससे कुछ नीचे का दर्जा प्रदान किया जा सकता था।

कबीले या कुल से जाति में रूपांतरण या जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है, जन से जाति में रूपांतरण भारतीय सामाजिक इतिहास की एक बुनियादी परिवर्तन-प्रक्रिया है, और वह मान-मनौअल या टकराव का परिणाम होता था, यह तो अलग-अलग परिस्थिति पर निर्भर होता होगा। मगर जिनका रूपांतरण होता था उनके जीवन के सभी पहलू प्रभावित होते होंगे। कबीले के जो सदस्य ऊंचे जातीय दर्जे में शामिल किए जाते होंगे उनके लिए कुछ खाद्य-पेय, जैसे गोमांस और मदिरा, निषिद्ध हो जाते होंगे और सह-भोजन—जो कुलों के बीच जुड़ाव का एक रूप रहा था—की अनुमति नहीं दी जाएगी; समाज की समान सदस्यता के स्त्रियों के आग्रह को सीमित कर दिया जाएगा और उन्हें परवशता की स्थिति स्वीकार करने पर मजबूर किया जाएगा; धार्मिक कर्मकांड नए और अपरिचित होंगे और कुछ उपास्य देवी-देवता भी नए होंगे—यद्यपि इस मामले में उन्हें काफी रियायतें देना जरूरी हो जाता होगा। वैसे भी हिंदू धर्म के पौराणिक पहलुओं में ऐसी जातियों के देवी-देवताओं तथा कर्मकांडों को शामिल भी कर लिया गया था। भूमि के स्वामित्व और राजस्व की वसूली का समावेश होने से कुछ लोगों को ऋण-बंधन की शोषक स्थिति को झेलना पड़ सकता था, और जातीय सोपान की मान्यता कुल की अधिक समतावादी प्रवृत्ति के विरुद्ध थी। नए क्रियाकलाप के फलस्वरूप कुछ पूर्ववर्ती कुल बिखर गए होंगे।

जातियों की सृष्टि का एकमात्र मार्ग कुल का जाति में रूपांतरण ही नहीं था। चूंकि जातीय पहचानें पेशों से भी निर्धारित होती थीं, इसलिए विभिन्न पेशागत संघ, ख़ास तौर से शहरी शिल्पियों के संघ, धीरे-धीरे आपस में मिलकर जातियों में बदल गए और वैवाहिक हलकों और उत्तराधिकार कानूनों को परिभाषित करने वाले सामाजिक सोपान को स्वीकार करके, समान रीति-रिवाजों का अनुसरण करके एवं स्थान-विशेष से जुड़कर जाति के नियमों का पालन करने लगे। एक और भी प्रकार की जातियां वे थीं जो धार्मिक संप्रदायों से उत्पन्न हुईं। संभव है कि ऐसे हर संप्रदाय में पहले से ही कई जातियां शामिल रही हों, लेकिन उस संप्रदाय ने एक इकाई के रूप में इतनी सफलतापूर्वक काम करना शुरू कर दिया हो कि उसमें पहले से शामिल जातियां अंततः एक जाति बन जाती हों। इसका एक ज्वलंत उदाहरण प्रायद्वीप में लिंगायत जाति का इतिहास है।

जाति संरचना की प्रक्रिया मुख्य रूप से सामाजिक पहचान और समाज के काम करने के तरीकों में बदलाव की प्रक्रिया थी। इस बदलाव के बाद जाति का समावेश किसी धार्मिक पहचान में भी कर लिया जाता था। जहां धार्मिक पहचान वैदिक ब्राह्मणीय धर्म या पौराणिक हिंदू धर्म की होती थी वहां जातियों को सोपानों में उपयुक्त स्थानों में खपा लिया जाता था और उन पर वर्ण-सोपान थोप दिया जाता था। कर्मकांडी दर्जे का मतलब था शौच और अशौच के उन नियमों का पालन जिनमें

ब्राह्मण को सर्वाधिक शुचि माना जाता था और शेष की शुचिता का परिमाण क्रमशः घटते-घटते सर्वाधिक अशुचि, अर्थात अस्पृश्य तक पहुंच जाता था। यह प्रक्रिया तब अपने स्पष्ट रूप में सामने आ जाती थी जब एक ही समूह के सदस्यों को, जैसे आभीरों को, अलग-अलग वर्णगत दर्जे दे दिए जाते थे–कुछ को ब्राह्मण का तो कुछ को शूद्र का।

ऐसा नहीं था कि पहले से विद्यमान वर्ण को हमेशा जातियों में उपविभाजित कर दिया जाता था, लेकिन जातियों को बहुधा वर्णगत दर्जे दे दिए जाते थे। यह शायद इस बात का कारण हो सकता है कि जातियों को भारत में तब भी कार्यात्मक सामाजिक इकाइयां क्यों माना जाता है जब अलग-अलग क्षेत्रों में उनके नाम अलग-अलग होते हैं, लेकिन वर्णगत दर्जों का पालन सभी मामलों में समान रूप से नहीं किया जाता, जिसके अपवाद सिर्फ ब्राह्मण और अस्पृश्य हैं। मध्यवर्ती जातियों (Castes) के एक-दूसरे से भिन्न सोपान होते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ ऐतिहासिक कालों में पंजाब में खत्रियों की व्यापारिक जाति (Trading Caste) और तमिलनाडु में वेलालों की भूस्वामी जाति प्रभुत्वशाली समूह थी। इसलिए जातिगत पहचानें (Jati Identities) अकसर वर्णगत पहचानों की अपेक्षा सामाजिक यथार्थ की अधिक गहरी जानकारी देती हैं। तथापि पाठों में संक्षेपन की दृष्टि से किए गए मुख्यतः वर्णों के उल्लेख सामाजिक असमानताओं का संकेत देते हैं। चूंकि ऊंचे वर्णों के दर्जे अभिरक्षित थे, इसलिए नई जातियों की अधिक से अधिक भरती शूद्र दर्जे में ही हुई होगी। उसमें तरह-तरह के पेशों का समावेश हो सकता था। इसलिए शूद्रों की नई वर्णगत पहचान में उनके कुछ पहले से चले आ रहे आचार-व्यवहारों को भी खपाया जा सकता था।

वर्ण/जाति समाज (Caste society) के निर्माण में प्राथमिक कदम के तौर पर जातियों की सृष्टि का मतलब यह भी था कि जातियों को हिंदू धर्म से इतर धर्मों में भी दाखिल किया जा सकता था। धर्म के संदर्भ में वर्ण/जाति समाज की एक दिलचस्प विशेषता यह है कि बहुत-से गैर-हिंदू समुदाय भी जाति (Caste) से मिलते-जुलते नियमों का पालन करते रहे हैं। खाद्य-संग्राहकों, स्थानांतरण कृषकों तथा वनवासियों (जिन्हें जाति (Caste) की परिधि से बाहर माना जाता था) को छोड़कर अन्य समूहों की अपनी किसी-न-किसी प्रकार की जातीय पहचान होती थी और जब उन्हें उन धर्मों में दीक्षित किया जाता था जो सिद्धांततः जाति (Caste) को अस्वीकार करते थे तब भी अकसर वे अपनी जातीय पहचानें कायम रखते थे। उदाहरण के लिए, ईसाई धर्म या इसलाम में दीक्षित लोगों के साथ बहुधा ऐसा हुआ। ऐसा ख़ास तौर पर तब होता था जब कोई पूरी जाति या उसका बहुत बड़ा हिस्सा धर्मान्तरित कर लिया जाता था। ऐसे समूहों में सातत्य के तत्वों का संबंध कौटुंबिकता तथा उत्तराधिकार के नियमों, वैवाहिक हलकों की मर्यादाओं के पालन और कम हद तक कर्मकांड से भी

होता था। इसका मुख्य कारण यह था कि धर्मांतरण के बाद भी सामाजिक रीति-रिवाजों का सातत्य कायम रहता था।

इससे धर्मांतरण का भी प्रश्न उठता है। जाहिर होगा कि किसी व्यक्ति को हिंदू धर्म में दीक्षित करने में कठिनाइयां उपस्थित हुई होंगी, लेकिन किसी बड़े समूह–किसी कुल या जाति–को धर्मांतरित करके उसे एक वर्णगत दर्जा दे देना आसान होगा। बौद्ध, जैन, ईसाई और इसलाम जैसे अन्य धर्म व्यक्तिगत धर्मांतरण को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से अधिक लचीले थे। कहने का मतलब यह नहीं है कि हिंदू धर्म में व्यक्तिगत धर्मांतरण संभव ही नहीं था, लेकिन इस धर्म में जाति (Caste) तथा धार्मिक संप्रदाय के अंतर्संबद्ध होने के कारण इसमें व्यक्तिगत धर्मांतरण अधिक समस्याग्रस्त था।

यहां जिन सामाजिक कोटियों का वर्णन किया गया है उनके साथ ही समाज के सभी रूप चुक नहीं जाते। दरअसल, सामाजिक रूपों में कालांतर में नई-नई शक्लें अपना लेने की संभावना सहज ही विद्यमान रहती है। इन रूपों के अलग-अलग भेद किसी ऐतिहासिक काल में एक ही क्षेत्र में साथ-साथ मौजूद हो सकते हैं। इन कोटियों में से कुछ के जातियों के रूप ले लेने के साथ सामाजिक इतिहास में एक नया आयाम जुड़ जाता है। तथापि कुछ ख़ास-ख़ास समयों में कुछ ख़ास-ख़ास क्षेत्रों में उनमें से कुछ विशेष प्रमुखता की स्थिति में हो सकते थे। सामाजिक संबंधों की संरचना की व्याख्या देश और काल की छवि को प्रखरता प्रदान करती है। यद्यपि किसी क्षेत्र या काल की ऐतिहासिक तसवीर तैयार करने में प्रमुख रूप पर विशेष ध्यान दिया जाता है तथापि अपेक्षाकृत छोटे रूपों को कुल तसवीर में जोड़कर देखना आवश्यक है। भारत में समाजों का विकास हुआ और उनमें बदलाव आए। इन प्रक्रियाओं को समझने के लिए समाहार और मुकाबलों की स्थितियों को, सहिष्णुता और अहिष्णुता की स्थितियों को और सामाजिक समन्वय और स्पर्धा की स्थितियों को समझना आवश्यक है। ये तमाम स्थितियां ऐतिहासिक विश्लेषण के लिए जरूरी हो जाती हैं और ऐसा विश्लेषण न केवल अतीत से प्राप्त साक्ष्यों से परिचय की अपेक्षा रखता है बल्कि उन साक्ष्यों की व्याख्या और समझ का भी तक़ाजा करता है। प्राचीन समाजों के रूपों से संबंधित सामग्री पुरातात्विक साक्ष्यों में अधिक आसानी से दिखाई देती है।

अध्याय : तीन

पूर्वेतिहास

प्रागैतिहासिक प्रारंभ

भारत के पुरातत्व में दिलचस्पी की शुरुआत अतीत को समझने और वर्तमान को उद्भासित करने में सहायता देने के लिए ऐतिहासिक अवशेषों के संग्रह की ओर अभिमुख उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के क्रियाकलाप से होती है। प्रागितिहास के निर्माण के उपादान का काम करनेवाले पुरावशेषों की तलाश को विश्व के अन्य भागों के साथ किए गए तुलनात्मक अध्ययनों और तज्जनित समानताओं या असमानताओं की पहचान से प्रोत्साहन मिला। आरंभ में ऐतिहासिक काल के पुरावशेषों में मुख्य रूप से ऐसी वस्तुएं शामिल थीं जिनका वर्गीकरण बाद में कालवशेषों के रूप में किया गया। उत्खनित सामग्री की व्याख्याएं पिछली सदी के दौरान प्रचलित हुईं और उनमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं।

सन् 1920 और 1930 वाले दशकों में सैंधव नगरों की खुदाई से भारतीय पुरातत्व को एक नई दिशा प्राप्त हुई। आरंभ में ऐसा माना गया कि ये नगर शायद पश्चिम एशियाई सभ्यताओं द्वारा भारत के उपनिवेशीकरण की देन थे। बाद में जब मार्टिमर व्हीलर ने उत्खनन की प्रविधियों और तरीकों में परिवर्तन करके उन्हें अधिक कठोर बना दिया तब भी इस धारणा का साया मिट नहीं पाया। अब सोच अंशतः उल्टी दिशा में चल रही है, क्योंकि कुछ पुरातत्वज्ञ हड़प्पाई संस्कृति को पूर्ण रूप से देशी मिट्टी की उपज और बाद की संस्कृतियों की जननी मानना पसंद करेंगे।

इन दोनों व्याख्याओं के बीच की आधी सदी के दौरान अन्य पुरातत्वज्ञों ने पुरातात्विक सामग्री की परख के लिए नए तरीके अपनाए। अब इस सामग्री में जिन प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़े जा रहे हैं उनका संबंध विभिन्न पुरातात्विक संस्कृतियों के मूल और कालानुक्रम की अपेक्षा उनके स्वरूप और उनके तथा उनकी उत्तराधिकारी संस्कृतियों द्वारा अभिव्यक्त परिवर्तनों से है। स्वयं शिल्पतथ्यों की अपेक्षा उनके संदर्भ अधिक ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। आशा करनी चाहिए कि इस दृष्टिकोण से

दिलचस्पी सिर्फ मूलों की तलाश से हट कर अन्य पहलुओं की ओर अभिमुख होगी। लेकिन इसके लिए विविध प्रकार की संस्कृतियों से और भी आनुभविक सामग्री की ज़रूरत होगी, जिसे सुनियंत्रित सर्वेक्षणों और व्यवस्थित उत्खननों से संगृहीत करना होगा और जिसके पीछे उन प्रश्नों की प्रेरणा होगी जिनका संबंध भारतीय अतीत की सृष्टि करनेवाले समाजों की व्याख्या करने से होगा।

भारत में मानव बस्तियों का इतिहास और पहचान प्रगैतिहासिक काल में ही आरंभ हो जाती है। तब पुरापाषाण काल में छिटपुट बस्तियां प्रकट हुईं, जो क्रमशः फैलती चली गईं और उत्तर पाषाणकाल में एक-दूसरे के अधिक निकट पड़नेवाले आबादी के हलके उभर आए। और भी बाद में अधिक जटिल किस्म के समाज सामने आए। सबसे शुरुआती बाशिंदों की पहचान का प्रश्न होमो सेपियनों या आदि मानवों के प्रारंभिक इतिहास तथा अफ्रीका से उनके इधर-उधर फैलने की कहानी से जुड़ा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि अति प्राचीन काल की भूवैज्ञानिक अवस्थाओं में भारतीय उपमहाद्वीप पूर्व अफ्रीका से जुड़ा हुआ था।

पुरातत्व से भारत में जिन समाजों के साक्ष्य मिलते हैं उनकी रूपरेखाएं मोटे तौर पर उन समाजों से मिलती-जुलती हैं जो विश्व के इसके निकटवर्ती भागों में मौजूद थे, यद्यपि निस्संदेह दोनों के बीच अलग-अलग परिवेशगत संदर्भों से उत्पन्न कुछ भिन्नताएं भी थीं। जिन बस्तियों और संस्कृतियों को पुरापाषाणिक, मध्य पाषाणिक, नवपाषाणिक, ताम्रपाषाणिक और लौह बस्तियां तथा संस्कृतियां कहा गया है उनके जाने-पहचाने रूपों का अनुसरण करते हुए उन समाजों के वितरण-पथों की रूपरेखा का निर्देश किया जा सकता है। इस उपमहाद्वीप में ये सभी समाज क्रमिक रूप से एक से निकलकर दूसरे के रूप में विकसित नहीं हुए और न उनमें काल की दृष्टि से एकरूपता थी। फिर भी, जिन्हें प्रागितिहास (Pre-History) और आद्य-इतिहास (Proto-History) कहा जाता है उनके सर्वेक्षण से प्राचीन इतिहास की पूर्वपीठिका का भान हो जाता है।

पुरातात्विक सामग्री मूर्त, भौतिक पदार्थों के अवशेषों के रूप में उपलब्ध है। यह कालानुक्रम का अनुमान लगाने का आधार बन जाती है। पिछली आधी सदी के दौरान काल-निर्धारण की विधियों में महत्त्वपूर्ण सुधार हुए हैं और ये विधियां पुरातत्व के उन अनेक क्षेत्रों में शामिल हैं जिनमें आधुनिक वैज्ञानिक प्रविधियों ने प्रचुर योगदान किया है। अनेक अति प्रारंभिक कालों के संदर्भ में इस प्रयोजन से बिंबमापक (स्पेक्ट्रोमिट्रिक) तिथि-निर्धारण या पोटैशियम की माप अथवा रेडियोधर्मी ह्रास की विधि से काम लिया जाता है। विगत 10,000 वर्षों के कालों में तिथि-निर्धारण की सबसे सामान्य रूप से प्रयुक्त तीन प्रविधियों में से एक है रेडियो-कॉर्बन तिथि-निर्धारण (कॉर्बन-14), जिसका संबंध जैव पदार्थों में कॉर्बन की क्षति की माप से है; दूसरी है काष्ठ-तिथि-निर्धारण (डेंड्रो-क्रोनोलाजी), जिसमें लड़की में पाए गए वृक्ष-वलयों की संख्या का सहारा लिया जाता है; और तीसरी

है ताप-संदीप्ति (थर्मोल्युमिनिसेंस) विधि, जिसका प्रयोग ख़ास-ख़ास पदार्थों के उन शिल्प-तथ्यों पर किया जा सकता जिन्हें पकाया गया है, जैसे कि भांड। तरह-तरह की प्रविधियों की उपलब्धता के फलस्वरूप कालानुक्रम को दुरुस्त करना संभव है। इसलिए पुरातात्विक सामग्री की तिथियां काफी हद तक निश्चित-सी लगती हैं और यदि पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध हों तो उनसे ऐतिहासिक कालानुक्रम का पता लगाने में भी मदद मिल सकती है।

संस्कृति और सभ्यता जैसे शब्द जब पुरातात्विक संदर्भ में इस्तेमाल किए जाते हैं तब उनके अर्थ उनके सामान्य अर्थों से कुछ भिन्न हो जाते हैं। संस्कृति का मतलब होता है किसी समाज की जीवन-पद्धति। इस प्रकार संस्कृतियां कई प्रकार की होती हैं। इन पद्धतियों में निवास के परिवेश के इस्तेमाल के ढंग, सामाजिक संबंधों, भाषा और कर्मकांड का समावेश होगा। पहले संस्कृतियों के प्ररूप मानव समूहों द्वारा इस्तेमाल किए जानेवाले औज़ारों से तय किये जाते थे। औज़ार मुख्य रूप से पत्थर के होते थे। पुरापाषाण काल के औज़ार बड़े होते थे, जो मध्यपाषाण काल में छोटे हो गए और नवपाषाण काल में पत्थर के पालिशदार औज़ारों का प्रयोग होने लगा। आगे चलकर ताम्रपाषाण काल में पत्थर और धातु दोनों के औज़ार बनने लगे। औज़ारों के प्ररूपों में कभी-कभी भांडों (अर्थात् भांडों का उपयोग आरंभ होने के बाद) के प्ररूप भी जोड़ दिए जाते हैं या वही औज़ार-प्ररूपों का स्थान ले लेते हैं। भांड प्ररूप कुछ ख़ास किस्मों की बस्तियों की विशेषताओं को प्रतिबिंबित करते हैं। भांड के प्ररूप के नाम का इस्तेमाल उसे बनानेवाले लोगों की पहचान के लिए किया जाता है। आखेटक-पशु-चारक, पशु-पालक और प्रारंभिक कृषक समुदाय जैसे विशेषता-सूचक नामों का भी इस्तेमाल किया जाता है, क्योंकि वे अधिक वर्णनात्मक होते हैं। संस्कृतियों में समानताओं का मतलब जरूरी तौर पर यह नहीं होता कि उनका विकास एक ही जन-समाज से हुआ। जीवन-पद्धतियों और उनसे जुड़े शिल्प-तथ्यों के रूप तब भी समान हो सकते हैं जब उनके निर्माताओं का आपस में कोई संबंध न रहा हो। लेकिन जहां संबंध हैं वहां समानताओं और अनुकरणों के बीच भेद करना जरूरी है।

सभ्यता से तात्पर्य ऐसी पद्धति से है जो अधिक जटिल और परिष्कृत है, जिसमें शहरी जीवन और उसके तमाम फलितार्थों का समावेश है, जिसमें एक सजग सौंदर्य-बोध है, परिष्कृत धार्मिक विश्वासों का अस्तित्व है और पाठों का इस्तेमाल किया जाता है। शहरी समाज सोपानबद्ध होते हैं और उनका बृहत्तर संदर्भ राज्य होता है, जिसमें असमानता पर आधारित सामाजिक विभाजन होता है। जरूरी नहीं कि उनमें शासक समूह कौटुंबिकता पर आधारित हो। सभ्यता का प्रसार अधिक विस्तृत क्षेत्र तक हो सकता है, जिसकी पहचान शिल्प-तथ्यों की समानता होगी। उसका विस्तार बहुधा ऐसे जन-समाजों की अंतर्निर्भरता का परिणाम होता है जो अनेक प्रकार से

उसकी प्रणालियों से प्रभावित होते हैं।

पुरापाषाण और मध्यपाषाण काल

पुरापाषाण काल के आखेटक-पशु-चारकों के साक्ष्य इस उपमहाद्वीप के कई भागों से प्राप्त होते हैं। प्रारंभिक अध्ययनों में मुख्य रूप से पश्चिमोत्तर की ओर, सोन नदी के कगारों और पोतवार पठार पर ध्यान दिया गया। तभी से पूरे उपमहाद्वीप में अनेक ठिकाने बिखरे पड़े मिले हैं। निवास-स्थान सामान्यतः चट्टानों के साए में होते थे, जिनमें से अधिकांश मध्य प्रदेश में, जैसे भीमबेटका में, लेकिन साथ ही भारत के अन्य भागों में भी मिले हैं। इनके अलावा लोग गुफाओं में भी-जैसे संघाओं (पश्चिमोत्तर पाकिस्तान) या कर्नल (आंध्र प्रदेश) में – रहते थे। सच तो यह है कि कभी-कभी वे खुले में भी डेरा डालकर रहते थे, लेकिन अन्य प्रकार की बस्तियों की अपेक्षा इनके साक्ष्य कम मिले हैं। खुले में डाले गए डेरे कभी-कभी घासपात से बनाए जाते थे, इसलिए उनके अवशेष तो नहीं मिलते, लेकिन पत्थर के औज़ारों और बसावट के चिह्नों से ऐसे आश्रयों के सूत्र प्राप्त होते हैं। ठिकाने आम तौर पर जल-स्रोतों के निकट और ऐसे स्थानों में हैं जहां पेड़-पौधे आसानी से मिल सकते थे। अश्भीभूत (फोसिल) अवशेष जानकारी का एक अन्य स्रोत हैं, और अश्भीभूत पशुओं में वे पशु भी शामिल हैं जिन्हें अंत में पाया जाने लगा, जैसे गाय, बैल, भेड़ और बकरी। इनके अलावा उन पशुओं के भी अश्मावशेष मिले हैं जो जंगली ही रह गए, जैसे बिल्ली परिवार के पशु और हिरन। आद्यतम अवस्था में भोजन शिकार द्वारा या खाद्य पौधों तथा मूलों का संग्रह करके प्राप्त किया जाता था। बसावटें सामान्यतः झाड़ीदार जंगलों और सिंचित स्थानों में होती थीं, जैसे हुंगसी में। बड़े जानवरों के शिकार के लिए लोगों के एक समूह के संयुक्त प्रयत्न की आवश्यकता होती होगी, लेकिन छोटे जानवरों का शिकार या उन्हें फंसाने का काम अकेला आदमी भी कर सकता था।

उपर्युक्त ठिकाने 30,000 ई.पू. के पहले से लेकर लगभग 10,000 ई.पू. तक के हैं। पुरापाषाणिक ठिकानों की जो अधिक स्पष्ट विशेषताएं हैं उनमें पत्थर के औज़ार शामिल हैं, जिनमें से कुछ हाथ की लंबाई के बराबर हैं और कुछ पत्थर की बड़ी-बड़ी बटियों की पपड़ी उतारकर बनाए गए हैं। बड़ी बटियां अकसर नदियों के कगारों में, जैसे सोन घाटी के कगारों पर, और उनकी ऊपरी धाराओं में, जैसे उत्तर में सिवालिक पहाड़ियों पर मिलती हैं। नर्मदा घाटी से प्राप्त एक खोपड़ी से दिलचस्प साक्ष्य मिलने की संभावना है। पौधों तथा प्राणियों के अवशेषों का विश्लेषण करने की विभिन्न प्रविधियां परिवेश और जलवायु की तसवीर तैयार करने में मदद करती हैं। आखेटकों-खाद्य-संग्राहकों की छोटी-छोटी टोलियों के लिए जलवायुगत भिन्नताएं अतिरिक्त कठिनाइयां उत्पन्न करती थीं। उनकी जीवन-पद्धति क्रमिक

रूप से पशुओं को पालने और पौधों की देख-रेख करने और कुछ अनगढ़ किस्म के बरतन बनाने के प्रयत्नों की दिशा में अग्रसर हुए। अपने आसपास की दुनिया के संबंध में उनके बोध के साक्ष्य विरल ही हैं। उनके संचार के तरीके की हमें ख़ास जानकारी नहीं है और उनकी भाषाओं का हमारा ज्ञान शून्य के बराबर है। जो कुछ गोचर था उससे आगे के बारे में उनकी क्या सोच थी और कोई सोच थी भी या नहीं, इस संबंध में भी हमें ख़ास जानकारी नहीं है। भीमबेटका में चट्टानों पर बनाए गए कुछ चित्र, जो बाद के अन्य चित्रों के साथ मिले हैं, इस काल के माने जाते हैं। उनसे लगता है कि उन्हें शिकार में सफलता की और उर्वरता की फिक्र रहती थी। बाघोट प्रथम (मध्य प्रदेश) में प्राप्त एक तिकोने प्राकृतिक पत्थर की व्याख्या नारी उर्वरता के प्रतीक के रूप में की गई है। पड़ोस के गांवों में इसी प्रकार के एक पत्थर को देवी मानकर आज भी पूजा जाता है।

खाद्य पदार्थ प्राप्त करने की सुधरी हुई प्रौद्योगिकियों के कारण कुछ आखेटक-खाद्य-संग्राहक निश्चित स्थानों में बसने में सक्षम हो गए होंगे। पुरापाषाण के उपरांत आनेवाली मध्यपाषाण संस्कृति के ठिकानों से भिन्न प्रकार के पत्थर के औज़ारों के उपयोग का पता चलता है। ये छोटे-छोटे शिल्पतथ्य हैं, जो बहुधा पांच सेंटीमीटर से बड़े नहीं हैं। इसीलिए इन्हें लघुपाषाण कहा गया है। इनमें शल्क (फ्लेक), पत्तियां (ब्लेड), तक्षणियां (ब्युरिन), सूए (पॉइंट), खुरचनियां, अर्धचंद्र तथा अन्य ज्यामितिक आकृतियां शामिल हैं। इन्हें बनाने का तरीका भी पपड़ियां उतारने वाला ही था, जिसके लिए बड़े पत्थर पर एक उपयुक्त कोण से प्रहार किया जाता था। लघुपाषाणों का इस्तेमाल बड़े पत्थरों की अपेक्षा अधिक विविध तरीकों से किया जा सकता था, क्योंकि उनसे अधिक प्रकार के कार्यात्मक औज़ार—जैसे चाकू और हंसिया—बनाए जा सकते थे। तीर के छोटे-छोटे फलों की संख्या में वृद्धि तीर-धनुष के उपयोग की द्योतक है। इसका मतलब यह था कि जानवरों को नजदीक से घेरकर मारने के तरीके का इस्तेमाल दूर से तीर चलाकर मारने की अपेक्षा कम किया जाने लगा था। इससे शिकारी पर जानवरों के हमले करने का खतरा भी कम हुआ। छोटे औज़ार बनाने के लिए बटिया-पत्थरों के बदले अलग प्रकार के पत्थरों का—जैसे स्फटिक (क्वार्ज), अकीक (एगेट), चर्ट और सिक्थ स्फटिक (कैलसिडनी) का—इस्तेमाल जरूरी था, क्योंकि उनसे पपड़ियां उतारकर छोटे औज़ार बनाना आसान होता है। यह परिवर्तन परिवेश के साथ संबंध और प्रौद्योगिकी पर नियंत्रण के मामले में अधिक आत्मविश्वास का द्योतक है, लेकिन साथ ही इससे यह संकेत भी मिलता है कि अब लोग ऐसे क्षेत्रों में निवास करने लगे थे जहां यह नया कच्चा माल आसानी से मिल सकता था। नदियों में मिलनेवाली बटियों की ज़रूरत कम हो गई थी, और नई किस्म की चट्टान पहाड़ियों और जंगलों में अधिक आसानी से उपलब्ध थी। संक्रमण अत्यंत धीमा और क्रमिक था—इसका

प्रमाण यह है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती पद्धतियों के बीच सदियों का अंतराल है। नई प्रौद्योगिकी से जीवन-यापन की पद्धतियों में परिवर्तन आया और आरंभ में शिकार तथा खाद्य-संग्रह के साथ-साथ जंगली अनाजों का और बाद में पालतू पशुओं, बागबानी और आदिम कृषि का भी सहारा लिया जाने लगा। साक्ष्यों से कुछ ऐसा अनुमान भी लगाया जा सकता है कि किसी एक क्षेत्र में अधिक लंबी अवधियों तक बसने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हुई। शिकार और खाद्य-संग्रह बाद के काल में कुछ कम परिमाण में चलते रहे, लेकिन आहार के लिए सिर्फ इन्हीं गतिविधियों पर निर्भरता धीरे-धीरे कम होती गई।

अब तक उत्खनित ठिकानों से संकेत लिया जा सकता हो तो कहना होगा कि मध्यपाषाणिक सरगरमियों के केंद्र भारी मानसूनवाले जंगलों से दूर, अपेक्षाकृत शुष्क ऊंचे प्रदेशों में थे। दसवीं से लेकर पांचवीं सहस्राब्दी ई.पू. तक फैले इस काल में भी नम और शुष्क जलवायु के अलग-अलग दौर चले। बहुत-सी बस्तियां मध्य प्रदेश की तरह चट्टानी आश्रयों के अंदर या निकट थीं, लेकिन खंभे गाड़ने के छेदों, जिनमें से कुछ वृत्ताकार झोंपड़ों का आभास देते हैं, और निवास के हलकों को ध्यान में रखकर देखें तो कुछ लोग अधिक साहसिकता का परिचय देते हुए गुफाओं और चट्टानी आश्रयों से दूर जाकर बसे। मध्यपाषाणिक अवशेष लंघनज (गुजरात), आदमगढ़ (मध्य प्रदेश), राजस्थान, सराय नाहर राय, महादह (उत्तर प्रदेश) और बिहार में भी मिले हैं। कुछ ठिकानों पर मिली आदिम ढंग के सिलों और सिलबट्टों से लगता है कि जंगली अनाजों और पौधों से पहले की अपेक्षा ज़्यादा किस्मों के आहार बनाए जाने लगे थे। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि एक ठिकाने पर कुछ ऐसी चीजें पाई गई हैं जिन्हें हाथ से बनाए अपरिष्कृत ढंग के बरतनों के टुकड़े माना गया है, और साथ ही एक ऐसी चीज भी मिली है जिसकी पहचान धानी के रूप में की गई है। निवास-क्षेत्र में पशुओं की हड्डियां ज़्यादा मिलने लगती हैं, जिनमें हिरन, जंगली सूअर, शुतुर्मुर्ग (जिसका अस्तित्व अब यहां मिट चुका है), और उन पशुओं की हड्डियां भी शामिल हैं जो पालतू बनाए जानेवाले थे—जैसे गाय-बैल, भेड़ और बकरी।

कब्रें कहीं-कहीं निवास-क्षेत्र के अंदर स्थित हैं और उनमें सपष्ट ही मृतकों के लिए लघुपाषाण, शंख और हाथी-दांत के तावीज रखे मिले हैं। कब्र में रखी वस्तुओं से मरणोपरांत जीवन के संबंध में कुछ धारणाओं का आभास मिलता है। कब्रों के निवास-क्षेत्र के अंदर स्थित होना शायद मृत व्यक्ति के प्रति लगाव का द्योतक था, लेकिन यह भी हो सकता है कि उसके कुछ व्यावहारिक कारण रहे हों, जैसे मांसभक्षी जानवरों से शवों को बचाना। बहुत विरल प्रसंगों में दो-दो व्यक्तियों को एक साथ दफनाया गया है, लेकिन जोड़ी हमेशा स्त्री-पुरुष की ही नहीं है। कंकालों से लगता है कि वे पंद्रह से लेकर चालीस साल की उम्र में

मरनेवालों के हैं और इस आधार पर हम उन लोगों की औसत जीवनावधि इसके बीच में मान सकते हैं। उस काल के लिए यह सामान्य आयु ही होगी, हालांकि हमारे मानदंड से वह बहुत कम थी। कुछ कंकालों से उपास्थि-क्षयी गठिया रोग का प्रमाण मिलता है।

इस प्रकार के आरंभिक समाज टोलियों में संगठित रहे होंगे और शायद उनमें किसी हद तक पारिवारिक स्तर का विभाजन होता होगा। भोजन की तलाश में लगातार स्थान बदलते रहने से परिवार के सदस्यों की संख्या सीमित रहती होगी, क्योंकि लंबी दूरियों तक पैदल चलने में बच्चे थक जाते होंगे और इसलिए वे उनके भोजन की तलाश के उपक्रम में बाधा बन जाते होंगे। अगर यह मान लें कि आबादियां छोटी होती होंगी तो उस हालत में कोई बीमारी पूरी-की-पूरी बस्ती को मिटा देती होगी।

सावधानी के साथ की गई खोजों के फलस्वरूप मध्य प्रदेश में और अन्यत्र रिहाइशी प्रयोजन से प्रयुक्त चट्टानी आश्रय और गुफाएं अब भी मिल रही हैं। उन आश्रयों और गुफाओं में चट्टानों पर बने चित्र और मूर्तियां भी हैं। कुछ तो मध्यपाषाण काल के हैं, लेकिन भीमबेटका जैसे अन्य अधिक विस्तृत ठिकानों से चित्रकारी का सिलसिला ऐतिहासिक काल तक जारी रहा। ऐतिहासिक काल का पता जलूसों या युद्धों में शामिल घोड़ों और हाथियों के चित्रण से चलता है। पूर्ववर्ती कला के विषय आखेटकों और खाद्य-संग्राहकों के जीवन पर केंद्रित थे। जानवरों, ख़ास तौर से हिरनों का शिकार एक बड़ा उद्यम था। मनुष्य और पशु दोनों अमूर्त शैली में चित्रित किए गए हैं, लेकिन पशुओं के शरीरों पर एक-दूसरे को काटती हुई रेखाएं तथा अन्य आकृतियां खींची गई हैं। शायद यह आखेट के कर्मकांड का अंग था। किसी सफल अहेर के चित्रण को कदाचित् आगे के अहेर की सफलता सुनिश्चित करनेवाला मंत्र समझा जाता था और संभवतः ऐसा माना जाता था कि जो कुछ चित्रित किया जा रहा है वह वास्तव में घटित होगा। इस तरह का चित्रण उस सोच की अभिव्यक्ति है जिसमें अनुकूल जादू को अचूक सफलता की कुंजी माना जाता है। उर्वरता के प्रतीकों के रूप में स्त्रियों और पुरुषों की आकृतियां भी अकसर मिलती हैं। इस बात की छानबीन करना दिलचस्प होगा कि मध्य भारत की पहाड़ियों में दूर-दूर तक बिखरे इन लोगों की पूजा-उपासनाएं और कर्मकांड क्या एक ही थे।

प्रागैतिहासिक चट्टानी कला का भौगोलिक विस्तार प्रभावोत्पादक है। नवपाषाण संस्कृति के परवर्ती चरण से संबंधित मानी जानेवाली चट्टान पर आकृतियां उकेरने की कला के दर्शन केरल के पश्चिमी घाट में स्थित एडाकल गुफा में भी होते हैं। इसमें मानव गतिविधियों को तक्षण की एक असामान्य शैली में उकेरा गया है। हाल में धुर उत्तर में गिलगिट और बाल्टिस्तान क्षेत्र के अन्वेषण में पुरुष आकृतियों के तक्षण और मुखौटों के चित्रण मिले हैं, लेकिन सबसे बड़ी संख्या में साकिनों और

दूसरे पशुओं की आकृतियां मिली हैं, जिनके सींग ख़ास अंदाज में बनाए गए हैं। राय जाहिर की गई है कि इनमें से कुछ लक्षणों के आधार पर तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. में मध्य एशिया के साथ ऊपरी सैंधव क्षेत्र के संबंध का पता चल सकता है।

नवपाषाण

गोर्डन चाइल्ड के शब्दों में कहें तो नवपाषाण जीवन-पद्धति के प्रादुर्भाव ने कृषि-कर्म के माध्यम से एक क्रांति का सूत्रपात कर दिया। कृषि और पशुपालन का प्रारंभ, वस्तुतः, इस पद्धति का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है। लेकिन यह कोई आकस्मिक और आमूल परिवर्तन नहीं था और पूर्ववर्ती काल के कुछ क्रियाकलाप में इन परिघटनाओं के बीज विद्यमान थे। यह संभव है कि परिवेशगत बदलावों के दौर से गुजरनेवाले क्षेत्रों में और अपनी जीवन-पद्धति में सुधार लाने के लिए प्रयत्नशील स्त्रियों तथा पुरुषों की विलक्षणता के फलस्वरूप इस परिवर्तन की गति तेज हो गई हो। परंतु उसका अंतिम परिणाम विकासात्मक था, क्योंकि उसने भोजन प्राप्त करने की प्रक्रिया को बदल दिया और मनुष्य, पशु तथा भूमि के बीच नए प्रकार के संबंध स्थापित करने का रास्ता खोल दिया। हो सकता है, बढ़ती हुई आबादी के लिए अधिक बड़े और एक हद तक पूर्वानुमानित परिमाण में खाद्य पदार्थों का उत्पादन आवश्यक हो गया हो, और दूसरी ओर यह भी संभव है कि स्वयं आबादी का बढ़ना ऐसे उत्पादन का परिणाम रहा हो। इसके साथ ही खाद्य पदार्थों के भंडारण–कम-से-कम कुछ समय के लिए उनके भंडारण–की संभावना भी उत्पन्न हुई, जिससे भंडारण के लिए बरतन बनाने के काम को और भी बढ़ावा मिला होगा। जहां खेती की जाती थी वहां आबादी का अधिक घनत्व होने के कारण आबादी की बसावट में अधिक स्थिरता भी आई होगी। ऐसा माना जाता है कि धीरे-धीरे स्थिति यह हो गई होगी कि जो लोग स्थिर खेती में लग गए थे वे कभी-कभी आखेटकों-खाद्य-संग्राहकों और स्थानांतरण कृषि करनेवालों पर भारी पड़ जाते होंगे। स्थायी निवास-स्थान आबादी के संकेंद्रण को बढ़ावा देते होंगे। इससे अंततः शहरीकरण संभव हुआ होगा, लेकिन कृषि और स्थिर निवास के एक लंबे दौर के बाद ही।

नवपाषाण ठिकाने उपमहाद्वीप के अनेक और एक-दूसरे भिन्न हिस्सों में सामने आते हैं: स्वात घाटी में गलीघई में, उससे कुछ दक्षिण की ओर सराय खोला में, और कश्मीर घाटी के पीली-भूरी मिट्टीवाले पठार में, जहां गर्तावास (गड्ढा-घर) की गुंजाइश थी; बिहार में चिरांद में और उत्तर प्रदेश में बेलन घाटी के ठिकानों, जैसे चोपानी मांडो और कोलडिहवा में; उससे पूरब पांडु राजार ढीबी में तथा और भी पूरब दावजाली हाडिंग और सारूतारू में; एवं प्रायद्वीप में रायचूर दोआब से लेकर गोदावरी और कृष्णा घाटियों में सिलसिले से फैले उटनूर, पिकलीहाल, मस्की,

टेक्कलकोटा, ब्रह्मगिरि, हल्लूर, पैयमपल्लि, टी. नरसीपुर आदि में। इनमें से कुछ ठिकाने ऐतिहासिक काल में भी सक्रिय थे, जब इनमें से चंद में शहरी जीवन के तत्व विद्यमान थे।

मालूम होता है, आरंभ में कृषक स्थान बदल-बदल कर अपना काम करते रहे होंगे। लेकिन अंत में गहन कृषि ने उन्हें स्थिर निवास के लिए प्रेरित किया। यह भी संभव है कि आखेटकों-पशुचारकों तथा स्थानांतरण खेती करनेवालों से उनका टकराव हुआ होगा। हो सकता है, स्थानांतरण खेती करनेवाले अभी हाल तक आखेटक-पशुचारक ही रहे हों, हालांकि अब अन्य गतिविधियों के मुकाबले खेती को तरजीह देने को प्रवृत्त हुए हों। अंत में कृषि की प्रधानता प्रतिष्ठित हो गई और तब आखेट और खाद्य-संग्रह पर निर्भरता कम हो गई होगी। एक राय यह है कि कृषि-कर्म की दिशा में संक्रमण का श्रेय स्त्रियों को है, क्योंकि पुरुष शिकार पर निकल जाते थे लेकिन वे घरों में ही रह जाती थीं। इससे उन्हें बुवाई का और जो-कुछ वे बोती थीं उसकी देख-रेख करने का अवसर मिल जाता था। यह विचार तर्कसंगत लगता है। लेकिन अधिक व्यापक परिवर्तन हल कृषि के फलस्वरूप हुआ और यह काम पुरुष करते थे। खेती के कारण खाद्य पदार्थों की आपूर्ति के संबंध में कुछ निश्चितता आई। कृषि के विस्तार के लिए एक स्थान पर स्थिर होकर रहनेवाले समाज की ज़रूरत थी और प्रौद्योगिकीय प्रगति के फलस्वरूप लोगों की टोली के लिए दरकार न्यूनतम खाद्य पदार्थ से अधिक का उत्पादन संभव हुआ। इस अधिशेष खाद्य पदार्थ के अनेक प्रकार के विनिमयों के लिए—जैसे ज़रूरत की कुछ दूसरी चीजों या यहां तक कि श्रम प्राप्त करने के लिए भी—इस्तेमाल किए जाने की संभावना थी, और बाद में वस्तुतः उसका ऐसा इस्तेमाल होने भी लगा। अतिरिक्त खाद्य पदार्थ के ऐसे इस्तेमाल से समाज में क्रमशः सोपानीकरण का समावेश हुआ—कुछ लोग खाद्य पदार्थों पर अपना नियंत्रण रखते थे और विनिमय के लिए उनका उपयोग करते थे, लेकिन बाकी लोगों का काम अतिरिक्त खाद्य पदार्थों का उत्पादन करना था।

प्रौद्योगिकीय दृष्टि से देखें तो औज़ारों में बहुत सुधार हुआ। अब पालिशदार औज़ार बनाए जाने लगे। उनके कुंद किनारों की छंटाई से उनकी कार्यक्षमता बढ़ी—जैसे कि पत्थर की पालिशदार कुल्हाड़ी की। पहले की कुल्हाड़ियों से तुलना करके देखें तो इनमें किया गया सुधार प्रभावोत्पादक लगता है। कुछ ठिकानों पर पेड़ों की डालियों और पत्तों से बनाई गई और ऊपर से मिट्टी का लेप चढ़ाई गई झोंपड़ियों का स्थान धीरे-धीरे फूस की झोंपड़ियों ने ले लिया, और बाद में इनका स्थान कच्ची ईंटों से बनाए घरों ने लिया, जिनमें अनाज रखने के लिए छोटे-छोटे कोठले और जल के भंडारण की भी व्यवस्था होती थी। आगे चलकर हाथ से बनाए जानेवाले बरतनों का स्थान चाक पर गढ़े जानेवाले बरतनों ने ले लिया और कुछ गहने भी बनाए

जाने लगे। विस्तृत क्षैतिज खुदाइयों के फलस्वरूप मेहरगढ़ जैसे ठिकानों में प्रारंभिक कृषि की अवस्था से प्रारंभिक किस्म के शहरीकरण की ओर स्पष्ट संक्रमण के प्रमाण मिलते हैं। कृषि के प्रसार के संबंध में दिखलाया गया है कि वह पश्चिम एशिया से पूर्वोत्तर भारत में पहुंची, लेकिन पूर्वोत्तर भारत के ठिकानों से प्राप्त साक्ष्यों से मालूम होता है कि कृषि की दिशा में संक्रमण अपेक्षाकृत स्थानीय रूप से हुआ।

अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग कालों में गेहूं, जौ, चावल और मोटे अनाजों की खेती की जाने लगी। लगता है, चावल की खेती की शुरुआत पूर्वी भारत से हुई। धीरे-धीरे भेड़, बकरी और गाय-बैल का पालन प्रतिष्ठित हुआ। इससे दुग्धोत्पाद और जहां जरूरी था वहां कुछ मांस भी उपलब्ध हुआ, जिससे शिकार पर निर्भरता कम हुई। इस अवस्था में पशुचारण और कृषि अंतर्निभर थे, यद्यपि जो परिवर्तन हो रहे थे उनमें दोनों के पृथक्करण की संभावना विद्यमान थी। फसलों की खेती से खाद्य पदार्थ पाने के बारे में कुछ निश्चिंतता आई और उसकी उपलब्धता पर कुछ नियंत्रण स्थापित हुआ, लेकिन गुणात्मक परिवर्तन के लिए स्थायी निवास आवश्यक था। पशु-पालन से भोजन अधिक आसानी से मिलने लगा। बड़े पशुओं का इस्तेमाल खींचने और ढोने के कामों में भी किया जाता था। बरतनों के बढ़ते उपयोग से खाद्य पदार्थों के भंडारण की सुविधा हुई, जिससे खाना पकाने के रिवाज को बढ़ावा मिला। बरतनों के आकारों की विविधता के कारण उनके और उपयोग भी किए जाने लगे। जहां शवों के साथ मनुष्य के उपयोग की चीजों को भी दफनाने का रिवाज था वहां उनमें बरतन भी शामिल किए जाने लगे। शिशुओं को दफनाने के लिए बड़े भांडों का उपयोग ताबूतों की तरह भी किया जाता था। इन प्रारंभिक संस्कृतियों में बच्चों की मृत्यु-दर कुछ अधिक ही दिखती है।

नवपाषाण संस्कृतियों में खेती-बाड़ी पर बढ़ते हुए ज़ोर के कारण हमारा ध्यान इसी प्रकार के समाजों का अध्ययन करनेवाले मानव वैज्ञानिकों द्वारा लक्ष्य किए गए सादृश्यों की ओर आकृष्ट होता है। खेती-बाड़ी में सरदारतंत्रों के विकास के बीज विद्यमान होते हैं। इन तंत्रों में आरंभ में खेती का काम पारिवारिक श्रम और कुल के श्रम द्वारा किया जाता है। बहुत-से प्रारंभिक समाजों में परिवार एक इकाई के रूप में या कुल के एक घटक के रूप में पशुओं को चराता था और फसलें उगाता था। युवा सदस्यों से वयोवृद्धों के लिए श्रम करने की अपेक्षा की जाती थी। यह कौटुंबिक संबंध के कारण किया गया श्रम होता था और यह तब की स्थिति है जब गैर-कौटुंबिक श्रम का उपयोग आरंभ नहीं हुआ था। वस्तुतः गैर-कौटुंबिक श्रम के उपयोग का आरंभ एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन था, लेकिन लगता है, ऐसा श्रम सामाजिक दृष्टि से सोपानीकृत बाद की संस्कृतियों से जुड़ी अपेक्षाकृत अधिक विकसित कृषि में ही एक संसाधन का काम करता है। जब समाज अधिक जटिल हो गए और व्यवस्था बदल गई, तब परिवार या कुल के श्रम के साथ

गैर-कौटुंबिक श्रम से भी काम लिया जाने लगा या इस प्रकार के श्रम ने पहले प्रकार के श्रम का स्थान पूर्ण रूप से ले लिया। यह उनका श्रम था जो कुटुंबी तो नहीं थे लेकिन या तो मुआवजे के बदले श्रम करने के इच्छुक थे या अगर वे ऐसे लोग थे जिन्हें बंदी बना लिया गया था तो बंदी बनानेवालों के लिए श्रम करना उनकी मजबूरी थी। गैर-कौटुंबिक श्रम के उपयोग से उत्पादन में वृद्धि की संभावना के द्वार भी खुलते हैं और उत्पादन में वद्धि होने पर यह प्रश्न उठता होगा कि अतिरिक्त उत्पादन का वितरण कैसे किया जाए। ऐसी स्थिति में श्रम का–चाहे वह कौटुंबिक श्रम हो या गैर-कौटुंबिक–नियंत्रण तथा संगठन सरदार की सत्ता का एक महत्वपूर्ण स्रोत और उसका एक मुख्य कार्य भी बन जाएगा।

नवपाषाण ठिकाने विभिन्न स्थानों में बिखरे पड़े हैं और उनका विकास अलग-अलग कालों में हुआ। प्रारंभिक ठिकानों में बलूचिस्तान में क्वेटा के निकट स्थित मेहरगढ़ है, जो वहां के कई ग्रामीण ठिकानों के बीच स्थित है। यह अनेक अन्य ठिकानों की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक है, क्योंकि यहां हमें इस बात के साक्ष्य मिलते हैं कि यह ठिकाना कई सहस्राब्दियों तक कायम रहा और यह बस्ती क्रमिक रूप से कृषि से शहरीकरण की ओर विकसित होती रही। पश्चिमोत्तर के ठिकानों के बीच कुछ सादृश्य स्पष्ट हैं, जिसका कारण शायद यह था कि उनके बीच विचारों का आदान-प्रदान होता रहता था और वे एक-दूसरे के कार्यों और कार्य करने के तरीकों का परिचय प्राप्त करते रहते थे। बस्तियां एक-दूसरे से अलग-थलग नहीं थीं और उनके बीच अंतर्क्रिया चलती रहती थी, जिसका एक माध्यम तो वस्तुओं का विनिमय रहा होगा। मनके जैसी विनिमेय वस्तुओं का उत्पादन, जिसमें थोड़ी-बहुत विशेषज्ञता अपेक्षित थी, विनिमय का एक कारण रहा होगा। इसके अतिरिक्त पशुचारक परिपथों और देशांतरणों की बदौलत या यहां तक कि एक-दूसरे से मुकावला-टकराव होने के कारण भी अंतर्क्रिया होती होगी। इस सबके फलस्वरूप ऐसे तंत्र बन गए होंगे जिनके जरिए विनिमय और भी अधिक नियमित रूप से चलने लगा होगा। साथ ही इससे नए वैवाहिक हलकों और कर्मकांडी आचार-व्यवहारों की भी सृष्टि हुई होगी।

मेहरगढ़ का उद्‌भव-काल लगभग 7,000 ई.पू. बताया गया है। गेहूं और जौ की खेती, गाय-बैल और भेड़-बकरी का पालन, कच्ची ईंटों से रसोई के साथ बनी कुटियों में निवास, शायद अनाज के कोठलों का उपयोग, व्यक्तिगत ज़रूरतों की वस्तुओं के साथ मुर्दों को गड्ढों में दफनाना, फीरोजे (टर्क्वाइज) और लाजवर्द (लैपिस) के मनके तथा यत्र-तत्र बिखरी पड़ी लघु मृन्मूर्तियां—इन तमाम पहलुओं से युक्त एक सांस्कृतिक पद्धति छठी सहस्राब्दी ई.पू. तक स्थापित हो चुकी थी। चौथी सहस्राब्दी ई.पू. तक चाक पर बरतन बनाने का कौशल आरंभ हो चुका था। इसी प्रकार पश्चिमोत्तर में ही पड़नेवाले छठी से चौथी सहस्राब्दी ई.पू. तक के कुछ

अन्य ठिकाने–किले गुल मुहम्मद, राना घुंडई, शेरी खान तरकई, गुमला और रहमान ढेरी–पशु-चारण और कृषि की गतिविधियों के केंद्र थे और साथ ही उस क्षेत्र के आर-पार जानेवाले मार्गों पर बसे हुए थे। बलूचिस्तान की नल संस्कृति और उससे कुछ दक्षिण में कुल्ली संस्कृति भी इसी परिदृश्य का अंग थीं। इनमें से कुछ ठिकाने कालांतर में कृषि-सह-पशुचारण से शुद्ध कृषिकर्मी हो जाते हैं और फिर आरंभिक किस्म के शहरों में बदल जाते हैं। इस प्रकार ये हड़प्पाई शहरीकरण के पुरोगामी हैं।

मैदानी क्षेत्र में सिंधु नदी के निकट कोट दीजी और अमरी की बस्तियां थीं, जिनमें कुछ ऐसी विशेषताएं थीं जो हड़प्पा संस्कृति के कतिपय अभिलक्षणों की झांकी पहले ही दे देती हैं। उदाहरण के लिए, कोट दीजी के बरतनों पर चित्रित आकृतियां हड़प्पाई बरतनों पर चित्रित आकृतियों की ही तरह पीपल के पत्ते और मछली पर आधारित थीं। जिन्हें राजस्थान के सोथी ठिकाने कहा (Solhi sites) गया है–जैसे कालीबंगां की प्राक्-हड़प्पाई बस्ती–उनसे प्राप्त बरतनों में भी कोट दीजी के बरतनों की विशेषताएं दिखाई देती हैं। और भी पूरब की ओर चलें तो कुनाल और बनवाली (हरियाणा) के शिल्पतथ्यों में भी कुछ समानाएं लक्षित होती हैं। अरावली की पहाड़ियों में तांबा मिलता है, और मुख्य रूप से तांबे के उत्पादन में लगे स्थान–जैसे गणेश्वर–काफी महत्वपूर्ण थे। धातु-मिश्रण-कर्म हड़प्पाइयों के लिए एक अवदान साबित होनेवाला था। और भी दक्षिण की ओर चलें तो गुजरात में प्राक्-हड़प्पाई बस्तियों के साक्ष्य मिलते हैं, जिनमें से कुछ ऐसे स्थानों में थीं जो महत्वपूर्ण हड़प्पाई शहरों के आरंभिक रूप थे। इसका एक उदाहरण हड़प्पाई शहर ढोलावीरा है।

राजस्थान और पंजाब की बस्तियों में कुछ ऐसी विशेषताएं भी थीं जो हकरा के मैदान से, ख़ास तौर से आज के बहावलपुर और चोलिस्तान से संबंधित थीं। हकरा नदी किसी जमाने में काफी बड़ी थी, हालांकि अब इसके ऊपरी बहाव का जो-कुछ शेष रह गया है वह पंजाब की घग्घर नदी है और बाकी सब धीरे-धीरे सूख गया है। एक सवाल यह उठाया गया है कि सिंधु-हकरा क्षेत्र में बस्तियों के घने समूह को ध्यान में रखते हुए क्या यह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र हड़प्पाई नगरों के उदय के लिए बलूचिस्तान और पश्चिमोत्तर से अधिक प्रासंगिक था और अगर ऐसा था तो इस सभ्यता को सिंधु-सरस्वती सभ्यता कहना चाहिए। लेकिन असली महत्व की बात ठिकानों की संख्या नहीं बल्कि उनका स्वरूप है। किसी ठिकाने का स्वरूप निर्धारित करने के लिए सिर्फ शिल्प-तथ्यों को सूचीबद्ध करना जरूरी नहीं है, बल्कि, प्रस्तुत प्रसंग में, प्राक्-शहरी गतिविधियों से शहरीकरण की दिशा में परिवर्तन को प्रोत्साहन देने में उसकी भूमिका का मूल्यांकन करना है। पश्चिमोत्तर में शहरीकरण की दिशा में विकास के लिए अधिक प्राचीन और ज़्यादा

विस्तृत साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए अधिक संभावना यही लगती है कि शहरी केंद्रों की ओर संक्रमण के लिए आरंभिक प्रेरणा का स्रोत सिंधु के मैदान और पश्चिमोत्तर में था। शहरीकरण को प्रोत्साहन देनेवाले व्यापार पर नियंत्रण रखने के लिए आवश्यक शिल्पतथ्यों में प्रयुक्त कच्चे माल की सुलभता की दृष्टि से पश्चिमोत्तर और सिंधु के मैदान के केंद्र निश्चय ही चोलिस्तान की अपेक्षा बेहतर स्थिति में थे। ये केंद्र अधिक सक्रिय थे और इनमें सीमावर्ती क्षेत्रों से बाहर की दुनिया से जुड़े होने की अधिक संभावनाएं विद्यमान थीं।

यद्यपि पश्चिमोत्तर से प्राप्त साक्ष्य शहरीकरण के उदय के कुछ संकेतक प्रस्तुत करते हैं, तथापि अन्य क्षेत्रों में, जैसे गुजरात में, इसे अपेक्षाकृत सहसा उभर आनेवाला परिवर्तन कहा गया है, जिसके साथ शहरी बस्तियों के आकार में उल्लेखनीय विस्तार हुआ। यह शायद पूर्ववर्ती हड़प्पाइयों के नए क्षेत्रों के संपर्क में आने और इन नए क्षेत्रों के स्वयं को उन लोगों की अपेक्षाओं के अनुरूप ढालने का परिणाम था। संभव है, सतही तौर पर दिखाई देनेवाली एकरूपता के साथ कुछ क्षेत्रीय विशेषताओं के जारी रहने का कारण यही हो। इससे हड़प्पाई भौतिक संस्कृति के प्रसार के लिए भी ज़मीन तैयार हुई होगी, जिसके फलस्वरूप वह अपने काल की सबसे विस्तृत सभ्यता के रूप में सामने आई।

पश्चिमोत्तर भारत में नगरों के विकास को केवल उसके स्थानीय संदर्भ में ही नहीं देखना चाहिए, प्रत्युत उसे पुरातात्विक परिवर्तन और सीमावर्ती क्षेत्रों तथा उनसे बाहर के प्रदेशों में लोगों के संचरण के परिप्रेक्ष्य में भी देखना चाहिए। वस्तुतः पश्चिमोत्तर भारत पहले से ही उन लोगों के संपर्क में था। लेकिन इससे इस संभावना का द्वार बंद नहीं हो जाता कि जिन क्षेत्रों में शहरीकरण की अंतर्निहित शक्ति विद्यमान थी–जैसे कि कच्छ, तटवर्ती गुजरात या चोलिस्तान में–उनमें इस शक्ति का विकास प्रथम शहरीकरण के पीछे-पीछे हुआ होगा। बहावलपुर में गंवेरीवाला के विशाल शहरी ठिकाने की खुदाई अभी होनी है और इन हिस्सों में शहरीकरण की दिशा में बढ़ते चरणों का निर्देश करना अभी शेष है। इसलिए इस सभ्यता को सैंधव सभ्यता या हड़प्पाई संस्कृति कहते रहना अधिक उपयुक्त है, जिनमें से दूसरा नाम प्रारंभिक ठिकाने से निकला है, जो इस सभ्यता के पूर्ववर्ती नगरों में से था।

ताम्रपाषाण

ताम्रपाषाण संस्कृतियों की ख़ास खोज तांबा और कांसा थी, जिससे कच्ची धातु को गलाकर उससे धातु की वस्तुएं बनाने की नई प्रौद्योगिकी का विकास हुआ। कच्चे माल की प्राप्ति के लिए अब दूर-दूर के प्रदेशों की यात्रा करनी पड़ सकती थी, जिसे धातु के उत्पादन के उच्च महत्व के कारण प्रोत्साहन मिला। इसलिए ताम्रपाषाण

संस्कृतियों के तंत्रों का विस्तार हुआ। पत्थर के औज़ारों के प्रयोग का त्याग नहीं किया गया और लघुपाषाणों की कुछ किस्में, जैसे समानांतर किनारोंवाली पत्तियां, आवश्यक उपादानों के रूप में प्रयुक्त होती रहीं। तांबे और कांसे ने एक ओर सुधरी हुई प्रौद्योगिकी का सूत्रपात किया और उधर इसके फलस्वरूप कुछ विशेष क्षेत्रों में शिल्पों में विशेषज्ञता प्राप्त करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। ये क्षेत्र बहुधा ऐसे थे जहां कच्चा माल आसानी से मिल जाता था और इसलिए जहां शिल्पियों का जमाव हो जाता था। धातु प्रौद्योगिकी के समावेश से जीवन पद्धति में कुछ जटिलताएं आईं। उदाहरण के लिए, अब यह तय करना जरूरी हो गया कि नई प्रौद्योगिकी पर नियंत्रण किसका होगा, क्योंकि जो शिल्पतथ्यों का उत्पादन कर रहे थे वे जरूरी तौर पर वही लोग नहीं थे जिनके हाथों में सत्ता थी। जिन ताम्रपाषाण संस्कृतियों में लिपि का भी उपयोग होता है उन्हें कभी-कभी आद्येतिहास कहा जाता है और उनके तथा प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के बीच भेद किया जाता है। प्रागैतिहासिक संस्कृतियां रूप की दृष्टि से पूर्ववर्ती थीं और जिनमें धातु तथा लिपि दोनों अनुपस्थित थीं, जब कांसे के इस्तेमाल के प्रसंग स्पष्ट रूप से बढ़ जाते हैं तब उसे कुछ विद्वान कांस्यकाल की संज्ञा देना अधिक पसंद करते हैं।

प्रथम शहरीकरण—सैंधव सभ्यता के नगर

सैंधव सभ्यता के नगरों में सबसे पहले हड़प्पा (पंजाब) और मोहेंजोदड़ो (सिंधु) में स्थित नगरों की खुदाई की गई और ये आज भी अन्य पूर्वकालीन शहरों की अपेक्षा बड़ी और सबसे महत्त्वपूर्ण शहरी बस्तियां हैं। उत्तरोत्तर अन्य शहरों में भी छोटे-बड़े कइयों की खुदाई की गई है, हालांकि कुछ की आंशिक ही। इनमें कोट दीजी (सिंध), कालीबंगां (राजस्थान), रूपर (पंजाब), राखीगढ़ी, बनवाली, मीताथल (हरियाणा) तथा लोथल और ढोलावीरा के बंदरगाहों एवं सुरकोटड़ा (गुजरात) जैसे ठिकाने शामिल हैं।

बड़े नगर लगभग सौ हेक्टेयर में फैले हुए हैं, और छोटे उसके लगभग आधे क्षेत्रफल में। ऐसी राय जाहिर की गई है कि अगर नगर के परिधिवर्ती फैलावों को शामिल कर लिया जाए तो मोहेंजोदड़ों का विस्तार 200 हेक्टेयर होगा।

अतीत में इस सभ्यता को तीन कालों में विभाजित किया गया है, प्राक्-हड़प्पाई काल (चौथी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध से ले कर 2,600 ई.पू.), परिपक्व हड़प्पाई काल (लगभग 2,600 से 1,900 ई.पू.) और उत्तर हड़प्पाई काल (लगभग 1,750 ई.पू.)। कुछ विद्वान प्राक्-हड़प्पाई के बदले पूर्व हड़प्पाई काल के प्रयोग के पक्ष में हैं, क्योंकि इससे परिपक्व हड़प्पाई काल और उससे पहले के काल के बीच सातत्य की ध्वनि आती है। हाल के अध्ययनों में अन्य वर्णनों का भी प्रयोग किया गया है,

लेकिन अब तक कोई अंतिम आम सहमति नहीं हो पाई है। बोलन क्षेत्र के ठिकानों–मेहरगढ़, पिराक और नौशेरा–का समूह और हड़प्पा की बस्ती इस सभ्यता के प्राक्-शहरी से परिपक्व शहरी दौर और अंत में ह्रासवाले चरण के बीच भरपूर सातत्य दरशाती है।

सैंधव सभ्यता प्राचीन नदी घाटी सभ्यताओं में सबसे विस्तृत थी, जिसके ठिकाने उत्तर में पामीर पर्वतश्रेणी में शोरतूघई तक फैले हुए थे तो सागर पार दक्षिण की ओर अरब प्रायद्वीप में ओमान क्षेत्र में भी उससे जुड़ी हलचलों के प्रमाण मिलते हैं। उसमें पश्चिमोत्तर पर्वतमाला शामिल थी और पूरब में वह ऊपरी दोआब तक फैली हुई थी, यद्यपि उसके वास्तविक नियंत्रण के अधीन आनेवाला क्षेत्र अधिक सीमित रहा होगा। दक्षिण की ओर आधुनिक गुजरात में इस सभ्यता से जुड़ी काफी हलचलें चलती थीं और कुछ बस्तियां तो उत्तरी महाराष्ट्र में भी थीं। जहां तक हड़प्पाई सभ्यता के उत्तरी और पश्चिमोत्तर एवं पूरबी फैलाव का संबंध है, उसके उद्यमी व्यापारी निस्संदेह कीमती कच्चे माल की तलाश में रहते थे। पामीर पर्वतश्रेणी और पूरबी ईरान की चगाई पहाड़ियों में प्राप्त होनेवाला लाजवर्द (लेपिस लजुली) मेसोपोटामिया के साथ चलनेवाले व्यापार के लिए बहुत मूल्यवान था। ओमान की तांबे की खानें उस दिशा में हड़प्पाइयों के आकर्षण का कारण थीं, ख़ास तौर से इसलिए कि उससे और भी पश्चिम की ओर उसकी बहुत मांग थी। मेसोपोटामियाई ठिकानों में कुछ हड़प्पाई मुहरें, मनके और बाट मिले हैं और साथ ही फारस की खाड़ी के ठिकानों में कुछ ऐसी वस्तुएं मिली हैं जिन्हें हड़प्पाई माना गया है। इससे स्पष्ट है कि मेसोपोटामिया के साथ हड़प्पा का व्यापार चलता था। मेसोपोटामिया में मेलुहा के देश और उसके लोगों के उल्लेख मिलते हैं। वे शायद सैंधव सभ्यता का निर्देश करते हों, क्योंकि उस देश के जिन उत्पादों का जिक्र किया गया है उनमें हाथी के दांत, कार्नेलियन, लकड़ी, लाजवर्द और सोना शामिल हैं, जिनमें से सभी सैंधव नगरों में मिलनेवाली वस्तुएं हैं। मेसोपोटामियाई स्रोतों में पूरब दिशा के जिन अन्य स्थानों का उल्लेख हुआ है वे हैं दिलमुन और मकन। पश्चिमी भारत से निकलकर खाड़ी प्रदेशों के समानांतर चलकर दजला और फरात नदियों के मुहाने तक पहुंचनेवाली तटवर्ती जहाजरानी के माध्यम से भारत तथा खाड़ी क्षेत्रों के बीच व्यापार-विनिमय निरंतर चलता रहा है। अफगानिस्तान और ईरान के साथ पश्चिमोत्तर पर्वतमाला के दर्रों से होकर संपर्क बनाए रखा गया। इसमें ख़ास तौर से बोलन घाटी का इस्तेमाल किया जाता था। अन्य समकालीन जन-समाज थे राजस्थान तथा हरियाणा की सोथी-सिसवाल संस्कृतियों और मध्य भारत में कयथा संस्कृति के लोग। मालूम होता है, व्यापार के लिए ऐसे स्थानों में स्थित नगरों को चुना गया था जहां संसाधन उपलब्ध थे और जहां तक नदी या समुद्री मार्ग से माल ले जाया जा सकता था।

हड़प्पाई शिल्पतथ्य या हड़प्पाई शिल्पतथ्यों के रूपों, बनावटों और प्रयोजनों से प्रभावित शिल्पतथ्य एक विस्तृत क्षेत्र में प्राप्त हुए हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उस पूरे क्षेत्र की एक समान संस्कृति और समान आचार-व्यवहार था। जो भिन्नताएं सामने आई हैं उनसे स्पष्ट लगता है स्थानीय संस्कृतियां हड़प्पाई प्रणाली के साए में काम करती थीं और उसी के साए में उन्होंने अपना रूप ग्रहण किया। स्थानीय संस्कृति तथा अधिक विस्तृत व्याप्तिवाली संस्कृति के बीच एक प्रकार का तारतम्य इतिहास के पूरे दौर में इस उपमहाद्वीप की संस्कृति का एक विशिष्ट पहलू रहा है।

नगरों का खाना-खरचा ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादित अधिशेष तथा अन्य विभिन्न क्षेत्रों में संगृहीत या उत्खनित संसाधनों से चलता था। लगता है, यह प्रक्रिया कच्चे माल की प्राप्ति, उससे तैयार माल के निर्माण और तैयार माल के व्यवस्थित व्यापार के समन्वित प्रयत्न का परिणाम थी। निकटवर्ती क्षेत्रों को लें तो राजस्थान और बलूचिस्तान की खानों से तांबा निकाला जाता होगा। नीम-कीमती पत्थर पश्चिमी भारत में प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थे। चगाई पहाड़ियों और पामीर पर्वतों में लाजवर्द मिलता था। इससे मनके बनाए जाते थे, लेकिन कुछ का व्यापार शायद कच्चे माल के रूप में भी किया जाता था। सागवान जैसी लकड़ी गुजरात में मिलती थी और अन्य प्रकार की लकड़ी अन्यत्र मिलती थी। शंख और चेंक समुद्र तट से प्राप्त होते थे, जिनसे गहने बनाए जाते था और भी बहुत-सी वस्तुओं का निर्माण और व्यापार होता था। हड़प्पाई बरतन विलक्षणतायुक्त हैं। उनकी बहुधा लाल सतह पर काले रंग से पौधों, चिड़ियों और काल्पनिक आकृतियों को चित्रित किया गया है। बरतन हड़प्पाई ठिकानों का पता लगाने का सूत्र प्रदान करते हैं, लेकिन यह भी संभव है कि कुछ स्थानीय क्षेत्रों में वे अनुकरण के आधार पर भी बनाए जाते होंगे।

नगर शिल्प द्वारा तैयार की जानेवाली वस्तुओं के उत्पादन के केंद्र थे। इन चीजों का जल और थल दोनों मार्गों से व्यापार किया जाता था। यह अकुशल शिल्पियों का काम नहीं था और इसके लिए भरपूर कौशल और संगठन की आवश्यकता थी। मनके बनाना एक विस्तृत उद्योग था, जिसके लिए सोने, तांबे, सीपों, कीमती पत्थरों, सेलखड़ी, फायंस और हाथी दांत का इस्तेमाल किया जाता था। कांसे और पत्थर के औज़ार मुख्य रूप से उपयोग के लिए होते थे, लेकिन उनमें से कुछ का विनिमय भी किया जाता था। मनकों तथा ऐसी ही दूसरी चीजें बनाने की कार्यशालाएं हड़प्पाई नगरों में स्थित थीं। कार्नेलियन के चिकने मनके हड़प्पा की एक विलक्षणता के रूप में सामने आनेवाले थे। इस प्रकार की कार्यशालाओं की पहचान अकसर ख़ास मात्रा में अर्धनिर्मित वस्तुओं की उपस्थिति से की जाती है। चर्ट के सावधानी से वर्गीकृत बाट हड़प्पाई ठिकानों में मिले हैं। इनके साथ ही मापक दंड भी मिले हैं। इनसे विनिमय से संबंधित प्रयोजनों और परिष्कृत माप-तौल प्रणाली का पता चलता है।

लोथल में एक ऐसी संरचना के साक्ष्य मिले हैं जिसे गोदी बताया गया है, यद्यपि यह पहचान विवादास्पद ही है। उसके निकट एक गोदाम था, जो शायद विनिमय का केंद्र और ऐसा स्थान था जहां शिल्प कार्यशालाओं के तैयार उत्पाद को एकत्रित करके उनका भंडारण किया जाता या और फिर वहां से उन्हें इधर-उधर भेजा जाता था। इसमें संदेह नहीं कि इस उपमहाद्वीप के अंदर उत्तरी तथा पूर्वी क्षेत्रों और बाहर फारस की खाड़ी के क्षेत्र की संस्कृतियों और मेसोपोटामिया के साथ चलनेवाले व्यापार ने सैंधव नगरों को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ स्थिति में रखा।

ये नगर नागरिक आयोजना और संगठन के एक परिष्कृत बोध का परिचय देते हैं। अधिकतर प्रसंगों में नगर दो भागों में बंटा हुआ होता था। एक होता था गढ़ भाग, जो छोटा होता था और अकसर पश्चिम में स्थित होता था। नागरिक जीवन की आवश्यक संस्थाएं अकसर इसी भाग में स्थित होती थीं। साथ ही इसमें शायद सार्वजनिक कर्मकांड के लिए प्रयुक्त स्थान भी होते थे। पूरब में अधिक विस्तृत आवासीय भाग होता था। परवर्ती ऐतिहासिक कालों के नगरों की योजना में इस विभाजन को जारी नहीं रखा गया, यद्यपि नागरिक आयोजना में पेशों को विशिष्ट क्षेत्रों में केंद्रित रखने की प्रवृत्ति एक विशेषता के रूप में कायम रही। हड़प्पाई नगरों में शहरी व्यवस्था और भूमि, श्रम तथा जल का प्रबंध करनेवाली कुशल आर्थिक पद्धति के सुचारु संचालन की ख़ास फिक्र दिखाई देती है।

ईंटों से मनुष्यों द्वारा बनाया गया विशाल चबूतरा गढ़ परिसर की इमारतों की नींव का काम करता था। चबूतरा शायद नगरों को बाढ़ आदि से बचाने के लिए बनाया जाता था, क्योंकि अधिकतर नगर नदियों के किनारे बसे हुए थे, जिसका कारण संभवतः परिवहन की सुविधा की व्यवस्था करना था। इन संरचनाओं से संभवतः नगरों की योजना को दिशा भी मिली होगी। नगर-आयोजना में मोटे तौर पर जाल (ग्रिड) वाली पद्धति का अनुसरण किया जाता था। लगभग पूरब-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण की मुख्य दिशाओं में जानेवाली सड़कें एक-दूसरे को समकोण पर काटती थीं। इससे नागरिक सुविधाएं सुलभ कराने में सहायता मिलती थी, ख़ास तौर से काफी सावधानी से बनाई गई नालियों की प्रणाली के मामले में, जिसमें घर की नालियां सड़कों की नालियों से जुड़ी होती थीं। घरों की योजना में आम तौर पर केंद्र में एक आंगन होता था, जिसके सामने कमरों के दरवाजे खुलते थे। अधिकतर घरों में अपना कुआं, नहाने का स्थान और अपनी नालियां होती थीं। नालियां और महत्वपूर्ण इमारतें मुख्यतः पकी हुई ईंटों से बनी होती थीं, लेकिन घर कच्ची ईंटों से वने होते थे। ईंट की चिनाई में अनुभव और विशेषज्ञता दिखाई देती है। पत्थर का प्रयोग ढोलावीरा में अधिक होता था। पहाड़ियों आदि से तोड़कर पत्थर निकालने, उनकी छंटाई-सफाई और ढुलाई करने में बहुत अधिक श्रम लगता था, इसलिए उसके लिए काफी प्रबंधन की आवश्यकता होती होगी। ढोलावीरा की

नगर-योजना अन्य नगरों से भिन्न थी। प्रबंध तो बहुत विस्तृत किए जाते थे, लेकिन खाद्य पदार्थों के भंडारण के लिए कम और जल के भंडारण के लिए अधिक। नगर के दुर्ग-रक्षित भाग के अंदर बड़े-बड़े जलाशय बनाए जाते थे। हड़प्पाई नगरों की स्थापत्यगत आवश्यकताओं में सर्वेक्षण तथा रेखागणित के ज्ञान का भी समावेश रहा होगा। कृषि के लिए पंचांग बनाना जरूरी था और इसके लिए खगोल-विज्ञान की भी कुछ जानकारी आवश्यक होती होगी।

नगर के गढ़ क्षेत्र में सामान्यतः रक्षा-प्राचीर और बुर्ज होते थे। उनमें विशाल प्रवेश द्वार होते थे, जो निस्संदेह भली भाँति रक्षित होते थे। कभी-कभी नगर किलेबंद भी होता था। चारों ओर के देहाती क्षेत्रों से नगरों को अलग करके रखना क्या प्रारंभिक नगरों के लिए आवश्यक था? एक नई वास्तविकता के रूप में नगर धन-संपत्ति का केंद्र था। गांवों की संपत्ति से नगर की संपत्ति का परिमाण बहुत अधिक था और उसका प्रबंधन भी भिन्न था। नगरों के लिए एक विलक्षण जीवन-पद्धति आवश्यक थी, जिससे गैर-शहरी समाज अपरिचित थे। अन्य समकालीन नगरों की तुलना में हड़प्पाई नगरों में, न तो उनके घरों में और न कब्रों में, कोई बहुत अधिक संपत्ति दिखाई देती है। हाल में एक हड़प्पाई ठिकाने की खुदाई में सोने की कुछ प्रभावोत्पादक चीजें मिली हैं, लेकिन कुल मिलाकर देखें तो गहनों के अवशेष, मसलन मेसोपोटामियाई नगरों की अपेक्षा, कम ही हैं। शहर और देहात के बीच सीमांकन शहरों के प्रबंधन को भी प्रतिबिंबित कर सकता है। कहीं ऐसा तो नहीं था कि कृषि उत्पादन, श्रम और कच्चे मालों पर नियंत्रण का यह तक़ाजा था कि जिनके हाथों में नियंत्रण की सत्ता थी वे संरक्षित रहें? ऐसा नियंत्रण कौटुंबिक संबंधों और कुलगत वफादारियों की अपेक्षा अधिक व्यापक होता होगा। कहने का मतलब यह नहीं है कि नगरों के निवासी कोई पराए लोग थे। इसके विपरीत, इसका मतलब यह है कि अब वे ऐसी सत्ता का प्रयोग कर रहे थे जिसका पहले अस्तित्व नहीं था और इस प्रकार की सत्ता की अवधारणा ही ग्रामीण लोगों को शायद पराई लगती होगी।

प्रत्येक नगर के इर्द-गिर्द के उष्णकटिबंधीय सवाना जंगलों को साफ करना इसलिए आवश्यक हो गया होगा कि शहरी आबादी को खिलाने के लिए कृषि का यथेष्ट विस्तार किया जाए। इसके फलस्वरूप काफी बड़े पैमाने पर निर्वनीकरण हुआ होगा। कालीबंगां के ठिकाने की खुदाई में हड़प्पाई शहरीकरण के ठीक पहले के काल के एक जोते हुए खेत का पता चला, जो नगर की सीमा तक पहुंचता था। गेहूं और जौ मुख्य खाद्य फसलें थे, हालांकि जहां संभव था वहां चावल और मोटे अनाज भी पैदा किए जाते थे। पानी की नालियां, जिनमें से कुछ कतिपय क्षेत्रों में भूमिगत थीं, और नदियों से निकाली गई छोटे पैमाने की नहरें पानी को वहां पहुंचाती थीं जहां उसकी ज़रूरत थी। इनके अनुरक्षण और देख-रेख की ज़रूरत हमेशा रहती

होगी।

गढ़ क्षेत्र की बड़ी इमारतों की अलग-अलग व्याख्याएं की गई हैं। कुछ के अनुसार वे अन्नागार हैं तो कुछ के अनुसार गोदाम और कुछ उन्हें बड़े लोगों का सामूहिक आवास मानते हैं। मोहेंजोदड़ों के तालाब और उसके इर्द-गिर्द की संरचनाओं में से कुछ के कर्मकांड के केंद्र होने की संभावना भी दिखाई देती है। इमारतों के निर्माण के लिए बड़े पैमाने पर संगठित श्रम को नियोजित करने की ज़रूरत पड़ी होगी, और श्रम प्राप्त करने तथा उस पर नियंत्रण रखने के लिए भी उतनी ही प्रभावकारी प्रणाली की आवश्यकता होती होगी। यह सब शायद कर या नजरानों की अपेक्षा नियमित श्रम सेवाओं के माध्यम से किया जाता होगा। इसका क्या रूप होता होगा, यह अनिश्चित है, यद्यपि सत्ता के केंद्रों की तसवीर गढ़ने की कुछ कोशिशें की गई हैं। अधीक्षण और नियंत्रण में व्यवस्था के कई पहलुओं का समावेश था : नगर की आबादी के लिए भोजन का सुनिश्चित प्रबंध करने के लिए कृषि; व्यापार के लिए वस्तुओं का उत्पादन, जैसे तांबे की सिल्लियां और मनके और मुहर लगाने के लिए मुहरें; इमारतें बनाने और नगरों के रख-रखाव के लिए श्रम; और सबसे बढ़कर स्वयं व्यापार का संगठन।

शासक प्राधिकरण के संबंध में पहले यह विचार था कि वह एक ही साम्राज्यीय सत्ता था, जिसकी हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में दो राजधानियां थीं। अब इस विचार का स्थान अन्य विचारों ने ले लिया है। हाल में यह राय जाहिर की गई थी कि सैंधव नगर नगर-राज्य थे, जो ऐतिहासिक काल के 'स्वायत्त' नगरों के आद्य रूप थे, लेकिन पूर्ववर्ती और परवर्ती नगरों की अवधारणा और आयोजना में तात्विक भेदों को देखते हुए यह राय विश्वसनीय नहीं लगती। यदि कालीबंगां की नगर-योजना की तुलना ढोलावीरा या हड़प्पा की योजना से की जाए तो उससे नगरों के अलग-अलग विस्तारों और उनकी सत्ता प्रणालियों के बीच भेद की जो तसवीर उभरती है उसे देखते हुए ऐसा मानना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि नगरों के बीच लचीले संबंध थे। पूर्ववर्ती चरण में कुलों के सरदारों द्वारा शासित नगरोंवाली व्यवस्था का स्थान परिपक्व चरण में ऐसी व्यवस्था ने ले लिया होगा जिसमें नगर प्राधिकरणों के प्रतिनिधि आपस में मिलकर एक समूह के रूप में शासन चलाते होंगे, जिसके बल पर श्रम प्राप्त करने और शहरी क्रियाकलाप में समन्वय स्थापित करने की एक परिष्कृत प्रणाली पर नियंत्रण रखा जा सकता था। मोहेंजोदड़ों की इमारतों तथा अन्य संरचनाओं से जटिल सत्ता प्रणालियों का संकेत मिलता है। ऐसा संभव दिखाई देता है कि विभिन्न क्षेत्रों में एक अधिक केंद्रीकृत प्रशासन को अपनाया गया और अनुकूल सांचे में ढाला गया और यह प्रशासन नगर केंद्रों से तार जोड़े रहता था।

जिस प्रकार के साक्ष्य पश्चिम एशिया के पुरातन राज्यों के संबंध में मिलते

हैं उस प्रकार के साक्ष्य हड़प्पाई राज्य या राज्यों के संदर्भ में विरल ही दिखाई देते हैं। अधिकतर नगरों में विशिष्ट इमारतें एक ही क्षेत्र में केंद्रित हैं और स्थायी मकबरे या स्पष्ट दिखनेवाला धार्मिक केंद्र कहीं नहीं मिलता। कहीं किसी राजमहल के होने का भी संकेत नहीं मिलता। हथियारों की उपलब्धता सीमित ही लगती है। किसी भी स्तर पर अशांतिपूर्ण स्थिति का कोई संकेत नहीं मिलता, जिससे लगे कि युद्ध जैसी किसी कार्रवाई के कारण कोई भौतिक विनाश हुआ। जिन साक्ष्यों से संगठित प्रशासन का समर्थन होता है वैसे साक्ष्य भी—जैसे पदनाम, विधि-संहिता और लेखा आदि—नहीं मिलते। हां, चित्रलिपियों का वाचन संभव हो जाने पर उनमें से कुछ से पदनामों और औपचारिक पदाधिकारियों के बारे में कुछ जानकारी मिल सके तो बात और हैं। संभव है, मुहरें ऐसे अधिकारियों की पहचान के प्रतीक साबित हों।

हड़प्पाई संस्कृति के बहुत सारे अवशेषों में सबसे गुत्थी-भरी मुहरें हैं। वे आम तौर पर छोटी, चपटी, वर्गाकार या आयताकार हैं और अकसर सेलखड़ी (स्टीटाइट) की बनी हुई हैं। उन पर मनुष्य या पशु या दोनों की अथवा सामासिक आकृतियां बनी हुई हैं और कुछ लेख भी अंकित हैं, जो अब तक अवाचित हैं। यदि लिपि, जैसा कि सुझाया गया है, वर्णात्मक नहीं बल्कि चित्रात्मक या शब्द-संकेतात्मक है तो उससे एक से अधिक भाषाओं के प्रयोग का संकेत लिया जा सकता है। जिन संभावित भाषाओं पर विचार किया गया है उनमें आदि-द्राविड़, हिंद-सुमेरियाई, एलम-द्राविड़, हिंद-आर्य और ऑस्ट्रो-एशियाई भाषाओं का समावेश है। इस लिपि से जिन भाषिक पद्धतियों का आभास होता है उनके संदर्भ में आदि-द्राविड़ को ध्यान में रखकर कुछ व्यवस्थित कार्य किया गया है, लेकिन अब तक लिपि के वाचन में सफलता नहीं मिल पाई है। इसका वाचन हिंद-आर्य भाषा के रूप में करने का प्रयत्न तो व्यवस्थित रूप ही नहीं ले पाया है। जो एक बात निश्चित है वह यह कि इन संकेतों को दाईं से बाईं ओर को पढ़ना चाहिए। मुहर की पीठ पर बने एक छेददार उभार के सहारे उसे थामकर उसका उपयोग किया जा सकता है। मिट्टी पर मुहरों की छापों से लगता है कि उनका उपयोग संवेष्टनों को मुहरबंद करने के लिए किया जाता था। इसलिए वे नागरिक प्राधिकारियों, दूर-देशीय व्यापार के प्रमुख प्रबंधकों, व्यापारियों या नगरों के लिए कच्चे माल लानेवालों अथवा कुल-संबंधों की पहचान के प्रतीक हो सकती थीं। पहचान के संकेतों का संबंध पेशों, धार्मिक संघों और सामाजिक संगठनों से हो सकता था। लिपि उन चीजों पर भी अंकित है जिन्हें तांबे के तावीज बताया जाता है। इसके अतिरिक्त, कभी-कभी वह बरतनों, कंगनों आदि पर भी गुदी हुई मिलती हैं। बड़े-बड़े अक्षरों या संकेतों में एक छोटा-सा अभिलेख ढोलावीरा में मिला है, जिसकी पहचान साइनबोर्ड के रूप में की गई है।

मुहरों पर चित्रित कुछ पशु तथा दृश्य भी समान रूप से पेचीदा हैं। सबसे आम वह पशु है जिसे मिथकीय एकश्रृंगी माना गया है, हालांकि उसकी जो एक

ज़्यादा लौकिक पहचान बताई गई है उसके अनुसार वह ख़ास शैली में बनाया गया गैंडा है। उसका चित्रण अकसर एक ऐसी चीज के साथ किया गया है जिसे बहुधा वेदी या यहां तक कि अंगीठी भी बताया जाता है। अकेले चित्रित पशुओं में सांड़ और हाथी लोकप्रिय थे। बाघ को कम ही चित्रित किया गया है और किया भी गया है तो किसी दृश्य के अंग के रूप में। मुहरों पर घोड़े की कोई आकृति नहीं मिलती। पिराक (बलूचिस्तान) के ऊपरी स्तरों पर, जिनका काल दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. का पूर्वार्ध निश्चित किया गया है, कुछ ऐसी अस्थियां मिली हैं जो घोड़े की बताई गई हैं। इनके अलावा छोटी-छोटी मृन्मूर्तियां भी मिली हैं। सुरकोटड़ा और कुछ अन्य ठिकानों के निचले स्तरों पर घोड़े की हड्डियां मिलने के दावे पर शंका व्यक्त की गई है और ये हड्डियां गधे और गोरखर (ओनेगर) की बताई गई हैं। भारत में घोड़े का विलंबित आगमन कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि घोड़ा भारतीय मूल का पशु नहीं है। पश्चिमी एशियाई परिदृश्य पर भी वह दूसरी सहस्राब्दी ई. पू. में ही प्रकट होता है। सैंधव सभ्यता के लिए घोड़ा कर्मकांडी और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से महत्वहीन था।

हड़प्पाई नगरों और अन्य प्राचीन सभ्यताओं के नगरों के बीच एक स्पष्ट अंतर यह है कि हड़प्पाई नगरों में स्पष्ट रूप से धर्म से संबंधित इमारतें और साजो-सामान से युक्त कब्रें देखने को नहीं मिलतीं। अगर मंदिर थे भी तो उन्हें पहचानना कठिन है, क्योंकि न उपास्य जैसी लगनेवाली कोई शानदार मूर्ति मिलती है और न विशेष रूप से सज्जित संरचना। इसलिए सामाजिक संबंध का केंद्र मंदिर नहीं थे। पूर्वजों से संबंधित कर्मकांडों की परंपरा भी अनुपस्थित है क्योंकि जब नगरों का पतन होता था तब लोगों में उन्हें छोड़कर अन्यत्र चले जाने की प्रवृत्ति होती थी। इसलिए नगर शायद धार्मिक उपासना के केंद्र नहीं रहे होंगे। अपेक्षाकृत अधिक पश्चिम की ओर स्थित ठिकानों में प्राप्त नारी लघुप्रतिमाओं को उपास्य मूर्तियों के रूप में देखा गया है और देवीपूजा के चलन की बात कही गई है। यह संभावना अंशतः इस तथ्य पर आधारित है कि परवर्ती भारतीय इतिहास में विभिन्न देवियों की उपासना जारी रही। उर्वरता संबंधी कर्मकांडों पर कुछ ज़ोर स्पष्ट दिखाई देता है, लेकिन ये कर्मकांड विस्तृत अनुष्ठान होते होंगे, यह अनिश्चित है। उपमहाद्वीप की अन्य ताम्रपाषाण संस्कृतियों में उर्वरता से संबंधित कर्मकांडों के चलन को देखते हुए हड़प्पाई संस्कृति में इसका चलन कोई असाधारण बात नहीं होगी। राख से युक्त कुछ छोटी-छोटी संरचनाओं की व्याख्या अग्निवेदी के रूप में की गई है, लेकिन वे चूल्हे भी हो सकते हैं। ओझाई धर्म के अस्तित्व का भी सुझाव दिया गया है, लेकिन इस सभ्यता का नगरीय स्वरूप ऐसे धर्म के अनुकूल रहा होगा, ऐसा नहीं लगता।

कुछ आकृतियां हड़प्पा काल से परवर्ती इतिहास तक जारी रहती हैं—जैसे पीपल। हड़प्पा संस्कृति में उसके पत्तों की आकृतियां बरतनों को सजाने के लिए

और पीपल के पेड़ की आकृतियां मुहरों पर इस्तेमाल की गई हैं। बाद के कुछ धार्मिक संप्रदायों में पीपल की पूजा की जाती थी। एक मुहर पर एक बैठी हुई आकृति दरशाई गई है, जिसके संबंध में बहुत अटकलबाजी की गई है कि वह आद्यशिव तो नहीं है। इस आकृति की पहचान अनिश्चित है और शिव से इसके संबंध का साक्ष्य बहुत घुमावदार। किसी परवर्ती पूज्य प्रतिमा को पूर्ववर्ती काल पर थोप देने का आग्रह करने की अपेक्षा इन आकृतियों के बारे में यह मानना शायद अधिक उपयुक्त होगा कि इन्होंने बाद के धार्मिक मिथकों और उपास्य प्रतिमा-समूह के विकास में योगदान किया। बहुत बाद के काल की किसी प्रतिमा से उधार लिए गए ठप्पे को इस प्रकार की आकृति पर आनन-फानन थोप देने की अपेक्षा खुद उस आकृति के संदर्भ में उसके अर्थ की छानबीन करना शायद अधिक सार्थक होगा। इस आकृति की पहचान यौगिक आसन के चित्रण के रूप में करना भी उतना ही उपयुक्त होगा। इसी तरह कुछ मुहरों में वृक्षों पर दरशाई गई नारी आकृतियों का संबंध अप्सराओं की कल्पना के विकास से जोड़ा जा सकता है, क्योंकि अप्सराएं भी वृक्षों से संबद्ध हैं।

पत्थर और कांसे की मूर्तियां मिली हैं, लेकिन छिटपुट तौर पर, जिससे नहीं लगता कि किसी मंदिर में वे समूह में रखी गई हों। इन मूर्तियों में लक्षित होनेवाला तकनीक और कल्पना का परिष्कार आकर्षक है। कांसे की एक लघुप्रतिमा में एक प्रफुल्लित युवती को अत्यधिक आकर्षक मुद्रा में प्रस्तुत किया गया है। मनुष्य की आवक्ष प्रस्तर प्रतिमाओं (पाट्रेट) में से एक के सिर पर बंधी पट्टी, उसकी शाल पर बनी तिपतिया डिजाइन तथा उसके अर्धोन्मीलित नेत्रों को देखने से लगता है कि वह किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की मूर्ति है। आम तौर पर उसकी व्याख्या किसी पुरोहित के रूप में की जाती है, लेकिन इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है। मृन्मूर्तियों में बच्चों के खिलौनों से लेकर पशुओं की अपेक्षाकृत बड़ी-बड़ी मूर्तियां तक शामिल हैं। अन्य अनेक सभ्यताओं की तरह यहां कोई ऐसी मूर्ति नहीं मिलती जिसके बारे में कहा जा सके कि किसी व्यक्ति ने अपनी कोई भड़कीली मूर्ति बनवाई।

एक और भी ध्यान आकृष्ट करनेवाला अंतर कब्रों के मामले में दिखाई देता है। पश्चिम की ओर पड़नेवाली सभ्यताओं में शासकों की कब्रों में जैसा आडंबर दिखाई देता है वैसा कुछ यहां देखने को नहीं मिलता। कब्रें बहुत सादी हैं। कब्रों में दफनाई गई चीजों में मुख्य रूप से रोजमर्रा के इस्तेमाल के बरतन हैं। जाहिर है, उनकी दृष्टि में मृतकों से पारलौकिक जीवन में बहुत अपेक्षाएं नहीं रखी जाती थीं, और न अंतिम क्रिया प्रतिष्ठा के प्रदर्शन का कोई अवसर मानी जाती थी।

जिसे कब्रिस्तान 'H' संस्कृति की संज्ञा दी गई है और जो मुख्य रूप से हड़प्पा और पंजाब के मैदानों तक सीमित था उसमें पाई गई दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के उत्तरार्ध की हड़प्पोत्तर कब्रों में मिलनेवाले बरतन हड़प्पाई बरतनों से अलग किस्म के हैं।

मतलब यह कि परतवर्ती काल के इन लोगों की संस्कृति के पूर्ववर्ती हड़प्पा संस्कृति के समान न होने पर भी मृतकों को दफनाने का कर्मकांड जारी रहा। इन कब्रों से ऐसा संकेत लिया जा सकता है कि इस क्षेत्र में नए लोग पहुंच गए थे या इस क्षेत्र की संस्कृति में नए लक्षण उभर आए। चंद उपादानों के माध्यम से उपलब्ध इस प्रकार के सांकेतिक संबंध पूर्ववर्ती काल से भी परिलक्षित होते हैं, यद्यपि शिल्प-तथ्यों में फर्क था। उदाहरण के लिए बोलन घाटी और हिंद-ईरानी क्षेत्र में तथा उससे भी आगे अफगानिस्तान और ईरान में उस क्षेत्र में प्राप्त शिल्प-तथ्यों के बीच संवंध सुझाए गए हैं जिसे अब बैक्ट्रिया-मर्जियाना पुरातात्विक इलका कहा जाता है।

किसी समय इन नगरों के पतन का कारण आर्यों के आक्रमण को माना जाता था। लेकिन ऐसे किसी भारी आक्रमण का कोई पुरातात्विक साक्ष्य नहीं मिलता जिसके फलस्वरूप एक सुप्रतिष्ठित राजनीतिक और आर्थिक तंत्र भंग हो जाता और उसकी जननी संस्कृति बिखर जाती, यद्यपि आक्रमण के सिद्धांत की अस्वीकृति से इस बात की संभावना समाप्त नहीं हो जाती कि आगंतुक भारत में हिंद-आर्य भाषा ले आए। आक्रमण का समर्थन करनेवाला तर्क वैदिक साहित्य में प्रतिबिंबित बाद की उस संस्कृति पर आधारित है जो एक ऐसी भाषा—हिंद-आर्य भाषा—का प्रयोग करती थी जिसका संवंध मध्य एशियाई भारोपीय भाषा, विशेषत: पुरातन ईरानी से था। उत्तर भारत में यह भाषा फैल गई, इस बात को हिंद-आर्य भाषा-भाषी लोगों द्वारा स्थानीय आवादी को जीत लेने का परिणाम माना गया और इसके साक्ष्य के तौर पर ऋग्वेद में वर्णित दासों के प्रति आर्यों की शत्रुता का हवाला दिया गया। पुरों पर, अर्थात् दासों की घेराबंद वस्तियों पर इंद्र के आक्रमण के उल्लेख का गलत वाचन सैंधव सभ्यता के नगरों के उल्लेख के रूप में किया गया। लेकिन भारत में हिंद-आर्य भाषा के समावेश और उत्तरी भारत में उसके क्रमिक प्रचार की वैकल्पिक व्याख्याएं भी हैं। इन व्याख्याओं का संबंध न तो एक ऐतिहासिक व्याख्या के रूप में आक्रमण के नितांत सरलीकृत सिद्धांत से है और न कुछ उत्साही लोगों द्वारा यह सिद्ध करने के लिए किए जा रहे वर्तमान प्रयत्नों से है कि हिंद-आर्य भाषा-भाषी इस देश के मूल निवासी थे, यद्यपि जैसा कि हम देखेंगे, साक्ष्य इससे उलटी स्थिति का संकेत देते हैं। इसके विपरीत इन व्याख्याओं का संबंध शहरी ह्रास, अलग-अलग भाषाओं एवं संस्कृतियों के सह-अस्तित्व तथा छोटे-छोटे समूहों में किए गए देशांतरणों के माध्यम से हिंद-आर्य भाषा-भाषियों के क्रमिक रूप से उत्तरी भारत में फैल जाने के ऐतिहासिक संदर्भ से है।

मोहेंजोदड़ो के निवास-क्षेत्रों में प्राप्त अस्थियों की व्याख्या पहले नागरिकों की सामूहिक हत्या के संकेतक के रूप में की जा रही थी, जिससे आक्रमण के सिद्धांत की पुष्टि होती थी। लेकिन अस्थियों के विश्लेषणों से पता चला कि इनमें से

अधिकतर लोग नितांत रक्तक्षीणता जैसे रोगों से भरे थे, जिससे शहरों के पतन के कुछ और प्रकार के कारणों का ही संकेत मिलता है। किसी सीमित क्षेत्र में हिंसाजनित मृत्यु का अर्थ आवश्यक तौर पर व्यापक आक्रमण ही नहीं होगा, उसका मतलब स्थानीय अशांति भी हो सकता है। आबादी को कमज़ोर करनेवाले कारकों के रूप में रोगों और परिवेशगत तीव्र परिवर्तनों पर प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में पर्याप्त विचार नहीं किया गया है।

नगरों के पतन के जो अन्य कारण बताए जाते हैं उनमें से एक है पर्यावरणीय परिवर्तन, जैसे मोहेंजोदड़ो के आसपास के इलाकों का सिंधु नदी की बाढ़ के पानी में लंबे समय तक डूबा रहना। जलवायुगत परिवर्तन को भी कारण माना जाता है, जिससे क्षेत्र में और अधिक शुष्कता आई और उसका निर्वनीकरण हुआ। इसके अतिरिक्त, व्यापारिक आवश्यकताओं के क्रमिक ह्रास और तज्जनित राजनीतिक बिखराव के साथ शहरों का पतन और भी आम हो गया। पर्यावरण-क्षय से कहां तक नगरों का ह्रास हुआ, यह स्पष्ट नहीं है। शहरों का पतन किसी एक कारण से नहीं होता, बल्कि उसके अनेक कारण होते हैं और सभी कारण सब पर समान रूप से लागू नहीं होते। यह बात शहरों के पतन के बाद उभरनेवाली विविध पद्धतियों से भी स्पष्ट है। देहाती इलाकों से आकर लोग सिंधु के निचले बहाववाले मैदान के कुछ नगरों पर काबिज हो गए, जिससे शहरी प्रणाली का देहातीकरण हो गया। अन्यत्र लोगों ने हड़प्पाई केंद्रों से देशांतरण किया–जैसे कि हकरा मैदान से गंगा–यमुना दोआब की ओर या गुजरात से उत्तरी महाराष्ट्र की ओर देशांतरण हुआ। पश्चिमोत्तर तथा पंजाब की कुछ बस्तियों को हमलों और मुडभेड़ों का सामना करना पड़ा होगा। इस तरह की घटनाओं का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है या इनके साक्ष्य कभी-कभी कुछ ठिकानों से भी मिल जाते हैं, जैसे कोट दीजी से।

नगरों के पतन का मतलब यह नहीं था कि हड़प्पाई सांस्कृतिक पद्धति विलुप्त हो गई। बहुत-से शहरी कार्यकलाप तो बंद हो गए होंगे, लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों ने थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ अपनी हलचलें जारी रखी होंगी। हड़प्पाई प्रणाली एक ऐसा तंत्र थी जो शहरी क्षेत्रों को ग्रामीण क्षेत्रों से जोड़ती थी, और उसकी कुछ विशेषताएं ग्रामीण क्षेत्रों में कायम रही होंगी, भले ही इस रक्षात्मक प्रणाली के हट जाने से इन क्षेत्रों को प्रशासनिक तथा आर्थिक दृष्टि से नुकसान उठाना पड़ा हो। कुछ पुरातात्विक संस्कृतियां देश और काल की दृष्टि से हड़प्पाई संस्कृति के सातत्य में थीं। कुछ अन्य स्थानों में उत्तर हड़प्पाई संस्कृति तथा परवर्ती संस्कृतियों के तत्व एक-दूसरे के क्षेत्रों का अतिक्रमण करते थे। इसलिए सातत्य अप्रत्याशित नहीं होंगे, लेकिन यह अधिक संभाव्य प्रतीत होता है कि सातत्य मिथकशास्त्रों, कर्मकांडों और परंपरा की अवधारणाओं तक सीमित रहे हों, क्योंकि भौतिक संस्कृति में सातत्य नहीं दिखाई देते।

दूसरी सहस्त्राब्दी ई.पू. में भारत-ईरान सीमा-क्षेत्रों में भी कुछ विशेष हलचलें हुईं। पश्चिमोत्तर भारत में घोड़े और अरेदार पहियोंवाले रथों का प्रवेश हुआ, जिनमें से दोनों इस उपमहाद्वीप के लिए नए थे। इन सीमा-क्षेत्रों के आर-पार आने-जाने के थोड़े-बहुत चलनेवाले सिलसिले में तेजी आनेवाली थी। यह स्थिति बहुत हाल तक बनी रही।

पश्चिमोत्तर से इतर नवपाषाण और ताम्रपाषण संस्कृतियां

पश्चिमोत्तर में एक शहरी संस्कृति के विकसित होने के फलस्वरूप सभी प्राक्-शहरी समाज न तो उसमें समा गए और न मिट गए। आसपास के समाज तो हड़प्पाई व्यवस्था में अवश्य समाहित हो गए, लेकिन तब भी बड़ी संख्या में ऐसे आखेटक-खाद्य-संग्राहक, पशुचारक और कृषक अपनी जगह कायम रहे जिनका जीवन पश्चिमोत्तर भारत में कुछ परिवर्तनों से या तो अछूता रहा या बहुत मामूली तौर पर प्रभावित हुआ। अब परिवर्तन की संभावनाएं ताम्रपाषाण संस्कृतियों में निहित थीं, जो पत्थर और धातु—मुख्य रूप से तांबे—के शिल्पतथ्यों का प्रयोग कर रही थीं और प्रथम सहस्त्राब्दी ई.पू. के प्रारंभ में लोहे का उपयोग आरंभ होने से पहले तक वैसा ही करती रहीं।

दूसरी-पहली सहस्त्राब्दी ई.पू. के ताम्रपाषाण समाजों का उदय उपमहाद्वीप के अनेक भागों में हुआ, जिन्होंने कुछ प्रसंगों में पूर्ववर्ती नवपाषाण समाजों को अपने अंदर समाविष्ट कर लिया। बुर्जाहोम और गुफकराल (कश्मीर) के ठिकानों का काल तीसरी-दूसरी सहस्त्राब्दी ई.पू. में पड़ता है। इनमें गर्त्त आवास देखने को मिलते हैं, जो उस पठार की नरम, भूरी मिट्टी को काटकर बनाए जाते थे। कार्नेलियन के मनकों और बरतनों पर एक सींगवाले पशु के चित्रण के साक्ष्यों को सैंधव सभ्यता से संबंध का प्रमाण माना गया है। इसका मतलब जरूरी तौर पर दोनों के बीच प्रत्यक्ष संबंध ही नहीं है, क्योंकि शिल्प-तथ्य विनिमय-शृंखला के माध्यम से भी पहुंच सकते थे। पत्थर पर उकेरी गई एक आकृति में शिकार का दृश्य चित्रित किया गया है। अनाज की फसलें काटने के लगभग हंसिए के आकार के पत्थर के औज़ारों और मध्य एशिया के इस प्रयोजन से बनाए औज़ारों के बीच समानताएं देखी गई हैं, लेकिन इससे आगे दोनों के बीच कोई संबंध नहीं सिद्ध नहीं किया जा सका है। इन ठिकानों में और भारत में अन्यत्र भी झोंपड़ों के अंदर कब्रें मिलती हैं और कभी-कभी उनमें मृत व्यक्ति के साथ कोई जानवर भी—जैसे कुत्ता—दफनाया गया होता है। बुर्जाहोम में सीधे खड़े लंबे, बड़े पत्थर या मेनहिर भी मिलते हैं। अल्मोड़ा (उत्तरांचल) की पहाड़ियों में मिले ठिकानों में भी इससे कुछ समानताएं दिखाई देती हैं। इससे और भी उत्तर की ओर स्वात घाटी में गंधार कब्र संस्कृति की बस्तियां दूसरी सहस्त्राब्दी

ई.पू. के उत्तरार्ध में घोड़े से परिचित हो चुकी थीं, और उनमें प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के आरंभ से लोहे के हथियारों के प्रयोग के साक्ष्य भी मिलते हैं। स्वात घाटी पश्चिमोत्तर भारत को अफगानिस्तान और मध्य एशिया से जोड़नेवाले मार्गों में से थी।

गांगेय मैदान की ओर हम सहज ही अधिक बस्तियां देखने की आशा से दृष्टिपात करते हैं, क्योंकि यही दूसरे शहरीकरण का क्षेत्र बननेवाला था। मैदान के पश्चिमी और पूरबी हिस्सों में संस्कृतियों का अलग-अलग क्रम देखने को मिलता है। पश्चिमी मैदान में सबसे आरंभिक संस्कृति गैरिक मृद्भांड (ऑकर कलर पॉटरी) संस्कृति है, जो जल-विभाजक क्षेत्र में भी मिली है। इस संस्कृति के साक्ष्य अतरंजीखेरा, लालकिला और हुलास की खुदाइयों में मिले हैं। इस मृद्भांड का संबंध पहले हड़प्पा के घटिया किस्म के मृद्भांड से दिखलाया गया था, लेकिन हुलास के पूर्ववर्ती स्तरों पर उत्तर हड़प्पाई अवशेषों के कुछ साक्ष्य मिलने के बावजूद यह संबंध बहुत घुमावदार लगता है। हरियाणा और पंजाब के कुछ ठिकानों में उत्तर हड़प्पाई मृद्भांड और बाद की चित्रित धूसर मृद्भांड (पेंटेड ग्रे वेअर) संस्कृति के लोगों के मृद्भांड के बीच पारस्परिक अतिक्रमण की स्थिति दिखाई देती है। इससे लगता है कि चित्रित धूसर मृद्भांड प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. से कुछ पहले बनाए जाने लगे थे। चित्रित धूसर मृद्भांड के परवर्ती चरण का संबंध लोहे के इस्तेमाल से है। इस साक्ष्य का शायद सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इससे इस क्षेत्र में हड़प्पाई सोच के बहुत मामूली सातत्य का साक्ष्य मिलता है, यद्यपि पश्चिमी गांगेय मैदान की संस्कृतियों में हड़प्पाई शिल्प-तथ्यों से कोई समानता दिखाई नहीं देती। तथापि इन संस्कृतियों के लिए शहरी केंद्रों की कल्पना अपरिचित ही रही, क्योंकि उसकी पूर्वशर्तें इनमें अनुपस्थित थीं।

फिर भी, मालूम होता है, संबंध का सिलसिला आगे और पूरब की ओर भी पहुंचा। भालों की नोकों, कांटेदार बर्छियों, छेनियों (सेल्टों), नोकदार तलवारों और मानववत मानी जानेवाली आकृतियों जैसी तांबे की बनी वस्तुएं इस क्षेत्र में समूहों में गड़ी हुई मिली हैं। ये प्रभावोत्पादक तकनीकी कुशलता का परिचय देती हैं। कभी-कभी वे गहरी खुदाई के क्रम में किसी स्तर पर मिली हैं, लेकिन सामान्यत: क्षैतिज खुराइयों में मैदानों में मिली हैं। छोटा नागपुर और उससे भी पूरब के क्षेत्रों में प्राप्त दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. की ऐसी ही चीजों के साथ भी संबंध बताया गया है।

चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति, पहली सहस्राब्दी ई.पू. में गांगेय मैदान की प्रधान संस्कृति थी। इसके कुछ ठिकाने हड़प्पोत्तर संदर्भ के साथ हकरा के मैदान में स्थित थे। इसका फैलाव सिंधु-गंगा जल-विभाजक से लेकर गंगा-यमुना के संगम तक था। इस संस्कृति की धातु प्रौद्योगिकी में लोहे का आरंभिक उपयोग शामिल है। लौह प्रौद्योगिकी का पूर्णतर विकास गांगेय मैदान के शहरीकरण के पूर्व और शहरीकरण के दौरान

(सामान्यतः प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. का मध्य) हुआ। अन्य अनेक लौह युगीन संस्कृतियों की तरह यहां भी आरंभ में लोहे का इस्तेमाल हथियारों के लिए किया जाता था, लेकिन धीरे-धीरे अन्य वस्तुओं के लिए भी, मुख्य रूप से घरेलू वस्तुओं के लिए, इसका उपयोग होने लगा। खेतिहर समुदायों के रूप में वे गेहूं और जौ की खेती करते थे, हालांकि कुछ चावल भी मिला और पशु-पालन के भी साक्ष्य मिलते हैं। पशुओं से दुग्धोत्पादों के अतिरिक्त अन्य आहार भी मिलते थे। इसका प्रमाण यह है कि घरों के चूल्हों के निकट पशुओं की कटी हुई हड्डियों के अवशेष मिले हैं, जो यह संकेत देते हैं कि वे लोग मांस खाते थे। महत्वपूर्ण चित्रित धूसर मृद्भांड बस्तियों में रोपड़ (पंजाब), भगवानपुरा (हरियाणा), अतरंजीखेरा, हस्तिनापुर, अहिच्छत्र और जखेरा (उत्तर प्रदेश) शामिल हैं।

मध्य गांगेय मैदान के दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के कुछ ठिकाने पहली सहस्राब्दी ई.पू. में अधिक स्पष्ट रूप में सामने आते हैं–जैसे पिपरहवा और गनवरिया (जो और भी आगे चलकर बौद्ध धर्म से संबद्ध हुए), सोहगौरा, नरहन और खैराडीह। मिर्जापुर से दक्षिण मिलनेवाले ठिकानों के समूह का मूल इस बात में ढूंढ़ा जा सकता है कि सोन घाटी इनकी पहुंच के अंदर थी और यहां से दक्षिण की ओर रास्ता जाता था। इलाहाबाद से दक्षिण बेलन घाटी की बस्तियों में चावल के दाने मिले हैं, और कुछ विद्वानों ने यह दावा किया है कि यहां के लोग छठी सहस्राब्दी ई. पू. में ही चावल पैदा करना सीख गए थे। लेकिन इस पर आपत्ति की गई है, और इस महत्वपूर्ण प्रगति के लिए बाद के काल के पक्ष में राय जाहिर की गई है। कोलडिहवा और चोपानी-मांडो में पौधों और पशुओं को पालतू बनाने के प्रमाण मिलते हैं। गांगेय मैदान में बस्तियों का सिलसिला तीसरी-दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. में आरंभ हो गया था, जिनमें से कुछ का सूत्रपात नवपाषाण ठिकानों के रूप में हुआ था–जैसे गंगा और सरयू के संगम पर चिरांद का, जो ईसवी सन् के आरंभिक दौर तक महत्वपूर्ण रहा। डाल-पत्तों से बनाए झोंपड़ों में कार्यात्मक शिल्प-तथ्य प्राप्त हुए, जिनमें पालिशदार पत्थर की कुल्हाड़ियां, लघुपाषाण, हड्डियों के औज़ार, अनाज कूटने के लिए मूसल और सिल और मृन्मूर्तिकाएं–ख़ास तौर से सांड़ की मृन्मूर्तिकाएं–शामिल हैं। बाद के चरण में तांबे के शिल्पतथ्य मिलते हैं तथा और भी आगे चलकर लोहे की वस्तुएं भी मिलती हैं। चिरांद से हमें गांगेय मैदान में संस्कृति के विकास के संबंध में उपयोगी जानकारी मिलती है।

गांगेय मैदान के शहरी केंद्रों की एक विलक्षण विशेषता उत्तरी कृष्ण या पालिशदार भांड थी। इस भांड का उद्‌गम स्थान भी यही क्षेत्र है। ऐसा माना जाता है कि इसका विकास लोहे को गलाने के लिए प्रयुक्त उच्च-ताप ज्वलन तकनीकों और स्थानीय लाल मिट्टी के उपयोग से हुआ। विलासिता भांड के रूप में इसके विस्तृत वितरण से इस उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में विनिमय और व्यापार के

सिलसिले का पता लगाने में सहायता मिलती है।

और भी पूरब की ओर चलें तो बंगाल में ताम्र-पाषाण ठिकाने भागीरथी से पश्चिम की घाटियों में, विशेष रूप से दामोदर और अजय घाटियों में, केंद्रित दिखाई देते हैं, जिसका कारण शायद यह है कि छोटा नागपुर के ताम्रोत्पादक क्षेत्रों में वहां से आसानी से पहुंचा जा सकता था। पांडु राजार ढीबी, महिषादल और मंगलकोट जैसे कुछ ठिकानों की शुरुआत नवपाषाण ठिकानों के रूप में हुई लेकिन धीरे-धीरे वे धातु का इस्तेमाल करने लगे। आबादीवाले क्षेत्रों में कब्रें भी मिली हैं। और भी पूरब में असमी नवपाषाण में दावजली हाडिंग जैसे ठिकाने तथा गारो पहाड़ियों एवं कछार क्षेत्र में अन्य ठिकाने मिले हैं। नवपाषाण ठिकाने उड़ीसा में कुचाई और गोलबै शासनों तथा मणिपुर में भी मिले हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया और पूर्वी एशिया के साथ इनके संबंध के संकेत तो दिए गए हैं, लेकिन अभी और छानबीन का इंतजार है। हड़प्पाई संस्कृति और इन क्षेत्रों की नवपाषाण संस्कृतियों के बीच शिल्प-तथ्यों में—जैसे कुल्हाड़ियों और हँसियों और इस्तेमाल किए जानेवाले पत्थर (जैसे संगयशब का जेडाइट) तथा डोरी-खांचा मृद्भांड (कॉर्ड-इंप्रेस्ड पॉटरी) के मामले में—समानताएं देखी गई हैं।

हड़प्पाई ठिकानों और दक्षिणी राजस्थान के आहर, गुलिंद और बालाथल ठिकानों के बीच कुछ अप्रत्यक्ष संबंध शायद रहे हों, क्योंकि इन ठिकानों में हड़प्पाई मनके मिले हैं। निकट ही अरावली पहाड़ियों में कच्चा तांबा मिलने के कारण बसावट को प्रोत्साहन मिला और तांबे का खनन किया जाने लगा। गुजरात, राजस्थान, दोआब की सीमाओं, मध्य गांगेय मैदान, बल्कि बंगाल के कुछ हिस्सों तक फैली एक मृद्भांड तकनीक दृष्टिगोचर हुई है, जो उन दोरंगे मृद्भांडों के रूप में प्रतिफलित हुई जिन्हें कृष्ण-लाल (ब्लैक-एंड-रेड) मृद्भांड की संज्ञा दी गई है। यह किसी एक और समान संस्कृति का मृद्भांड नहीं था और न यह इन ठिकानों का एकमात्र मृद्भांड था, हालांकि अकसर इसकी प्रधानता होती थी। इस मृद्भांड के सबसे आरंभिक काल, अलग-अलग क्षेत्र के अनुसार, दूसरी से लेकर पहली सहस्राब्दी ई. पू. तक पड़ते हैं।

मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र के ठिकानों में कभी-कभी कार्नेलियन और लाजवर्द के मनके मिले हैं। इनसे भी उत्तर हड़प्पाइयों के साथ कुछ संबंध का संकेत मिलता है। कयथा और नवदाटोली के दोनों बड़े ठिकानों से, जिनका काल और भी पीछे जाता है, किसी हद तक जटिल जीवन का आभास होता है। नवदाटोली के सामने नर्मदा के दूसरे किनारे पर माहेश्वर है। संभव है, ये दोनों उस नदी को पार करने के घाट रहे हों। नर्मदा नदी के बांध पूरा किए जाने से पहले मध्य प्रदेश में पुरातात्विक अवशेषों को बचाने का जो कार्य किया गया उससे ऐसे ठिकानों के साक्ष्य मिले हैं जिनमें प्रभावोत्पादक ताम्रपाषाण स्तर सामने आए हैं—जैसे सबतपुर, पीठनगर और

मंदसौर में। इनमें से कुछ तो मालवा संस्कृति से संबंधित हैं और कुछ एक ऐसे मार्ग पर स्थित प्रतीत होते हैं जो होशंगाबाद क्षेत्र से होकर दक्षिण की ओर जाता था। बाद के काल में यह मार्ग काफी महत्वपूर्ण हो जाता है।

उत्तरी महाराष्ट्र में दैमाबाद में प्राप्त कांसे की चार वस्तुएं हैरतअंगेज और प्रभावोत्पादक हैं। इनमें से एक में एक आदमी बैलों की एक जोड़ी को हांक रहा है। बाकी तीन में से प्रत्येक में पहियों पर खड़ा एक गैंडा, एक भैंसा और एक हाथी दिखाया गया है। किसी ताम्रपाषाण ठिकाने के लिए ये असामान्य मूर्तियां हैं। यदि शैली की पहचान स्वीकार कर ली जाए तो इसे गुजरात के माध्यम से हड़प्पाई संपर्क का सूचक माना जा सकता है। इस प्रकार के संपर्क जोखे (महाराष्ट्र) के ताम्रपाषाण ठिकाने के संबंध में भी सुझाए गए हैं। इस ठिकाने में तांबा गलाने और तांबे की चीजें बनाने का काम बहुत अच्छी तरह चलता दिखाई देता है। उतना ही दिलचस्प इनामगांव (महाराष्ट्र) का ताम्रपाषाण ठिकाना भी है। इसका काल दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. माना गया है। इस ठिकाने की विस्तृत खुदाई की गई। समझा जाता है कि यह एक सरदारतंत्र का केंद्र था।

इनामगांव के लोग खेती और पुश-पालन दोनों करते थे। आम तौर पर जौ और ज्वार जैसे मोटे अनाजों की खेती की जाती थी और फसलें बदल-बदलकर बोई जाती थीं। खेती सिर्फ वर्षा पर निर्भर नहीं थी, क्योंकि पानी रोकने के लिए बांध बनाने का भी साक्ष्य मिलता है। डाल-पत्तों से बनाए गए गोल या वर्गाकार झोंपड़ों से बने गांव मिट्टी की दीवार से घिरे होते थे। यह दीवार ऐसी तो नहीं थी कि पड़ोसी गांवों के हमलों को रोक सके लेकिन हिंसक पशुओं को रोकने में समर्थ रही होगी और ऐसे पशु निकटवर्ती जंगलों में भरपूर होते होंगे। एक कलश पर चित्रित दृश्य में हिंसक पशुओं की उपस्थिति दर्ज की गई है। नारी लघु-मृन्मूर्तियां भी मिलीं। विचित्र बात है कि उनमें से कुछ शिर-विहीन हैं, लेकिन वे उन्नत वक्षों से युक्त हैं, जिससे उनका कर्मकांडी और प्रतीकात्मक महत्व रेखांकित होता है। ऐसी कुछ मृन्मूर्तियां मिट्टी के पात्रों में रखी हुई हैं। स्त्रियों की तुलना में पुरुष मूर्तियां कम हैं। मृतकों को मुख्य रूप से दफनाया जाता था और बहुधा झोंपड़े के फर्श के अंदर ही। साथ में कुछ वस्तुएं भी रख दी जाती थीं। बच्चों को भांडों में रखकर दफनाया जाता था। अजीब लगनेवाली बात यह है कि वयस्कों की कुछ कब्रों में देखा गया है कि मृतक के पैर जानबूझकर काट दिए गए हैं। विदर्भ (महाराष्ट्र) क्षेत्र में जूनापानी और महुरझरी जैसे स्थानों में पाई गई कब्रों से मालूम होता है कि कभी-कभी मृतकों को एक-के-ऊपर-एक रखकर भी दफनाया जाता था। इन कब्रों में मृतकों के साथ कृष्ण-लाल मृद्‌भांड, घोड़े के साजों के हिस्से तथा तांबे और लोहे की चीजें भी रखी हुई मिली हैं। इनका संबंध और भी दक्षिण की ओर की महापाषाण कब्रों से दिखाई देता है।

गोदावरी, कृष्णा, तुंगभद्रा, पेन्नार और कावेरी की नदी घाटियों में कृषक समुदाय तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. में ही बस चुके थे। कृष्णा और तुंगभद्रा के बीच स्थित रायचूर दोआब आकर्षण का एक केंद्र बन जाता है। हल्लूर, कुपगल, मस्की (कर्नाटक) और नागार्जुन कोंड (आंध्र प्रदेश) में कृषक समुदाय उपस्थित थे। अर्ध-शुष्क क्षेत्र पशु-पालक गांवों के लिए उपयुक्त थे और समझा जाता है कि पिकलीहल (कर्नाटक), उटनूर (आंध्र प्रदेश) और कुपगल में राख के वड़े-बड़े ढूह गोबर जलाने से बने थे। बूडीहल (आंध्र प्रदेश) एक पशुपालक गांव था, जहां एक वधशाला का भी पता लगा है। भेड़ें और बकरियां भी पाली जाती थीं, और बाद में भैंसें भी पाली जाने लगीं। मोटे अनाजों की विस्तृत खेती होती थी और वाद में नीचे पड़नेवाले नमीवाले क्षेत्रों में चावल की खेती भी की जाने लगी। आरंभ में इन संस्कृतियों में धातु का इस्तेमाल नहीं किया जाता था और ये अपना काम पत्थर के शिल्प-तथ्यों से ही चलाती थीं। उनमें से कुछ का प्रयोग पालिश और घिसाई करने के लिए किया जाता था और जो अधिक परिष्कृत किस्म के थे उनका प्रयोग तेज धारोंवाले औज़ारों के रूप में। हाथ के बने बरतनों का स्थान धीरे-धीरे अधिक उन्नत चाक पर बने बरतनों ने ले लिया।

दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के अंतिम दौर में तांबे और कांसे के शिल्प-तथ्यों के कुछ सीमित साक्ष्य मिलने लगते हैं। आगे पैयमपल्लि (तमिलनाडु में स्थित एक पूर्ववर्ती नवपाषाण ठिकाना) हल्लूर और टी. नरसीपुर में इन साक्ष्यों में वृद्धि होती है, और कांसे और तांबे की चीजें, मनके, लघु मृन्मूर्तियां और चाक पर गढ़े गए बरतन अधिक मात्रा में मिलने लगते हैं। कर्नाटक के संगनकल्लु ठिकाने में भी इसी प्रकार की स्थिति सामने आती है। इनमें से कुछ महापाषाण कब्रों के स्थान हैं। हल्लूर और कुमारनहल्लि में लोहे के ज़्यादा पहले से इस्तेमाल किए जाने के साक्ष्य मिलते हैं। ये ठिकाने दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के उत्तरार्ध के हैं।

ताम्रपाषाण संस्कृतियों के अध्ययन से कुछ समान विशेषताएं उभरती हैं। किसी बस्ती और उसके परिवेश के बीच का नजदीकी संबंध अब पुरातत्व का एक प्रतिष्ठित परिप्रेक्ष्य बन जाता है। इनमें से कुछ बस्तियों में स्थान-विशेष और क्षेत्र के बीच पारस्परिक अंतर्क्रिया की जो प्रवृत्ति दिखाई देती है वह वाद के ऐतिहासिक परिवर्तन की एक महत्वपूर्ण विशेषता बन जाती है। प्रारंभिक बस्तियों की छाप अपरिवर्तित रूप में जारी नहीं रही, लेकिन फिर भी यह पारस्परिक अंतर्क्रिया एक महत्वपूर्ण विशेषता बनी रहती है।

किसी गांव के संगठन के लिए या उससे ऊपर किसी समूह के अंदर पड़नेवाले गांवों के सोपान के संगठन के लिए किसी-न-किसी प्रकार के प्राधिकरण और नियंत्रण के नियमों की आवश्यकता थी। इसका विकास शायद सामाजिक सोपानीकरण से हुआ होगा। परिवार कुलों में समूहबद्ध हो जाते होंगे, जो एक सोपान

का अनुपालन करते होंगे या किसी सरदार या वयोवृद्धों के माध्यम से सत्ता का कम से कम एक आभास बनाए रखते होंगे। राजनीतिक और सामाजिक संरचना टोलियों की संरचना की अपेक्षा बहुत जटिल होती होगी। सरदारतंत्र के लिए केवल अधिशेष खाद्य पदार्थ ही आवश्यक नहीं होता होगा बल्कि जो कुछ उत्पादित किया जाता होगा उस पर चंद परिवारों का नियंत्रण भी जरूरी होता होगा और सरदार को कुल से एक अलग हैसियत प्रदान की जाती होगी। मनकों जैसी विलासिता की वस्तुओं और कुछ किस्मों के प्रतीकात्मक छुरों आदि पर कब्जे को ऐसे परिवारों की प्रतिष्ठा का उपादान माना जाता होगा। उनकी सत्ता के स्रोत हथियारों पर उनका अधिकार, सोपान को कायम रखने की उनकी सामर्थ्य, संसाधनों के आवंटन पर उनका नियंत्रण और कर्मकांड के माध्यम से प्रतिष्ठित उनके दावे होते होंगे।

नारी लघुप्रतिमाओं की पूजा कई प्रकार से ध्यान देने योग्य है। उसका न केवल हड़प्पा की नारी लघुप्रतिमाओं से साम्य है, बल्कि वह परवर्ती इतिहास में नारी के उपास्य रूपों और देवियों की पूजा का बीजरूप है। लेकिन इसे मातृसत्तात्मक प्रणाली के प्रचलन का सूचक नहीं मानना चाहिए। मातृसत्तात्मक समाज सिर-विहीन नारी आकृतियों का अनुमोदन नहीं कर सकता था, भले ही वे आकृतियां पूजित ही क्यों न रही हों। अलबत्ता, उससे बाद के काल की अपेक्षा नारी की अधिक सामाजिक उपस्थिति अवश्य सूचित होती है और संभव है कि यह उपस्थिति आम तौर पर अधिक प्रभावपूर्ण भी रही हो।

मृतकों को झोंपड़े के अंदर दफनाना विचित्र-सा लगता है, हालांकि कई क्षेत्रों में ऐसा दिखाई देता है। क्या यह परिवार की प्रतिष्ठा का द्योतक था, जो इस तरह के दफन को उस प्रतिष्ठा का दावा मानता था? या कि यह मृतकों को परिवार के निकट रखने का प्रयत्न था? यह एक ऐसी भावना थी जो हमें कुछ अन्य समाजों में भी देखने को मिलती है और जिसका संकेत यहां मृतक के पैर काट दिए जाने से मिलता है। या कि इसके पीछे यह भय काम करता था कि जंगली जानवर कब्रों को क्षति पहुंचाएंगे, क्योंकि मृतकों को ताबूतों में रखकर नहीं दफनाया जाता था?

महापाषाण कब्रें

पहली सहस्राब्दी ई.पू. में मृतकों को दफनाने के तरीके में नाटकीय परिवर्तन हुआ। कब्रों के लिए निवास-कुटीरों से अलग ख़ास हलके तय किए जाने लगे। यही महापाषाण ठिकाने हैं, जिनमें विविध प्रकार के महापाषाणिक चिह्नक मिलते हैं। ये ठिकाने मुख्य रूप से प्रायद्वीप में पड़ते हैं और इसलिए उसे एक विशिष्ट सांस्कृतिक चरण प्रदान करते हैं। कुछ ठिकाने 1000 ई.पू. या उससे भी कुछ पहले तक जाते हैं। यह एक विवादास्पद प्रश्न रहा कि महापाषाण किसी स्पष्ट रूप से

भिन्न प्रकार की सांस्कृतिक पद्धति की विशेषता हैं या मात्र मृतकों को दफनाने का एक तरीका हैं, जो ताम्रपाषाण क्रियाकलाप के अंग के रूप में पहली सहस्राब्दी ई. पू. में अपनाया गया। जिनका संबंध इन कब्रों से स्थापित हो सके, बस्तियों के ऐसे ठिकानों की कमी के कारण फैसला कम निश्चयात्मक हो जाता है। तथापि उनमें एक अलग प्रकार की संस्कृति की पहचान करने का प्रयत्न किया गया। यहां तक कहा गया कि चूंकि उनका संबंध घोड़े से था, इसलिए वे प्रायद्वीप में बस जानेवाले हिंद-आर्य भाषा-भाषी लोग रहे होंगे। लेकिन ऐसी पहचानों को कोई समर्थन नहीं मिला है। फिर भी महापाषाणिक कब्रों का फैलाव और उनके रूप ध्यान देने योग्य हैं।

महापाषाणिक कब्रें विविध रूपों ओर शैलियों की हैं। उनमें एक ओर यदि अकेले खड़े पत्थर शामिल हैं तो दूसरी ओर चट्टान काटकर बनाई गई कक्षिकाएं। बलूचिस्तान और मकरान तथा विंध्य क्षेत्र और प्रायद्वीप के विभिन्न भागों में एक-के-ऊपर-एक रखे गए पत्थरों के ढेर या छल्लियां मिली हैं। कब्रों के अन्य संकेतक वे थे जिनमें कोई एक ही बहुत बड़ा पत्थर चिह्नक या मेनहिर के रूप में खड़ा कर दिया गया था। इसी प्रकार के चिह्नकों से महापाषाण (मेगा + लिथोज़) शब्द निकला है। एक अन्य किस्म वह थी जिसमें कई बड़े पत्थर एक तरतीब से रख दिए जाते थे। इसे डोलमेन कहते हैं। इनके अलावा एक किस्म पत्थरों के घड़ौंदे की शक्ल की थी, जिसमें कब्र की खाई के ऊपर दो या अधिक खड़े पत्थरों के ऊपर एक पत्थर क्षैतिज रूप से रख दिया जाता था। खाई के अंदर अकसर पत्थर की ताबूतनुमा कब्रें हैं। इसमें बहुधा पत्थरों से चिह्नित एक वृत्त होता था, जिससे खाई घिरी हुई होती थी। उस खाई के अंदर एक ताबूत होता था, जो अस्थियां और कब्र की अन्य वस्तुएं रखने के लिए पत्थर के पटियों से बना हुआ एक आयताकार बक्सा होता था। कभी-कभी बगल की पटियों में से किसी एक में एक गोल छेद भी होता है। इससे लगता है कि कब्र कक्षिका का उपयोग अनेक बार किया जाता था। इन कब्रों की अधिक शैलियां और रूप हमारा ध्यान प्रायद्वीप में आकृष्ट करते हैं, जहां ये बड़ी संख्या में बिखरे मिलते हैं। ताबूत में आम तौर पर शव रखने का भांड होता है। इन सबसे भी अधिक तड़क-भड़क केरल की गुफा कब्रों में देखने को मिलती है। ये गुफा कब्रें पश्चिमी घाट की चट्टान काटकर बनाई गई हैं। कब्रों के रूप की विविधता से लगता है कि महापाषाणिक कब्रें किसी एक संस्कृति की द्योतक नहीं हैं, बल्कि उनसे ऐसी बस्तियों का आभास होता है जिनकी सांस्कृतिक आदतों में अवधारणाओं की समानता थी लेकिन जिनका रूप एक नहीं था। नर्मदा से दक्षिण की प्रायद्वीपीय कब्रों—जैसे हल्लूर, पिकलीहल, ब्रह्मगिरि, मस्की (कर्नाटक) नागार्जुनकोंड (आंध्र प्रदेश) और आदि चन्नालूर (तमिलनाडु) के ठिकानों की कब्रों—के विशिष्ट रूप गैर-भारतीय संस्कृतियों की कब्रों से मिलते-जुलते हैं, लेकिन

उनके मूल किसी हद तक अस्पष्ट हैं। यह संभव दिखाई देता है कि उनका विकास प्रायद्वीप की पूर्ववर्ती नवपाषाण और ताम्रपाषाण संस्कृतियों से हुआ हो और उनमें रूपों की दृष्टि से कुछ बाहरी दखल भी रहा हो। ब्रह्मगिरि में महापाषाणिक वस्तुओं के साथ एक निवास ठिकाना मिला है। वनवासी कबीलों के बीच प्रचलित रिवाजों से भी सादृश्य बताए गए हैं। उनमें से कई के पास सरना या विशेष रूप से सुरक्षित क्षेत्र होते हैं, जिनमें दफनाए गए लोगों की स्मृति में बड़े-बड़े पत्थर लंब की स्थिति में खड़े कर दिए जाते हैं। यह रिवाज आज भी जारी है। इसी प्रकार की महापाषाणिक कब्रें श्रीलंका में भी मिलती हैं, जिनका काल भी लगभग यहां की महापाषाण कब्रोंवाला ही है। इससे दक्षिण भारत के साथ उनके संबंध का आभास होता है। कब्र उपादानों में मुख्य रूप से कृष्ण-लाल भांड, लोहे की चीजें-जैसे फावड़े और हंसियां-छोटे हथियार और घोड़े के साज शामिल होते थे।

क्या इन वस्तुओं को अब अनावश्यक मानकर मृतक के साथ जानबूझकर दफना दिया जाता था या इन्हें ऐसी वस्तुएं मानकर दफनाया जाता था जो मृतक के लिए उसके मरणोपरांत जीवन में सहायक हो सकती थीं? अगर कब्रों के ठिकाने कर्मकांड के केंद्र थे तो क्या यह पूर्वज-पूजा थी? भांडों पर दिखाई देनेवाली कुछ आकृतियां हड़प्पाई लिपि से मिलती-जुलती हैं, जिससे पहचान का एक और भी आयाम सामने आता है। इन स्मारकों से संबंधित समुदाय शायद मोटे अनाजों और चावल की खेती पर, जिसमें कुछ क्षेत्रीय अंतर होते होंगे, और पालतू मवेशी, भेड़ों और बकरियों पर निर्भर रहे होंगे।

महापाषाण कब्रों से मिली चीजें प्ररूपों की दृष्टि से अकसर समान हैं-जैसे कि लोहे की चीजें। इससे यह सवाल उठता है कि किसी ख़ास स्थान से उभरनेवाले लोहार पूरे प्रायद्वीप तक पहुंचते थे या विनिमय का कोई विस्तृत तंत्र कायम था। स्पष्ट ही लोहे की वस्तुएं बनाकर लोहार एक महत्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध कर रहा था, और इन चीजों की गुणवत्ता की दृष्टि से देखें तो अवश्य ही अपने काम में उसे विशेष कुशलता प्राप्त रही होगी। घोड़े की उपस्थिति से विनिमय-तंत्र के बहुत विस्तृत होने का आभास होता है, जो घोड़ों के आपूर्तिकर्ताओं को उत्तरी और पश्चिमी भारत से खींच लाता था। इससे इस विचार का अनुमोदन होगा कि विनिमय पर नियंत्रण कुलों के मुखियों का होता होगा और बहुत संभव लगता है कि इन पाषाण चिह्नकों के नीचे वही लोग दफनाए जाते होंगे। कब्रों से प्रतिष्ठा का संबंध लगातार जारी दिखाई देता है।

लोहे के उपादानों से इन कब्रों का संबंध और इनके रूपों की विविधता सहज ही ध्यान आकृष्ट करती है। चिह्नक आम तौर पर उपजाऊ ज़मीनों के निकट मिलते हैं। हो सकता है, उन ज़मीनों में तालाबों में भंडारित जल से सिंचाई की जाती हो। अगर ऐसा रहा हो तो उसका मतलब यह होगा कि तालाबों के निर्माता

सहकारी प्रयत्न करते होंगे। वस्तुतः तो ऐसे प्रयत्न की आवश्यकता बड़ी-बड़ी कब्रें बनाने के लिए होती होगी। तथापि पुरातात्विक दृष्टि से महापाषाण स्मारकों से जुड़ी बस्तियां विरल ही हैं। यदि कब्रों के लिए निर्दिष्ट क्षेत्र का संबंध प्रतिष्ठा और सातत्य दोनों से था तो अपेक्षित यही रहा होगा कि वह बस्तियों से दूर हो। प्रतिष्ठावाली बात की पुष्टि इस बात से भी होती है कि कुछ ठिकानों में ऊपरी सतहों पर रोमन साम्राज्य के प्रारंभिक दौर के सिक्के मिले हैं, जिससे यह भी पता चलता है कि इन ठिकानों का कालांत ईसवी सन् के आरंभ के आसपास पड़ेगा। सिक्के की उपस्थिति पुरातात्विक साक्ष्य को ऐतिहासिक साक्ष्य से जोड़ती है। इससे इस बात का भी आभास होता है कि स्थानीय समाज कितने विस्तृत विनिमय-तंत्र से जुड़े हुए थे।

पाठगत साक्ष्यों पर आने से पहले पुरातात्विक साक्ष्यों के इस नितांत संक्षिप्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में, ख़ास कर दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. और पहली सहस्राब्दी ई.पू. के पूर्वार्ध के दौरान, अनेक जीवंत संस्कृतियां उपस्थित थीं। इन संस्कृतियों के स्वरूप से यह भी साबित होता है कि बाद के काल के लिए पाठगत किस्म के चाहे जो भी समकालीन प्रलेख उपलब्ध हों, पुरातात्विक सामग्री को ऐतिहासिक दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहिए। इससे इस विचार का भी खंडन होता है कि पूर्वकाल में आदिम ढंग की संस्कृतियां यत्र-तत्र बिखरी हुई थीं, जिन्हें श्रेष्ठतर संस्कृति ने हाशिए पर धकेलकर केंद्र में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लिया। आगे की प्रमुख संस्कृतियों के इतिहास का रूप सातत्यों और उत्खनित साक्ष्यों द्वारा रेखांकित सहायिकाओं से भी निर्धारित हुआ है। जिसे कभी-कभी दूसरा शहरीकरण कहा जाता है उसका क्षेत्र सैंधव मैदान के बदले गंगा का मैदान बन जाता है। गांगेय मैदान के संदर्भ में उस प्रक्रिया को किंचित् गहराई में जाकर देखा जा सकता है जिसके फलस्वरूप राज्यों की संरचना हुई और शहरों का उदय। इस प्रक्रिया के चरणों का निर्देश करने के लिए हमें साहित्यिक साक्ष्य भी उपलब्ध हैं। लेकिन अधिक तफसीलों से युक्त साहित्यिक साक्ष्य शहरी व्यवस्था के परिपक्व काल से ही संबंधित हैं, और यहां पुरातात्विक साक्ष्यों को सुलझाने का काम साहित्यिक साक्ष्यों को करना है। आशा करनी चाहिए कि गांगेय मैदान के ठिकानों की और खुदाई की जाएगी, ख़ास तौर से क्षैतिज खुदाई, क्योंकि ऐसी खुदाई से ही वे साक्ष्य मिलेंगे जिनके आधार पर परिवर्तन की प्रक्रिया देखी जा सकती है। गांगेय मैदान के नगरों का स्वरूप और उनकी योजना सैंधव सभ्यता के नगरों से काफी भिन्न थी। इसका कुछ कारण तो परिवेशगत भिन्नताएं थीं, लेकिन साथ ही इन नगरों के आर्थिक कार्य-व्यापार तथा राजनीतिक भूमिकाएं भी महत्वपूर्ण कारण थीं।

अध्याय : चार

सरदारतंत्रों और राजतंत्रों की ओर

लगभग *1200-600* ई.पू.

आरंभ से संबंधित विवरण

सैंधव सभ्यता के बाद के काल के वर्णन इतिहास के आरंभ का वर्णन माने जाते हैं, क्योंकि वे पाठगत स्रोतों पर आधारित हैं। औरों की तरह इस आरंभ की तसवीर भी पुरातात्विक तथा पाठगत सामग्री के ही आधार पर गढ़ी जाती है, लेकिन इन दोनों को व्यवस्थित रीति से एक-दूसरे में गूंथना बहुत कठिन काम है। पुरातत्व से विविध प्रकार की अनेक संस्कृतियों के अस्तित्व का पता चलता है, जिनमें से अधिकांश ताम्रपाषाणिक हैं। इनमें से कुछ तो परस्पर अंतर्संबद्ध हैं और कुछ एक-दूसरे के अगल-बगल में स्थित। दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के उत्तरार्ध और पहली के पूर्वार्ध की भौतिक संस्कृति के साक्ष्य अपेक्षाकृत स्पष्ट हैं और कभी-कभी इनका उपयोग पाठों के वर्णनों के लिए प्रति-साक्ष्यों के रूप में भी किया जा सकता है। परेशानी तब पैदा होती है जब पाठों में उल्लिखित समूहों के साथ इन संस्कृतियों का संबंध दिखलाने की कोशिश की जाती है। और पाठ अनेक प्रकार के हैं, जिनके वर्णन एक-दूसरे से भिन्न हैं और जिनमें निर्दिष्ट तिथियां भी अलग-अलग हैं, लेकिन सबको आरंभ के वर्णन से ही संबंधित माना जाता है। जो पाठ वैदिक साहित्य के घटक बने और इसी काल के थे उनकी शुरुआत आनुश्रुतिक परंपरा के रूप में हुई, जिसे पूरी शुद्धता के साथ कंठस्थ कर लेना होता था। कई सदी बाद इन पाठों को लिखित रूप दिया गया। अतीत का वर्णन करने का दावा करनेवाले अन्य पाठों की शुरुआत भी आनुश्रुतिक परंपरा के रूप में ही हुई। इनमें *रामायण*और *महाभारत* महाकाव्य तथा पुराणमुख्य हैं। इन्हें अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता के साथ कंठस्थ किया जाता था और समय-समय पर इनमें कुछ नए हिस्से जोड़ भी दिए जाते थे। इन्हें अपने वर्तमान रूप में पहली सहस्राब्दी ई.पू. के आरंभ में लिपिबद्ध किया गया।

पुराण अपेक्षाकृत बाद के काल के धार्मिक संप्रदायों से संबंधित साहित्य थे,

लेकिन उनमें से कुछ पहले के पुराणों में अतीत की उनकी कल्पना का वर्णन था। प्रलेखों के रूप में वे वैदिक साहित्य के बाद के हैं। महाकाव्य भी बाद के हैं, लेकिन वेदों से भिन्न, अतीत के संबंध में उनकी अपनी एक सुपरिभाषित अवधारणा है। इसलिए वेदों के संसार में प्रवेश करने से पूर्व भारतीय सभ्यता के मूलों की उनकी समझ को उद्धृत करना दिलचस्प हो सकता है। पुराणों की कम-से-कम एक समेकित दृष्टि है और यद्यपि वह इतिहास के रूप में स्वीकार्य नहीं है तथापि वह इस संबंध में कुछ उपयोगी परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती है कि पहली सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य में अतीत को किस दृष्टि से देखा जाता था।

भारतीय इतिहास के आरंभ की कथा बतानेवाले पौराणिक विवरण मुख्य रूप से एक सुविदित विषय के विविध रूप हैं। ये विवरण, उदाहरणार्थ, *विष्णुपुराण* और *मत्स्यपुराण* में मिलते हैं। विवरण यह है कि पृथ्वी पर मनु शासन करते थे। पहला मनु स्वयंभू था, जो सीधे ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ था। सातवें मनु के काल में महाप्रलय हुआ और पूरी सृष्टि जलमग्न हो गई। भगवान विष्णु ने मनु को इस प्लावन की चेतावनी दे दी थी और उससे अपने परिवार और सात आदि ऋषियों की रक्षा के लिए एक नौका बनाने को कह दिया था। विष्णु ने एक विशाल मछली का रूप धारण कर लिया। नौका उसके सींग में बांध दी गई, जिसे मछली ने एक पहाड़ की चोटी तक पहुंचा दिया। पानी घटने तक मनु यहीं रुका रहा, जिसके बाद ही वे सब अपने घर सुरक्षित लौट पाए। मनु की संतानें अनेक वंशों के पूर्वज हुईं। बाद के राजा अभिजात्य की तलाश के क्रम में इन्हीं में से किसी को अपना पूर्वज बताने लगे। कथा के कुछ रूपों के अनुसार, मनु का ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु सूर्यवंश का पूर्वज था और कनिष्ठ संतान इला चंद्रवंश की पूर्वजा थी। कुछ विवरणों में इला को उभयलिंगी भी बताया गया है।

इन पाठों के अनुसार, महाप्लावन हजारों वर्ष पहले हुआ था। वर्णन में वह काल का एक बड़ा पड़ाव है। पीढ़ियों का अनुक्रम वंशावलियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह अनुक्रम अखंडित है। जो पद्धति अपनाई गई है उससे अतीत का अविच्छिन्न वर्णन करने के प्रयत्न का आभास होता है। परिणति का एक बिंदु कुरुक्षेत्र का युद्ध है, जिसका वर्णन *महाभारत*में हुआ है। *महाभारत*काल का एक और पड़ाव है, जिसके बाद वर्तमान युगचक्र अर्थात् कलियुग आरंभ हो जाता है। इसकी तिथि ग्रहों की स्थिति के रूप में दी गई है। कई सदी बाद खगोल वैज्ञानिक प्रयोजनों से, शायद आर्यभट्ट द्वारा, इसकी गणना की गई तो जो तिथि आई वह 3102 ई.पू. में पड़ती है। लगता है, कलियुग की तिथि *महाभारत* की तिथि पर आरोपित हो गई, क्योंकि 3102 ई.पू. ऐसे युद्ध के लिए अत्यधिक पूर्व का काल होगा और ऐतिहासिक साक्ष्य से, जिससे परवर्ती तिथि निर्दिष्ट होती है, मेल नहीं खाएगा। युद्ध के बाद के वर्णन में ऐतिहासिक काल के राजवंशों का वृत्तांत दिया

गया है। राजवंशों और उनके राजाओं का सूचीकरण विवरण को प्रथम सहस्राब्दी ई. के मध्य तक ले आता है। पुराणों का वर्णन यहीं आकर समाप्त हो जाता है और इसे प्रारंभिक पुराणों की रचना की अंतिम तिथि माना जाता है।

ऐसे पारंपरिक विवरणों का संकलन और लेखन उन घटनाओं के सदियों बाद संपन्न हुआ जिनको प्रलेखबद्ध करने का वे दावा करते हैं। जब तक पौराणिक वंशावलीय परंपरा पर सूतों का एकाधिकार था तब तक वह आनुश्रुतिक रही। जब उस परंपरा का उपयोग बाद के काल के राजाओं के वैधीकरण के लिए किया जाने लगा तब उसमें उलटफेर किया गया, उसे संकलित और संपादित किया गया और सद्यः संदर्भ के लिए लिपिबद्ध कर दिया गया। इसलिए उसमें अतीत की परवर्ती दृष्टि समाविष्ट है। ऐसी अन्य सभी परंपराओं की तरह इसे भी अक्षरशः स्वीकार नहीं किया जा सकता। पुराणों के ये भाग पूर्ण रूप से मिथकीय नहीं हैं, क्योंकि उनमें ऐतिहासिक राजवंशों के कुछ उल्लेख और संदर्भ हैं। लेकिन इनके तथ्यात्मक इतिहास होने के दावों का उपयोग सोच-समझकर करना चाहिए—कुछ अन्य पाठगत सामग्री की तुलना में अधिक सोच-समझकर ही। ऐसे पाठ रचनाकार, तिथि, प्रक्षेपणों और प्रामाणिकता के संबंध में अनेक ऐतिहासिक समस्याएं उपस्थित करते हैं। वंशावलीय विभागों की प्रामाणिकता का पता लगाना कठिन है, क्योंकि अन्य स्रोतों में कुछ ही नाम मिलते हैं और विभिन्न पाठों की वंशावलियों में सारभूत अंतर हैं। हम जानते हैं कि वंशावलियों को आवश्यकतानुसार फैला या सिकोड़ दिया जाता है और उनमें आख्यान भी गूंथ दिए जाते हैं।

मनु मानव शब्द की व्युत्पत्ति का मूल है। प्रथम राजा पृथु ने जंगलों को साफ करवाया और कृषि तथा पशु-पालन आरंभ करवाया, इस मिथक में उन प्रारंभिक बस्तियों की छवि उभरती है जिनका परिचय पुरातत्व से भी मिलता है। अपनी तमाम तफसीलों के साथ महाप्लावन की कथा हमें सहज ही इससे पूर्व के मेसोपोटामियाई आख्यान का स्मरण कराती है, जिस पर हिब्रू लोगों की नूह की नौका की कथा भी आधारित हैं। संभव है, भारतीय स्रोतों में उसका प्रवेश हड़प्पाई परंपराओं से हुआ हो और हड़प्पाइयों ने उसे मेसोपोटामिया से ग्रहण किया हो। जब पुराणों को अंतिम रूप से संशोधित और संपादित कर दिया गया, तब राज-परिवारों ने अपना मूल सूर्यवंश और चंद्रवंश में तलाशना शुरू कर दिया और स्वभावतः इन परिवारों को उन हस्तियों से जोड़ने का प्रयत्न किया गया जिन्हें सबसे प्रारंभिक राजा माना जाता था।

पुराणों और महाकाव्यों के बीच संबंध यह है कि मनु की संतानों की वंश-परंपरा उन नायकों और कुलों तक पहुंचती है जो महाकाव्यों के पात्र हैं। अनिवार्यतः इस प्रकार के और भी वर्णन मिलते हैं, जो शायद एक ही स्रोत से उधार लिए गए हों। जब वर्णनात्मक साहित्य का अनुरक्षण आरंभ में आनुश्रुतिक परंपरा

के माध्यम से होता है तब अकसर उसका निर्माण अलग-अलग सूतों द्वारा विरचित अंशों के योग से होता है। इसीलिए उसके किसी एक की रचना होने की बात पर इतना ज़ोर दिया जाता है, भले ही पाठ इतना लंबा क्यों न हो कि किसी एक रचनाकार के बूते से बाहर की चीज हो। इससे उसमें बराबर प्रक्षेपण करते रहने की भी गुंजाइश होती है, जिस कारण से रचना को कोई एक तिथि दे पाना कठिन हो जाता है। महाकाव्य साहित्य इतिहास नहीं होता, लेकिन वह भी अतीत को देखने का एक नजरिया अवश्य होता है। परवर्ती काल पूर्ववर्ती काल की ओर एक प्रकार के अतीत-मोह से ग्रस्त होकर निहारता है और उसका चित्रण उन आदर्शों तथा कार्यकलाप के परिप्रेक्ष्य में करता है जो अब तिरोहित हो रहे हैं। इन वर्णनों में निहित सामाजिक मान्यताएं इतिहासकार के काम की चीज होती हैं, भले ही वर्णित घटनाएं काल्पनिक हों।

*महाभारत*ने चंद्रवंश के कई खंडों को कथा में पिरो दिया और उसके आख्यान मुख्य रूप से उन समाजों की कथा थे जो कुल और वंश संगठन की पद्धति से संबद्ध थे। राजाओं के राज्यों के प्रशासन की जटिलताओं के उल्लेख बाद में जोड़े गए अंश होंगे। *रामायण*अधिक स्पष्ट रूप से राजतंत्र का अनुमोदन है और उसका संबंध सूर्यवंश से है। दोनों में से प्रत्येक महाकाव्य में ऐसे समाज भी दिखाई देते हैं जो राजतंत्र नहीं है। इसलिए महाकाव्य हमें उस चीज की झांकी देते हैं जो तिरोहित हो रही थी या जो राजत्व से भिन्न थी। प्रत्येक का संबंध ऐसी घटनाओं से है जिनकी तिथियां तय करना कठिन है, क्योंकि बहुत-से अवतरण मूल रचना के बहुत बाद जोड़ दिए गए। आज हमें उनके जो पाठरूप उपलब्ध हैं उनका काल आम तौर पर पहली सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य और पहली सहस्राब्दी ई. के मध्य के बीच बताया जाता है। इसलिए उन्हें किसी सुपरिभाषित छोटे काल के अध्ययन के प्रामाणिक स्रोत नहीं माना जा सकता। अतएव इतिहासकारों ने 'महाकाव्य काल' की अवधारणा का त्याग कर दिया है। महाकाव्यों की घटनाओं की, जिनका स्वरूप अलग-अलग सूतों द्वारा वर्णित अंशोंवाला होगा, कुछ ऐतिहासिक प्रामाणिकता हो सकती है, बशर्ते कि उन्हें सच सिद्ध करने के लिए समर्थक साक्ष्य प्राप्त हों। इसलिए महाकाव्यों में वर्णित घटनाओं के साथ पुरातात्विक सामग्री के तार जोड़ने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। इसका एक उदाहरण हस्तिनापुर की बाढ़ है, जिसका प्रमाण पुरातत्व से मिलता है और जिसका उल्लेख *महाभारत*में है। इसके आधार पर *महाभारत* का काल 900 ई.पू. के आसपास बताया जा रहा है। लेकिन ऐसे संबंध निर्दिष्ट करना बहुत जटिल प्रक्रिया है क्योंकि कालानुक्रम तथा स्थान असाध्य समस्याएं उपस्थित करते हैं। महाकाव्यों की काव्यात्मक कल्पनाएं अपने-आपमें आकर्षक हैं, लेकिन काव्यात्मक कल्पना ऐतिहासिक प्रामाणिकता की सहचरी नहीं होती।

आज *महाभारत*जिस रूप में हमें उपलब्ध है उस रूप में वह सबसे लंबे प्रबंध

काव्यों में से है। मुख्य कार्रवाई उस चीज के इर्द-गिर्द घूमती है जो कौरवों और पांडवों की स्पर्धा के रूप में प्रसिद्ध हुई। इसका परिवेश दिल्ली के आसपास का उपजाऊ और रणनीतिक महत्व का क्षेत्र है। कौरव धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे और उनकी राजधानी हस्तिनापुर थी। पांडु के पांच पुत्र पांडव उनके चचेरे भाई थे। बड़े भाई धृतराष्ट्र के अंधा होने के कारण पांडु को राजा बनाया गया था। पांडु की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार का प्रश्न उठा तो कौरवों ने बड़े भाई के पुत्र होने के कारण सिंहासन पर अधिकार जताया। पांडवों का पक्ष यह था कि उनका बड़ा भाई युधिष्ठिर कौरवों और पांडवों में सबसे बड़ा और इसलिए सिंहासन का हकदार था। भाइयों के बीच संघर्ष टालने के लिए धृतराष्ट्र ने आधा राज्य पांडवों को दे दिया, जो इंद्रप्रस्थ (दिल्ली के आसपास) से राज करने लगे। लेकिन इस व्यवस्था से असंतुष्ट कौरवों ने पांडवों को द्यूतक्रीड़ा के लिए चुनौती दी, जिसमें पांडव अपनी संयुक्त पत्नी के साथ सारा राजपाट हार गए। परंतु एक समझौते के तहत अपने राज्य और पत्नी पर इस शर्त पर हक रखने दिया गया कि वे पत्नी के साथ तेरह वर्ष का वनवास भोगें। जब अवधि पूरी करके वे लौटे तो कौरवों ने उनका राज्य लौटाने से इनकार कर दिया और निर्णय का एकमात्र रास्ता युद्ध रह गया। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में वे अठारह दिन लड़ते रहे, जिसमें अधिकांश कौरवों सहित अनेक कुल नष्ट हो गए। तत्पश्चात् अनेक वर्षों तक राज करने के बाद पांडव हिमालय की ओर देवलोक को चले गए।

*महाभारत*का परिवेश कुलतंत्री समाजों का है–ख़ासकर यादवों के संदर्भ में। पांडवों के मित्र और परामर्शदाता के रूप में यादव सरदार कृष्ण का प्रवेश कथा-सूत्र में बार-बार होता है। कौरव और पांडव पूरु के तथा यादव उसके बड़े भाई यदु के वंशज बताए गए हैं। इसलिए दोनों में दूर का कौटुंबिक संबंध था। *महाभारत*का भौगोलिक परिदृश्य मुख्य रूप से गंगा-यमुना दोआब और पड़ोसी क्षेत्र हैं, जहां कौरव और पांडव निवास करते थे। इसका एक और भी परिदृश्य गुजरात राज्य का सौराष्ट्र क्षेत्र हैं, जहां यादवों का आधार था। प्रसंगवश इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि हड़प्पाई नगरों के पतन के बाद जिन क्षेत्रों में अधिक हलचलें दिखाई देती हैं उनमें ये दो भी हैं।

संभव है, *महाभारत*मूलतः किसी अपेक्षाकृत अधिक स्थानीय संघर्ष का वर्णन रहा हो, लेकिन उसने सूतों की कल्पनाशक्ति को जाग्रत कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने लगभग उन सभी कुलों और जनों को इस कथासूत्र में पिरो दिया और उन्हें इस महायुद्ध में भागीदारों के रूप में पेश कर दिया। इस युद्ध के प्रतीक-तत्व की एक व्याख्या यह हो सकती है इसके साथ ही कुल-आधारित समाजों का अवसान हो गया, क्योंकि युद्ध के बाद के समाज राजतंत्रों का समर्थन करते दिखाई देते हैं।

लेकिन सभी महाकाव्यों की तरह इसमें भी बार-बार जोड़े गए अवतरणों के

कारण अर्थ की परत-दर-परतें हैं। परंपरा से इसके रचयिता व्यास माने जाते हैं, जो कथा-सूत्र में अनेक गूढ़ भूमिकाएं भी निभाते हैं, लेकिन यह किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं है। अब यह मात्र संघर्ष और युद्ध की ही कथा नहीं रह गया है, बल्कि इसमें अनेक प्रकरण जुड़ गए हैं (जिनमें से कुछ मुख्य कथा से असंबद्ध हैं) और इसमें तरह-तरह के प्रक्षेपण किए गए हैं, जिनमें से कुछ तो अपने-आपमें काफी प्रसिद्ध हैं–जैसे *भगवद्गीता*। जिन्हें महाकाव्य और कूट-महाकाव्य कहा गया है, उनके बीच या जिन्हें वर्णनात्मक अंश (जो अधिक पुराने माने जाते हैं) और उपदेशात्मक अंश कहा गया है (जो बाद में जोड़े गए) उनके बीच भेद किया जाता है। लेकिन यह भेद भी हमेशा कोई विश्वसनीय कालानुक्रमिक विभाजन का काम नहीं करता।

*रामायण*में भी बाद में अंश जोड़े गए हैं, फिर भी वह *महाभारत*से बहुत छोटी है। इसका दृश्य और भी पूरब का, मध्य गांगेय मैदान और विंध्य वनों का है। मूल पाठ कवि वाल्मीकि की रचना माना जाता है, जिन्होंने शायद सूतों द्वारा टुकड़ों में की गईं रचनाओं को एक ऐसे काव्य में पिरो दिया जो प्रारंभिक संस्कृत साहित्य का एक नमूना बन गया। इस कथा के खंडों के जो सादृश्य अन्य आख्यान साहित्य में, जैसे बौद्ध जातकों में, मिलते हैं उनसे इस अनुमान की पुष्टि होती है। *रामायण* की भाषा अधिक परिष्कृत है और इसकी अवधारणाएं *महाभारत*में प्रतिबिंबित समाजों से बाद के समाजों से अधिक निकट हैं, यद्यपि पारंपरिक रूप से इसे *महाभारत*से पहले की रचना माना जाता है। इसे प्रथम सजग साहित्यिक रचना–आदिकाव्य–भी माना जाता है।

कोसल-राज के उत्तराधिकारी राम विदेह-राज की पुत्री सीता से विवाह करते हैं। राम की विमाता अपने पुत्र को युवराज बनाना चाहती थी, सो उसने सफल षड्यंत्र करके राम को चौदह वर्ष का वनवास दिला दिया। अपनी पत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मण के साथ प्रायद्वीपीय भारत के जंगलों में पहुंचकर राम वनवास करने लगते हैं। लेकिन लंका के राक्षस राजा रावण ने सीता का हरण कर लिया। वानरों के नायक हनुमान की सहायता से राम ने एक सेना खड़ी की। रावण के साथ उनकी भयंकर लड़ाई हुई, जिसमें सेना सहित रावण का नाश हो गया और सीता मुक्त करा ली गईं। सीता को अग्नि-परीक्षा देकर अपना सतीत्व सिद्ध करना पड़ा, जिसके बाद पति-पत्नी का मिलन हुआ। वनवास की चौदह वर्ष की अवधि पूरी करके पत्नी और भाई के साथ कोसल लौटने पर उनका भव्य स्वागत किया गया और राम को सिंहासन पर बैठाया गया, क्योंकि उनके पिता की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। राम के शासन काल को सुख-समृद्धि और न्याय के राज्य के रूप में मिथकीकृत कर दिया गया है। आज भी आदर्श राज्य का वर्णन करने के लिए रामराज्य शब्द का इस्तेमाल किया जाता है।

आख्यान लोककथा के स्वीकृत ढर्रों पर ही चलता है–अर्थात् उसमें संघर्ष होते हैं, वीरोचित पराक्रम किए जाते हैं, बाधाएं आती हैं और उन पर विजय पाई जाती है। बुनियादी कथा के अनेक रूप हैं, जिनमें से कुछ में एक भिन्न प्रकार का नैतिक संदेश निहित है, जैसे बौद्ध और बाद के जैन रूपों में। कुछ और भी बाद के रूपों में सीता से संबंधित आख्यान में भारी परिवर्तन किया गया है। कथा के एक बौद्ध रूप में राम और सीता भाई–बहन हैं, जिन्होंने वनवास से लौटने के बाद हजारों साल राज किया। बौद्ध परंपरा में सहोदर मूल शुद्धतम पूर्वज परंपरा की संस्थापना का प्रतीक था, और इस प्रकार यहां राम और सीता को ऐसी ही स्थिति प्रदान की गई है। कथा के एक प्रारंभिक जैन रूप में वाल्मीकि से भिन्न पाठ–रूप के लिए एक बुद्धिसंगत स्पष्टीकरण दिया गया है और इस कथा–रूप के सभी मुख्य पात्र जैन थे।

ये विविध रूप और विविध वर्णनों में इनका निरूपण इस बात का संकेत हैं कि इस कथा का उपयोग अलग–अलग प्रकार की संस्कृतियों को अभिव्यक्ति देने के लिए किया गया। यह कथा दूर–दूर तक पहुंची–पूरे भारत में और एशिया में जहां–जहां भारतीय संस्कृति पहुंची वहां–वहां। ये रूप–भेद विभिन्न समाजों के इस कथा के बोध को प्रतिबिंबित करते हैं। उन समाजों ने इसके मुहावरे और प्रतीकों की व्याख्या अपने–अपने ढंग से की। इन दोनों महाकाव्यों पर किस प्रकार दूर–दूर तक अपना हक जताया गया, इसका पता इस बात से चलता है कि भारतीय ग्रामीण क्षेत्र में सर्वत्र इसके चरित्रों और घटनाओं को अपने इलाके से जोड़ने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

*रामायण*के मूल रूप का काल आम तौर पर पहली सहस्राब्दी ई.पू. का मध्य माना जाता है। राम–रावण का संघर्ष शायद स्थानीय संघर्षों के अतिरंजित रूप को प्रतिबिंबित करता है, क्योंकि गांगेय मैदान के फैलते हुए राज्यों तथा विंध्य क्षेत्र के अपेक्षाकृत कम स्थिर समाजों के बीच इस तरह के संघर्ष चल रहे थे। कोसल राज्य उदीयमान राजतंत्रों के परिष्कार का प्रतिनिधित्व करता है और वह राक्षसों के समाज का विलोम है। संभव है, राक्षस वनवासी कबीलों का अतिरंजित रूप हो, क्योंकि उनकी जीवन–पद्धति राजतंत्रों से सर्वथा भिन्न थी। राज्य और जंगल की द्विभाजकता उस दृष्टि का उदाहरण है जो विश्व को ग्राम और अरण्य में विभाजित देखती थी। भारतीय महाकाव्य साहित्य में दिखाई देनेवाले अधिकतर तनाव के मूल में यही द्विभाजक दृष्टि काम कर रही थी। घटनाओं के स्थानों को अधिक दक्षिण की ओर खिसकाने का काम अपेक्षाकृत बाद के काल के संपादकों ने किया होगा और इस प्रकार इस कथा का भौगोलिक विस्तार हुआ। कथा में एक संपन्न नगर के रूप में लंका का चित्रण भी शायद इसी प्रकार की प्रवृत्ति का परिणाम रहा होगा।

महाकाव्य साहित्य का देश कल्पित देश है, जो उसके बिंब–विधान का केंद्रीय तत्व है। उस देश में निवास करनेवाले लोगों की संस्कृति या तो पराई हो सकती

थी या अनुकरणीय। इस प्रकार वे काल्पनिक देश की भौगोलिक अवस्थिति अस्पष्ट थी, क्योंकि उसका उपयोग महाकाव्य की संस्कृति के अंतर्गत लोगों का समाहार करने के लिए किया गया। यदि यूनानी महाकाव्य *ओडिसी* में निर्वासन का देश समुद्र था तो भारतीय महाकाव्यों में उसी देश की भूमिका वन निभाते हैं। निर्वासन का विषय लगभग निश्चित है: जब लोग वन-प्रदेशों की ओर देशांतरण करके वहां बसते हैं, तो उनका उन प्रदेशों में पहले से बसे लोगों से संघर्ष होना स्वाभाविक है। निर्वासन से कवि को कथा को तरह-तरह से लंबा खींचने की सुविधा भी मिल जाती है।

वैदिक साहित्य

यदि हमें सिर्फ उपर्युक्त स्रोत ही उपलब्ध होते तो भारतीय इतिहास के आरंभ की तसवीर गढ़ना अपेक्षाकृत सरल होता। लेकिन दो अन्य प्रकार के साक्ष्यों ने भी हमारी ऐतिहासिक आरंभ की समझ में योगदान किया है, और ये दोनों ऊपर विवेचित स्रोतों से पहले के काल के हैं। उन्नीसवीं सदी में वैदिक साहित्य के वाचन और उसके बाद के भाषावैज्ञानिक अध्ययनों के फलस्वरूप अतीत की एक अलग तसवीर तैयार हुई, जो पारंपरिक कहानी के विपरीत थी। संस्कृत के यूरोपीय विद्वानों ने पाया कि संरचना और ध्वनि की दृष्टि से यह भाषा ग्रीक और लैटिन से संबंधित है। इससे एक समान मूल भाषा, अर्थात् भारोपीय भाषा के सिद्धांत का जन्म हुआ और माना गया कि इन भाषाओं के बोलनेवालों के पूर्वज उसी भाषा का उपयोग करते थे।

इस अनुसंधान में मुख्य रूप से वैदिक साहित्यि पर ध्यान दिया गया, जिसकी रचना महाकाव्यों तथा *पुराणों* से पहले हुई थी और जिसकी भाषा संस्कृत का अधिक पुराना रूप थी, जिसे अब पुरातन हिंद-आर्य भाषा कहा जाता है। इस कारण से वह भाषा संस्कृत के बाद के रूप से, जिसे क्लासिक या परिनिष्ठित संस्कृत कहा जाता है, भिन्न थी। वेद मुख्य रूप से कर्मकांडों की नियमावलियां और उनकी टीकाएं थे। उनमें आख्यान के अंश प्रसंगोपपात ही थे। महाकाव्य साहित्य वीर नायकों के समाज का वर्णन था और पुराण उससे बाद का सांप्रदायिक साहित्य (सेक्टेरियन लिटरेचर) थे। इसलिए महाकाव्यों, पुराणों और वेदों के प्रयोजन अलग-अलग थे। चूंकि वेद काल की दृष्टि से सबसे पहले के थे, इसलिए भारतीय इतिहास को उनमें निहित जानकरी से आरंभ हुआ माना गया। पुराणों तथा महाकाव्यों में अतीत की कुछ व्याख्या की गई है, लेकिन वैदिक साहित्य में ऐसा कुछ नहीं है, बल्कि वह दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य से लेकर पहली सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य तक के काल की समकालीन रचनाओं का संकलन है। इसलिए उस काल की जो तसवीर तैयार की गई उसका आधार उस साहित्य में निहित साक्ष्यों के आधुनिक विद्वानों द्वारा किए गए वाचन थे।

भारोपीय (इंडो-यूरोपियन) और हिंद-आर्य (इंडो-आर्यन) भाषा के नाम हैं, लेकिन उन्नसवी सदी में इनका प्रयोग प्रजातीय नामों के रूप में भी किया गया, जो गलत था और जिससे उत्पन्न भ्रम आज तक जारी है। सही पद 'भारोपीय भाषा-भाषी लोग' और 'हिंद-आर्य भाषा-भाषी लोग' होंगे, लेकिन इनके संक्षिप्त रूपों, अर्थात् भारोपीय और हिंद-आर्य या आर्य का ही आम तौर पर इस्तेमाल किया जाता है।

भाषा का संबंध संस्कृति से है और उसे प्रजाति के साथ नहीं मिलाना चाहिए। वैसे तो प्रजाति भी एक सामाजिक संरचना है, लेकिन वह अपना संबंध जन्म से बताती है। भारोपीय एक पुनर्रचित (biologial descent) भाषा है, जिसकी पुनर्रचना उससे निकली हुई भाषाओं के छोर पकड़कर पीछे जाकर की गई है। उसके बोलनेवालों का निवास-स्थान मध्य एशिया था। धीरे-धीरे, सदियों के दौर में, भारोपीय-भाषियों से शाखाएं निकलकर पशुचारकों के रूप में नए चरागाहों की तलाश में दूर-दूर तक फैल गईं। वे विनिमय के लिए माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने का भी काम करते थे। कुछ अनातोलिया की ओर चले गए, कुछ ईरान की ओर, और समझा जाता है कि ईरान पहुंचनेवालों में से ही कुछ लोग भारत को देशांतरण कर गए। उन्होंने जिन पाठों की रचना की–जैसे ईरान में *अवेस्त* और भारत में *ऋग्वेद*–उनमें उन्होंने अपने को 'ऐरीअ' और 'आर्य' कहा। इसी से यूरोपीय शब्द 'आर्यन' निकला है। एक भारोपीय भाषा के प्रारंभिक पाठगत स्रोत के रूप में हिंद-आर्य भाषा में रचित वैदिक साहित्य का गहन अध्ययन किया गया। इस साहित्य का संबंध कर्मकांडों और उनकी व्याख्याओं से था और उसे परम पवित्र माना जाता था। भारतीय इतिहास की शुरुआत का संबंध दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के किसी दौर में 'आर्यों' के भारत आगमन से था।

लेकिन अतीत की इस तसवीर में बीसवीं सदी में फिर उलटफेर होनेवाला था। 1920 वाले दशक में पुरातत्व ने पश्चिमोत्तर भारत में *ऋग्वेद* के काल से भी पहले की एक शहरी सभ्यता के अस्तित्व का पता लगाया। वह थी सैंधव सभ्यता या हड़प्पाई संस्कृति। यह खोज सभ्यता के संरचनात्मक काल को पीछे तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. में ले गई। पुरातत्व से हड़प्पाई समाज से भी पहले के समाजों से संस्कृतियों के विकास के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं, जिससे वह संरचनात्मक काल और भी पीछे चला जाता है। हड़प्पाई संस्कृति मनुओं के शासन का कोई सूत्र प्रदान नहीं करती और न वैदिक साहित्य ही करता है।

स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास की शुरुआत के संबंध में जानकारी देनेवाले अनेक स्रोत हैं। पुरातात्विक साक्ष्य कालानुक्रम की दृष्टि से अधिक सही हैं, लेकिन उनका उपयोग किसी भी संस्कृति की पहचान 'आर्य' संस्कृति के रूप में करने के लिए

नहीं किया जा सकता, क्योंकि लिपि की अनुपस्थिति में वे किसी भाषा के संबंध में कोई जानकारी नहीं दे सकते। दुर्भाग्य से हड़प्पाई लिपि अवाचित है। आर्यों के आक्रमण के सिद्धांत को अब विश्वसनीय नहीं माना जाता। *ऋग्वेद*में समूहों के बीच की झड़पों के उल्लेख मिलते हैं। कुछ झड़पें तो अपने को 'आर्य' कहनेवाले लोगों के समूहों के बीच हुईं और कुछ 'आर्यों' और 'दासों' के बीच। अधिक मान्य सिद्धांत यह है कि हिंद-आर्य भाषा-भाषी लोगों ने ईरान-भारत सीमा के आसपास के क्षेत्रों और अफगानिस्तान से धीरे-धीरे भारत की ओर देशांतरण किया और यहां उन्होंने उस भाषा को दाखिल कर दिया। उन्होंने देशांतरण बेहतर चरागाहों और खेती के लायक ज़मीन की तलाश में और वस्तु-विनिमय से होनेवाले कुछ लाभ की आशा में किया। आम तौर पर इन देशांतरणों से पहले से बसी बस्तियों और फूल-फल रही संस्कृतियों का विघटन नहीं हुआ। यह राय भी जाहिर की गई है कि ये उन पुरातन ईरानी-भाषी लोगों से टूटकर अलग हो जानेवालों के समूह थे जिनकी भाषा और विचार बाद में *अवेस्त*में अभिव्यक्त हुए। बहुत-सी ऐसी अवधारणाएं हैं जो *अवेस्त*और *ऋग्वेद*दोनों में मिलती हैं, लेकिन उनके जो अर्थ एक में हैं उनसे काफी भिन्न अर्थ दूसरे में हो जाते हैं।

आर्य भाषा-भाषियों के बाहर से आने की बात का विरोध करनेवालों में देशांतरण को आक्रमण मान लेने की प्रवृत्ति है। दोनों एक-दूसरे से स्पष्ट रूप से भिन्न ऐतिहासिक प्रक्रियाएं हैं। उन पर विचार करते हुए इस बात की ओर भी ध्यान देना होगा कि उनका संबंध किस प्रकार के कार्यकलाप और संगठन से था या उनके आगमन के बाद किस प्रकार की सामाजिक पद्धति उभरी और कैसा ऐतिहासिक परिवर्तन हुआ। देशांतरण करनेवाले समूह छोटे-छोटे रहे होंगे, क्योंकि बड़े पैमाने पर होनेवाले देशांतरणों के फलस्वरूप जैसे जबर्दस्त सांस्कृतिक परिवर्तन होने चाहिए थे वैसे परिवर्तनों का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। देशांतरण से सांस्कृतिक अंतर्क्रियाओं, भाषाई परिवर्तनों और नवागंतुक समूहों तथा पुराने बसे समूहों, दोनों के बीच सामाजिक दर्जे के निर्धारण के संबंध में जैसे प्रश्न उठते हैं वे आक्रमण से उठनेवाले प्रश्नों से भिन्न होते हैं।

भाषाई साक्ष्य निश्चित हैं। हिंद-आर्य भारोपीय भाषा परिवार की भाषा है और उसका पश्चिम एशिया और ईरान की भाषाओं से और यूरोप में विकसित होनेवाली कुछ भाषाओं से भी भाषा वैज्ञानिक संबंध है। हिंद-आर्य पुरातन ईरानी की सजात भाषा है और पुरातन ईरानी दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. की भाषा है, जिसके साथ हिंद-आर्य का नजदीकी रिश्ता है। हिंद-आर्य में द्राविड़ और मुंडा के भी कुछ तत्व शामिल कर लिए गए। ये दोनों सिर्फ भारत में ही ज्ञात थीं। पूर्व की ओर गांगेय मैदान में विरचित पाठों में ये तत्व और भी अधिक हो जाते हैं। इससे लगता है कि इन भाषाओं के बोलनेवालों का आपस में काफी मिलना-जुलना था।

घटनाक्रम इस प्रकार जान पड़ता है: सैंधव सभ्यता के नगरों का दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य तक पतन हो चुका था और उनकी आर्थिक तथा प्रशासनिक प्रणाली धीरे-धीरे तिरोहित होती चली गई और ज़ोर ग्रामीण बस्तियों पर दिया जाने लगा। शायद इसी काल में हिंद-आर्य भाषा-भाषियों ने भारत-ईरान सीमा-प्रदेशों से पश्चिमोत्तर भारत में प्रवेश किया। छोटी-छोटी संख्या में पश्चिमोत्तर पर्वतों के दर्रों से होकर देशांतरण करते हुए वे उत्तर भारत में आ बसे। छोटे पैमाने के देशांतरणों का लाभ यह है कि उनसे कोई नाटकीय उलटफेर नहीं होता। इसलिए हो सकता है कि उनका सिलसिला और भी पहले आरंभ हो चुका हो, हालांकि सांस्कृतिक भिन्नता तब दृष्टिगोचर होने लगी होगी जब हड़प्पाई नगरों का पतन हो गया। यद्यपि पाठों से मिली जानकारी की पुरातात्विक पुष्टि संभव नहीं है, तथापि इस काल में इस क्षेत्र में ध्यान आकृष्ट करने लायक बड़ी बस्तियां दिखाई नहीं देतीं। पाठगत स्रोतों से पता चलता है कि आरंभिक बस्तियां पश्चिमोत्तर घाटियों और पंजाब के मैदानों में थीं और बाद में कुछ समूह सिंधु-गंगा जल-विभाजक क्षेत्र की ओर भी खिसक आए। इस प्रकार के छोटे पैमाने के सतत देशांतरण शायद पूर्ववर्ती पशुचारक परिपथों से ही हुए होंगे। तलाश चरागाहों और खेती के लायक कुछ ज़मीन की थी, क्योंकि वे मुख्य रूप से पशुपालक लोग थे। *अवेस्त*के मिथकों में ईरान से सैंधव क्षेत्र की ओर देशांतरणों के उल्लेख बार-बार मिलते हैं। इन देशांतरणों का कारण मानव आबादी और पशुओं की संख्या में वृद्धि से उत्पन्न दबाव बताया गया है। *ऋग्वेद* से पता चलता है कि उस क्षेत्र में निवास करनेवाले अन्य लोगों की इनसे काफी निकटता थी।

पहली सहस्राब्दी ई.पू. के इस आरंभिक दौर में *ऋग्वेद*की ऋचाओं का, जिनकी रचना पिछली सदियों में हो चुकी थी, संकलन उस रूप में किया गया जिस रूप में हम आज उन्हें जानते हैं। ऐसा माना जाता है कि संकलन का कार्य रचना के काल के बाद में किया गया, जिससे इन स्रोतों की तिथि निर्धारित करने की समस्या और भी कठिन हो जाती है। इस संकलन में केंद्रीय महत्व के अंश वे हैं जिन्हें 'पारिवारिक मंडल' कहा गया है। इन्हें सबसे प्रारंभिक स्तोत्रों (Hymns) में गिना जाता है और इनकी रचना का श्रेय अपेक्षाकृत अधिक सम्मानित परिवारों को दिया गया है। इन स्तोत्रों (Hymns) के नाम उन लोगों के नामों पर पड़े जिन्हें उनके रचनाकार माना गया। बाद में जिन लोगों ने उन रचनाकारों के वंशज होने का दावा किया उन्होंने इन स्तोत्रों (Hymns) के उत्तराधिकार का भी दावा किया। *ऋग्वेद* की परवर्ती काल की टीकाओं में सबसे प्रसिद्ध सायण की टीका है। यह चौदहवीं सदी ई. में लिखी गई और इसमें *ऋग्वेद*के संबंध में बाद के काल का, लेकिन फिर भी आधुनिक विश्लेषणों से पहले का, परिप्रेक्ष्य प्रतिबिंबित हुआ है।

ऋग्वेद का संदर्भ

इस संक्षिप्त विवरण का उद्‌देश्य विविध प्रकार के स्रोतों (सोर्सेज) से प्राप्त साक्ष्यों के स्वरूप का निर्देश करना और उन्हें ऐतिहासिक क्रम में व्यवस्थित करना है। पाठगत स्रोतों की विविधता के कारण कोई चाक-चौबंद तसवीर पेश करना कठिन है और अनिवार्यतः शिथिलताएं रह ही जाती हैं। जब इन साक्ष्यों का तालमेल पाठेतर स्रोतों से बैठाने का प्रयत्न किया जाता है तब मामला और उलझ जाता है।

हिंद-आर्य भाषा संस्कृत के समान तो नहीं है, फिर भी उसके काफी निकट है। लेकिन उसके आद्यतम साक्ष्य भारत से नहीं बल्कि उत्तरी सीरिया से प्राप्त होते हैं। ये साक्ष्य अल्प और बिखरे हुए हैं और इनमें ऐसे नाम और शब्द शामिल हैं जो हिंद-आर्य भाषा के एक रूप में हैं। हिटाइटों और मितानियों के बीच चौदहवीं सदी ई.पू. में हुई एक संधि में देवताओं का उल्लेख साक्षियों के रूप में किया गया है और इन देवताओं में इंद्र/इंदर, मित्रस् (इल) मित्र, नासतियन्ना/नासत्य, और उरूवनस्स् (इल)/वरुण शामिल हैं, जो *ऋग्वेद* और *अवेस्त*में भी दिखाई देते हैं। विचित्र बात है कि *ऋग्वेद*के प्रमुख देवता अग्नि और सोम का कोई जिक्र नहीं हुआ है। घोड़ों के प्रशिक्षण से संबंधित लगभग इसी समय के एक पाठ में ऐसे शब्द हैं जो हिंद-आर्य के एक निकटवर्ती रूप में हैं। मध्य एशिया से दाखिल किए गए घोड़ा और रथ दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. में पश्चिम एशिया में आम हो गए, जिससे लगता है कि घोड़ों और हिंद-आर्य भाषा-भाषियों के आगमन के बीच पारस्परिक संबंध था। बेबिलोन के कसाइटों ने भी, जो शायद इसी सहस्राब्दी के मध्य में ईरानी पठार से वहां पहुंचे थे, देवताओं का उल्लेख किया है, जिनके काफी नजदीकी सादृश्य संस्कृत में मिलते हैं। ये देवता हैं सुरियस और मरुत्तस। कसाइटों की भाषा भारोपीय नहीं थी, यद्यपि उसमें कुछ नामों की ध्वनि हिंद-आर्य भाषा जैसी है। पश्चिम एशिया की हिंद-आर्य भाषा को हम आद्य-हिंद-आर्य भाषा कहते हैं, ताकि वैदिक संस्कृत से उसकी भिन्नता दिखाई जा सके और यह बताया जा सके कि वह अधिक पुरानी थी।

जिसे चौदहवीं सदी ई.पू. की हिटाइट-मितानी संधि कहा जाता है उसे ध्यान में रखकर देखें तो मालूम होता है कि दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के किसी दौर में उत्तरी सीरिया में ऐसे लोग थे जो हिंद-आर्य से मिलती-जुलती भाषा बोलते थे। इस काल में इन क्षेत्रों का उत्तर भारत से कोई संपर्क था, इस बात के किसी पुरातात्विक या भाषावैज्ञानिक साक्ष्य के अभाव में यह स्पष्ट नहीं है कि यह भाषा पश्चिम एशिया के पश्चिमी छोर तक कैसे पहुंची। एक संभावना यह है कि यह भाषा किसी ऐसे क्षेत्र में उद्‌भूत हुई जहां से हिंद-आर्य भाषा-भाषी या तो पश्चिम की ओर या दक्षिण-पूर्व की ओर जा सकते थे। यह क्षेत्र पूर्वोत्तर ईरान हो सकता था, जिसके

आधार पर यह दिखलाया जा सकता है कि एक भारोपीय भाषा बोलने और घोड़ों तथा रथों का प्रयोग करनेवाले लोग किस प्रकार पश्चिम में पड़नेवाले प्रदेशों में पहुंचे। ऐतिहासिक दिलचस्पी की बात यह है कि यद्यपि उक्त संधि से इन लोगों की सैनिक सफलता का आभास होता है तथापि मालूम होता है, हिंद-आर्य भाषा की उपस्थिति सीरिया में कमज़ोर ही थी और कुछ काल बाद वह वहां लुप्त हो गई। तथापि भारत में, जहां वह लोगों के देशांतरणों के फलस्वरूप पहुंची, उसकी उपस्थिति सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित हो गई। इसलिए जरूरी नहीं कि देश-विजय हमेशा किसी भाषा के प्रसार का जरिया बन जाए। अधिक उन्नत प्रौद्योगिकी, शक्ति-विस्तार के केंद्र और कर्मकांडी सत्ता पर अधिकार इस दृष्टि से बहुत अधिक कारगर साबित हो सकते हैं।

दूसरी ओर ईरान और उत्तर भारत के बीच के संबंध बहुत नजदीकी हैं। *अवेस्त* और *ऋग्वेद*की भाषाएं एक ही पूर्वजा भाषा से निकली सहजात भाषाएं थीं। जरथुस्री धर्म (Zoroastrianism) के पवित्र ग्रंथ *अवेस्त*की तिथि विवादास्पद रही है, लेकिन दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य की कोई तिथि अब स्वीकार्य हो रही है। दोनों के भाषावैज्ञानिक संबंध शब्दों तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि वे अवधारणाओं तक भी जाते हैं। एक अंतर 'ह्' और 'स्' की पारस्परिक परिवर्तनीयता है, लेकिन इस परिवर्तनीयता में भी एक संगति है—जैसे *अवेस्तके होम, दाह,हेप्तहिंदु* और *अहुर*, *ऋग्वेद*की संस्कृत में *सोम,दास,सप्तसिंधु*और *असुर* हो जाते हैं। धार्मिक अवधारणाओं के मामले में देवताओं के गुण-धर्म बहुधा उलट जाते हैं। उदाहरणार्थ, *अवेस्त*में इंद्र दानवी है और शेष *दैव*(संस्कृत के *देव*) भी ऐसे ही हैं और *अहुर/असुर*उच्चतम पूज्य हस्तियों के रूप में सामने आते हैं। इससे यह सिद्धांत निकला है कि पुरातन ईरानी-भाषी और हिंद-आर्य भाषा-भाषी लोग मूलतः एक ही समूह के थे, लेकिन मतभेद होने के कारण वे एक-दूसरे से अलग हो गए। उसके बाद ही हिंद-ईरान सीमा-प्रदेशों और हरक्सवती (सरस्वती) के क्षेत्र में रहनेवाले हिंद-आर्य भाषी लोग सैंधव मैदान को देशांतरण कर गए। वे अपने साथ अपनी भाषा, अपने कर्मकांड और अपने सामाजिक रीति-रिवाज लेकर आए और *ऋग्वेद*में वर्णित सप्त-सिंधु क्षेत्र में कृषक-पशुचारकों के रूप में बस गए एवं बाद में स्थानीय आबादी में मिल गए।

यह तसवीर पुरातात्विक साक्ष्यों से एक हद तक मेल खाती है। *ऋग्वेद*में घोड़ा कर्म और कर्मकांड दोनों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण था और यदि हिंद-आर्य-भाषियों की उपस्थिति का संकेत घोड़े को माना जाए, तो इस उपमहाद्वीप में उसका काल दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. का मध्य माना जाएगा, क्योंकि परिपक्व हड़प्पाई काल में घोड़ा लगभग अनुपस्थित था। सीमावर्ती क्षेत्रों के आसपास के ठिकानों में उससे बाद के काल की घोड़े की कुछ अस्थियां और मृन्मूर्तियां मिली हैं। अस्थियों और चित्रणों

की कमी इस बात का संकेत है कि तब घोड़ा एक अपरिचित पशु था। भारत-ईरान सीमा-प्रदेशों के समानांतर सैंधव मैदान में प्रवेश के स्थानों में स्थित कुछ ठिकानों में की गई खुदाइयों से थोड़ी-बहुत संख्या में कुछ ऐसी चीजें मिली हैं जो दक्षिण अफगानिस्तान और पूर्वोत्तर ईरान में प्राप्त वस्तुओं के समान हैं। इन्हीं क्षेत्रों में बैक्ट्रिया-मर्जिनिया पुरातात्विक क्षेत्र भी आता है। सवार को लेकर भागते घोड़े की मृन्मूर्तियों, मध्य एशिया तथा ईरान के मृद्भांडों से मिलते-जुलते मृद्भांडों, हिस्सों में बंटी मुहरों, कांसे की कटारों और बसूलों से दोनों क्षेत्रों के बीच संबंध का संकेत मिलता है। हो सकता है, ये उपहार-विनिमय की वस्तुएं रही हों, जो ऊंचे परिवारों तक ही सीमित थीं, लेकिन उनसे महज सांयोगिक आवागमन से अधिक समागम का संकेत मिलता है। हो सकता है, थोड़ा-बहुत देशांतरण इसी समय शुरू हो गया हो, जिसमें बाद में गति आई।

सीरिया में आद्य-हिंद-आर्य भाषा के साक्ष्यों का *ऋग्वेद*की तिथि से भी कुछ संबंध है। यदि हिटाइट-मितानी संधि में प्रयुक्त हिंद-आर्य भाषा *ऋग्वेद*की संस्कृत से अधिक पुरातन थी तो *ऋग्वेद*की रचना का काल चौदहवीं सदी ई.पू. के बाद पड़ेगा। अगर वे एक ही काल के हों तो भी *ऋग्वेद* दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. से पहले का नहीं हो सकता। इस कालखंड की तिथि से *अवेस्त*की भाषा और अवधारणाओं से उसकी निकटता की भी पुष्टि होगी। ज्यों-ज्यों वैदिक संस्कृत का प्रयोग-क्षेत्र पूरब की ओर खिसकता है त्यों-त्यों यह निकटता कम होती जाती है। यह तिथि कर्मकांडों की व्याख्या करनेवाले *ब्राह्मणों*की रचना के काल से भी मेल खाएगी। *ब्राह्मणों*की रचना ऋग्वेदोत्तर काल में की गई और उनका काल आम तौर पर पहली सहस्राब्दी ई.पू. मानी जाती है। उनमें पश्चिमी तथा मध्य गांगेय मैदान से परिचय दिखाई देता है और उनसे इस नए क्षेत्र की ओर देशांतरण की जानकारी मिलती है।

हाल में एक ऐसी राय जाहिर की गई है कि *ऋग्वेद*की तिथि हड़प्पा-काल या यहां तक कि उससे भी पहले के काल में ले जाई जानी चाहिए और इसके रचयिताओं को सैंधव सभ्यता के निर्माता मानना चाहिए। इससे इस बात का समर्थन होगा कि *ऋग्वेद*के 'आर्य' रचयिता उत्तरी भारत के मूल निवासी थे और हिंद-आर्य भाषा का भी जन्म यहीं हुआ। इसे सिंधु-सरस्वती सभ्यता या सरस्वती सभ्यता कहकर इसमें वैदिक योगदान सिद्ध करने की कोशिश की गई है।

यह दृष्टिकोण भाषाविज्ञान से प्राप्त सामग्री की उपेक्षा कर देता है और पुरातात्विक साक्ष्यों की विश्लेषणात्मक समझ का परिचय नहीं देता। इस साक्ष्य के दो पहलू हैं : एक तो यह कि क्या हड़प्पा संस्कृति के शिल्प-तथ्यों और स्मारकों का वर्णन ऋग्वेद में किया गया है; दूसरा यह कि क्या शहरी बस्तियों की हड़प्पाई प्रणाली के संगठन में निहित अवधारणाओं के प्रतिरूप *ऋग्वेद*में मिलते हैं। बहुत-से विद्वानों ने उन बातों का वर्णन किया है जो उन्हें हड़प्पाई शहरी जीवन की आवश्यक

विशेषताएं प्रतीत हुई हैं, लेकिन *ऋग्वेद*में उन्होंने उन विशेषताओं को अनुपस्थित पाया है। शहर की योजना में समकोणीय विभाजन की पद्धति का अनुसरण करनेवाले नगर, बड़ी इमारतों के आधार के रूप में कच्ची ईंटों के विस्तृत चबूतरे, विशाल भवन, जटिल किलेबंदी, विस्तृत जल-निकासी प्रणालियां, इमारतों में कच्ची-पक्की ईंटों का इस्तेमाल, अन्नागार या भंडार-गृह, कर्मकांडों के लिए तालाब, तांबे की सिल्लियां, कार्नेलियन के चिकने किए गए मनके, स्टीटाइट की मुहरें बनाना और देवियां मानी जानेवाली नारी मृन्मूर्तियां इस प्रकार की विशेषताओं के उदाहरण हैं।

दूसरा पहलू इन वस्तुओं तथा इमारतों के इस्तेमाल से अवधारणात्मक परिचय की अपेक्षा रखता है। नियोजित और किलेबंद नगरों के काम करने के ढंग पर आधारित नागरिक जीवन की भावना का *ऋग्वेद*में अभाव है। उसमें गैर-कौटुंबिक श्रम का या यहां तक कि दास श्रम का भी कोई उल्लेख नहीं है और न शहरी इमारतें बनाने के लिए ऐसे श्रम के संगठन का कोई जिक्र हुआ है। किसी विनिमय-प्रणाली के अलग-अलग पहलुओं या वस्तुओं की भी—जैसे शिल्पोत्पादन के केंद्रों, परिष्कृत और श्रेणीकृत माप-तौल, आवेष्ठन और परिवहन या विनिमेय वस्तुओं के आपेक्षिक महत्व की—कोई चर्चा नहीं की गई है। कर्मकांडों का संपादन तालाबों या भवनों जैसे स्थायी कर्मकांड केंद्रों में नहीं किया जाता। मृन्मूर्तियां नहीं मिलतीं और उर्वरता की उपासना अनुपस्थित है। *ऋग्वेद*में वर्णित अग्नि-वेदियों का रूप और आकार ऐसा है जो हड़प्पाई ठिकानों में आसानी से नहीं मिलता। हड़प्पाई मिथकीय पशु एकशृंगी जैसे किसी पशु की कोई कल्पना दिखाई नहीं देती और यहां तक कि हड़प्पाई मुहरों में बहुधा दरशाए गए गैंडे जैसे किसी पशु की भी कोई अभिधारणा नहीं मिलती। *ऋग्वेद*का मुख्य पशु घोड़ा हड़प्पाई मुहरों में अनुपस्थित है। *ऋग्वेद*में किसी मुहर या लिपि का कोई जिक्र नहीं हुआ है। मानव-मूर्ति अज्ञात ही लगती है। *ऋग्वेद*का भूगोल उत्तर की ओर के सैंधव मैदान—सप्त-सिंधु क्षेत्र—तक सीमित है और सिंधु नदी के निचले क्षेत्र, कच्छ और गुजरात से उसका कोई परिचय नहीं है और न वह फारस की खाड़ी के तट के उन बंदरगाहों और उनके पृष्ठ-प्रदेशों से ही वाकिफ है जो हड़प्पाई समुद्री व्यापार के लिए उतने अधिक महत्वपूर्ण थे।

वैदिक साहित्य में समाज

*ऋग्वेद*वैदिक साहित्य का सबसे प्रारंभिक हिस्सा है। सर्वश्रेष्ठ उत्तर वैदिक साहित्य अर्थात् *साम*,*यजुर*और *अथर्व*वेदों का रचना-काल सामान्यतः पहली सहस्राब्दी ई. पू. का पूर्वार्ध माना जाता है। प्रत्येक का संहिता विभाग ऋचाओं का संकलन है और *ब्राह्मण*कर्मकांड की व्याख्याएं हैं। उपनिषद् और आरण्यक भी इस साहित्य का अंग

हैं जो मुख्य रूप से दार्शनिक विमर्श हैं। इस साहित्य में बहुधा सूत्र विभाग को भी शामिल कर लिया जाता है। उसके तीन वर्ग हैं : *गृह्यसूत्र*, जिनका संबंध गृह-कर्मकांड से है; *श्रौतसूत्र*, जो अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए सार्वजनिक रूप से संपादित कर्मकांड से संबंधित हैं; और *धर्मसूत्र* जिनमें उन निमयों का विधाान किया गया है जिनका पालन वर्ण-विनियमों तथा सामाजिक दायित्वों के अनुसार पवित्र कर्तव्य था। धर्मसूत्रों की रचना शायद पहली सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य से की गई और सामाजिक तथा कर्मकांडी दायित्वों के नियम विहित करनेवाले पाठों के रूप में उनका प्रयोजन ऋचाओं (Hymns) से भिन्न है। प्रयोजन और विषयवस्तु की दृष्टि से देखें तो *ऋग्वेद*को दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. की रचना मानने की और भी पुष्टि होती है, क्योंकि उत्तर वैदिक साहित्य को पहली सहस्राब्दी ई.पू. का माना गया है।

ऋचाओं को अत्यंत सावधानी के साथ कंठस्थ करके पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से संप्रेषित किया जाता रहा और सदियों बाद उन्हें लिपिबद्ध किया गया। ऋचाओं को याद करने और ध्वनि की सही अभिव्यक्ति के लिए अनेक युक्तियों का सहारा लिया जाता था। सही उच्चारण और ध्वनि के साथ मंत्रोच्चार को उसकी प्रभावकारिता की शर्त माना जाता था और कर्मकांडों से संबंधित पाठों की यह मुख्य अपेक्षा थी। इसका एक परिणाम यह था कि यह साहित्य ब्राह्मणों के एक छोटे, चुनिंदा समूह तक ही सीमित रह जाता था। वेदों का ज्ञान रखने के कारण ब्राह्मण श्रेष्ठ ज्ञानी होने का दावा करते थे और केवल उन्हीं को महत्त्वपूर्ण कर्मकांड संपादित करने की अनुमति थी। आरंभ में महाकाव्यों का भी पाठ मौखिक रूप से ही किया जाता था, लेकिन वे लोकप्रिय साहित्य थे, और इसलिए उनके हर पाठ के साथ उनमें संशोधन या परिवर्धन हो सकता था। यह अधिक खुला संप्रेषण था। वेदों पर अधिक कठोर नियंत्रण का कारण यह था कि वे कर्मकांडी पाठ थे, जिन्हें यथासंभव अधिक से अधिक शुद्ध रूप से सुरक्षित रखना था।

ऋग्वैदिक ऋचाओं के रचयिताओं के भौगोलिक ज्ञान का पता उनके द्वारा विभिन्न नदियों के उल्लेखों से चलता है। *ऋग्वेद*के पूर्वी अफगानिस्तान, स्वात घाटी, पंजाब और सिंधु-गंगा जल-विभाजक क्षेत्र, अर्थात् मोटे तौर पर सप्त-सिंधु कहलानेवाले क्षेत्र से अधिक परिचित होने का प्रमाण मिलता है। यमुना का उल्लेख गंगा की जुड़वां के रूप में हुआ और सतलज व्यास से संबंधित है और इस प्रकार इन दो में से कोई भी घग्घर-हकरा की सहायक नदी नहीं थी। घग्घर से उनके दूर हट जाने का कारण जलप्रवाहीय परिवर्तन था, जो दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के आरंभ में घटित हुआ माना गया है। इसलिए *ऋग्वेद*में आए उल्लेख इस काल के बाद के होंगे। जलवायु की दृष्टि से इस क्षेत्र में आज की अपेक्षा अधिक नमी थी और जो आज विस्तृत मैदान है वह जंगलों से ढका हुआ था, यद्यपि संभव है कि पंजाब

के कुछ हिस्से अर्ध-शुष्क और इसलिए पशुपालन के उपयुक्त रहे होंगे। हड़प्पाई काल की खेती-बाड़ी के कारण कुछ निर्वनीकरण पहले ही हो चुका होगा, और गांगेय मैदान में बस्तियां बसाने के लिए और भी जंगल साफ करने पड़े होंगे। तांबे और कांसे के अलावा लोहे के औज़ारों का प्रयोग आरंभ होने से इस प्रक्रिया में सहायता मिली होगी। लेकिन लगता है, 800 ई.पू. से पहले आम तौर पर लोहे का प्रयोग हथियारों के अलावा अन्य प्रयोजनों से नहीं किया जाता था।

पहले हिंद-आर्य भाषा बोलनेवाले 'आर्यों' तथा यहां जिन लोगों से वे मिले और जिन्हें वे दास, दस्यु और पणी कहते थे उन लोगों के बीच प्रजातिगत भेद माना जाता था। इसके साक्ष्य के रूप में इस कथन का हवाला दिया जाता था कि दो वर्ण, *आर्यवर्ण*और *दासवर्ण* थे। वर्ण का अर्थ रंग है और इसे चमड़ी का रंग माना गया। लेकिन यदि संदर्भों को ध्यान में रखकर देखें तो अधिक संभावना इस बात की लगती है कि वर्ण का प्रयोग भेद की अभिव्यक्ति के लिए एक प्रतीकात्मक वर्ग-निर्देशक के रूप में किया जाता था। इसका समर्थन इस बात से होता है कि दासों की चमड़ी के रंग के विशिष्ट वर्णनों का अभाव है और भाषा, कर्मकांड, देवी-देवताओं तथा रीति-रिवाजों के भेद के उल्लेख अधिक मिलते हैं। पणियों को पशु-चोर और इसलिए घृणास्पद कहा गया है। ध्यान देने की बात है कि *अवेस्त* में *दाह*(दास) और *दह्यु*(दस्यु) का उल्लेख पराए लोग के अर्थ में किया गया है। दास की नाक के चपटी होने का संकेत करनेवाले ऋग्वैदिक शब्द का एक अर्थ मुखविहीन व्यक्ति भी किया गया है, अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो कोई भाषा नहीं जानता। शायद ऐसा कहना अधिक उचित होगा कि ऋग्वेद में विभिन्न सांस्कृतिक पद्धतियों का अनुसरण करनेवाले अलग-अलग समाजों का चित्रण किया गया है, लेकिन चूंकि ऋचाओं के रचनाकार आर्य भाषा-भाषी लोग थे, इसलिए उनका अपना समाज प्रमुख समाज के रूप में सामने आता है। दासों के प्रति भय का भाव भी है और तिरस्कार का भी। अपनी संपत्ति, ख़ास तौर से पशु-धन के कारण वे आर्य-भाषियों की ईर्ष्या के पात्र थे और इसीलिए वे उनसे शत्रुता रखते थे। बाद में दास शब्द का प्रयोग किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए किया जाने लगा जिसे अधीन कर लिया गया हो या दास बना लिया गया हो। लेकिन इस अर्थ-परिवर्तन में सदियों का काल लगा और इसलिए वह इस शब्द के मूल अर्थ से भिन्न अर्थ का बोध कराने लगा। इस अर्थ-परिवर्तन से पशुचारक व्ययवस्था के ह्रास का भी संकेत लिया जा सकता है, क्योंकि ऐसे समाजों को गुलामों पर निमंत्रण रखने में कठिनाइयां होंगी, सो इसलिए कि पशुओं को चराते समय गुलाम भाग सकते हैं। आर्य का अर्थ प्रतिष्ठित व्यक्ति, जो बहुधा हिंद-आर्य भाषा बोलता था, बना रहा।

*ऋग्वेद*के रचयिता आरंभ में पशुचारक थे, लेकिन थोड़ी-बहुत खेती भी करते थे। चूंकि देशांतरण करनेवाले पशुचारकों को अकसर स्थायी रूप से बसे स्थानीय

समुदायों के निकट-संपर्क में आना पड़ता होगा, इसलिए कभी-कभी दोनों के बीच मुकाबले की स्थिति उत्पन्न हो जाती होगी और कभी-कभी संबंध- सुधार के लिए आपसी वार्ताओं का भी सहारा लेना पड़ता होगा। शायद इसीलिए शंबर जैसे कुछ दास सरदारों को शत्रु कहा गया है और धनाढ्य दासों के पशुओं के हरण को उचित पेशा बताया गया है। दूसरी ओर ब्रीबु और बलबूथ जैसे जिन दासों को अपने अनुकूल बना लिया गया है उनका वर्णन वैदिक पुरोहितों द्वारा उनके लिए संपादित कर्मकांडों के कर्ताओं के रूप में किया गया है। ऐसा मालूम होता है कि कुछ पशुचारक सरदार स्थानीय कृषकों के संरक्षक बन गये, जिसका कारण शायद यह था कि उनको सुरक्षा प्रदान करनेवाला हड़प्पाई प्रशासन खत्म हो गया था। इससे हिंद-आर्य-भाषी पशुचारक सरदारों को काफी सत्ता प्राप्त हो गयी होगी और उधर इस स्थिति से उनकी भाषा का अधिक व्यापक प्रयोग सुनिश्चित हुआ होगा। कर्मकांडों की प्रभावकारिता के संबंध में जो दावे किए जाते थे उनके साथ मिलकर इस स्थिति ने इस भाषा की प्रतिष्ठा बढ़ा दी होगी। पशुचारकों और किसानों के बीच एक प्रकार का अविच्छेद्य संबंध होता है। किसान फसल काटने के बाद अपने खेतों में पशुओं को फसल की ढूंठ चरने देते हैं और पशु जो मल-मूत्र त्याग करते हैं उससे खेतों को खाद मिलती है। दोनों अपने-अपने उत्पादों का आपस में विनिमय भी करते हैं। यह विनिमय-संबंध तब और बढ़ जाता है जब पशुचारक विनिमय वस्तुओं को एक से दूसरे स्थान को ले जाने का भी काम करते हैं। दोनों कार्यक्षेत्रों के बीच कुछ-कुछ पारस्परिक अतिक्रमण की स्थिति भी विकसित हो जाती है, जिसके फलस्वरूप अधिक सुप्रतिष्ठित पशुचारक सरदार कुछ प्रदेशों और खेती की ज़मीन पर हक जमा सकता है। जिन्हें ऊंचा दर्जा और संसाधनों पर नियंत्रण प्राप्त है उनकी अधीनता मानने के लिए अन्य लोगों को मजबूर होना पड़ेगा।

वैदिक संस्कृत में जो भाषागत परिवर्तन प्रतिबिंबित होता है उसमें उभयपक्षीय संबंध अभिव्यक्त हुआ है। हिंद-आर्य-भाषा दाखिल की गई और अपनाई गई, इसलिए स्पष्ट ही जो लोग उसे बोलते थे या जिन्होंने उसे अपनाया उन्होंने वैसा इस वजह से किया कि उसके कुछ लाभ थे-जैसे सत्ता, प्रौद्योगिकीय परिवर्तन या कर्मकांडी शक्ति। साथ ही स्वयं वैदिक संस्कृत में भी परिवर्तन हुए। द्राविड़ और आस्ट्रो-एशियाई (जैसे मुंडा) के तत्व वैदिक संस्कृत में दाखिल हुए। विद्वानों का विचार है कि एक द्विभाषिक दौर भी चला, जब विभिन्न समुदायों के बीच समागम के लिए एकाधिक भाषा का प्रयोग होता था या शायद यह हो सकता है कि हिंद-आर्य से इतर भाषाएं अधोस्तरीय भाषाएं थीं, जिनके तत्व हिंद-आर्य में पचा लिए गए। वैदिक साहित्य वर्चस्वी समूह का विवरण है, लेकिन इससे यह संभावना खत्म नहीं हो जाती कि अन्य समूह भी उपस्थित थे। ये भाषाई तत्त्व हिंद-आर्य भाषा में स्पष्ट दिखाई देते हैं, लेकिन उसकी भगिनि भाषाओं, जैसे प्राचीन ईरानी में नहीं

दिखाई देते।

देशांतरण के साक्ष्य विभिन्न रूपों में मिलते हैं। सबसे स्पष्ट *अवेस्त* में मिलनेवाले एक सुदूरवर्ती मूल देश और जिन स्थानों से होकर *ऐरियों*(airiia) ने देशांतरण किया उनके उल्लेख हैं। भौगोलिक दिशा मध्य एशिया से उत्तरी भारत की ओर आती है, और यात्रा-पथ के अंत में उल्लिखित स्थानों में *हेप्तहिंदु* भी है। यदि यह विभाग *अवेस्त*के बादवाले हिस्से में पड़ता हो, तो भी किसी पूर्ववर्ती देशांतरण और उसके भूगोल में कोई संदेह नहीं रहता। मूलदेश मिथकीय ही बना रहा, लेकिन जिन क्षेत्रों से होकर *ऐरियों*के यात्रा करने का विश्वास किया जाता है वे भौगोलिक स्थान हैं। *अवेस्त*में अफगानिस्तान के जिन भौगोलिक नामों का—जैसे हरक्सवती और हरयू का—उल्लेख हुआ है उन्हें और भी पूरब चलकर उत्तरी भारत में, लगता है, दोहराया गया है—जैसे सरस्वती और सरयू। तुर्वस और भरत जैसे महत्त्वपूर्ण कुल देशांतरण करके पहाड़ों से मैदान में या रावी क्षेत्र से व्यास क्षेत्र में पहुंचे।

कुछ वनस्पतियों और प्राणियों से परिचय का अभाव देशांतरण का एक और संकेत है। उदाहरण के लिए, आरंभ में ऋग्वैदिक लोग चावल के बारे में नहीं जानते थे, यद्यपि कुछ हड़प्पाई ठिकानों में उसके दाने मिले हैं। जंगली जानवरों में वे लोग बाघ या गैंडे से पहले सिंह को जानते थे। मगर बाघ और गैंडे का चित्रण हड़प्पाई मुहरों में किया गया है, यद्यपि *ऋग्वेद*में वे अनुपस्थित हैं। इससे लगता है कि *ऋग्वेद* के रचयिताओं का पूर्ववर्ती निवास-स्थान और भी पश्चिम और उत्तर की ओर था। हाथी को विचित्र प्राणी के रूप में देखा जाता था और उसका वर्णन हाथवाले पशु—*मृगहस्तिन्*—के रूप में किया गया।

घोड़ों के उल्लेख न केवल इस पशु के यहां दाखिल किए जाने के, बल्कि घोड़ों से संबंधित क्रियाकलाप के भी द्योतक हैं। घोड़ों को खिलाने के लिए पर्याप्त चरागाहों की ज़रूरत थी, क्योंकि चारे की फसलों का कोई जिक्र नहीं मिलता। पशुहरण अभियानों का उल्लेख बार-बार हुआ है। देशांतरणकारी पशुचारकों के मामले में न केवल लोगों के संचलनों के उल्लेख होंगे बल्कि पशु-धन की अभिवृद्धि के लिए पशुहरण अभियान एक महत्त्वपूर्ण स्रोत होंगे। इसलिए कुल न केवल दासों पर आक्रमण करते थे बल्कि चरागाहों, बसने की भूमि और पशुओं के लिए आपस में भी लड़ते थे। पशुओं को चराने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान जाने के क्रम में बस्तियां बसाने के लिए उपयुक्त इलाकों की भी खोज की जाती थी। ये सूने और अलग-थलग पड़े इलाके नहीं होते होंगे, क्योंकि आरंभ में ज़रूरत के अनाज तथा अन्य वस्तुएं प्राप्त करने के लिए स्थायी कृषि करनेवालों के साथ कुछ विनिमय आवश्यक होता होगा।

*ऋग्वेद*में अनेक कुलों का उल्लेख हुआ है, ख़ास तौर से वहां जहां कबीलों के बीच के संघर्ष की चर्चा हुई है। एक प्रसंग में बताया गया है कि सुदास पश्चिमी

पंजाब में बसे भरत कुल का राजा या सरदार था। विश्वामित्र और वसिष्ठ दोनों से उसका संबंध था और ये दोनों उसके पुरोहित थे, जिन्होंने उसकी सफलता सुनिश्चित की थी। व्यास के किनारे सुदास पर दस कुलों के एक संघ ने आक्रमण कर दिया, लेकिन सुदास विजयी रहा। संघर्ष का कारण पशुहरण, चरागाहों से संबंधित विवाद या नदी के जल पर नियंत्रण होता था। परिवारों या कुलों के पास अपने-अपने पशु होते थे, लेकिन चरागाह सामूहिक होते थे। हमले के द्वारा पशु-धन में शीघ्रता से वृद्धि की जा सकती थी। झड़पें, हमले और टकराव आर्य दर्जे का दावा करनेवाले कुलों के बीच भी हो सकते थे और ऐसे कुलों तथा अन्य लोगों के बीच भी।

गांगेय मैदान की ओर देशांतरण जारी रहा, और *ब्राह्मणों*में उनका जिक्र हुआ है। विदेघ माथव के नेतृत्व में उसके लोग हिमालय की तराई के समानांतर पूरब की ओर बढ़ते हुए गंडक नदी तक पहुंच गए। नदी के पार की भूमि को आग लगाकर साफ किया गया और फिर वहां बस्ती बसाई गई। पंचालों ने पहले अपने को संघबद्ध किया और फिर कुरुओं के साथ संघबद्ध होकर कुरु-पंचाल संघ बनाया। इस शक्तिशाली संघ का पश्चिमी गांगेय मैदान के एक हिस्से पर नियंत्रण था। उल्लेखों के अनुसार, पहली सहस्राब्दी ई.पू. तक वे एक साथ कई-कई महीने चलनेवाले सैनिक अभियानों पर निकल जाते थे। *महाभारत*में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। यद्यपि पश्चिमी गांगेय मैदान *ऋग्वेद*में महत्त्वपूर्ण नहीं है, लेकिन आगे चलकर हलचलों का केंद्र पंजाब से खिसककर पश्चिमी गांगेय मैदान में कुरुपंचालों के प्रदेशों में पहुंच जाता है। कुरु-पंचाल उस दौर में विकसित हो रहे अधिक विस्तृत और आडंबरपूर्ण कर्मकांडों के संरक्षक बन गए और एक नए प्रकार की राजनीतिक सत्ता को प्रतिष्ठित करने लगे। कहा गया है कि सबसे अच्छी संस्कृत इसी क्षेत्र में बोली जाती है। बाद में पश्चिमोत्तर और पूर्व को म्लेच्छ देश कहा जाने लगता है। मूलतः इस शब्द से शायद उन लोगों का बोध होता था जो संस्कृत शुद्ध-शुद्ध नहीं बोल सकते थे और बाद में उन लोगों का बोध होने लगा जो जाति-व्यवस्था पर आधारित समाज के दायरे से बाहर और इसलिए अशुद्ध थे। यह संस्कृति के भौगोलिक केंद्र में परिवर्तन का एक आरंभिक उदारहण है, जो शायद आठवीं-सातवीं ई.पू. में हुआ। इससे *आर्य*शब्द के अर्थ में एक संभावित बदलाव का भी संकेत मिलता है : जो भाषा बोली जाती थी उसमें अनार्य तत्वों का अधिकाधिक समावेश हो रहा था और गांगेय मैदान की नवपाषाण और ताम्रपाषाण संस्कृतियों के निर्माताओं के साथ आर्य-भाषा-भाषियों का समागम पहले की अपेक्षा बहुत अधिक हो रहा होगा। उत्तर वैदिक साहित्य की रचना इस परिवर्तन को प्रतिबिंबित करती है।

कृषि-सह-पशुचारण कुछ काल तक आर्य-भाषा-भाषियों का मुख्य धंधा रहा। गाय मूल्य की माप थी। बहुत-सी भाषाई अभिव्यक्तियों का संबंध गोधन से है। *गाविष्कि*का अभिधार्थ 'गायों की तलाश' है, लेकिन उसका भावार्थ 'लड़ना' हो

गया, जिसका साफ मतलब यह है कि पशुहरण आक्रमणों और खोए हुए गोधन के कारण आए दिन सशस्त्र संघर्ष होते रहते थे। गाय को शायद प्रतीक (टोटम) पशु माना जाता था और इसलिए पूजनीय। गोमांस-भक्षण कुछ विशिष्ट अवसरों के लिए सुरक्षित था–जैसे कर्मकांडों और किसी अतिथि अथवा अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति के आतिथ्य के लिए। अन्य पशुपालक संस्कृतियों में भी यह एक सामान्य प्रथा है। गाय के आर्थिक महत्त्व ने उसकी पूजनीयता को और भी बढ़ा दिया। संभव है कि बाद में जो गायों को पवित्र और अवध्या माना जाने लगा उसमें इस बात का योगदान रहा हो, यद्यपि किसी में पवित्रता का आधान करने के लिए बुद्धिसंगत कारण कोई जरूरी नहीं होता। इस प्रश्न का संबंध पशुपालन, चरागाह-क्षेत्रों और पर्यावरणीय परिवर्तनों से है। अंततः गोमांस-भक्षण का त्याग प्रतिष्ठा का विषय बन गया और विभिन्न धार्मिक आदेशों ने इस निषेध को सबल बनाया। ध्यान देने की बात है कि निषेध ऊपरी जातियों के बीच प्रचलित था। अन्य पशुओं में घोड़े का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था। घोड़ा संचलन के लिए, युद्ध में गति के लिए आवश्यक था, और मिथकशास्त्र में वह केवल मनुष्यों के रथों को ही नहीं बल्कि देवी-देवताओं के रथों को भी खींचता था और जहां चरागाह विस्तृत थे वहां घोड़े पर सवार होकर मवेशी पर नजर रखना अधिक आसान था।

मवेशी पालना खेती-बाड़ी का रास्ता रोकता नहीं है। पुरातत्व से सप्त-सिंधु क्षेत्र में विभिन्न समाजों के साक्ष्य मिलते हैं, जिनमें से कुछ हैं कब्रगाह 'H' संस्कृति, गंधार कब्र संस्कृति और गैरेय मृद्भांड संस्कृति। *ऋग्वेद*की ऋचाओं के रचयिता इनमें से कुछ से शायद परिचित रहे होंगे। ताम्रपाषाण संस्कृतियों में खेती की जाती थी, इसलिए खेतिहरों और पशुचारकों का संयोग हुआ होगा। उनमें से कुछ लोग उस क्षेत्र में पहले से ही मौजूद रहे होंगे और कुछ नवागंतुक रहे होंगे। लेकिन कृषि का विस्तार करने के लिए भूमि को साफ करना आवश्यक था। इस प्रक्रिया में अग्नि की अपनी भूमिका रही होगी। आरंभ में शायद स्थानांतरण कृषि के ढंग पर आग का उपयोग किया जाता होगा। लेकिन जंगलों को जलाने की अपेक्षा उन्हें काटना खेती के लिए ज़मीन साफ करने का शायद बेहतर तरीका था, ख़ास तौर से लोहे की कुल्हाड़ियों का प्रयोग आरंभ होने के बाद से। कटाई से अधिक बड़े क्षेत्र को बेहतर तरीके से साफ किया जा सकता था। हल का इस्तेमाल प्राक्-हड़प्पाई काल में ही आरंभ हो चुका था और हल के लिए बहुधा प्रयुक्त एक शब्द–*लांगल*–मुंडा भाषा का है, जो एक आर्येतर भाषा थी। गैर-आर्य भाषाओं से हिंद-आर्य भाषा द्वारा उधार लिए गए कृषि-विषयक शब्दों की बहुलता को देखते हुए लगता है कि हल-कृषि पहले से बसे समुदायों के बीच अधिक प्रचलित थी।

कृषि-उत्पादों का उल्लेख अधिक नित्यता से होने लगा–यहां तक कि यज्ञ कर्मकांड में हव्यों में भी। ज़मीन जोतने के लिए छह-छह, आठ-आठ बैलोंवाले हलों

का प्रयोग किया जाने लगा। हल शक्ति और उर्वरता की प्रतिमूर्ति बन गया, जैसा कि निम्नलिखित स्तोत्र से प्रतीत होता है :

भाले की नोक जैसा, चिकने हत्थेवाला, सुशयित हल गाय, भेड़ और गतिमान रथ का ढांचा और यौवन से भरी युवती प्रकट करे। इंद्र सीता को दबाए रहे; पूषण् उसकी रक्षा करे; वह जो दुग्ध-समृद्ध है, प्रत्येक आगामी ग्रीष्म में हमें प्रदान करे।

अच्छे फाल धरती को सफलतापूर्वक विदीर्ण करें; हलवाहे कर्षक पशुओं को सफलतापूर्वक हांकें; शूनाशीर, तुम दो बूंद हविस् के साथ चुआकर, इस व्यक्ति के लिए बूटियों को सरस फलों से समृद्ध करो।

कर्षक पशु सफलतापूर्वक, मनुष्य सफलतापूर्वक, हल सफलतापूर्वक (ज़मीन को) जोतें; बंधन सफलतापूर्वक बांधे जाएं; सफलतापूर्वक पैने का प्रयोग किया जाए।

अथर्ववेद,3.17. 3-6 डब्ल्यू.डी. व्हिटनी के अंगरेजी अनुवाद से पुनर्नूदित

गांगेय मैदान में कृषि के क्षेत्र में एक नई बात यह हुई कि धीरे-धीरे गेहूं के बदले चावल की खेती की जाने लगी और पाले जानेवाले पशुओं में भैंस का प्रवेश हुआ। चावल की सिंचित खेती एक नाटकीय परिवर्तन थी, क्योंकि इससे पैदावार बहुत बढ़ गई और फलत: अधिशेष में भी वृद्धि हुई। विश् या कुल पर अधिक नियमित ढंग से उपहार और बलि देने के लिए दबाव बनाया गया, और इन पर निर्भर यज्ञों की संख्या बढ़ गई। साथ ही पुरोहितों को अधिक दान और दक्षिणा (शुल्क) दिया जाने लगा।

आरंभ में भूमि का उपयोग कुल या समुदाय द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता था। लेकिन अंत में कुलगत पहचान के कमज़ोर पड़ने और खेतों के उपयोगाधिकार तथा सीमांकन के प्रचलन के फलस्वरूप ज़मीन छोटे-छोटे समूहों—शायद परिवारों—के बीच विभाजित होने लगी। पशुचारण की अपेक्षा कृषि पर अधिक निर्भरता के कारण और भी ज़्यादा किस्म के पेशे उभर आए। बढ़ई समुदाय का सम्मानित सदस्य बना रहा, क्योंकि वह न केवल रथ-निर्माता, बल्कि हल-निर्माता भी वन गया था और कुटिया बनाने के लिए ढांचों के निर्माण का काम तो वह करता ही था। जंगलों से लकड़ी की बढ़ती हुई उपलब्धता ने बढ़ईगीरी को लाभदायक धंधा बना दिया, जिससे इस काम की प्रतिष्ठा भी बढ़ी होगी। ग्राम समुदाय के अन्य आवश्यक सदस्य थे धातुकर्मी (तांबे, कांसे और बाद में लोहे का काम करनेवाले), कुम्हार, चर्मकार, सरकंडों का काम करनेवाले और बुनकर।

गांगेय मैदान में विरचित उत्तर वैदिक साहित्य में ऐसी अवस्थाओं का वर्णन हुआ है जो शहरीकरण का पूर्वाभास देती हैं। ताम्रपाषाण संस्कृतियों ने विशेषज्ञता की

प्राप्ति को बढ़ावा दिया और इस प्रकार के लोगों की कुछ बस्तियां अंततः शहरी केंद्र बनने जा रही थीं। शहरीकरण से ठीक पहले की संस्कृतियों में कभी-कभी इस आधार पर भेद किया जाता है कि पश्चिमी हिस्से में चित्रित धूसर मृद्भांड का और मध्य तथा पूर्वी हिस्सों में कृष्ण-लाल मृद्भांड का प्रयोग किया जाता था। ये संस्कृतियां सामान्यतः एक-दूसरे से सटी हुई छोटी-छोटी बस्तियां थीं, जिनका मुख्य धंधा कृषि थी। चित्रित धूसर मृद्भांड की भौतिक संस्कृति तथा उत्तर वैदिक साहित्य में वर्णित भौतिक संस्कृति के बीच कुछ पारस्परिक संबंध सुझाया गया है, यद्यपि इन पुरातात्विक संस्कृतियों को आर्य या अनार्य कहना सही नहीं होगा। वैदिक साहित्य से साम्य का मतलब यह होगा कि अनेक अंतर्क्रियाओं के फलस्वरूप समाज विकसित हो रहे थे और आचार के नए नियम उभर रहे थे। कुछ ठिकानों में छठी सदी ई.पू. के आसपास और कुछ में इसके कुछ बाद प्रारंभिक शहरी जीवन दिखाई देने लगता है। पंजाब और गांगेय मैदान के बीच संबंध के सूत्र हिमालय की तराई के समानांतर चलनेवाले थल-मार्गों और गंगा नदी-तंत्र से होकर गुजरते थे। हिमालय की तराईवाले मार्ग इसलिए आकर्षक रहे होंगे कि उधर कुछ कम घने जंगल थे और उस क्षेत्र में कच्ची धातुओं के स्रोत थे। जंगलों से होकर गुजरने वाले रास्ते की अपेक्षा गंगा परिवार की नदियों के माध्यम से संचार अधिक सुगम था।

जब कृषि-उत्पादन अधिशेष के रूप में उपलब्ध हुआ तो उससे विनिमय का विकास हुआ, जो बाद में व्यापार के रूप में प्रतिफलित हुआ। पहले विनिमय का स्वरूप माल की अदला-बदलीवाला था और बड़े पैमाने के सौदों में गाय मूल्य की इकाई होती थी। इससे उत्पादों का विनिमय करने के इच्छुक लोगों का भौगोलिक दायरा सीमित रह जाता था। मूल्य के पैमाने के रूप में *निष्क*का भी उल्लेख हुआ है। शायद यह सोने का होता था, क्योंकि बाद में सोने के सिक्के का नाम निष्क ही पड़ा। जब गांगेय मैदान में ख़ास तौर से नदियों के किनारे-किनारे बस्तियां पूरब की ओर फैलने लगीं तो नदियां प्राकृतिक मुख्य मार्ग बन गईं, भले ही नदियों के रास्ते चलनेवाला व्यापार शुरुआत में बुनियादी किस्म का व्यापार ही क्यों न रहा हो।

सरदार और राजा

समाज का सबसे छोटा खंड कुल या परिवार था। ऊंची प्रतिष्ठावाले समूहों में कुल पितृसत्तात्मक होता था। कई परिवारों के मिलने से *ग्राम*बनता था। बाद में इस शब्द का प्रयोग गांव के अर्थ में होने लगा। इससे लगता है कि प्रारंभिक बस्तियों में परिवारों में आपस में रिश्तेदारी होती थी। एक राय यह भी है कि *ग्राम*यायावर पशुचारकों द्वारा उपयोग किए जानेवाले बड़े-बड़े डिब्बों की एक तरतीब होता था। एक सामाजिक हस्ती के रूप में परिवार सामान्यतः तीन पीढ़ियों तक फैला होता था।

बेटे अकसर माता-पिता के घर में साथ-साथ रहते थे। कम आयु में विवाह का रिवाज नहीं था। दहेज और वधू-मूल्य दोनों को अलग-अलग दस्तूर माना जाता था। पुत्र-जन्म विशेष रूप से स्वागत योग्य होता था, क्योंकि विभिन्न अनुष्ठानों में पुत्र की उपस्थिति अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होती जा रही थी।

पितृसत्तात्मक दायरे के अंदर स्त्रियों की स्थिति, अवसर के अनुसार, कभी किसी हद तक स्वतंत्रता की होती थी तो कभी परवशता की। वेदों में स्त्रियों का जो चित्रण हुआ है उसे काफी रूमानियत के रंग में पेश किया गया है, लेकिन यथार्थ दृष्टि से देखें तो अलग-अलग प्रकार की तसवीरें उभरती हैं, ख़ास तौर से जब कुल के आचार-व्यवहार का स्थान जाति के नियमों ने ले लिया उसके बाद से। हड़प्पाई लघु-प्रतिमाओं को देखने से लगता है कि स्त्रियों की ऐसी कुछ प्रतिमाएं शायद देवियों की रही होंगी, लेकिन वैदिक पाठों में देवियों में कुछ ख़ास शक्ति का आधान किया गया नहीं लगता और वे हाशिए पर रह जाती हैं। समझा जाता है कि पति की मृत्यु होने पर विधवा को उसके साथ प्रतीकात्मक आत्मदाह करना पड़ता था। हो सकता है, यह संबंधित परिवार की उच्च स्थिति का द्योतक रहा हो। बाद की सदियों में इसका हवाला सती प्रथा के मूल के रूप में दिया जाने लगा। इसके लिए पाठ में थोड़ा संशोधन कर दिया गया, जिससे ऐसा आग्रह करने की गुंजाइश निकल आई कि विधवा सचमुच अपने पति की चिता पर जल जाती थी। यह कर्मकांड प्रतीकात्मक था, ऐसा संकेत इस बात से मिलता है कि विधवाओं का आम तौर पर पति के भाई से पुनर्विवाह होता था। इस प्रथा को *नियोग*कहते थे। आम तौर पर एक-पति-पत्नीक विवाह ही होता था, लेकिन राजाओं में बहुपत्नीक विवाह का भी रिवाज था और बहुपतिक विवाह के भी उदाहरण मिलते हैं। विवाह तथा कौटुंबिक पद्धतियों और साथ ही सामाजिक नियमों की इस विविधता को देखते हुए आचार-संबंधी पाठों में विहित नियमों का सार्वजनीन पालन शंकास्पद हो जाता है। तीन रीतियां तो केवल पांडवों के संदर्भ में ही दिखाई देती हैं–क्षत्रियों में बहु-पत्नीक विवाह, जैसा कि पांडुवों ने किया; द्रौपदी से पांचों पांडवों के विवाह से उदाहृत बहु-पतिक विवाह; और सुभद्रा से अर्जुन के विवाह के रूप में संपन्न कौटुंबिक विवाह। ये सभी सामाजिक पद्धतियों की विविधता का संकेत देते हैं। यदि मिथकशास्त्र को कुटुंब तथा विवाह से संबंधित नियमों के प्रति दृष्टिकोण का द्योतक माना जाए तो कहना पड़ेगा कि उसमें निश्चय ही लचीलापन था।

अग्नि-पूजा के कारण चूल्हे को प्रतीकात्मक महत्त्व प्राप्त हुआ और वह घर का सबसे पवित्र भाग और नाभि-केंद्र बन गया। घर लकड़ी के ढांचे पर बनाया जाता था। कमरे के कोनों पर खंभे गड़े होते थे, जिनमें ऊपर धरनें रख दी जाती थीं और उसे चारों ओर से सरकंडे और फूस की टट्टियों से घेर दिया जाता था। बाद में मिट्टी की लेप चढ़ी टट्टियां बनने लगीं। घर बनाने में ईंटों का इस्तेमाल

नहीं किया जाता था। कच्ची ईंटों का इस्तेमाल बड़े-बड़े यज्ञों के लिए वेदियां बनाने के लिए किया जाता था। छप्पर बांस की खप्पचियों के थाट पर बनाया जाता था। घर बड़ा होता था, जिसमें मनुष्य और पशु साथ-साथ रहते थे। मुख्य आहार में दूध, घी, सब्जियां, फल, विभिन्न रूपों में गेहूं और जौ तथा जहां पैदा होता था वहां चावल भी शामिल थे। समारोहों के अवसरों पर या अतिथि-आगमन पर अधिक विस्तृत भोज आयोजित करने का रिवाज था। ऐसे अवसरों पर मवेशी, बकरी और भेड़ का मांस परोसा जाता था, जिसे लोग *सुरा*और *मधु*(एक प्रकार का आसव) के साथ खाते थे। कपड़े सादे होते थे, लेकिन गहने तरह-तरह के होते थे, जिन्हें हासिल करके लोग बहुत प्रसन्न होते थे।

विभिन्न प्रकार के वाद्य यंत्रों के उल्लेख के अतिरिक्त ध्वनि, सुर और तान के सुविकसित ज्ञान से भी मालूम होता है कि संगीत में उन लोगों की अच्छी रुचि थी। विशेष रूप से *सामवेद*के गायन में वे इस ज्ञान का उपयोग करते थे। परवर्ती काल की संगीत शैलियों ने बहुधा अपने मूल का निर्देश संगीत के इसी आरंभ में करने का प्रयत्न किया, यद्यपि इस मूल का संबंध इतिहास की अपेक्षा प्रतिष्ठा से ही अधिक होता था। तथापि जहां सचमुच ऐसा कुछ था, वहां उससे परिष्कृत सांगीतिक संरचनाओं के लिए संभावनाएं प्रस्तुत हुईं, जिन्होंने संगीत के परव्रर्ती रूपों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अवकाश की घड़ियों का उपयोग मुख्य रूप से संगीत, गायन, नृत्य और जुए में किया जाता था। अधिक सक्रिय और स्फूर्तिवान लोगों के मनोरंजन का साधन रथ-धावन था। यह मुख्य रूप से राजाओं की क्रीड़ा थी, जिसे उपयोग कभी-कभी अभिषेक के एक कर्मकांड के रूप में भी शामिल किया जाता था। रथ अरेदार पहिए पर चलते थे और उनकी बनावट हल्की होती थी। उन्हें घोड़े खींचते थे। जुआ मनोरंजन का प्रिय साधन था। जुआरी पछतावा प्रकट करते थे, लेकिन फिर भी खेलना नहीं छोड़ते थे। *ऋचाओं*में पांसे और उन्हें फेंकने की विधियां विस्तार से वर्णित की गई हैं।

कुल पितृसत्तात्मक समूहों के रूप में संगठित थे, और आरंभिक दौर में राजा मात्र अपने समूह का अगुआ होता था। जब सुरक्षा और सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता खड़ी होती थी तो सबसे योग्य व्यक्ति को सरदार चुन लिया जाता था। सरदार धीरे-धीरे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त करने लगा, जिन्हें बाद में राजपद में शामिल कर लिया गया। लेकिन सत्ता के केंद्रीकरण पर कुलबंधुओं की कई प्रकार की संस्थाओं का अंकुश होता था। इनमें ख़ास थे *विदथ,सभा*और *समिति*। विदथ में अन्य कार्यों के साथ हमलों में प्राप्त लूट के माल के वितरण का कार्य भी संपादित किया जाता था। ऐसे अवसरों पर सूत सरदारों के पराक्रमों की प्रशस्तियों की रचना करते थे, जिसके लिए उन्हें उदारतापूर्ण उपहारों से पुरस्कृत किया जाता था। दान देने की प्रथा नायक को अमरत्व प्रदान करने के लिए रचित *ऋचा*के पुरस्कार के

रूप में आरंभ हुई। इसलिए दिवोदास जैसे उदार दाता सरदारों की प्रशस्ति में *ऋचाएं* रची जाने लगीं। यही प्रवृत्ति *ऋग्वेद*की दान-स्तुति के रूप में सामने आईं। कभी-कभी दान में दी गई संपत्ति के परिमाण बहुत अतिरंजित होते थे-जैसे साठ-साठ हजार गाएं और दस-दस हजार घोड़े दान करने के उल्लेख हुए हैं। इसके पीछे कृपणता से दान देनेवालों को नीचा दिखाने का भी उद्देश्य था। दान देने के बढ़ते हुए अवसरों से संरक्षक या कर्ता द्वारा *दक्षिणा* देने के विचार का भी जन्म हुआ। दक्षिणा कर्मकांड करानेवाले पुरोहित को दिया गया शुल्क थी। दान और दक्षिणा के फलस्वरूप संरक्षक और पुरोहित के बीच ऐसा संबंध कायम हुआ जो स्पर्धात्मक भी हो सकता था और सहचरतापूर्ण भी।

इन समाजों में दान की जड़ें काफी गहरी जम गईं और उसने न केवल सामाजिक रूप ग्रहण कर लिया, बल्कि वह बहुधा कुल-परिषदों में संपत्ति के वितरण की एक प्रकार की व्यवस्था भी बन गया। *सभा*चुनिंदे और विशिष्ट लोगों की परिषद थी और *समिति*पूरे कुल की। उदीयमान राजनीतिक संगठन के मूल का निर्देश सरकार के उद्भव के कुछ आख्यानों में किया जा सकता है : देवताओं और दानवों के बीच युद्ध चल रहा था और लग रहा था कि देवता हार जाएंगे, इसलिए उन्होंने एकत्र होकर अपने बीच से एक राजा चुन लिया और तब वे लड़ाई जीत गए।

राजा शब्द में आगे चलकर जो अर्थ समाहित हुआ उस अर्थ में उस काल के राजा को राजा कहने की अपेक्षा सरदार कहना अधिक उचित होगा। राजा शब्द 'चमकना' या 'नेतृत्व करना' अर्थ देनेवाली धातु से निकला है, यद्यपि महाकाव्यों में इसकी व्युत्पत्ति एक ऐसी धातु से बताई गई है जिसका अर्थ है 'रंजक' या 'प्रसन्न करनेवाला' और जिससे राजा का ध्वन्यर्थ यह हुआ कि वह प्रजा को संतुष्ट करता है। इस दूसरे अर्थ को कम सही माना जाता है। राजत्व की दिशा में हुआ परिवर्तन सामान्यत: दो चरणों से संबंधित माना जाता है। पहला चरण है, उत्तर वेदों में विवेचित ढंग के बड़े यज्ञों का संपादन, जब पुरोहित सरदार को न केवल सामान्य लोगों से ऊपर की स्थिति में अभिषिक्त कर देते थे बल्कि उसमें देवत्व के तत्वों का भी आधान कर देते थे। दूसरे चरण का संबंध राज्य के उदय से है। राज्य के उदय का मतलब था समाज और शासन के कुल-आधारित संगठन का त्याग। इन्हीं परिवर्तनों से यह बात भी जुड़ी हुई है कि राजा के *विश्*या कुल के द्वारा चुने जाने की अभिधारणा उत्तरोत्तर क्षीण होती गई, जिसका मतलब था कुल का अधीनता की स्थिति में आ जाना। हिरन जैसे दाने को खाता है उसी प्रकार राजा *विश्*को खाता है, यह रूपक यहां बहुत उपयुक्त लगता है।

आरंभ में राजा मुख्य रूप से एक सैनिक नेता था। उसकी कुशलता का मापदंड बस्ती की रक्षा करना और हमलों में लूट का माल हासिल करना था। ये दोनों योग्यताएं उसके पद की आवश्यक शर्तें थीं। वह लोगों द्वारा स्वेच्छा से दी गई भेंट

और उपहार प्राप्त करता था, जिन्हें *बलि*कहा जाता था। इसी से देवताओं को अर्पित वस्तुओं के लिए बलि शब्द का प्रयोग होने लगा। किसी प्रकार के नियमित कर पर उसका कोई हक नहीं था, और न भूमि पर उसका कोई अधिकार था। सफल पशुहरण अभियानों से जो कुछ प्राप्त होता था उसके *भागों,हिस्सोंमेंबांट*दिए जाने के बाद वह एक भाग का हकदार अवश्य होता था। और स्पष्ट ही वह बड़े भाग का हकदार होता होगा। उल्लेख *शुल्क*का भी हुआ है। आगे चल कर राज्य की स्थापना के बाद विभिन्न करों के लिए *बलि,भाग*और *शुल्क*इन तीनों शब्दों का प्रयोग होते देखने को मिलता है।

जब पुरोहित का कर्म अधिक विशिष्ट प्रकार का हो गया और राजा अधिक अधिकार पर आग्रह करने लगा तब वह यज्ञों के संरक्षक या कर्ता के रूप में उभरा। अब शक्ति धारण करनेवाले राजा की सत्ता और कर्मकांड के माध्यम से उस शक्ति का वैधीकरण करनेवाले ब्राह्मण की सत्ता के बीच स्पर्धा भी चली और उनका परस्पर संयोजन भी हुआ। अंततः इस स्पर्धा से ब्राह्मण उच्चतम कर्मकांडी दर्जा लेकर निकला। बाद की एक कथा में बताया गया है कि अपना नेतृत्व करने के लिए देवताओं ने न केवल अपना राजा चुना बल्कि उसे विशिष्ट गुणों से भी विभूषित किया गया। इसी प्रकार मानव राजाओं में भी देवत्व के गुणों का आधान किया गया। ऐसे विशेष यज्ञों का विकास किया गया जिनके माध्यम से पुरोहित–जिन्हें मनुष्यों और देवताओं के बीच की कड़ी माना जाता था–राजा में देवत्व का आधान कर सकते थे। इससे पुरोहितों की शक्ति की अभिवृद्धि हुई और यह सांसारिक तथा धार्मिक शक्ति की पारस्परिक निर्भरता का आरंभ था। इस कारण से कभी–कभी दोनों के बीच दर्जे के लिए स्पर्धा भी हो जाती थी। वैदिक साहित्य के विपरीत, *महाभारत* में ऐसी परिस्थिति का चित्रण किया गया है जिसमें क्षत्रियों के सरोकार और उनका दर्जा मुख्य हो जाता है। इसलिए इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है कि अब राजा के पद के वंशानुगत होने का रुझान दिखाई देने लगता है और उसमें ज्येष्ठाधिकार के पक्ष में वातावरण तैयार होने लगता है। *ऋग्वेद*में जहां वंशावली कभी–कभी ही देखने को मिलती है और सो भी बहुत छोटी और सीमित, वहीं अब अधिक लंबी वंशावलियां सामने आती हैं, जिनका उद्देश्य वंश–परंपरा के नाम पर–चाहे वह परंपरा यथार्थ हो या काल्पनिक–राजाओं को वैधता प्रदान करना था। फलतः परिषदों के महत्त्व में भी परिवर्तन हुआ। *सभा*राजा की सलाहकार परिषद के रूप में तो काम कर सकती थी, लेकिन अंतिम सर्वोच्च प्राधिकरण राजा ही था। बड़ी परिषदें धीरे–धीरे तिरोहित हो गईं। यह राजपद की प्रतिष्ठापना का संकेत था।

प्रारंभिक ढंग की प्रशासन व्यवस्था में राजा धुरी की स्थिति में था। सरदार–पद के साथ प्रदेश भी जुड़ने लगा, जिसमें गांवों में बसे परिवार, उनसे बड़े कुल और कुलों से भी बड़ी इकाई कबीला शामिल था। इन सबको मिलाकर ***जनपद*** बनता

था, जिसका शब्दार्थ वह स्थान है जहां कबीला अपने पैर रखता है। महत्त्व की बात यह है कि जनपद का नाम शासक कुल के नाम पर पड़ता था। यह कोई एक कुल भी हो सकता था–जैसे कैकेय, मद्र, कुरू और कोसल; साथ ही यह कुलों का संघ भी हो सकता था–जैसे पंचालों का संघ। इससे भी बड़ा संघ कुरुओं और पंचालों के साथ मिल जाने से बना। राजा के परामर्शदाताओं में अधिक उल्लेख *पुरोहित*और *सेनती*के मिलते हैं। पुरोहित पुरोहित के अलावा ज्योतिषी और मंत्रणादाता भी होता था। सेनानी सेनापति होता था। और भी आगे चलकर राजा के इर्द-गिर्द इससे अधिक पदाधिकारी दिखाई देने लगते हैं। इनमें सारथी, कोषाध्यक्ष, भंडारी और द्यूताध्यक्ष शामिल हैं। राज-परिवार और जनसामान्य दोनों की द्यूतप्रियता को देखते हुए द्यूताध्यक्ष का पद आश्चर्यजनक नहीं लगना चाहिए। लेकिन द्यूतक्रीड़ा के दावों में चल संपत्ति या चरागाहों और खेतों पर अधिकार ही शामिल रहे होंगे, क्योंकि भूमि पर प्रभावकारी अधिकार का अस्तित्व नहीं था। उदाहरणार्थ, *महाभारत*से ऐसा ही प्रतीत होता है।

मूलतः कुछ अनुष्ठानों का उद्‌देश्य सरदार की प्रतिष्ठा को स्थापित करना था, लेकिन धीरे-धीरे उन्हें अधिक आडंबरपूर्ण बना दिया गया और राजा वास्तविक राजपद पर अपना हक जता सके, इसके लिए वे आवश्यक हो गए। एक बार पद-प्रतिष्ठित हो जाने और कानूनी दर्जा प्राप्त कर लेने के बाद सरदार वर्ष-भर का *राजसूय* या अभिषेक-यज्ञ कर सकता था, जिस दौरान पुरोहितों द्वारा अपनी जादुई शक्ति से देवताओं से प्राप्त किए गए देवत्व का उसमें आधान किया जा सकता था। इस कर्मकांड में शुद्धीकरण के कर्म किए जाते थे, और राजा का प्रतीकात्मक पुनर्जन्म कराया जाता था। इस कर्मकांड के अंत में राजा को बारह *रत्नियों*को जवाहरात भेंट-उपहार देने पड़ते थे, जिसके बदले वे उसे निष्ठा का वचन देते थे। उनमें से कुछ तो उसकी गृहस्थी के लोग होते थे और कुछ शिल्पी तथा विशेषज्ञ। विशेषज्ञों के शामिल किए जाने से लगता है कि दैनिक जीवन में विशेषज्ञता का महत्त्व बढ़ता जा रहा था। अभिषेक अनुष्ठान के कुछ साल बाद यज्ञ किए जाते थे, जिनका उद्‌देश्य राजा में नवजीवन का संचार करना होता था।

*अश्वमेध*सबसे प्रसिद्ध और आडंबरयुक्त यज्ञों में से था, जो शायद कुछ अन्य संस्कृतियों के लिए भी–जैसे रोमनों और केल्टों के लिए–अनजाना नहीं था। सरल कर्मकांड से आरंभ होकर उसने बहुत-से आडंबरयुक्त कर्मकांडों को अपने दायरे में समेट लिया। उत्तर वैदिक साहित्य में इसके वर्णन से यह बात स्पष्ट है। अश्वमेध करनेवाले बहुत सारे राजाओं के उल्लेखों से हमें संभावित राजाओं की एक सूची प्राप्त होती है। साथ ही उनकी छोटी-सी पूर्वज-परंपरा की भी जानकारी मिलती है, जिनमें से कुछ शायद ऐतिहासिक होंगे। उपयुक्त अनुष्ठान के बाद राजा एक विशेष घोड़े को अपनी मर्जी से चाहे जहां-कहीं जाने के लिए खुला छोड़ देता था। उसके पीछे-पीछे उसके रक्षक चलते थे। जिस प्रदेश से होकर वह घोड़ा गुजरता था उस

पर राजा अपना अधिकार जताता था। सिद्धांत रूप में यह यज्ञ करने की अनुमति उसी राजा को थी जो शक्तिशाली था और जो उक्त प्रदेश पर अपने अधिकार को प्रतिष्ठित कर सकता था, लेकिन व्यवहारतः वह राजपद प्राप्त करने का एक कर्मकांड था। बहुत-से छोटे-छोटे सरदार भी यह यज्ञ करते थे, और इसमें संदेह नहीं कि अपनी लाज बचाने के लिए उनमें से कुछ घोड़े के भ्रमण-क्षेत्र को जैसे-तैसे नियंत्रित रखते थे। ये यज्ञ बड़े पैमाने पर किए जाते थे। इनमें बहुत-से पुरोहित और यज्ञ के पशु शामिल होते थे और कर्मकांड में तरह-तरह की वस्तुओं का प्रयोग किया जाता था। घोड़े के लौटने पर कर्मकांड का दूसरा भाग आरंभ होता था। उसमें उर्वरता से संबंधित अनुष्ठान किए जाते थे, जिनमें यज्ञार्पित घोड़े और राज़ा की मुख्य पत्नी की भूमिका होती थी। इस प्रकार के कर्मकांड से राजा और ब्राह्मण की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि होती थी। जब उच्च स्थिति के दावे में स्पष्ट रूप से ऐसी राजनीतिक और आर्थिक सत्ता का समावेश हो गया जो आवश्यक रूप से कौटुंबिक स्बंधों पर आधारित नहीं थी तो उससे राजपद और प्रारंभिक राज्य की अभिधारणा का सूत्रपात हुआ।

प्रारंभिक जाति

कुछ कुलों को *आर्य*का दर्जा दिया गया, लेकिन पुरू जैसे कुछ अन्य प्रतिष्ठित राजा भी थे जिनके पूर्वेतिहास अस्पष्ट हैं। उसे *मृध्र-वाच* (mirdhar-Vac) कहा गया है, अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो भाषा शुद्ध-शुद्ध नहीं बोलता। आगे उसे असुर राक्षस मूल का बताया गया है। जहां *दास*मूल का उल्लेख हुआ है वहां भी अस्पष्टता रह जाती है। उदाहरण के लिए, एक स्थल पर ऐसा उल्लेख है : *दासी-पुत्र*ब्राह्मणों की उपस्थिति में, जिनकी माताएं *दास*समुदाय की थीं। उनका उल्लेख वेदों के उत्तर भागों में हुआ है। तब तक समुदायों का कुछ मिश्रण हो चुका था। आरंभ में उनका तिरस्कार किया जाता था, लेकिन जब उन्होंने पुरोहितों के रूप में अपनी शक्ति का परिचय दिया तब उनका सम्मान किया जाने लगा। यह विभिन्न स्थानीय उपासनाओं को वैदिक उपासना में शामिल करने का एक रास्ता रहा होगा। समझा जाता है कि *अथर्ववेद*में वर्णित बहुत-से कर्मकांड इसी प्रकार के हैं। यदि कर्मकांडों के विशेषज्ञों को ऊंचा दर्जा दिया जाता था तो पहले से मौजूद समाजों के अन्य सदस्यों को भी सामाजिक सोपान में कहीं-न-कहीं खपा लिया जाता होगा। उदाहरण के लिए, निषादों की संस्कृति अलग थी, लेकिन उन्हें वैदिक कर्मकांडों से जोड़ लिया गया।

*ऋग्वेद*से बाद के वेदों में चार वर्णों का उल्लेख हुआ है : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (हालांकि प्रथम वेद की भी एक परवर्ती ऋचा में ऐसा उल्लेख है)। यह *ऋग्वेद*में उल्लिखित दो अर्थात् *आर्यवर्ण*और *दासवर्ण*का चार वर्णों

नें विभाजन नहीं है, क्योंकि चार वर्णों का आधार भिन्न है। प्रथम तीन के कर्तव्य पेशों पर आधारित हैं। एक पुरोहिताई करता है, दूसरा योद्धा और अभिजात है और तीसरा पशुचारण, कृषि तथा व्यापार के द्वारा धन का उत्पादन करता है। इन वर्गों की पहचान अन्य बातों के अलावा पेशे और वैवाहिक नियमों पर आधारित थी। वैवहिक नियम गोत्रों के उल्लेखों में स्पष्ट दिखाई देते हैं। गोत्र का अभिधार्थ गाय का बयान था, लेकिन बाद में उसका प्रयोग अनुमत वैवाहिक दायरों की पहचान के लिए समूहों को पृथक करने के लिए किया जाने लगा तथा और भी बाद में संपत्ति के अधिकारों के मामले में भेद करने के लिए।

चौथे वर्ण अर्थात् शूद्रों का समावेश बड़े परिवर्तन का द्योतक है। आरंभ में यह कौटुंबिक संबंधों और वंश के दर्जे से तय होता था कि श्रम पर नियंत्रण किसका है और श्रम करता कौन है। इस विभाजन का रूप कभी-कभी यह होता था कि वरीय वंशों (Senior lineages) और कनीय वंशों (lesser lineages) के बीच सीमांकन कर दिया जाता था। इसलिए आर्थिक संबंध कौटुंबिक संबंधों और आयु-वर्गों में समाहित होते थे। जहां सोपानीकरण को स्वीकार कर लिया जाता था वहां सरदारों के परिवार अपने को औरों से अलग कर लेते थे और खुद को किसी विशेष वंश का बताते थे। इससे गृहस्थी की ऐसी प्रणाली स्थापित होती थी जिसमें कनीय कुलबंधु का परिवार श्रम की इकाई बन जाता था। **इससे आगे का परिवर्तन था गैर-कौटुंबिक श्रम के उपयोग का आरंभ।** कुटुंब से बाहर के कुछ लोगों को श्रमिकों के रूप में शामिल कर लिया जाता था। इससे कृषि की प्रगति और सामाजिक विभाजन के गहराने का आभास होता है। दूसरों के लिए श्रम करनेवालों का एक समूह स्थापित करके इस परिवर्तन को स्थायित्व प्रदान किया गया। यह पूर्ववर्ती व्यवस्था से बहुत भिन्न पद्धति थी। *ऋग्वेद*में *दास*शब्द का प्रयोग अलग संस्कृति के पराए लोग के अर्थ में हुआ है, लेकिन अब उसका अर्थ दूसरों के लिए श्रम करनेवाला हो गया। यह शूद्रों का भी कर्तव्य था। अब उन्होंने खेती-बाड़ी से लेकर विशेषज्ञतायुक्त शिल्पों तथा अन्य कम आकर्षक कार्यों के लिए श्रम प्रदान करना आरंभ किया।

सामाजिक विभाजन अधिक गहरे हो गए और कौन किस प्रकार का श्रम करता है, यह सामाजिक दर्जे के निर्धारण का अंग बन गया। जहां वैश्य का वर्णन अन्यों के करदाता, अन्यों के भक्ष्य, अन्यों के शोषण के पात्र के रूप में किया गया है, वहीं शूद्र को अन्यों का सेवक कहा गया है, जिसे चाहे जब हटाया जा सकता था, चाहे जब मौत के घाट उतारा जा सकता था। कृषि के विस्तार और शिल्पियों के उदय के कारण अलग-अलग प्रकार के विशेषज्ञतायुक्त श्रम की आवश्यकता हुई। साथ ही नए-नए पेशे भी उभरे, जिससे कारीगरों, कृषकों और श्रमिकों के और भी अलग-अलग वर्ग कायम हुए। इनमें से प्रत्येक को निम्न दर्जे का बताया गया और

एक अलग जाति के रूप में देखा जाने लगा।

जाति शब्द जन्म का अर्थ देनेवाली धातु से निकला है, और वह जन्म से प्राप्त दर्जे का द्योतक है। जाति का मूल और प्रयोजन वर्ण से भिन्न था और वह मात्र वर्ण का एक उपविभाग नहीं थी। वर्णों की सृष्टि कर्मकांडी दर्जे से संबंधित दिखाई देती है। शूद्र को कर्मकांडी दर्जा नहीं दिया गया। उसके लिए किसी कर्मकांड में शामिल होना वर्जित था। ऊपर के तीन वर्णों को विहित हलकों के अंदर विवाह करने के नियम का कठोर पालन करनेवाला बताया गया, लेकिन आचार संबंधी पाठों में वर्णित शूद्र वर्ण के बारे में बताया गया कि उसका उद्भव जातियों के बीच अंधाधुंध विवाह से हुआ। इससे मिश्रित जातियों का जन्म हुआ। जन्म के सैद्धांतिक शौच (purity) पर आग्रह रखनेवालों के लिए यह वर्ण घृणास्पद था। इस कारण से ये लोग औरों से अलग हो जाते हैं और इन पर जातियों की छाप लगा दी जाती है। यह मिश्रित जातियों के निम्नवर्ग का स्पष्टीकरण देने का एक प्रयत्न था, जिसे अक्षरशः सही नहीं माना जा सकता। एक बार अलग-अलग वर्गों के रूप में स्वीकार कर लिए जाने के बाद वर्णों और जातियों दोनों को ख़ास-ख़ास वैवाहिक विनियमों और पेशे, सामाजिक सोपान तथा वंशानुगत दर्जे के नियमों का पालन करना ही पड़ता था। विवाह को निर्धारित समूहों तक ही सीमित रहना था। यह जाति-आधारित समाज के सातत्य की आवश्यक शर्त थी। यह स्त्रियों के आदान-प्रदान पर नियंत्रण रखने और इस प्रकार उन्हें अधीनावस्था में रखने का भी एक तरीका था।

पहली सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य तक इस दर्जे पर एक नए प्रकार से फिर से ज़ोर दिया गया। तात्पर्य इस सिद्धांत के निरूपण से है कि प्रथम तीन वर्ण द्विज अर्थात् दो बार जन्म लेनेवाले हैं। कर्मकांडी दर्जे की दीक्षा को उनका दूसरा जन्म बताया गया। इसके विपरीत, शूद्र को एकज या एक ही बार जन्म लेनेवाला बताया गया। साथ ही सिद्धांततः पेशे के अनुसार दर्जों का शौचक्रम भी निर्दिष्ट कर दिया गया। इस प्रकार ब्राह्मण सबसे अधिक और शूद्र सबसे कम शुचि बन गया। बाद में एक पांचवीं श्रेणी भी जोड़ दिया गया—अस्पृश्य (आज का दलित) वर्ण, जिसे सबसे अधिक अशौचकारी बताया गया। जिस प्रणाली में संसाधनों पर अधिकार, सामाजिक प्रतिष्ठा और पेशे से निर्धारित जन्मजात दर्जे के साथ कर्मकांडी शौच-अशौच की कल्पनाएं जोड़ दी गई थीं, उसे निस्संदेह, सामाजिक नियंत्रण की लगभग अचूक युक्ति माना गया।

यहां दूसरे अध्याय में उठाए गए प्रश्न प्रासंगिक हो जाते हैं: कुलगत दर्जे से वर्णगत दर्जे की दिशा में संक्रमण के दौर में—भारतीय इतिहास के लिए इस परिचित संक्रमण के दौर में—वर्णगत दर्जा क्या जातिगत दर्जे से पहले उद्भूत हुआ? (वैसे आम तौर पर माना ऐसा ही जाता है।) या ऐसा कहना क्या संभव है कि यदि कुल सामाजिक संगठन के पूर्ववर्ती रूप थे तो पहले वे जातियों में बदले और जातियों

ने कुल-संगठन की विशेषताओं को–जैसे कि किसी जाति द्वारा अमुक समूहों के अंदर ही विवाह करने के नियम का पालन–कायम रखा? इस प्रकार की जातियां वैसे लोगों से बनेंगी जिन्हें पहले से ही वर्ण-भेद का पालन करते आ रहे वर्ण-विभाजित जाति-समाज ने जीत लिया हो, अपने अधीन कर लिया हो या अपने अतिक्रमण का शिकार बना लिया हो। तब क्या ऐसे लोगों को नए सिरे से अलग-अलग दर्जे दे दिए जाते थे? कुछ लोगों को तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के दर्जे दे दिए गए, लेकिन क्या शेष बहुसंख्य लोगों को शूद्र का दर्जा प्रदान कर दिया गया? जाति-आधारित समाज के सोपान में कर्मकांडी दर्जे के रूप में वर्ण आवश्यक होगा। शूद्रों को चूंकि अधिकांश वैदिक कर्मकांडों में भाग लेने की इजाजत नहीं दी गई इसलिए उनके अपने कर्मकांड होते होंगे, और वे अपने देवी-देवताओं की पूजा करते होंगे। उस हालत में वैदिक कर्मकांड अभिजनों का ही धर्म रहे होंगे।

समाज के इस विभाजन के कारण बाद की सदियों में नई संस्कृतियों और जनसमूहों को मुख्य धारा में शामिल करना अधिक आसान हो गया। नए समूहों ने अलग जातियों की विशेषताएं अपना लीं और उन्हें जातीय सोपान में स्थान दे दिए गए, जहां उनके दर्जे उनके पेशों और सामाजिक मूलों तथा उनके समाहार के कारण पर निर्भर होते थे। ऐसे समूहों में देशांतरण करनेवाले लोग हो सकते थे–जैसे पशुचारक और व्यापारी या किसानों के कुल हो सकते थे, अथवा यहां आकर बस जानेवाले आक्रमणकारी हो सकते थे–यथा हूण—या विभिन्न क्षेत्रों में बिखरे लोग भी हो सकते थे–जैसे वनवासी तथा परिधिवर्ती प्रदेशों में रहनेवाले अन्य लोग। यह एक प्रकार से धर्मांतरण ही था।

ब्राह्मणों को इन सामाजिक विभाजनों का महत्त्व समझने और सर्वोच्च जाति को इनसे जो सत्ता प्राप्त हो सकती थी उसका एहसास होने में देर नहीं लगी। कर्मकांडी शौच के सोपान में उन्होंने अपने लिए उच्चतम स्थान का दावा किया और इस प्रकार अपना यह आग्रह स्पष्ट कर दिया कि केवल वही राजत्व में देवत्व का आधान कर सकते थे और वर्ण-विभाजन को धार्मिक स्वीकृति प्रदान कर सकते थे। *ऋग्वेद*की एक बहुधा उद्धृत की जानेवाली ऋचा में, हालांकि वह उसमें बाद में जोड़ी गई प्रतीत होती है, जातियों (Castes) के उद्‌भव को एक मिथकीय स्वीकृति प्रदान की गई है :

> जब देवताओं ने मनुष्य को बलि बनाकर यज्ञ किया...
> जब उन्होंने मनुष्य को खंडित किया, तब कितने भागों में खंडित किया?
> क्या था उसका मुख, क्या थीं उसकी भुजाएं, क्या थीं उसकी जंघाएं, क्या
> कहलाए उसके पैर?
> ब्राह्मण था उसका मुख, उसकी भुजाओं से बने योद्धा।
> उसकी जंघाएं वैश्य बनीं, उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

यज्ञ के साथ देवताओं ने यज्ञ को बलि दी, ये पवित्र नियमों में से प्रथम थे।
ये महान हस्तियां आकाश में पहुंच गईं, जहां चिरंतन आत्माएं, देवता निवास करते हैं।

ऋग्वेद,10.90, ए.एल. बैशम, *दवंडरदैटवाजइडिया*, पृ. 241 में दिए अंग्रेजी अनुवाद से

जाति-व्यवस्था का सातत्य सुनिश्चित करने के लिए जाति को वंशानुगत बना दिया गया, उसे पेशे से जोड़ दिया गया, रोटी-व्यवहार के संबंध में निषेध लगा दिए गए और वैवाहिक हलकों को परिभाषित कर दिया गया, जिसके फलस्वरूप आंतर-विवाह (Endogany कुछ समूहों के अंदर ही विवाह करने की विवशता) और अंतर्विवाह (Exogamy कुछ समूहों के बाहर ही विवाह करने का विधान) के विस्तृत नियम बन गए। सामाजिक नियंत्रण के एक रूप के तौर पर जाति का आधार चातुवर्ण्य विभाजन का कर्मकांडी पालन और उसके द्वारा स्थापित किए गए सोपान पर आग्रह रखना था, और इन्हीं दो बातों पर उसका सातत्य भी निर्भर था। अंततः जातीय संबंध और जातीय सामंजस्य ने भारतीय समाज के रोजमर्रा के कार्य-व्यापार के लिए और विभिन्न प्रकार के धार्मिक समूहों के लिए बहुत प्रासंगिकता प्राप्त कर ली। वर्णगत दर्जे से द्विज हिंदुओं का नाता था, लेकिन बृहत्तर समाज के लिए असली महत्त्व जाति का था। उपमहाद्वीप के सभी भागों में समाज के चातुवर्ण्य विभाजन का पालन समान रूप से नहीं किया जाता था। वर्ण के वंशानुगत बन जाने और पेशे तथा जाति के बीच घनिष्ठ संबंध के कारण व्यक्तियों के जाति-सोपान में ऊपर उठने पर एक सहज अंकुश लग जाता था। ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता संभव थी तो समग्र जाति के लिए ही संभव थी, लेकिन उसके लिए यह आवश्यक था कि पूरा समूह एक होकर काम करे और अपना निवास-स्थान तथा पेशा दोनों बदल ले। जाति को न माननेवाले या कम-से-कम उसकी मान्यताओं पर आपत्ति करनेवाले किसी संप्रदाय में शामिल होकर व्यक्ति जाति के प्रति अपना विरोध प्रकट कर सकता था। पांचवीं सदी ई.पू. से ऐसे कई संप्रदाय भारत में विकसित हुए।

कर्मकांड और सामाजिक विनिमय पद्धति के रूप में यज्ञ

हड़प्पाई लोग एक लिपि का प्रयोग करते थे, उसके बावजूद विचाराधीन काल में लिखने की कोई पद्धति विकसित नहीं हो पाई; इसलिए सारा ज़ोर मौखिक स्मृति और मौखिक शिक्षा पर था। *ऋग्वेद*की एक विनोदपूर्ण ऋचा में वर्णन है कि ब्रह्मचारी (या विद्यार्थी) अपने गुरुओं या ब्राह्मणों के कर्मकांडी मंत्रपाठ के अनुकरण पर अपने पाठों को सस्वर उसी प्रकार दोहराते हैं जिस प्रकार वर्षा ऋतु आरंभ होने पर मेंढक एक-दूसरे के स्वरों को प्रतिध्वनित करते हुए टर्र-टर्र करते हैं। हालांकि किसी विषय को कंठस्थ करने का तरीका सरल नहीं था और उसका इतना अधिक परिष्कार किया गया था कि रचना प्रायः अपरिवर्तनीय हो जाती थी। पहली सहस्राब्दी

ई.पू. के मध्य तक ब्रह्मचारी की संस्था सुप्रतिष्ठित हो चुकी थी। ब्रह्मचारी से अपने गुरु के आश्रम में वर्षों रहने की अपेक्षा की जाती थी। जब नगर आकर्षण के केंद्र बन गए तब ब्रह्मचारी से नागरिक जीवन से दूर रहने की अपेक्षा की जाती थी। सिद्धांततः शिक्षा का द्वार सभी द्विजों के लिए खुला हुआ था, यद्यपि औपचारिक शिक्षा की पाठ्यचर्या मुख्य रूप से ब्राह्मणों के लिए ही उपयोगी थी। गणित, व्याकरण और छंदशास्त्र अध्ययन के विषयों में शामिल थे। कुछ ऋग्वैदिक ऋचाओं में कथोपकथन का पाठ भी शामिल था। इस प्रकार वहां हमें नाटक का प्रारंभिक रूप देखने को मिलता है।

इस अवस्था में कोई वैधिक संस्था नहीं थी। रीति ही कानून थी और निर्णायक सरदार या राजा और पुरोहित होते थे, जो शायद समुदाय के वयोवृद्धों से सलाह लेते थे। सबसे आम अपराध चोरी थी, ख़ास तौर से पशुओं की चोरी। हत्या का दंड मुआवजे के सिद्धांत पर आधारित था और एक मनुष्य की हत्या का मुआवजा सामान्यतः सौ गाएं होती थीं। मृत्युदंड बाद का विचार है। मुकदमे में कठोर परीक्षाओं का सहारा लेने का आम रिवाज था। ऐसी ही एक परीक्षा यह थी कि अभियुक्त को तपती कुल्हाड़ी के सिरे पर अपनी जीभ रखनी पड़ती थी। उत्तराधिकार के नियम क्रमशः बने–निस्संदेह तब जब संपत्ति में क्या-कुछ शामिल है, इसके संबंध में बदलते विचारों के कारण समस्याएं उत्पन्न होने लगीं। फैसले में जाति का खयाल करने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। ऊंची जातियों के लोगों को हल्की सजाएं दी जाती थीं।

मालूम होता है, हड़प्पाई लोग कुछ वस्तुओं को पवित्र मानते थे। उनमें से कुछ का संबंध शायद उर्वरता से था–जैसे नारी लघुमूर्तियों, सांड़, सींगदार देवता और पीपल जैसे पेड़ों का। ये बाद की उपासना में एक बार फिर सामने आते हैं। *ऋग्वेद* में इस कारण से दासों की भर्त्सना की जाती है कि वे उचित कर्मकांड का पालन नहीं करते और उर्वरता की उपासना करते हैं। वेदों पर आधारित अधिक अमूर्त ब्राह्मणीय धार्मिक विश्वास-प्रणाली कुछ ही लोगों के हृदय के तार को छूती थी, और परवर्ती दर्शनों में उनका प्रभाव देखा जा सकता है तथापि अधिकतर लोग धर्म और उपासना के अधिक मूर्त रूपों को पसंद करते थे। कर्मकांडों के वर्गों का एक सोपान उभर आया। जो कर्मकांड बहुत आडंबरयुक्त थे उनमें बहुत धन खर्च करना पड़ता था, लेकिन अन्य कर्मकांडों को आवश्यक पहलुओं तक सीमित कर दिया गया। कर्मकांड के विस्तार के साथ पुरोहितों की संख्या बढ़ी और किसी कर्मकांड के अलग-अलग कर्मों के लिए अलग-अलग पुरोहित रखने की आवश्यकता उत्पन्न हुई। वैदिक साहित्य में अपने को आर्य कहने वाले लोगों का प्रारंभिक किस्म का धर्म प्रतिबिंबित हुआ है, जिसने बाद के काल के हिंदू धर्म में बेशक योगदान किया, लेकिन फिर भी वह अपने-आप में एक अलग धर्म भी था। कुछ विश्वास और

धर्माचरण तो अन्य प्रकार के धर्मों का आचरण करनेवाले लोगों से सान्निध्य के कारण अनिवार्यतः किसी हद तक बदल गए होंगे। वैदिक साहित्य के संकलित हो जाने के बाद कर्मकांडों का, ख़ास तौर से बड़े यज्ञोंवाले कर्मकांडों का, पालन शायद अधिक बारीकी से किया जाता होगा।

मिथकों की सृष्टि या उनका संशोधन लगातार चलता रहा और उनसे हमें बदलते विश्वासों को समझने की कुंजी मिल जाती है। देवों और दानवों के बीच की शत्रुता बहुधा किसी मिथक का प्रस्थान-बिंदु होती है। *अवेस्त*से *ऋग्वेद*तक इन दोनों से संबंधित मान्यताएं क्रमशः कैसे उलट गईं, यह स्पष्ट देखा जा सकता है। भारोपीय भाषा-भाषी लोगों की संस्कृतियों में सोमयज्ञ, जो एक महत्त्वपूर्ण कर्मकांड था, केवल ईरान और भारत में ही किया जाता था। सोम के पौधे में हालांकि देवत्व आरोपित कर दिया गया था लेकिन उसके बारे में उल्लेख है कि वह पश्चिमोत्तर पहाड़ों में उगता था। आम तौर पर समझा जाता है कि यह पौधा 'इफेड्रा' था, जिसके रस का उपयोग आजकल श्वास के रोगों की औषधियां बनाने के लिए किया जाता है। लेकिन इस पहचान पर आपत्ति उठाई गई और कुकुरमुत्ते की एक किस्म को सोम बताया गया। सोम के रस या सोमरस का पान कर्मकांड के अवसरों पर किया जाता था और उससे एक प्रकार की मतिविभ्रम की स्थिति पैदा होती थी। *ऋग्वेद*का एक पूरा मंडल सोम पर ही है और स्वभावतः उसमें एक जटिल किस्म का प्रतीकवाद निहित है। ईरान और भारत में कर्मकांड में अग्नि-पूजा का बहुत अधिक महत्त्व था, यद्यपि उसका चलन अन्य स्थानों में भी था। पहले अग्नि-वेदी छोटी होती थी और घरों में ही बनाई जाती थी, लेकिन उसने क्रमशः विशाल संरचना का रूप ले लिया, जो अधिक बड़े कर्मकांडों के लिए घर से बाहर बनवाई जाने लगीं। इस दौर में वेदियां कच्ची ईंटों से बनवाई जाती थीं, इसलिए उनमें से कोई शेष नहीं बची है। ईसवी सन के आरंभ में पकी ईंटों से बनाई गई एक-दो वेदियां अब भी देखी जा सकती हैं। कर्मकांड शुभ माने जानेवाले विशेष दिनों और समयों में आयोजित किए जाते थे। यज्ञ का कर्ता या यजमान कर्मकांड की अवधि तक के लिए अभिषिक्त या शुद्ध किया जाता था। कर्मकांड स्थल का भी आरंभ में पवित्रीकरण और कर्मकांड के बाद विपवित्रीकरण होता था। इस प्रकार पूजा-उपासना के लिए कोई स्थायी स्थान नहीं बन पाता था। मूर्ति-पूजा का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।

*ऋग्वेद*में उल्लिखित देवी-देवताओं में से कुछ के मूल हिंद-ईरानी हैं—जैसे मित्र और वरुण। बाद में इनका स्थान इंद्र और अग्नि ने ले लिया। इंद्र आदर्श नायक था, युद्ध में सबसे प्रबल, दानवों को दंडित करने के लिए सतत तत्पर, दासों की बस्तियों और पुरों का नाश करने को आकुल और जो उसे प्रसन्न करते थे उनकी सहायता के लिए सर्वदा सन्नद्ध। शत्रु के विरुद्ध उसकी सहायता की याचना हमेशा

की जाती है। वह झंझा और विद्युत का देवता था, वह वर्षा देकर इन समाजों की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति करता था। अग्नि का आवाहन करते हुए कुछ उत्कृष्ट ऋचाएं रची गईं। अग्नि अनेक घरेलू संस्कारों या गृह्य यज्ञों का केंद्र था, जैसे विवाह-संस्कार का। वह पांचों तत्वों में सबसे शुद्ध माना जाता था। उसे देवताओं और मनुष्यों के बीच के उपयुक्त माध्यम के रूप में देखा जाता था। अन्य देवी-देवताओं में सूर्य, सावित्री (जो सूर्य से ही संबंधित थी और जिसे प्रसिद्ध गायत्री मंत्र समर्पित है), पूषन् और यम शामिल थे। इनके अतिरिक्त ब्रह्मांड में अनेक प्रकार की वायवी हस्तियों–गंधर्वों, मरुतों, विश्व-देवों आदि–का निवास था। यज्ञ के उपादानों की शक्ति को समर्पित ऋचाओं की भी रचना की गई–विशेष रूप से यज्ञ की वेदी, सोम के पौधे को पीसनेवाली शिला और साथ ही हल, युद्ध के शस्त्रों, ढोल, ओखल और मूसल की शक्ति को समर्पित ऋचाओं की।

मुख्य कर्मकांड यज्ञ था। थोड़े-बहुत नैवेद्यों के साथ गृह्य कर्मकांड पूर्ववत किए जाते रहे और वे घर की चारदीवारी तक ही सीमित रहे। धीरे-धीरे अधिक ड़क-भड़कवाले कर्मकांडों को संरक्षण प्राप्त होने लगा। उनका एक सार्वजनिक प्रयोजन था और उनमें ऊपरी जातियां (Castes) ही शामिल हो सकते थे। वे धार्मिक तथा सांसारिक सत्ता के बीच की स्पर्धा के भी अखाड़े होते थे। विद्वानों का कहना है कि कर्मकांड करने पर आग्रह रखना धार्मिक विश्वास पर आग्रह रखने से अधिक महत्त्वपूर्ण था, धार्मिक रीति-रिवाज धार्मिक सिद्धांत से ज़्यादा अहम थे। माना जाता था कि यज्ञ-कर्म से कुल और व्यवस्था का कल्याण होता है। इस प्रकार बाद के असनातनियों द्वारा यज्ञ का अवमूल्यन एक बहुत बड़ी चुनौती थी। घरेलू समृद्धि या धन-धान्य की अभिवृद्धि के लिए तथा झड़पों और हमलों में सफलता के लिए प्रार्थना करना जरूरी था। माना जाता था कि देवता वरदान देते हैं और अदृश्य रूप से कर्मकांड में शामिल भी होते हैं। सार्वजनिक यज्ञ एक गंभीर अवसर था, लेकिन उसके संपादन के बाद सबके आपस में दिल खोलकर मिलने-जुलने से ऊर्जा और स्फूर्ति विकीर्ण होती थी। विश् द्वारा राजाओं को स्वेच्छा से दिए गए नजरानों और उपहारों से जो धन एकत्र होता था वह सब कर्मकांड में और यज्ञ के अंत में राजा द्वारा दूसरे राजाओं और पुरोहितों को दिए जानेवाले दान-उपहारों में खर्च हो जाता था।

कर्मकांड का विस्तार होने से पुरोहित की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई। इसीलिए वह ब्राह्मण, अर्थात ब्रह्म की रहस्यमय और जादुई शक्ति से युक्त व्यक्ति कहा गया। यह भी समझा जाता है कि देवता, पुरोहित और बलि तीनों क्षण-भर के लिए एक हो जाते हैं। माना जाता था कि दान देने से उससे भी बड़ा प्रतिदान मिलता है। यज्ञ-कर्म से पुरोहित की शक्ति बढ़ती थी, क्योंकि उसके बिना वह कर्म नहीं किया जा सकता था। उससे राजा की शक्ति भी बढ़ती थी, क्योंकि उस कर्म के लिए आवश्यक धन उसी के पास था। यह धन एकत्र करने का मतलब विश्

पर अपना उत्पाद देने के लिए दबाव डालना था। यज्ञ से क्षत्रिय को विश् तथा शूद्र पर अधिक अधिकार का प्रयोग करने में सहायता मिलती थी। इसलिए ठीक ही कहा गया है कि विश् क्षत्रिय का भोजन है और क्षत्रिय विश् को खाता है। उत्तर वैदिक साहित्य में ऐसे स्थलों पर बहुधा क्षत्रिय शब्द का प्रयोग किया गया है जहां पहले राजा या राजन् का किया जाता था। क्षत्रिय शब्द क्षत्र से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है शक्ति। अतएव इस शब्द के प्रयोग से लगता है कि अब सरदार को अधिक सत्ता प्राप्त हो गई थी और वह राजा शब्द का जो अर्थ बाद में हुआ उस अर्थ में राजा के सांचे में ढलने लगा था।

सार्वजनिक यज्ञ ऐसे अवसर होते थे जब राजा के लिए धन का संग्रह किया जाता था और कर्मकांड के माध्यम से उसका प्रदर्शन किया जाता था। यह धन इस्तेमाल हो जाता था और जो बचा रहता था वह दान में दे दिया जाता था, बल्कि कुछ को तो ऐसे कर्मकांड के द्वारा नष्ट भी कर दिया जाता था। जो वैभव-प्रदर्शन का अंग था। यजमान सामान्यत: राजा होता था, और प्रत्येक राजा इस अवसर की भव्यता और दान की प्रचुरता में अन्य राजाओं से स्पर्धा करता था। राजा की प्रशस्ति करनेवाले सूत इस प्रकार की स्पर्धा को और भी भड़काते थे। धन के ऐसे प्रदर्शन से यजमान की प्रतिष्ठा और शक्ति की धाक जमती थी और उसके इस विश्वास को बल मिलता था कि उसे धन प्राप्त होगा। इन अपेक्षाओं की तुलना 'पाटलैच' से की जानेवाली अपेक्षाओं से की गई है। ('पाटलैच उत्तरी प्रशांत तट के मूल अमरीकियों के बीच प्रचलित एक प्रकार का महाभोज था, जिसमें सरदार अपने धन का प्रदर्शन ही नहीं करता था, बल्कि उसे नष्ट भी करता था।) राजा द्वारा पुरोहितों को दिए गए दानों से ब्राह्मणों की संपत्ति और शक्ति दोनों की अभिवृद्धि होती थी। यज्ञ राजा को इतना धन एकत्र कर लेने से रोकते थे कि उसकी प्रतिष्ठा का आधार कर्मकांडी स्वीकृति की अपेक्षा आर्थिक शक्ति बन जाए। फिर, भी धन राज्य की कल्पना से जुड़े ऐसे राजत्व के लिए आवश्यक था जिसमें अन्य बातों के अलावा धन के संग्रह और वितरण पर भी राजा का नियंत्रण हो।

इन यज्ञों के लिए आवश्यक धन जुटाने के लिए राजा विश् से अधिक बलियों तथा उपहारों की मांग करने लगा होगा और इस मांग पर अमल करवाने के लिए उसे प्रारंभिक किस्म के प्रशासन की सृष्टि करने की ज़रूरत हुई होगी। जिस बिंदु पर जाकर धन इकट्ठा और सत्ता के विभिन्न उपांगों पर खर्च किया जा सकता था वही वह बिंदु था जहां से राजत्व केवल कर्मकांडी सत्ता की अपेक्षा राजनीतिक सत्ता का भी सहारा लेने लगा था। लेकिन यज्ञ-कर्म राजत्व की आवश्यक पूर्वशर्त के रूप में एक स्थायी विशेषता नहीं बन सकता था। राज्यों के एक बार स्थापित हो जाने के बाद उन्हें समर्थन देनेवाले धन पर अन्य मदों के तकाजे भी उभर आए। कर्मकांड के प्रति आपत्ति को एक स्तर पर मानवता और दैवत्व के बीच के संबंध के विषय

में नए बोधों से प्रोत्साहन मिला। एक अन्य स्तर पर यह हुआ कि शहरीकरण के ठीक पहले के दौर में मध्य गांगेय मैदान में भरपूर संपत्ति का उत्पादन होने लगा, जिसमें से सारा-का-सारा कर्मकांडों पर खर्च नहीं हो सकता था, जिससे राजाओं को धन इकट्ठा करने की सुविधा प्राप्त हुई और यह चीज समाज तथा राज्यव्यवस्था में परिवर्तन लाने में सहायक सिद्ध हुई। ध्यान देने की बात है कि जैसा कि उपनिषदों की टिप्पणियों से ज्ञात होता है, यज्ञ पर आपत्ति की प्रवृत्ति का विकास आरंभ में क्षत्रियों ने किया। इन कर्मकांडों के यजमानों के रूप में इनकी आवश्यकता में कमी आने का उन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि इससे उनका हाथ ऊपर हो गया होगा, और वे न केवल धार्मिक आचरण तथा दार्शनिक सिद्धांतों को, बल्कि सामाजिक नैतिकता तथा आर्थिक सक्षमता को भी प्रभावित करने की स्थिति में आ गए होंगे।

यज्ञ-कर्म के कुछ दिलचस्प आनुषंगिक परिणाम हुए। विस्तृत यज्ञ-स्थल का सही सीमांकन करने और यज्ञ में प्रयुक्त संरचनाओं तथा उपादानों की ठीक-ठीक मापें तय करने के लिए अपेक्षित गणना करने की आवश्यकता के फलस्वरूप गणित के ज्ञान का विकास हुआ। वेदी बनाने के लिए आवश्यक कच्ची ईंटों की संख्या तथा आकार का हिसाब लगाने के लिए प्राथमिक ज्यामिति का उपयोग किया गया। ऐसी राय व्यक्त की गई है कि कच्ची ईंटों का प्रयोग और गणना शायद हड़प्पाई परंपरा की देन हो, और इस ज्ञान का स्रोत संभवतः हड़प्पाइयों द्वारा बनवाए गए कच्ची ईंटों के चबूतरे रहे हों। *ऋग्वेद*के कर्मकांड के लिए बड़े पैमाने पर ईंटों से बनी वेदियों की आवश्यकता नहीं थी, और उत्तर वैदिक साहित्य में इनका आरंभ होता है। हड़प्पाइयों को ईंटों की संरचनाएं बनाने का उन्नत ज्ञान रहा होगा और उनकी बनाई संरचनाएं वेदियों की अपेक्षा बहुत अधिक टिकाऊ थीं। यदि यह परंपरा जारी रहती तो ऋग्वैदिक काल में भले ही, आवश्यकता न होने के कारण, वैसी संरचनाएं न बनवाई जातीं, लेकिन उत्तर वैदिक काल में तो बनवाई जा सकती थीं। क्षेत्र-माप के तरीके बहुत बाद के काल में तब उपयोगी हुए जब करों के निर्धारण के लिए ज़मीन की पैमाइश करने की ज़रूरत पड़ी। पुरोहितों के कार्यों के संदर्भ में गणना को अवश्य महत्त्व प्राप्त हुआ। समय का हिसाब लगाने और पंचांग बनाने के लिए चंद्रमा की गति और नक्षत्र-समूह के पर्यवेक्षण का उपयोग किया जाने लगा। यज्ञों में आए दिन पशु-बलि देने से पशु-शरीर-रचना-विज्ञान (एनिमल एनेटामी) का कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ, और यह विज्ञान, दीर्घ काल तक शरीर-क्रिया-विज्ञान (फिजियोलाजी) या रोग-विज्ञान (पैथोलॉजी) से अधिक उन्नत अवस्था में रहा। लेकिन आरंभ में चिकित्सक को अशुद्ध और कर्मकांड में भाग लेने के अनुपयुक्त माना जाता था।

मृतकों को या तो दफना दिया जाता था या जला दिया जाता था। दफनाना पहले का रिवाज था, जिसका स्थान बाद में दाह-संस्कार ने ले लिया। लेकिन

दाह-संस्कार का आम चलन हो जाने पर भी कुछ समूहों में दफनाने का रिवाज कायम रहा। शौचीकरण (puification) से आग के संबंध के कारण शायद दाह-संस्कार को प्राथमिकता दी गई। (यद्यपि मृतकों के संस्कार का यह बहुत व्यावहारिक तरीका है, तथापि इतिहासकार के लिए यह चुनाव अच्छा नहीं था, क्योंकि कब्रों और उनमें रखी गई वस्तुओं से उत्कृष्ट ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त होते हैं। प्रायद्वीप की महापाषाण कब्रों से प्राप्त सामग्री से यह बात स्पष्ट है।)

मरणोपरांत जीवन की कल्पना दंड या पुरस्कार के रूप में की जाती थी। जो दंडनीय होते थे वे 'मिट्टी के घर' में जाते थे। जो पुरस्कार के योग्य होते थे—जैसे कि वीर नायक—वे पितरों के संसार में जाते थे। उत्तर वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र पुनर्जन्म के संकेत—जैसे आत्माओं का पौधों में फिर से जन्म लेना—मिलते हैं, लेकिन आत्मा के देहांतरण की कल्पना आरंभ में अस्पष्ट थी। उपनिषदों में उसके उल्लेख बार-बार होते रहे और अंत में इसे एक सिद्धांत में पिरो दिया गया। वह सिद्धांत यह है कि आत्मा पूर्व जन्म में अपने अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार सुखमय या दुःखमय पुनर्जन्म लेती है। इसी का विकास कर्म और संसार (पुनर्जन्म) के सिद्धांत के रूप में होनेवाला था, जो तभी से भारतीय चिंतन में अत्यंत प्रभावशाली बना रहा है।

विचारशील ब्राह्मणों ने यज्ञ के महत्त्व में जिस शंका का संकेत-भर दिया था उसे क्षत्रियों ने अधिक गहरा स्वर प्रदान किया और अंततः उससे वैकल्पिक विचारों का जन्म हुआ। उन्हीं में से एक यह था कि आत्मा की यात्रा का उद्देश्य ब्रह्म या परमात्मा में विलीन होना होता है। परमात्मा के साथ ऐसी एकता प्राप्त करने के लिए आत्मा को पुनर्जन्म के अनेक चक्रों से गुजरना पड़ सकता है। यज्ञ कर्मकांड से दूर हटने का प्रयत्न राजा के लिए मुक्तिदाता हो सकता था। परंतु कर्म तथा संसार के विचार ने शीघ्र ही उस प्रयत्न को मंद कर दिया। पुनर्जन्मवाले जीवन में गुणवत्ता का मापदंड जाति तथा जाति-सोपान के नियमों का पालन बन गया। उदाहरणार्थ, कहा गया है :

> जिनका आचरण अच्छा रहा है वे शीघ्र ही अच्छा जन्म, ब्राह्मण का जन्म, क्षत्रिय का जन्म, वैश्य का जन्म लेंगे। परन्तु जिनका आचरण यहां बुरा रहा है वे शीघ्र ही बुरा जन्म, कुत्ते का जन्म, सूअर का जन्म और चंडाल का जन्म लेंगे।
>
> *छांदोग्यउपनिषद्*,5.10.7, सर्वपल्लि राधाकृष्णन के अंग्रेजी अनुवाद से

कर्म के सिद्धांत को धर्म अर्थात् सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों की बृहत्तर कल्पना में व्यवस्थित रूप दिया गया। सनातनी दृष्टिकोण से इसका अर्थ था सामाजिक व्यवस्था का अनुरक्षण, बल्कि वस्तुतः वर्ण के नियमों का पालन।

रहस्यवादी अवधारणाओं के फलस्वरूप सृष्टि तथा उसके उद्भव की अनेक

व्याख्याओं का जन्म हुआ। एक व्याख्या यह थी कि वह विराट ब्रह्मांडीय यज्ञ से उत्पन्न हुई और उपयुक्त यज्ञों के संपादन द्वारा उसका अनुरक्षण किया गया। किंतु इस कल्पना को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया। यह बात उस स्तोत्र से स्पष्ट है जिसे सृष्टि स्तोत्र कहा गया है। उसमें सृष्टि के उद्‌भव से संबंधित हर कल्पना को संदेहास्पद कहा गया है और यहां तक कि उसके शून्य से उद्‌भूत होने का सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है :

तब शून्य भी नहीं था, और न अस्तित्व।
तब वायु नहीं था और न उसके ऊपर आकाश।
तब उसे किसने ढक रखा था? वह कहां थी? किसके अनुरक्षण में?
तब क्या ब्रह्मांडीय जल था, अथाह गहराइयों में?
लेकिन आखिर कौन जानता है, कौन कह सकता है,
कहां से यह सब आया, और सृष्टि कैसे हुई?
स्वयं देवता भी सृष्टि के बाद के हैं,
सो कौन जानता है कि सचमुच वह कहां से आई?

ऋग्वेद,10.129, ए.एल. बैशम,
दवंडरदैटवाजइंडिया, पृ. 247 में दिए गए अंग्रेजी अनुवाद से

सृष्टि स्तोत्र में व्यक्त शंकाएं जिज्ञासा की एक व्यापक भावना के लक्षण हैं। अब स्थानीय विश्वासों और रीति-रिवाजों को वैदिक धर्माचरण में शामिल किया जा रहा था। उससे प्रतिफलित अवधारणाएं किसी 'विशुद्ध परंपरा' की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि अनेक प्रकार के स्रोतों की मिश्रित देन थीं। विद्वानों का कहना है कि उपनिषदों की अवधारणाएं और संन्यास के विचार केवल ब्राह्मणीय परंपरा से ही नहीं बल्कि उस समय के भारतीय समाज में शामिल विभिन्न प्रकार के सभी समूहों के चिंतन से विकसित हुए। यह सही हो सकता है। लेकिन उक्त अवधारणाओं और विचारों की प्रेरणाओं और उद्‌देश्यों के लिए उन वास्तविक परिस्थितियों की ओर दृष्टिपात करना शायद अधिक संगत होगा जिनका सामना समाज के विभिन्न समूहों को करना पड़ रहा था, जो तीव्रता से बदलती प्रतीत होनेवाली दुनिया में विस्मित होकर अपने मन में उठनेवाले प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ रहे थे।

कुछ परिवर्तनों से संन्यास के विचारों को प्रोत्साहन मिला और लोग समुदाय से हटकर या तो जंगलों में एकांतवास करने लगे या आबादी के केंद्रों से दूर छोटे-छोटे समूहों में रहने लगे। संन्यास का दो में से कोई भी प्रयोजन हो सकता था : भौतिक शरीर पर असाधारण नियंत्रण प्राप्त करके–जैसा कि योग में और ध्यान के माध्यम से किया जाता है–असामान्य शक्तियां प्राप्त करना, या अधिकाधिक नियमों की जकड़ में पड़ते समाज से शारीरिक रूप से दूर हटकर उससे सामंजस्य स्थापित करने

की आवश्यकता से मुक्ति पाना, जिसका प्रमाण यह है कि युवावस्था में किसी के संन्यास लेने का मतलब वैदिक कर्मकांड तथा आचार-विषयक पाठों के नियमों से अलग हो जाना लगाया जाता था।

इसके पीछे सामाजिक दायित्यों से मुंह मोड़कर जीवन को नकारनेवाले दर्शन की शरण लेने का इरादा नहीं होता था, बल्कि एक वैकल्पिक जीवन-शैली की तलाश का प्रयत्न होता था, एक ऐसी जीवन-शैली की तलाश जो रूढ़ हो चुके दर्शन और नैतिकता से इतर दर्शन और नैतिकता की हामी थी। भारत के इतिहास की घटनाओं और परिस्थितियों पर इस संभावना का प्रभाव बार-बार पड़ा। इसे कभी-कभी निष्क्रिय अध्यात्म माना जाता है, लेकिन सचाई यह है कि अनेक अवसरों पर यह भारतीय समाज को एक क्रांतिकारी मोड़ देने या कम-से-कम क्रांतिकारी विचारों तथा व्यवहारों के लिए स्थान बनाने में सहायक सिद्ध हुआ। संन्यास में सामाजिक दायित्वों के त्याग की जो प्रवृत्ति निहित थी उससे एक प्रकार की प्रति-संस्कृति को प्रोत्साहन मिला और वह भारत में धार्मिक तथा सामाजिक चिंतन की एक स्वीकृत लड़ी बन गई। भारतीय संन्यास के सभी तो नहीं लेकिन कुछ रूपों का अपना एक सामाजिक-राजनीतिक आयम है। और इन रूपों को जीवन को नकारने की इच्छा भर कहकर इन्हें हाशिए पर नहीं धकेला जा सकता।

संन्यासी आम तौर पर अपना सारा समय जंगलों के एकांत या पहाड़ों की चोटियों पर नहीं बिताते थे। कुछ संन्यासी अपने-अपने समुदायों में लौटकर मौजूदा सामाजिक और धार्मिक रीति-नीतियों को चुनौती देते थे। आचार संबंधी पाठों में एक ऐसे क्रम की हिमायत की गई थी जिसमें मनुष्य का जीवन चार आश्रमों अर्थात् चरणों में विभाजित था। पहले चरण में वह विद्यार्थी या ब्रह्मचारी था, दूसरे में गृहस्थ, तीसरे में समाज से विमुख वानप्रस्थी और अंतिम में यायावर संन्यासी। संन्यास को मनुष्य के जीवन के अंत में इसलिए रखा गया था कि उसके सामाजिक दायित्वों को प्राथमिकता देनी थी। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह पद्धति मुख्य रूप से ऊपरी जातियों पर लागू होती थी, जो इसका निर्वाह करने की स्थिति में थीं। फिर भी यह मुख्य रूप से एक आदर्श ही बनी रही और सिद्धांततः इस प्रकार की जीवन-चर्या केवल पुरुषों के लिए थी।

उपनिषदों से स्पष्ट है कि संन्यासियों तथा राजाओं में से कुछ लोग मूलभूत प्रश्नों के उत्तरों की तलाश में लगे रहे। सृष्टि कैसे हुई? क्या ब्रह्मांडीय रति-क्रिया से? या कि ऊष्मा से? अथवा संन्यास से? क्या आत्मा है? आत्मा क्या है? आत्मा और परमात्मा में क्या संबंध है? और सबसे बड़ा प्रश्न तो यह था कि आत्मा की परिभाषा क्या है?

'वट-वृक्ष का एक फल लाओ।'
'ले आया, आर्य।'
'इसे तोड़ो।'
'तोड़ दिया, आर्य'
'क्या देखते हो?'
'बहुत छोटे-छोटे बीज, आर्य।'
'एक बीज को तोड़ो।'
'तोड़ दिया, आर्य।'
'अब क्या देखते हो?'
'कुछ नहीं, आर्य।'
'आयुष्मान्', पिता ने कहा, 'जो तुम नहीं देखते वह सार है और उसी सार में वट-वृक्ष का अस्तित्व है। विश्वास करो आयुष्मान्, उसी सार में जो-कुछ भी है उसकी आत्मा है। वही सत् है, वही आत्मा है। और तुम वही आत्मा हो, श्वेतकेतु।'

छांदोग्य उपनिषद्, 6.13 अनु. ए.एल. बैशम की वंडर दैट वाज इंडिया, पृ. 250

ई.पू. 1200 से 600 तक के काल को सामान्यत: वैदिक काल का स्वर्ण-युग माना जाता है। इससे एक ही प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री और उसकी व्याख्या पर अनुचित ज़ोर देने की प्रवृत्ति प्रवल हुई है। इन सदियों की ऐतिहासिक तसवीर अनिश्चितताओं और दोषों से भरी हुई है। इस काल के अंत तक वैदिक साहित्य का संकलन पूरा हो चुका था। चूंकि इस साहित्य का मुख्य सरोकार कर्मकांड और धार्मिक विश्वास से है, इसलिए इसमें सबसे अधिक पूर्णता के साथ उन समाजों का वर्णन हुआ है जो इन कर्मकांडों के कर्ता और संरक्षक थे। इन समाजों के अन्य हिस्सों या अन्य समाजों के संबंध में जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से इस साहित्य के ध्वन्यर्थात्मक अध्ययन के लिए इसकी विश्लेषणात्मक पड़ताल आवश्यक है। पुरातत्व से भी महत्त्वपूर्ण नई सूचना मिल सकती है। गांगेय मैदान में मिलनेवाले ठिकानों की खुदाइयों और ख़ास तौर से क्षैतिज खुदाइयों से इन समाजों के विकास के संबंध में जानकारी प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं पर प्रकाश डालनेवाले अध्ययनों और साथ ही धार्मिक रूपों के विकास की पड़तालों में विलंब नहीं किया जाना चाहिए।

'आर्य' यहां के मूल निवासी थे या विदेशी थे, इस तरह के प्रश्न उन्नीसवीं सदी के सरोकार हैं। आज यदि उसे फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया जा रहा है तो उसका संबंध इतिहास की अपेक्षा राजनीतिक इरादों से है। ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रासंगिक प्रश्नों का संबंध परसंस्कृती ग्रहण (accultaration) सामाजिक रूपों के विकास और विभिन्न विचारधाराओं के उदय से है। इन प्रश्नों के उत्तरों से इस बात पर प्रकाश पड़ेगा कि जब वेद 'आर्यों' की बात करते हैं तो उसका

अर्थ क्या होता है।

इस काल में जो परिवर्तन हुए उनमें से अधिकतर सिंधु-गंगा मैदान से संबंधित थे। इस क्षेत्र में निवास करनेवाले समाजों ने ऐसे विचारों और संस्थाओं को जन्म दिया जो भारतीय समाज के अपना रूपाकार ग्रहण करने में सहायक सिद्ध हुए। कुछ का जन्म हिंद-आर्य भाषा-भाषियों के आगमन और पहले से मौजूद संस्कृतियों के साथ उनकी अंत:क्रिया से हुआ; कुछ अन्य का विकास इस अध्याय में ऊपर निर्दिष्ट परिवर्तनों से हुआ। अब हम प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के पूर्वार्ध को वैसी किसी आर्य-विजय का काल नहीं मान सकते जिसके फलस्वरूप पूरे उत्तरी भारत में समांग आर्य संस्कृति जैसी किसी चीज का प्रसार हुआ; और न उसे आर्य विशेषण से युक्त किसी ऐसी देशी संस्कृति की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है जो किसी भी बाहरी चीज से अछूती रही। जो ऐतिहासिक तसवीर उभरती है वह संस्कृतियों की एक पच्चीकारी में अपनी-अपनी उपस्थिति दर्ज कराने अथवा अपना-अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील अलग-अलग मूलोंवाले विभिन्न समाजों के अस्तित्व की साक्षी भरती है। संस्कृतियां लगातार बदलती हैं। यह संस्कृतियों का स्वभाव है। वेदों से प्राप्त हमारे साहित्यिक साक्ष्य उनके ब्राह्मण रचनाकारों के परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत करते हैं, और जहां संभव है वहां उनके परिप्रेक्ष्य को भिन्न परिप्रेक्ष्य वाले अन्य स्रोतों के सामने रखकर परखना है या वेदों का ऐसा वाचन करना है जिसमें अन्य स्वरों के सुनाई देने की संभावना हो।

इससे स्रोतों को ज़्यादा बारीक निगाह से परखने की प्रेरणा मिलती है। तसवीर को संतुलित करने में पुरातत्व अकसर बहुत सहायक होता है, क्योंकि उससे हमें भौतिक संस्कृति के साक्ष्य मिलते हैं, जिनके आधार पर हम नए सामाजिक रूपों की दिशा में हो रहे कुछ परिवर्तनों को देख सकते हैं। आधुनिक टिप्पणीकार इस परिवर्तन के कालगत आयाम की बहुधा उपेक्षा कर देते हैं। जो परिवर्तन हुआ वह बहुत धीरे-धीरे, लगभग हजार साल के दौर में हुआ। समाजों के बीच दूरी बनाए रखने के आरंभिक प्रयास धीरे-धीरे चुक गए और यद्यपि संस्कृतियां अपने अलग-अलग रंगों में कायम रहीं तथापि इस काल के एक छोर से दूसरे छोर तक उनमें परिवर्तन भी हुए। इसका एक स्पष्ट लेकिन जटिल उदाहरण भाषा में हुए परिवर्तन हैं।

अपनी विकास-यात्रा में वैदिक संस्कृत ने द्राविड़ तथा ऑस्ट्रो-एशियाई भाषाओं के तत्व ग्रहण किए। विद्वानों की राय है कि उधार के इस सिलसिले का आधार द्विभाषिकता या उस काल के विभिन्न समाज जिन विविध समूहों से बने हुए थे उनका पारस्परिक संबंध था। इन समूहों में वे लोग भी शामिल थे जो अपने को *आर्य*कहते थे, यानी वे जो हिंद-आर्य भाषा बोलते थे और समाज के सम्मानित सदस्य माने जाते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रासंगिक प्रश्न यह है: स्पष्ट रूप से अलग किस्म की अन्य भाषाओं के प्रचलित होने के बावजूद हिंद-आर्य भाषा उत्तरी भारत

की वर्चस्वी भाषा कैसे बन गई? वर्चस्व का संबंध आम तौर पर शक्ति, प्रभावकारी प्रौद्योगिकियों और कर्मकांडी श्रेष्ठता से होता है। *आर्य*लोग इन बातों का दावा करते थे, लेकिन उन्हें क्यों और कैसे इतने व्यापक रूप से स्वीकार कर लिया गया, इसकी पड़ताल की आवश्यकता है।

पांचवीं सदी ई.पू. में लिखी पाणिनि की *अष्टाध्यायी*में संस्कृत के अधिक लोकप्रिय रूप का नियमन करने और उसके व्याकरण की संरचना करने का प्रयत्न किया गया। ऊपरी जातियों के लोग संस्कृत से परिचित थे, हालांकि संभव है कि रोज़मर्रा के व्यवहार में और आम बोलचाल में प्राकृत का उपयोग किया जाता हो। यदि कर्मकांड में प्रयुक्त भाषा में अन्य स्थानीय भाषाओं से उधार लेने के साक्ष्य मिलते हैं तो मानना होगा कि बोलचाल में उनके और भी तत्व उधार लिए जाते होंगे। मिश्रित भाषा ने आर्य-भाषा-भाषियों और अनार्य-भाषा-भाषियों के बीच के भेद को किसी हद तक मिटा दिया होगा। एक स्तर पर संस्कृत इस उपमहाद्वीप में एकीकरण का एक कारक बननेवाला था, लेकिन उसमें उसे बोलनेवालों को अन्य भाषा-भाषियों से अलग करने की भी प्रवृत्ति थी। वैदिक संस्कृत के कुछ पहलू उसके बोलनेवालों के लिए पहले से ही विस्मृत हो चुके थे, इसका प्रमाण शब्दों की व्युत्पत्तिपरक व्याख्याएं प्रस्तुत करने की आवश्यकता का उत्पन्न होना है। यास्क का *निरुक्त* ऐसी ही आवश्यकता की पूर्ति करता था। भाषा को व्याकरण के निमयों से बांधना भी उसमें और भी परिवर्तन को रोकने का शायद एक तरीका रहा हो या यह भी संभव है कि उसका उद्देश्य उस भाषा से अपरिचित लोगों के लिए उसे सीखना आसान बनाना हो।

जाति-व्यवस्था द्वारा संपादित सोपानीकरण से संसाधनों पर ऊपरी जातियों का अधिकार उत्तरोत्तर बढ़ता गया और निचली जातियों की पराधीनता में भी वृद्धि होती गई। उससे तरह-तरह की असमानताओं को कर्मकांडी स्वीकृति प्राप्त हुई। इस असमानता के स्थायित्व या अस्थायित्व का परिमाण समूह और अवसर के अनुसार घटता-बढ़ता रहता था। जातियों के आपसी संबंध सार्वजनिक जीवन में प्रभावशाली थे, जिससे कभी-कभी लोगों का ध्यान दूरस्थ राजनीतिक सरोकारों से हटकर स्थानीय वफादारियों की ओर चला जाता था। जहां केंद्रीय राजनीतिक सत्ता दूरस्थ हो जाती थी वहां स्थानीय स्तर की गतिविधियां अधिक तेज हो जाती थीं।

यज्ञ की प्रधानता वैदिक ब्राह्मणीय धर्म की एक विशेषता बन गई। इस प्रधानता को दी गई चुनौती से तरह-तरह की दार्शनिक अवधारणाओं और धार्मिक अभिव्यक्तियों को उभरने का अवसर मिला। उपनिषद तथा आगे के काल में उनसे प्रेरित विचारधाराएं और साथ ही नए-नए धार्मिक विश्वासों एवं उपासनाओं का प्रवर्तन करनेवाले धर्मोपदेशक इसके प्रमाण हैं। उपनिषदों के तत्व-चिंतन में दिया गया ब्राह्मणीय योगदान, अर्थात् कर्म और संसार का सिद्धांत भी किंचित् भिन्न रूप में

परिभाषित होकर, बौद्ध तथा जैन जैसे उन श्रमण-संप्रदायों का आधार-स्तंभ बन गया जो वैदिक ब्राह्मणीय धर्म के समक्ष चुनौती बनकर उपस्थित हुए। सच तो यह है कि उसने और भी बाद के कई संप्रदायों के लिए भी आधार का काम किया, जिनसे उस धर्म का उदय हुआ जिसे पौराणिक हिंदू धर्म कहते हैं और जो कई दृष्टियों से वैदिक ब्राह्मणीय धर्म से हटकर था।

इस काल में विभिन्न सामाजिक समूहों ने भौतिक भूदृश्य पर भी अपनी छाप छोड़ी। जंगलों और परती ज़मीनों के छोटे-छोटे टुकड़ों को खेती-बाड़ी के लिए साफ किया गया, जिससे न केवल बढ़ती आबादी के खाने-पीने का इंतजाम हो सका, बल्कि आरंभिक किस्म के विनिमय केंद्रों के लिए भी वस्तुएं उपलब्ध हुईं। पहली सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य तक इनमें से कुछ शहर बन गए, जिन्होंने गांगेय मैदान में शहरीकरण के आधार का काम किया। जो लोग अपने को आर्य मानते थे उनका इस बात से तत्वतः कुछ भी लेना-देना नहीं था कि वे देशी मूल के हैं या विदेशी, क्योंकि यह शब्द अब प्रतिष्ठा और संस्कृति का द्योतक हो जाता है। *ऋग्वेद*और उत्तर वेदों के बीच का फर्क स्पष्ट है। पहले में *आर्य*और *दास*के बीच के अंतर का संबंध भाषा, कर्मकांड और रीति-रिवाज से है। दूसरे में इनमें उलटफेर हो जाता है और भेद यह हो जाता है कि *आर्य*सम्मानित लोग बन जाते हैं और *दास*अधीनस्थ समूह बन जाते हैं, चाहे उनके मूल कुछ भी रहे हों। दोनों शब्द तो प्रथम वेद से ही लिए गए हैं लेकिन अब उनके अर्थ बदल जाते हैं।

इन परिघटनाओं के मूल में *आर्य*के सामाजिक दर्जे का दावा करनेवालों और उस दर्जे से वंचित लोगों के बीच की खींच-तान थी, जिसके फलस्वरूप दोनों में लगातार संशोधन और बदलाव होता रहा। विविध प्रकार की पृष्ठभूमि वाले नए लोगों को या तो यह दर्जा दिया गया या इससे वंचित रखा गया। यह दर्जा जन्म या नस्ल पर आधारित नहीं था, बल्कि अन्य विशेषताओं से पहचाना जाता था—हिंद-आर्य भाषा से निकली बोलियों से, आरंभ में वैदिक साहित्य में संकलित धार्मिक विश्वासों तथा कर्मकांडों से और कम-से-कम सिद्धांततः उन कुछेक सामाजिक आचारों की स्वीकृति से जिन्हें अंततः *धर्मसूत्रों*में संहिताबद्ध किया गया। इसलिए *आर्य*की पहचान एक दर्जे की पहचान थी, जिसमें ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुसार समय-समय पर संशोधन होता रहा। उसका मतलब न तो कोई समान और न स्थायी पूर्वज-परंपरा थी। उनके आत्मबोध के बारे में जो कुछ स्थायी था वह यह कि वे अपने को वर्चस्वी समूह के रूप में देखते थे, जिसे अन्य लोगों से अधीनता या सम्मान की अपेक्षा करने का अधिकार था। पहली सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य तक उत्तरी भारत के समाज *ऋग्वेदकालीन*कृषक-पशुचारक समुदायों की स्थिति से बहुत आगे निकल आए थे और अब वे राजनीतिक दृष्टि से प्रभावकारी क्षेत्रों में निवास कर रहे थे, जिन पर कुलीय अभिजात समूहों या राजाओं का शासन था।

अध्याय : पांच

सिंधु-गंगा के मैदान के राज्य और नगर

लगभग 600-300 ई.पू.

राज्य और नगर

छठी सदी ई.पू. में राजतंत्रों, अल्पतंत्रों तथा सरदारतंत्रों (चीफडम) की स्थापना और शहरों के उदय के साथ उत्तर भारत एक नए ऐतिहासिक परिदृश्य में प्रवेश करता है। अब आकर्षण का केंद्र पश्चिमोत्तर भारत और पंजाब की अपेक्षा गंगा का मैदान बन गया, हालांकि उन क्षेत्रों ने भी अपनी गतिविधियां जारी रखीं। राज्य-व्यवस्था में परिवर्तन कुछ पहले ही आरंभ हो गए थे, परंतु जहां उनके साथ शहरीकरण का भी सिलसिला चला, वहां वे भारतीय उपमहाद्वीप में इतिहास के प्रवाह का स्रोत बनने जा रहे थे। इससे पहले का काल कुलीय संगठन पर आधारित व्यवस्थाओं और राजत्व के आरंभ के अनुभव से गुजरती अन्य व्यवस्थाओं के बीच सामंजस्य या टकराव का युग था। क्षेत्र-विशेष में स्थायी रूप से बस जाने से कुल को या कुलों के संघ को एक भौगोलिक पहचान प्राप्त हुई, और बाद में इस पहचान को ठोस रूप देते हुए उस क्षेत्र पर अधिकार जताया गया और कुल के नाम पर उसका नामकरण कर दिया गया। इस क्षेत्राधिकार को कायम रखने के लिए राजनीतिक संगठन की आवश्यकता पड़ी, चाहे वह संगठन गण-संघ हो या सरदारतंत्र अथवा राजतंत्र। शासक परिवार के वंश से अपनी पहचान पानेवाली पूर्ववर्ती काल की राज्य-व्यवस्थाओं का स्थान धीरे-धीरे प्रदेश से जुड़ी पहचान और नए ढंग की राजनीतिक सत्ता ले रही थी, यद्यपि किसी ख़ास पूर्वज-परंपरा से संबद्ध वंश के सातत्य की छाया प्रदेशों को दिए गए नामों में अब भी देखी जा सकती है। राजतांत्रिक व्यवस्था की दिशा में होनेवाला परिवर्तन राज्यों की संरचना की दिशा में उठाया गया अधिक स्पष्ट कदम

था।

गण-संघ के उदय को आद्य-राज्य के रूप में देखना अधिक उचित होगा। वह राजतांत्रिक व्यवस्था से भिन्न था, क्योंकि सत्ता वितरित थी, उसके समाज का सोपानीकरण सीमित था, और प्रशासन तथा दंड-शक्ति का फैलाव अधिक नहीं था। भारतीय इतिहास में गण-संघों की दीर्घ-जीविता विशेषतः उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्रों में सहज ही हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। बीच-बीच में उन्हें जीत लिया गया, तब भी वे फिर से उठ खड़े हुए और अपनी संघर्ष-क्षमता का परिचय देते हुए पहली सहस्राब्दी ई. के आगमन तक कायम रहे।

राज्य की परिभाषा संप्रभुता-संपन्न राजनीतिक हस्ती के रूप में की गई है। उसके उदय की अनेक शर्तें हैं : घनी आबादी, जिसके लिए जरूरी कृषि-संबंधी तथा अन्य संसाधन संकेंद्रित रूप में सुलभ हों; एक सुपरिभाषित और स्वीकृत प्रदेश पर नियंत्रण; सत्ता के स्थान के रूप में एक शहरी केंद्र, जो स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति और व्यापारिक विनिमय के लिए जरूरी शिल्पगत उत्पादन के केंद्र का भी काम करे; एक सोपानीकृत तंत्र के अंतर्गत विविध प्रकार के समुदाय, जो असमान दर्जों को स्वीकार करें; एक राजनीतिक सत्ता, जो करों से प्राप्त राजस्व और उनके वितरण की व्यवस्था अधिक बड़े नहीं तो एक न्यूनतम अपेक्षित प्रशासन के ही माध्यम से करे; सैनिक तथा नैतिक दोनों प्रकार की दंड-शक्ति के अभिकरणों पर एकाधिकार के माध्यम से सत्ता की धाक जमाना; कूटनीति के प्रति जागरूकता; और सत्ता के केंद्र के रूप में राजा के व्यक्तित्व में राज्य की संप्रभुता का प्रतिरूपण। राज्य का उदय बहुधा असमान शक्ति-संबंधों और संसाधनों पर असमान अधिकार एवं कुछ सामाजिक असमानता के संयोग से होता है। इस प्रकार के परिवर्तन बहुधा विभिन्न प्रकार के विचारधारात्मक औचित्य-प्रतिपादनों से भी समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करते होंगे।

इस काल में महाजनपदों के उल्लेख मिलते हैं, जो पूर्ववर्ती जनपदों से बड़े और अधिक शक्तिशाली थे, और जिनमें से कुल सोलह के उल्लेख बौद्ध स्रोतों में मिलते हैं। वे हैं मध्य गंगा घाटी में अंग, मगध, वृज्जि संघ और मल्ल; उसके पश्चिम में काशी, कोसल और वत्स; और भी पश्चिम में कुरू, पंचाल, मत्स्य और शुरषेण; पश्चिमोत्तर में कंबोज और गंधार; पश्चिमी और मध्य भारत में अवन्ति तथा चेदि; और दकन में अस्सक। प्रारंभिक बौद्ध धर्म-शैक्षिक साहित्य को ज्ञात भूगोल यही है। वैदिक स्रोतों में मगध और अंग को अपावन देश कहा गया है। लेकिन मगध आगे चलकर गंगा के मैदान की राजनीति पर अपना वर्चस्व स्थापित करनेवाला था। अस्सक का महत्त्व दक्षिणापथ से उसके संबंध से जुड़ा हुआ था। वृज्जि आठ कुलों का संघ था, जिसमें 7,707 राजा बताए गए हैं। इसी प्रकार कहा गया है कि मल्लों के 500 राजा थे और चेदि के उससे भी अधिक। अंतिम तीन स्पष्ट ही गण-संघ

थे। जैन स्रोतों में उल्लिखित जनपदों का भौगोलिक विस्तार अधिक है और लगता है जैन सूची शायद बाद की है। यह विस्तार आर्यावर्त की सीमाओं से मेल खाता है, जो बौद्ध और जैन स्रोतों में शायद इस कारण से पूर्व की ओर खिसक जाती हैं कि इन दोनों धर्मों के केंद्र मुख्य वैदिक क्षेत्र से पूरब में पड़ते थे। *महाभारत* में उल्लिखित कुलों में अनेक राजतंत्र की अपेक्षा गण-संघ प्रणाली के अधिक निकट थे। उदाहरणार्थ, कृष्ण वासुदेव का कुल वृष्णि ऐसा ही था। जनपद में असली महत्त्व शासक कुल का था, जिसके नाम पर जनपद को नाम दिया जाता था और सांस्कृतिक समानता भी होती थी। लेकिन महाजनपद में अलग-अलग किस्म की संस्कृतियां भी शामिल रहती थीं।

दूसरा नगरीकरण : गंगा का मैदान

राज्यों तथा आद्य-राज्यों का उदय बहुधा नगरीकरण से जुड़ी हुई प्रक्रिया होता था। यदि राज्य-व्यवस्थाओं में विभिन्न परिमाणों में राज्य-संरचना दिखाई देती है। तो पूर्ववर्ती बस्तियों में विकसित विभिन्न प्रकार के शहरों में अलग-अलग परिमाणों में नगरीकरण भी देखने को मिलता है। शहरों के मूल समान नहीं थे और इसलिए उन्हें जो विशेषताएं प्राप्त हुईं वे भी समान नहीं थीं। कुछ का उदय राजनीतिक तथा प्रशासनिक केंद्रों से हुआ, और वे इस प्रकार की सत्ता के केंद्र थे, जैसे हस्तिनापुर। कुछ बाद में राज्यों की राजधानियों के उल्लेख मिलते हैं—जैसे मगध की राजधानी राजगृह, कोसल की, श्रावस्ती, वत्स की कौशांबी, अंग की चंपा और पंचाल की अहिच्छत्र। अन्य शहरों का उदय बाजारों से हुआ। इनमें से प्रत्येक ऐसे तरह-तरह के गांवों की आवश्यकता की पूर्ति करता था जो उन स्थानों में स्थित थे जहां इतना कृषि अधिशेष सुलभ था कि वह नियमित रूप से विनिमय तंत्र में प्रवेश कर सकता था। आरंभ में ये विनिमय साधारण लेकिन आवश्यक वस्तुओं तक सीमित थे, जैसे अनाज और नमक। यदि बाजार उज्जैन की तरह किसी व्यापारिक मार्ग पर स्थित होता था तो दूर-दूर से आनेवाले माल का भी विनिमय हो सकता था। ये वैसे विनिमय नहीं थे जैसे बहुमूल्य या प्रतिष्ठासूचक वस्तुओं के वे कर्मकांडी विनिमय थे जो अभिजन समूहों के बीच विशेष अवसरों पर चलते थे। शहरों का उदय पवित्र माने जानेवाले स्थानों में भी हुआ, जहां लोग तीर्थाटन के लिए एकत्र होते थे। वैशाली को ऐसा ही स्थान माना जाता है। ये सभी प्रयोजन एक ही स्थान में संयुक्त रूप से भी विद्यमान हो सकते थे। कौशांबी काफी पहले ही शहर बन गया था। कहा गया है कि हस्तिनापुर में बाढ़ का डर होने के कारण राजा अपनी राजधानी वहां से कौशांबी ले गया। नया स्थान गंगा के नदी-मार्ग पर नियंत्रण रखने की दृष्टि से अधिक उपयुक्त था। बाद में वहां एक सबसे आरंभिक बौद्ध विहार बना। लोगों का

संकेंद्रण और विभिन्न प्रकार के पेशों और उत्पादों की संभावना स्पष्ट ही शहरों के विकास में सहायक होती थी।

दु:ख की बात है कि परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं की तफसीलें तभी उपलब्ध हो सकती हैं जब गंगा के मैदान के शहरी ठिकानों की क्षैतिज खुदाई की जाए, जिससे बसावट के अधिक विस्तृत स्तर प्रकाश में आएं और नागरिक जीवन से संबंधित अपेक्षाकृत जटिल प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़े जा सकें। ऐसे ठिकानों पर ज़्यादातर खुदाइयां अनुलंबीय रही हैं, जिनसे कालानुक्रम की जानकारी तो मिलती है, लेकिन अन्य सूचनाएं सीमित ही हैं। हड़प्पाई ठिकानों की खुदाइयों से इनकी विपरीतता बिलकुल स्पष्ट है। इस प्रकार, यद्यपि सबसे आरंभिक तिथियुक्त साक्ष्य पुरातत्त्व से मिलते हैं तथापि हमें जिस प्रकार की सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर शहरों के उद्भव, विकास और कार्यकलाप का विवेचन करना कठिन है। पश्चिमोत्तर में स्थित इसी काल के नगर से संबंधित भीर टीले की क्षैतिज खुदाई की गई है, लेकिन वह मध्य गंगा के मैदान से इतना दूर पड़ता है कि उससे प्राप्त साक्ष्यों का इस्तेमाल इसके लिए नहीं किया जा सकता।

अनिवार्यत: सूचना पाठों से छानी जाती है, लेकिन पाठ हमेशा समकालीन ही नहीं होते, और यद्यपि उनमें अतीत पर भी काफी कुछ कहा गया होता है तथापि यह भी संभव है कि वैसी कुछ सामग्री का संबंध विचाराधीन काल से ठीक बाद के काल से हो। सरदारतंत्रों और शहरों पर कुछ अधिक निश्चित किस्म के साक्ष्य पाणिनि के व्याकरण से मिलते हैं, जिसका काल आम तौर पर पांचवीं सदी ई.पू. माना जाता है और इसलिए जो हमारे शहरी केंद्रों का समकालीन है। बौद्ध धर्मशैक्षिक ग्रंथों में, विशेषत: *त्रिपिटक*में, बुद्ध से संबंधित घटनाओं का वर्णन किया गया है तथा उनकी शिक्षाओं को लिपिबद्ध किया गया है, और इनका संदर्भ बहुधाा शहरी है, जिससे हमें उनका इस्तेमाल नगरीकरण से संबंधित सामग्री के रूप में करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। यह धर्मग्रंथ मूलत: मौखिक परंपरा में था, जिसका लेखन बुद्ध की मृत्यु के दो-एक सदी बाद आरंभ हुआ। इसलिए यह नगरीकरण के सबसे आरंभिक चरण का नहीं, बल्कि अधिक परिपक्व चरण का समकालीन है। परंतु उससे उन प्रवृत्तियों का अंदाजा मिल सकता है जिनके कारण नगरों का विकास संभव हुआ।

गंगा के मैदान में आबादी के संकेंद्रणवाले जो दो क्षेत्र थे वे दोआब और मध्य गांगेय मैदान के ताम्रपाषाण समाज थे। राज्य और शहरी केंद्र दोनों क्षेत्रों में उदित हुए, लेकिन एक फर्क था। दोआब और पश्चिमी गांगेय मैदान चित्रित धूसर मृद्भांड (1200-400 ई.पू.) से संबंधित संस्कृतियों के पल्लवन-क्षेत्र थे। उससे पूरब की ओर बढ़ें तो कृष्ण-लाल मृद्भांड तथा आगे चलकर विलासोपकरण की कोटि के चमकीले उत्तरी कृष्ण पालिशदार मृद्भांड (लगभग 700-200 ई.पू.) से संबंधित बस्तियों से अधिक घने शहरीकरण का आभास होता है—विशेषत: प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य

से। लेकिन यह सावधानी रखना जरूरी है कि हो सकता है, बौद्ध पाठों की अपनी दृष्टि के कारण भी मन पर ऐसी छाप पड़ती हो।

दोआब की आबादी हालांकि छोटी थी लेकिन धीरे-धीरे यह फैलती गई। आरंभ में बस्तियां नदियों के किनारों के नजदीक थीं, मगर कुछ बस्तियां अंदरूनी क्षेत्रों की ओर खिसक गईं, जहां उन्होंने ज़मीन को साफ करके खेती शुरू की। हो सकता है, ऐसा बाढ़ों से बचने के लिए किया गया हो, या इसे जंगलों में जाकर पैर जमाने का साहसपूर्ण उद्यम भी कहा जा सकता है। गैरेय मृद्भांड से जुड़ी छोटी बस्तियां ऊपरी दोआब में अधिक मिली हैं। चित्रित धूसर मृद्भांड बस्तियां दोआब में अधिक फैली हुई थीं, और बड़े ठिकाने बहुधा झीलों के किनारे मिलते हैं। और भी पूरब की ओर चलें तो धान की सिंचित खेती का क्षेत्र आ जाता है, जहां स्वभावत: पैदावार अधिक होती थी, हालांकि श्रम भी ज़्यादा लगता था। यद्यपि स्थिर खेती की प्रधानता हो गई थी तथापि आखेटक-खाद्य-संग्राहकों, पशुचारकों और झूम खेती का बिलकुल खातमा नहीं हुआ था। एक-दूसरे से सटी हुई छोटी-छोटी चित्रित धूसर मृद्भांड बस्तियों का स्थान काफी बड़ी-बड़ी बस्तियों ने ले लिया, जो लंबे-लंबे फासलों के बाद उत्तरी कृष्ण पालिशदार मृद्भांड के ठिकानों और स्तरों से जुड़ी हुई थीं; और ये दूसरे मृद्भांड आरंभिक शहरी जीवन के अग्रदूत हैं।

गंगा के मैदान में पहले से मौजूद नवपाषाण और ताम्रपाषाण बस्तियों के अलावा जल-विभाजक क्षेत्र से देशांतरण करके भी लोग वहां बस गए। इसका संकेत इस बात से मिलता है कि दोआब के चित्रित धूसर मृद्भांड से जुड़ा कृष्ण लेवदार मृद्भांड (ब्लैक स्लिप्ड वेअर) वही था जो मध्य गांगेय मैदान के भांड़ों से संबंधित था, हालांकि वह कुछ बाद के काल का था। जल-विभाजक क्षेत्र की कुछ प्रौद्योगिकियों की नकल के फलस्वरूप चित्रित धूसर मृद्भांड और उत्तरी कृष्ण पालिशदार मृद्भांड की तकनीक में शायद समानता आ गई होगी। इससे पश्चिमी मैदान की संस्कृति के यहां थोपे जाने का संकेत नहीं मिलता बल्कि सिर्फ यह सूचित होता है कि वहां के लोग और प्रौद्योगिकियां यहां पहुंचकर यहां पहले से ही मौजूद संस्कृतियों में घुल-मिल गए। जलीय स्थिति तथा जलवायु में परिवर्तन के फलस्वरूप पश्चिमोत्तर और पंजाब में शायद कुछ शुष्कता आ गई होगी, जिससे लोग दोआब की ओर देशांतरण करने को प्रोत्साहित हुए होंगे, और उससे पूरब की ओर वे उपजाऊ भूमि की संभावना से आकृष्ट हुए होंगे। जो बस्तियां शहरी केंद्रों के रूप में विकसित हुईं उनके पुरातत्त्व से लगता है कि पूर्ववर्ती बस्तियों की तुलना में वे भिन्न थीं; और इसके अतिरिक्त उनमें शहरों का प्रमाणचिह्न उत्तरी कृष्ण पालिशदार मृद्भांड तो उपस्थित है ही। पहली सहस्राब्दी ई.पू. के अंत तक व्यापार के माध्यम से इस उपमहाद्वीप के प्राय: सभी भागों तक पहुंच चुकनेवाले इस मृद्भांड को पहली ही नजर में पहचान लिया जा सकता है। दोआब के हस्तिनापुर जैसे शहरों के उल्लेखों

के स्थान पर कौशांबी और *भिटा*का ज़्यादा जिक्र होने लगता है, और इन दोनों में महानगर के कुछ लक्षण दिखाई देने लगते हैं। वैशाली, उज्जैन, श्रावस्ती, राजघाट और राजगृह जैसे ठिकानों की खुदाइयां शहरों की शुरुआत पहली सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य में निर्दिष्ट करती हैं।

उत्खनित तथा पाठगत सामग्री के आधार पर देखें तो लगता है कि शहरी केंद्रों के खाके की अवधारणा में काफी संगति होती थी, यद्यपि योजना का अनुसरण हमेशा नहीं किया जाता था। शहर एक खाई या प्राचीर से घिरा होता था और कभी-कभी दुर्ग-रक्षित भी होता था। खाई खोदने से शायद इतनी मिट्टी निकल आती होगी कि उसी से प्राचीर बनाने का विचार उठा होगा। शुरुआत में प्राचीर शायद परत-दर-परत मिट्टी जमाकर बनाया जाता होगा, जैसा कि राजघाट में दिखाई देता है। लेकिन क्रमशः ईंटों के प्राचीर बनाए जाने लगे, जैसा कि कौशांबी का प्राचीर था। चूंकि बहुत-से शहर नदियों के किनारे पर स्थित थे, इसलिए प्राचीर बाढ़ से बचाव का प्रयोजन सिद्ध करता होगा, और साथ ही लुटेरों और हमलों के खिलाफ भी थोड़ी-बहुत सुरक्षा प्रदान करता होगा। विकास के क्रम में शहर का परिवेश भी गांव से भिन्न हो गया होगा, और इस कारण से भी दोनों के बीच सीमांकन करने के लिए प्राचीर बनाना जरूरी लगता होगा। शहर वह स्थान था जहां प्राप्त राजस्व को जमा किया जाता होगा। इसलिए उन पर हमलों का खतरा रहता था, जिस कारण से कुछ सुरक्षा-व्यवस्था आवश्यक थी। घर पहले की अपेक्षा बेहतर बने होते थे, और बाद के चरणों में वे कच्ची ईंटों से बनाए जाने लगे, लेकिन साथ में कुछ पक्की ईंटों का भी इस्तेमाल किया जाता था। उनमें ऐसी सुविधाओं की व्यवस्था की गई थी जो नई थीं—जैसे नालियां, वलय कूप (रिंगवेल) और शोषगर्त (सोकेज पिट), जो दूसरे नगरीकरण के पुरातात्त्विक पहचान-चिह्न बननेवाले थे और जिनके रूप हड़प्पाई नगरों की इस तरह की चीजों से भिन्न थे। मिट्टी के घरों में आंगन के गिर्द कमरे बने हुए होते थे। यह भारत के कई शहरों की गृह-योजना का आदि प्ररूप था। सीधे सड़क पर खुलनेवाले कमरे शायद दुकानें रहे होंगे। पहिएदार वाहनों के चलने के लिए सड़कों को चौरस कर दिया जाता था।

प्रारंभिक व्यापार में तरह-तरह की काफी चीजें शामिल थीं। लोहे की वस्तुओं में फावड़ों, हंसियों और चाकुओं से लेकर अंकुसियां, कीलें, तीरों के फल, बरतन और आईने तक शामिल थे। नमक, पश्चिमोत्तर में पोतवार पठार की खानों से निकाला जाता था, जहां से शायद उसे गंगा के मैदान तक की लंबी दूरी तय करनी पड़ती होगी। शहरों में बसे शिल्पी और कारीगर कपड़े, मनके, मिट्टी के बरतन, हाथी दांत की चीजें, कांच की वस्तुएं, शीशे के बरतन तथा अन्य धातुओं की चीजें बनाते थे, इन सभी वस्तुओं का व्यापार होता था। इनमें से कुछ चीजों के साथ कहीं-कहीं बाट भी मिले हैं, जो विनिमय की साक्षी भरते हैं। विनिमय के माध्यम से चलनेवाला

वितरण गंगा के मैदान तक ही सीमित नहीं था। माल पश्चिमोत्तर भी ले जाया जाता था, जहां से बदले में शायद घोड़े लाए जाते थे। पाठों में इस क्षेत्र में व्यापार के लिए कंबलों तथा अन्य ऊनी वस्तुओं के उत्पादन के भी उल्लेख मिलते हैं। मनुष्य और पशुओं की पक्की मिट्टी (टेराकोटा) की बनी आकृतियों की मांग काफी थी, और इस तरह की आकृतियों के सांचे बहुधा मिलते हैं। मूर्तिकाएं एक बार फिर मिलने लगती हैं, ख़ास तौर से भरपूर केशसज्जावाली मूर्तिकाएं। पक्की मिट्टी का इस्तेमाल कुओं के लिए बिलकुल सही माप के उत्कृष्ट वलय बनाने के लिए भी किया जाता था। इसके अलावा इस मिट्टी का उपयोग बड़े-बड़े मर्तबान बनाने के लिए भी किया जाता था, जिन्हें एक के ऊपर एक रख कर शोषगर्त बनाया जाता था।

पश्चिमोत्तर की शहरी बस्तियां—मुख्य रूप से तक्षशिला—गांगेय मैदान की संस्कृतियों से अलग ढंग की संस्कृतियों से उभरती हैं। हथियाल और भीर मुंडटीले की खुदाइयों से तक्षशिला ठिकाने का महत्त्व रेखांकित होता है। इनमें से पहला तो इस काल के पूर्व पड़ता है लेकिन दूसरा इस काल का है और तक्षशिला की नगरीय बस्तीवाला हिस्सा है। ईरानी हखामनी अभिलेखों में पश्चिमोत्तर में स्थित गंधाार को हखामनी साम्राज्य का एक प्रांत कहा गया है। इसलिए संभव है कि तक्षशिला एक महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक केंद्र रहा हो। हो सकता है, इससे उसके शहरीकरण को प्रोत्साहन मिला हो, हालांकि उसका महत्त्व तब बढ़ा जब वह उत्तर भारत और उसके पश्चिम में पड़नेवाले स्थानों के बीच विनिमय का केंद्र बन गया। एक राय यह है कि आगे चलकर गंधार के नगरों के रूप में विकसित होनेवाले तक्षशिला तथा पुष्कलावती जैसे केंद्रों में शहरीकरण की प्रवृत्ति आने का संबंध शायद और भी पश्चिम की ओर स्थित नगरों के पूर्ववर्ती महत्त्व से था—जैसे अफगानितान के कंदहार नगर के पूर्ववर्ती महत्त्व से।

शहरीकरण और राज्यों की संरचना दोनों उत्पादन से अधिशेष की वसूली पर और जिस तंत्र के द्वारा ऐसी वसूली संभव बनाई गई उस तंत्र पर निर्भर होते हैं। अपना आहार आप पैदा नहीं करनेवाले शहरी लोगों के लिए कृषि-अधिशेष आवश्यक था और उससे अन्य अनेक आर्थिक क्रियाकलाप भी उत्पन्न हो सकते थे। शायद सबसे निर्णायक कारक साल में दो फसलें—बल्कि यहां तक कि कहीं-कहीं तीन-तीन फसलें—लेना था। चावल की सिंचित खेती से बहुत फर्क पड़ा, क्योंकि उससे अन्य फसलों के मुकाबले पैदावार बहुत बढ़ गई। इससे आवश्यक अधिशेष सुलभ हुआ। तब सिंचाई खेती की पूर्वशर्त बन गई। जिस वैदिक साहित्य में मध्य गंगा मैदान को दलदली क्षेत्र कहा गया है उसे खेती के लायक बनाने के लिए कुछ क्षेत्रों के पानी को नाले बनाकर निकालना पड़ा होगा। संभव है, इससे सिंचाई के लिए नहरें काटने की युक्ति सूझी हो। इसने कुओं और जलोत्तलन युक्तियों से की जानेवाली सिंचाई के लिए बहुत बड़े अनुपूरक का काम किया होगा। अधिक पैदावार देनेवाली फसलों

और सिंचाई की व्यवस्था की एक पूर्वशर्त श्रम की उपलब्धता होगी, जिसके लिए ऐसी युक्ति की आवश्यकता पड़ी होगी जिससे श्रम न केवल प्राप्त किया जा सके बल्कि उसका नियंत्रण और निर्देशन भी किया जा सके।

परंतु अधिशेष का उत्पादन अपने-आपमें पर्याप्त नहीं होता, क्योंकि उसे इस प्रकार से एकत्र और वितरित करना पड़ता है जिससे समाज का एक छोटा समूह इस क्रियाकलाप को नियंत्रित करने में समर्थ हो सके और इस नियंत्रण का वृहत्तर समाज के लिए स्वीकार्य होना भी आवश्यक था। अधिशेष उत्पादन से शक्ति के लिए आधार तभी बनता है जब उसका उपयोग और वितरण इस प्रकार से किया जा सके जिससे विशेष दर्जे का दावा करनेवालों की सत्ता की अभिवृद्धि हो। चूंकि उससे अपने आहार का उत्पादन आप ही नहीं करनेवालों को भी भोजन प्राप्त होता है इसलिए इससे विविध प्रकार के कारीगरी के पेशों में विशेषज्ञता प्राप्त करने की प्रवृत्ति में भी सहायता मिलती है। अब कारीगरी के काम केवल स्थानीय उपभोग को धयान में रखकर ही नहीं किए जाते, बल्कि उनका लक्ष्य स्थानीय उपभोग के अलावा विनिमय की अभिवृद्धि के लिए भी उत्पादन करना हो जाता है, क्योंकि विनिमय से राजस्व भी प्राप्त होता है। लेकिन उधर अभिवृद्धि भी तभी उपयोगी होती है जब कच्चे माल की उपलब्धता और तैयार माल के वितरण की व्यवस्था करने के लिए लोग तैयार बैठे हों।

पहले ऐसा समझा जाता था कि सिंचाई की व्यवस्था करना अधिशेष-उत्पादन की प्राथमिक पूर्वशर्त था, और इसलिए सिंचाई पर नियंत्रण शक्ति का आधार था। इस दृष्टिकोण पर अब आपत्ति की गई है। सिंचाई महत्त्वपूर्ण तो है, लेकिन वह प्राथमिक या एकमात्र कारक नहीं है। वर्तमान बहस का मुद्दा यह है कि क्या लोहा वह महत्त्वपूर्ण कारक था। अपरिष्कृत किस्म की लोहे की वस्तुएं दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के अंतिम दौर से ही मिलने लगती हैं। लोहे का उपयोग, ख़ास तौर से हथियारों के लिए उसका उपयोग, 800 ई.पू. के आसपास ज्ञात था, यद्यपि तब इस धातु की गुणवत्ता निम्न कोटि की ही थी। बेहतर किस्म के लोहे का व्यवस्थित उपयोग बाद में प्रारंभ हुआ, जब लोहे से बने औज़ारों, हथियारों तथा अन्य वस्तुओं की गुणवत्ता और परिमाण काफी बढ़ जाता है। अब लौह उत्पादों में विभिन्न प्रकार के औज़ार, बरतन, कीलें आदि भी शामिल हो जाती हैं और हथियारों में भी सुधार होता है।

लोहा गलाने का काम तांबा गलाने से मिलती-जुलती किसी प्रौद्योगिकी से ही आरंभ हुआ होगा, लेकिन पहली सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य तक लोहे के प्रयोग में जैसा आत्मविश्वास दिखाई देने लगता है वह सहज ही ध्यान आकृष्ट करता है। अधिक ताप पैदा करना संभव होने लगा, जिसका प्रमाण हमें उत्तरी कृष्ण पालिशदार भांड के पकाने में भी मिलता है। उत्तरी राजस्थान में जोधपुर में की गई खुदाई में कच्चे लोहे को गलाने और गढ़ने की भट्टियां मिली हैं। लोहा उत्पादन के अन्य

केंद्र गंगा के मैदान में पश्चिमी हिस्से में स्थित अतरंजीखेरा और खैराडीह हैं। गंगा के मैदान की ताम्रपाषाण संस्कृतियों से ऐसा नहीं लगता कि तब वहां धातु का बहुत व्यापक उपयोग किया जाता था, इसलिए लोहे के उपयोग में दिखाई देनेवाली कुशलता एक नया अनुभव थी। इस काल से भारत के अनेक भागों में स्थित ठिकानों से जो शिल्प-तथ्य प्राप्त होने लगते हैं उन्हें ध्यान में रखकर देखने से लगता है कि विभिन्न समाज लोहे के इस्तेमाल का मार्ग प्रशस्त करनेवाली नई-नई प्रौद्योगिकियों पर हाथ आजमा रहे थे। जितनी ज़्यादा जगहों में लोहे की मैल मिली है उनसे भी, लगता है, इस इस धातु का व्यापक उपयोग किया जाता था। एक राय यह है कि *महाभारत*के आरंभिक पर्वों में लोहे को ठंडा करने और ढालने के लिए धातु को गलाने के उल्लेख हुए हैं। यह राय तर्कसंगत प्रतीत होती है।

लौह प्रौद्योगिकी ने कृषि उत्पादन को बदल दिया, यह दलील कई संयोगों पर आधारित है—यथा, लोहे की कुल्हाड़ी से जंगलों को साफ करने में सुविधा हुई, ताकि साफ की गई ज़मीन में खेती की जा सके; लोहे का फावड़ा एक कारगर कृषि-उपकरण था; और लोहे के फाल का आविष्कार भारी मिट्टीवाले क्षेत्रों में बहुत उपयोगी साबित हुआ, क्योंकि वह ज़मीन को लकड़ी के फाल की अपेक्षा अधिक गहरा जोत सकता था। लेकिन खुदाइयों में लोहे की बहुत कम कुल्हाड़ियां मिली हैं। पाठगत साक्ष्यों से लगता है कि खेती के लिए ज़मीन साफ करने के तरीके के तौर पर जलाने की विधि का अधिक प्रयोग किया जाता था। खुदाइयों से लोहे के फालों की प्राप्ति अब भी नगण्य ही है, लेकिन एक बौद्ध पाठ में लोहे के फाल पर पानी चढ़ाने का उल्लेख हुआ है, जिसको ऐसे फाल के प्रयोग के प्रमाण के रूप में बहुत उद्धृत किया जाता है। गंगा के मैदान से बाहर के क्षेत्रों की मिट्टी में लोहे के फाल की कार्यक्षमता में शंका व्यक्त की गई है।

कुल्हाड़ियों और फालों पर ज़ोर देते हुए लौह प्रौद्योगिकी के एक कार्य को अकसर नजरअंदाज कर दिया जाता है। तात्पर्य उन तकनीकी बदलावों से है जो लोहे के औज़ारों का प्रयोग आरंभ होने से विभिन्न शिल्पों में आए होंगे। हड्डी, शीशे और हाथीदांत की चीजें बनाने, कीमती पत्थरों तथा सीप और शंख से मनके बनाने एवं पत्थरों से वस्तुएं बनाने में पूर्ववर्ती ताम्रपाषाण स्तरों की तुलना में अब परिमाण और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से काफी सुधार देखने को मिलता है। इससे लगता है कि नई प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल में बहुत आत्मविश्वास आ गया था और उसका उपयोग व्यापक रूप से किया जा रहा था। उदाहरण के लिए, लकड़ी के काम को ले सकते हैं। अब छतों के लिए बेहतर चरनें बनाई जा रही थीं, रथों और बैलगाड़ियों के ढांचों में और शायद नावें बनाने के काम में भी सुधार आ गया था। बरतन पकाने और शीशा बनाने जैसी अंतर्संबद्ध प्रौद्योगिकियों को भी शायद लौह शिल्प में सुधार लाने के प्रयोगों से जोड़ लिया गया था।

यद्यपि अकेली लोहा ही पूरी स्थिति में फर्क लानेवाला निर्णायक कारक शायद नहीं रहा हो, तथापि समग्र परिवर्तन के एक अंग के रूप में उसकी भूमिका को कम नहीं आंका जा सकता। चूंकि अधिशेष का नियंत्रण चंद लोगों के हाथों में था इसलिए जो चीज अधिशेष की अभिवृद्धि करती है वह महत्त्वपूर्ण कारक बन जाती है। नई प्रौद्योगिकी का प्रचार लोहे की उपलब्धता और लोहारों की यायावरी के माध्यम से हुई। इसलिए प्रौद्योगिकी पर एकाधिकार स्थापित करना इतना आसान नहीं था। समाज में लोहारों का स्थान निम्न था। इसलिए ख़ास-ख़ास उत्पादों पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता था। दैनिक उपयोग में आनेवाली चीजों को छोड़कर लोहे की अन्य वस्तुएं शायद प्रतिष्ठा के प्रतीक बन गई होंगी। राज्य ने हथियारों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया।

कृषि का विस्तार और लोहे का प्रयोग अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन शहरीकरण और राज्य प्रणालियों को संभव बनाने के लिए आवश्यक अधिशेष की सृष्टि करने के लिए वे अपने-आप में पर्याप्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए, प्रायद्वीप के समकालीन महापाषाण समाजों में ये दोनों विशेषताएं मौजूद थीं, फिर भी वे प्राक्-राज्य और प्राक्-शहर अवस्था में ही रह गए। अधिशेष का संग्रह और पुनर्वितरण परिवर्तन का एक और भी आवश्यक घटक था, और उसका मतलब खजाने तक जो-कुछ आता था उस पर अधिकार करना-भर नहीं था बल्कि उन उत्पादों का निर्माण करने में श्रम करनेवाले लोगों का नियंत्रण भी था। राज्य की दिशा में विकास के लिए श्रम करनेवालों और श्रम का प्रबंधन करनेवालों के बीच एक नया संबंध आवश्यक था।

पाठगत स्रोतों से लगता है कि प्रारंभिक शहरीकरण दो तरीकों से हुआ। एक तरीके का आभास हमें उन गांवों के वर्णन में मिलता है जिन्होंने लोहारी, कुम्हारी, बढ़ईगीरी, कपड़ा बुनाई, टोकरी बुनाई आदि पेशों में विशेषज्ञता प्राप्त कर ली थी। ये कच्चे माल के स्रोतों के निकट और मार्गों तथा बाजारों से जुड़े गांव थे। उदाहरण के लिए, ठीक किस्म की मिट्टी की उपलब्धता कुम्हारों को किसी ख़ास इलाके की ओर आकृष्ट करेगी और बढ़ई वहां जाएंगे जहां लकड़ी उपलब्ध हो। विशेषज्ञता-प्राप्त कारीगरों में एक स्थान पर जमा होने की प्रवृत्ति होती थी, क्योंकि इससे संसाधन प्राप्त करने और उत्पादों के वितरण में सुविधा होती थी। इस तरह का संकेंद्रण शहर का रूप ले सकता था, और शहर क्रमशः अपने उत्पादन को बढ़ाकर और बाजार का विस्तार करके व्यापार का केंद्र बन सकते थे। वैशाली, श्रावस्ती, चंपा, राजगृह, कौशांबी और काशी जैसे इस प्रकार के कुछ शहर गंगा के मैदान की अर्थव्यवस्था के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण थे। उज्जैन, तक्षशिला या भारकच्छ (भरुच) जैसे कुछ अन्य शहरों का भौगोलिक संपर्क और आर्थिक प्रभाव दूर-दूर तक था।

शहरीकरण का एक संकेतक बस्तियों का सोपान भी है। *ग्राम*या गांव सबसे छोटी बस्ती था। जिन्हें *निगम*और *पूतभेदन*(put bhedana) कहा गया है वे विनिमय केंद्र और स्थानीय बाजार थे। नदियों के किनारे स्थित बंदरगाह–जैसे पाटलिग्राम और नदियों को पार करने के घाट-जैसे शृंगवेरपुर–विनिमय का मार्ग प्रशस्त करते थे। *नगर*शहर था और *महानगर*बहुत बड़ा शहर–सुप्रतिष्ठित, समृद्ध और राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण। कौशांबी बखूबी *महानगर*रहा होगा, क्योंकि अनुमान है कि उसका फैलाव 150 हेक्टेयर था। बौद्ध स्रोतों में कभी-कभी *ग्राम,निगम*और *नगर*का उल्लेख इसी क्रम में हुआ है, जिससे गांव, बाजार और शहर के सोपान का आभास होता है।

बहुत सारी अलग-अलग पहचानवाले लोगों का निवास शहरी केंद्रों की एक विशेषता होती है। ऐसा कहा गया है कि सिद्धांततः अलग-अलग पेशों में लगे समूह शहर के अलग-अलग निश्चित हिस्सों में रहते थे। पाठों में उल्लेख मिलता है कि दो मुख्य मार्ग शहर के बीचों-बीच गुजरते हुए एक-दूसरे को समकोण पर काटते थे, और दोनों मार्गों के मिलन का केंद्रीय स्थान सत्ता का भी केंद्र होता था, जहां राजा का राजमहल और दरबार, या गण-संघ का सभा-भवन स्थित होता था। ये इमारतें अधिक स्थायी होती होंगी, हालांकि ये शहरीकरण के परिपक्व चरण से संबंधित हैं–जैसे कौशांबी का राजप्रासाद। जिस धार्मिक संस्था के हाथों में धार्मिक सत्ता होती थी वह भी शहर के केंद्र से जुड़ी होती होगी।इस काल में ऐसी संस्था बौद्ध विहार थे। कौशांबी में राजप्रासाद और विहार दोनों हैं, तथापि विहार केंद्रीय स्थल पर नहीं है। भीर मुंड के टीले में कोई नगर-योजना दिखाई नहीं देती, लगता है कि जरूरी नहीं था कि नगर इस योजनानुसार ही बसें। सड़कों के तंत्र, नालियों की प्रणाली तथा पेशे से संबंधित अलग-अलग रिहाइशी इलाकों की व्यवस्था करके शहर में सुसंबद्धता लाने की कोशिश की जा सकती थी।

अब तक उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर देखें तो मालूम होता है कि न तो हड़प्पा की नगर-योजनाओं को कहीं याद किया गया और न उनका अनुकरण करने का कोई प्रयत्न किया गया। मालूम होता है, हड़प्पाई गढ़ की संरचनाओं को या तो नगर के केंद्र में शामिल कर लिया गया या वे नगर में यत्र-तत्र बिखरी हुई थीं। कुछ नगर नदियों के किनारे बसाए गए, जिससे उन पर बाढ़ का खतरा बना रहता होगा। इसके बावजूद इमारतों की रक्षा के लिए पक्की ईंटों की नींवों का सहारा लिए जाने का साक्ष्य कहीं नहीं मिलता। गंगा नदी-प्रणाली और उसके नगरों के निवासियों की शहरी आवश्यकताएं सैंधव शहरी केंद्रों की ज़रूरतों से भिन्न थीं। ऐसा मालूम होता है कि शहरी निर्माण-कार्य की तुलना में कृषि के विस्तार में श्रम की लामबंदी को प्राथमिकता दी गई।

शहरी लोग (शायद अल्पतंत्रों से बसे शहरों को छोड़कर) कौटुंबिक संबंधों

से जुड़े हुए नहीं होते थे, और ज्यों-ज्यों शहर विकसित होते गए, त्यों-त्यों बांधव्य संबंध और भी शिथिल होते गए, हालांकि शहर गांवों की अपेक्षा अधिक घने तौर पर आबाद थे। सो शहरी संबंध अन्य विशेषताओं पर आधारित थे—जैसे पेशों की पारस्परिक निर्भरता या प्रशासन के तंत्रों पर। शहर अब भी इतने छोटे-छोटे थे कि आदमी-आदमी का प्रत्यक्ष संबंध संभव था। सत्ता के केंद्र के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण स्थान वह था जहां वस्तुओं का विनिमय होता था। बाद में इनमें धार्मिक संस्थाओं के स्थान भी जुड़ गए। भारतीय नगरों में आम तौर पर कोई केंद्रीय, अकेला बाजार नहीं होता था। खरीद और बिक्री उन्हीं स्थानों में किए जाने वाले सौदों का अंग होती थीं, जहां उनका उत्पादन होता था। इसी के चलते संभवतः कुछ ख़ास उत्पाद नगर के कुछ ख़ास-ख़ास हिस्सों में संकेंद्रित हुए होंगे। यह प्रणाली शायद नगरों में उभरनेवाले उत्पादन और विनिमय केंद्रों से विकसित हुई होगी। इसलिए शहरों में तरह-तरह के बहुत-से पेशे होते थे, जो प्रौद्योगिकियों के प्रयोग का मार्ग प्रशस्त करते थे। उनमें अलग-अलग सामाजिक दर्जों के लोग निवास करते थे, जिससे विविध प्रकार के सामाजिक आदान-प्रदान के साथ ही अनेक सामाजिक सीमांकन भी होते थे, और उनमें अकसर विविध प्रकार के धार्मिक संप्रदायों का अस्तित्व होता था।

गण-संघ—सरदारतंत्र और अल्पतंत्र

गण-संघ राजतंत्रों से भिन्न राज्य-व्यवस्था थे, और वे पूर्ववर्ती प्रणाली का सातत्य हो सकते हैं। गण-संघों से विभिन्न विचारधाराओं और धार्मिक संप्रदायों, ख़ास तौर से बौद्ध धर्म और जैन धर्म, के संबंध का कारण यह था कि इनमें से अनेक के मूल गण-संघों में समाए हुए थे। इसलिए बौद्ध स्रोतों से ज्ञात होता है कि ये संघ किस प्रकार काम करते थे। लेकिन इन पाठों का स्वरूप ही ऐसा है कि इनमें उनका विशद वर्णन नहीं किया गया है। ब्राह्मणीय स्रोत गण-संघों को नापसंद करते हैं, क्योंकि वे अपेक्षित कर्मकांड नहीं करते थे और वर्ण के नियमों का पालन नहीं करते थे। इसीलिए वैदिक साहित्य में उनकी उपेक्षा कर दी गई दिखाई देती है। उनकी नापसंद के दायरे में आम तौर पर शहर भी शामिल हैं, लेकिन बौद्ध धर्मग्रंथ शहरी केंद्रों के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण हैं और वे शहरों के महत्त्व पर ज़ोर देते हैं। लेकिन राजतंत्रों में शहर, ख़ासकर वे शहर जो राजधानी हैं, अधिक सक्रिय भूमिका में दिखाई देते हैं।

राजतंत्र गंगा के मैदान में केंद्रित थे, लेकिन गण-संघ इन राज्यों की सीमाओं पर, हिमालय की तराई और उससे ऐन दक्षिण में, पूर्वोत्तर भारत में, पंजाब तथा सिंध में और मध्य तथा पश्चिमी भारत में स्थित थे। गण-संघ मुख्य रूप से कम उपजाऊ,

पहाड़ी क्षेत्रों में बसे हुए थे। इससे यह माना जा सकता है कि ये राजतंत्रों की दिशा में संक्रमण के संपन्न होने के पहले से मौजूद थे, क्योंकि जंगलों से भरी छोटी पहाड़ियोंवाले प्रदेशों को साफ करना मैदानी क्षेत्र के दलदले जंगलों को साफ़ करने की अपेक्षा अधिक आसान था। ऐसा मानना भी उतना ही युक्तिसंगत दिखाई देता है कि राजतंत्रों के रूप में विकसित हो रहे प्रदेशों में रूढ़िवादिता की बढ़ती हुई शक्ति से असंतुष्ट होकर मैदानी इलाकों के स्वतंत्र-चेता निवासी ऊपर पहाड़ी क्षेत्रों की ओर चले गए होंगे, जहां उन्होंने ऐसे समाज स्थापित किए जो, कम से कम शासक कुलों की हद तक, समतावादी परंपराओं के अनुरूप थे। गण-संघों द्वारा वैदिक रूढ़िवादिता की अस्वीकृति से लगता है कि वे किसी पुरानी या वैकल्पिक परंपरा का पालन कर रहे होंगे। पश्चिमी भारत में भी गण-संघ जैसी प्रणालियां थीं। *महाभारत*में वर्णित वृष्णि (Virishnis) शायद उन्हीं में से एक रहे होंगे। चूंकि बौद्ध पाठों में विशेष ध्यान गंगा के मैदान पर ही दिया गया है, इसलिए पश्चिमी भारत की इस तरह की प्रणालियों के बारे में कुछ नहीं कहा गया है।

सामासिक पद गण-संघ या गण-राज्य में गण का अर्थ होगा ऐसे लोग जो समान दर्जे का होने का दावा करते हैं, और संघ का अर्थ परिषद् एवं राज्य का तात्पर्य शासन होगा। ये ऐसे तंत्र थे जिनमें किसी कुल में शामिल परिवारों के प्रधान या यदि कुलों का कोई संघ होता था तो कुलों के सरदार कुल या संघ के क्षेत्र का शासन एक परिषद् के माध्यम से करते थे। इस परिषद् के सदस्य, केवल संबंधित परिवारों के प्रधान या संबंधित कुलों के सरदार ही हो सकते थे। इस शब्द का अनुवाद अनेक प्रकार से किया गया है। किसी समय यह समझा जाता था कि वे लोकतंत्र थे, लेकिन यह उपयुक्त नहीं लगता, क्योंकि सत्ता छोटे-छोटे शासक परिवारों के हाथों में सिमटी हुई थी और केवल वही शासन में शरीक हो सकते थे। संबंधित प्रदेश में रहनेवाले अधिकतर लोगों को कोई अधिकार नहीं था और संसाधन उनकी पहुंच से परे थे। इसलिए 'रिपब्लिक' या 'गणतंत्र' शब्द को अधिक पसंद किया गया है, क्योंकि उसमें सामाजिक सोपानीकरण के लिए तो स्थान है, लेकिन वह राजतंत्र से भिन्न है। एक और भी शब्द का प्रयोग किया गया है। वह है 'ओलिगार्की' या 'अल्पतंत्र', जिसमें ज़ोर शासक परिवारों की सत्ता पर है। अपेक्षाकृत हाल में, इस तरह की प्रणालियों के प्रारंभिक रूपों को 'चीफडम' या 'सरदारतंत्रों' के रूप में देखा जाने लगा है, जिसमें उनके विशिष्ट मूल पर ज़ोर है और यह आभास दिया गया है कि वे शायद प्राक्-राज्य या आद्यराज्य रहे हों, और राजतंत्रों से तो निश्चित तौर पर भिन्न थे ही।

गण-संघ में या तो कोई एक ही कुल शामिल रहता था—जैसे शाक्य, कोलिय और मल्ल—या वह कुलों का संघ होता था, जैसे वृज्जि और वृष्णि। वैशाली में स्थित वृज्जियों का संघ समान दर्जे के स्वतंत्र कुलों का संगठन था, और उनके संघबद्ध

हो जाने के बावजूद प्रत्येक की पहचान कायम थी। ये सभी क्षत्रिय कुल थे, लेकिन क्षत्रियों के अस्तित्व का मतलब वर्ण-आधारित समाज के नियमों का पालन नहीं था। उन्होंने कुल-परंपरा को राजतंत्रों की अपेक्षा अधिक सीमा तक कायम रखा। उदाहरण के लिए, कुल का प्रतिनिधित्व करनेवाली परिषद् कुलों या परिवारों के प्रधानों तक ही सीमित थी। उनके मूल से संबंधित कथाओं में आम तौर पर दो विचित्र विशेषताओं का उल्लेख हुआ है। एक तो यह थी कि शासक परिवारों के संस्थापक बहुधा ऊंचे दर्जे के लोग होते थे, जिन्होंने तरह-तरह के कारणों से अपनी जन्मभूमि का त्याग कर दिया था या जो वहां से निर्वासित कर दिए गए थे। दूसरी विशेषता यह थी कि ऊंचे दर्जे का दावा उस मिथक में निहित रहता था जिसमें संस्थापक परिवार को भाई-बहन के बीच कौटुंबिक वैवाहिक संबंध से उत्पन्न बताया जाता था। इस प्रकार के माता-पिता में मूल का निर्देश करना शुद्ध वंश-परंपरा का द्योतक माना जाता था और इसलिए अत्यंत प्रशंसनीय। वैदिक रूढ़िवादिता के त्याग का प्रमाण कम से कम एक ऐसे स्रोत में भी मिलता है जिसकी रचना का श्रेय ब्राह्मणों को दिया गया है। उसमें गण-संघ के, कुलों को इस कारण से स्खलित क्षत्रिय और यहां तक कि शूद्र भी कहा गया है कि उन्होंने ब्राह्मणों का सम्मान करना और वैदिक कर्मकांड का पालन करना छोड़ दिया है। ब्राह्मणों का सम्मान करने का मतलब वर्ण-सोपान को स्वीकार करना था। गण-संघों में केवल दो कोटियां थीं–*क्षत्रिय राजकुल*और *शूद्रकर्मकर*। दूसरी कोटि का मतलब था गुलाम या श्रमिक। इसलिए ये लोग गैर-कौटुंबिक श्रमिक थे, यह पूर्ववर्ती कुल प्रणाली से दूर हटने का प्रमाण था। पूर्ववर्ती कुल प्रणाली में कुटुंब के सदस्य मिलकर काम करते थे। दूर हट जाने का प्रमाण था। वे वैदिक कर्मकांड को स्वीकार नहीं करते थे, इसका एक प्रमाण यह भी है कि वे घिरे हुए पवित्र अहातों और बगीचों के प्रति पूज्य भाव रखते थे।

शासन की सामूहिकता को गण-संघों की बड़ी शक्ति माना जाता था। वास्तविक विधि यह थी कि परिवारों या कुलों के प्रधानों की एक सभा होती थी, जो उस मुख्य नगर में स्थित होती थी जहां वे सब रहते थे। सभा की अध्यक्षता कुल का प्रधान करता था। ये लोग सभा में एकत्र होते थे। यह पद वंशानुगत नहीं होता था और इसे राज-पद नहीं बल्कि सरदार का पद माना जाता था। लेकिन बाद में जब राजा कहलानेवाले सरदार के पद का कुछ महिमा-मंडन हुआ तब उसे रूढ़ अर्थ में राज-पद मानने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी। विचारणीय विषय को सभा के समक्ष रखा जाता था, और उस पर बहस होती थी। यदि सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो पाता था तो उस पर मत लिए जाते थे। प्रारंभिक ढंग के प्रशासन में राजा की सहायता सलाहकार, कोषाध्यक्ष और सेनापति करते थे। बाद के स्रोतों में एक विस्तृत न्यायिक प्रक्रिया का वर्णन मिलता है। संदिग्ध अपराधी को सात अधिकारियों के एक सोपान के सामने बारी-बारी से सफाई देनी पड़ती थी।

सामाजिक तथा राजनीतिक सत्ता सभा में प्रतिनिधियों की हैसियत से बैठनेवाले राजाओं के हाथों में होती थी, जिन्हें क्षत्रिय की हैसियत प्राप्त थी। बौद्ध स्रोतों में वर्ण-सोपान में क्षत्रियों को प्रथम और ब्राह्मणों को द्वितीय स्थान देने का यह एक कारण हो सकता है, क्योंकि उनका गण-संघों से अधिक परिचय था, यद्यपि इसका कारण ब्राह्मण के प्रति बौद्धों का विरोध-भाव भी हो सकता है। मध्य गांगेय मैदान के गण-संघों की आय का मुख्य जरिया खेती, ख़ास तौर से चावल की सिंचित खेती थी, क्योंकि पंजाब के कुछ हिस्सों और दोआब के अलावा पशु-पालन अब मुख्य धंधा नहीं रह गया था। लेकिन उनके नगर व्यापारियों को भी आकृष्ट करते थे और संपत्ति का एक अतिरिक्त स्रोत व्यापार भी रहा होगा। मगर पश्चिमोत्तर के सरदारतंत्रों के लिए राजस्व का मुख्य साधन व्यापार ही रहा होगा।

भूमि पर कुल का सामूहिक स्वामित्व होता था, लेकिन उसमें खेती उजरती मजदूर, गुलाम और –*दास-कर्मकर*–करते थे। इस सामासिक पद के कारण यह तय करना मुश्किल हो जाता है कि कितना उत्पादन दासों पर निर्भर था और कितना कर्मकरों पर। गुलामी के ज़्यादातर वर्णनों से उत्पादन में गुलामों के उपयोग की अपेक्षा उनके घरेलू उपयोग का ही आभास होता है। द्विस्तरीय प्रणाली में जो लोग खेतों में काम करते थे वे शासक कुल के नियंत्रण में ही काम करते होंगे। इसलिए श्रम का प्रबंधन अपेक्षाकृत सरल था, बशर्ते कि किसान नियंत्रण का विरोध न करते रहे हों। जब सिंचाई के जल के बहाव को लेकर शाक्यों और कोलियों की ज़मीनों में खेती करनेवालों के बीच झगड़ा उठा तो दोनों कुलों ने सीधे हस्तक्षेप किया। दास-कर्मकरों का सभा में प्रतिनिधित्व नहीं होता था, और उन्हें लगभग कोई अधिकार प्राप्त नहीं था।

गण-संघों के वर्णनों से लगता है कि शहर राजधानी का काम करता था और यह उनके जीवन का सुपरिचित अंग था। भूस्वामी कुल-सदस्य शहर में रहते थे और सामान्य शहरी कार्यकलाप में भाग लेते थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि वैशाली का एक युवक चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करने के लिए तक्षशिला गया और शिक्षा प्राप्त करके वहां से लौट आया। यह निश्चय ही लंबी और कठिन यात्रा रही होगी। व्यक्तिवादी और स्वतंत्र किस्म के मतों के प्रति गण-संघों का रुख राज्यों की अपेक्षा कम विरोधपूर्ण था और नए गैर रूढ़िवादी विचारों को सहन करने के लिए वे अधिक तत्पर रहते थे। दो सबसे महत्त्वपूर्ण असनातनी संप्रदाय साबित होनेवाले बौद्ध और जैन मतों के महान गुरु गण-संघों में ही उत्पन्न हुए थे। पहले से ही चले आ रहे जैन धर्म से संबंधित महावीर का जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था, जो वैशाली के वृज्जि संघ का अंग था। बुद्ध का लालन-पालन शाक्य कुल के नगर कपिलवस्तु में हुआ था।

राजतांत्रिक प्रणाली नहीं होने के कारण गण-संघों के सदस्य ब्राह्मणों के

राजनीतिक सिद्धांतों को भी अस्वीकार कर सकते थे। शायद एक सबसे महत्त्वपूर्ण अब्राह्मणीय सिद्धांत राज्य के उद्‌भव का बौद्ध वर्णन था। सामाजिक अनुबंध (सोशल कंट्रैक्ट) के सिद्धांत से सादृश्य रखनेवाला यह शायद सबसे पहला सिद्धांत था। इस सिद्धांत के अनुसार, सुदूर अतीत में एक ऐसा काल था जब प्राणि-मात्र में संपूर्ण संगति और सद्‌भाव था। स्त्रियों और पुरुषों में कोई इच्छा नहीं थी, क्योंकि सब कुछ सहज सुलभ था। धीरे-धीरे ह्रास की प्रक्रिया आरंभ हुई। तब आवश्यकताएं, आकांक्षाएं और इच्छाएं प्रकट हुईं। इनसे स्वामित्व का विचार उत्पन्न हुआ, जिसके फलस्वरूप परिवार की कल्पना का जन्म हुआ। उससे निजी संपत्ति का आविर्भाव हुआ, जिसने विवादों और संघर्षों को जन्म दिया। इनके कारण कानून और नियंत्रक प्राधिकरण की आवश्यकता उठी। तब संघर्ष से बचने के लिए यह निश्चय किया गया कि किसी एक व्यक्ति को शासन करने और न्याय की रक्षा के लिए चुना जाए। वह *महासम्मत*अर्थात् सबकी सम्मति से चुना गया व्यक्ति था, जिसे पारिश्रमिक के रूप में एक निर्धारित भाग प्रदान किया गया। इस बौद्ध सिद्धांत मे उस काल में प्रचलित और विद्यमान सभी संस्थाओ के तर्क को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है—चाहे वह परिवार हो या निजी संपत्ति अथवा जाति। इस प्रकार का सिद्धांत गण-संघों की राजनीतिक प्रणाली को रास आता था और वह राजतांत्रिक राज्यों में प्रचलित सिद्धांत से भिन्न था। राजत्व के ब्राह्मणीय सिद्धांत के अनुसार, लोगों के रक्षक के रूप में राजा देवताओं द्वारा नियुक्त था, कर्मकांडी यज्ञ का संरक्षक था, और उससे वर्णाश्रम धर्म की रक्षा अपेक्षित थी। इसके मुकाबले बौद्ध सिद्धांत में शासन की आवश्यकता का एक तर्कसंगत कारण बताने का प्रयत्न किया गया है।

राजतंत्र

गण-संघों के विपरीत राजतांत्रिक राज्य में एक केंद्रीकृत शासन होता था, जिसका आधार राजा की संप्रभुता होती थी। राज्यों की राज्यव्यंवस्था धीरे-धीरे सरदारी से राजत्व में बदल गई। इस परिवर्तन के साथ एक कर्मकांडी दर्जा कायम हुआ, जिससे राजा की सत्ता में एक और आयाम जुड़ गया। सत्ता शासक परिवार में केंद्रित होती थी। वैधीकरण एक महत्त्वपूर्ण घटक बन गया, जिसमें क्षत्रिय दर्जे पर ज़ोर दिया जाता था। यह दर्जा अकसर ब्राह्मणीय कर्मकांड के माध्यम से प्रदान किया जाता था। राजतांत्रिक राज्यों से राज्य की एक ऐसी प्रणाली सूचित होती है जिसमें पूर्ववर्ती काल के मुकाबले नई विशेषताएं थीं। राजा कानून पर अमल करवाता था, जिसके लिए दंड-शक्ति का सहारा लेना पड़ सकता था। जातियों तथा क्षेत्रों के प्रथागत नियमों से कानून का सामंजस्य स्थापित करना पड़ता था। यह सिलसिला इतिहास के पूरे दौर में कायम रहा। शासन का दायरा मुख्य शहर के चारों ओर के प्रदेशों तक और

कभी-कभी उससे भी बहुत दूर तक फैला होता था।

शासक परिवार राजवंश बन गया और राजपद का उत्तराधिकार वंशानुगत, जिसमें ज्येष्ठाधिकार को प्राथमिकता दी जाती थी। राजनीतिक सत्ता राजा में केंद्रित हो गई। उसे मंत्री और *परिषद्*तथा *सभा*जैसी परामर्श समितियां सलाह देती थीं। ये दोनों शब्द पूर्ववर्ती काल से ही जारी थे, लेकिन अब इनकी हैसियत परामर्शदात्री की हो गई थी। इन सबके अलावा एक प्रशासन राजा की मदद करता था, जिसमें अधिकारी शामिल होते थे। अधिकारीगण राजस्व का निर्धारण और वसूली करके उसे राजधानी में स्थित खजाने में जमा करते थे, जहां से वह वेतनों, सेना और प्रशासन के अनुरक्षण जैसे सरकारी खर्चों, ब्राह्मणों तथा धार्मिक पदाधिकारियों को दिए जानेवाले दानों और बेशक शासक परिवार की निजी आय के रूप में वितरित किया जाता था। इनके अलावा, सावर्जनिक कार्यों पर भी राजस्व का व्यय होता था। ऐसे सार्वजनिक कार्यों में उत्पादन की अभिवृद्धि शामिल थी, क्योंकि इससे राजस्व में भी इजाफा होता। उदाहरण के लिए, किसी समय सिंचाई की व्यवस्था को राज्य का विशेषाधिकार माना जाता था, लेकिन वस्तुतः बहुत-से इलाकों में कृषि के लिए जल सुलभ कराने के निमित्त सामान्य सिंचाई की व्यवस्था करना अलग-अलग किसानों और गांवों के कार्यकलाप का ही हिस्सा बना रहा। जहां इतने अधिक श्रम की आवश्यकता होती थी जिसे जुटाना स्थानीय किसानों के बूते से बाहर होता था–जैसे कि नहरें काटने और जलाशय बनाने के लिए–वहां राज्य सहायता के लिए आगे आता था। राज्य के अस्तित्व का मतलब अलग-अलग प्रकार के पड़ोसियों से–जिनमें कुछ मित्र हो सकते थे तो कुछ शत्रु–संबंध रखना भी होता था, जिसमें प्रवृत्ति मौजूदा सामाजिक संबंधों को मिटाकर उनके स्थान पर ऐसे सामाजिक संबंधों को प्रतिष्ठित करने की होती थी जो सत्ताधारियों के लिए अनुकूल हों।

राजतंत्रों में कुल के प्रति वफादारी कमज़ोर पड़ गई और उसका स्थान जाति के प्रति वफादारी और राजा के प्रति वफादारी ने ले लिया। राजतंत्रों का राजनीतिक विस्तार अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्रों तक होने से लोकप्रिय समितियां भी कमज़ोर पड़ गईं, क्योंकि दूरी बढ़ जाने से बार-बार उनकी बैठकें नहीं हो सकती थीं। गण-संघ अपेक्षाकृत छोटे भौगोलिक क्षेत्र पर आधारित था, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक प्रातिनिधिक शासन की अपेक्षाएं पूरी करना ज़्यादा आसान था। राजतांत्रिक प्रणाली में राजा के दैवत्व और उसके आनुषंगिक अंग पुरोहितों तथा वैदिक कर्मकांड की शक्ति ने पूर्व वैदिक काल की लोकप्रिय संस्थाओं के महत्त्व को और भी कम कर दिया। राजतंत्र के अंदर अभिजनों के बीच की स्पर्धा और ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की पूर्ववर्ती प्रतिद्वंद्विता को धीरे-धीरे एक नई उभरती शक्ति से मुकाबला करना पड़ा। वह थी शहरों के धनाढ्य व्यापारियों की शक्ति और यह शहरों में एक नई परिघटना के रूप में प्रकट हुई। वर्ण सोपान पर आग्रह व्यापारियों के मुकाबले सत्ता पर अपनी

पकड़ बनाए रखने का प्रयत्न था।

इस काल के साहित्य में अनेक राजतंत्रों का उल्लेख हुआ है। इनमें आरंभ में काशी महत्त्वपूर्ण था। काशी के उत्तर में उससे लगा हुआ कोसल था, और बाद में दक्षिणी बिहार में मगध का उदय हुआ। इन तीनों के बीच गंगा के मैदान पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए स्पर्धा चली। उस क्षेत्र पर नियंत्रण के रणनीतिक और आर्थिक लाभ थे, क्योंकि उस क्षेत्र में प्रारंभिक व्यापार बहुत हद तक नदी-मार्ग से होता था और नदियों के किनारे स्थित बंदरगाह उसके केंद्र थे। अंत में केवल चार ही स्पर्धी राज्य बच रहे : काशी, कोसल और मगध के राजतंत्र तथा वृज्जियों का अल्पतंत्र।

राजाओं को क्षत्रिय वर्ण का माना जाता था, यद्यपि यह प्राथमिकता एक हद तक सैद्धांतिक ही रही, क्योंकि राजनीतिक आवश्यकता के अनुसार विभिन्न वर्णों के राजा सिंहासनारूढ़ हुए। राजत्व दैवत्व के गुण प्राप्त कर सकता था, यह एक अतिरिक्त विचार था। समय-समय पर आडंबरपूर्ण कर्मकांडी यज्ञों के द्वारा इस विचार का सबलीकरण किया जाता था। ये यज्ञ राजा करता था, जिसमें वैदिक साहित्य के निर्देशों का पालन किया जाता था। मालूम होता है, पूर्ववर्ती काल के *राजा*ऐसे यज्ञ अधिक नियमित रूप से संपादित करते थे। अब उनमें कमी आती जा रही थी। इन कर्मकांडों को संपादित करनेवाला राजा कर्मकांडी सत्ता का दावा कर सकता था, लेकिन राजत्व का अधिक यथार्थ आधार राजनीतिक सत्ता का संकेंद्रण और संसाधनों पर अधिकार था। आम लोगों के लिए भव्य यज्ञ-कर्म ऐसे प्रभावशाली समारोह थे जिनकी चर्चा उनके बीच वर्षों होती रह सकती थी। इसमें संदेह नहीं कि इससे विचारशील लोग भी विभ्रमित हो जाते होंगे और राजा के प्रति एक प्रकार का विस्मयपूर्ण आतंक का भाव जगता होगा। राजा एक असाधारण व्यक्ति के रूप में सामने आता होगा, जो देवताओं से—चाहे पुरोहितों के माध्यम से ही क्यों न हो—संवाद की स्थिति में होता था। पुरोहित भी कोई साधारण मनुष्य नहीं थे, क्योंकि व्यवहारतः दैवत्व का संचार करनेवाले तो वही थे। पूर्ववर्ती ब्राह्मण—क्षत्रिय स्पर्धा के बावजूद राजा और पुरोहित एक-दूसरे के समर्थक थे।

काशी, कोसल और मगध के राजतंत्रों तथा वृज्जियों के गण-संघ इन चारों के बीच राजनीतिक वर्चस्व के लिए दीर्घ काल तक संघर्ष हुआ। इसमें से मगध अंततः विजयी होकर निकला और वह उत्तर भारत में राजनीतिक हलचल का केंद्र बन गया, जिस स्थिति में वह सदियों तक कायम रहा। मगध का प्रथम महत्त्वपूर्ण राजा बिंबसार था, जिसने राजस्व पर नियंत्रण रखनेवाले एक बड़े राज्य की संभावनाओं को साकार किया। बिंबिसार छठी सदी ई.पू. के उत्तरार्ध में किसी समय राजा बना। उसने वैशाली के एक प्रतिष्ठित कुल में और साथ ही कोसल के शासक परिवार में विवाह करके उनसे मैत्री-संबंध स्थापित किया। इस प्रकार अपनी पश्चिमी

और उत्तरी सीमाओं के प्रति आश्वस्त होकर उसने दक्षिण-पूर्व में अंग को जीतकर उस पर अधिकार कर लिया। इससे उसे गंगा के मुहाने तक जानेवाले नदी-मार्ग पर नियंत्रण प्राप्त हो गया। वहां के बंदरगाह पूर्वी तट से संपर्क की संभावनाओं से युक्त थे।

बिंबिसार ने एक प्रशासनिक प्रणाली का सूत्रपात किया। विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए अलग-अलग अधिकारी नियुक्त किए गए। उसे मंत्रियों की मंत्रणा की आवश्यकता का भी एहसास था। गांव प्रशासन की बुनियादी इकाई था, जो आज भी है। खेती की ज़मीन की पैमाइश करने और फसलों का मूल्यांकन करने के लिए अमले नियुक्त किए गए। मालूम होता है, प्रत्येक गांव एक प्रधान की देख-रेख में था, जिसे *ग्रामणी*कहते थे। उस पर करों की उगाही की जिम्मेदारी होती थी। वह जो कर वसूल करता था उसे अधिकारी खजाने में जमा कराते थे।

पूर्ववर्ती काल में स्वेच्छा से दिए जानेवाले नजरानों और भेंट-उपहारों को अब करों का रूप दिया जा रहा था, जिनमें *बलि*,*भाग*,*कर*और *शुल्क*शामिल थे। समझा जाता है कि *बलि*जितनी ज़मीन में खेती की जाती थी उतनी ज़मीन पर लगाया गया कर थी। इस प्रकार यह कर राजस्व के स्रोत पर लगाया जाता था। *भाग*उपज का हिस्सा होता था। शेष कर अलग-अलग प्रकार के थे। गरज यह कि करों का हिसाब ज़मीन के क्षेत्रफल और उपज के आधार पर लगाया जाता था। कर-निर्धारण का काम अधिकारी करते थे, जो निश्चित समय पर करों की वसूली भी करते थे। ये बाद की अति जटिल राजस्व प्रणाली के मुख्य अंग थे। पूर्ववर्ती काल में कुलों के सदस्य या कनिष्ठ वंश शासक कुलों को स्वेच्छा से धन सुलभ कराते थे, लेकिन अब धन पैदा करनेवालों से धन की जबरन वसूली वे लोग कर रहे थे जो शासक थे। ये दोनों कौटुंबिकता से जुड़े हुए नहीं थे। इस प्रकार कृषक अर्थव्यवस्था की स्थापना हो रही थी। शासक और शासित, किसान और उसकी ज़मीन, अमीर और गरीब के बीच का अंतर अब आसानी से दिखाई देता था। किसी राजतांत्रिक राज्य के शासन का फैलाव गण-संघों के अधिक प्रत्यक्ष शासन का विलोम था।

अलग-अलग लोगों की जोतों का आकार अलग-अलग था, जिससे खेती के काम में लगे लोगों के वर्गों की सृष्टि हुई। अधिक संपन्न लोग *गहपति*या*गृहपति* (गृहस्थ) कहलाते थे, जिनमें से कुछ लोग भूस्वामी बन गए। छोटे किसानों को आम तौर पर *कस्सक*या*कृषक* कहा जाता था। दोनों में एक फर्क यह था कि *गृहपति* खेती का काम गैर-कुटुंबी*दासों*और *कर्मकरों*से लेते थे, लेकिन गरीब किसान अपने परिवार के श्रम से ही खेती करते थे। जब राज्य कार्रवाई और उत्पादन की बड़ी एजेंसी के रूप में उभरने लगा तब दर्जों के सोपानों के रूप में वर्णों का उल्लेख अधिक होने लगा। उच्च वर्णों के परिप्रेक्ष्य से वर्ण-व्यवस्था को शायद जातियों से अधिक समांगी रूप में देखा जाता था। सामाजिक पैमाने के निचले छोर पर किसानों

और कारीगरों को शूद्र वर्ण में स्थान दिया गया। शूद्र किसानों पर निर्भरता आगे और बढ़नेवाली थी औरइस वर्ण के अंदर भी *भूमिहीनश्रमिकोंकीस्थिति*और खराब होनेवाली थी।

जो एक और भी प्रवृत्ति प्रबल हुई वह यह थी कि राज्य अधिकाधिक ज़मीन पर अधिकार जमाने लगा और अंत में यह मान लिया गया कि समस्त परती ज़मीन पर राज्य का अधिकार है। इससे राजा को देखने के नज़रिए में भी फर्क आया। आरंभ में उसे इस दृष्टि से देखा जाता था कि वह बाहरी अतिक्रमण से अपनी प्रजा की रक्षा करता है। तब योद्धा के रूप में उसके गुण सबसे महत्त्वपूर्ण थे। आगे चलकर उसे कानून और व्यवस्था के रखवाले के रूप में देखा जाने लगा और कहा गया कि अन्यथा समाज अराजकतापूर्ण हो जाता। इसकी व्याख्या तरह-तरह के सादृश्यों के द्वारा की गई। इनमें सबसे प्रचलित था *मत्स्यन्याय*। इसके अनुसार, अनावृष्टि के कारण जब तालाब सूख जाते हैं तब बड़ी मछलियां छोटी को खा जाती हैं। यह अराजक स्थिति है, और इसलिए कानून की रक्षा के लिए किसी की आवश्यकता है। राजत्व की व्याख्या एक अनुबंधात्मक कार्रवाई के रूप में भी की गई, लेकिन उसके प्रवर्तन में आम तौर पर एक देवता का हस्तक्षेप होता था। इस प्रकार चुने गए व्यक्ति को, जिसे कभी-कभी मनु कहा गया है, देवताओं ने नियुक्त किया, लेकिन वह अपने कार्य एक पारिश्रमिक के एवज में करता था, जो उसे कर और विभिन्न विशेषाधिकारों के रूप में दिया जाता था। परती ज़मीन पर नियंत्रण एक अव्यक्त अधिकार था, जिसे बाद के काल के पाठों में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया।

गांव से परे खेत और चरागाह थे और उनसे भी परे परती और जंगल थे। इन दोनों की सन्निधान की अभिव्यक्ति *ग्राम*और *अरण्य* की द्वैधता में की गई जाती थी। बाद में *क्षेत्र*और *वन*शामिल कर लिए गए, जिनके अर्थ क्रमशः वही थे। परती ज़मीन राजा की थी, इस मान्यता से उसके इस अधिकार को और भी बल मिला कि जो भी ज़मीन साफ की जाती है या जिसमें खेती होती है उस पर कर के रूप में उसकी उपज का एक ख़ास प्रतिशत-आम तौर पर छठा भाग-उसका प्राप्य है। आगे चलकर *षड्भागी*, अर्थात् छठवें हिस्से का अधिकारी राजा का एक पर्याय ही बन गया। बेशक, यह कर इससे ऊंची दर से भी वसूल किया जा सकता था, और कभी-कभी सचमुच ऐसा किया भी जाता था। शाही फार्मों के रूप में कुछ ज़मीन को अलग कर देने का जो विचार बाद में विकसित हुआ उसका मूल परती भूमि पर राजा के नियंत्रण की कल्पना में ही समाया हुआ था। राजा चूंकि राज्य का प्रतीक था इसलिए यह संभव है कि भूमि पर उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया गया, लेकिन कुछ-कुछ अस्पष्ट ढंग से। बाद में जब राजा और राज्य के बीच का भेद धुंधला गया तब भूमि के स्वामित्व पर राजा के दावे को कोई

गंभीर चुनौती नहीं दी गई।

वर्ण सोपान के नीचे एक और भी सामाजिक वर्ग जोड़ दिया गया। चंडालों को शूद्रों से भी निम्नतर स्थिति में डाल दिया गया और आगे वे अस्पृश्य की संज्ञा प्राप्त करने जा रहे थे। उनका उल्लेख ऐसे स्रोतों में कई तरह से किया गया है जो संभवतः इसी काल के हैं या जो कुछ थोड़े बाद के समय के हों, जैसे कि जातक कथाएं। कुछ विद्वानों का कहना है कि चंडाल, जिनके साथ अस्पृश्य जैसा व्यवहार किया जाने लगा, बस्तियों की सीमा पर रहनेवाले लोग थे। या तो बस्ती बसानेवाले अतिक्रमणकारियों ने उन्हें धकेलकर वहां भेज दिया था या वे इसलिए वहां रहते थे कि उन्हें निवास के लिए ऐसे स्थान चाहिए थे जहां वे शिकार और खाद्य-संग्रह से गुजारा कर सकते थे। ऐसा वर्णन मिलता है कि उनकी अपनी भाषा थी, जिसे हिंद-आर्य-भाषी समझ नहीं पाते थे। सरकंडों से चटाइयां बुनने और शिकार करने जैसे उनके धंधों को बहुत निम्न कोटि का माना जाता था। कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि वे ऐसे समूह थे जो शहरों के विकास के साथ उत्तरोत्तर हाशिए की ओर खिसकते गए। शहरों में उनसे ऐसे शारीरिक कार्य करवाए जाते थे जो कर्मकांडी वर्गीकरण के सोपान में उनके अशौच से जुड़ जाने का स्रोत बन गए। फैलता हुआ शहरीकरण बस्तियों की सीमाओं पर रहनेवाले लोगों को ऐसे जाल में फंसा लेता था कि वे भूमिहीन और अपने कौशल का उपयोग करने में अक्षम होकर धीरे-धीरे घटिया माने जानेवाले काम करने को मजबूर हो जाते थे। सामाजिक निर्योग्यताओं और निषेधों के मूर्तिमंत रूप बन जानेवाले ऐसे समूहों की उपस्थिति राजतांत्रिक राज्यों में ऊपरी वर्णों की बढ़ती हुई सत्ता का सूचक थी। ब्राह्मण और अस्पृश्य के दो वर्ग सामाजिक प्रतिभारों का काम करते हैं, और उच्चतर वर्ग की शक्ति का तक़ाजा यह होता है कि निम्न वर्ग अधिकाधिक दलित होता चला जाए। अस्पृश्यता किसी भी सामाजिक समूह पर थोपा गया शायद सबसे पतनकारी दर्जा थी और नैतिक दृष्टि से सर्वथा अन्यायपूर्ण थी। आर्थिक वंचना तथा सामाजिक निर्योग्यताओं का सहारा लेकर वंशानुगत दर्जे ने एक स्थायी और परवश श्रमशक्ति सुनिश्चित कर दी।

मगध का वर्चस्व

ऐसा माना जाता है कि मगध पर शासन करने के लिए अधीर अजातशत्रु ने राजा बनने के लिए 493 ई.पू. के आसपास अपने पिता बिंबिसार की हत्या कर दी। वह सैनिक विजयों के बल पर अपने पिता की विस्तारवादी नीति को आगे बढ़ाने के लिए कटिबद्ध था। मगध की राजधानी राजगृह पांच पहाड़ियों के प्राकृतिक रक्षा-दुर्ग से घिरा एक प्रभावोत्पादक नगर था। अजातशत्रु ने राजगृह को और भी अभेद्य बनाया

और गंगा के तट पर पाटलिग्राम में एक छोटे-से बंदरगाह का निर्माण कराया, जो स्थानीय उत्पादों के विनिमय का एक केंद्र था। आगे चलकर यही मौर्यों की प्रसिद्ध राजधानी पाटलिपुत्र बननेवाला था। उसके पिता ने पूरब में अंग को पहले ही जीत लिया था, सो अजातशत्रु ने अपना रुख उत्तर और पश्चिम की ओर किया। कोसल का राजा उसका मामा था। लेकिन इस बात ने उसे कोसल को हड़पने से नहीं रोका, जिसके बाद पश्चिम की ओर बढ़ते हुए उसने काशी को भी अपने राज्य में मिला लिया। नदी मार्ग से चलनेवाले व्यापार के नियंत्रण को लेकर वृज्जि-संघ के साथ आरंभ हुआ उसका संघर्ष लंबा चला। यह एक तरह से दो अलग-अलग किस्म की राजनीतिक व्यवस्थाओं का भी टकराव था, जिनमें से एक राजतंत्र थी और दूसरी गण-संघ। चार साल तक चलनेवाले इस संघर्ष में अजातशत्रु के मंत्री वस्सकार ने संघ में फूट डालने का काम किया। इस युद्ध के वर्णन में दो ऐसे शस्त्रों का उल्लेख हुआ है जो मगध की सैनिक प्रौद्योगिकी में नवीनता का आभास देते हैं। इनमें से एक था *महाशिलाकटंक*, जो बड़ी-बड़ी शिलाएं फेंकने के लिए इस्तेमाल किया जानेवाला बड़ा प्रक्षेपक था। दूसरा था *रथमूसल*, जो रथ में बंधा हुआ एक विशाल मूसल था। जब मूसलयुक्त रथ शत्रु-सेना के बीच से निकलता था तो सैनिक मूसल से कुचलकर मर जाते थे। स्थायी सेना की आवश्यकता के साथ-साथ एक पेशे के रूप में सैन्य कर्म राजतांत्रिक राज्य की एक विशेषता के रूप में उभरने लगा था। अंत में जब वस्सकार फूट के बीज बोने में सफल हो गया तो वृज्जियों को मगध से हार माननी पड़ी। यह गंगा के मैदान में राजतंत्र की विजय थी। बिंबिसार की महत्त्वाकांक्षा पूरी हो चुकी थी।

मगध के उदय का कारण सिर्फ बिंबिसार और अजातशत्रु की महत्त्वाकांक्षाएं ही नहीं थीं, क्योंकि यद्यपि अजातशत्रु के बाद एक-के-बाद-एक कई अक्षम राजा मगध के सिंहासन पर बैठे तथापि मगध शक्तिशाली बना रहा। गंगा नदी प्रणाली के संधि-स्थलों पर मगध का नियंत्रण था, जिससे नदी-मार्ग से होनेवाले व्यापार में उसका बोलबाला था। पाटलिग्राम के विनिमय केंद्र की किलेबंदी व्यापार से प्राप्त होनेवाले राजस्व के महत्त्व का सूचक है। अंग-विजय से इस व्यापार का तार और भी दूर-दूर के क्षेत्रों से जुड़ गया। मगध प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर था : मिट्टी उपजाऊ थी, ख़ास तौर से चावल की खेती के लिए और कृषि-विस्तार से अन्य प्रकार का और भी राजस्व प्राप्त होने लगा; निकटवर्ती जंगलों से इमारतें बनाने के लिए लकड़ी और सेना के लिए हाथी मिल जाते थे, और हाथी के दांत प्रतिष्ठा-सूचक वस्तुओं के निर्माण के साधन थे; और स्थानीय लौह तथा ताम्र खनिज संपदा उस क्षेत्र की संपत्ति तथा आर्थिक गतिविधियों में और इजाफा करती थी।

अजातशत्रु की मृत्यु 461 ई.पू. के आसपास हुई। उसके बाद एक-के-बाद-एक पांच राजा हुए और परंपरा से मालूम होता है कि वे सभी पितृहंता थे। अंत में क्षुब्ध

मगधवासियों ने इन पांच में से अंतिम को अपदस्थ करके शिशुनाग नामक एक उच्चाधिकारी को राजपद पर प्रतिष्ठित कर दिया। शिशुनाग राजवंश मुश्किल से आधी सदी तक कायम रहा, जिससे सिंहासन छीनकर महापद्म नंद ने नंद राजवंश की स्थापना की। यह राजवंश भी अल्पायु ही सिद्ध हुआ, लेकिन छोटी अवधि में ही उसने महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली। नंद राजा निम्न सामाजिक दर्जे के थे, जिन्हें शूद्र कहा गया है। वे अनेक क्षत्रियेतर राजवंशों में से प्रथम थे। इससे आगे उत्तरी भारत के अधिकतर प्रमुख राजवंश क्षत्रियेतर ही हुए, और यह सिलसिला लगभग हजार साल तक चला। उसके उपरांत राजाओं ने क्षत्रिय दर्जे का दावा करना आरंभ कर दिया, चाहे उनका जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ हो या नहीं। नंदों को क्षत्रियों का नाश करनेवाला कहा गया है, जिसका मतलब शायद यह है कि उन्होंने मध्य गंगा के मैदान के गण-संघों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया।

नंदों के बारे में कभी-कभी कहा जाता है कि यह साम्राज्य की महत्त्वाकांक्षा रखनेवाला प्रथम राजवंश था। पुराणों में भी ऐसा संकेत है। उन्हें विरासत में मगध का विशाल राज्य मिला था और उन्होंने उसकी सीमाओं का और विस्तार किया। इस प्रयोजन से उन्होंने बहुत बड़ी सेना खड़ी की, यद्यपि यूनानी लेखकों के तद्‌विषयक अनुमान निश्चय ही अतिरंजित हैं। उनमें से सबसे छोटा अनुमान 20 हजार अश्वारोहियों, 2 लाख पैदल सैनिकों, 2 हजार रथों और 3 हजार हाथियों का है। इन आंकड़ों का प्रयोजन इस स्थिति को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करना था कि सिकंदर के नेतृत्व में यूनानी सेना को कितने विकराल प्रतिरोध का सामना करना पड़ता और जिसका विचार करके उसने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। लेकिन नंदों को यूनानियों के विरुद्ध अपनी सेना का उपयोग करने का अवसर ही नहीं मिला, क्योंकि सिकंदर दक्षिणी पंजाब से ही सिंधु नदी के रास्ते लौट गया।

राजतंत्र को दृढ़ता प्रदान करनेवाला एक और कारक यह था कि राजस्व के स्रोत के रूप में करों को महत्त्व दिया जाता था। नियमित आधार पर नियुक्त अधिकारियों द्वारा करों की व्यवस्थित वसूली प्रशासनिक प्रणाली का एक अंग बन गई। नंदों की संपत्ति की अगाधता के किस्सों से लगता है कि कोष को हमेशा भरा हुआ रखा जाता होगा। नंदों ने नहरें भी बनवाईं और सिंचाई परियोजनाओं को दूरस्थ कलिंग (उड़ीसा) तक में अंजाम दिया। तत्वतः कृषि अर्थव्यवस्था पर आधारित एक साम्राज्ययीय संरचना की संभावना भारतीय मानस में अंकुरित होने लगी। नंद के प्रयत्नों को चंद्रगुप्त मौर्य ने बीच में ही समाप्त कर दिया। कुछ करने-बनने की आकांक्षा से प्रेरित इस नौजवान ने 321 ई.पू. में नंदों से मगध का सिंहासन छीन लिया। निदान साम्राज्य की कल्पना मौर्यों के अधीन साकार हुई।

पश्चिमोत्तर भारत और सिकंदर

अब हम पश्चिमोत्तर भारत पर दृष्टिपात करें, जो छठी सदी ई.पू. से हखामनी साम्राज्य का अंग रहा था। 530 ई.पू. से कुछ पहले ईरान के हखामनी सम्राट साइरस ने हिंदूकुश पर्वतों को पार करके कंबोज तथा गंधार के लोगों को अपनी अधीनता मानने को मजबूर किया। गंधार और हिंदुश/सिंधु का उल्लेख हखामनी अभिलेखों में क्षत्रपियों या प्रांतों के रूप में हुआ है। ऐतिहासक दृष्टि से देखें तो यह उत्तर भारत और अफगानिस्तान तथा ईरान के बीच बदलते आधिपत्यों का क्षेत्र था।

हेरोडोटस ने लिखा है कि गंधार हखामनी साम्राज्य का बीसवां क्षत्रपी था और सबसे घने आबाद और समृद्ध क्षत्रपियों में शुमार किया जाता था। भारतीय प्रदेश पांचवीं सदी ई.पू. में यूनानियों के विरुद्ध संघर्षरत फ़ारसी सेना के लिए भाड़े के सैनिक मुहैया करते थे। हेरोडोटस के वर्णन के अनुसार, भारतीय सैनिक सूती वस्त्र धारण करते थे और सरकंडे के धनुषों, भालों तथा लोहे के फालवाले बेंत के तीरों से लैस होते थे। ई.पू. पांचवीं सदी के पूर्वार्ध में हखामनी दरबार में रहनेवाला यूनानी चिकित्सक केसियस अपने पीछे पश्चिमोत्तर भारत का एक वर्णन छोड़ गया है, जिसका अधिकांश कल्पना-प्रसूत है। उदाहरण के लिए, शेर माने जानेवाले जानवर का वर्णन करते हुए उसने लिखा है :

> उसके प्रत्येक जबड़े में दांतों की तीन कतारें हैं और उसकी पूंछ का सिरा दंशों से लैस है, जिनके द्वारा वह गुत्थम-गुत्थीवाली लड़ाई में अपनी रक्षा करता है और जिन्हें वह दूरी पर स्थित दुश्मन पर उसी तरह प्रक्षेपित करता है जैसे धनुर्धर तीर प्रक्षेपित करता है।
>
> पौसेनियस, ग्यारह, 21 में उद्धृत : जे.डब्ल्यू. मैकक्रिंडल, *एशंटइंडियाएजडिस्क्राइब्डइनक्लैसिकललिटरेचर*, पृ. 210

गंधार और पश्चिमोत्तर के अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध नगरों में तक्षशिला था, जिसे यूनानी तक्सिला कहते थे। शीघ्र ही वह एक महानगर बन गया, जहां ईरानी और भारतीय ज्ञान का मिश्रण हुआ और जिसमें हेलनवादी (हेलिनिस्टिक) यूनान के ज्ञान का भी बाद में संयोग हुआ। सनातनी ब्राह्मण इसे अपावन नगर मानते थे, क्योंकि अब वहां वैदिक कर्मकांड संपादित नहीं किया जाता था। यह बात, लगता है, लोगों को याद नहीं थी कि एक समय में ईरानी और वैदिक विचार तथा कर्मकांड एक-दूसरे के बहुत निकट थे, फिर भी, ईरानी और भारतीय रूपों के मिश्रण का प्रभाव भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महसूस किया गया। उदाहरणार्थ, फारस के सिगलोई सिक्कों का अनुकरण भारत में किया गया; सम्राट् अशोक ने तीसरी सदी ई.पू. में शिलालेखों की जिस युक्ति का उपयोग इतने प्रभावकारी ढंग से किया

उसकी प्रेरणा उसे शायद फ़ारसी राजा डेरियस के शिलालेखों से मिली थी; और पश्चिमोत्तर भारत में व्यापक रूप से इस्तेमाल की जानेवाली खरोष्टी लिपि अरमाई लिपि से निकली थी, जो हखामनी साम्राज्य में प्रचलित थी। मध्य एशिया के पश्चिमी हिस्सों और साथ ही गंधार पर हखामनी नियंत्रण के फलस्वरूप ये दोनों क्षेत्र एक ही अधिपतित्व के अधीन आ गए, और इस प्रकार दोनों में एक ऐसा संबंध स्थापित हुआ जिसे आगे की सदियों के कई राजवंशों ने दोहराया। लगभग 330 ई.पू. में मकदूनिया (मेसीडोन) के सिकंदर द्वारा हखामनी साम्राज्य के जीत लेने के साथ ही पश्चिमोत्तर भारत में उस वंश के प्रभुत्व का अंत हो गया। इसके शीघ्र बाद पश्चिमोत्तर भारत को भी सिकंदर की सेना का सामना करना पड़ा।

डेरियस के साम्राज्य को रौंदते हुए 327 ई.पू. में सिकंदर की सेना ने भारतीय प्रदेशों में प्रवेश किया। पश्चिमोत्तर भारत में यूनानी अभियान लगभग दो साल चला। ऐतिहासिक अथवा राजनीतिक दृष्टि से भारत पर उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। प्रारंभिक भारतीय स्रोतों में सिकंदर का उल्लेख तक देखने को नहीं मिलता। सिकंदर भारत में डेरियस के साम्राज्य के धुर पूर्वी हिस्से तक पहुंचने के उद्देश्य से आया था। वह 'महासागर की समस्या' को भी हल करना चाहता था, जिसकी सीमाएं यूनानी मानचित्रकारों के लिए एक गुत्थी बनी हुई थीं और इसमें संदेह नहीं कि वह अपनी देश-विजयों की शृंखला में उसे भी जोड़ना चाहता था जिसका वर्णन पहले ही विस्मयकारी भारत देश के रूप में किया जा रहा था। जीत का सिलसिला जारी रखते हुए उसकी सेना पंजाब की पांचों नदियों को पार कर गई, लेकिन उनमें से आखिरी नदी के किनारे पहुंचकर उसने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। नंदों की सेना की विशालता की खबरें शायद इसका कारण रही होंगी। तब सिकंदर ने सिंधु नदी के रास्ते उसके मुहाने तक पहुंचकर वहां से बेबिलोन लौटने का निश्चय किया। अपनी सेना के एक हिस्से को उसने फारस की खाड़ी से होकर गुजरनेवाले समुद्री मार्ग से रवाना कर दिया और बाकी को तटवर्ती थलमार्ग से। यह दूसरा मार्ग विनाशकारी साबित हुआ, क्योंकि यह अत्यधिक दुर्गम था। इस अभियान में सिकंदर की सेना को कुछ कठिन लड़ाइयां लड़नी पड़ी थीं। झेलम क्षेत्र के राजा पोरस (पुरु) के साथ उसकी हिदास्पीज (वितस्ता) की लड़ाई काफी प्रसिद्ध हो चुकी है। इसके अलावा उसने अनेक राज-व्यवस्थाओं को परास्त किया, जिनमें राजतंत्र भी थे और शायद गण-संघ भी, जिन्हें यूनानियों ने 'स्वशासी नगर' कहा है। मलय लोगों से लड़ते समय सिकंदर स्वयं भी घायल हो गया था, जिसका बदला उनसे बेरहमी से लिया गया। सिंधु नदी के रास्ते और आगे मकरान तट के समानांतर अपनी वापसी यात्रा में भी सिकंदर और उसकी सेना को कम मुसीबतें नहीं झेलनी पड़ीं। भारत में जीते अपने प्रदेशों के शासन के लिए सिकंदर अपने प्रतिनिधियों को पीछे छोड़ गया, लेकिन भारत से लौटने के बाद उसकी मृत्यु इतनी जल्दी हो गई कि सब कुछ

अस्त-व्यस्त हो गया और उसके नियुक्त किए प्रांतीय शासक अपना भाग्य आजमाने के लिए पश्चिम एशिया चले गए।

सिकंदर के आक्रमण का एक परिणाम–जो न राजनीतिक था और न सैनिक–यह हुआ कि वह अपने साथ जिन पढ़े-लिखे यूनानियों को ले आया था उन्होंने भारत के संबंध में अपने मन पर पड़ी छापों को लिपिबद्ध कर लिया। उदाहरण के लिए एडमिरल नीयरकस और ओनिसाइक्रिटस द्वारा लिपिबद्ध विवरणों का उल्लेख किया जा सकता है। इनसे हमें यह मालूम होता है कि यूनानियों ने उत्तरी भारत को किस रूप में देखा। इनसे कभी-कभी अन्य यूनानी विवरणों के काल्पनिक अंशों को सुधारने में भी मदद मिलती है, यद्यपि इन विवरणों में भी विवरणकारों ने अपनी कल्पना पर हमेशा अंकुश लगाए नहीं रखा है। पश्चिमोत्तर के रीति-रिवाज गंगा के मैदान जैसे नहीं थे। इससे लगता है कि क्षेत्रीय संस्कृतियां किसी एक समांगी संस्कृति से उद्भूत नहीं हुईं, बल्कि उनके मूल अलग-अलग थे। इसके अतिरिक्त आक्रमण–अनजाने ही सही–संचार के नए मार्ग खोलते हैं और विनिमय के नए स्थलों को जन्म देते हैं। सिकंदर के बाद के हेलनवादी राज्यों की निकटता मौर्य राजनीति और वाणिज्य के लिए सर्वथा महत्त्वहीन नहीं थी। सिंधु के मैदान में 'स्वशासी नगरों' के बार-बार के उल्लेखों से लगता है कि उस क्षेत्र में कई प्रकार के गण-संघ अब भी कायम थे। ये राज्यव्यवस्थाएं जीवित रहीं और मगध के साम्राज्यवाद का इन पर प्रभाव नहीं हुआ, जब कि मालूम होता है, पूर्वी गण-संघ मगध की शक्ति के ग्रास बन गए।

यूनानी विवरण तथ्य और कल्पना के विचित्र मिश्रण हैं। वे जिस हद तक भारतीयों का वर्णन करने के प्रयत्न हैं उसी हद तक यूनानियों की विश्वदृष्टि पर एक टिप्पणी भी हैं। आगे की सदियों के दौरान भारत से अधिक परिचय होने पर उनकी कुछ अधिक अविश्वसनीय कहानियों में सुधार तो हुआ, लेकिन विदेशीपन के आकर्षण को पूरे तौर पर दबाया नहीं जा सका। उनकी भारत की समझ में कल्पना और विस्मय-भाव का खेल उसे दिलचस्प तो बनाता है, लेकिन उसने सदियों के दौरान यूरोप के मानस में भारत की एक मिथकीय और असाधारण छवि के निर्माण में भी योगदान किया। सिकंदर के नौसेनापति नियरकस ने भारतीयों द्वारा पहने जानेवाले वस्त्रों का बहुत सही वर्णन किया है :

भारतीय जो पोशाक पहनते हैं वह पेड़ों पर पैदा होनेवाली कपास से बनी हुई होती है। लेकिन यह कपास या तो और कहीं भी पाई जानेवाली कपास से ज़्यादा चमकीली और सफेद है या भारतीयों के काले रूप के कारण उनकी पोशाक और भी ज़्यादा सफेद दिखाई देती है। वे कपास का अधोवस्त्र पहनते हैं, जो घुटनों के नीचे और टखनों के बीच तक पहुंचता है और एक ऊर्ध्ववस्त्र धारण करते हैं, जिसका कुछ हिस्सा वे कंधों पर डालते हैं कुछ को तह करके

सिर के चारों ओर। भारतीय हाथी दांत की कनेलियां भी पहनते हैं लेकिन उनमें से बहुत धनाढ्य लोग ही। वे धूप से बचने के लिए एक प्रकार की छतरी का इस्तेमाल करते हैं। वे सफेद चमड़े के बने जूते पहनते हैं, और ये खूब सज्जित होते हैं तथा इनके तल्ले रंग-बिरंगे और काफी मोटे होते हैं, ताकि इन्हें पहननेवाला अधिक लंबा दिखे।

नियरकस, एरियन-कृत *इंडिका*, 16 में उद्धृत; जे.डब्ल्यू. मैकक्रिंडल, *एशंटइंडियाऐजडिस्क्राइब्डबाईमेगास्थनीजएंडएरियन*, पृ. 219

लेकिन अजीबोगरीब बातें भी अपनी जगह कायम ही रहीं और यहां तक कि बाद के विवरणों में भी उन्हें दोहराया गया :

कुछ लोग ऐसे हैं जिनके बारे में कहते हैं कि वे दस फुट लंबे और छह फुट चौड़े हैं, जिनमें से कुछ के नाक नहीं हैं और मुंह के ऊपर केवल दो सूराख हैं, जिनसे वे सांस लेते हैं। कुछ को दरबार में लाया गया, जिनके मुंह ही नहीं थे।...वे गंगा के स्रोत के निकट रहते हैं और सुगंधियों तथा भुने मांस की खुशबू पर जीते हैं। कुछ के कान इतने बड़े थे कि उनके पैरों तक लटके हुए थे और वे उनमें सो सकते थे। और फिर चींटियां थीं, जो खोदकर सोना निकालती थीं और उसे सतह पर देती थीं, ताकि लोग उसे उठा लें।

स्ट्रैबो, ज्याग्रफी, 15.1.57; जे.डब्ल्यू. मैकक्रिंडल, एशंटइंडियाऐजडिस्क्राइब्डबाईमेगास्थनीजएंडएरियन, पृ. 74-5

एक सबसे स्थायी छवि भारतीय तार्किकों (साफिस्ट) से सिकंदर के संवाद की है। कहते हैं, उनमें से एक उसके साथ बेबिलोन भी गया था। बेशक वार्ता के विषयों पर कहानी की हर आवृत्ति के साथ रंग-मुलम्मा चढ़ाया गया होगा। ऐसा माना जाता है कि सिकंदर के बाद भारतीय विचारों ने हेलनवादी और भूमध्य-सागरीय संसार में प्रवेश किया, जिनके प्रभाव से उन विभिन्न चिंतनधाराओं का जन्म हुआ जो यूरोपीय परंपरा में प्रतिष्ठित विचारों से हमेशा मेल नहीं खाते। इस मान्यता के पीछे उक्त छवि की प्रेरणा ही काम कर रही थी। कुछ अज्ञेयवादी चिंतनधाराओं ने अपनी पूर्वज-परंपरा का निर्देश प्राच्य संसार में करने का प्रयत्न किया। ऐसे ही मूल का दावा करनेवाला नव-अफलातूनवाद यूरोप में दर्शन की एक अंतर्धारा के रूप में सदियों तक जीवित रहा।

दूसरी ओर भारतीयों ने यूनानियों के बारे में कुछ विशेष नहीं कहा, और जो कुछ उन्होंने कहा उसमें एकरूपता नहीं है। संस्कृत में उनके लिए यवन शब्द का प्रयोग किया गया। यह प्राकृत के *योन* शब्द से बना शब्द है, और मालूम होता है, *योन* शब्द *यौन* से बना, जो हखामिनी अभिलेखों में उल्लिखित *आयोनिया* शब्द का एक रूप था। अंत में यवन पश्चिम से आनेवाले सभी लोगों का अर्थ देनेवाला शब्द बन गया, और विगत शताब्दी तक उसका ऐसा ही उपयोग होता रहा है। कुछ परवर्ती

ब्राह्मणीय पाठों में यवनों के प्रति बहुत निंदात्मक और घृणापूर्ण दृष्टिकोण दिखाई देता है, जिसका कारण शायद यह था कि सिकंदर ने अपने सैनिक अभियान के दौरान जिस ब्राह्मण-विरोधी रुख का परिचय दिया था उसकी स्मृति अभी तक कायम थी या शायद यह कि बाद के काल के यवन शासकों में उन संप्रदायों को संरक्षण देने की प्रवृत्ति थी जो ब्राह्मणीय धर्म से मेल नहीं खाते थे। लेकिन बौद्ध पाठों में *योन*समाज के स्वामी और दास इन दो वर्गों में विभाजित होने के बारे मे कुतूहल का भाव दिखाई देता है, और इस विभाजन को वे वर्ण-विभाजन के विकल्प के रूप में देखते हैं।

प्रारंभिक व्यापार

सिकंदर ने पंजाब में कई बस्तियां बसाई थीं, जिनमें से कुछ शहरों के रूप मे कायम रहीं। यह संभव है कि यूनानी बाशिंदे पड़ोस के शहरों में चले गए और पश्चिमोत्तर की अस्थिर यूनानी आबादी के अंग बन गए। सिकंदर की सेना पश्चिम एशिया को पार करके ईरान होते हुए भारत पहुंची थी। इसके फलस्वरूप या तो पश्चिमोत्तर भारत से अफगानिस्तान के रास्ते ईरान और वहां से भूमध्य सागर तक जानेवाले पहले से मौजूद मार्गों की उपयोगिता बढ़ी या नए मार्ग खुले। इससे पूर्वी और पश्चिमी दुनिया के बीच व्यापार बढ़नेवाला था और निस्संदेह इसमें भारत तथा पश्चिम एशिया की छोटी-सी यूनानी आबादी ने अपनी भूमिका निभाई। जैसा कि बहुधा होता है, जहां वस्तुओं का विनिमय होता है वहां शीघ्र ही विचारों का विनिमय भी होने लगता है, और बाद के काल में यह बात कला की शैलियों में, चिकित्साशास्त्र में और खगोल-विज्ञान के क्षेत्र में उभरकर सामने आनेवाली थी। पूर्ववर्ती स्रोतों में पश्चिम एशिया में ऐसे लोगों की छिटफुट उपस्थिति के उल्लेख मिलते हैं जिन्हें भारतीय समझा जाता था। लेकिन अब उनकी उपस्थिति अधिक स्पष्ट हो जाती है।

भारतीय प्रायद्वीप में पहुंचनेवाले मार्ग उत्तर भारत के व्यापार के लिए एक नया क्षेत्र खोल रहे थे। सुदूर दक्षिण में *अलगंकुलम*में उत्तरी कृष्ण पालिशदार मृद्भांड की उपस्थिति और आहत सिक्कों के वितरण से लगता है कि प्रायद्वीप के साथ कम से कम संचार तो शुरू हो ही गया था। उज्जैन, विदिशा और त्रिपुरी दकन में प्रतिष्ठान से जुड़ने जा रहे थे। लेकिन मुख्य व्यापारिक मार्ग स्वयं गंगा नदी के समानांतर ही थे, जो राजगृह से कौशांबी पहुंचते थे, और फिर उज्जैन होते हुए नर्मदा के मुहाने पर भृगुकच्छ भरुच तक जाते थे। भृगुकच्छ पश्चिम के साथ समुद्री व्यापार के लिए एक बड़े बंदरगाह के रूप में विकसित होनेवाला था। एक और मार्ग कौशांबी से दोआब तक और उससे आगे पंजाब को पारकर तक्षशिला तक जाता था, जो पश्चिमी थल-व्यापार का द्वार था। मध्य गंगा मैदान में श्रावस्ती भी एक विनिमय

केंद्र था।

बैलगाड़ियों और लदना पशुओं पर माल की ढुलाई जारी रही, लेकिन नदी-मार्गों का उपयोग होने से नावों पर दूर-दूर तक माल की ढुलाई होने लगी। वैशाली, राजघाट, पाटलिग्राम और चंपा का उल्लेख महत्त्वपूर्ण नदी बंदरगाहों के रूप में हुआ है। पाठों में तटवर्ती बंदरगाहों–जैसे गंगा डेल्टा में तामलुकऔर पश्चिमी भारत में भृगुकच्छ के अधिक उल्लेख मिलने लगते हैं। मुंबई के निकट सोपाराबंदरगाह वैसे तो मौर्य काल में महत्त्वपूर्ण स्थिति में आया, लेकिन उसकी शुरुआत कुछ पहले हो चुकी थी। व्यक्तिगत यात्रा का सबसे तेज तरीका बेशक घुड़सवारी थी, लेकिन ज़्यादा आरामदेह यात्रा के लिए घोड़ों द्वारा खींची जानेवाली हल्की गाड़ी ज़्यादा पसंदीदा थी।

शहरों के उदित होने से भूदृश्य में कुछ बदलाव आया। जो बात अधिक ध्यान आकृष्ट करती है वह यह है कि पाठों में शहरों के प्रति अलग-अलग दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं, जो उनके लेखक और उनकी विश्व-दृष्टि पर निर्भर थे। कई दृष्टियों से शहरों का विकास एक बड़ा बदलाव था। शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच का सीमांकन अभी स्पष्ट तो नहीं था, लेकिन उसकी शुरुआत हो चुकी थी। प्राचीर और किलेबंदी प्रभावोत्पादक नहीं थे, फिर भी वे सीमांकन के प्रतीक हैं। जो पहले बस्ती और वन के बीच का सीमांकन था उसमें एक और आयाम जुड़ जाता है और बस्ती में शहरी क्षेत्र भी शामिल हो जाता है। गांव के लोग अकसर कौटुंबिकता या पेशे से जुड़े होते थे, लेकिन शहर के लोग आम तौर पर विविध प्रकार की एक-दूसरे से अलग पृष्ठभूमियों के होते थे। शहरों के मकानों और इमारतों के निर्माण के लिए जिस पैमाने पर संगठित श्रम की आवश्यकता थी वैसे श्रम की आवश्यकता गांव को नहीं पड़ती थी। यह ठोस सामाजिक परिवर्तन का एक पहलू रहा होगा।

शहर को गांव से बहुत बड़ा माना जाता था। उदाहरण के लिए, *रामायण*के आधार पर देखें तो अयोध्या का विस्तार अतिरंजित रूप से बड़ा था। गंगा के मैदान में पुरातात्त्विक खोजों से जो शहरी बस्तियां मिली हैं उनका विस्तार अयोध्या के वर्णित विस्तार के सामने कहीं नहीं टिकता। कौशांबी अपेक्षाकृत बड़े शहरों में था, लेकिन उसकी आबादी मात्र 36000 और फैलाव 150 से 200 हेक्टेयर तक माना जाता है। अधिकतर बड़े नगरों, जैसे राजगृह, अहिच्छत्र और श्रावस्ती का फैलाव भी इतना ही था। पाठों को ठीक-ठीक क्षेत्रफल देने की कोई चिंता नहीं होती थी। वे तो सिर्फ पूर्ववर्ती और परिचित गांव की अपेक्षा बहुत बड़ी बस्ती का आभास देने से मतलब रखते थे। शहर में आनेवाले क्षेत्र में बगीचों के साथ बने घर भी शामिल थे, यद्यपि बड़े उपवन और बगीचे शहर की सीमा पर ही होते थे।

दूरवर्ती व्यापार का अधिकांश विलासिता की सामग्री से संबद्ध होता था। आम

किस्म के उत्पाद स्थानीय बाजारों में खप जाते थे। माल के परिवहन का काम भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों के समूह करते थे—जैसे पशु-चारक, यायावर कारीगर और अधिक नियमित व्यापारी। शहरों से जुड़े कुछ काम ऐसे पेशों के रूप में विकसित होनेवाले थे जो बाद में काफी प्रमुख हो गए। धनाढ्य भूस्वामी गृहस्थों, *गहपतियों*से *सेट्ठियों*का उदय होनेवाला था, जो व्यापारियों और वित्त-दाताओं के रूप में अच्छे उद्यमी बन गए।

धातु मुद्रा का चलन आरंभ होने से विनिमय में सुविधा हुई और व्यापारिक गतिविधियों में एक गुणात्मक फर्क पड़ा। चांदी के आहत सिक्के व्यापक वैध मुद्रा हो गए, यद्यपि तांबे के आहत सिक्के और ढले हुए सिक्के भी एक हद तक चलते रहे। सिक्कों के परिमाण से चांदी की उपलब्धता सूचित होती है, जिसमें से कुछ राजस्थान की खानों से निकाली जाती थी। सिक्के कौन जारी करता था, यह स्पष्ट नहीं है, क्योंकि आहत सिक्कों पर आम तौर पर सिर्फ प्रतीक ही हैं। समझा जाता है कि हो सकता है, विनिमय के काम में लगे संगठन सिक्के जारी करते हों, क्योंकि उनमें से कुछ में मुद्रालेख *नेगम*अंकित है, जो शायद विपणन-कर्म से संबंधित *निगम* से संबद्ध हो। सिक्कों की ढलाई भी एक शहरी पेशा रहा होगा। मानक मुद्रा पण था, और व्यवहार से उससे बड़ी और छोटी इकाइयों का विकास हुआ होगा।

सिक्के विनिमय संबंधों में भारी बदलाव के सूचक हैं। वे विनिमय और लेखा का एक समान आधार प्रस्तुत करते हैं, और एक ही प्रणाली के अंतर्गत तरह-तरह की वस्तुओं का मूल्यांकन संभव बनाते हैं। इससे दूरवर्ती व्यापार का मार्ग प्रशस्त होता है और व्यापारियों के बीच संबंध स्थापित होते हैं। ब्याज देनेवाला निवेश वित्तदाता के पेशे का अंग बन जाता है, क्योंकि सिक्कों का संग्रह किया जा सकता है और पूंजी की तरह उनका उपयोग किया जा सकता है। इससे सट्टेबाजी भी वित्तीय दृष्टि से लाभदायक हो जाती है। मुद्रा प्रणाली से ही जुड़ा हुआ एक और नवोन्मेष थी सूदखोरी। लेकिन इस आरंभिक काल के संदर्भ में हमें यह नहीं मालूम है कि उसका आम चलन था या नहीं और ब्याज की दरें क्या थीं। ब्राह्मणीय स्रोत आरंभ में सूदखोरी के खिलाफ थे, जिसका कारण शायद यह था कि वह वित्तदाताओं के पेशे का महत्त्वपूर्ण अंग था और वे लोग शहरों में रहते थे एवं सामान्यतः असनातनी संप्रदायों का समर्थन करते थे। लेकिन कहते हैं बुद्ध शायद ब्याज पर धन के निवेश के अनुमोदक थे। एक स्रोत के अनुसार उन्होंने इस संबंध में निम्न विचार व्यक्त किया :

> जो गुणवान है और बुद्धिमान
> वह पहाड़ी पर जलनेवाली आग के समान दीप्तिमान है।
> उसके पास धन संचित होता है वैसे

> किसी को क्षति पहुंचाए विना भ्रमणकारी मधुमक्खी, मधु-संचय करती है। जैसे
> और चींटी की बांबी की तरह बढ़ता जाता है उसका धन।
> सद्गृहस्थ इस प्रकार धनसंचय करके
> अपने कुल को लाभान्वित करने में होता है समर्थ।
> वह अपने धन के चार भाग करे
> ताकि वह जीवन के सुखद उपादानों को खुद से जोड़ सके।
> एक भाग का वह व्यय करे और उसका रसास्वादन करे।
> दो भागों से वह अपना धंधा करे।
> चौथा भाग सुरक्षित रखे और जमा करे,
> ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह उसके काम आए।
>
> दीघनिकाय, तीन-188, अनु.टी.डब्ल्यु. राइस डेविड्स
> *डायलॉग्सऑफदबुद्ध*, III, पृ. 179-80

हो सकता है, हखामनी शासन-काल में फ़ारस की अरमाईं लिपि का इस्तेमाल देखकर अपनी एकलिपि विकसित करने की ज़रूरत महसूस हुई हो, क्योंकि हखामनी प्रशासन और व्यापार के माध्यम से वह लिपि काफी फैल गई थी। लिपि प्रशासनिक तथा वाणिज्यिक दोनों प्रकार के कार्यों में सहायक होती है। अशोक के अभिलेख, जो तीसरी सदी ई.पू. के हैं, इस उपमहाद्वीप में लेखन के (हड़प्पाई लिपि को छोड़कर) पूर्वतम उदाहरण हैं, और उन्हें देखने से लगता है कि विचाराधीन काल में लोग लिपि से किसी हद तक परिचित हो चुके होंगे। इसलिए लिपि के ज्ञान को अशोक-काल से कुछ पीढ़ियां पीछे तक ले जाया जा सकता है। यद्यपि पांचवीं सदी ई.पू. में रचित अपने प्रसिद्ध संस्कृत व्याकरण *अष्टाध्यायी*में पाणिनि एक लिपि का उल्लेख करते हैं तथापि संभव है, उनका तात्पर्य ईरानी अरमाई लिपि से हो, जिससे पश्चिमोत्तर के सुशिक्षित लोग परिचित थे। श्रीलंका-स्थित अनुराधापुर में पांचवीं सदी ई.पू. के स्तर से उत्खनित बरतनों के ही ठीकरे जिनपर ब्राह्मी लिपि की ग्रैफिती देखने को मिलते है, इस लिपि का पूर्वतम उदाहरण हैं, लेकिन यह खोज आज भी विवादास्पद है। छिटपुट उदाहरणों के समर्थन के लिए अधिक साक्ष्य आवश्यक हैं, जिनके प्राप्त होने पर ही कोई तिथि स्वीकार की जा सकती है।

वैदिक ऋचाओं को कंठस्थ करने के लिए तरह-तरह से जांच और मिलान करने की विधि का सहारा लिया जाता था और वैदिक संस्कृत के विश्लेषणों के जटिल नियम पहले ही निर्धारित हो चुके थे। परिष्कृत भाषावैज्ञानिक विश्लेषणों के लिए आधार तैयार किया जा चुका था और लिपि की अनुपस्थिति से इस प्रक्रिया में वस्तुतः मदद मिली, यह बहस का विषय है। पाणिनि के व्याकरण में-हालांकि वह वैदिक संस्कृत का नहीं बल्कि अधिक आम तौर प्रयुक्त संस्कृत का व्याकरण था-भाषा की संरचना की अत्यधिक उन्नत समझ प्रतिबिंबित हुई है और वह अनेक

प्रकार से उल्लेखनीय है। (प्रसंगवश इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि वह उन्नीसवीं सदी के यूरोप में फ्रेंज बॉप के कार्यों और तुलनात्मक भाषा-शास्त्र का प्रस्थान-बिंदु था और आधुनिक भाषा-विज्ञान का भूल भी उसी में देखा जा सकता है।)

लगभग इसी समय हिंद-आर्य परिवार की विभिन्न भाषाओं का उल्लेख हुआ है। बोल-चाल की संस्कृत, जिसे पाणिनि *भाषा* कहते हैं और जिससे उनका व्याकरण संबंधित था, कर्मकांड की वैदिक संस्कृत से भिन्न रूप में विकसित हुई। यही भाषा क्लासिकी संस्कृत के रूप में सामने आनेवाली थी, अर्थात् विधिवत् विद्यार्जन करनेवालों की भाषा के रूप में। पाणिनि का व्याकरण संस्कृत के बाद के व्याकरणों का आधार बना, और साथ ही हिंद-आर्य भाषा से उत्पन्न अन्य भाषाओं के व्याकरणों का भी।

यहां यह बात विचारणीय होगी कि व्याकरण की रचना इस समय क्यों की गई। क्या वह गैर-आर्य भाषाओं द्वारा संस्कृत में और भी परिवर्तन दाखिल किए जाने के सिलसिले को रोकने के रचा गया? या कि यह सोचा गया कि मौखिक परंपरा को लिखित रूप दिया जाए? कहते हैं, पाणिनि पश्चिमोत्तर क्षेत्र के थे, परन्तु कुछ टीकाकारों के अनुसार सर्वश्रेष्ठ संस्कृत पश्चिमी गंगा मैदान में स्थित कुरु-पंचाल क्षेत्र की संस्कृत थी।

शहरों और गांवों में अधिक लोकप्रिय भाषा प्राकृत थी, और वह भी हिंद-आर्य से ही निकली थी। उसके अलग-अलग स्थानीय रूप थे : पश्चिमी रूप को शौरसेनी और पूर्वी को मागधी कहा जाता था। ये नाम स्पष्ट ही संबंधित क्षेत्रों के नाम पर पड़े थे। अपनी बात अधिक लोगों तक पहुंचाने के लिए बुद्ध ने अपना धर्मोपदेश मागधी के एक रूप-भेद में दिया। आगे चलकर बौद्ध धर्मशैक्षिक ग्रंथों की रचना पालि में की गई, जो एक भगिनि हिंद-आर्य भाषा थी। शहरी केंद्रों में तरह-तरह की भाषाएं बोली जाती थीं; सो इनकी रचना और शब्द-भंडार में अनिवार्यतः परिवर्तन हुए होंगे।

सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में इन परिवर्तनों का अन्य क्षेत्रों में होनेवाले बदलावों से नजदीकी रिश्ता रहा होगा। निस्संदेह, इस नई परिस्थिति के मद्दे-नज़र ही ब्राह्मणीय दृष्टि से सामाजिक आचार-विचार के नियमों की रचना की आवश्यकता उत्पन्न हुई। इसलिए धर्मसूत्रों की रचना की गई, जिनमें प्रत्येक वर्ण के लिए सामाजिक नियम, सामाजिक दायित्व और कर्तव्य तथा उचित व्यवहार विहित किए गए। सामाजिक नियमों की रचना का मतलब अब एक-दूसरे के साथ-साथ मौजूद समाजों के बीच प्रचलित विभिन्न प्रकार के आचार-व्यवहारों में सामंजस्य स्थापित करना था। उदाहरण के लिए, इसका परिचय हमें विवाह के वैध रूपों की सूची में मिलता है, जिसके अनुसार उत्तम विवाह वह है जिसमें पितृसत्तात्मक व्यवहार के

अनुरूप पिता अपने भावी जमाता को अपनी पुत्री दान करता है; कन्या का मूल्य चुकाकर उससे विवाह करना सहन करने योग्य विवाह विधि है; और कन्या का हरण करके उससे विवाह करना सबसे निम्न कोटि का विवाह है। विवाह के इन सभी रूपों को वैध माना गया, हालांकि कुछ का अधिक और कुछ का कम अनुमोदन किया गया, इससे लगता है कि विभिन्न प्रकार की पद्धतियों को साथ-साथ रखकर देखते हुए उन्हें स्वीकृति प्रदान करने में धर्मसूत्रकारों को कठिनाइयों का सामना अवश्य करना पड़ा होगा। उच्च वर्णों से संबंधित सामाजिक नियमों को एकरूप और समांगी बनाने की कोशिश की गई, लेकिन निम्न जातियों के सामाजिक रीति-रिवाजों की विविधता का नियमन कठिन था। उच्च वर्णों के विशेषाधिकारों पर ज़ोर दिया गया और निम्न जातियों को उसी अनुपात में निर्योग्यताओं से लाद दिया गया। इन पाठों में निम्न जातियों और स्त्रियों को बहुधा एक ही कोष्ठक में रखा गया है, जो दोनों की पराधीनता का प्रमाण है।

धर्म और विचारधाराएं : प्रश्न और उत्तर

सुप्रतिष्ठित रूढ़िवादियों और उदीयमान समूहों की आकांक्षाओं के बीच की स्पर्धा या उनके बीच सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न के फलस्वरूप धार्मिक विश्वासों तथा आचरणों और दार्शनिक चिंतन में तेजी से परिवर्तन हुए। इस सबके परिणामस्वरूप चिंतन में ऐसी समृद्धि और ऊर्जस्वलता आई जिसे आगामी सदियां भी शायद ही कभी पीछे छोड़ पाई हों। पूर्ववर्ती काल के संन्यासियों और यायावर तर्कवादियों ने रूढ़ि-विरोधी चिंतन की एक परंपरा को कायम रखा, और सामान्यतः दार्शनिक चिंतन में नियंत्रित नियतिवाद से लेकर स्वच्छंद भौतिकवाद तक का समावेश था। प्रतिद्वंद्विता और विवादों का बाजार गर्म रहा। नए दार्शनिकों की बात सुनने के लिए श्रोता *कुतूहल-शालाओं* तथा शहरों की सीमाओं पर स्थित उपवनों और उद्यानों में एकत्र होते थे। यह वैदिक रीति-नीति से सर्वथा भिन्न दृश्य उपस्थित करता था। उस काल में उपदेश और शास्त्रार्थ सार्वजनिक रूप से आयोजित नहीं किए जाते थे। बहुरंगी और स्पर्धी विचारधाराओं की उपस्थिति शहरी जीवन की विशेषता थी।

अलग-अलग विचारों का प्रतिपादन करनेवालों में से कुछ को संप्रदायों की पहचान दी गई। इसका मतलब यह था कि वे ऐसे छोटे-छोटे समूह थे जिनमें से प्रत्येक किसी एक सिद्धांत या विश्वास का समर्थन करता था और किसी समूह में जो लोग शामिल हुए थे वे स्वेच्छा से शामिल हुए थे। इसलिए ऐसे संप्रदायों की संख्या बड़ी थी। किसी संप्रदाय में शामिल होने के लिए किसी ख़ास जाति का होना जरूरी नहीं था, हालांकि प्रत्येक संप्रदाय जिस भाषा का प्रयोग करता था वह उसके सभी सदस्यों की भाषा होती थी और संभव है, उसके सभी सदस्यों की

आकांक्षाएं भी समान होती हों। इन सबके संबंध में हमारी अधिकांश सूचना के स्रोत बाद के काल के वे पाठ हैं जिनमें दार्शनिक चिंतन की शुरुआतें प्रतिबिंबित हुई हैं। आगे चलकर या तो अनुयायियों की संख्या बढ़ने से या एकाधिक समूहों के आपस में मिल जाने से इनमें से कुछ संप्रदायों का संख्या-बल अधिक हो गया, एवं उनमें से जिन्हें समर्थन और संरक्षण प्राप्त हुआ वे संघों के रूप में सामने आए। संप्रदाय की संकीर्ण पहचान के मुकाबले इनकी पहचान व्यापक होती थी और ऐसा भी हो सकता था कि इनमें से कुछ समूह टूटकर अलग हो जाएं और उन्हें केंद्र बनाकर नए संप्रदाय उदित हो जाएं।

आजीवक नियतिवादी दर्शन के अनुयायी थे, जिसके अनुसार नियति प्रत्येक मनुष्य के तुच्छ से तुच्छ कर्म की भी नियामक है और उसमें कोई परिवर्तन किसी भी तरह से नहीं हो सकता। उनकी भिक्षुओं की एक संस्था थी और प्रत्येक भिक्षु भी यही मानता था कि भिक्षु होना उसकी नियति थी। वे सब संन्यासी थे। और भी कई संप्रदाय थे। उनमें से कुछ नास्तिकवाद के समर्थक थे—जैसे चार्वाक, जिनका दर्शन भौतिकवाद से उद्भूत था और जो वैदिक ब्राह्मणीय धर्म के विरोधी थे। उनके अनुसार मनुष्य मिट्टी का पुतला है, जो अंत में मिट्टी में ही मिल जाता है। उनके एक प्रभावशाली प्रवक्ता अजित केशकंबल थे, जिनका कहना था :

> मनुष्य चार तत्त्वों से बना हुआ है। जब उसकी मृत्यु होती है तब मिट्टी मिट्टी में, जल जल में, वायु वायु में, अग्नि अग्नि में मिल जाती है ओर उसकी संज्ञाएं शून्य में विलीन हो जाती हैं। चार व्यक्ति शव को अर्थी पर उठाते हैं। श्मशान स्थल तक वे वार्तालाप करते हुए जाते हैं। वहां उसकी हड्डियों का रंग पंडुक के पंख जैसा हो जाता है और उसके त्याग-बलिदान भस्मीभूत हो जाते हैं। जो भिक्षा-दान की शिक्षा देते हैं वे मूर्ख हैं और जो [अभौतिक के] अस्तित्व को मानते हैं वे अहंकार की बात करते हैं और अनर्गल असत्य भाषण करते हैं। जब शरीर का अंत होता है तब ज्ञानी और मूर्ख दोनों खंडित और नष्ट हो जाते हैं। मृत्यु के उपरांत वे शेष नहीं रहते।
>
> दीर्घ निकाय, I . 55, अनु. ए. एल. बैशम, *दवंडरदैटवाजइंडिया*, पृ. 296.

बुद्ध ने ऐसे संप्रदायों को 'सर्पमीनवत्' अर्थात् कुतर्की कहा। रूढ़िवादी विचारोंवाले जो लोग उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे उन्होंने उन्हें अनैतिक आचरण का दोषी बताया। यह परस्पर स्पर्धी समूहों के आचरण के अनुरूप ही था। उनके प्रति ब्राह्मणों का दृष्टिकोण विशेष रूप से कठोर था, क्योंकि भौतिकवादियों ने कर्मकांड को मूर्खतापूर्ण बताकर उस पर आपत्ति की, जब कि पुरोहित उस पर आग्रह रखते थे। उसका मुख्य कारण यह था कि यह उनके जीवन का आधार था। पुरोहितों द्वारा रचित जो साहित्य हमें प्राप्त हुआ है उसके कारण भौतिकवादी संप्रदाय दृष्टि से ओझल-से हो गए, और कुछ समय पूर्व तक आम तौर पर समझा जाता था कि

भारतीय दर्शन भौतिकवाद से न्यूनाधिक कतराकर निकल गया। लेकिन ज्ञान की चर्चा में चार्वाक और लोकायत समूहों की भागीदारी को अब पहले की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है।

परंतु इन सभी संप्रदायों में जो दो स्थायी सिद्ध हुए वे थे जैन और बौद्ध संप्रदाय, जिनमें से दोनों आगे चलकर स्वतंत्र धर्मों के रूप में समाने आनेवाले थे। इसका कुछ कारण तो शायद यह रहा होगा कि अन्य संप्रदायों की तुलना में समकालीन परिवर्तनों की उनकी समझ अधिक समग्रतापूर्ण थी, और पूर्ववर्ती चिंतनधाराओं तथा नैतिकताओं से संबंध-विच्छेद करते हुए उन्होंने उन परिवर्तनों के दवावों का अधिक संवेदनशीलतापूर्ण उत्तर दिया। समझा जाता है कि जैन विचार पहले से ही प्रचलित थे और उन विचारों के अनुगामियों का खयाल था कि उनके धर्माचार्यों की परंपरा दीर्घ काल से चली आ रही थी। ये आचार्य तीर्थंकर कहलाते थे, जिसका मतलव है घाट बनानेवाला, अर्थात् एक अर्थ में पार उतारनेवाला। कुछ अन्य संप्रदाय भी धर्मचार्यों की पूर्व परंपरा का दावा करते थे। महावीर ने छठी सदी ई.पू. में इन विचारों को एक रूप दिया, और इसके फलस्वरूप जैन संप्रदाय का संगठन और प्रचार हुआ। पहले इस संप्रदाय का नाम निग्रंथ था। जैन शब्द *जिन्*अर्थात् 'विजेता' से निकला। जिन् महावीर थे, क्योंकि उन्होंने इंद्रियों पर विजय प्राप्त की थी। कहते हैं, युवावस्था में ही वे परिवार छोड़कर संन्यासी बन गए थे। बारह वर्षों तक वे सत्य की खोज में इधर-उधर भटकते रहे और आखिरकार उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई। महावीर की शिक्षा गंगा के मैदान तक ही सीमित रही, लेकिन बाद की सदियों के दौरान देश के अन्य भागों में जैन धर्म के अधिक अनुयायी बन गए–ख़ास तौर से कर्नाटक और पश्चिमी भारत में।

जैन धर्म की शिक्षा को पहले मौखिक परंपरा के रूप में सुरक्षित रखा गया। लेकिन बाद में उसे समन्वित और लेखबद्ध किया गया। कुछ जैन पंथ जैन धर्मशिक्षा के अंतिम पाठ का अनुगमन करते हैं, जिसका संपादन कोई सहस्राब्दी भर बाद वलभी की परिषद् में किया गया। *आचरंग-सूत्र, सूत्रकृतांग*और *कल्पसूत्र*पूर्ववर्ती पाठ माने जाते हैं। धार्मिक संप्रदायों के साथ अकसर ऐसा होता है कि मौखिक परंपराओं को कुछ काल के अंतराल के बाद लिखित रूप दिया जाता है। इससे मूल शिक्षा का पता लगाकर उसे प्रक्षिप्त भागों से अलग करना कठिन हो जाता है। आगे चलकर जैन धर्म दो बड़े संप्रदायों में विभक्त हो गया। इनमें से एक था दिगंबर, अर्थात् दिशा ही हो वस्त्र जिसका, यानी नग्न। दूसरा था श्वेतांबर, अर्थात् श्वेत हो वस्त्र जिसका। जैन धर्म का इतिहास लिखा जाता रहा और ग्यारहवीं से लेकर चौदहवीं सदी तक उसमें बहुत गति आ गई। यह वह दौर था जब पश्चिमी भारत में जैन धर्म का बोलबाला था।

जैनों ने वेदों को प्रमाण ग्रंथ स्वीकार नहीं किया और न इस बात को माना

कि सच्चा ज्ञान केवल ब्राह्मणों को प्राप्त हुआ। प्रारंभिक जैन सिद्धांत में किसी उपास्य देवी-देवता का महत्त्व नहीं था। उसकी शिक्षा थी कि विश्व एक शाश्वत नियम के अधीन काम करता है और वह सतत् ब्रह्मांडीय प्रगति एवं अवनति की लहरों की शृंखला से गुजरता रहता है। आत्मा का शुद्धीकरण जीवन का उद्देश्य है, क्योंकि पवित्र आत्मा शरीर के बंधन से मुक्त होकर चिरानंद की अवस्था में पहुंच जाती हूं। शुद्धीकरण ज्ञान से नहीं होता, जैसी कि कुछ उपनिषदकारों की शिक्षा थी। उसका कारण यह है कि ज्ञान एक सापेक्ष गुण है। उसकी व्याख्या करने के लिए अंधों द्वारा हाथी को देखने की प्रसिद्ध कथा कही गई, जिसमें जिसने हाथी के जिस अंश का स्पर्श किया वैसा ही उसे बताया। किसी ने उसे रस्सी कहा, किसी ने उसे सांप कहा और किसी ने उसे पेड़ का तना आदि बताया। प्रत्येक व्यक्ति सच्चे ज्ञान का एक अंश ही प्राप्त कर पाता है। ऐसे ज्ञान से मोक्ष संभव नहीं है। आत्मा का शुद्धीकरण उस प्रकार का जीवन जीने की अपेक्षा रखता जिसे जैन संतुलित जीवन मानते थे। लेकिन महावीर के अनुसार, वैसा जीवन केवल भिक्षुओं के लिए ही संभव था। परंतु संन्यास के व्रत के बावजूद भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थों पर निर्भर थी। भिक्षु-भिक्षुणियों के भिक्षाटन के व्रत का जैन गार्हस्थ्य प्रतिरूप भिक्षा-दान का व्रत था।

लेकिन अहिंसाव्रत में अति कर दी गई। चलते हुए अनजान में किसी चींटी को मारना भी पाप समझा गया। अधिक रूढ़िवादी लोग नाक और मुंह को महीन मलमल से ढककर रखते थे ताकि सांस में कोई कीटाणु अंदर जाकर मर न जाए। *आचरंग-सूत्र*के अनुसार, किसी भी प्राणी को मारना, उसके प्रति हिंसा करना, उससे दुर्व्यवहार करना, उसे सताना या भगाना वर्जित था। अहिंसा पर आग्रह जैनों के खेती-बाड़ी करने में बाधक हो गया, क्योंकि कृषि-कर्म में कीटों का नाश हो सकता है। जिन शिल्पों से अन्य प्राणियों को खतरा हो, उन शिल्पों से भी परहेज रखना था। वाणिज्य-व्यापार ही संभव पेशे थे और इसलिए जैन धर्म वणिक् जातियों में खूब फैला। मितव्ययिता जैन धर्म का नैतिक कर्तव्य बन गई और व्यवसाय में भी उसका आचरण करना आवश्यक था। जैन लोग तैयार माल के विनिमय के विशेषज्ञ बन गए और बिचौलियों के रूप में काम करने लगे। वित्तीय व्यवसाय के प्रति उनका विशेष रुझान था। इस प्रकार जैन धर्म शहरी संस्कृति के प्रसार से जुड़ गया।

महावीर और गौतम बुद्ध, इन दो लगभग समकालीन धर्मगुरुओं में से बुद्ध अधिक प्रसिद्ध हैं, क्योंकि उनका प्रवर्तित धर्म कालांतर में एशिया में दूर-दूर तक फैला। ज्ञान-प्राप्ति के बाद बुद्ध (वह व्यक्ति जिसे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो गया है) संज्ञा से अभिहित सिद्धार्थ गौतम का जन्म शाक्य कुल में हुआ था। उनके पिता शाक्य गण-संघ के क्षत्रिय राजा थे। बुद्ध की जीवन-कथा में ईसा के जीवन से संबंधित कथाओं से दिलचस्प समानताएं हैं—जैसे अकाम गर्भाधान और शैतान की चाल। छठी

सदी ई.पू. में उत्पन्न बुद्ध एक अभिजात युवक का जीवन व्यतीत कर रहे थे कि एक वृद्ध, एक दुःखी और एक मृत व्यक्ति को देखकर उनके मन में वितृष्णा जग गई। अंत में एक रात अपने घर-परिवार का त्याग करके वे संन्यासी जीवन के मार्ग पर निकल पड़े। दीर्घ काल की तपश्चर्या के उपरांत उन्हें भान हुआ कि जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति का यह मार्ग नहीं है। फिर उन्होंने ध्यान द्वारा मुक्ति का मार्ग ढूंढ़ने का प्रयत्न किया, और अंत में ध्यान के उनचासवें दिन, कहते हैं, उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई और संसार के दुःखों का कारण उनकी समझ में आया। उन्होंने अपना प्रथम धर्मोपदेश वाराणसी के निकट सारनाथ में अपने पांच शिष्यों को दिया।

इसे धर्म महाचक्र प्रवर्तन प्रवचन कहा गया है, जो बुद्ध की शिक्षा का बीज-कोष है। इसके अनुसार चार आर्य सत्य हैं : संसार दुःख से भरा हुआ है; इच्छाएं दुःख का कारण हैं: इच्छाओं का त्याग निर्वाण का मार्ग है; और इसकी प्राप्ति आष्टांगिक मार्ग से हो सकती है। जीवन को संतुलन और संयम प्रदान करनेवाले ये आठ मार्ग इस प्रकार हैं: सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् आचरण, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् ध्यान। इनके संयोग को मध्यम मार्ग कहा गया।

इस प्रवचन को समझने के लिए किसी जटिल रहस्यवादी चिंतन की आवश्यकता नहीं थी, न किसी जटिल कर्मकांड की। जो आवश्यक थी वह थी सदाचार से प्रतिबद्धता, जिसकी एक मुख्य विशेषता यह थी कि वह जातिगत पहचान से जुड़े विशेषाधिकारों तथा निर्योग्यता पर नहीं, बल्कि मानव कल्याण की अभिलाषा पर आधारित थी। इस प्रकार का दृष्टिकोण शहरी जीवन में प्रचलित हो रहे लोकाचार के प्रति संवेदनशीलता का द्योतक जान पड़ता है। इस दलील में विद्यमान विवेक का स्वर विश्लेषण के आधार के रूप में कारण-कार्य-संबंध तथा तर्क पर ज़ोर देने की वौद्ध धर्म की विशेषता का परिचायक है। वह ऐसा धर्म है जिसमें कुछ भी दैवी हस्तक्षेप के भरोसे नहीं छोड़ा गया है और न उस प्रकार के रहस्यवाद के लिए कोई गुंजाइश रखी गई है जो बुद्ध की दृष्टि में मात्र वितंडावाद था। बुद्ध अपनी शिक्षा को कोई दिव्य स्फुरण या इलहाम नहीं मानते थे, बल्कि मात्र उस सत्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न मानते थे जिसका उन्हें बोध हुआ था और जिसे अभिव्यक्त करना आवश्यक था।

सृष्टि की रचना और अनुरक्षण करनेवाली किसी अपर शक्ति का कोई निर्देश नहीं किया गया। इस दृष्टि से देखें तो बौद्ध धर्म नास्तिक था, जिसमें प्राकृतिक ब्रह्मांडीय उत्थान और पतन के पक्ष में तर्क दिया गया। इस धर्म के अनुसार, यह विश्व मूलतः आनंद का आगार था, परंतु मनुष्य के इच्छाओं के वशीभूत हो जाने के कारण वह दुःख का घर बन गया। वेदों की प्रामाणिकता पर, विशेष रूप से उनके दिव्य होने की धारणा पर, आपत्ति की गई, जो अकेले बौद्ध धर्म की विशेषता

नहीं थी। ब्राह्मणीय कर्मकांड, विशेष रूप से पशु-बलि, अस्वीकार्य था। समाधि स्थलों तथा अन्य आवृत्त स्थानों में पूजा-उपासना के जो लोकप्रिय तथा आडंबरहीन रूप थे उनसे उसकी अधिक निकटता थी। इसमें संदेह नहीं कि अमूर्त विचारों की प्रधानता वाले वैदिक धर्म के मुकाबले यह सब लोगों को सुखकर लगा होगा। शासन तथा राज्य के उद्भव के संबंध में बौद्ध विचार भी देवी-देवताओं से इस धर्म की स्वतंत्रता की साक्षी भरते हैं। वैदिक ब्राह्मणीय धर्म में शासन के उद्भव के साथ देवताओं की भी दुहाई दी गई, लेकिन बौद्ध धर्म में उसका वर्णन क्रमिक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में किया गया, जिसमें परिवार नामक संस्था तथा खेतों के स्वामित्व ने लोगों के बीच संघर्ष की स्थिति को जन्म दिया। ऐसे संघर्ष को किसी ऐसे व्यक्ति को चुनकर ही समाप्त किया जा सकता था जो उन पर शासन करे और उनकी रक्षा के लिए कानूनों को प्रतिष्ठित करे। नागरिक अशांति के जन्म और कानून की आवश्यकता का यह एक नितांत तर्कसंगत स्पष्टीकरण था।

तर्क और विवेक के तत्वों पर ज़ोर देने में बुद्ध अपने समय के दार्शनिक रुचि के कुछ विषयों को भी प्रतिबिंबित कर रहे थे। पुनर्जन्मों के चक्र से मुक्ति का अर्थ था निर्वाण। इस प्रकार कर्म और पुनर्जन्म को आपस में जोड़नेवाला *कर्म*और *संसार* अर्थात् पुनर्जन्म का सिद्धांत बौद्ध धर्म के लिए आवश्यक था, यद्यपि बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व से इनकार कर दिया। उनके अनुसार, जो कायम रहती थी वह मात्र चेतना थी, जिसे कर्म द्वारा इच्छित रूप दिया जा सकता था। आत्मा की अस्वीकृति ने कर्म और पुनर्जन्म के बौद्ध सिद्धांत को एक अलग किस्म की धार दे दी। चार आर्य सत्यों में अवयक्त रूप से कर्म की कल्पना विद्यमान है, जिसका इच्छा और दुःख से कारण-कार्य-संबंध है। बुद्ध की शिक्षा अंशतः प्रारंभिक उपनिषदों के विमर्श का उत्तर थी, जिसमें उनके कुछ विचारों से सहमति प्रकट की गई और कुछ से असहमति। असहमतियां मामूली नहीं थीं। लेकिन बुद्ध की शिक्षा वैदिक साहित्य की शिक्षा का त्याग थी और साथ ही उस काल के ऐतिहासिक परिवर्तनों का एक उत्तर भी। इन परिवर्तनों में राज्य का उदय और शहरी केंद्रों का विकास शामिल थे, जिनसे ऐसे प्रश्न उठ रहे थे जिनके उत्तर उस समय विद्यमान विचारधाराएं नहीं दे सकती थीं। उनसे जो संस्थाएं उत्पन्न हुई थीं उनमें अब भी स्थिरता नहीं आ पाई थी। सामाजिक सोपानों को परिभाषित करने के लिए अभी जो सिलसिला चल रहा था उसमें उचित स्थान प्राप्त करने के लिए व्यक्ति संघर्षरत था। सामाजिक दायित्व से भागने की इच्छा एक हद तक इन्हीं परिवर्तनों का परिणाम थी, और साथ ही उसके पीछे उन प्रश्नों के उत्तरों की तलाश की प्रेरणा भी थी जो बदलते हुए समाज को परेशान कर रहे थे।

ब्राह्मणीय विचार के विपरीत, कर्म की बौद्ध कल्पना वर्ण-आधारित समाज के नियमों से बंधी हुई नहीं थी और न सामाजिक नैतिकता का पैमाना वर्ण के नियम

थे। श्रेष्ठतर जन्म सुनिश्चित करने के लिए कर्म में सुधार सामाजिक नैतिकता के नियमों के पालन पर निर्भर था, और नैतिकता के इन नियमों का आधार ब्राह्मणीय पाठों के रचनाकारों द्वारा निर्धारित पवित्र कर्तव्यों के नियम नहीं बल्कि आष्टांगिक मार्ग था। बुद्ध ने जाति के उन्मूलन की कल्पना नहीं की, क्योंकि उसके लिए समाज के आमूल पुन:र्विन्यास की आवश्यकता पड़ती। जातियां और वर्ण सामाजिक दर्जे के द्योतक थे और वैवाहिक हलके और पेशे के निर्धारण के लिए जाति महत्त्वपूर्ण थी। सदाचार के नियम अलग ढंग की चीज थे और जातिगत दर्जे से उनका कोई संबंध नहीं था। पश्चिमी दुनिया के योनों के बीच विद्यमान स्वामी-दास द्विभाजन से संबंधित विस्मय की अभिव्यक्ति का मतलब भी एक तरह से जाति की सार्वभौकिता के दावे पर शंका उठाना था।

स्त्रियों को विवाह-नियमों की अधीनता न मानते हुए अन्य प्रकार से अपने जीवन को दिशा देने की जो स्वतंत्रता प्रदान की गई वह भी अव्यक्त रूप से जाति-व्यवस्था पर शंका उठाना ही था। बुद्ध की झिझक के बावजूद उन्हें स्त्रियों को भिक्षुणी बनने की अनुमति देने पर राजी कर लिया गया। इससे चाहे कम हद तक ही सही लेकिन जीवन की एक वैकल्पिक पद्धति का रास्ता खुल गया। भिक्षुणियों द्वारा रचित कविताएं और प्रार्थनाएं, जिनका संकलन *थेरिगाथा*के रूप में किया गया, स्त्रियों के वस्तु-बोधों की संवेदनशील व्याख्याएं प्रस्तुत करती हैं। स्त्रियां बौद्ध धर्म की गृहस्थिन अनुगामिनी और संरक्षिका हो सकती थीं, इससे उन्हें अधिक अधिकारपूर्ण भूमिका प्राप्त हुई। उदाहरण के लिए, गंगा के मैदान के नगरों में समृद्ध और गुण-संपन्न गणिकाएं थीं, जिनमें से कुछ ने बौद्ध संघ को प्रचुर दान दिए। ऐसी स्त्रियों का उनकी योग्यता के लिए आदर किया जाता था और संघ में उन्हें स्थान दिया जाता था। वेश्याओं और गणिकाओं के बीच भेद किया जाता था। दोनों शहरी जीवन की उपज थीं, लेकिन गणिका की प्रशंसा उसके गुणों के कारण की जाती थी। दान देना आत्मविश्वास की अभिव्यक्ति था, क्योंकि इससे लक्षित होता था कि संपत्ति पर स्त्रियों का भी कुछ अधिकार है और उन्हें जहां ठीक लगे वहां वे दान दे सकती हैं। यह वैदिक ब्राह्मणीय धर्म से उलटी स्थिति का द्योतक था। वे पत्नियों के रूप में यज्ञ के कर्ताओं से जुड़ी हुई तो हो सकती थीं, लेकिन स्वयं ऐसे कर्मकांड की संरक्षिका की भूमिका में दिखाई नहीं देतीं। भिक्षुणियों के लिए संघ की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण नवोन्मेष था, क्योंकि धर्मसूत्रों में स्त्रियों पर अधिकाधिक मर्यादाएं थोपी जा रही थीं।

बुद्ध मध्य गंगा मैदान के शहरों में घूम-घूमकर और जब बौद्ध विहारों की स्थापना हुई तब बीच-बीच में वहां निवास करते हुए भिक्षुओं तथा आगंतुकों को अपने धर्म की शिक्षा देते थे। आरंभ में संघ को संपत्ति रखने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया गया, लेकिन भिक्षुओं के निवास के लिए कुछ व्यवस्था की आवश्यकता

थी, क्योंकि चौमासे में उन्हें विश्राम लेना पड़ता था। यह धर्म मुख्यत: समूहोन्मुख था, लेकिन जो लोग एकांत में ध्यान लगाना चाहते थे उन्हें भी वैसा करने की मनाही नहीं थी। भिक्षुओं के संगठन का एक सिलसिला आरंभ किया गया, जिसमें भिक्षुओं का संघ प्राधिकृत संस्था होता था। भिक्षु जगह-जगह घूमकर धर्म का प्रचार करते थे और भिक्षा मांगते थे। इससे इस धर्म को प्रचारवादी धर्म की छवि प्राप्त हुई। बुद्ध की शिक्षा की तुलना नौका से की गई, जिस पर सवार होकर मनुष्य जीवन की नदी को पार कर सकता था। कहा गया कि उस नौका को तट पर ही छोड़ देना चाहिए, ताकि दूसरा आदमी भी उस पर चढ़कर पार उतर सके। बाद में जब भिक्षुओं और भिक्षुणियों को आवास प्राप्त हुए तब उनके लिए शहरों के निकट विहार बनाए जाने लगे। इससे गृहस्थ अनुयायियों से अपेक्षित सहायता की प्राप्ति सुगम हुई।

बौद्ध विहारों की स्थापना से शिक्षा को प्रोत्साहन मिला, क्योंकि ब्राह्मणों के अतिरिक्त वे भी शिक्षा-दान के स्रोत बन गए। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यह शिक्षा ऊपरी जातियों तक ही सीमित नहीं थी। ब्राह्मण भिक्षु विचारधारात्मक रूपांतरण के प्रतीक थे। लेकिन मालूम होता है, आरंभ में मुख्य रूप से ऊपरी जातियों के लोगों को ही बौद्ध धर्म की दीक्षा दी जाती थी। इस प्रकार यह सुनिश्चित किया जाता था कि प्रतिष्ठित लोग विहारों में प्रवेश करें। गण-संघों के क्षत्रिय, जो वैदिक यज्ञों के संरक्षक नहीं थे, बौद्ध तथा जैन धर्मों के संभावित समर्थक थे। धनाढ्य व्यापारियों को वर्ण सोपान में निम्न स्थान ही प्राप्त था, लेकिन संघ में उन्हें विशेष आदर मिलता था और वे नए धर्मों के संरक्षकों में शामिल हो गए। अन्य जातियों के लोगों को भिक्षुओं के रूप में क्रमशः शामिल किया गया।

विहारों का संगठन गण-संघों के काम करने के तरीकों के अनुसार किया गया। नियमित पाक्षिक बैठकें होती थीं, भिक्षुओं के विचार सुने जाते थे और संघ के नियमों के अनुसार फैसले किए जाते थे। असहमति के पर्याप्त शक्तिशाली होने पर मुख्य संप्रदाय में टूट पैदा हो सकती थी और टूटे हुए लोग नया संप्रदाय स्थापित कर सकते थे। विहारों के काम-काज के संबंध में निर्देश यह था कि मतों पर लोकतांत्रिक ढंग से विचार किया जाए और तदनुसार ही निर्णय किए जाएं। मालूम होता है, संघ के आरंभिक इतिहास में उसका मिजाज ऐसा ही था, लेकिन तीसरी सदी ई.पू. में हमें असहमतों के निष्कासन के उल्लेख मिलने लगते हैं।

बुद्ध की मृत्यु के उपरांत बौद्ध धर्मशैक्षिक ग्रंथ *त्रिपिटक* को मौखिक रूप से दोहराया जाता था और उसका संकलन भी किया गया, लेकिन उसे लिपिबद्ध रूप शायद एक-दो सदी बाद ही दिया गया। मूल शिक्षा को बाद में जोड़े गए अंशों और अनुयायियों द्वारा किए गए परिवर्तनोंवाले अंशों से छांटकर अलग करना या ग्रंथ में शामिल किए गए पाठों की ठीक तिथियां देना कठिन है। समय-समय पर समितियां आयोजित की जाती थीं, जिनमें से पहली का आयोजन राजगृह में, दूसरी का वैशाली

में और तीसरी का पाटलिपुत्र में हुआ था। इन समितियों ने अपने-अपने क्षेपक भी जोड़े होंगे। मंतव्य मूल शिक्षा को पहचानने और परिभाषित करने तथा उसे प्रलेखबद्ध करने का होता था। समिति में संघ के संचालनार्थ नियमों के संबंध में भी, मतभेद होने पर, फैसले करने पड़ते थे। उदाहरण के लिए, एक बड़ा सवाल यह था कि क्या भिक्षु भिक्षा में द्रव्य ग्रहण कर सकते हैं। अनुदान के रूप में अचल संपत्ति–जैसे संघ को दान किया गया कोई उद्यान–प्राप्त करने के प्रश्न पर भी सावधानी से विचार करना पड़ता होगा, क्योंकि ऐसे अनुदान इस मान्यता के जनक साबित हो सकते थे कि संघ के लिए संपत्ति का स्वामित्व प्राप्त करना उचित है। स्वामित्व को सामुदायिक बताया गया, जिससे भिक्षुओं को चौमासे के लिए, जब वे यात्रा नहीं कर सकते थे, निवास की सुविधा मिलती थी। फिर भी, संन्यासियों के किसी संगठन के लिए संपत्ति का स्वामित्व एक समस्या तो रहा ही होगा। सच तो यह है कि भिक्षुओं पर आधारित धर्मों के लिए हर काल में संपत्ति का स्वामित्व एक समस्या रहा है।

बौद्ध धर्मशिक्षा के अधिकांश को बाद में चीनी तथा अन्य भाषाओं में अनूदित किया गया। इससे पालि तथा अन्य पाठों की तुलना की सुविधा प्राप्त हो जाती है। इस तुलना से मूल मंतव्यों को ज़्यादा अच्छी तरह समझने में मदद मिल सकती है। बौद्ध धर्म में अनेक सांप्रदायिक टूटनें पैदा होनेवाली थीं–और सो इसके मूल देश में भी, और एशिया के अन्य भागों में इसके प्रसार के दौरान भी। इसके कुछ रूप अजस्त्र परंपरा का दावा करते हैं, लेकिन दरअसल अन्य अनेक सांप्रदायिक धर्मों के साथ इन्हें भी ऐतिहासिक उतार-चढ़ावों से गुजरना पड़ा है और इनकी शृंखलाएं भी भंग हुई हैं। थेरवादी बौद्ध धर्म की श्रीलंका तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के कुछ देशों में प्रधानता है। अन्यत्र सर्वास्तिवाद अधिक प्रभावशाली रहा है।

हाल के दौर में बौद्ध तथा जैन धर्मों को बहुधा हिंदू धर्म का अंग माना गया है। लेकिन तीनों के समकालीन धर्मग्रंथ तीनों को अलग-अलग दरशाते हैं। उस काल में प्रमुख अभिजन धर्म वैदिक ब्राह्मणीय धर्म था, जिसे न बौद्ध धर्म मानता था और न जैन धर्म। वस्तुतः वे अनेक ब्राह्मणीय सिद्धांतों और आचरणों के विरोधी थे और अपने नए विचारों के माध्यम से एक विकल्प प्रस्तुत करते थे। वैदिक ब्राह्मणीय धर्म या बाद के पौराणिक हिंदू धर्म के विपरीत, उनके अपने विशिष्ट ऐतिहासिक धर्मगुरु थे, जिन्हें अब लगभग उन धर्मों के प्रवर्तक माना जाने लगा है। उन्होंने अपने भिक्षुओं और भिक्षुणियों के संघ स्थापित किए और एक धार्मिक संरचना खड़ी की। उनका किसी देवी-देवता से कोई संबंध नहीं था और न वे कर्मकांडी यज्ञ करते थे। वे जातिगत विभेदों के बदले सामाजिक सदाचार पर ज़ोर देते थे। धर्म-शिक्षाओं तथा संप्रदायों दोनों के संदर्भ में अपने धर्म के इतिहास के संबंध में उनकी अपनी एक प्रबल भावना थी। बौद्ध धर्म के मामले में कालानुक्रम का केंद्र-बिंदु बुद्ध का महापरि-निर्वाण था। उसका हिसाब 486/483 ई.पू. लगाया गया, और इस तिथि का उपयोग

बौद्ध एक संवत् के रूप में करने लगे। (हाल में इस तिथि पर शंका उठाई गई है और बाद की एक नई तिथि सुझाई गई है, लेकिन वैकल्पिक तिथि पर आम सहमति नहीं है।)

बौद्ध तथा जैन एवं कुछ अन्य संप्रदायों के अपने भिक्षुओं (*भिक्खुओं*) और भिक्षुणियों (*भिक्खुनियों*) के संघ थे। वर्गतः उन्हें *श्रमण*या *समन* कहा जाता था। श्रमण का तात्पर्य था पुनर्जन्म से मुक्ति पाने के लिए श्रम करनेवाले लोग। इसी के आधार पर सदियों तक एक-दूसरे के समानांतर चलती धर्म की दो धाराओं के बीच विभेद किया गया, जिनमें से एक को ब्राह्मणीय और दूसरी को श्रमणीय धर्म कहा गया है। अनेक लोगों ने इनका उल्लेख दो अलग-अलग धर्मों के रूप में किया है। उदाहरण के लिए, बहुत आगे चलकर ग्यारहवीं सदी में लिखते हुए अलबरूनी ने भी ऐसा भेद किया है। भिक्षु संघ में प्रवेश करने पर वैकल्पिक जीवन अपनाने के लिए अपने सामाजिक दायित्वों का त्याग कर दिया जाता था। वे संघ के समकक्ष सदस्यों के रूप में रहते थे और जाति-भेद नहीं मानते थे। लेकिन वे गांवों और शहरों के निकट भिक्षु आवासों में रहते थे, ताकि उन्हें गृहस्थ बौद्धों और जैनों से आवश्यक समर्थन मिल सके। गृहस्थ अनुयायियों को *उपासक*और *उपासिका* कहा जाता था। गृह-त्याग से भिक्षुओं को अपने निर्वाण पर और साथ ही समाज के कल्याण पर भी ध्यान देने के लिए स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती थी। यह त्याग वस्तुतः संन्यास का पर्याय नहीं था। यहां दोनों का भेद स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा। संन्यासी एकांत में रहता था, सभी सामाजिक दायित्वों का त्याग कर देता था और गृह-त्याग के पूर्व अपना अंतिम संस्कार भी करवा लेता था। गृह-त्यागी परिवार तथा जाति संबंधी बंधनों के माध्यम से आरोपित दायित्वों से तो मुक्ति पा लेता था, लेकिन साथ ही एक वैकल्पिक समाज में प्रवेश करता था। वह था संघ का समाज, जहां उस पर गृह-त्यागी के जीवन के दायित्व आ जाते थे।

गृहस्थ अनुयायियों की संख्या में वृद्धि के साथ भिक्षुओं को जीवनचक्र से जुड़े संस्कारों—जैसे जन्म, वयःसंधि, विवाह और मृत्यु से जुड़े संस्कारों—के संपादन के लिए निमंत्रित किया जाने लगा। यह परिवर्तन का आरंभ रहा होगा। धीरे-धीरे मूल अपेक्षा से बहुत अधिक संस्कारों का समावेश हो गया होगा। कालांतर में बौद्ध उपासना में उपासना-स्थलों को भी शामिल कर लिया गया—जैसे स्तूपों को, जो मृतकों की समाधि हुआ करते थे या चैत्यों को, जो पवित्र वृक्षों या स्थानीय देवी-देवताओं के चारों ओर खड़े बाड़ होते थे। आगे चलकर ऐसे उपासना-स्थलों की संख्या काफी बड़ी हो गई। समझा जाता है कि उत्तर बिहार में लौरिया नंदनगढ़ के टीले आरंभिक उपासना स्थल थे और वहां सोने की कुछ प्रतिमाएं भी रख दी गई हैं, जो शायद किसी समय वहां पूजी जानेवाली देवियों की हों। किसी क्षेत्र में अनुयायी बनाने के लिए किसी भी संप्रदाय के लिए लोकप्रिय धार्मिक चलनों को

अपनाना आवश्यक था।

कुछ लोग इसलिए भिक्षु बनते थे कि उन्हें समाज की रीति-नीति पसंद नहीं थी और निदान वे उससे बाहर निकल जाते थे। यह व्यक्तिगत पसंद की बात थी, और उस हद तक यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति थी, यद्यपि निस्संदेह वह स्वतंत्रता संघ में शामिल होने तक ही सीमित थी। चूंकि यह त्यागियों का संघ था इसलिए धीरे-धीरे संघ की शाखाओं और उपासकों में भेद किया जाने लगा। उपासकों में राज-परिवार से लेकर मामूली कारीगर तक शामिल होते थे, जिनसे संघ को समर्थन प्राप्त होता था। उपासक जो दान देते थे वे किसी एक यज्ञ कर्मकांड के लिए नहीं होते थे, बल्कि संघ के स्थायी अनुरक्षण के लिए होते थे। जब विहारों को बड़े-बड़े अनुदान मिलने लगे और उनमें समृद्धि आई तब भिक्षु भी शायद अधिक सुविधापूर्ण जीवन जी सकते होंगे। संभव है, इससे किसी हद तक आरमदेह जिंदगी की तलाश करनेवाले लोगों को भी अपेक्षाकृत धनाढ्य विहारोंमें प्रवेश पाने की प्रेरणा मिली हो।

बौद्ध और जैन धर्मों में काफी समानता थी। दोनों का प्रवर्तन क्षत्रियों ने किया और वे ब्राह्मणीय रूढ़ियों के खिलाफ थे। यद्यपि उन्होंने वर्ण-व्यवसथा को समाप्त करने की घोषणा नहीं की, तथापि धर्मसूत्रों में विहित इस व्यवस्था के वे विरोधी थे। लेकिन ऊपरी जातियों से इतर लोगों को अपने अनुयायी बनाने में उन्हें कुछ समय लगा। जब यह हुआ तब कुछ आचारों में बदलाव आया। ऐतिहासिक रूप से विकसित सभी धर्मों की तरह, मूल शिक्षाओं को नए संदर्भ में नए अर्थ दिए गए, जिनमें से कुछ ने इस धर्म को तरह-तरह से बदलने में योगदान किया। परिवर्तन के ऐसे इतिहासों के वाचन के लिए यह जरूरी है कि मूल शिक्षा को समकालीन पाठों के, जो फिर भी बाद में ही लिखे गए, बरअक्स रखकर देखा जाए।

छठी से चौथी सदी ई.पू. के ऐतिहासिक संक्रमण में कृषि का विस्तार हुआ, शहरों का विकास हुआ और व्यापार पहले की अपेक्षा बहुत बड़े पैमाने पर आरंभ हुआ। साथ ही राज्य तथा राजतंत्र के रूप में राजनीतिक सत्ता प्रतिष्ठित हुई, हालांकि राजतंत्र तथा सरदारतंत्र इन दो राजनीतिक व्यवस्थाओं के बीच थोड़ी-बहुत ज़ोर-आजमाई भी चली। इन परिवर्तनों का धर्म तथा विचारधारा के उन नवरचित सूत्रों से भी कुछ संबंध है जो अपने पूर्ववर्ती सूत्रों से स्पष्ट रूप से भिन्न थे। ऐसे सूत्रों को मौर्य काल में और अधिक और शायद विविध दिशाओं में भी प्रतिष्ठा मिली।

अध्याय : छह

साम्राज्य का उदय : मौर्यकालीन भारत

लगभग *321–185* ई.पू.

मौर्य और उनकी दुनिया

साम्राज्य की अवधारणा से भारत का परिचय औपनिवेशिक काल में होता है। अतीत के कुछ साम्राज्यों को पहचानने और ब्रिटिश साम्राज्य को उसी चालू विरासत का हिस्सा बतलाने की कोशिश की गई। साम्राज्य की एक पहचान उसका प्रादेशिक विस्तार बताया गया और कहा गया कि उसकी महिमा स्थायी और भव्य स्थापत्य, विस्तृत सार्वजनिक कार्यों और सम्राट् की घोषणाओं में निहित है। इस तरह के वर्णनों में यूरोप के बाहर के साम्राज्यों को निरंकुश और पिछड़ा कहा गया। उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राच्य निरंकुशता जैसी अवधारणाओं में की गई। इसके अनुसार, राजस्व का स्रोत मात्र कृषि थी, क्योंकि यह ऐसी प्रणाली थी जिसमें सारी ज़मीन राज्य की मिल्कियत थी। यह उन्नीसवीं सदी के साम्राज्यों के समस्त स्रोतों के स्वामित्व के दावे का ऐतिहासिक औचित्य-प्रतिपादन था।

जब साम्राज्य शब्द का प्रयोग प्राचीन काल के बड़े राज्यों के लिए किया जाने लगा तब इस परिभाषा का केंद्र-बिंदु बदलना पड़ा। प्राचीन काल के संदर्भ में साम्राज्य को अधिक विकसित और जटिल राज्य के रूप में देखा जाता है, और इसलिए उसके मूल उसके पूर्वघटित राज्यों की संरचना में निहित माने जाते हैं। अराज्य से राज्य की दिशा में संपन्न परिवर्तन उस संदर्भ को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है जिसमें साम्राज्यों का उदय होता है। एक गुणात्मक परिवर्तन भी महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, जहां राजतंत्रों का आर्थिक आधार अपेक्षाकृत समरूप होता है, साम्राज्य की अर्थव्यवस्था विविधतापूर्ण होती है। एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या राज्य अर्थव्यवस्थाओं की पुनर्रचना करने की कोशिश करता है और यदि करता है तो किन अर्थव्यवस्थाओं का या कि वह संसाधनों से राजस्व का दोहन करके ही संतुष्ट रहता है? इसके अलावा, सांस्कृतिक एकरूपता की भी मान्यता थी–मुख्य

रूप से साम्राज्य की शक्ति के प्रतीकों पर आधारित सांस्कृतिक एकता की। लेकिन इस संबंध में ख़ास छानबीन नहीं की गई कि साम्राज्यीय सांस्कृतिक रूप किस हद तक साम्राज्य के दूरस्थ क्षेत्रों में प्रवेश कर जाते थे। साम्राज्य की परिभाषा के लिए ऐसी छानबीन आवश्यक है। उदाहरण के लिए, भव्य और अन्य स्थापत्य को महत्त्वपूर्ण तो माना जाता था, लेकिन मुख्य रूप से शक्ति और उपस्थिति की अभिव्यक्ति के रूप में ही। इस प्रकार की उपस्थिति का एक और पहलू कानूनों की एकरूपता रही होगी, जिसका परोक्ष उल्लेख शायद सम्राट् अशोक के एक राजादेश (एडिक्ट) में किया गया है, यद्यपि संबंधित कानूनों का जिक्र नहीं किया गया है।

चौथी सदी ई.पू. के उत्तरार्ध में मौर्यों के आगमन के साथ ऐतिहासिक परिदृश्य विविध प्रकार के स्रोतों से प्राप्त साक्ष्यों की अपेक्षाकृत प्रचुरता से प्रकाशमान हो उठता है। इनसे न केवल हमें सूचना मिलती है बल्कि उस काल के इतिहास पर प्रसंगोपपात विचारों की प्रस्तुति को भी प्रोत्साहन मिलता है। राजनीतिक तसवीर कमोबेश साफ है। मौर्यों के साम्राज्य में इस उपमहाद्वीप का एक बहुत बड़ा हिस्सा शामिल है, और उसका केंद्र-बिंदु है एक ही शक्ति द्वारा सब कुछ का नियंत्रण। राजनीतिक प्रणाली को समरूपता देने की कोशिशें की गईं, और पूर्ववर्ती सदियों की अपेक्षा इस काल के संबंध में ऐतिहासिक सामान्यीकरण अधिक आत्मविश्वास के साथ किया जा सकता है। साम्राज्यीय प्रणाली में अनिवार्यतः साम्राज्य के सभी छोरों को एक-दूसरे के निकट लाने, लोगों तथा माल की आवाज़ाही को बढ़ावा देने और विभिन्न स्तरों पर संपर्क और संचार की संभावनाओं को आज़माने की कोशिशें की गईं। उदाहरण के लिए, लिपि का प्रयोग किया गया, विनिमय सौदों में आहत सिक्कों का इस्तेमाल किया गया और नई विचारधारा का निरूपण किया गया, ताकि नए तक़ाजों को पूरा किया जा सके।

राज्यों के प्रवर्गीकरण में राजतांत्रिक राज्यों को साम्राज्य से भिन्न प्रवर्ग में रखा गया है। राजतांत्रिक राज्य आम तौर पर मौजूदा स्रोतों से अधिक से अधिक लाभ उठाते हैं और इसलिए वे संसाधनों की प्राप्ति के उपायों की पुनर्रचना करने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न नहीं करते। साम्राज्य पर भिन्न प्रकार के दबाव होते हैं और उसकी आवश्यकताएं भी भिन्न होती हैं। इसलिए साम्राज्य के प्रशासन की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जहां भी राजस्व प्राप्त करने की संभावना होती है, वहीं नई-नई युक्तियां ईजाद करनी पड़ती हैं। साम्राज्यीय प्रणाली स्थिर नहीं होती और उसे मांगों और संसाधनों के मामले में लगातार सामंजस्य स्थापित करते रहना पड़ता है। साम्राज्यीय प्रणालियां विविधता को मिटाकर समरूपता कायम करने की कोशिश करती हैं, हालांकि इसमें शायद ही कभी वे सफल होती हों। विविधताएं सांस्कृतिक एवं आर्थिक होती हैं। सांस्कृतिक समांगता स्थापित करने के लिए अकसर नई विचारधारा का प्रचार किया जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में वह विचारधारा थी अशोक

का *धम्म*। न तो साम्राज्य के प्रत्येक भाग में एक ही प्रकार के संसाधन होते हैं और न उनका समान उपयोग होता है। इसलिए थोड़ी-बहुत आर्थिक पुनर्रचना भी आवश्यक हो जाती है। सामान्यत: उन्हीं संसाधनों की पुनर्रचना की जाती है जिन्हें सबसे अधिक संभावनायुक्त समझा जाता है। मौर्य साम्राज्य में कृषि का विस्तार करके और कहीं-कहीं श्रमिकों की गतिशीलता बढ़ाकर और इसके अलावा अधिक दूरगामी व्यापारिक विनिमय आरंभ करके ऐसी पुनर्रचना का प्रयास किया गया। लेकिन साम्राज्यीय प्रणालियां आर्थिक विभेद का भी लाभ उठाती हैं और नए संबंधों के लिए उपयुक्त पुनर्रचना करती हैं। विभेदीकरण इस बात पर आधारित होता है कि प्रशासन के माध्यम से संसाधन किस प्रकार से एकत्र किए जाते हैं।

इस साम्राज्य की स्थापना नंदों के बाद 321 ई.पू. में सिंहासनासीन होनेवाले चंद्रगुप्त मौर्य ने की। तब वह नौजवान था और समझा जाता है कि वह कौटिल्य नामक एक ब्राह्मण का शिष्य था। यह भी कहा गया है कि सिंहासन प्राप्त करने और उस पर आसीन रहने में भी गुरु ने शिष्य का मार्ग-दर्शन किया। इसका आभास उन अनेक कथाओं से होता है जिनका संबंध चंद्रगुप्त के उत्थान से है। बौद्ध तथा जैन पाठों और विशाखदत्त-कृत नाटक मुद्राराक्षस में वर्णित कथाएं इस दृष्टि से ख़ास महत्त्व की हैं। यद्यपि इस नाटक की रचना इस घटना के कई सदी बाद की गई तथापि इससे चंद्रगुप्त के सिंहासनारोहण से संबंधित परंपरा का समर्थन होता है। अलग-अलग पाठों में मौर्य परिवार के मूल और जाति के संबंध में अलग-अलग बातें कही गई हैं। बौद्ध पाठों में उन्हें क्षत्रिय मोरिय कुल की एक शाखा बताया गया है, जिनका शाक्यों से संबंध था। इस मूल का निर्देश करने के लिए शायद इस परिवार को ऊंचा दर्जा देने का उद्देश्य था। इसके विपरीत, ब्राह्मणीय सूत्रों से ध्वनित होता है कि वे शूद्र और अपधर्मी थे। इस मूल का निर्देश करने का कारण शायद यह था कि सभी मौर्य राजा ब्राह्मणेतर संप्रदाय के संरक्षक थे। यह स्वाभाविक था कि इस परिवार का संबंध इन स्रोतों में नंदों से भी दिखाया गया है। पुराणों में नंदों को शूद्र कहा गया था, और उनमें यह अस्पष्ट कथन भी है कि सूर्य तथा चंद्र वंशों के क्षत्रिय वीरों के विपरीत, आगामी राजवंश शूद्र मूल के होंगे। शासक परिवार के दर्जे में यह बदलाव राज्य के आगमन का एक पहलू है, क्योंकि राज्य की संरचना के साथ राजनीतिक सत्ता के द्वार अधिकाधिक खुलते जा रहे थे और अब उसमें किसी भी वर्ण का समावेश हो सकता था।

युवा मौर्य और उसके समर्थक सैनिक शक्ति की दृष्टि से नंदों से कमज़ोर थे, और इसलिए उन्होंने कुशल रणनीति का सहारा लिया। कुछ विवरणों के अनुसार, पहला कदम मगध का सिंहासन प्राप्त करना था। अन्य कथाओं से लगता है कि चंद्रगुप्त ने शुरुआत नंदों के दूरवर्ती प्रदेशों से छेड़छाड़ के साथ की और धीरे-धीरे केंद्र की ओर बढ़ता गया। कहते हैं, इस रणनीति का आधार भावी सम्राट द्वारा एक

स्त्री से ग्रहण की गई शिक्षा थी, जो अपने बच्चे को इसलिए डांट रही थी कि वह थाल के बीच से खाना खाने की कोशिश कर रहा था, क्योंकि वहां खाने का किनारे की अपेक्षा बहुत ज़्यादा गरम होना स्वाभाविक था। गंगा के मैदान पर नियंत्रण स्थापित कर लेने के बाद चंद्रगुप्त सिकंदर के प्रस्थान के बाद उत्पन्न शक्ति-शून्यता की स्थिति का लाभ उठाने के लिए पश्चिमोत्तर की ओर मुड़ा। इन क्षेत्रों पर तेजी से अधिकार करते हुए वह सिंधु-तट तक पहुंच गया। वहां जाकर उसे ठहरना पड़ा, क्योंकि सिकंदर के उत्तराधिकारी सिल्यूकस निकेटर ने उस क्षेत्र पर अपनी पकड़ मजबूत बना ली थी। कुछ समय के लिए चंद्रगुप्त ने अपना रुख मध्य भारत की ओर किया और नर्मदा नदी से उत्तर के प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। परन्तु 305 ई.पू. में वह फिर पश्चिमोत्तर की ओर उन्मुख हुआ। यहां सिल्यूकस से उसका मुक़बला हुआ, जिसमें वह संभवतया विजयी रहा, क्योंकि दोनों के बीच संपन्न 303 ई.पू. की संधि की शर्तों से ऐसा ही लगता है।

इस संधि में सिल्यूकस के राज्य के वे प्रदेश मौर्यों के अधीन आ गए जो आज के पूर्वी अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और मकरान तक फैले हुए थे। इससे पश्चिमोत्तर क्षेत्र के मार्ग और संधि-स्थल फ़ारसी-हेलनवादी नियंत्रण से निकलकर मौर्यों के आधिपत्य में आ गए। वस्तुतः ईरान और उत्तरी भारत के प्रमुख राज्यों में से कभी एक तो कभी दूसरे के हाथों में जाते रहना इस क्षेत्र की नियति बन गई थी। इस ऐतिहासिक यथार्थ को ध्यान में रखें तो पश्चिमोत्तर के लोगों के लिए कोई राजवंश 'विदेशी' नहीं होता होगा। स्वयं वे भी अलग-अलग संस्कृतियों के लोग थे। उधर उक्त संधि के अनुसार, सिल्यूकस को 500 हाथी मिले, क्योंकि हेलनवादी सैनिक रणनीति में हाथियों की प्रभावकारिता में बहुत अधिक विश्वास किया जाता था। संदर्भों से यह भी लगता है कि दोनों राज-परिवारों के बीच शायद कोई वैवाहिक संबंध स्थापित हुआ। लेकिन जिस 'एपिगामिया' शब्द से यह निष्कर्ष निकाला गया है उससे यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि पूर्वी अफगानिस्तान के नगरों में या वहां की रक्षा-व्यवस्था के अंग के रूप में निवास करनेवाले यूनानियों तथा भारतीयों के बीच विवाह को वैधता प्रदान की गई। मौर्य साम्राज्य की प्रादेशिक नींव डाली जा चुकी थी, और अब सिंधु तथा गंगा के मैदानों और सीमांत प्रदेशों पर चंद्रगुप्त का अधिकार था। किसी भी मापदंड से यह एक दुर्धर्ष साम्राज्य था।

प्राचीन काल में लड़ाइयां सिर्फ अधिक प्रदेश प्राप्त करने का एक जरिया नहीं थीं। बहुधा उनके पीछे काफी कूटनीतिक प्रयोजन मौजूद रहते थे और साथ ही आर्थिक लाभ की भी तलाश रहती थी। कूटनीति पड़ोसियों से संबंध के रूप में सामने आती थी। बाद में वह *मंडल*के सिद्धांत का आधार साबित होनेवाली थी। *मंडल*कूटनीति का वह हलका था जिसमें मित्र और शत्रु दोनों आते थे।

आर्थिक लाभ स्पष्ट दिखाई देते थे। और ये लाभ जिस प्रदेश को जीतना होता

था उसके स्वरूप, उसकी स्थिति और उसके संसाधनों में ही नहीं दिखाई देते थे, बल्कि स्वयं लड़ाई के स्वरूप में भी दिखाई देते थे। समृद्ध पड़ोसियों के खिलाफ बड़ी लड़ाइयां लूट के माल का स्रोत होती थीं। साथ ही ऐसी लड़ाइयों में युद्ध-बंदी प्राप्त होते थे, जिनका उपयोग श्रमिकों के रूप में किया जा सकता था। इसलिए लड़ाइयां सैनिक सरोकारों तक ही सीमित नहीं रही हैं। सिल्यूकसियों से लड़ाई उनसे गंधार छीनने के लिए की गई, क्योंकि जब वह हखामनी साम्राज्य का हिस्सा था तभी से भरपूर राजस्व देता रहा था। वह पश्चिम एशिया को जानेवाले थल-मार्गों से भी जुड़ा हुआ था। मध्य भारत पर अधिकार का मतलब प्रायद्वीप में प्रवेश का मार्ग प्राप्त करना था। वह एक और ऐसा क्षेत्र था जिसके संसाधनों का लाभ उत्तरी शक्तियां अब तक नहीं उठा पाई थीं।

लड़ाई के बावजूद मौर्यों तथा सिल्यूकसियों के बीच मित्रता और जिज्ञासा के भावों से भरा काफी संपर्क था। परवर्ती यूनानी विवरणों में चंद्रगुप्त का जिक्र सैंड्रोकोट्टस के रूप में किया गया है और कहा गया है कि युवक के रूप में उसकी मुलाकात सिकंदर से भी हुई थी। अठारहवीं सदी में विलियम जोंस ने सैंड्रोकोट्टस की पहचान चंद्रगुप्त के रूप में की, जिससे हमें मौर्य कालानुक्रम की कुंजी हासिल हुई। संभव है कि वैवाहिक संबंध के फलस्वरूप सिल्यूकस की एक बेटी मौर्य दरबार में पहुंची। यदि ऐसा हुआ हो तो उसके साथ और भी बहुत सारी यूनानी स्त्रियां दरबार में पहुंची होंगी। मौर्यों तथा सिल्यूकसियों के बीच और मौर्यों तथा सिल्युकसियों से भी पश्चिम के हेलनवादी राज्यों के बीच दूतों के आदान-प्रदान तथा भेंट-उपहारों (जिनमें कामोत्तेजक औषधियां भी शामिल थीं!) के विनिमय का सिलसिला आरंभ हुआ। पाटलिपुत्र बाहरी लोगों के स्वागत के लिए हमेशा तैयार रहता था और नगर प्रशासन में उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखने के लिए एक विशेष समिति थी।

कहते हैं, सिल्यूकस के दूत मेगास्थनीज ने कुछ समय भारत में बिताया था। वह *इंडिका*शीर्षक से एक विवरण भी अपने पीछे छोड़ गया। इस विवरण का बहुत-सा अंश व्यक्तिगत ज्ञान की अपेक्षा व्यक्तिगत बातचीत और यात्रियों से सुनी बातों पर आधारित रहा होगा, और उसके कुछ समकालीनों को तो इस बात में ही संदेह था कि उसने पाटलिपुत्र में प्रवास किया था। दुर्भाग्य से मूल विवरण उपलब्ध नहीं हो पाया है और जो कुछ बचा है वह डियोडोरस, स्ट्रैबो और एरियन जैसे परवर्ती इतिवृत्तकारों के लेखनों में उद्धृत उसके सार-संक्षेपों के रूप में ही शेष है। इन परवर्ती विवरणकारों ने मूल पाठ में फेर-बदल किए होंगे, यह संभव मालूम पड़ता है, क्योंकि कई ऐसी बातें हैं जिनके संबंध में उनमें पारस्परिक सहमति नहीं है। सभी हेलनवादी राज्य ऐसे इतिहासकारों की तलाश में रहते थे जो उन्हें वैधता प्रदान करें और उनके शासन का वर्णन करें। मेगास्थनीज सिल्यूकसियों की पसंद था। मौर्यकालीन भारत के विवरण को यदि हेलनवादी राज्यों की अन्य लेखकों द्वारा की गई विवेचना के

परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाए तो उसके मर्म को हम बेहतर समझ सकते हैं।

जैन परंपराएं बताती हैं कि अपने जीवनकाल के अंत में चंद्रगुप्त, जो अब तक एक समर्पित जैन बन चुका था, अपने पुत्र बिंदुसार को गद्दी सौंपकर संन्यासी बन गया। बाद में वीरभद्र नामक एक अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध और वरीय जैन साधक तथा कुछ अन्य जैन भिक्षुओं के साथ वह दक्षिण भारत चला गया, जहां उसने पारंपरिक जैन रीति के अनुसार उपवास करके शरीर-त्याग कर दिया। कर्नाटक में श्रवण बेलगोल के जैन केंद्र के निकट स्थित एक स्थान को स्थानीय परंपराएं इस कथा से जोड़ती हैं।

बिंदुसार 297 ई.पू. के आसपास सिंहासनारूढ़ हुआ। यूनानी उसे अमित्रोचैटिस के नाम से जानते थे। यह शायद संस्कृत के अमित्रघात–अर्थात् शत्रुओं का नाश करनेवाला–का यूनानी लिप्यंतरण था। स्पष्ट है कि वह विविध रुचियोंवाला व्यक्ति था। कहते हैं, उसने यूनानी राजा प्रथम एंटिओकस से कुछ मीठी मदिरा, सूखे अंजीर और एक कूटतार्किक (सोफिस्ट) भेजने का आग्रह किया था। बौद्ध परंपराओं के अनुसार उसका संबंध एक आजीवक संप्रदाय से था। कई सदी बाद लिखे बौद्ध धर्म के एक तिब्बती इतिहास में उसे 'समुद्रों के बीच के देश' को जीतने का श्रेय दिया गया है। ये दो समुद्र शायद अरब सागर और बंगाल की खाड़ी थे। इससे लगता है कि बिंदुसार ने दकन पर आक्रमण किया और मौर्य साम्राज्य को दक्षिण में कर्नाटक तक फैला दिया। हाल में कर्नाटक में सन्नति में अशोक के वैसे ही राजादेश प्राप्त हुए हैं जैसे आदेश कलिंग-विजय के बाद कलिंग (उड़ीसा) में जारी किए गए थे। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या कर्नाटक को बिंदुसार के बजाय बाद में अशोक ने जीता; या कि उसे सचमुच बिंदुसार ने जीता था और ये राजादेश भूल से यहां स्थापित कर दिए गए? दक्षिण भारत के प्रारंभिक तमिल काव्य में सूर्य के प्रकाश में चमकते श्वेत ध्वजों से युक्त मौर्यों के रथों के घर्घर नाद के समस्त देश में व्याप्त हो जाने का उल्लेख मिलता है। तथापि ऐसा लगता है कि सुदूर दक्षिण के सरदारतंत्रों से मौर्यों के मैत्रीपूर्ण संबंध थे। 272 ई.पू. के आसपास बिंदुसार की मृत्यु के समय तक इस उपमहाद्वीप का एक बहुत बड़ा हिस्सा मौर्य आधिपत्य के अधीन आ चुका था। जो एक क्षेत्र शत्रुतापूर्ण रुख रखता था और जो शायद प्रायद्वीप तथा दक्षिण भारत के साथ मौर्यों के वाणिज्यिक संबंध में बाधा डालता था वह था पूर्व तट पर स्थित कलिंग (उड़ीसा)। उस पर अधिकार स्थापित करने का काम बिंदुसार के पुत्र अशोक के लिए शेष रहा। कलिंग पर विजय मात्र एक सैनिक महत्त्व की घटना से कोई बड़ी चीज साबित होनेवाला था।

कोई सौ साल पहले तक अशोक पुराणों में शामिल मौर्य राजवंश के अनेक राजाओं में से एक राजा-भर था। अलबत्ता बौद्ध परंपरा में उसे चक्रवर्तीन/चक्कवत्ती, अर्थात् सार्वभौम राजा कहा गया था, लेकिन भारत में बौद्ध धर्म के पतन के साथ

यह परंपरा लुप्त हो गई थी। परंतु 1837 में जेम्स प्रिंसेस ने हड़प्पा काल के बाद की सबसे पुरानी भारतीय लिपि ब्राह्मी में अंकित एक अभिलेख का वाचन कर लिया। और भी बहुत-से अभिलेख थे जिनमें राजा ने अपना परिचय देवानामपिय पियदस्सि (देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी) के रूप में दिया था। यह नाम राजवंशीय सूची में उल्लिखित किसी नाम से मेल नहीं खाता था, यद्यपि श्रीलंका के बौद्ध इतिवृत्तों में उसका जिक्र हुआ था। धीरे-धीरे सूत्रों को एक साथ सहेजा गया, लेकिन अंतिम पुष्टि 1915 में तब हुई जब इन राजादेशों का एक और पाठ प्रकाश में आया, जिसमें राजा अपने को देवनामपिय अशोक कहता है।

अशोक के साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्थित उसके राजादेशों से हमें न केवल इस राजा के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है बल्कि उसके शासन की घटनाओं तथा सबसे बढ़कर शासक के रूप में उसकी नीतियों के संबंध में भरपूर सूचना प्राप्त होती है। उसके व्यक्तिगत सरोकारों के कथन के रूप में ये उल्लेखनीय दस्तावेज हैं, जिनसे उसके काल का परिवेश मुखर हो उठा है। ये ऐसी झलकियां प्रस्तुत करते हैं जो सरकारी दस्तावेजों की पारंपरिक सीमाओं से परे हैं। वस्तुतः ये राजादेश एक व्यक्ति और एक राजपुरुष दोनों रूपों में उसके सरोकारों का 'इजहार करते हैं'। उनकी वार्त्तालाप जैसी शैली राजा के व्यक्तित्व को मूर्तिमंत कर देती है।

अशोक के शासन-काल के पूर्वार्ध के राजादेश सुविधाजनक स्थानों में शिलाओं पर अंकित किए गए, और इसलिए उन्हें लघु और गुरु शिला राजादेश कहते हैं। ये आदेश पूरे साम्राज्य में और विशेष रूप से स्थायी बस्तियों और आबादी के संकेंद्रणवाले क्षेत्रों में फैले हुए थे। उसके शासन-काल के उत्तरार्ध में उसके राजादेश सुचिक्कण बलुई पत्थर के एकखंडीय स्तंभों पर अंकित किए गए। इनमें से प्रत्येक स्तंभ के शीर्ष पर सुतक्षित पशु-मूर्तियां आसीन थीं। इन्हें स्तंभ राजादेश कहते हैं। ये पत्थर वाराणसी के निकट चुनार नामक स्थान से खोदकर निकाले जाते थे। उन्हें काटने-तराशने और उन पर आलेख अंकित करने में पर्याप्त प्रौद्योगिकीय विशेषज्ञता की आवश्यकता पड़ती होगी। स्तंभ राजादेश गंगा के मैदान तक सीमित हैं, जिसका कारण शायद यह था कि उनका परिवहन नदी-मार्ग से होता होगा। यह क्षेत्र साम्राज्य का केंद्रीय प्रदेश था।

अशोक के अभिलेख अब भी मिल रहे हैं और किसी नए राजादेश से प्राप्त हो सकनेवाली जानकारी के बारे में हमेशा जिज्ञासा बनी रहती है। जब नव-प्राप्त राजादेश का पाठ पूर्ववर्ती राजादेशों जैसा होता है तब भी उसकी प्राप्ति के स्थान से मौर्य इतिहास के संबंध में हमारी सूचना की अभिवृद्धि होती है। पश्चिमोत्तर सीमाओं के यूनानी-भाषी और अरमाई-भाषी लोगों को उद्दिष्ट जो राजादेश अनुवाद या यूनानी अथवा अरमाई पाठ के रूप में मिले हैं वे उन शब्दों के अर्थ स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुए हैं जो अस्पष्ट या विवादास्पद हैं। उदाहरण के लिए, कुछ

विद्वानों ने *धम्म*का अर्थ बुद्ध की शिक्षा लगाया और कुछ ने सदाचार के प्रति सामान्य सरोकार। यूनानी में उसका जो अनुवाद हुआ है (eusebeia) वह दूसरे अर्थ का समर्थन करता है। दिलचस्प बात है कि यूनानी और अरमाई पाठों में बुद्ध की शिक्षा का कोई जिक्र नहीं हुआ है। यदि राजादेशों का उद्देश्य बौद्ध धर्म का प्रचार होता तो उसकी शिक्षा के जिक्र की आशा की जानी चाहिए। उतनी ही ध्यातव्य यह बात भी है कि इन राजादेशों की कुछ अवधारणाएं संबंधित भाषा के दार्शनिक विमर्श से ग्रहण की गई हैं। इस प्रकार, अरमाई के राजादेशों का वाचन कुछेक जरथुस्त्री अवधारणाओं के संदर्भ में किया जाए तो उन्हें बेहतर समझा जा सकता है। अधिक दुनियबी स्तर पर देखें तो लघु शिला राजादेशों के यूनानी पाठों से पता चलता है कि जो तिथियां दी गई हैं वे विगत शासन-वर्षों की हैं। इससे कालानुक्रम की रचना में सहायता मिलती है।

प्रशासक के रूप में अशोक का अनुभव तक्षशिला तथा उज्जैन के प्रादेशिक शासक के रूप में आरंभ हुआ। ये दोनों नगर वाणिज्यिक गतिविधियों के केंद्र थे। उसके तक्षशिला-प्रवास का वर्णन परवर्ती उत्तरी बौद्ध परंपरा से संबंधित पाठों से हुआ है। उनके अनुसार, जब उसका पिता मृत्यु-शय्या पर था तभी उसने सिंहासन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। कुछ अधिक शक्तिशाली मंत्रियों ने इसमें उसे प्रोत्साहन दिया। उसके उज्जैन-प्रवास का वर्णन दक्षिणी बौद्ध परंपरा के श्रीलंका के इतिवृत्तों में हुआ है। उसमें एक सौदागर की सुंदर कन्या से उसके प्रेम का उल्लेख हुआ है। वह कन्या श्रद्धालु बौद्ध और उसके पुत्र महिंद (महेंद्र) की माता थी। महिंद के बारे में कहा गया है कि उसने श्रीलंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

इस संबंध में विवाद जारी है कि अशोक पिता की मृत्यु के शीघ्र बाद सिंहासनारूढ़ हुआ या चार साल का राजहीन दौर चला, जिसमें भाइयों के बीच सिंहासन के लिए संघर्ष हुआ। आधुनिक इतिहासकारों ने अशोक के शासन-काल की जिस घटना का सबसे अधिक उल्लेख किया है वह है उसके द्वारा बौद्ध धर्म अंगीकार किया जाना। इसका संबंध प्रसिद्ध कलिंग युद्ध से जोड़ा गया। 260 ई.पू. के आसपास अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया और उसे पूर्ण रूप से परास्त कर दिया। यह लड़ाई शायद कलिंग से संसाधनों की प्राप्ति के लिए की गई थी, या हो सकता है, इसके पीछे पूर्वी तट से होकर प्रायद्वीप के साथ चलनेवाले लाभदायक मौर्य व्यापार के मार्गों को सुरक्षित करने की मंशा रही हो। यह भी संभव है कि अशोक मगध के नियंत्रण से निकल भागने के लिए कलिंगवासियों को सबक सिखाना चाहता हो। यह अंतिम संभावना उसी हालत में हो सकती है जब हम मान लें कि नंदों द्वारा कलिंग में बनवाई गई नहर उस पर मगध के पूर्ववर्ती नियंत्रण का द्योतक थी। युद्ध-जनित भीषण विनाश को देखकर राजा का हृदय पश्चाताप से भर गया। बुद्ध की शिक्षा में उसकी पूर्ववर्ती मंद रुचि नए सिरे से प्रज्वलित हो उठी

और अब वह उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य बन गई। अतीत में ऐसा कहा गया है कि इस भयावह युद्ध के शीघ्र बाद उसने नाटकीय रूप से बौद्ध धर्म को अपना लिया। लेकिन यह कोई नाटकीय धर्मांतरण नहीं था। अपने एक अभिलेख में उसने कहा है कि इस घटना के ढाई साल बाद वह बौद्ध धर्म का उत्साही अनुयायी बन गया। अंततः वह अहिंसा का समर्थन करने को प्रेरित हुआ और सैनिक विजय से विमुख हो गया। तथापि विचित्र बात है कि उसने कलिंग के किसी भी ठिकाने में अपनी इस पश्चातापपूर्ण आत्म-स्वीकृति को दर्ज नहीं किया। उसके बदले उसने तथाकथित पृथक् राजादेश जारी किए, ज़िनमें सुशासन की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए उसने अपने अधिकारियों को निर्देश दिए हैं।

लेकिन इस युद्ध पर उसका वक्तव्य वस्तुतः असाधारण है। एक विजेता के मन को अभिव्यक्ति देनेवाला यह अभिलेख उसे विरल मानव के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है। वह बताता है :

जब देवनामपिय राजा पियदस्सि के राज्याभिषेक के आठ वर्ष बीत चुके थे तब उसने कलिंग को विजित किया। एक लाख पचास हजार लोगों को निर्वासित कर दिया गया, एक लाख लोगों को मार डाला गया और इससे कई गुना अधिक लोग नष्ट हो गए। बाद में जब कलिंग पर अधिकार कर लिया गया तब देवनामपिय हृदय से *धम्म*की शिक्षा देने लगा। कलिंग को जीतने के बाद देवनामपिय ने पश्चात्ताप का अनुभव किया, क्योंकि जब किसी स्वतंत्र देश को जीता जाता है तब लोगों की हत्या, मृत्यु और निर्वासन देवनामपिय के लिए अत्यधिक दुःखदायी होता है और उससे उसका मन भारी हो जाता है। देवनामपिय के लिए जो बात इससे भी अधिक दुःखद है वह यह है कि उस देश में निवास करनेवाले सभी लोगों को–चाहे वे ब्राह्मण, श्रमण या अन्य संप्रदायों के हों, या अपने बुजुर्गों के प्रति, अपने माता-पिता के प्रति, अपने गुरुओं के प्रति आज्ञाकारिता दिखलानेवाले हों और अपने मित्रों, परिचितों, सहयोगियों, संबंधियों, दासों और चाकरों के प्रति अच्छा और अनुरागपूर्ण व्यवहार करनेवाले हों–हिंसा, हत्या और अपने प्रियजनों से विछोह झेलना पड़ता है। जो सौभाग्यवश इस सबसे बच निकलते हैं और जिनका प्रेम अप्रतिहत रहता है वे भी अपने मित्रों, परिचितों, सहयोगियों और संबंधियों के दुःखों से दुःखी होते हैं। कष्ट में इन सभी लोगों की यह भागीदारी देवताओं के प्रिय के मन पर भारी बोझ बन जाता है।

तेरहवें गुरु शिला राजादेश के लेखिका द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद से,
अशोकएंडदडिक्लाइन ऑफ द मौर्यज, पृ. 255-6
मेजर रॉक एडिक्ट, XIII, अनुवाद रोमिला थापर

अशोक के शासन-काल में ही लगभग 250 ई.पू. में पाटलिपुत्र में आयोजित तीसरी बौद्ध समिति में बौद्ध संघ का एक और पुनर्गठन हुआ। थेरवाद संप्रदाय ने दावा किया कि वह बुद्ध की सच्ची शिक्षा का प्रतिनिधित्व करता है। इस दावे के बल पर वह दक्षिणी परंपरा में प्रभुत्वशाली संप्रदाय बन गया, और उसने असंतुष्ट

माने जानेवालों को संघ से निष्कासित कर दिया। थेरवादी बौद्ध स्रोतों ने स्वभावतः अशोक को इस घटना से जोड़ने का प्रयत्न किया, क्योंकि इससे उस संप्रदाय को और अधिक वैधता प्राप्त होती। अशोक ने अपने किसी भी अभिलेख में इसका प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया है लेकिन बौद्ध संघ को संबोधित एक अभिलेख में शायद प्रकारांतर से इसका उल्लेख हुआ है। उसमें कहा गया है कि असंतुष्ट भिक्षुओं और भिक्षुणियों को निष्कासित कर देना चाहिए। सांप्रदायिक स्पर्धाओं (Secterian Contestation) में असंतुष्टों का निष्कासन एक स्वीकृत रीति था।

मालूम होता है, धर्म प्रचारकों को इस उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में और उसके बाहर भी भेजने और इस प्रकार बौद्ध धर्म को एक सक्रिय प्रचारवादी धर्म बना देने का निर्णय इसी समिति में किया गया, और इसके फलस्वरूप ईसवी सन् का प्रारंभ होते-होते यह धर्म एशिया में दूर-दूर तक फैल गया। प्रचार की ऐसी प्रवल भावना भारत में विकसित अन्य धर्मों की तुलना में बौद्ध धर्म की एक विलक्षण विशेषता है। धार्मिक कृत्य के रूप में धर्मान्तरण एक हद तक जाति तथा धर्म के बीच के आपसी संबंध से निर्धारित होता था। बौद्ध धर्म ने भिक्षु अथवा गृहस्थ किसी रूप में इस धर्म के अनुयायी बनने की इच्छा रखनेवालों के लिए जाति को बाधक नहीं बनाया। यह वैदिक ब्राह्मणीय धर्म का विलोम था, क्योंकि उस धर्म में पूजा के विभिन्न रूपों में भागीदारी के लिए जाति का निर्णायक महत्त्व था। बौद्ध धर्म सोपानीकरण की व्यवस्था के रूप में जाति को नकार नहीं पाया। अपितु, सच तो यह है कि बाद में उदित ईसाई और इसलाम जैसे धर्म, जिनका आधार जाति नहीं थी, वे भी भारत में यह काम नहीं कर पाए।

इस उपमहाद्वीप का बाहर की दुनिया से एक बार फिर संपर्क विकसित होने लगा। अधिकतर संपर्क पश्चिम के देशों से था। पूर्वी दुनिया अपेक्षाकृत अनअन्वेषित रही। अशोक ने हेलनवादी राज्यों में जो दूत भेजे और उनके साथ व्यापार की जो वृद्धि हुई उससे हेलनवादी संसार भारतीय जीवन-पद्धति से परिचित हुआ और उसमें भारतीय चीजों के प्रति रुचि जगी। दूतों के आदान-प्रदान के दस्तावेजी प्रमाण उपलब्ध हैं। इनमें से सबसे निकट सिल्यूकसियों का राज्य था, जिसकी सीमा मौर्यों के राज्य की सीमा से लगी हुई थी। पश्चिमोत्तर प्रदेशों में, जो कभी हखामनी साम्राज्य के अंग थे, अनेक ईरानी विशेषताएं थीं। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि अशोक के स्तंभों के शीर्ष पेरिपोलिस के स्तंभों के शीर्षों से बहुत मेल खाते थे, और संभव है कि अशोक के मन में उपयुक्त स्थानों में पड़ी शिलाओं पर अभिलेख अंकित करवाने का विचार डेरियस के ऐसे अभिलेखों के बारे में सुनकर आया हो। लेकिन अशोक के अभिलेखों की विषय-वस्तु और उनकी अवस्थितियां हखामनी अभिलेखों से बहुत भिन्न हैं।

अशोक ने पश्चिम में पड़नेवाली दुनिया के अपने अनेक समकालीनों का जिक्र

किया है, जिनके साथ उसने कूटनीतिक तथा अन्य प्रकार के दूतों का आदान-प्रदान किया। उसके एक अभिलेख का एक अवतरण इस प्रकार है, 'जहां यूनानी राजा अम्तियोग राज करता है और उस अम्तियोग के राज्य से आगे चार राजाओं तुलमय, अंतिकिना, मक और अलिक्यशुदल के देशों में।' इनकी पहचान क्रमशः सिल्यूकस निकेटर के पौत्र सीरिया के एंटिओकस द्वितीय थिओस (260-246 ई.पू.); मिस्र के टालेमी द्वितीय फिलाडेलफस (285-247 ई.पू.); मकदूनिया के एंटिगोनस गोनाटस (276-239 ई.पू.); सैरिनी के मैगस; और इपाइरस के अलेक्जैंडर के रूप में की गई है। यह अवतरण भारतीय इतिहास के कालानुक्रम का मूलाधार है, जो मौर्यों तथा हेलनवादी शासकों की तिथियों को आपस में जोड़ता है। उल्लेख करने के लिए इन राजाओं के नाम मनमाने तौर पर नहीं चुने गए, क्योंकि इनमें से प्रत्येक का अपने पड़ोसी से कुछ-न-कुछ कौटुंबिक संबंध था।

अशोक के अभिलेख आम तौर पर स्थानीय लिपि में थे। जिन अभिलेखों की रचना यूनानी अभिलेख और अरमाई भाषाओं में की गई उनके अलावा सभी प्राकृत में थे। जो अभिलेख पश्चिमोत्तर में पेशावर के आसपास के क्षेत्र में मिले हैं वे खरोष्ठी लिपि में हैं, जो ईरान में प्रयुक्त अरमाई लिपि से निकली थी। साम्राज्य के सुदूर पश्चिमोत्तर हिस्से में आधुनिक कंदहार के आसपास के क्षेत्र में अभिलेख यूनानी और अरमाई में हैं। भारत में अन्यत्र वे ब्राह्मी लिपि में हैं। पश्चिमोत्तर में स्थानीय भाषा और लिपि दोनों स्तर पर रियायत की गई, लेकिन प्रायद्वीप के दक्षिणी हिस्से में ऐसी कोई रियायत नहीं की गई जहां लोग अब तक प्राकृत नहीं बोलते थे और वहां तमिल का प्रयोग व्यापक स्तर पर किया जाता था। इसका कारण शायद यह था कि अब तक तमिल की कोई लिपि नहीं थी और उसकी पूर्वतम लिपि ब्राह्मी का ही एक उपयुक्त रूप था। या इसका कारण शायद यह भी हो सकता है कि इन क्षेत्रों में अब भी सरदारतंत्र कायम थे और इसलिए इन्हें पश्चिमोत्तर के राजतंत्रों जैसा महत्त्व नहीं दिया गया। प्राकृत के व्यापक प्रयोग से लगता है कि यद्यपि अन्य भाषाओं का भी भौगोलिक दृष्टि से सीमित क्षेत्रों में प्रयोग होता रहा तथापि अभिलेखों से साम्राज्य में एक प्रकार की सांस्कृतिक एकरूपता को बढ़ावा मिला, लेकिन अभिलेखों की प्राकृत में आम तौर पर स्थानीय भाषाओं की छटाएं देखने को मिल जाती हैं। ब्राह्मी लिपि के उद्भव को लेकर आज भी विवाद कायम है। कुछ लोग इसका साम्य दक्षिणी सामी लिपि से बताते हुए कहते हैं कि इसका विकास व्यापारिक संबंधों से हुआ; कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि यह देशी मूल की लिपि है और इसका आविष्कार राज्य को प्रशासन में सहायता देने के लिए किया गया। खरोष्ठी और ब्राह्मी के बीच के निकटतापूर्ण संबंध के आधार पर माना जा सकता है कि पहली ने दूसरी को प्रभावित किया, क्योंकि कभी-कभी खरोष्ठी की जानकारी रखनेवाले लिपि-तक्षकों का इस्तेमाल कर्नाटक जैसे धुर दक्षिणी क्षेत्र में ब्राह्मी में

अभिलेख अंकित करने के लिए किया गया।

तिब्बती स्रोतों का मानना है कि मध्य एशिया के खोतान राज्य की स्थापना भारत तथा चीन के राजनीतिक निर्वासितों ने संयुक्त रूप से की, और अशोक सचमुच खोतान गया था। इस प्रकार की यात्रा के लिए जैसे खतरनाक प्रदेशों से गुजरना पड़ता उसका विचार करते हुए यह बात असंभव जैसी लगती है। इस दौर में चीन के साथ संपर्क की बात निश्चिततापूर्वक नहीं कही जा सकती। मध्य एशियाई मार्ग शायद ज्ञात रहा हो, लेकिन उसका नियमित उपयोग नहीं होता होगा। पूर्वोत्तर के पहाड़ उन क्षेत्रों की सीमाओं पर थे जो बाद में चीनी राज्य का हिस्सा बन गए, लेकिन इन पहाड़ों के उत्तर-दक्षिण रुख में फैले होने से चीन और भारत के बीच ज़्यादा आवागमन नहीं हो पाता होगा। कहते हैं, अशोक की एक बेटी का ब्याह नेपाल के एक कुलीन व्यक्ति से हुआ था। इस प्रकार, नेपाल से भारत का संबंध जुड़ा। पूर्वी गांगेय क्षेत्र बंग देश (बंगाल) में शामिल था। डेल्टा के शहरी केंद्र और बंदरगाह, जैसे चंद्रकेतुगढ़ और ताम्रलिपि तामलुक, व्यापार के केंद्र बन गए, और पश्चिमी तट तथा दक्षिण भारत की ओर जानेवाले जहाज अपनी यात्रा डेल्टे के बंदरगाहों से आरंभ करते थे। पश्चिमी तट पर मुख्य बंदरगाह भृगुकच्छ (यूनानी पाठों का बैरिगाजा) और मुंबई निकट स्थित सोपारा थे।

मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र पूर्ववर्ती काल के उत्तरापथ से जुड़ी हुई थी, जो हिमालय की तराई से होते हुए गंडक के समानांतर मुड़ जाता था। राजधानी एक ऐसे संधि-स्थल पर भी स्थित थी जहां से गंगा नदी-प्रणाली पर नियंत्रण रखा जा सकता था। गंगा का मैदान नदी-मार्गों के अलावा व्यापारिक कंद्रों से भी जुड़ा हुआ था। मौर्योत्तर काल में लिखते हुए प्लिनी ने तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक जानेवाले राजमार्ग का उल्लेख किया है। वह मार्ग पाटलिपुत्र से आगे शायद ताम्रलिपि तक जाता होगा। सहसराम, पंगुरसिया (होशंगाबाद के निकट) और सन्नति जैसे महत्त्वपूर्ण स्थानों में प्राप्त राजादेशों से प्रायद्वीप की ओर जानेवाले मार्ग का संकेत मिलता है।

दक्षिणी कर्नाटक में जहां अशोक के अभिलेख मिले हैं उन ठिकानों तक पूर्वी तट से होकर समुद्री मार्ग से भी पहुंचा जा सकता था, जिसके लिए कृष्णा के डेल्टा तक जाकर वहां से अंदरूनी इलाकों में प्रवेश करना पड़ता।

प्रायद्वीप में मौर्य सत्ता के फैलाव और प्रभाव का अंदाजा अशोक के अभिलेखों के ठिकानों से लगाया जा सकता है, जो दक्षिणी कर्नाटक से आगे नहीं मिलते। अशोक ने दक्षिण के उन लोगों का जिक्र किया है जिनसे उसके मैत्रीपूर्ण संबंध थे। उनमें चोल, पांड्य, सतीयपुत्र और केरलपुत्र शामिल थे, जो ताम्रपर्णी (श्रीलंका) तक फैले हुए थे। ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि उसने उन्हें जीतने का प्रयत्न किया। मालूम होता है, तब सुदूर दक्षिण के संसाधन उतने स्पष्ट दिखाई नहीं देते थे जितने बाद के काल में दिखाई देने लगे। उधर दक्षिण के सरदारतंत्रों ने या तो मौर्य सैनिक

शक्ति का अनुभव प्राप्त करने के बाद या उसके बारे में सुनकर शायद मौर्यों को मित्रता का वचन देना, उनके साथ शांति बनाए रखना ही श्रेयस्कर समझा।

श्रीलंका के इतिवृत्त *दीपवंश*तथा *महावंश*में उस द्वीपदेश से मौर्यों का संबंध विशेष रूप से घनिष्ठ बताया गया है। न केवल यह उल्लेख मिलता है कि उस द्वीप में बौद्ध धर्म का प्रथम प्रचारक अशोक का पुत्र महिंद था, बल्कि मालूम होता है, वहां के राजा तिस्स ने अशोक को अपने आचार-व्यवहार का आदर्श बना लिया। दोनों के बीच बार-बार उपहारों और दूतों का आदान-प्रदान होता रहता था। भारतीय राजा ने उस बोधिवृक्ष की एक शाखा तिस्स को भेंट में दी जिस बोधिवृक्ष की छाया में बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था, और कहते हैं, उससे तैयार हुआ वृक्ष श्रीलंका में बना रहा, लेकिन भारत-स्थित मूल वृक्ष को बौद्ध धर्म-विरोधी एक कट्टरपंथी ने बाद की सदियों में काट गिराया।

प्रथम तीन मौर्यों का लगभग नब्बे वर्ष का शासन-काल सबसे अधिक प्रभावोत्पादक था। उनका महत्त्व न केवल इस बात में निहित था कि उन शासकों का प्रशासन विशाल क्षेत्र में फैला हुआ था, बल्कि यह बात भी उतनी ही अहम थी कि उन्होंने इस उपमहाद्वीप के मुख्य रूप से विविधतापूर्ण तत्वों को एक सूत्र में पिरोया। उन्होंने एक ऐसे राजनीतिक सपने को अभिव्यक्ति दी जिसका रंग आगे सदियों तक भारतीय राजनीतिक जीवन पर चढ़ा रहा, यद्यपि मौर्य पद्धति की पुनरावृत्ति करने में शायद ही कोई शासक सफल रहा हो। यह साम्राज्यीय सपना तीसरी सदी ई.पू. में कैसे और क्यों संभव हुआ, इसके विविध प्रकार के अनेक कारण थे।

साम्राज्य की राज्यव्यवस्था

मौर्यों की राज्यव्यवस्था की तसवीर तैयार करने के लिए प्रयुक्त स्रोतों में से *अर्थशास्त्र* से हमें राज्य के शासन के संचालन की विशद रूपरेखा प्राप्त होती है। इस पाठ की सही तिथि अनिश्चित है, जैसा कि प्राचीन भारत के अधिकांश प्रमुख पाठों के संबंध में देखने को मिलता है। इसका लेखक कौटिल्य को बताया गया है, जिसकी पहचान कुछ विद्वान चाणक्य के रूप में भी करते हैं, जिसे चंद्रगुप्त का प्रधान मंत्री माना जाता है। पाठ का वर्तमान रूप लगभग तीसरी सदी ई. की विष्णुगुप्त की कृति है। कालानुक्रमिक विवाद का मुख्य मुद्दा यह है कि यदि इसके कुछ भाग मौर्य काल के हैं भी तो वे कौन-से भाग हैं, और कौन-से भाग बाद के हैं। यदि कुछ भागों को-जैसे कि दूसरे मंडल को-मौर्य काल में रखा जा सकता हो तो भी उन्हें वस्तुस्थिति का वर्णन नहीं मानना चाहिए; यह समझना चाहिए कि एक सैद्धांतिक प्रबंध के रूप में उनसे आवश्यक माने जानेवाले शासन-संबंधी मामलों का और एक ख़ास राजनीतिक व्यवस्था का संकेत मिलता है। जो विचार उसमें निहित हैं वे उस

काल की कुछ मौजूदा विशेषताओं से अवश्य प्रेरित हुए होंगे, लेकिन एक केंद्रीकृत शासन की विशद कार्य-पद्धति का सटीक वर्णन, निस्संदेह, एक आदर्श था। यह समझना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इस प्रकार का आदर्श संभव माना गया। इसलिए यह पाठ मुख्य रूप से एक विशेष शासन-पद्धति के अनुसरण के लिए प्रोत्साहन है।

उत्तर भारत की राजस्वोत्पादक अर्थ-व्यवस्था अब मुख्य रूप से कृषि पर आधारित थी और बड़े-बड़े क्षेत्रों में कृषि आरंभ की जा रही थी। भू-राजस्व सरकार की आय का स्वीकृत स्रोत बन गया था और यह एहसास जग चुका था कि नियमित कर-निर्धारण से राजस्व बढ़ता है। इन करों से प्राप्त होनेवाले राजस्व का पूर्वानुमान लगाया जा सकता था, इसलिए सरकार में राजकोषीय सुरक्षा की भावना जगी होगी। प्रशासनिक व्यवस्था का मुख्य सरोकार करों की चुस्त वसूली था। कौटिल्य, जिसे बहुत-से विद्वान इस प्रकार की शासन-प्रणाली का सिद्धांतकार मानते हैं, करों की वसूली के उपायों तथा उनसे संबंधित समस्याओं एवं राजस्व के संभावित स्रोतों पर नियंत्रण की चर्चा विस्तार से करता है। उदाहरण के लिए, जंगलों को गैर सरकारी तौर पर साफ नहीं किया जा सकता था और उनकी सफाई की निगरानी राज्य करता था, जिसका उद्देश्य निस्संदेह वनोत्पादों की वसूली करना और साथ ही कृषि के मनमाने विस्तार को रोकना था। यह कहना मुश्किल है कि वस्तुतः इस हद तक नियंत्रण रखा जाता था या नहीं। कृषि से इतर आर्थिक प्रवृत्तियां न तो अनजानी थीं और न उन पर किसी प्रकार का प्रतिबंध लगाया जाता था। गांवों में अब भी पशुओं के झुंड होते थे और ऐसी मदों में सूचीबद्ध थे जिन पर कर लगाया जाता था। सिद्धांततः वाणिज्यिक उद्यमों पर, विशेषत; तटवर्ती क्षेत्रों के ऐसे उद्यमों पर, सरकार निगरानी रखती थी और जहां और जब संभव होता था, उन पर कर, चुंगी और आयात-निर्यात कर वसूल किए जाते थे। इन पर करारोपण की विधियां कृषि उत्पादों पर पहले से ही लगाए जानेवाले करों से विकसित हो चुकी थीं।

कृषि क्षेत्र में राज्य की गतिविधियों के अलावा लोग किसानों या भूस्वामियों के रूप में निजी तौर पर खेती करते या करवाते थे और राज्य को तरह-तरह के कर देते थे। बड़े भूस्वामी अपने पट्टेदारों से लगान वसूल करते थे। भूमि के निजी स्वामित्व को धीरे-धीरे स्वीकृति प्राप्त हुई, जिसका पता इस कथन से चलता है कि भूसंपत्ति की बिक्री में अन्य लोगों के मुकाबले कुटुंबियों और ऋणदाताओं को प्राथमिकता दी जाएगी। भूमि के संबंध में कौटुंबिक संबंधों को सर्वथा समाप्त नहीं कर दिया गया था। विस्तृत परती क्षेत्रों और *सीता*या राजा की भूमि में राज्य की देख-रेख में खेती की जाती थी। *सीता*में सरकार द्वारा नियुक्त लोग स्वयं ही खेती कर सकते थे या उस पर बटाईदारों अथवा पट्टेदारों से खेती करवाई जा सकती थी। ऐसे लोग राज्य को कर देते थे। इसके अलावा, ऐसी ज़मीन पर सीधे राज्य

द्वारा रखे गए श्रमिक भी खेती कर सकते थे। मेगास्थनीज के विवरण के हवाले से यूनानी लेखक राज्य तथा किसानों के बीच के संबंधों के बारे में जो बातें कहते हैं वे, दुर्भाग्यवश, परस्पर-विरोधी हैं, हालांकि उन सबका मानना है कि सबसे बड़ी संख्या किसानों की थी और भूमि के स्वामित्व का दावा शासक राजवंश करता था। पट्टेदारी की जो विविधता *अर्थशास्त्र*में देखने को मिलती है वह यहां नदारद है। इस पाठ के अनुसार, राज्य को नए क्षेत्रों या खाली पड़ी ज़मीनों को साफ करवाने की व्यवस्था करनी चाहिए, और ऐसी ज़मीनों पर बड़ी संख्या में उन शूद्र किसानों को बसा देना चाहिए जिन्हें या तो बहुत घने आबाद क्षेत्रों से या कम उपजाऊ क्षेत्रों से या फिर पड़ोसी राज्यों से फुसलाकर ऐसे इलाकों में ले आया जाए। अशोक की कलिंग विजय के बाद जिन डेढ़ लाख लोगों को बंदी बनाकर लाया गया था उन्हें निस्संदेह परती ज़मीनों का साफ करने और नई बस्तियां बसाने के काम में ही लगाया गया होगा।

नई ज़मीन में बसनेवाले शूद्र आरंभ में करमुक्त होते थे, लेकिन जब वे ठीक से खेती करने लगते थे तब उन पर कर लगाया जाता था। अतीत में विद्वानों ने उन्हें राजकीय दास (हेलॉट्स) कहा है, जिनका स्वामी राज्य था और जिनसे राज्य काम लेता था। लेकिन वस्तुतः न तो उन पर राज्य का स्वामित्व था और न शासक समुदाय का। इसलिए उन्हें राजकीय दास कहना उचित नहीं होगा। जो अन्य वर्ग जरूरी तौर पर किसान नहीं थे लेकिन अपना श्रम देते थे उनके लिए सामासिक पद *दास-कर्मकर* का प्रयोग किया जाता था अर्थात् वे गुलाम और उजरती मजदूर थे। दोनों के दर्जे ऐसे थे कि उनके लिए स्वतंत्रता की ख़ास संभावना नहीं रह जाती थी और दोनों का शोषण करने की काफी गुंजाइश बच रहती थी। ऐसे लोगों की अवस्था के प्रति बौद्ध पाठ अधिक संवेदनशील प्रतीत होते हैं।

मेगास्थनीज ने भारत में गुलामी की अनुपस्थिति का जिक्र किया है। लेकिन भारतीय स्रोत इसका खंडन करते हैं। शायद उसके मन में गुलामी की एथेंस पद्धति की तसवीर थी और भारतीय पद्धति उससे भिन्न थी। उसने यूनान की स्पार्टा-पद्धति से साम्य की बात अवश्य कही, जिसका कारण यह हो सकता है कि स्पार्टा तथा भारत दोनों में दर्जे के मामले में जन्म का सर्वाधिक महत्त्व था। सुखी-संपन्न घरों में घरेलू गुलाम आम तौर पर होते थे। ये गुलाम नीची जातियों के होते थे, लेकिन अस्पृश्य नहीं थे, अन्यथा उन्हें ऊपरी जातियों के लोगों के घरों मे प्रवेश नहीं मिलता। गुलामों के श्रम का उपयोग खानों में और कुछ शिल्प संघों द्वारा भी किया जाता था। किन कारणों से लोग गुलाम बनने पर मजबूर होते थे, इसका जिक्र कई पाठों में हुआ है। कोई व्यक्ति जन्मजात गुलाम हो सकता था या किसी मजबूरी के कारण खुद को बेच सकता था। युद्ध-बन्दी को गुलाम बनाया जा सकता था। न्यायालय भी गुलामी का दंड दे सकता था। गुलामी स्वीकृत संस्था थी और मालिक तथा गुलाम

के बीच का कानूनी संबंध स्पष्ट रूप से परिभाषित होता था। उदाहरण के लिए, यदि कोई अपने स्वामी से सहवास के फलस्वरूप कोई दासी पुत्र को जन्म देती थी तो न केवल वह कानूनी तौर पर स्वतंत्र हो जाती थी बल्कि उसका पुत्र उसके स्वामी के पुत्र के समान कानूनी हैसियत का हकदार होता था। संभव है कि मेगास्थनीज ने गलती से जाति-व्यवस्था को स्वतंत्रता के क्रमिक परिमाणों से परिभाषित सोपानीकरण की व्यवस्था समझ लिया। यद्यपि यूनानी समाज व्यवहार में अस्वतंत्रता के अलग-अलग परिमाणों को स्वीकार करता था तथापि सिद्धांततः वह केवल स्वतंत्र व्यक्ति और गुलाम में ही भेद करता था। यह भेद भारतीय समाज में बहुत स्पष्ट दिखाई नहीं देता था। भारत में गुलाम अपनी आज़ादी खरीद सकता था या उसका मालिक भी उसे आजाद कर सकता था। यदि पहले उसकी स्थिति *आर्य*की रही हो तो, *अर्थशास्त्र*के अनुसार, वह अपनी गुलामी की अवधि पूरी करके अपनी पुरानी स्थिति पुनः प्राप्त कर सकता था। शायद *आर्य*और *दास*के प्रकार्यों में आगे और परिवर्तन हुआ। भारतीय समाज में जो चीज अपरिवर्तनीय थी वह आज़ादी या गुलामी नहीं, बल्कि जाति थी। परन्तु व्यवहारतः आज़ादी और गुलामी की स्थितियां जाति-व्यवस्था में ही निहित थीं, जिसकी समग्र योजना में निचली जातियां ऊपरी जातियों की अपेक्षा कम आजाद थीं और अस्पृश्यता को गुलामी के तुल्य माना जा सकता है।

भूराजस्व कम से कम दो प्रकार का था। एक तो था जितनी ज़मीन में खेती की गई उतनी ज़मीन पर लगनेवाला कर। दूसरा था ज़मीन के उत्पादन पर कूता और वसूला गया कर। बुद्ध के जन्म-स्थान के सम्मान में लुंबिनी में स्थापित अशोक के शिलालेख में *बलि*और भाग का उल्लेख हुआ, जो शायद उपर्युक्त दो कर ही हों। दिलचस्प बात है कि उसने लुंबिनी के निवासियों को पहले कर से मुक्त कर दिया है, लेकिन उपज पर लगाया जानेवाला कर जारी रखा है। अलग-अलग क्षेत्र में कर की दर अलग-अलग होती थी। स्रोतों से मालूम होता है कि कर ज़मीन की उपज के छठे भाग से लेकर चौथे भाग तक हो सकता था। कर का हिसाब अलग-अलग किसान द्वारा जोती जानेवाली ज़मीन के रकबे और उसके उपजाऊपन के आधार पर लगाया जाता था। एक स्थल पर पिंडकर—करों के ढेर—का उल्लेख हुआ है। इससे लगता है कि कुछ मामलों में पूरे गांव से संयुक्त रूप से भी कर वसूल किया जाता था। राज्य को गड़रियों और मवेशी-पालकों पर उनके पशुओं तथा पशुओं से होनेवाले उत्पादनों को ध्यान में रखकर कर लगाने का अधिकार था। अन्य आर्थिक कार्यकलाप पर भी कर लगाए जाते थे। इन सबके लिए सामान्यार्थक *कर*शब्द का प्रयोग हुआ है। एक भिन्न प्रकार का कर *विष्टि*थी। यह कर राज्य को श्रम के रूप में दिया जाता था और इसलिए इसे कभी-कभी फ्यूडल यूरोप मे लगाए जानेवाले *कॉर्वे*नामक कर का भी पर्याय माना जाता है। यह बाधित श्रम या बेगार हो सकता

है, यद्यपि इतिहासकार इसे श्रम-कर मानते हैं, जिससे कर के बदले श्रम प्राप्त होता था। *विष्टि*का संबंध अन्य किसी भी कर की अपेक्षा व्यक्ति से अधिक है। इस काल में इसका उल्लेख अकसर शिल्पोत्पादों के संदर्भ में देखने को मिलता है। शिल्पियों को राज्य को एक निर्धारित परिमाण में निःशुल्क श्रम देना पड़ता था।

जहां राज्य सिंचाई के लिए जल की व्यवस्था करता था वहां वह उसके लिए कर की नियमित वसूली करता था। चंद्रगुप्त के एक प्रादेशिक शासक ने पश्चिमी भारत में गिरनार के निकट एक नदी पर बांध बनवाया था। इस प्रकार उस क्षेत्र को जल की आपूर्ति के लिए सुदर्शन झील का निर्माण हुआ। उसके पड़ोस से प्राप्त एक अभिलेख में उल्लेख है कि इस बांध का अनुरक्षण 800 साल तक किया जाता रहा। उसमें यह भी बताया गया है कि उसका निर्माण स्थानीय लेकिन सरकारी पहल पर हुआ था। लेकिन जब लोग निजी तौर पर सिंचाई की व्यवस्था करते थे–जैसे कुएं खुदवाना, नदियों और तालाबों से नालियां निकालना और जलोत्तोलन विधियों का उपयोग करना–तब जल-कर या तो कम कर दिया जाता था या माफ कर दिया जाता था। *अर्थशास्त्र*में सिंचाई के निजी प्रबंध को प्राथमिकता दी गई है। इस प्रकार, यद्यपि जलाशयों, तालाबों और नहरों का निर्माण तथा अनुरक्षण सरकारी काम-काज का हिस्सा था, तथापि ऐसा मानने का कोई आधार नहीं है कि सिंचाई पर नियंत्रण अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण की कुंजी था और इसलिए इस उपमहाद्वीप में निरंकुश शासन-तंत्र कायम था।

मेगास्थनीज के अनुसार, ज़मीन इतनी उपजाऊ थी कि साल में दो फसलें पैदा कर लेना मामूली बात थी। लेकिन अन्य स्रोतों में अकाल का भी जिक्र है। जैन परंपरा के अनुसार, चंद्रगुप्त मौर्य के शासन-काल के अंतिम दौर में एक अकाल पड़ा। पूर्वी भारत में महास्थान से प्राप्त एक अभिलेख में, जिसकी तिथि मौर्य काल या इसके शीघ्र बाद के काल में पड़ती है, वे उपाय बताए गए हैं जो अकाल के समय में स्थानीय प्रशासन को करने चाहिए। महाकाव्यों तथा वैदिक साहित्य से संबंधित पाठों मे बारह-बारह वर्षों के अकाल का जिक्र हुआ है, लेकिन मालूम होता है, ये उल्लेख संकट की आलंकारिक अभिव्यक्ति थे।

यदि कृषि-अर्थव्यवस्था साम्राज्य के निर्माण में सहायक सिद्ध हुई तो उधर साम्राज्य ने एक अन्य प्रकार की आर्थिक गतिविधि को भी बढ़ावा दिया। इस उपमहाद्वीप के राजनीतिक एकीकरण के प्रयत्न तथा एक स्थिर सरकार द्वारा सृजित सुरक्षा के वातावरण के फलस्वरूप विभिन्न शिल्प संघों का विस्तार हुआ और उसके परिणामस्वरूप व्यापार का। राज्य हथियार और जहाज बनानेवाले कारीगरों के किस्म के कुछ कारीगर रखता था, और उन पर कोई कर नहीं लगता था। जो अन्य कारीगर कर्मशालाओं, जैसे कताई और बुनाई की कर्मशालाओं में और राजकीय खानो में काम करते थे उनसे कर लिया जाता था। बाकी कारीगर या तो व्यक्तिगत हैसियत से काम

करते थे या कारीगरों के किसी संघ के सदस्यों के रूप में, हालांकि ज़्यादातर कारीगर इस दूसरे तरीके से ही काम करते थे। ये संघ, जो *श्रेणि*या *पुग*कहलाते थे, उत्तरोत्तर विशाल होते जानेवाले थे और इनकी संरचना में अधिकाधिक जटिलता आनेवाली थी। कारीगरों को उनमें शामिल होना लाभदायक लगता था, क्योंकि उससे अकेले काम करने पर होनेवाला खर्च बच जाता था और बड़े संगठनों से स्पर्धा करने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। राज्य की दृष्टि से देखें तो ऐसे संघों से करों की उगाही में आसानी होती थी। उधर पेशों के स्थानीकरण और वंशानुगत पेशों को प्राथमिकता दिए जाने से उन संघों में मजबूती आती थी। धीरे-धीरे उनमें ऐसी विशेषताओं का समावेश होता गया कि लगता है, वे पश्चिमी दुनिया के व्यावसायिक गिल्डों (Guilds) की तरह काम करने लगे।

सिद्धांततः व्यापार की वस्तुओं की बिक्री पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी। माल पर मुहर लगाना जरूरी होता था, ताकि उपभोक्ता नए और पुराने माल में भेद कर सकें। माल का मूल्यांकन करने से पूर्व वाणिज्य अधीक्षक से उसके चालू दाम, आपूर्ति तथा मांग की स्थिति और उत्पादन में हुए खर्च का पता लगाने की अपेक्षा की जाती थी। माल के मूल्य का पांचवां हिस्सा चुंगी की दर होता था, और उसके अलावा चुंगी का पंचमांश व्यापार कर के रूप में वसूल किया जाता था। करों की चोरी का भी दस्तावेजी प्रमाण है और मेगास्थनीज बताता है कि इसकी सजा बहुत कड़ी थी। व्यापारियों की मुनाफाखोरी को रोकने के लिए मूल्यों पर नियंत्रण रखा जाता था। मौर्य प्रशासन वाणिज्यिक स्रोतों से किस हद तक राजस्व वसूल कर पाता होगा, यह इस पर निर्भर होता होगा कि अमुक क्षेत्र या मार्ग पर उसका कितना नियंत्रण था। बैंक-व्यवस्था नहीं थी, लेकिन सूदखोरी थी। उधार की रकम का 15 प्रतिशत ब्याज की स्वीकृत दर था। लेकिन कम सुरक्षित सौदों में, जिनका संबंध लंबी समुद्री यात्राओं से होता था, यह दर 60 प्रतिशत तक जा सकती थी। इस सब पर किस हद तक अमल होता था, यह बात हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते।

शहरी केंद्रों की खुदाइयों में मौर्य स्तरों पर पूर्ववर्ती काल की तुलना में जीवन-स्तर में सुधार दिखाई देता है। घरेलू प्रयोजनों से बनवाए गए मकान ईंटों के थे, लेकिन जिन्हें पाटलिपुत्र में स्थित राजमहल और सभागार समझा जाता है वे पत्थर के बने हुए थे। मेगास्थनीज ने लिखा है कि नगर लकड़ी की विशाल चारदीवारी से घिरा हुआ था और घेरे में यथास्थान बुर्ज और द्वार बने हुए थे। इस बात की पुष्टि खुदाइयों से भी होती है। नदी के किनारे की नरम गादी मिट्टी में लकड़ी की घेराबंदी अधिक निरापद थी। लेकिन मेगास्थनीज ने इस बात का कोई जिक्र नहीं किया है कि बहुत-से मकान लकड़ी के थे और इसलिए उन्हें आग का खतरा बहुत था। उस काल का एकमात्र नगर पाटलिपुत्र ही था, जिसके स्थापत्य में स्थायित्व और भव्यता थी। ऐसे स्थापत्य को बहुधा साम्राज्य की शक्ति और उपस्थिति का

प्रतीक माना जाता है। मौर्यों के संदर्भ में वह राजधानी तक ही सीमित है। अन्यत्र साम्राज्य की उपस्थिति की अभिव्यक्ति राजा के आदेशों के शिलांकन हैं। दुर्भाग्यवश, अब पाटलिपुत्र के ठिकाने पर पटना नगर बसा हुआ है, जिससे विस्तृत खुदाई लगभग असंभव हो जाती है। शहरी केंद्रों से संबंधित विशेषताओं का स्तर मौर्यकालीन शहरी केंद्रों के स्तर के बराबर दिखाई पड़ता है। जैसे वलय-कूपों और जल-शोष गर्तों की अधिकता। लोहे के प्रयोग में परिमाणात्मक वृद्धि दिखाई देती है, साथ ही लोहे की बनी वस्तुओं में अधिक विविधता भी। उत्तरी कृष्ण पालिशदार मृद्भांड का दक्षिण भारत तक फैला होना व्यापार के विस्तार का द्योतक है।

गंगा के मैदान को छोड़ दें तो बड़े शहर एक-दूसरे से काफी दूरी पर बसे दिखाई देते हैं। महास्थान (बांग्लादेश का बोगरा जिला), शिशुपालगढ़ (उड़ीसा), अमरावती (कृष्णा डेल्टा), सोपारा (मुंबई के निकट) और कंदहार (अफगानिस्तान) का आपस में निकटतापूर्ण संपर्क रहा होगा, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इनमें से कुछ पूर्ववर्ती काल के नगरों से बड़े थे, लेकिन विस्तार में पाटलिपुत्र की बराबरी कोई नहीं कर सकता था। कुछ विद्वानों ने शिशुपालगढ़ की पहचान तोसली के रूप में की है, जो अशोक के एक राजादेश में उल्लिखित एक महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक केंद्र था और धौली में प्राप्त अभिलेख के ठिकाने से बहुत दूर नहीं पड़ता था। कलिंग की विजय तथा अमरावती की अवस्थिति को ध्यान में रखते हुए ऐसा आभास होता है कि पूर्वी तट पर कुछ गतिविधियां चलती होंगी। मौर्योत्तर काल में ये गतिविधियां इस तट पर स्थित बौद्ध ठिकानों की एक शृंखला के रूप में सामने आती हैं।

आहत सिक्के और ढले हुए तांबे के मुद्रालेखयुक्त सिक्के इन मौर्य स्तरों से जुड़े रहते हैं। जो आहत सिक्के अधिक परिमाण में मिले हैं उन पर परिचित प्रतीक दिखाई पड़ते हैं, जैसे मेहराबों पर अर्धचंद्र, पहाड़ी, वृक्षों की कतार, सूर्य और वृत्त, जिसकी परिधि तीर की शक्ल में छह स्थलों से फैली हुई है। एक जखीरे के सभी सिक्कों के कालानुक्रम का पता लगाने के लिए उन्हें पहले भार के मुताबिक व्यवस्थित किया गया और फिर उन्हें प्रतीकों के संदर्भ में देखा गया। दलील यह थी कि घिसने-छीजने के कारण अधिक पुराने सिक्कों का वजन कम होगा। लेकिन उससे कोई निर्णायक परिणाम प्राप्त नहीं हो सका।

मालूम होता है, मनुष्य और पशुओं दोनों की पक्की मिट्टी (टेराकोटा) की मूर्तियां खूब लोकप्रिय थीं, लेकिन यदि हम शैली की दृष्टि से स्तंभों के शीर्षों पर बनी पत्थर की अति परिष्कृत मूर्तियों से उनकी तुलना करें तो वे कहीं नहीं टिकतीं। ये मृन्मूर्तियां आम लोगों के उपयोग के लिए बनाई गई थीं, लेकिन पत्थर के स्तंभ और उनके शीर्ष राज-दरबार की कलात्मक अभिव्यक्तियां थे, जो उन स्तंभों पर अंकित संदेशों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते थे। मृन्मूर्तियों के सांचे बड़ी संख्या में मिले हैं, और उनमें उर्वरता की उपासना से संबंधित मूर्तियों के सांचे भी

शामिल हैं। पत्थर को काटने-तराशने के कौशल की भरपूर प्रगति हुई। यह प्रगति एक विशिष्ट सौंदर्य-बोध की अभिव्यक्ति के साथ ही तराशे पत्थर को संवारने-पोलिश करके चमकाने की विधियों से भी संबंधित थी। विद्वानों ने जिसे मौर्य परिष्कार या चमक कहा है उसे आसानी से पहचाना जा सकता है। यह परिष्कार पत्थर को एक विशेष मनोरमता प्रदान करता है। यक्ष-यक्षी की मूर्तियां पत्थर से बनाई गई हैं। इनके नमूने दीदारगंज की मूर्तियां हैं, जो शायद मौर्यकालीन हैं और जिनमें वही संवार और परिष्कार दिखाई देता है जो स्तंभों के शीर्षों पर बनाई मूर्तियों में दृष्टिगोचर होता है। धौली में चट्टान से प्रकट होता हुआ दिखाई देनेवाला पत्थर का हाथी अपेक्षाकृत अपरिष्कृत कारीगरी का नमूना है। समृद्ध और शक्तिशाली लोग स्पष्ट ही पत्थरों से तराशी गई मूर्तियां पसंद करते थे, जिनकी मामूली मृन्मूर्तियों से कोई तुलना नहीं है।

एक उपमहाद्वीपीय समाज का संयोजन

मेगास्थनीज बताता है कि मौर्य समाज के सात वर्ग थे—दार्शनिक, किसान, सैनिक, चरवाहे, कारीगर, दंडाधिकारी और पार्षद। इनकी व्याख्या जातियों के रूप में की गई है, क्योंकि वह कहता है कि किसी को भी अपने वर्ग से बाहर विवाह करने या अपना पेशा बदलने की अनुमति नहीं है। केवल दार्शनिक को ही ऐसी स्वतंत्रता है। ये सभी सात वर्ग समान नियमों का पालन नहीं करते थे। समझा जाता है कि वह जाति को भूल से पेशा मान बैठा था और सात वर्गों से उसका तात्पर्य वर्णों से था। लेकिन वर्ण तो चार ही थे, हालांकि विभिन्न प्रकार के वर्गीकरण के लिए सात की संख्या का इस्तेमाल आम तौर पर किया जाता था। ज़्यादा संभव यह दिखाई देता है कि वह जाति के सिद्धांत की चर्चा कर रहा था, क्योंकि व्यक्ति के विवाह और पेशे के निर्धारण में वर्ण की अपेक्षा जाति का अधिक महत्त्व होता था। विचित्र बात है कि उसने सामाजिक अशौच या अस्पृश्यता का कोई जिक्र नहीं किया है। कहीं ऐसा तो नहीं था कि यह इतनी जटिल प्रणाली थी कि कोई विदेशी इसे आसानी से समझ ही नहीं सकता था? या कि अभी उस पर उतने व्यापक रूप से अमल नहीं किया जाता था जितना बाद में किया जाने लगा? उसका वर्णन दिलचस्प है, सो इसलिए नहीं कि वह यथार्थ है, बल्कि इसलिए कि वह एक विदेशी आगंतुक के पर्यवेक्षण पर आधारित है और उसमें सुनी-सुनाई बातों और प्रचलित अभिधारणाओं दोनों का समावेश है।

दार्शनिकों के वर्ग में 'ब्रैचमन' और 'सरमेन', अर्थात् ब्राह्मण और श्रमण शामिल थे। तात्पर्य यह कि यहां वह वैदिक ब्राह्मणों तथा उनसे इतर श्रमणों की धार्मिक पहचानों का जिक्र कर रहा था। ये समूहवाचक संज्ञाएं थीं, जिनका प्रयोग आगे भी

होता रहा। श्रमणों में विभिन्न प्रकार के संन्यासी और साथ ही बौद्ध, जैन, आजीवक आदि संप्रदायों के भिक्षु तथा गृहस्थ अनुयायी भी शामिल थे। उनकी संख्या इतनी बड़ी थी और वे इतने प्रभावशाली थे कि उनका एक अलग वर्ग बन गया था। दार्शनिक लोग करों से मुक्त थे, इस बात की पुष्टि भारतीय स्रोतों से भी होती है, क्योंकि वे ब्राह्मणों तथा भिक्षुओं को करमुक्त बताते हैं।

किसानों के वर्ग में ज़मीन के मालिकों के अलावा शूद्र किसान और ज़मीन पर काम करनेवाले श्रमिक भी शामिल रहे होंगे। किसानों को सबसे बड़ा वर्ग बताया गया है। इससे कृषि के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है और मौर्यों की असैनिक तथा सैनिक दोनों प्रकार की संरचनाओं को कायम रखने के लिए उसकी आवश्यकता रेखांकित होती है। किसानों को नि:शस्त्र रखा जाता था, जिससे कृषक विद्रोहों की संभावना कम हो जाती थी। जब बौद्ध स्रोत किसानों पर अत्याचार की बात करते हैं तो कभी-कभी राजा के निर्वासित कर दिए जाने का भी जिक्र करते हैं। बहुधा पीड़ित किसानों के पड़ोसी राज्य में चले जाने की बात कही जाती है। बेशक, देशांतरण विद्रोह से आसान समाधान था, और यद्यपि बहुत बाद के काल में हमें किसानों के विद्रोह भी देखने को मिलते हैं लेकिन ऐसे प्रसंग बहुत कम ही आते हैं।

मेगास्थनीज सात वर्गों में से एक सैनिकों का बताता है, इससे सेना का महत्त्व उजागर होता है। रोमन सूत्रों के अनुसार, मौर्यों की स्थायी सेना नंदों से बड़ी थी। मौर्योत्तर काल में लिखते हुए प्लिनी 700 हाथियों, 1000 घोड़ों और 80,000 पैदल सैनिकों का आंकड़ा उद्धृत करता है, लेकिन प्लुटार्क पैदल सैनिकों की संख्या बढ़ाकर 600,000 लाख कर देता है। यह आंकड़ा स्पष्ट ही उसी तरह अतिरंजित है जिस तरह सिकंदर के मुकाबले में खड़ी सेना का आंकड़ा था। शांति काल में ऐसी विशाल सेना एक बोझ ही होती। मेगास्थनीज लिखता है, 'जब वे काम पर नहीं होते हैं तब वे अपना समय निठल्ला बैठकर मदिरा-पान करते हुए बिताते हैं, और उनका खर्च राजकोष से चलता है'। इस परिस्थिति में स्वभावत: खजाने को हमेशा भरा रखना जरूरी था, भले ही उसके लिए हर कर योग्य वस्तु पर कर लगाना पड़ता हो और समुदाय-के-समुदाय को नई बस्तियां बसाने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना पड़ता हो। सैनिक अभियानों में आर्थिक कठिनाइयों के कारण भी कटौती करनी पड़ी होगी। सेना में केवल क्षत्रिय ही नहीं होते थे। पैदल सैनिक, सारथी और सैनिक सेवक निचली जातियों के लोग होते होंगे। कौटिल्य का विधान है कि सैनिकों को अपने हथियार शस्त्रागार को लौटा देने चाहिए।

अन्य वर्गों में चरवाहों का एक अलग वर्ग बताया गया है, जिन्हें कबीलों के रूप में सूचीबद्ध किया गया है। ये लोग शायद पशुचारक थे,जो अब भी कुलीय पहचानों से जुड़े हुए थे। इनकी संख्या इतनी अधिक थी कि इन्हें एक वर्ग कहा जा सकता था। लगता है, उनमें खाद्य-संग्राहक और स्थानांतरण खेती करनेवाले लोग

भी शामिल थे। इनके अलावा इनमें बागवानी करनेवालों का भी समावेश रहा होगा। ये सब वनवासी लोग रहे होंगे, जिनका उल्लेख भारतीय पाठों में आटविकों के रूप में हुआ है, क्योंकि पशुचारक लोग बहुधा अपने पशु जंगलों में चराते थे और निस्संदेह जंगलों में रहनेवाले लोगों से परिचित रहे होंगे।

शिल्पियों की स्थिति उनके अलग-अलग शिल्पों पर निर्भर रही होगी। उदाहरण के लिए, हथियार और कीमती वस्तुएं बनानेवाले धातु-शिल्पियों को बुनकरों और कुम्हारों से ऊंचा स्थान दिया जाता था; गृहस्थियों की ज़रूरतें पूरी करनेवाले यायावर धातुकर्मी यद्यपि महत्त्वपूर्ण काम करते थे तथापि उनका दर्जा निम्न था। बौद्ध पाठों में धनाढ्य शिल्पियों को *गहपतियों* में शुमार किया जाता था। जिनकी आमदनी कम रही होगी वे शूद्रों में शामिल रहे होंगे। विचित्र बात है कि व्यापारियों का उल्लेख नहीं किया गया है। अलबत्ता कारीगरों के लिए यूनानी के एक ऐसे शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे शहरी लोगों का अर्थ ध्वनित होता है। हो सकता है, वे लोग छोटे व्यापारी रहे हों। दंडाधिकारी (मैजिस्ट्रेट) और पार्षद स्पष्ट ही प्रशासनतंत्र के अंग थे। सामान्यत: वे लोग ब्राह्मण या क्षत्रिय रहे होंगे, यद्यपि प्रलेखों से लगता है कि ऐसे लोगों में अपवादस्वरूप शूद्र भी शामिल होते होंगे।

मेगास्थनीज ने भारतीय समाज की जो तसवीर पेश की है उससे लगता है कि आधुनिक विद्वानों ने जितना माना था उसकी अपेक्षा वह समाज अधिक लचीला था और ऊपरी तथा निचली जातियों के बीच जो भेद किया जाता था वह आर्थिक तथा सामाजिक दोनों दर्जों पर आधारित था। मेगास्थनीज ने जो वर्णन किया है उसका एक उपयोगी पहलू यह है कि उसने ऐसे अनेक समाजों का चित्रण किया है जिन्हें मौर्य व्यवस्था एकसूत्र में बांधने की कोशिश कर रही थी। इन सबकी विलक्षणता-सूचक विशेषताओं में परिवर्तन शायद उन्हीं क्षेत्रों में आया जहां अधिक सरल और स्थानीकृत अर्थव्यवस्थाओं पर कृषि तथा वाणिज्य ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

यह कोई जरूरी नहीं था कि जाति-व्यवस्था पर आधारित समाज ब्राह्मण सिद्धांतकारों की अपेक्षा के अनुरूप सुचारु रूप से ही काम करता होगा। ब्राह्मणों की योजना में सामाजिक असमानता की वैधता एक मानी हुई बात थी। प्रथम तीन वर्ण या द्विज शूद्र और अस्पृश्य से सिद्धांतत: अधिक अधिकार-संपन्न थे। वैश्य यद्यपि नियमत: द्विज थे तथापि वे अपनी इस स्थिति से स्पष्ट रूप से लाभान्वित नहीं हो रहे थे, क्योंकि प्रथम दो वर्णों से उनका संबंध अस्पष्ट था। फिर भी व्यापार के मार्ग खुल जाने से वणिक् और व्यापारी अब तक शक्तिशाली बन गए थे। सो उनके और सामाजिक दृष्टि से श्रेष्ठतर वर्णों के बीच मुकाबले की स्थिति अनिवार्य थी। शहरी केंद्रों में श्रेणियों के नेता शहरी संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे, तथापि सामाजिक संहिता उन्हें प्रतिष्ठा की स्थिति प्रदान करने में बाधक थी।

फिर भी बौद्ध साहित्य में शहरी जीवन के जो वर्णन मिलते हैं उनमें ब्राह्मणीय नियम-कायदों के लिए ख़ास परवाह नहीं दिखाई देती, यद्यपि धर्मसूत्रों द्वारा निर्धारित नियमों को शाब्दिक दृष्टि से देखें तो उनसे अपेक्षाकृत कम अधिकारसंपन्न समूहों को क्षोभ होता होगा। ऐसे क्षोभ की आंशिक अभिव्यक्ति उनके द्वारा असनातनी संप्रदायों, विशेषतः बौद्ध धर्म को दिए जानेवाले समर्थन के रूप में हुई होगी। ब्राह्मणीय पाठों के विपरीत बौद्ध पाठों का रुख *सेट्ठियों*–वित्तदाताओं और व्यापारियों–के प्रति काफी सम्मानपूर्ण है। हो सकता है, इससे ब्राह्मणों तथा असनातनी संप्रदायों के बीच अनबन हो गई हो। अशोक ने सामाजिक सौहार्द पर बहुत ज़ोर दिया और बार-बार आग्रह किया कि लोग ब्राह्मणों तथा श्रमणों को समान सम्मान दें। इससे लगता है कि समाज में तनाव था।

स्त्रियों से संबंधित कार्यकलाप के विविध रूप हैं? इस आशय का एक कुतूहलपूर्ण उल्लेख है कि राजा के अंगरक्षकों में महिला धनुर्धर भी होती थीं, जो आखेट में भी उसके साथ रहती थीं। कुछ और समाजों में भी शाही अंगरक्षकों में महिलाएं शामिल होती थीं। इसका कारण शायद यह था कि उन्हें असंदिग्ध रूप से विश्वसनीय माना जाता था। इसके अतिरिक्त, राज्य स्त्रियों को गुप्तचरनी तथा नृत्यांगना-गायिका के रूप में भी सेवा में रख सकता था। ऊपरी जातियों की जो स्त्रियां विपन्न या विधवा हो गई हों उन्हें तथा परित्यक्ताओं और वृद्धा वेश्याओं को राज्य कताई जैसे कामों पर लगा सकता था, लेकिन उनकी आवाजाही पर प्रतिबंध रहता था। यदि कोई किसान कर्ज में पड़ जाए लेकिन उसकी ज़मीन बची हुई हो तो उसकी पत्नी से यह अपेक्षा की जाती थी कि खेती करके कर्ज उतार दे। ऊपरी जातियों की स्त्रियों से ऐसी अपेक्षा नहीं रखी जाती थी। लेकिन यदि कोई दासी अपने मालिक की संतान को जन्म दे तो उसी क्षण दोनों दासता से मुक्त हो जाती थीं। संन्यासिनियां भी होती थीं, लेकिन बहुत कम और उनका वर्णन अधिकतर साहित्यिक कृतियों में ही देखने को मिलता है, जिनमें वे दरबार के दृश्य में इधार-उधर घूमती दिखाई देती हैं। कौटिल्य बेझिझक कहता है कि वेश्याओं की कमाई पर भी कर लगाया जाना चाहिए। इससे लगता है कि उनकी संख्या इतनी तो रही ही होगी कि उनसे प्राप्त करों से खज़ाने में कुछ फर्क पड़ता होगा। राज्य को उनकी भलाई का खयाल रहता था, इसका प्रमाण यह है कि उन्हें हानि पहुंचानेवालों के लिए दंड की व्यवस्था की गई है। मालूम होता है, राजा की सहचरियां इसी पेशे से आती थीं। इन चंद समूहों को अलग रखें तो ऐसा माना जा सकता है कि स्त्रियों में से अधिकांश अपने परिवार के पुरुषों की इच्छा के अनुसार आचरण करती थीं।

आश्चर्य की बात है कि अशोक के राजादेशों में न तो वर्ण का उल्लेख हुआ है और न जाति का। इससे माना जा सकता है कि सामाजिक वर्गों के रूप में अब तक वे विशेष प्रमुखता नहीं प्राप्त कर पाए थे। लेकिन सामाजिक भेद स्पष्ट थे।

उनके सूचकों में मूर्तिकलात्मक अभिव्यक्तियों के तरीके भी शामिल हैं। जिन प्रस्तर स्तंभों पर अशोक के आदेश अंकित थे उनके शीर्षों पर पशुओं की मूर्तियां बनी हुई थीं। उनकी मुद्रा में बौद्ध दर्शन के साथ ही साम्राज्यीय विचारधारा की भी अभिव्यक्ति दिखाई देती है। इनके विपरीत, बड़ी संख्या में प्राप्त मनुष्यों तथा पशुओं की लघु मृन्मूर्तियां इस कला के लोकप्रिय रूप की द्योतक थीं, जिनकी प्रेरणा के स्रोत धार्मिक विचार थे और जो सजावटी प्रयोजनों के लिए बनाई जाती थीं।

प्रशासन और साम्राज्य

मौर्य काल की आर्थिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के कारण मौर्य प्रशासन को केंद्रीकृत नौकरशाही का रूप प्राप्त हुआ, जिस पर *अर्थशास्त्र*में तजवीज की गई संरचना की छाप थी। यदि हम यह मान लें कि यह पाठ उस काल के परिवर्तनों को प्रतिबिंबित करता है तो कह सकते हैं कि वह एक केंद्रीकृत प्रशासन की संभावनाओं को प्रस्तुत कर रहा था। लेकिन प्रशासन सचमुच किस हद तक केंद्रीकृत था और प्रशासन को किस ढंग से कार्यान्वित किया जाता था, यह जानने के लिए उन अन्य पाठों पर गौर करना आवश्यक होगा जो वर्णनात्मक होने का दावा करते हैं। समरूप तथा केंद्रीकृत प्रशासन की पूर्ववर्ती मान्यता में संशोधन की आवश्यकता है। तथापि अन्य स्रोतों से कुछ हद तक केंद्रीकरण का आभास होता है और संभव है कि जिस प्रणाली की रचना *अर्थशास्त्र*में की गई है उसके लिए सूत्र इसी से प्राप्त हुए हों। इसलिए इस प्रणाली के अंदर की विविधताओं पर दृष्टिपात करना अधिक उपयोगी हो सकता है।

मौर्य प्रणाली का नाभिकेंद्र राजा था, जिसकी शक्ति में अब तक काफी वृद्धि हो चुकी थी। अशोक इसकी व्याख्या पितृवत् राजत्व के रूप में करता था। 'सभी मनुष्य मेरी संतान हैं', यह सबको अपनी छत्रछाया में लाने का उसका नुस्खा था। अपनी प्रजा से संपर्क बनाए रखने के लिए वह अपने साम्राज्य का व्यापक दौरा करता था। कानून बनाने का मतलब मुख्य रूप से समाज में प्रचलित रीति-प्रथाओं की अभिपुष्टि करना था। इस मामले में राजा को पूरी आज़ादी थी, लेकिन उसके लिए अपने मंत्रियों से सलाह करना अपेक्षित था। मंत्रिपरिषद् की कोई सुपरिभाषित राजनीतिक हैसियत नहीं थी। उसके अधिकार राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर थे। अशोक के राजादेशों में मंत्रियों के साथ उसके बार-बार परामर्श करने के उल्लेख मिलते हैं और कहा गया है कि वह जो नियम-कानून बनाना चाहता था उनके संबंध में उन्हें सलाह देने की पूरी स्वतंत्रता थी। लेकिन अंतिम निर्णय राजा पर निर्भर था।

यदि *अर्थशास्त्र*को मौर्यों द्वारा अपनाई गई प्रशासन-व्यवस्था का मार्गदर्शक माना जा सके तो केंद्रीय प्रशासन द्वारा नियंत्रित दो मुख्य पद कोषाध्यक्ष और मुख्य समाहर्ता

के थे। कोषाध्यक्ष पर नकद आमदनी का हिसाब-किताब रखने और जिन्सी आय को भंडारित करने का दायित्व था। मुख्य समाहर्त्ता लिपिकों के एक समूह की सहायता से साम्राज्य के विभिन्न भागों से आनेवाले करों का विवरण रखता था। प्रत्येक प्रशासनिक विभाग का लेखा व्यवस्थित रूप से रखा जाता था और राजा के सभी मंत्री यह लेखा संयुक्त रूप से राजा के सामने पेश करते थे, जिसका उद्देय शायद गबन और धोखाधड़ी को रोकना था। प्रत्येक विभाग में अधीक्षकों और अवर अधिकारियों का एक बड़ा समूह होता था, जो स्थानीय प्रशासन तथा केंद्रीय सरकार से जुड़ा हुआ होता था। *अर्थशास्त्र*में जिन अधीक्षकों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है वे हैं : स्वर्ण और स्वर्णकारों का अधीक्षक, भंडार का अधीक्षक, वाणिज्य अधीक्षक, वनोत्पाद अधीक्षक, शस्त्रागार अधीक्षक, माप-तौल अधीक्षक, चुंगी अधीक्षक, बुनाई अधीक्षक, कृषि अधीक्षक, मदिरा अधीक्षक, वधशाला अधीक्षक, वेश्या अधीक्षक, जहाज अधीक्षक, गोधन अधीक्षक, अश्व अधीक्षक, हस्ति अधीक्षक, रथ अधीक्षक, पदाति अधीक्षक, पारपत्र अधीक्षक और नगर अधीक्षक।

अधिकारियों के वेतन और सार्वजनिक कार्यों पर व्यय सरकारी खर्च का मुख्य हिस्सा था। कुल राजस्व का एक चौथाई इन्हीं प्रयोजनों से सुरक्षित रखा जाता था। प्रशासन चलानेवाले लोगों के वेतनों के जो आंकड़े उपलब्ध हैं वे अर्थशास्त्र के उस मंडल में हैं जो मौर्योत्तर काल का माना जाता है। अधिकारियों का जो सोपान उभरता है वह यह समझने में कुछ सहायक है कि प्रशासन में ज़ोर कहां था। इस योजना के अनुसार उच्च अधिकारियों को अच्छे वेतन दिए जाते थे और ऐसे वेतन राजकोष पर बहुत बड़ा बोझ रहे होंगे। पुरोहित, अर्थात् मुख्य मंत्री और सेनापति 48,000 पण पाते थे और कोषाध्यक्ष तथा मुख्य समाहर्त्ता 24,000 पण। लेखाकारों, लिपिकों और सिपाहियों को 500 पण मिलते थे, जबकि मंत्रियों को 12,000 और कारीगरों को 120 पण दिए जाते थे। पण का मूल्य नहीं बताया गया है और न यही कि उक्त वेतन नकद दिए जाते थे तो कितने समय के अंतराल से दिए जाते थे। अन्य स्रोतों से कुछ तुलना की जा सकती है। बैलों के जोड़े की कीमत 24 पण थी और गुलाम की 100 पण। ये शायद वास्तविक वेतन न रहे हों, लेकिन इन आंकड़ों में जो अनुपात निहित हैं वे दिलचस्प हैं। मसलन, लिपिक के वेतन और पुरोहित के वेतन का अनुपात या सिपाही के वेतन और सेनापति के वेतन का अनुपात 1:96 आता है।

यदि ये अनुपात एक हद तक ही सही हों तो भी नौकरशाही के ऊपरी स्तरों को असाधारण रूप से अच्छे वेतन दिए जाते होंगे। सार्वजनिक कार्यों का क्षेत्र भी बहुत बड़ा था। अशोक के अभिलेखों से देखें तो इनमें सड़कों, कुओं और विश्रामस्थलों के निर्माण तथा अनुरक्षण का समावेश था। इनके अलावा, सिंचाई की परियोजनाएं थीं, जैसे सुदर्शन झील; सेना का रख-रखाव था; खानों का काम था; जिन वस्तुओं पर राज्य का एकाधिकार था—जैसे हथियारों पर—उनके उत्पादन आदि

का खर्च चलाना; और राज-परिवार धार्मिक संस्थाओं और व्यक्तियों को दान देता था, जैसे स्वयं अशोक अपनी रानी द्वारा दान दिए जाने का जिक्र करता है। इस सबके ऊपर से स्वयं राज-परिवार पर होनेवाला व्यय था।

प्रशासन, निस्संदेह, कुछ प्रचलित सिद्धांतों का पालन करने की कोशिश करता था, लेकिन उसे राजनीतिक तथा आर्थिक यथार्थ से भी सामंजस्य स्थापित करना पड़ता था। *अर्थशास्त्र*एक अत्यधिक केंद्रीकृत प्रणाली का अनुमोदन करता है, जिसमें पूरे कार्य-व्यापार पर राजा का नियंत्रण बहुत चुस्त था। मौर्य साम्राज्य जैसे विशाल क्षेत्र के लिए, जिसमें प्रबल आर्थिक एवं सांस्कृतिक विविधताएं थीं, यह बहुत कठिन रहा होगा, यद्यपि छोटे क्षेत्र, जैसे मगध के संदर्भ में ऐसा संभव रहा होगा, और मालूम होता है, मगध का शासन बहुत-कुछ वैसा ही था जैसा कौटिल्य ने तजवीज किया है। ऐसा कहना वास्तविकता के अधिक निकट होगा कि सामाजिक-आर्थिक पद्धतियों और विभेदों के साथ प्रशासन का तालमेल बैठाना पड़ता होगा। इस दृष्टि से देखें तो प्रशासन पद्धति के तीन रूपों का निर्देश किया जा सकता है। ये स्पष्ट रूप से अलग-अलग परिस्थितियों के उपयुक्त होंगे, लेकिन इसके बावजूद सब में ज़ोर राजस्व की वसूली और वितरण पर होगा।

केंद्र में मगध का मूल राज्य था। इस क्षेत्र को राज्य की सरगरमियों का लंबा अनुभव था। गंगा का मैदान निस्संदेह इसी तंत्र का अंग था। मोटे तौर पर यह अशोक के स्तंभ राजादेशों (पिलर एडिक्ट) के वितरण का क्षेत्र है। इनमें से कई स्तंभ उसके शासन का सिंहावलोकन हैं। यद्यपि इन स्तंभों के स्थानों के चयन का संबंध उनके परिवहन की सुविधा से था, तथापि यदि यह अधिकतम केंद्रीकृत शासन का क्षेत्र था, जो शायद किसी भी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा कौटिल्य की प्रणाली से अधिक निकटता रखते हुए काम करता था, तो यह एक दिलचस्प संयोग रहा होगा। मूल राज्य साम्राज्य की धुरी था, जो आय और पुनर्वितरण पर नियंत्रण रखता था। उसने रणनीतिक महत्त्व के तथा कृषि-विषयक और वाणिज्यिक संभावनाओं वाले क्षेत्रों को जीतकर अपने वर्चस्व का विस्तार किया। उन क्षेत्रों से प्राप्त राजस्व उसे समृद्धि प्रदान करता था। ऐसे क्षेत्रों को मुख्य क्षेत्र माना जा सकता है, जो पूरे उपमहाद्वीप में फैले हुए थे और मूल राज्य से भिन्न दूसरी कोटि में आते थे।

मुख्य क्षेत्रों पर केंद्र का प्रत्यक्ष नियंत्रण कम था और प्रादेशिक शासकों तथा उच्चाधिकारियों का अधिक। मौर्य प्रणाली के अंतर्गत लाए गए क्षेत्रों के रूप में उन्होंने राज्य संरचना का अनुभव दूसरे सोपान पर किया। उन्हें जीतकर उन पर राज्य थोप दिया गया, और बाद में उन्होंने अपने को नई परिस्थिति में ढाल लिया। उन्हें किसी हद तक मूल राज्य के अनुरूप बनाने के लिए साम्राज्यीय प्रशासन ने उनकी अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना करने की कोशिश की होगी। मुख्य क्षेत्रों में अशोक के राजादेश और उसके बड़े शिला-राजादेश (मेजर रॉक एडिक्ट्स) अधिक नज़दीक-

नज़दीक पाए गए हैं–जैसे गंधार, रायचूर दोआब और दक्षिण कर्नाटक में तथा कलिंग और सौराष्ट्र में। गंधार का महत्त्व यह था कि पश्चिमी एशिया के हेलनवादी राज्यों से संपर्क के मार्ग पर उसका नियंत्रण था और स्पष्ट ही वह वाणिज्यिक विनिमय का क्षेत्र था। कर्नाटक में शिलालेखों के स्थानों का चयन सोने के खनन की संभावना और ताम्रपाषाण तथा महापाषाण संस्कृतियों के लोगों की गतिविधियों से निर्धारित हुआ जान पड़ता है। शहरी केंद्र आरंभ में शायद मौर्य प्रशासनिक केंद्रों तक सीमित थे, जैसे सुवर्णगिरि में, जिसको यह संज्ञा शायद स्वर्ण-खनन क्षेत्रों से उनकी निकटता के कारण दी गई। खनन संपत्ति का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत था, और कर्नाटक में सोना मिलने के अलावा राजस्थान में तांबा और दक्षिण बिहार में लोहा मिलता था। कुछ मुख्य क्षेत्रों में वे लोग निवास करते होंगे जिनका उल्लेख अशोक के राजादेशों में हुआ है–जैसे कांबोज, योन, भोज, पितिनिक और आंध्र।

तीसरा रूप था सीमांत क्षेत्रों का, जिन्हें आकर्षण के बजाय किसी हद तक विकर्षण का क्षेत्र कहा गया है और जहां विस्तृत बस्तियां कम ही थीं। साम्राज्य के प्रशासन ने इन क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना करने की कोशिश नहीं की, बल्कि अपने क्रियाकलाप मौजूदा संसाधनों से लाभ उठाने तक ही सीमित रखे। सीमांत क्षेत्रों पर नियंत्रण का ज़रिया देश-विजय और प्रत्यक्ष प्रशासन की अपेक्षा दबदबा कायम रखना था। ऐसे क्षेत्रों को प्रायः संघात-रोध (बफर) क्षेत्र माना जाता था। ये आम तौर पर जंगली क्षेत्र होते थे, जिनसे लकड़ी, हाथी और कुछ कम कीमती पत्थर मिलते थे। यदि इन क्षेत्रों के निवासी यहां के संसाधनों का दोहन मौर्य प्रशासन से अधिक प्रभावकारी ढंग से करते रहे हों तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। प्रशासन उनसे कामचलाऊ संबंध रखता होगा और उन्हीं के माध्यम से ये संसाधन प्राप्त करता होगा। उनमें से जिन कुछेक लोगों को, जैसे आटविकों को, मौर्य साम्राज्य के दायरे में लाया गया उनका उल्लेख अशोक के राजादेशों में हुआ है।

वनवासियों के इन उल्लेखों का स्वर फुसलानेवाला भी है और धमकानेवाला भी। धमकी की ज़रूरत अतिक्रमण के प्रति वनवासियों के विरोध से उत्पन्न हुई होगी। अतिक्रमणों का संबंध हमेशा इन क्षेत्रों पर सेना या प्रशासन के नियंत्रण से ही नहीं होता होगा, बल्कि संत-संन्यासियों के आश्रमों या चरवाहों अथवा किसानों द्वारा बसाई गई बस्तियां भी अतिक्रमण की श्रेणी में आती होंगी। इस प्रकार का अतिक्रमण अधिक संकल्पयुक्त और योजनाबद्ध अतिक्रमण के अग्रदूत का काम करता होगा। वनवासियों के लिए ये लोग पराए और आक्रमणकारी थे, क्योंकि वनवासियों के आचार-व्यवहार नए बाशिंदों से भिन्न होते थे। नए बाशिंदे वनवासियों को आचारविहीन और अनबूझ मानते होंगे, और इसलिए उनके राक्षस आदि होने के मिथक की सृष्टि करते होंगे।

प्रायद्वीप में चावल की खेती करने और लोहे के उपकरणों का इस्तेमाल

करनेवाले तथा विस्तृत दफन-कर्म में विश्वास करनेवाले महापाषाण बस्तियों के समाज उन वनवासियों से अधिक जटिल थे जो उनके साथ-साथ जीते थे। महापाषाणिक अवशेषों के शिल्प-तथ्यों में मौर्य उपस्थिति उल्लेखनीय परिमाण में दिखाई नहीं देती, यद्यपि इन क्षेत्रों में अशोक के अभिलेख मिले हैं, जिनमें मौर्य प्रशासन के उल्लेख भी मिलते हैं। संभव है कि इन क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था की किसी विस्तृत पुनर्रचना के बिना स्थानीय लोगों के माध्यम से ही प्रशासन संसाधनों का लाभ उठाता होगा। कर्नाटक के स्वर्णोत्पादक क्षेत्रों में अशोक के अभिलेख समूह में मिले हैं और संभव है कि यहां से कच्चा सोना निकाला जाता होगा। इसके अलावा, इस क्षेत्र में इतनी अधिक प्रशासनिक गतिविधियों का कोई कारण नहीं दिखाई देता, हालांकि मौर्य स्तरों से सोने की वस्तुएं विरल ही मिली हैं।

मौर्य प्रशासन तथा अर्थव्यवस्था को केंद्रीय राज्य, मुख्य क्षेत्रों तथा सीमांत क्षेत्रों की दृष्टि से देखने के सुझाव से उस व्यवस्था का भ्रम नहीं पैदा होना चाहिए जिसे खंडीय राज्य कहा गया है। खंडीय राज्य से इतर ऐतिहासिक नमूनों में भी केंद्र, मुख्य और सीमांत जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए, बाजारों और उत्पादन से संबंधित वाणिज्य के विश्लेषणों में ऐसा किया गया है। यहां जो मौर्य व्यवस्था तजवीज की गई है उसका कर्मकांडी दर्जे, कर्मकांडी सोपानों या कर्मकांडी तत्वों से राजनीतिक तत्वों की पृथकता से कोई लेना-देना नहीं है। प्रशासन तथा राजस्व-संग्रह पर मौर्य नियंत्रण में अंतर नहीं था, बल्कि उस नियंत्रण के विविध तंत्र और रूप थे। उदाहरण के लिए, यह संभव है कि वनवासियों के सरदार मौर्य प्रशासन द्वारा मांगे जानेवाले वनोत्पादों की वसूली करते हों और वे वह जरिया रहे हों जिससे प्रशासन जिन्सी कर प्राप्त करता हो। अशोक वनवासियों को जिस स्वर में नसीहत देता है वह मौर्य नियंत्रण की क्षीणता का द्योतक नहीं है।

राजादेशों से स्पष्ट है कि साम्राज्य को समरूप इकाइयों से बना हुआ नहीं माना जाता था और उनमें विविध प्रकार के जन-समाजों की उपस्थिति स्वीकार की गई। ऊपर प्रशासन के जो भिन्न-भिन्न रूप सुझाए गए हैं वे इन विविधताओं को समायोजित कर लेते हैं और साथ ही साम्राज्यीय प्रशासन द्वारा प्रयोग किए जानेवाले सामान्य और समग्र नियंत्रण में कोई कमी नहीं आने देते और न इस एहसास को घटाते हैं कि मौर्य प्रणाली चाहे जितनी भी समरूप रही हो, उसका मर्मस्थल केंद्रीय राज्य था। यह बात वनवासियों को दिए गए राजा के उस वक्तव्य से स्पष्ट है जो वैसे तो समझौतापरक है लेकिन साथ ही जिसमें यह धमकी भी भरी हुई है कि ज़रूरत पड़ने पर राज्य सख्ती से भी काम ले सकता है। *अर्थशास्त्र* भी चेतावनी देता है कि कुछ स्तरों पर अदना-से होते हुए भी वनवासी लोग उस हालत में खतरनाक हो सकते हैं जब राजा उनके क्षेत्र में युद्धरत हो, और इसलिए उन्हें संदेह की दृष्टि से देखना चाहिए और संभव हो तो उन्हें खुश भी करना चाहिए। वे एक राजनीतिक

यथार्थ हैं और इसलिए उनसे चतुराई से पेश आना चाहिए। किसानों के अलावा पशुचारकों का भी उल्लेख किया गया है, और इस काल का पुरातत्व तरह-तरह की बस्तियों का संकेत देता है। इस प्रकार की विविधता का सहअस्तित्व एक समग्रतापूर्ण केंद्रीभूत दृष्टि की अपेक्षा रखता था लेकिन साथ ही वह यह तक़ाज़ा भी रखता था कि प्रशासन विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार अलग़-अलग तरीकों से पेश आए। विविधता की स्वीकृति का मतलब प्रशासन की एकाधिक पद्धति है, और इन पद्धतियों को लचीला होना चाहिए, क्योंकि विविधता साम्राज्य के विभिन्न भागों में विद्यमान थी।

प्रत्यक्ष रूप से शासित केंद्रीय क्षेत्र के अलावा साम्राज्य प्रांतों में विभाजित था, जिनमें से प्रत्येक एक राजकुमार या राज-परिवार के किसी सदस्य के शासन में था। प्रांतीय प्रशासन के केंद्र तक्षशिला, उज्जैन, धौली, सुवर्णगिरि और शायद गिरनार में स्थित थे। छोटी-छोटी इकाइयों के प्रशासन की देख-रेख करनेवाले शासक स्थानीय लोगों में से चुने जाते थे—जैसे सौराष्ट्र में तुषास्प नामक एक ईरानी और तक्षशिला में रोमीडोटे इस दायित्व का निर्वाह करता था। प्रांतीय प्रशासन का अतिरिक्त लेखा-जोखा लेने और स्थिति का प्रत्यक्ष जायजा लेने के लिए हर पांच साल बाद साम्राज्य के उच्च अधिकारी—जो *प्रादेशिक*कहलाते थे—प्रांतों का दौरा करते थे। नगरों और ग्रामीण क्षेत्रों दोनों में विशेष रूप से नियुक्त न्यायिक अधिकारी थे, जो *राजुक*कहलाते थे। वे न्यायिक कार्य करने के साथ ही करारोपण का भी दायित्व निभाते थे। *युक्तों*के दायित्वों में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं को प्रलेखबद्ध करना शामिल था। अधिकतर मामलों में सजा के तौर पर जुर्माना किया जाता था। लेकिन कुछ अपराधों को इतना गंभीर माना जाता था कि जुर्माना उनकी पर्याप्त सजा नहीं हो सकता था, और अहिंसा के प्रचार के बावजूद अशोक ने मृत्यु-दंड को कायम रखा।

*अर्थशास्त्र*में दी गई रूपरेखा के अनुसार, प्रांत को जिलों और प्रत्येक जिले को गांवों के समूहों में बांट देना चाहिए। उसकी योजना में अंतिम प्रशासनिक इकाई गांव है। इस प्रणाली को इस उपमहाद्वीप में समय-समय पर लागू किया जाता रहा है और यह लगभग अपरिवर्तित रही है। गांवों के समूह में एक लेखाकार या पटवारी तैनात करना था। उसका काम सीमाओं का ध्यान रखना, ज़मीन और पट्टों का पंजीकरण करना और जनसंख्या तथा पशुओं की संख्या का हिसाब रखना था। उसके अतिरिक्त एक कर-संग्राहक होता था, जिसका संबंध विभिन्न प्रकार के राजस्व से होता था। गांव का सर्वाधिक उल्लिखित व्यक्ति ग्राम-प्रधान है, जो कुछ-कुछ सरकारी हैसियत से काम करता था और पटवारी तथा कर-संग्राहक के प्रति जवाबदेह होता था। राजादेशों में प्रशासनिक खंडों का उल्लेख हुआ है। उनमें से एक है *आहार*, जो अपने आप में काफी दिलचस्प शब्द है, क्योंकि उसका अर्थ है संग्रह करना और खाना।

शहरी प्रशासन का अधिकारियों का अपना अलग सोपान था। नगर-अधीक्षक कानून और व्यवस्था के लिए जिम्मेदार था और नगर की स्वच्छता का ध्यान रखता था। उसकी सहायता एक लेखाकार और एक कर-संग्राहक करता था, जिसके कार्य अपने ग्रामीण प्रतिरूपों के समान थे। मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र के प्रशासन का जो वर्णन किया है उसके अनुसार, नगर का प्रशासन पांच-पांच की छह समितियों में संगठित तीस अधिकारी चलाते थे। प्रत्येक समिति निम्नलिखित में से एक-एक दायित्व का निर्वाह करती थी : औद्योगिक कलाओं से संबंधित प्रश्न; दूरस्थ स्थानों से आनेवालों का कल्याण; जन्म-मृत्यु का पंजीकरण; वाणिज्य-व्यापार से संबंधित मामले; तैयार माल की सार्वजनिक बिक्री की देख-रेख; और बेची गई वस्तुओं पर करों की वसूली (कर विक्रय-मूल्य का दस प्रतिशत होता था)। *अर्थशास्त्र*भी इसी प्रकार का प्रशासन सुझाता है और शहरी केंद्रों में उत्पादन तथा विनिमय पर नजर रखने का पक्षधर है, इसका उद्देश्य शायद राजस्व की वसूली सुनिश्चित करना था। यदि सचमुच ऐसा किया जाता था तो इससे विनिमय संबंधी सरगरमियों में बाधा तो नहीं पड़ती होगी?

क्या प्रशासन उतना ही प्रभावकारी था जितना इन कथनों से प्रतीत होता है? इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, प्रलेख रखने पर बहुत ज़ोर दिया गया है, लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसे प्रलेख शेष नहीं बचे हैं—अन्य कालों के संदर्भ में भी नहीं। जिस प्रकार का शासन सुझाया गया है उसके लिए प्रांत और केंद्र के बीच संचार अत्यावश्यक रहा होगा, लेकिन दूरियों और पाटलिपुत्र से अन्य नगरों तक राजादेशों के पहुंचने में लगनेवाले समय को देखते हुए यह बहुत कठिन रहा होगा। छोटे-मोटे कामों के बारे में तो फैसले निस्संदेह स्थानीय रूप से किए जाते थे।

मौर्य प्रशासन के लिए गुप्तचरी सरकारी गतिविधियों का स्वीकृत अंग थी। वैसे यह अन्य साम्राज्यीय प्रणालियों का भी हिस्सा थी। *अर्थशास्त्र*में गुप्तचरों का भरपूर प्रयोग करने की हिमायत की गई है और सलाह दी गई है कि उन्हें एकांतवासियों, गृहस्थों, व्यापारियों, संन्यासियों, विद्यार्थियों, भिखारिनों और वेश्याओं के भेष में काम करना चाहिए। अशोक ने भी समाचार लानेवाले और उसे लोकमत से परिचित रखनेवाले चरों का उल्लेख किया है। यह साम्राज्य के अधिक दूरवर्ती हिस्सों से भी संपर्क रखने का एक उपाय था।

अशोक का धम्म

इसी पृष्ठभूमि में अशोक ने एक ऐसे विचार का प्रतिपादन किया जो भारतीय राजनीतक तथा सामाजिक सिद्धांत के लिए नया था। हाल के वर्षों में इस विचार की ओर बहुत-से विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है, और अशोक के संबंध में जिज्ञासा की

अभिवृद्धि हुई है। यह विचार 'दर्शन' या *धम्म*की उसकी व्याख्या पर आधारित है। *धम्म*शब्द का प्रयोग उसने बार-बार किया है। यह संस्कृत शब्द *धर्म*का प्राकृत रूप है। संदर्भ के अनुसार, इसका अर्थ है सार्वजनीन नियम या सदाचार। अर्थ-विस्तार करें तो इसका तात्पर्य है उस समाज की सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था जिसमें ब्राह्मणीय आचार-विचार प्रचलित थे। बौद्ध धर्मशैक्षिक ग्रंथों में उसका प्रयोग बौद्ध धर्म के लिए किया गया। लेकिन इस काल में इस शब्द का प्रयोग अधिक सामान्य अर्थ में ही होता था, और जिस प्रकार से इसका प्रयोग अशोक ने अपने आदेशों में किया उसको ध्यान में रखकर देखें तो उसने इसे अपेक्षाकृत एक अधिक व्यापक अर्थ प्रदान किया।

अशोक से संबंधित आरंभिक कृतियों में स्वयं अशोक के राजादेशों के साथ-साथ श्रीलंका के बौद्ध इतिवृत्तों का सहारा लिया गया और उनमें स्वभावतः इन राजादेशों के बौद्ध वाचन पर ज़ोर दिया गया। माना गया कि कलिंग युद्ध के बाद वह सहसा बौद्ध हो गया, और उसके इस धर्मांतरण को नाटकीय रूप देते हुए उसे बौद्ध धर्मनिष्ठा का मूर्तिमंत रूप बताया गया। एक इतिहासकार ने तो यहां तक कह दिया कि वह एक ही साथ बौद्ध भिक्षु और राजा दोनों रहा होगा। अशोक बेशक बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुआ और उस धर्म का अनुयायी भी बन गया। लेकिन उसके काल का बौद्ध धर्म मात्र एक धार्मिक विश्वास नहीं था; बल्कि कई स्तरों पर वह एक सामाजिक तथा बौद्धिक आंदोलन भी था, जिससे सामाजिक जीवन के कई पहलू प्रभावित थे। स्पष्ट ही किसी भी जिम्मेदार और संवेदनशील राजपुरुष को अन्य बातों के अलावा बौद्ध धर्म की शिक्षा के संदर्भ में अपनी स्थिति निर्धारित करनी थी और अपने समय के समाज पर उसके प्रभाव के प्रति जागरूक होना था। अशोक के राजादेश इस संवेदनशीलता को प्रतिबिंबित करते हैं, और जिन लोगों पर वह शासन कर रहा था उनके सदाचार के प्रति उसका सरोकार भी इसी संवेदनशीलता का प्रतीक था।

गौर करने पर दिखाई देगा कि अशोक बौद्ध धर्म में अपने व्यक्तिगत विश्वास तथा उसके प्रति अपने समर्थन और एक राजा और राजपुरुष के रूप में अपने दायित्व के बीच भेद करता था, और इस दात्यिव के तहत ही उसका आग्रह था कि सभी धर्मों का सम्मान करना चाहिए। इसलिए उसके अभिलेख दो प्रकार के हैं। अभिलेखों के छोटे समूह में गृहस्थ बौद्ध के रूप में बौद्ध संघ के लिए की गई राजा की घोषणाओं का समावेश है। इन अभिलेखों में बौद्ध धर्म में उसकी श्रद्धा तथा संघ से उसके संबंधों का वर्णन है। यहां हमें एक दृढ़ श्रद्धालु का स्वर सुनाई देता है, जिसमें असहमति रखनेवालों के प्रति किसी हद तक असहिष्णुता भी है—जैसे उस अवतरण में जिसमें वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि असहमत भिक्षुओं और भिक्षुणियों को संघ से निकाल देना चाहिए। एक अन्य अभिलेख में बुद्ध की उन विभिन्न शिक्षाओं का वर्णन है जिनसे बौद्धों को और विशेष रूप से बौद्ध भिक्षुओं को अवगत होना चाहिए।

परन्तु इनसे बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण और संख्या की दृष्टि से भी बहुत ज़्यादा

वे अभिलेख हैं जिन्हें हम गुरु और लघु शिलालेखों और स्तंभ लेखों के रूप में जानते हैं। स्तंभ ऐसे स्थानों में स्थापित किए गए जहां लोगों के इकट्ठा होने की संभावना थी। साक्षरता तब उतनी व्यापक नहीं रही होगी, शायद इसी बात को ध्यान में रखकर उनके लिए ऐसे स्थान चुने गए जहां वे लोगों को पढ़कर सुनाए जा सकते थे। यह मौखिक परंपरा द्वारा विचारों के प्रचार का अंग था। इन्हें प्रजा से किए गए आग्रह कहा जा सकता है।

लघु शिलालेखों के पाठों में अशोक के बौद्ध होने की बात को दोहराया गया है, लेकिन साथ ही इनमें तथा बड़े शिलालेखों और स्तंभ लेखों में यह स्पष्ट किया गया है कि *धम्म*से उसका तात्पर्य क्या था। अशोक की उपलब्धि मौर्यकालीन भारत के संदर्भ में इस विचार के प्रतिपादन में निहित था। वह *धम्म*को औपचारिक धार्मिक विश्वास से प्रेरित सत्कर्मों से प्रतिफलित पुण्य के रूप में नहीं देखता था, बल्कि उसे वह सामाजिक नैतिकता के अनुरूप आचरण करना मानता था। कुछ इतिहासकारों ने अशोक के *धम्म*की व्याख्या बौद्ध धर्म के पर्याय के रूप में की है। उनका कहना है कि अशोक का इरादा बौद्ध धर्म का प्रचार करके उसे मौर्यों का लगभग राजधर्म बना देने का था। उसके राजादेश ऐसे किसी भी इरादे को झुठलाते हैं। शासन के बेहतर उपाय ढूंढ़ने और सामाजिक कलह तथा असहिष्णुता को कम करने के लिए वह एक बृहत्तर नैतिक धर्म का उपयोग करने के लिए फिक्रमंद दिखाई देता है। *धम्म*का उद्देश्य ऐसा मानस तैयार करना था जिसमें एक व्यक्ति के प्रति दूसरे का नैतिक व्यवहार बुनियादी चीज थी और उस व्यवहार का आधार मनुष्य की गरिमा की स्वीकृति था। उसे ऐसी भाषा में प्रस्तुत किया गया जो उस काल के विमर्श के लिए परिचित थी। जिन विचारों पर उसने ज़ोर दिया उनके कुछ सादृश्य बौद्ध धर्म की शिक्षा में अवश्य हैं लेकिन फिर भी वे समकालीन बहसों के महत्त्वपूर्ण और ऐसे विषय थे जो धार्मिक संगठनों के सरोकारों से परे थे।

*धम्म*की अवधारणा को बेहतर ढंग से समझाने का तरीका शायद यह होगा कि हम समकालीन स्थितियों के एक उत्तर के रूप में उसका विश्लेषण करें। एक हद तक तो वह एक ऐसी नीति था जो अशोक के मन में पली-बढ़ी लेकिन चूंकि उसने भी उसे मौजूदा समस्याओं के संदर्भ में ही देखा इसलिए इन्हीं की रोशनी में उसका सही मूल्यांकन हो सकता है। एक परिवार के रूप में मौर्य लोग विचारों में बहुत उदार थे, और यद्यपि वे ब्राह्मण धर्म के विरोधी नहीं थे तथापि जैन, आजीवक और बौद्ध जैसे असनातनी संप्रदायों के प्रति विशेष सहानुभूति रखते थे। ये विमत संप्रदाय ब्राह्मणीय विचारों पर आपत्ति करते थे और वैकल्पिक जीवन-पद्धति तथा चिंतन का सुझाव देते थे। वैदिक ब्राह्मणीय धर्म की वैकल्पिक विचारधाराओं की शक्ति और उन्हें प्राप्त होनेवाला समर्थन स्पष्ट था। इससे वे और अधिक स्पर्धात्मक हो गई होंगी। यह अनिवार्य था कि कभी-कभी यह स्पर्धा मुकाबले का

रूप धारण कर ले और भी तनाव थे, जिनका संबंध उदीयमान समुदायों—जैसे व्यापारिक समुदाय—के दर्जे से, शहरी केंद्रों में शिल्प-संघों के अपने अधिकार के दावे से, पहले की अपेक्षा बहुत अधिक जटिल शासन प्रणाली से और स्वयं साम्राज्य की विशालता से था।

स्पष्ट होगा कि ऐसी विविध शक्तियों के कारण सबमें यथासंभव सामंजस्य स्थापित करने के लिए किसी समग्रतापूर्ण परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता थी। साम्राज्य में अनेक सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रणालियां शामिल थीं। पश्चिमोत्तर में हेलनवादी समाज के दो भाग थे, मालिक और गुलाम। गंगा के मैदान तथा मुख्य क्षेत्रों में चार वर्णों की व्यवस्था अधिक आम थी, और ऊपर से बहुत सारी जातियां भी थीं। साम्राज्य के अनेक हिस्सों में आटविक या वनवासी लोग रहते थे, जिनमें कोई वर्ण-विभाजन नहीं था। यदि ऐसी अनेकता को तरतीब दिया जा सकता था या शायद उसमें कुछ जुड़ाव भी लाया जा सकता था तो ज़बरदस्ती करके या समझा-बुझाकर। अशोक ने दूसरा रास्ता चुना। मौर्य समाज तथा राजनीति की संरचना को देखते हुए ऐसे परिप्रेक्ष्य की सफलता के लिए जरूरी था कि वह केंद्रीय सत्ता से उद्‌भूत हो। अपने काल के बौद्धिक तथा धार्मिक प्रवाहों से प्रभावित होकर उसने एकीकरण के कुछ सिद्धांतों के एक समूह की ओर ध्यान दिया। अशोक ने *धम्म*को अपनी आवश्यकताओं के सांचे में ढाल दिया और उसे एक व्यक्तिगत परिभाषा के माध्यम से अभिव्यक्त किया।

*धम्म*के सिद्धांत ऐसे थे कि वे किसी भी धार्मिक संप्रदाय के अनुयायियों के लिए स्वीकार्य हो सकते थे। *धम्म*की परिभाषा वर्ण-कर्तव्यों और नियमों को ध्यान में रखकर नहीं की गई, और उसे अनिश्चित छोड़ दिया गया, ताकि वह सामाजिक नैतिकता की ज़रूरतों से आवश्यकतानुसार मेल खा सके। बुनियादी सिद्धांतों में अशोक ने सबसे ज़्यादा ज़ोर सहिष्णुता पर दिया। उसके अनुसार, सहिष्णुता लोगों के प्रति ही नहीं, बल्कि उनके विश्वासों और विचारों के प्रति भी होनी चाहिए। उसने बार-बार कहा कि इसका मतलब गुलामों और नौकरों की भावनाओं का खयाल रखना, गुरुओं का आदर करना, माता-पिता की आज्ञा मानना, मित्रों, परिचितों तथा रिश्तेदारों से उदारता से पेश आना, ब्राह्मणों और श्रमणों का आदर करना और उन्हें दान देना, प्राणिमात्र के प्रति दया का व्यवहार करना और हिंसा से बचना है। उसने आगे कहा:

> लेकिन देवताओं का प्रिय सम्मानपूर्ण दान देने के कर्म को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं मानता जितना सभी संप्रदायों की उन्नति को। इसका आधार अपनी वाणी पर संयम रखना है, ताकि कोई अनुपयुक्त अवसरों पर अपने संप्रदाय की प्रशंसा का पुल न बांधे और दूसरे की निंदा न करें।...प्रत्येक अवसर पर दूसरों के संप्रदाय का आदर करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करके व्यक्ति अपने संप्रदाय के प्रभाव की अभिवृद्धि करता है और दूसरों के संप्रदाय को लाभान्वित करता है, लेकिन इससे

उल्टा व्यवहार करके वह अपने संप्रदाय के प्रभाव को कम करता है और दूसरों के संप्रदाय को हानि पहुंचाता है।...इसलिए मेलजोल श्रेयस्कर है, ताकि लोग एक-दूसरे के सिद्धांतों को सुन सकें।

मेजररॉकएडिक्टXII12,अंग्रेजीअनु.आर.थापर,
अशोक एंड द डिक्लाइन ऑफ द मौर्यज, पृ. 255

मेलजोल भरे जीवन के हक में यह मतभेदों के प्रति सहिष्णुता के लिए प्रबल आग्रह है। मतभेद खुलेआम व्यक्त और स्वीकार किए जा सकते हैं, लेकिन साथ ही उन्हें सहन भी करना चाहिए। इस बात की चिंता थी कि मतभेद कहीं वैमनस्य के कारण न बन जाएं। जिन अवसरों पर वैमनस्य को प्रोत्साहन मिल सकता था या जो अवसर विरोध के आरंभ का बिंदु बन सकते थे उन्हें हतोत्साहित किया गया, जैसे सभाओं और मजमों को।

हिंसा से दूर रहना *धम्म*का एक और सिद्धांत था। उसमें युद्ध तथा हिंसा द्वारा विजय के त्याग और साथ ही जीव-हत्या से बचने का समावेश था। लेकिन अहिंसा पर अशोक के आग्रह में कट्टरता नहीं थी। वह यह स्वीकार करता था कि कुछ अवसरों पर–जैसे कि वनवासियों के उपद्रवी हो उठने पर–हिंसा अनिवार्य हो सकती है। युद्ध-जनित दु:खों पर एक हृदय-स्पर्शी अवतरण में वह घोषणा करता है कि *धम्म*का पालन करते हुए मैं भविष्य में शक्ति-प्रयोग से बचूंगा। वह यह भी कहता है कि मैं चाहूंगा कि मेरी संतानें भी युद्ध, शस्त्र-विजय से बचने की कोशिश करें, लेकिन आशा व्यक्त करता हूं कि अगर यह जरूरी ही हो जाए तो वे अधिकतम क्षमा और दया का व्यवहार करते हुए ऐसी विजय संपादित करें। उसने राजकीय पाकशाला में सामिष भोजन पकाने पर अंकुश लगाते हुए उसे केवल कुछ मृगमांस और मोर के मांस तक सीमित कर दिया। स्पष्ट ही ये उसकी पसंद के सामिष आहार थे। वह जिन पशुओं, पक्षियों और मछलियों को अवध्य घोषित करता है उनमें से कुछ विचित्र किस्म के हैं। उनमें से कुछ की अवध्यता कुछ ख़ास-ख़ास वारों तक सीमित है। इसे बहुधा वन्य जीवन रक्षा के प्रारंभिक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन इसका अधिक संभावित कारण कर्मकांडी या औषधीय प्रतीत होता है। एक अन्य राजादेश में वह मनुष्यों तथा पशुओं दोनों के लिए लाभदायक औषधीय पौधे उगाने की चर्चा करता है।

*धम्म*की नीति में प्रजा के कल्याण के लिए राज्य की चिंता का भी समावेश था। सम्राट् घोषणा करता है :

सड़कों पर मैंने वट-वृक्ष लगवाए हैं, जो पशुओं और मनुष्यों को साया देंगे। मैंने आम के बगीचे लगवाए हैं और प्रत्येक नौ मील की दूरी पर कुएं खुदवाए हैं और विश्रामालय बनवाए हैं।...और

मैंने पशुओं तथा मनुष्यों के उपयोग के लिए हर जगह जल-सुविधाओं की व्यवस्था करवाई है। लेकिन यह सुविधा महत्त्वपूर्ण है, और वस्तुतः पूर्ववर्ती राजाओं तथा मैंने संसार को अनेक प्रकार से लाभान्वित करने की ओर ध्यान दिया है। लेकिन मैंने ये कार्य इसलिए किए हैं कि मेरी प्रजा *धम्म*का पालन करे।

पिलर एडिक्ट VII, स्तंभ लेख 7, अनु. रोमिला थापर, *अशोकएंड दडिक्लाइनऑफदमौर्यज,* पृ. 265 से अनु.

उसने 'निरर्थक कर्मकांड और बलिदानों' की स्पष्ट शब्दों में निंदा की। उसकी दृष्टि में इनके पीछे अंधविश्वास काम करता था—जैसे यह विश्वास कि इनसे यात्रा शुभ होगी या रोग से शीघ्र मुक्ति मिलेगी। यह टुटपुंजिए पुरोहितों की अपनी दुकान चलाने की युक्ति थी, क्योंकि वे अपनी जीविका के लिए इसी प्रकार की चालों पर निर्भर थे। तथापि उसे *धम्म*में रुचि जगाने के लिए चमत्कारी करतबों का सहारा लेने पर कोई आपत्ति नहीं थी। यह स्पष्ट ढंग का प्रचार था।

*धम्म*की नीति को लागू और प्रचारित करने के लिए अशोक ने एक विशेष प्रकार के अधिकारियों की नियुक्ति की, जो *धम्म-महामात्त*(धर्म-महामात्र) कहलाते थे। उनका सरोकार उसकी प्रजा का कल्याण था। जैसा कि इस कोटि के अधिकारियों के मामले में अकसर होता है, यद्यपि इरादा नेक था तथपि हो सकता है, वे प्रजा के जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप करते होंगे, जिससे इस पद का प्रयोजन किसी हद तक विफल हो जाता होगा। यदि अशोक की रुचि केवल बौद्ध धर्म के प्रचार में होती तो संघ को समर्थन देना पर्याप्त होता। *धम्म-महामात्तों*की नियुक्ति से व्यापकतर सरोकार का संकेत मिलता है।

तथापि *धम्म*की नीति सफल नहीं हुई। संभव है, इसका कारण यह रहा हो कि अशोक को इस बात की ज़रूरत से ज़्यादा चिंता रही हो कि लोग उसे स्वीकार करें, या हो सकता है, इसकी वजह उसकी अपनी कमज़ोरी रही हो, जब अपने शासन के परवर्ती दौर में उस पर *धम्म*की सनक-सी सवार हो गई। समाजिक तनाव और सांप्रदायिक संघर्ष जारी रहे, या शायद उनमें कुछ तालमेल तो बैठाया गया, फिर भी वे पूरे तौर पर समाप्त नहीं हुए। फिर, भी अशोक प्रशंसा का पात्र है—सो केवल इसलिए नहीं कि उसने सामाजिक नैतिकता की आवश्यकता स्वीकार की, बल्कि इसलिए भी कि सम्राट की हैसियत से उसने इस प्रकार की नैतिकता को परिभाषित और लागू करने का प्रयत्न किया। बौद्ध परंपरा उसका चित्रण ऐसे *चक्कवत्ती* (चक्रवर्ती) के रूप में करती है जो यह सुनिश्चित करता है कि धर्मचक्र-प्रवर्तन उसके शासन का सार है। चक्रवर्तित्व यथार्थ के कथन की अपेक्षा एक अवधारणा थी। अशोक स्वयं को *चक्कवत्ती*या चक्रवर्ती नहीं कहता है, क्योंकि उसका शायद ऐसा कोई इरादा नहीं था।

साम्राज्य का पतन

लगभग सैंतीस साल के शासन के बाद, 232 ई.पू. के आसपास अशोक की मृत्यु हो गई। उसके बाद राजनीतिक ह्रास आरंभ हुआ, और साम्राज्य टूटने लगा। अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ जब अपनी सेना का निरीक्षण कर रहा था तभी उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने उसकी हत्या कर दी। पुष्यमित्र ने शुंग राजवंश की स्थापना की। तथापि सैनिक तख्ता-पलट भारत के प्रारंभिक इतिहास में विरल ही हुआ करते थे। इस घटना को बहुधा शासक की अयोग्यता के उदाहरण के रूप में पेश किया जाता है और कहा जाता है कि उसने अपने कर्मों से ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि उसे परिदृश्य पर से हटा दिया गया।

इस साम्राज्य के पतन की जो तसवीर उभरती है उसमें केंद्रीय क्षेत्र अपनी पूर्व स्थिति में कायम रहता है और मुख्य क्षेत्र स्वतंत्र राज्यों के रूप में विकसित होते हैं। गंगा का मैदान मौर्यों के अधिकार में रहा, और वह उनके उत्तराधिकारी राजवंशों के राज्य का नाभि-केंद्र बना रहा। पश्चिमोत्तर क्षेत्र बैक्ट्रियाई यूनानियों की उभरती महत्त्वाकांक्षाओं का ग्रास बन गए, और वे सीमा-पार के देशों की राजनीति से प्रभावित होते रहे। दिलचस्प बात है, लगता है कि पंजाब तथा राजस्थान के कुछ गण-संघ कायम रहे और उन्होंने अपना वर्चस्व पुनः प्राप्त कर लिया। लेकिन मध्य गांगेय मैदान के गण-संघ राजतांत्रिक शासन के वशवर्ती हो गए। यह किसी हद तक साम्राज्य के प्रशासन पर एक टीका है। साम्राज्य के अन्य भाग अर्थात् गंधार, कलिंग और पश्चिमी दकन के कुछ हिस्से-जैसे मुख्य क्षेत्र टूटकर छोटे-छोटे राज्य बन गए। उनमें से कुछ में तो कभी-कभी ही राजवंशों के प्रमाण मिलते हैं और कुछ अन्य में अपेक्षाकृत अधिक सातत्यपूर्ण राजवंशीय नियंत्रण दिखाई देता है। मौर्यों की महत्त्वाकांक्षा स्थानीय समाजों को मिटाने की नहीं थी, और न वे समाज किसी एक समरूप संस्कृति का अंग बन पाए।

अतीत में ज़ोर देकर कहा गया है कि मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण मुख्य रूप से अशोक की नीतियां थीं। उस पर अपनी बौद्ध-समर्थक नीति के कारण ब्राह्मणों को विद्रोह पर उतारू करने का आरोप लगाया गया है। लेकिन उसकी सामान्य नीति ब्राह्मणीय धर्म को क्षति पहुंचाकर बौद्ध धर्म के सक्रिय प्रचार की नहीं थी। उसे स्वीकार या अस्वीकार करने की सबको पूरी आज़ादी थी। वह बार-बार कहता है कि ब्राह्मणों तथा श्रमणों दोनों का आदर करना चाहिए। यह दिखलानेवाला कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि उस काल में वैदिक ब्राह्मणीय धर्म भारतीय उपमहाद्वीप में बहु-प्रचलित धर्म था। तब वह एक छोटे-से अल्पसंख्यक समूह का धर्म था, यद्यपि उसकी शक्ति बढ़ती जा रही थी। अशोक ने जिस हद तक बौद्ध धर्म को संरक्षण प्रदान किया उससे साम्राज्य के कुछ हिस्सों में उसका प्रचार अवश्य हुआ। लेकिन

बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार और अभिवृद्धि मौर्योत्तर काल में व्यापारिक समुदाय के बीच उसे मिलनेवाले नए संरक्षणों के कारण हुई। कहा गया है कि उसकी अहिंसा की धुन के कारण सेना कमज़ोर पड़ गई, जिससे देश के द्वार आक्रांताओं के लिए खुल गए। लेकिन सच यह है कि उसका अहिंसा का प्रचार दूसरी जरूरी बातों पर कभी हावी नहीं हुआ। इसका प्रमाण यह है कि वह अपने पुत्रों और पौत्रों को आवश्यकतानुसार हिंसा का सहारा लेने की सलाह देता है। इसके अलावा, उसके राजादेशों से यह भी ध्वनित नहीं होता कि अहिंसा की नीति का पालन करके उसने जानबूझकर सैनिक शक्ति को कमज़ोर किया।

साम्राज्य के पतन के अधिक संभावित कारण अन्यत्र दिखाई देते हैं। एक राय यह है कि मौर्य अर्थव्यवस्था पर बहुत दबाव पड़ रहा था। इस राय में साम्राज्य के पतन का अधिक संभावित कारण छिपा हुआ है, हालांकि इसकी अधिक छानबीन की आवश्यकता है। सेना के अनुरक्षण और नौकरशाही के ऊपरी स्तरों के वेतन पर होनेवाले खर्च के लिए भारी राजस्व की आवश्यकता थी। ऊपर से नए साफ किए इलाकों में बस्तियां बसाने पर भी काफी खर्च होता होगा। इससे राजकोष पर भारी दबाव पड़ा होगा। यद्यपि मौर्य शहरी ठिकानों की खुदाइयों से लगता है कि आरंभिक चरणों में अर्थव्यवस्था का विस्तार हो रहा था, तथापि उत्तर मौर्यकाल में चांदी के सिक्कों के स्तर में गिरावट के बारे में जो राय ज़ाहिर की गई है उससे एक अलग ही तसवीर उभरती है। इसका कारण अर्थव्यवस्था पर भारी दबाव बताया गया है और कहा गया है कि राजस्व के सामान्य स्रोत मौर्य राज्य के लिए पूरे नहीं रहे थे। लेकिन सिक्कों का कालानुक्रम अनिश्चित है और केवल सिक्कों के स्तर में गिरावट को राजकोषीय संकट का पर्याप्त प्रमाण नहीं माना जा सकता। कौटिल्य का सुझाव है कि वित्तीय आवश्यकता होने पर ज़मीन से साल में दो फसलें लेनी चाहिए, लेकिन कुछ इलाकों में दो फसलें लेने का चलन मौर्यकाल से पहले से ही मौजूद था।

मौर्य साम्राज्य के पतन के प्रश्न से अन्य आर्थिक कारकों का अधिक प्रत्यक्ष रिश्ता है। कौटिल्य का सुझाव है कि लगभग प्रत्येक मानवीय उपक्रम पर कर लगाना चाहिए। इससे भी राजकोषीय संकट का संकेत मिलता है। यद्यपि गंगा के मैदान में कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था प्रचलित थी तथापि पूरे साम्राज्य के आर्थिक रंग-रूप में बहुत विविधता थी।

ध्यान देने की बात है कि कृषि-क्षेत्र के विस्तार के बावजूद पूर्वी भारत में अकाल का साक्ष्य मौजूद है। इससे लगता है कि आपूर्ति का तंत्र पर्याप्त नहीं था। इस विविधता के कारण राज्य में शायद आर्थिक संतुलन नहीं स्थापित हो पाया होगा। कृषि-प्रधान प्रदेशों से प्राप्त राजस्व पूरे साम्राज्य को संभालने की दृष्टि से पर्याप्त नहीं हो पाता होगा। ऐसा संभव दिखाई देता है कि मौर्य साम्राज्य ज़रूरत पड़ने पर

राजस्व का दोहन करके ही संतुष्ट था, और उसने अर्थव्यवस्था को इस हद तक पुनर्गठित नहीं किया कि वह साम्राज्यीय प्रणाली को दीर्घकालीन समर्थन दे पाती। साम्राज्य के गंधार तथा कलिंग जैसे मुख्य क्षेत्रों के आर्थिक विकास का नतीजा यह हुआ कि जब साम्राज्य का पतन हुआ तो वे नए राज्यों के रूप में उभरे। इसलिए यह राय जाहिर की गई है कि भले ही मौर्य नियंत्रण शिथिल पड़ गया हो, लेकिन फिर भी वह स्थानीय आर्थिक विकास का काल था।

एक साम्राज्यीय प्रणाली के रूप में मौर्य साम्राज्य विश्व के अन्य हिस्सों के साम्राज्यों की अपेक्षा अल्पायु साबित हुआ, जिसका कारण शायद यह था कि यहां की साम्राज्यीय प्रणाली के मूल में निहित विशेषताएं साम्राज्यों को दीर्घजीवी बनाने की दृष्टि से अनुकूल नहीं थीं। साम्राज्यीय संरचना को ऐसे सुगठित प्रशासन की आवश्यकता होती है जिसमें उसका सातत्य सुनिश्चि करनेवाले कारक सहज-समाहित हों। मौर्य नौकरशाही केंद्रीकृत थी और शासक या राजा वह मुख्य हस्ती था जिसके प्रति संबंधित लोगों की वफादारी होती थी। राजा बदलने का मतलब वफादारी का पुनर्विन्यास होता था, बल्कि उससे भी बदतर स्थिति यह थी कि राजा बदलने पर अधिकारी भी बदल दिए जाते थे। भर्ती की प्रणाली मनमानी थी। स्थानीय शासक अपने अधिकारी आप चुनते थे, और संभव है कि यही सिलसिला पदों के पूरे सोपान में चलता हो। यदि भर्ती का कोई ऐसा उपाय अपनाया जाता जिससे ख़ास सामाजिक समूहों और स्थानीय गुटों द्वारा प्रशासन पर एकाधिकार स्थापित कर लिए जाने की संभावना मिट जाती तो उक्त स्थिति से बचा जा सकता था। किसी संस्था के निर्माण के लिए व्यक्तिगत सरोकारों और पसंदों से एक हद तक छुटकारा पाना जरूरी होता है और इनके स्थान पर सामाजिक और नागरिक सरोकारों को प्रतिष्ठित करना आवश्यक होता है।

लोकमत को स्थिरता प्रदान करने वाली किसी प्रातिनिधिक संस्था के अभाव के कारण समस्या और कठिन हो गई होगी। मौर्य तथा अन्य प्राचीन साम्राज्य भी जिस प्रणाली का प्रयोग करते थे वह थी गुप्तचरी। इससे राजनीतिक तथा प्रशासनिक दोनों प्रकार के कार्यों में बहुत तनाव पैदा हो गए होंगे। *अर्थशास्त्र*का मिजाज प्रतिनिधित्व की भावनाओं के खिलाफ है, चाहे प्रतिनिधित्व जितने भी सीमित किस्म का हो। इसी तरह वह निर्णय करने में अधिक लोगों की भागीदारी के विरुद्ध है। यह बात उस मंडल में देखी जा सकती है जिसमें गण-संघों में फूट डाल कर उन्हें मिटा देने की विभिन्न युक्तियां सुझाई गई हैं। उन्हें न केवल जीतकर अपने राज्य में मिला लेना है, बल्कि प्रणाली के रूप में ही उनका मूलोच्छेद कर देना है। भले ही गण-संघ प्रणाली ठीक-ठीक प्रातिनिधिक प्रणाली न रही हो, फिर भी वह राजतंत्र की अपेक्षा सत्ता के अधिक व्यापक वितरण का अनुमोदन करती थी।

राजनीतिक वफादारी के आवश्यक तत्त्वों में राज्य के प्रति वफादारी का समावेश

है, और राज्य की अवधारणा राजा और सरकार की अवधारणा से अलग और उसके अतिरिक्त है। राजतांत्रिक प्रणाली, जो अधिकाधिक परिमाण में धार्मिक रूढ़िवाद पर निर्भर होती जा रही थी, राज्य की अवधारणा को धुंधला किए दे रही थी, और राज्य की अपेक्षा वफादारी की पात्र सामाजिक व्यवस्था बन गई थी। जाति तथा राजनीति की अंतर्निर्भरता के कारण धीरे-धीरे जाति को राजनीतिक संस्थाओं के मुकाबले अधिक ऊंचा दर्जा किया जाने लगा। यह बात एक हद तक राजत्व और राजा के कर्त्तव्यों के प्रति बदलते दृष्टिकोणों में देखी जा सकती है। आरंभ में ब्राह्मणीय स्रोतों में राजा के देवत्व पर ज़ोर दिया गया, लेकिन बौद्धों तथा जैनों ने राज्य के उद्भव के लिए अनुबंधात्मक अवधारणा का सूत्रपात किया। एक नियंत्रक सत्ता की आवश्यकता पर ज़ोर देने के लिए बाद में ब्राह्मणीय स्रोतों ने भी अनुबंध की कल्पना दाखिल कर दी। न केवल राजा पर देवत्व आरोपित किया गया, बल्कि उसके स्थान और सत्ता को मनुष्यों और देवताओं के बीच एक अनुबंध का परिणाम बताया गया। मत्स्यन्याय के पूर्ववर्ती सिद्धांत में अराजकता का भय दिखलाया गया था और बताया गया था कि राजहीन समाज में अराजकता फैलना अवश्यंभावी था।

*अर्थशास्त्र*में राज्य के *सप्तांग*सिद्धांत में उसके घटकों का विवेचन किया गया है। राज्य के ये सात अंग थे : राजा, प्रदेश, प्रशासन, राजकोष, राजधानी, दंड-शक्ति और मित्र। ब्राह्मणीय पाठों में राज्य के आवश्यक अंगों के रूप में दो तत्वों पर विशेष ज़ोर दिया जा रहा था। एक था दंड, जिससे राज्य को उसकी न सुननेवाले और कानून की अवमानना करनेवाले को दंडित करने की शक्ति प्राप्त होती थी। दूसरा था वर्णाश्रम धर्म, जो अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। धीरे-धीरे यह धर्म स्वयं राज्य पर हावी हो गया और उसके समक्ष राज्य गौण हो गया। इसका मूल इस विचार में निहित था कि राजा का कर्तव्य अपनी प्रजा की रक्षा करना और वर्णाश्रम धर्म का पालन सुनिश्चित करना है। वर्णाश्रम धर्म का मतलब था धर्मशास्त्रों में प्रस्तुत सामाजिक कर्तव्यों तथा दायित्वों की स्वीकृति। बौद्धों की अपेक्षा भिन्न प्रकार की थी, क्योंकि उसके अनुसार राजा को न्यायसम्मत ढंग से शासन करना चाहिए, जिसका मतलब था वर्ण का कोई खयाल किए बिना समस्त प्रजा का कल्याण सुनिश्चित करना। यदि वह ऐसा करेगा तो उसके राज्य में कानून का चक्र स्वत: ही चलायमान होगा। अन्यायपूर्ण कर्म से विधि-चक्र रुक जाएगा और भूसात हो जागा। ब्राह्मणीय स्रोत में प्रतिबिंबित राजनीतिक सिद्धांत में आनुभविक स्तर पर उच्चतम सत्ता राजा को और सैद्धांतिक स्तर पर धर्म को दी गई। धर्म क्रमिक रूप से बदलता था और उसका बदलना अदृश्य होता था, जिससे उसके प्रति वफादारी निर्बाध रूप से कायम रहती थी। धर्म को स्वीकृति दैवी स्रोतों से मिलती थी, जिससे उसकी रक्षा करना पुनीत और अपरिहार्य कर्तव्य बन जाता था।

मौर्यकाल के अनेक पहलू हैं, जिनके कारण वह महान ऐतिहासिक रुचि का

काल बन जाता है। राज्य अनेक गतिविधियों पर अपना नियंत्रण रखता था और स्वयं वह राजस्व वसूली की प्रणालियों पर टिका हुआ था। इसलिए असली महत्त्व नियंत्रण के अभिकर्ता के रूप में राज्य का था। इस नियंत्रण के औज़ार प्रशासनिक पदाधिकारी थे, जिनका काम राजस्व के स्रोतों का अनुमान लगाना और करों की वसूली करना था। राज्य और किसानों और राज्य तथा कारीगरों का सीधा संबंध था, जिसमें कोई बिचौलिया नहीं आता था और यदि कोई बिचौलिया था तो सिर्फ नौकरशाही। किसान मुख्य रूप से स्वतंत्र था। जहां वह राज्य की भूमि पर काम करता था वहां उसकी स्वतंत्रता अवश्य बाधित थी, लेकिन इस मामले में भी उसे तरह-तरह के पट्टों का लाभ मिलता होगा। लेकिन मालूम होता है, कृषि का विस्तार करने में राज्य पहलकदमी करता था। किसानों के असंतोष की अभिव्यक्ति मुख्य रूप से देशांतरण के रूप में होती थी, लेकिन तब भी राज्य को नए क्षेत्रों में बस्तियां बसाने की सलाह दी जा रही थी। विनिमय की प्रणालियां अनेक थीं, ढले-गढ़े सिक्कों की भूमिका स्पष्ट थी, और व्यापार की जो शक्तियां थीं, उन्हें समायोजित करने की शुरुआत हो गई थी। अशोक के राजादेशों में वर्ण शब्द की अनुपस्थिति से लगता है कि अन्य सामाजिक कोटियां—जैसे परिवार, कुल और संप्रदाय—अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। वर्ण कोटियों का पालन, उदाहरणार्थ, ब्राह्मणों के संदर्भ में किया जाता होगा, लेकिन परिदृश्य में जातियां अधिक प्रमुख थीं। इसका निकट-संबंध असनातनी संप्रदायों के प्रचलन और उन्हें दिए जानेवाले संरक्षण से रहा होगा। मौर्योत्तर काल में ये पहलू धीरे-धीरे बदल गए और पहली सहस्राब्दी ई. के मध्य तक इनका स्थान अन्य रूपों ने ले लिया, जिन्होंने ऐतिहासिक गतिविधियों को एक नई दिशा दी।

दूसरी सदी ई.पू. के पूर्वार्ध में भारत के साम्राज्यीय शासन का पहला प्रयोग समाप्त हो गया। अन्य प्रयोग बाद की सदियों में किए जानेवाले थे, लेकिन स्थितियां तब वही नहीं रहीं। मौर्य राज्यव्यवस्था में, विशेष रूप से उसके जनक क्षेत्र में, जितना केंद्रीय नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया गया उतना नियंत्रण स्थापित करना बाद के काल में उत्तरोत्तर कठिन होता गया। वस्तुतः राजा ने अधिकारियों तथा भूस्वामियों को काफी अधिकार सौंप दिए और फलतः वे राजा तथा प्रजा के बीच मध्यवर्ती वर्ग के रूप में उभर आए। साम्राज्य स्थापित करने की आकांक्षा तिरोहित नहीं हुई, लेकिन अब वह प्रेरणा और तीव्रता नहीं रही जो प्रथम साम्राज्य के साथ जुड़ी हुई थी। और इससे बड़ी बात यह है कि शासक के रूप में अशोक वह एकमात्र हस्ती बना रहता है जिसमें सामाजिक नैतिकता के लिए प्रतिबद्धता थी। यह भारतीय इतिहास में अद्वितीय है और अन्य समाजों के इतिहासों में भी विरल।

अध्याय : सात

बातें राजनीति और व्यापार की

लगभग *200* ई.पू. - *300* ई.

शुंग, खारवेल, अल्पतंत्र

मौर्य काल के पश्चात् भारत में राजनीतिक घटनाएं विकेंद्रित हो गईं, जिनसे अनेक राजा,अनेक संवत् और अनेक जन-समाज जुड़े दिखाई देते हैं। साक्ष्यों के स्रोतों में पूर्ववर्ती काल से भी अधिक विविधता आ जाती है और पाठों की बात करें तो दूर-दूर के देशों के प्रासंगिक पाठों तक का सहारा लिया गया है–जैसे सू–मा–चीन / सीमा क्विआन के लिखे समकालीन चीन के इतिहास का। एक ओर प्रायद्वीप और दक्षिण भारत के लोग अपनी राज्यव्यवस्थाओं को रंग-रूप देने के लिए प्रयत्नशील थे और समुद्री व्यापार की आहट का अनुभव कर रहे थे तो दूसरी ओर उत्तरी भारत मध्य एशिया की घटनाओं से उत्पन्न उथल-पुथल के पाश में फंस गया। मौर्यों ने न केवल इस उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में, बल्कि उससे बाहर की दुनिया में भी गतिविधियों की संभावनाओं का अवगाहन किया था और ख़ास तौर से पश्चिम की ओर ध्यान दिया था। क्षितिज का विस्तार करने और नए उपक्रमों में भाग लेने की आवश्यकता को उत्तराधिकारी राज्यों ने भी स्वीकार किया। मौर्य काल की अपेक्षाकृत सुलझी हुई तसवीर के विपरीत, विकासमान और अंतर्संबद्ध नए राज्यों की बहुलता उलझन में डालनेवाली साबित हो सकती है।

पश्चिमोत्तर की घटनाओं को प्राथमिकता देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, जिसका कारण साक्ष्यों की बहुलता है। इनमें हेलनवादी और रोमन साक्ष्य भी शामिल हैं। राजनीति का केंद्र पश्चिमोत्तर बन गया हो, ऐसा कुछ नहीं हुआ, बल्कि वस्तुतः राजनीतिक आकांक्षाओं के अनेक केंद्र थे। बड़े राज्यों के बिखराव के बाद बार-बार ऐसा होता रहा है। मौर्य साम्राज्य के टूटने के बाद इस तरह की जो परिघटना हुई उसमें अगली कुछ सदियों के दौरान नए क्षेत्रीय राज्यों के उदय और रूपाकार के

बीज विद्यमान थे। सतही तौर पर देखने से लगता है कि मौर्योत्तर काल में कोई संयोजनकारी विषय नहीं था। लेकिन वस्तुतः ऐसा विषय था, यद्यपि राजनीतिक घटनाओं में वह अधिक प्रत्यक्ष रूप में दिखाई नहीं देता है।

सिक्कों और अभिलेखों से प्राथमिक साक्ष्य मिलते हैं, लेकिन ये दोनों रूप की दृष्टि से अपने पूर्ववर्तियों, अर्थात् आहत सिक्कों और अशोक के राजादेशों से भिन्न हैं। विशेषतः हिंद-यूनानी सिक्के कलात्मक उत्कृष्टता के नमूने हैं। उनका आर्थिक मूल्य ठीक-ठीक निर्धारित है। उनसे विनिमय केंद्रों के बारे में और पश्चिमोत्तर भारत तथा उसके आसपास के क्षेत्रों के धार्मिक संप्रदायों तथा उपासनाओं के विषय में सूचना मिलती है। इस काल से अभिलेखों में या तो दान और अनुदान दर्ज किए गए हैं या वे राजाओं की प्रशस्तियां और इतिवृत्त हैं। अशोक के अभिलेखों की तरह अब राजा इन अभिलेखों में प्रजा से बात नहीं करना चाहता। या तो राजकाज के मुकाबले ये समस्याएं कम महत्त्व की हो गई थीं या, जैसा कि अधिक संभव लगता है, राजाओं में अब वैसा कुछ करने की प्रेरणा ही नहीं थी।

मौर्य साम्राज्य का जो-कुछ शेष रह गया था उसके सीधे उत्तराधिकारी शुंग थे। यह ब्राह्मणों का परिवार था, जो मौर्यों के अधिकारियों की हैसियत से काम करता रहा था। इस राजवंश का संस्थापक पुष्यमित्र मौर्यों का सेनापति था, जिसने सेना का निरीक्षण करते समय अंतिम मौर्य राजा की हत्या करके सिंहासन हड़प लिया। कालिदास के प्रेम-नाट्य *मालविकाग्निमित्रम्*में शुंग शासन का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह बौद्ध वर्णनात्मक पाठ *दिव्यावदान*की तसवीर से भिन्न है। बौद्ध स्रोत बताते हैं कि शुंगों ने बौद्धों पर अत्याचार किया और उनके विहारों तथा पूजा-स्थलों को नष्ट कर दिया। हो सकता है, यह अतिशयोक्ति हो, लेकिन पुरातात्विक साक्ष्यों से पता चलता है कि शुंग राज्य में बौद्ध स्मारक भग्नावस्था में थे और उनकी मरम्मत चल रही थी। लेकिन अगर इन स्मारकों का कालानुक्रम आगे खिसकाया जा सकता हो-और सचमुच अब ऐसा करने का सुझाव भी दिया जा रहा है-तो मरम्मत के काम को शुंगोत्तर काल का माना जा सकता है। तथापि यदि कुछ मरम्मतें बाद के काल की मानी जाएं तो भी सांची के स्तूप तथा कौशांबी के विहार के क्षतिग्रस्त होने का काल शुंग-काल ही है। इसकी और भी पुष्टि इस बात से होती है कि पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किए थे। इसे कुछ विद्वान् वैदिक ब्राह्मण धर्म को समर्थन देने और असनातनी संप्रदायों के अननुमोदन का संकेत मानते हैं। उसके इन यज्ञों का संबंध पश्चिमोत्तर में यवनों के आक्रमणों को विफल करने से भी जोड़ा जाता है।

शुंग लगातार लड़ाइयों में फंसे रहे। उन्होनें दकन में अपने दक्षिणी पड़ोसियों से लोहा लिया, पश्चिमोत्तर से हेलनवादी यूनानियों के हमलों का मुकाबला किया और दक्षिण-पूर्व में कलिंगों से युद्ध किया। मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरांत नए

राज्यों के निर्माण के लिए घोर संघर्ष हुआ। संभव है, आरंभ में शुंग राज्य में गंगा के मैदान का बहुत बड़ा हिस्सा शामिल रहा हो, यद्यपि कुछ दूरस्थ क्षेत्र शायद उनके प्रत्यक्ष नियंत्रण में नहीं थे और वे सिर्फ उनकी अधीनता स्वीकार करते थे। लेकिन सौ साल के अंदर यह राज्य मगध की सीमाओं तथा उसके कुछ परिधिवर्ती इलाकों तक सिमटकर रह गया और उस पर भी शुंगों की पकड़ कमज़ोर थी। यही स्थिति लगभग आधी सदी तक एक अन्य ब्राह्मण राजवंश, काण्वों के अधीन कायम रही। इन लोगों ने शुंगों से सिंहासन छीन लिया था और इनके राजा पहली सदी ई.पू. के उत्तरार्ध वाले दौर तक जैसे-तैसे शासन करते रहे।

इस काल की ध्यान देने योग्य एक विशेषता है पंजाब तथा हरियाणा में, ख़ास तौर से जल-विभाजक क्षेत्र के इर्द-गिर्द, और राजस्थान में कबायिली या कुल-आधारित राज्यव्यवस्थाओं का पुनरागमन। उनकी उपस्थिति की पुष्टि मख्य रूप से उनके सिक्कों से होती है, जिनसे हमें आर्जुनायनों, कुनिंदो, औदुंबरों, त्रिगर्त्तों, अगस्त्यों, शिबियों तथा यौधेयों के बारे में जानकारी मिलती है। उनमें से कुछ स्थानीय राजनीति की अपेक्षाओं के अनुसार देशांतरण करके आसपास के क्षेत्रों में जा बसे। उदाहरण के लिए, हम आभीरों को उत्तरी दकन में मौजूद पाते हैं। मालव लोग दक्षिणी राजस्थान चले गए, और हो सकता है कि बाद में 58–57 ई.पू. में आरंभ होनेवाले संवत् से उनका संबंध हो, जिसका कारण शायद उज्जैन से उनका रिश्ता था।

इनमें से कई कुलों ने क्षत्रिय दर्जे का दावा किया, जिसका निहितार्थ यह था कि वे अपने को महाकाव्य तथा आख्यानों के क्षत्रिय नायकों के वंशज मानते थे। उनके कुछ *राजाओं*ने ऐसे विरुद धारण किए जिनसे राजपद की ध्वनि आती थी, लेकिन उनके सिक्के अधिकतर गण या जनपद के नाम से ढाले जाते थे, जिससे गण-संघों की जैसी संरचना का पता चलता है। यौधेयों के मामले में हमें ऐसा ही देखने को मिलता है। राजाओं द्वारा क्षत्रियों पर आक्रमण करने के बार-बार के उल्लेख शायद इसी प्रकार की राज्य-व्यवस्थाओं की ओर संकेत करते हैं। इससे प्रकारांतर से यह बात रेखांकित होती है कि राजत्व के विकल्प के रूप में उनका राजनीतिक महत्त्व लगातार कायम रहा।

लेकिन अब तक राजतांत्रिक प्रणालियां अधिक फैल चुकी थीं। पहली सदी के मध्य में उड़ीसा-स्थित कलिंग खारवेल के अधीन एक स्वतंत्र राज्य था। यह द्वितीयक राज-संरचना का उदाहरण है, क्योंकि पहले कलिंग मौर्य व्यवस्था का एक मुख्य क्षेत्र था, और मौर्य प्रशासन के अधीन होने के कारण वहां राज्य के ढब-ढांचे की छाप पड़ चुकी थी। तोसलि-स्थित मौर्य केंद्र एक बौद्ध ठिकाने के रूप में विकसित हुआ, लेकिन कलिंग में जैन बसदियां भी थीं। स्पष्ट ही इसके लिए प्रोत्साहन खारवेल द्वारा आरंभ में जैन धर्म को दिए गए संरक्षण से प्राप्त हुआ होगा।

हाथीगुम्फा में खारवेल का एक लंबा अभिलेख मिला है, जिसमें उसका

जीवन-वृत्त लगभग वर्षवार दिया गया है। क्षतिग्रस्त होने के कारण यह अभिलेख जिज्ञासा जगा-जगाकर छोड़ देता है, और इसमें वैकल्पिक वाचनों की गुंजाइश रह जाती है। खारवेल चेदियों से संबंधित मेघवाहन वंश का था। (दिलचस्प बात है कि रामायण के शायद तीसरी सदी के जैन पाठ *पौमचरियम्* में रावण को भी इसी वंश का बताया गया है।) जैन धर्म का समर्थक होने के बावजूद खारवेल ने पड़ोसियों पर आक्रमण करके कलिंग की स्वतंत्रता की रक्षा की। खारवेल नंदों द्वारा बनवाई गई सिंचाई की नहरों का जिक्र करता है, लेकिन इस दिशा में स्वयं अपने प्रयत्नों का उल्लेख गर्व के साथ करता है। मौर्यों का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। यदि उन अंशों में उनकी कोई चर्चा की गई हो जिन्हें पढ़ा नहीं जा पाया है तो बात और है। तथापि कुछ ऐसे विचारों के संकेत दिए गए हैं जिनमें अशोक के विचारों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है—जैसे सभी संप्रदायों के प्रति खारवेल का आदर-भाव। वह प्रजा के कल्याण के लिए प्रचुर धन का निवेश करने का भी दावा करता है, यद्यपि यह अतिशयोक्ति भी हो सकता है।

यह अभिलेख किसी राजा के जीवनवृत्त का वर्णन करनेवाले आरंभिक अभिलेखों में से है, और इसलिए इसका सार किंचित् विस्तार से देना योग्य होगा, क्योंकि यह राजा की प्रशस्ति के आरंभ का द्योतक है। इस लंबे अभिलेख का रूपांतरण निम्न प्रकार होगा :

जिसने चेदि राजवंश की महिमा की अभिवृद्धि की, जो उत्कृष्ट एवं शुभ लक्षणों तथा रूपाकृति से युक्त है, जो ऐसे सद्गुणों से संपन्न है जिनकी ख्याति चारों दिशाओं तक पहुंची है, जो कलिंग का स्वामी है, उस यशस्वी खारवेल, ऐर महान् राजा, महामेघवाहन के वंशज का...अर्हतों (जिनों) को नमस्कार!

स्वस्थ एवं सुष्ठु शरीर के साथ पंद्रह वर्ष यौवन की क्रीड़ाओं में व्यतीत किए।

युवराज के रूप में नौ वर्षों तक प्रशासन का संचालन किया और उसने पत्राचार, मुद्रा, वित्त तथा नागरिक एवं धार्मिक कानूनों पर पूरा अधिकार प्राप्त किया और साथ ही विद्या की समस्त शाखाओं में पारंगत हो गया।

वयस्कता प्राप्त करने पर कलिंग के राजवंश में राजा के रूप में उसका अभिषेक हुआ। पहले वर्ष में उसने आंधी से क्षतिग्रस्त नगर के द्वारों, प्राचीरों तथा भवनों का जीर्णोद्धार कराया; नगर में झील पर बांध बनवाया, तालाब और हौद बनवाए; एवं उपवनों को पुनरुज्जीवित कराया।

ये सभी कार्य पैंतीस हजार के व्यय से संपादित किए गए, जिससे प्रजा प्रसन्न हुई।

दूसरे वर्ष में अश्वारोहियों, हस्तिसेना, पदाति और रथियों की प्रबल चतुरंगिणी सेना शातकर्णि (सातवाहन राजा) द्वारा नियंत्रित पश्चिमी क्षेत्र के विरुद्ध भेजी गई और उसने मुषिक लोगों के नगर को भी आक्रांत किया।

तीसरा वर्ष उत्सवों और सभाओं में नाट्य एवं संगीत का आनंद उठाते व्यतीत हुआ।

चौथे वर्ष में रथिकों तथा भोजकों पर आक्रमण किया गया, और उन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार की।

पांचवें वर्ष में उसने मूलतः नंदों द्वारा बनवाई गई नहर का विस्तार किया।

चूंकि वह राजसूय यज्ञ कर रहा था इसलिए उसने करों और शुल्कों से मुक्ति दी और नगर तथा राज्य की संस्थाओं को लाखों दिए।

सातवें वर्ष में उसकी पत्नी ने मातृत्व प्राप्त किया।

आठवें वर्ष में उसने मगध की राजधानी को आक्रांत किया, जिसके फलस्वरूप दिमित [हिंद-यूनानी राजा दिमित्रियस] मथुरा की ओर लौट गया।

तब और दान दिए गए— स्वर्णवृक्ष, हाथी, रथ, आवास, धर्मशालाएं, और साथ ही यह घोषणा की गई कि ब्राह्मण करों से मुक्त हैं।

अड़तीस लाख व्यय से एक राज-प्रासाद बनवाया गया।

दसवें वर्ष में उसने भारतवर्ष को जीतने के लिए एक सेना भेजी।

एक अन्य सैन्य दल दक्षिण में कृष्णा नदी की ओर गया, और उसने पिथुंड शहर पर आक्रमण किया, जिसे गधे जुते हलों से रौंद दिया गया। उसने त्रमिर (तमिल देश) के संघ को, जो कलिंग के लिए एक संकट था, छिन्न-भिन्न कर दिया।

बारहवें वर्ष में उसकी सेना उत्तर की ओर मुड़ी, जिससे मगध के लोग विचलित हो उठे। उसने जिन् की उस प्रतिमा को प्राप्त किया जिसे नंद लोग कलिंग से ले गए थे। वह मगध तथा अंग की धन-संपत्ति के साथ लौटा।

उसने बुर्जों तथा नक्काशीदार आभ्यंतरों एवं हथसालों और घुड़सालों का निर्माण करने के लिए सौ निर्माणकर्ता बसाए और उन्हें भूराजस्व से मुक्त कर दिया।

उसके दरबार में बहुमूल्य रत्न तथा दक्षिण के पांड्य राज्य से मोती लाए गए।

तेरहवें वर्ष में उसने एक जैन बसदि के भिक्षुओं को अनुरक्षण-अनुदान तथा दान दिए। संन्यासियों, मुनियों और भिक्षुओं की एक परिषद् आयोजित की गई और अर्हत के स्मृति-चिह्नों के रखने के स्थान को सज्जित किया गया। उसने जैन पाठों का संकलन करवाया।

वह शांति का, समृद्धि का, भिक्षुओं का और धर्मशिक्षा का राजा है।

वह असाधारण गुणों से संपन्न है, प्रत्येक संप्रदाय का आदर करता है और सभी पूजा-स्थलों का जीर्णोद्धार करवाता है। उसकी सेना अपराजेय है और वह अपने राज्य की रक्षा करता है। वह राजर्षि वसु के परिवार का वंशज है।

एपिग्राफियाइंडिका, जिल्द 20, पृष्ठ 71-89, के.पी. जायसवाल तथा आर.डी. बनर्जी, 'द हाथी गुंफा इंस्क्रिप्शन ऑफ खारवेल' से रूपांतरित

राजपद के समस्त लक्षणों को खूब उभारकर प्रस्तुत किया गया है—जैसे देश-विजय, दान-दाक्षिण्य तथा प्रजा के कल्याण को। आसपास की गुफाओं की मूर्तियों तथा आकृतियों में राजसीपन पर भरपूर ज़ोर दिया गया है। यदि कलिंग में अब भी कुछ सरदारतंत्र शेष थे तो इस प्रकार का दावा आवश्यक रहा होगा। रथिकों और भोजकों का उल्लेख अशोक के अभिलेखों में भी हुआ है, और बाद के सातवाहन अभिलेखों में महारथी और महाभोज का उल्लेख हुआ है, जिससे लगता है कि वे सरदार थे, जिन्हें प्रशासनिक दायित्व सौंप दिए गए थे। शिशुपालगढ़, जो एक मौर्य प्रशासनिक केंद्र था, एक विनिमय केंद्र भी था। लेकिन खारवेल ने कोई सिक्का जारी नहीं

किया और आहत सिक्के ही चलते रहे। यह संभव है कि शहर के विकास के सिलसिले में उल्लिखित बड़ी-बड़ी रकमों के बावजूद कलिंग की अर्थव्यवस्था इस स्थिति तक नहीं आ पाई थी कि वह अपने सिक्के जारी करती। वसु के वंशज के उल्लेख से तात्पर्य चेदि के राजा वसु से है, जिसके बारे में यह माना जाता था कि उसे देवताओं से एक ऐसे रथ का उपहार मिला था जो उड़ सकता था। वसु से संबंधित होने का दावा खारवेल को महाकाव्यों और पुराणों की वंशावलियों से जोड़ता है, और उड्डयनशील रथ से उसका नाता शायद रामायण के कथित रावण से जुड़ता होगा। खारवेल की मृत्यु के बाद कलिंग निष्क्रिय-सा हो जाता है।

हिंद-यूनानी और शक

ईरान में हखामनी शासन के अंत और सिकंदर की मृत्यु के फलस्वरूप सिकंदर के पूर्व सेनापतियों द्वारा शासित राज्यों का उदय हुआ। उदाहरण के लिए, सिल्युकसी राज्य का उल्लेख किया जा सकता है, जो मौर्य साम्राज्य से लगा हुआ था। दूसरी सदी ई.पू. से हेलनवादी यूनानियों और भारतीयों का मिलना-जुलना उन हेलनवादी राजाओं के माध्यम से हुआ जो सिकंदर के उत्तराधिकारियों के रूप में पश्चिमोत्तर में शासन कर रहे थे। कुछ विद्वान बैक्ट्रिया पर शासन करनेवाले यूनानो-बैक्ट्रियाइयों तथा पश्मिोत्तर भारत पर राज करनेवाले हिंद-यूनानियों में भेद करते हैं। कुछ अन्य विद्वान उन्हें हिंद-बैक्ट्रियाई यूनानी या अधिक व्यापक अर्थ में हिंद-यूनानी कहते हैं। भारतीय स्रोत उन्हें यवन कहते हैं। यह शब्द यूनानी प्रायद्वीप की मुख्य भूमि में रहनेवाले उपर्युक्त हेलनी यूनानियों और हेलनवादी यूनानियों के बीच भेद नहीं करता। हेलनवादी यूनानी या तो यूनानी मूल के थे या मिश्रित मूल के, लेकिन मोटे तौर पर यूनानी संस्कृति का अनुसरण करते थे और पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र और पश्चिम एशिया में निवास करते थे। हेलनवादी यूनानी संस्कृति की प्रेरणा का स्रोत पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र की यूनानो-रोमन संस्कृति और साथ ही ईरानी संस्कृति थी। इसके साथ ही उस पर कुछ मध्य एशियाई प्रभाव भी था। इसे आरंभिक रूप में यूनानो-रोमन औपनिवेशिक संस्कृति माना जा सकता है। तीसरी से पहली सदी ई.पू. तक राज करनेवाले इन हेलनवादी राजाओं की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएं उन्हें दो दिशाओं में खींच रही थीं। एक ओर तो वे पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र में अपना दबदबा कायम करने के लिए जद्दोजेहद कर रहे थे और दूसरी पश्चिम तथा मध्य एशिया की लाभदायक व्यापारिक सरगरमियों पर अपनी पकड़ को और भी मजबूत बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। भारतीयों का अधिक परिचय यूनानी प्रायद्वीप के यूनानियों की अपेक्षा हेलनवादी यूनानियों से रहा होगा। बाद के काल में भी यवन शब्द का प्रयोग उन सभी लोगों के लिए होता रहा जो पश्चिम एशिया से आते थे।

बैक्ट्रिया और पार्थिया के शासकों ने सिल्युकसी शक्ति के क्षय का भरपूर लाभ

उठाया और उसके नियंत्रण से खुद को मुक्त करते हुए दूसरी सदी ई.पू. आते-आते वे लगभग स्वतंत्र राजाओं की तरह व्यवहार कर रहे थे। आरंभ में इन दोनों में बैक्ट्रिया ज़्यादा ताकतवर था। यह राज्य हिंदूकुश और आमूदरिया के बीच पड़ता था। यह उपजाऊ प्रदेश था और भरपूर प्राकृतिक संसाधनों से संपन्न। उसका गंधार से काला सागर को और मध्य एशिया तथा पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्रों को जानेवाले मुख्य उत्तरी मार्गों पर नियंत्रण था। बैक्ट्रिया की यूनानी बस्तियां अपने मूल का निर्देश हखामनी काल (लगभग पांचवीं सदी ई.पू.) में करती थीं, जब फ़ारसी राजाओं ने यूनानी निर्वासितों को उस क्षेत्र में बसाया था। बैक्ट्रिया के नगरों में आ बसनेवाले यूनानी कारीगरों के कारण उनका महत्त्व और भी बढ़ा।

बैक्ट्रिया के शासनाधिकारी डियोडोटस ने सिल्युकसी राजा एंटिओकस के खिलाफ विद्रोह कर दिया। एंटिओकस विद्रोह को दबा नहीं पाया, क्योंकि उसकी मुख्य रुचि पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र में थी। फलतः डियोडोटस स्वतंत्र राजा बन बैठा। तथापि 206 ई.पू. में एंटिओकस ने सुभगसेन से मैत्री की संधि की, जिसका उद्देश्य हाथियों की आपूर्ति को जारी रखना था। सुभगसेन के बारे में हमें और कोई जानकारी नहीं है, लेकिन इस संधि से यह अवश्य प्रकट होता है कि पश्चिमोत्तर भारत ऐसी स्थिति में था कि कोई भी शक्तिशाली राजा उसे अपने राज्य में मिला ले सकता था। यूथाइदिमस (जिसने सिल्युकसी राजा को हराया था) के पुत्र दिमित्रियस अपनी सेना के साथ हिंदूकुश को लांघकर उसके दक्षिण-पूर्व में जा पहुंचा, और वहां उसने कुछ इलाकों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अंत में दिमित्रियस नामक एक व्यक्ति ने, जो शायद इस नाम का दूसरा राजा था, दक्षिणी अफगानिस्तान, पंजाब तथा सिंधु घाटी में एक विस्तृत क्षेत्र पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार पश्चिमोत्तर भारत में हिंद-यूनानी सत्ता को प्रतिष्ठित कर दिया। बैक्ट्रियाइयों ने गंगा के मैदान पर भी हमले किए, लेकिन उनका सत्ता का आधार पश्चिमोत्तर भारत और शायद पंजाब ही बना रहा। इस बात की अप्रत्यक्ष पुष्टि दूसरी सदी ई.पू. की रचना पतंजलि-कृत *महाभाष्य* से होती है। एक विशिष्ट वैयाकरण रूप के प्रयोग का उदाहरण देते हुए पतंजलि पश्चिमी गांगेय मैदान और राजस्थान पर यवनों के आक्रमणों का उल्लेख करता है।

जिस हिंद-यूनानी राजा को सबसे ज़्यादा याद किया जाता है वह निस्संदेह मेनांदर है। उसने बौद्ध पाठ *मिलिंद-पन्हों* में मिलिंद के रूप में ख्याति प्राप्त की। यह प्रश्नोत्तरों के रूप में बौद्ध धर्म की चर्चा है। माना जाता है कि ये प्रश्नोत्तर मिलिंद और बौद्ध दार्शनिक नागसेन के बीच हुए, और कहा गया है कि अंत में मिलिंद ने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया। यह वह काल था जब यूनानियों की बौद्ध धर्म में विशेष रुचि थी। इसलिए इस प्रकार का गुटका बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ होगा। अपने लगभग 150 से 135 ई.पू. तक के शासन में मेनांदर ने

हिंद-यूनानी सत्ता को स्थिरता प्रदान की और साथ ही भारत में उसका प्रादेशिक विस्तार भी किया। हमें मालूम है कि पश्चिमोत्तर में स्वात घाटी और हजारा क्षेत्र पर और साथ ही पंजाब पर भी उसका अधिकार था। उसके सिक्के उत्तर में काबुल तक और दक्षिण में मथुरा क्षेत्र तक पाए गए हैं। माना जाता है कि उसने गंगा के मैदान में भी कुछ इलाके जीते लेकिन उन पर अधिकार नहीं रख पाया। चाहे वह स्वयं पाटलिपुत्र के निकट तक नहीं पहुंच पाया हो, लेकिन पूरी संभावना है कि उसने शुंगों के यमुना-क्षेत्र के प्रदेशों पर आक्रमण किया होगा। उसकी लोकप्रियता के कारण यह कहानी प्रचलित हुई कि उसके दाह-संस्कार के बाद पश्चिमोत्तर के विभिन्न नगरों के बीच उसके भस्म के लिए आपाधापी मच गई, और उन्होंने उसके स्मृति-चिह्नों पर स्मारक बनवाए। लेकिन मालूम होता है, रोमन लेखक प्लुटार्क ने, जिसने इस कथा का वर्णन किया है, बुद्ध की मृत्यु की कथा को भूल से मेनांदर की मृत्यु की कथा के रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

लगता है, मेनांदर के बाद अभिभावक शासन का एक दौर चला, जिसके बाद स्ट्रैटो का शासन आरंभ हुआ। इस बीच बैक्ट्रिया पर यूक्रेटाइडीज के वंश का शासन था। ये लोग यूथिदेमस के शासक वंश से टूटकर अलग हो गए थे और मालूम होता है, यूथिदेमस के वंश से टूटकर प्रथम दिमित्रियस ने अलग राज्य स्थापित कर लिया था। गंधार पर बैक्ट्रियाई राजा की ललचाई दृष्टि लगी हुई थी। उसने काबुल को पार करके तक्षशिला राज्य को अपने अधीन कर लिया। लेकिन बैक्ट्रियाई तक्षशिला पर अधिक काल तक अपना आधिपत्य नहीं रख पाए।

हेलनवादी यूनानी अपनी उपस्थिति के प्रमाणस्वरूप अपने पीछे भव्य भवन और कारीगरी के छोटे-छोटे उत्कृष्ट नमूने छोड़ गए। आमूदरिया और कोकचा के संगम पर ऐखानूम, बैक्ट्रा (आधुनिक बल्ख), मर्जियाना-स्थित एंटिओक और तक्षशिला-स्थित सिरकप नगरों की खुदाइयों से नगरीय योजना की विलक्षण प्रतिभा उद्घाटित होती है। ऐखानूम का निर्माण सामान्य नगर-योजना के अनुसार किया गया। नगर के निचले हिस्से से ऊपरी किलेबंद हिस्से का अंतर स्पष्ट था। वहां पूजा-स्थल थे, नाट्यशालाएं थीं और इमारतें सुंदर स्तंभों तथा पच्चीकारी से सज्जित थीं। साथी ही घूमने-फिरने के स्थान भी थे। विकसित हेलनवादी नगर के रूप में उसकी अवस्थिति और कार्य-व्यापार से मालूम होता है कि यह मध्य एशिया में हखामनी उपस्थिति का उत्तराधिकारी था। हेलनवादी सरगरमियों के पूरे क्षेत्र में उनके सिक्के बिखरे मिले हैं। ये मुद्रा-निर्माण के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उन पर अंकित मानवाकृतियां उच्च सौंदर्य-बोध की द्योतक हैं। विचित्र बात है कि भारत में सिक्कों पर वक्षाकृति (पोर्ट्रेट) के अंकन का चलन कभी नहीं हो पाया।

हिंद-यूनानियों का इतिहास मुख्य रूप से उनके सिक्कों से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर गढ़ा गया है। बैक्ट्रिया के कुछ सिक्के एथेंस में प्रयुक्त सिक्कों (एटिक)

वाले मानदंड पर आधारित थे और उनकी तुलना एथेंस के 'उलूक' सिक्कों से की जा सकती है। इससे पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र से उनके संबंध का आभास होता है। चांदी के एथेनी उलूक सिक्के लगभग पूरे भूमध्य सागरीय क्षेत्र में वैध मुद्रा थे। इन्हें एथेनी उलूक सिक्के इसलिए कहते हैं कि इनके एक ओर एथेंस की देवी एथेना के सिर की आकृति बनी हुई है और दूसरी ओर उससे संबंधित पक्षी उल्लू की आकृति। एटिक (मुद्रा) मानदंड पर आधारित यूनानी भाषा के मुद्रालेखवाले हिंद-यूनानी सिक्के बैक्ट्रिया में चलते थे। चांदी के अपेक्षाकृत कम भारवाले सिक्कों पर द्विभाषिक मुद्रालेख होते थे–यूनानी में और खरोष्ठी या ब्राह्मी में। ये भारत के पश्चिमोत्तर में चलते थे। गरज यह कि सिक्कों के रूप और मान में क्षेत्र और आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन किए जाते थे।

हिंद-यूनानी सिक्कों ने भारतीय मुद्रा-प्रणाली में कई नई बातों का समावेश किया–जैसे सांचे में ढलाई, मुद्रालेखों का इस्तेमाल, शासकों की आकृतियां, गुंफाक्षर (मोनोग्राम) और देवी-देवताओं की आकृतियों का अंकन। इन विशेषताओं से सिक्कों को पहचानने में मदद मिलती है और जहां राजाओं के नाम एक जैसे हैं वहां भी उनका कोई अनुक्रम तैयार किया जा सकता हे। राजाओं की वक्षाकृतियां (पोर्ट्रेट) अंकित करने का भारत के अन्य हिस्सों में आम चलन नहीं हो पाया। जहां राजाओं का अंकन किसी ख़ास काम को करते हुए किया गया है, ऐसे अंकनों को वक्षाकृति नहीं कहा जा सकता। सिक्कों पर राजाओं की वक्षाकृतियों की अनुपस्थिति इस बात को देखते हुए विचित्र-सी लगती है कि यत्र-तत्र राजा की मूर्तियां बनाई गईं और उनके अभिलेखों में जीवन-चरितों के रूप में उनके साहित्यिक शब्द-चित्र देखने को मिलते हैं। देवी-देवताओं का अंकन प्रतिमा-वैज्ञानिक दृष्टि से या प्रतीकों के रूप में किया जा सकता था। ये देवी-देवता आम तौर पर शैव या भागवत संप्रदायों के अथवा बौद्ध, जैन या जरथुस्त्री धर्म के, या उन यूनानो-रोमन उपासनाओं से संबंधित होते थे जो उस काल में उस क्षेत्र में प्रचलित थीं। यह इस बात का एक और संकेत है कि दक्षिण एशियाई क्षेत्रों के राजाओं के लिए कई-कई धर्मों के संरक्षक होना आवश्यक था। स्थानीय लोगों के बीच लोकप्रिय देवी-देवताओं के अंकन से व्यापार द्वारा एक-दूसरे से जुड़े विविध प्रकार के स्थानों में सिक्कों की स्वीकार्यता बढ़ जाती थी। ऐसे अंकनों से कृष्ण वासुदेव और बलराम की उपासना जैसे संप्रदायों के उदय के काल का पता चलता है। इन दोनों का अंकन हिंद-यूनानी सिक्कों पर हुआ है। आकृतियों के चयन की दृष्टि से देखें तो अधिक व्यापक रूप से प्रचलित तांबे के सिक्कों पर अंकित आकृतियों में विविध संप्रदायों का खयाल रखा गया है और जिस संप्रदाय का ज़ोर जहां था उसे वहां के सिक्कों में प्राथमिकता दी गई है।

सिक्के भारतीय या ईरानी संस्कृतियों के साथ हेलनवादी संस्कृति के मिश्रण के प्रतीक हैं। कभी-कभी हेलनवादी देवी-देवताओं के स्थान पर पक्षियों या भारतीय

देवियों की आकृतियां अंकित की गई हैं, यद्यपि हेराक्लीज की लोकप्रियता कायम रही। दक्षिणी ताजकिस्तान में तख्त-ए-संगीन में जर्थुस्त्रियों के ईरानी अग्नि मंदिर में यूनानी सजावटों की छाप दिखाई देती है। इस मिश्रण का एक उल्लेखनीय उदाहरण पश्चिमी भारत में बेसनगर में एक स्तंभ पर अंकित अभिलेख है। यह स्तंभ बेसनगर के शायद किसी उत्तर शुंग राजा के दरबार में तक्षशिला के राजा एंटियालकिडास के दूत हेलियोडोरस ने स्थापित किया था। हेलियोडोरस खुद को वासुदेव (कृष्ण के रूप में विष्णु का अवतार) संप्रदाय का अनुयायी बताता है। तो यूनानी होते हुए भी वह वैष्णव बन गया था। हिंदू उपासना को समर्पित शायद प्राचीनतम मंदिर के अवशेष बेसनगर की खुदाइयों से मिले हैं। इसे उदीयमान भागवत संप्रदाय से संबंधित माना जाता है। इस संप्रदाय के आचार-विचारों ने सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया का मार्ग प्रशस्त किया। इन प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप वैदिक ब्राह्मणीय धर्म राज-संरक्षण से वंचित हो गया, विशेष रूप से इसलिए कि मूर्ति-पूजकों के लिए इस धर्म का कोई उपयोग नहीं था।

हेलियोडोरस अभिलेख से ठीक उल्टी स्थिति गार्गी संहिता के युगपुराण मंडल के लेखक में देखने को मिलती है, जिसका दृष्टिकोण यवनों के प्रति बहुत शत्रुतापूर्ण है। वह उन्हें नृशंस और अमानवीय व्यवहार करनेवाला बताता है। यवनों का यह दानवीकरण विचित्र-सा लगता है, क्योंकि मौर्य काल से ही वे यहां के लोगों के लिए सुपरिचित हो गए थे। ब्राह्मणों की चिढ़ का कारण शायद यह था कि ब्राह्मणों की तुलना में बौद्धों को राज-संरक्षण अधिक मिल रहा था, यद्यपि उदीयमान शैव तथा भागवत संप्रदायों को भी संरक्षण प्राप्त हो रहा था। लेकिन इन संप्रदायों को प्रदत्त संरक्षण ब्राह्मणीय धर्म को संरक्षण देना नहीं था, क्योंकि ब्राह्मणीय धर्म के आचार-विचारों का स्वरूप ही ऐसा था कि उसके द्वार यवनों और म्लेच्छों के लिए बंद थे, जिसका कारण यह था कि इन्हें जाति-वर्ण-व्यवस्था के बाहर के लोग माना जाता था। भागवत धर्म के द्वार उन लोगों के लिए भी खुले हुए थे जो जाति-वर्ण-रहित समाजों के थे, जैसे हेलनवादी यूनानी। बल्कि कभी-कभी तो उन्हें भी कोई-कोई जातीय दर्जा दे दिया जाता था। ये संप्रदाय विकासमान शहरी परिवेश में फूले-फले। नगर वैदिक ब्राह्मणीय धर्म के आचार-विचारों के लिए उपयुक्त स्थान नहीं थे।

शक, पार्थियाई, कुषाण और क्षत्रप

पश्चिमोत्तर के यूनानी राज्यों के पतन के साथ स्वयं बैक्ट्रिया पर मध्य एशिया के खानाबदोशों ने आक्रमण कर दिया। इस समय से मध्य एशिया के लोगों के उलझे हुए देशांतरण और संचलन उत्तरी भारत की घटनाओं की पृष्ठभूमि का काम करने लगे। दूसरी सदी ई.पू. के उत्तरार्ध में जिन लोगों ने आरंभ में बैक्ट्रिया पर आक्रमण

किया उनमें पार्थियाई और सीथियाई शामिल थे, जिन्हें भारतीय स्रोतों में क्रमशः पहलव और शक कहा गया है। यही लोग बैक्ट्रिया के शक्ति-क्षय के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार थे। पश्चिमोत्तर भारत में शक-पहलव शासन की स्थापना ईसवी सन् के प्रारंभ के आसपास हुई। शक लोग मध्य एशिया में इसिक्कुल झील और जक्सर्टीज नदी के आसपास निवास करते थे। उन पर यूची / यूझी लोगों ने आक्रमण कर दिया और फलतः उन्हें देशांतरण करना पड़ा। कुछ लोग दक्षिण की ओर चले गए और कुछ पश्चिम की ओर। यूची लोग मूलतः पशु-चारक थे, जिनके पशु चीन से पश्चिम के मैदानों में चरते थे।

ऐसे खानाबदोश पशु-चारक लोगों से सामान्यतः बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना करना अपेक्षित नहीं था, किंतु मौजूदा राज्यों से उनकी अंतर्क्रिया में एक ऐसा सिलसिला उभर आया जिसमें वे स्थिर समाजों पर हावी हो गए, जिसके फलस्वरूप अंततः उन्होंने राज्यों की स्थापना की। इस प्रक्रिया में स्वयं पशु-चारकों में ऐसे परिवर्तन हुए कि वे सुयोग्य शासकों के रूप में उभर आए। जहां पहले भेड़-बकरियां और घोड़े आदि पशुओं को प्राप्त करने और चरागाहों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए हमले करना और लड़ना-भिड़ना उनका आए दिन का काम था, वहीं अब वे संसाधनों के नियंत्रण और प्रबंधन में सुयोग्य रीति से जुट गए। ऐसे परिवर्तन का मूल बहुधा इस बात में निहित होता था कि संरक्षण के एवज में वे लोग स्थिर समाज से नज़राने पाते रहते थे। नज़राने प्राप्त करने से उनके कुल-प्रधानों की शक्ति बढ़ी और उन्होंने अपना एक अलग अभिजात समूह कायम कर लिया। वैसे तो वे लोग कृषक बन सकते थे, लेकिन अकसर उन्हें कृषक बनने से शासन करना अधिक रास आता था। अपने पशुचारण के परिपथों के कारण और शायद माल के परिवहन के लिए अपने पशुओं का इस्तेमाल करने की वजह से भी वे उत्पादों के विनिमय के कारोबार के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो गए और स्थिर समाजों के बीच मध्यस्थों के रूप में उन्होंने काफी प्रभावशाली स्थिति प्राप्त कर ली। पूरब की ओर घोड़ों का व्यापार चलता था और बदले में प्राप्त रेशम पश्चिम की ओर जाता था, जहां मध्य एशिया तथा उससे भी पश्चिम के बाजारों में उसकी बिक्री होती थी।

मुख्य रूप से पशु-चारक होते हुए भी मध्य एशिया के शकों में काफी परिष्कार आ गया, जो उनके दफन-कक्षों में प्रतिबिंबित होता है। लकड़ी की बनी इन विशाल कब्रों में एक प्रकार का स्थापत्य कौशल दिखाई देता है। इनके आकार अलग-अलग हैं, जिनसे सामाजिक वर्गीकरण के प्रति जागरूक समाज का आभास मिलता है। दफनाए गए सरदारों और उनके घोड़ों के साथ रखी गई कब्र-सामग्री में हथियार, घोड़े के साज तथा सामान्य उपयोग की बहु-सज्जित वस्तुएं, जिनमें अकसर सोने का भी उपयोग किया जाता था, शामिल थे शकों की गति-विधियों के लिए घोड़ा अत्यधिक महत्वपूर्ण था। इससे उन्हें तीव्र गतिशीलता प्राप्त होती थी। उन्होंने घोड़े

के साज और लगाम में काफी सुधार किए और सामासिक धनुष का आविष्कार किया। इस सबसे उनकी सैनिक प्रौद्योगिकी में काफी सुधार हुआ। समझा जाता है कि वे आदिम किस्म के रकाबों का भी उपयोग करते थे।

मध्य एशिया के भूगोल से उन्हें पशु-चारकों तथा व्यापार के मध्यस्थों के रूप में अपनी भूमिका का विस्तार करने में मदद मिली। रेगिस्तानों के बीच में उपजाऊ नखलिस्तान स्थित थे, जो कालांतर में शहरों तथा राज्यों के नाभि-केंद्र बन गए—ख़ास तौर पर उनमें से वे इलाके जो पूर्ववर्ती हखामनी उद्यमों के फलस्वरूप तथा व्यापार को हेलनवादियों द्वारा दिए गए प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप भली भांति बस गए थे। तरीम की घाटी भारतीय तथा चीनी व्यापारियों के लिए मिलन-स्थल का काम करती थी। दुनह्वांग पहले एक दुर्ग शहर था, लेकिन धीरे-धीरे वहां भरपूर व्यापारिक गतिविधियां चलने लगीं। इसलिए यदि पशु-चारकों को अपनी शक्ति की धाक जमानी थी तो उन्हें इस बात का ध्यान भी रखना था कि नखलिस्तानों से कैसा संबंध रखना है।

धीरे-धीरे जब उनके चरागाह चुकने लगे तो बीच-बीच में वे चीनी प्रदेशों पर भी हमले करने लगे, जिसका उद्देश्य केवल नए चरागाह हासिल करना ही नहीं, बल्कि स्थिर चीनी आबादी के धन पर भी हाथ साफ करना होता था। बाद में इन कबीलों के पश्चिम की ओर खिसकने का कारण चीनी सम्राट् शी हुआंग ती की कार्रवाइयों को माना जा सकता है, जिसने तीसरी सदी ई.पू. के उत्तरार्ध में खानाबदोश शियुग-नू / जिओंगनू, वू-सुन और यू-ची लोगों से चीन की सीमाओं की रक्षा करने के लिए महाप्राचीर का निर्माण कराया। शियुंग-नू लोगों को पहली सदी ई.पू. में अकाल की मार सहनी पड़ी। इसका कारण अत्यधिक बर्फवारी और पड़ोसियों के हमले थे। इसके फलस्वरूप उन्होंने देशांतरण किया और यू-ची लोगों को अपने प्रदेश से धकेल दिया। इससे मध्य एशिया में आबादी के देशांतरण का एक सिलसिला चल पड़ा, जिसका प्रभाव उत्तरी भारत पर पड़ा।

यू-ची लोगों को अपने प्रदेश से बाहर धकेल दिया गया और उन्हें दूर-दूर के इलाकों में जाकर अपने लिए ठौर ढूंढ़ना पड़ा। वे दो दलों में बंट गए। लघु (लिटल) यू-ची उत्तरी तिब्बत में बस गए और महत् (ग्रेट) यू-ची और भी पश्चिम की ओर भटकते हुए अरल झील के किनारे पहुंचे। यहां वे कुछ काल तक ठहरे और इसी दौर में उन्होंने वहां के मूल निवासी सीथियाइयों या शकों को वहां से बाहर धकेल दिया। शक लोग बैक्ट्रिया और पार्थिया में जा धमके। 128 ई.पू. में इस क्षेत्र की यात्रा करनेवाले एक चीनी ने लिखा है कि अरल झील के इलाके को शकों ने खाली कर दिया और वहां यू-ची लोग बसे हुए हैं। पार्थिया शकों को बहुत अधिक समय रोक नहीं पाया और उस पर शकों ने अधिकार कर लिया। लेकिन वहां भी शक लोग अधिक काल तक रुक नहीं पाए; आगे बढ़ते हुए सिंधु के मैदान में

उतर आए; और अनंत: पश्चिमी भारत में जमकर बैठ गए, जहां से उनके नियंत्रण की जद में मथुरा तक के प्रदेश आ गए। पश्चिम की ओर उन्होंने अपने पैर ईरान के सइस्तान क्षेत्र में जमाए। घुड़सवार पशु-चारकों में श्रेष्ठ अश्वारोही सैनिकों के रूप में उभरने की संभावना विद्यमान थी और इस संभावना को साकार करते हुए इसका उपयोग उन्होंने अपने सैनिक पराक्रमों के लिए किया।

पार्थियाई या पहलव तथा शक और यू-ची भारत में बारी-बारी से आए। विभिन्न समाजों के बीच यह संघर्ष और उथल-पुथल एक और ऐसा प्रसंग था जब मध्य एशिया के रेगिस्तानों की शुष्कता ने चीन और भारत के इतिहास को बदलकर रख दिया। पशु-चारक खानाबदोशी ने बीच-बीच में माल के विनिमय के माध्यम का भी काम किया। कुछ विनिमय तो सीधे लाभ के लिए होता था और कुछ भेंट-उपहारों के रूप में। उदाहरण के लिए, चीनी रेशम मध्य एशिया से होकर भारत और पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र में पहुंचता था। इसमें से कुछ तो उपहार-विनिमय के तौर पर भारत पहुंचता था और कुछ व्यापारिक विनिमय के रूप में भूमध्य सागरीय क्षेत्र जाता था। मध्य एशिया से आनेवाले लोग उस ऊंचे पर्वतीय तथा रेगिस्तानी मार्ग से परिचित थे जिसमें कहीं-कहीं ही कुछ सुगम नखलिस्तान मिलते थे। भारत के पश्चिमोत्तर पर्वतों के दर्रे अपने-आपमें बहुत कठिनाई भरे रहे होंगे, लेकिन भारतीय मैदानी क्षेत्रों की उर्वरता तथा संपत्ति में लोगों को अपनी भावी समृद्धि दिखाई देती होगी। भारत का आकर्षण न केवल इसकी उपजाऊ भूमि में, बल्कि यहां उत्पादित माल के व्यापार से होनेवाले लाभ में भी निहित था। रोम के व्यापार और मध्य एशिया के बीच के संबंध को समृद्धि के मार्ग के रूप में देखा जाता था, और रोम साम्राज्य के अंग के रूप में पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र तथा पश्चिमी भारत के बीच के व्यापार की भी कुछ ऐसी ही छवि उभर रही थी। यायावरी पर आधारित व्यापार वैसे तो पशु-चारकों का सहायक धंधा था, लेकिन धीरे-धीरे वह उनके अन्य कार्यकलाप पर हावी होता जा रहा था। पशु-चारक व्यापारियों के रूप में उभर रहे थे, और पशु-चारण में उपयोग किए जानेवाले अपने घोड़ों के कारण वे नए अश्वारोही सैनिक भी बन गए।

भारतीय ऐतिहासिक परिदृश्य में शकों के प्रवेश के साथ उनके सिक्कों तथा अभिलेखों के अलावा मध्य एशिया की चर्चा करनेवाले चीनी पाठ भी भारतीय इतिहास के लिए प्रासंगिक हो जाते हैं। शक राजा माउइज या मोग ने (लगभग 20 ई.पू. में) गंधार में शकों की सत्ता को प्रतिष्ठित किया। उसके एक उत्तराधिकारी आजीज ने उत्तरी भारत में अंतिम हिंद-यूनानी राजा हिपोस्ट्रैटस के प्रदेश को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। अब अजेस को 58 ई..पू. में एक संवत् प्रारंभ करने का श्रेय दिया जा रहा है, जो सदियों के दौरान कृत, मालव या विक्रमादित्य संवत् के रूप में प्रसिद्ध हुआ। कृत शब्द से लगता है कि इस संवत् का हिसाब शायद

खगोल विज्ञान में उपयोग के लिए भी लगाया जाता था, लेकिन राजा के साथ जोड़कर उसे प्रतिष्ठा प्रदान की गई। विक्रमादित्य से उसका संबंध बाद में जुड़ा और स्पष्ट ही वह संबंध मिथकीय है, क्योंकि इस नाम का कोई भी ऐसा प्रतापी राजा पहली सदी ई.पू. में दिखाई नहीं देता जो संवत् चला सके।

पहली सदी ई.पू. में ही द्वितीय मिथ्रेदेतस ने भारत में पहलव शक्ति की स्थापना की और कुछ काल बाद हम उन्हें बोनोनिस के नेतृत्व में इस देश में अपने पैर जमाते देखते हैं। और आगे चलकर हमारा साबका गोंडोफेरिस या गुंडोफर्निससे पड़ता है, जिसे इस कारण से विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई कि उसके नाम के साथ ईसा मसीह के शिष्य सेंट टामस–शंकालु टामस–का नाम जुड़ गया। परंपरा के अनुसार, टामस पूर्वी भूमध्य सागरीय प्रदेश से चलकर गोंडोफेरिसके दरबार में पहुंचे, और अंत में धर्म-प्रचार के उद्‌देश्य से दक्षिण भारत चले गए। इस प्रकार गोंडोफेरिसका काल पहली सदी ई. का पूर्वार्ध होना चाहिए। लेकिन दक्षिण भारत में ईसाई धर्म के पहुंचने का जो ऐतिहासिक साक्ष्य मिलंता है वह इससे बाद के काल का है।

शक प्रशासन मुख्य रूप से ईरान के हखामनी तथा सिल्युकसी प्रशासन की पद्धति पर चलता रहा। राज्य प्रांतों में विभाजित था। प्रत्येक प्रांत एक सैनिक शासक के अधीन था, जो महाक्षत्रप कहलाता था। प्रत्येक प्रांत उससे छोटी इकाइयों में बंटा हुआ था, जिसके शासक महाक्षपत्र से छोटे होते थे और क्षत्रप कहलाते थे। लेकिन वे चाहे जिस संवत् के हवाले से न केवल अपने अभिलेख जारी कर सकते थे, बल्कि अपने सिक्के भी ढलवा सकते थे, जिससे पता चलता है कि वे किसी सामान्य प्रशासनाध्यक्ष से अधिक स्वतंत्रता का उपभोग करते थे। उनके नाम भारतीय भी हैं और अभारतीय भी। उनमें से कुछ रुतबेदार स्थानीय लोग भी होते थे। एक और पद-नाम था मेरिडार्क, जिसका उपयोग किसी ख़ास इलाके के प्रभारी के लिए किया जाता था। दो शासकों के संयुक्त नामों से ढले सिक्कों का अर्थ यह लगाया गया है कि राजा कभी-कभी अपने साथ अपने से कमतर दर्जे के शासक को भी जोड़ लेता था। यह उन शक राजाओं से बिलकुल विपरीत स्थिति का द्योतक है जो हेलनवादी और हखामनी रिवाजों का अनुसरण करते हुए महाराजा या राजाधिराज जैसे विरुद धारण करते थे। लेकिन इस तरह के आडंबरयुक्त विरुद हाल तक खानाबदोशी का जीवन जीनेवाले शकों को कुछ अजीब-सा जरूर लगता होगा।

शकों को दक्षिण की ओर यू-ची लोगों ने धकेला था। एक चीनी स्रोत में दर्ज किया गया है कि उनके कुजुल कडफाइसिस नामक एक सरदार ने पांचों यू-ची कबीलों को एक सूत्र में बांधा और अपने नेतृत्व में उन्हें उत्तरी पर्वतों को लांघकर पश्चिमोत्तर भारत में ले आया। उसने बैक्ट्रिया में अपनी सत्ता प्रतिष्ठित की और अपना नियंत्रण काबुल और कश्मीर तक फैलाया। इस प्रकार उसने कुषाण राज्य की स्थापना की। इसकी पुष्टि उन यूनानी और लैटिन स्रोतों से भी होती है जो उत्तर के खानाबदोशों

द्वारा बैक्ट्रिया पर आक्रमण किए जाने की शिकायत करते हैं। भारतीय स्रोतों में कुषाणों के रूप में कुषाणों का उल्लेख नहीं हुआ है, लेकिन तुखार या तुषार के उल्लेखों को उन्हीं से संबंधित माना जाता है। इस राज्य का एक मुख्य प्रदेश बेग्राम-काबुल क्षेत्र था, जो सिल्युकसियों तथा मौर्यों के अधीन पैरोपेमिसडायों का महत्त्वपूर्ण केंद्र था। हिंद-ईरानी सीमावर्ती क्षेत्र फिर से उत्तरी भारत और उससे पश्चिम की शक्तियों के बीच खींच-तान का क्षेत्र बन गया। पहली सदी ई. के मध्य में कुजुल कडफाइसिस की मृत्यु होने पर वेमा कडफाइसिस सिंहासनारूढ़ हुआ। कुषाण सिक्कों में कुछ सोने के सिक्के भी हैं, जो रोम के उन *दिनारियसऔरियस* सिक्कों की नकल मालूम होते थे जो रोम के व्यापार के कारण मध्य एशिया में चलते थे। टेट्राद्रख्म नाम से तांबे के सिक्के भी जारी किए गए, जिन पर शिव की आकृति अंकित होती थी।

कनिष्क के अधीन कुषाण राजवंश मध्य एशिया में अपने उत्कर्ष पर था। पूर्ववर्ती राजाओं से उसके संबंध की पुष्टि अफगानिस्तान में हाल में प्राप्त एक अभिलेख से होती है। उसमें कनिष्क दावा करता है कि उसने *हिंदो/* भारत को जीत लिया। स्पष्ट ही हिंदों से तात्पर्य पश्चिमोत्तर भारत से था, जिससे उसका अधिक पश्चिम था। आगे कनिष्क कहता है कि उसने अपनी विजय की घोषणा चंपा (मध्य गांगेय मैदान) तक के सभी नगरों में की। वह यह भी कहता है कि उसने यूनानी भाषा में एक राजादेश जारी किया और तब उसका रूपांतरण आर्य भाषा में कराया (ध्यातव्य है कि यहां वह आर्य शब्द का सही प्रयोग भाषा के अर्थ में कर रहा है)। आर्य भाषा से उसका तात्पर्य शायद प्राकृत से रहा होगा। उसकी मध्य एशियाई पहचान की छाप उसकी एक प्रतिमा में देखी जा सकती है, जो दुर्भाग्यवश सिर-विहीन है। यह प्रतिमा मथुरा के निकट मिली है और उसकी पहचान एक अभिलेख से और बूट तथा कोट धारण किए राजसी बाने से की गई है। कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि 78 ई. और 144 ई. के बीच के बीच कहीं तय की गई है। 78 ई. से आरंभ होनेवाले एक संवत् को शक संवत् कहा जाता है, लेकिन कुछ विद्वान इसका संबंध कनिष्क के सिंहासनारोहण से भी जोड़ते हैं। संभव है, कुषाण राज्य गंगा के मैदान के मध्य तक फैल गया हो, क्योंकि वहां कुषाण अभिलेख पाए गए हैं। लेकिन उनके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नगर आधुनिक पेशावर के निकट पुरुषपुर और मथुरा थे। कुषाण शिल्प-तथ्य चिरांद तक में मिले हैं, लेकिन इसका अर्थ जरूरी तौर पर यह नहीं है कि उसने यहां तक के प्रदेशों को जीत लिया था। शिल्प-तथ्य और सिक्के व्यापार के माध्यम से कहीं भी पहुंच सकते हैं, और जरूरी नहीं कि वे विजय या नियंत्रण के प्रमाण हों।

कुषाण राज्य में मध्य एशिया के काशगर तक के प्रदेशों के शामिल होने से वह एक ऐसा विस्तृत राज्य बन गया जिसमें साम्राज्य के तत्व विद्यमान थे। नखलिस्तानों के आपस में जोड़ दिए जाने और कुषाण प्रदेशों के भारत तथा चीन

की सीमाओं तक फैल जाने से ये दोनों देश एक-दूसरे के निकट आए। इन सीमाओं के आसपास हाल में प्राप्त अभिलेखों तथा सिक्कों से लगता है कि इस क्षेत्र के अंदर अनेक प्रकार के अंतर्संबंध थे। साम्राज्य का अधिक बड़ा हिस्सा मध्य एशिया में पड़ता था, जिसका केंद्र बैक्ट्रिया था। इसीलिए कुषाण अभिलेख बैक्ट्रियाई भाषा में मिलते हैं। बैक्ट्रिया में तो प्राकृत अभिलेख मिले हैं लेकिन पश्चिमोत्तर भारत में बैक्ट्रियाई भाषा में कोई अभिलेख नहीं मिला है। मध्य एशिया में खलचयान-स्थित एक प्रारंभिक कुषाण बस्ती में ब्राह्मी मुद्रालेखवाले सिक्के मिले हैं, यद्यपि खरोष्ठी का भी उपयोग किया जाता था। इससे सांस्कृतिक तथा व्यापारिक पहलुओं का संकेत लिया जा सकता है, और माना जा सकता है कि इस उपमहाद्वीप के बाहर भी प्राकृत-भाषी लोगों के समूह थे।

कुछ साल पहले पश्चिमोत्तर को मध्य एशिया से और ऊपरी सैंधव मार्ग को गिलगिट, चित्राल और स्कार्डू से जोड़नेवाले उच्च पथ के निर्माण के दौरान पता चला कि लगभग इसी प्रकार की दिशाओं का अनुसरण करनेवाले मार्ग बहुत पहले भी मौजूद थे। सिंधु नदी के समानांतर चलते हुए हुजा घाटी में पहुंचकर यह मार्ग अंत में शाखाओं में बंटकर समरकंद, ताशकुरगन और यारकंद की ओर चला जाता था, और स्पष्ट ही यह रेशम मार्ग की एक शाखा था। मनसेरा और शाहबाजगढ़ी में अशोक के राजादेशों के पाए जाने से लगता है कि यह इलाका ऐसे मार्ग के प्रस्थान-बिंदु के लिए उपयुक्त स्थान था। इस मार्ग में खरोष्ठी, ब्राह्मी और बैक्ट्रियाई भाषाओं के जो अभिलेख मिले हैं और जो बौद्ध प्रतिमाएं एवं विषय तक्षित किए गए हैं उनके अनुसार पूर्ववर्ती काल में इस मार्ग को ईसवी सन् के आरंभ का होना चाहिए। शारदा लिपि (जो बाद के काल मे उत्तरी भारत में इस्तेमाल की जाती थी) के एक पूर्ववर्ती रूप में सोगाडियन तथा चीनी भाषाओं के अभिलेखों से लगता है कि इस मार्ग का उपयोग आगे भी होता रहा। कहीं-कहीं प्राप्त घोड़ों के चित्रण से मालूम होता है कि प्राचीन काल में मध्य एशिया के साथ घोड़ों का व्यापार चलता होगा, और वस्तुतः इस क्षेत्र के घोड़े बहुत उच्च कोटि के होते भी थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस मार्ग का भरपूर उपयोग होता था और शायद यह मध्य एशियाई सेनाओं के लिए भारत-प्रवेश का रास्ता भी बन गया। इस मार्ग ने भारतीय प्रौद्योगिकी के कुछ पहलुओं को भी प्रभावित किया। उदाहरण के लिए, घोड़े के साज-सज्जा में सुधार हुआ, जिससे भारत में रिसाले की कार्य-कुशलता की अभिवृद्धि हुई।

संपर्क के क्षेत्रीय विस्तार तथा लोगों के पारस्परिक मिश्रण के फलस्वरूप अनेक धर्मों को राज-संरक्षण प्राप्त हुआ—जैसे बौद्ध धर्म, जैन धर्म, भागवत तथा शैव संप्रदाय, जरथुस्त्री धर्म और हेलनवादी उपासनाओं को। उत्तर के बौद्धों ने कनिष्क को अपना संरक्षक बताया और बौद्ध सिद्धांत के स्पष्टीकरण के लिए आयोजित चौथी

बौद्ध संगीति से भी उसे संबद्ध दिखलाया। यह थेरवादी बौद्धों के इस दावे के समान है कि अशोक ने पाटलिपुत्र में आयोजित तीसरी संगीति की अध्यक्षता की। चौथी संगीति का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह था कि विभिन्न नए बौद्ध संप्रदायों को मान्यता दी गई और उन्होंने मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य आरंभ किया। कुषाणों की दृष्टि से देखें तो धर्म और देवत्व से उनका प्रत्यक्ष संबंध राजपद की महिमा के प्रचार का अंग रहा होगा। *देवपुत्र*का कुषाण विरुद शायद चीनी रिवाज से प्रेरित रहा होगा, यद्यपि यह भी संभव है कि वे रोम के सम्राटों के दैवी दर्जे के दावों से प्रभावित हुए हैं। उन्होंने भी दीवा फिलियस का विरुद धारण किया था। देवत्व से राजा के इससे भी प्रवलतर संबंध के द्योतक राजा की मृत्यु के बाद उसे देवत्व प्रदान करने के लिए बनवाए गए *देवकुल*थे। इस तरह की कोई चीज भारत में शायद ही कहीं मिले, लेकिन हो सकता है कि एक ऐसे देश में, जहां कुषाण लोग आप्रवासी थे, सम्मान प्राप्त करने के लिए उन्होंने इसे एक उपयुक्त युक्ति माना हो।

हिंद-यूनानी और कुषाण राजा आंडबरपूर्ण विरुद धारण करते थे। हिंद-यूनानी *बेसिलियोवेसिली*(राजाधिराज) का विरुद धारण करते थे। कुषाण राजा ईरानियों, चीनियों और रोमवासियों के विरुद उधार लेते थे, और स्वयं को राजाधिराज, दैवपुत्र, सोटर (त्राता) और *कैजर*कहते थे। कभी-कभी कुषाण राजाओं के सिर पर आभामंडल का जो चित्रण दिखाई देता है, हो सकता है, वह भूमध्य सागरीय रिवाज का अनुकरण हो। इस प्रकार के विरुद साम्राज्य की भावना के पोषक थे। विगत राजाओं को देवत्व प्रदान करने और उनके नाम पर मंदिर समर्पित करने से वर्तमान राजा की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि होती होगी। मथुरा में सुर्ख कोताल तथा मट में कुषाण राजाओं की अनु-आकृतियों (पोर्ट्रेट) की दीर्घाएं देवी-देवताओं के मंदिरों से तुलनीय हैं। यह एक तरह की विडंबना ही थी, क्योंकि विस्तृत प्रदेशों पर अधिकार होने के बावजूद उनका शासन साम्राज्यीय प्रणाली का अनुसरण नही करता था। उनके नियंत्रण का स्वरूप अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग था। कुछ क्षेत्र प्रत्यक्ष प्रशासन के अधीन थे। अन्य क्षेत्रों में स्थानीय क्षत्रपों के हाथों में अधिक सत्ता थी, और फिर कुछ ऐसे क्षेत्र भी थे जिन पर नियंत्रण तो पहले से मौजूद राजाओं का ही था, लेकिन वे कुषाणों के आधिपत्य को स्वीकार करते थे। महाक्षत्रप का पद अकसर स्वतंत्र राजत्व की स्थापना की पूर्व-परिस्थिति साबित होता था।

कुषाण शक्ति का धीरे-धीरे क्षय होने लगा। इसका कारण एक ओर तो यह था कि उनके मुकाबले में ईरान की उदीयमान ससानी शक्ति खड़ी हो गई थी और दूसरी ओर पंजाब तथा राजस्थान के हठी गणसंघ कुषाण शक्ति को घुन की तरह खाने लगे थे। कुषाणों की विलक्षणता भी धीरे-धीरे तिरोहित होती जा रही थी। इसका एक उदाहरण यह है कि एक उत्तर कुषाण राजा का नाम वासुदेव है। यह भागवत

संप्रदाय के साथ हेलियोडोरस के संबंध की याद दिलाता है। इसके साथ ही ईरान की घटनाएं एक बार फिर पश्चिमोत्तर भारत के इतिहास को प्रभावित करने जा रही थीं। 226 ई. में अर्दशिर ने पहलवों को परास्त करके ससानियों का वर्चस्व स्थापित किया। उसके उत्तराधिकारी ने तीसरी सदी के मध्य में पेशावर तथा तक्षशिला को जीत लिया और कुषाण राजा ससानियों के अधीन हो गए।

प्रथम सहस्राब्दी ई. का आरंभ उत्तरी भारत के इतिहास में देश-विजयों, देशांतरणों तथा व्यापार के माध्यम से मध्य एशियाई हस्तक्षेप का काल था। जो लोग यहां आए थे वे रीति-रिवाजों तथा विश्वास-विचारों में यहां के लिए पराए थे, लेकिन उनके बीच तथा स्वयं इस देश के समाजों के अंदर क्रमशः जो परिवर्तन हुए उनके फलस्वरूप दोनों के सांस्कृतिक अनुभवों के क्षितिज का विस्तार हुआ। यदि यूनानियों ने वैष्णव धर्म अंगीकार कर लिया या वे भागवत तथा शैव देवताओं की उपस्थिति स्वीकार करने लगे तो भारतीय भी सीमा-पार के देवी-देवताओं की पूजा करने लगे। उदाहरण के लिए, वे अर्डोख्शो देवी की पूजा श्री के रूप में करने लगे। कुछ कुषाण सिक्कों पर जरथुस्त्री देवी-देवताओं की भी आकृतियां मिलती हैं।

कुषाणों के आगमन ने शकों को दक्षिण की ओर खिसककर कच्छ, काठियावाड़ और पश्चिम में मालवा में अपना भाग्य आजमाने को विवश कर दिया था। यहां वे चौथी सदी के उत्तरार्ध तक टिके रहकर शासन करनेवाले थे। दूसरी सदी के मध्य में क्षत्रप रुद्रदामा के शासन की मुख्यतः इस कारण से ख्याति है कि उसने महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परिवर्तन के पुरोधा की भूमिका निभाई। जूनागढ़ (सौराष्ट्र, गुजरात) में प्राप्त उसके एक लंबे अभिलेख से उसके कार्यकलाप की जानकारी मिलती है। संस्कृत में यह महत्त्व का सबसे पहला अभिलेख है।

इसकी भाषा आम चलन की संस्कृत है, जो पाणिनि के व्याकरण का आधार थी। अभिलेख में सामान्यतः प्रयुक्त प्राकृत भाषाओं की अपेक्षा उसने संस्कृत को शायद इसलिए चुना होगा कि वह अपने को रूढ़िवादियों द्वारा समर्थित दिखलाना चाहता था, यद्यपि ऐसे शासकों को वे लोग नियमतः निम्न कोटि के क्षत्रिय कहते थे। क्या रुद्रदामा बौद्ध धर्म, भागवत संप्रदाय तथा पश्चिमोत्तर के अन्य नए संप्रदायों को संरक्षण देने के चलन के विरुद्ध जानबूझकर अपने को ब्राह्मणीय धर्म से जोड़ रहा था? यह न केवल एक धर्म को संरक्षण देना था, बल्कि एक विचारधारा से अपना तादात्म्य स्थापित करना भी था। विचित्र विडंबना है कि अभिलेखों में संस्कृत का प्रयोग एक ऐसे व्यक्ति ने आरंभ किया जिसकी वर्ण-स्थिति पर प्रश्न-चिह्न लगाया जा सकता था। क्या वह राजा के रूप में अपनी वैधता सिद्ध करने के लिए रूढ़िवादियों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश कर रहा था? या कि उसके इस व्यवहार में एक साथ कई धर्मों को संरक्षण और अनेक भाषाओं के प्रयोग का रिवाज प्रतिबिंबित हो रहा था, जिसे दरबारी हलकों में धीरे-धीरे प्रमुखता की स्थिति प्राप्त

होने जा रही थी? जैसा कि इस तरह के अभिलेखों में सामान्यतः होता है, रुद्रदामा के इस अभिलेख में भी उसकी विजयों का वर्णन किया गया है। लेकिन साथ ही इसमें उसे साहित्यिक रुचिवाला व्यक्ति बताया गया है, जो संस्कृत का प्रयोग उस काल के सांस्कृतिक मुहावरों में करने की सामर्थ्य रखता था। आगे चलकर प्रशस्तियों में इस गुण का उल्लेख राजा की एक निरपवाद विशेषता के रूप में किया जाने लगा, और इसी प्रकार अभिलेख भी संस्कृत में ही जारी किए जाने लगे।

इस अभिलेख की तिथि 150 ई. है। यह अभिलेख उस शिला पर गुदा हुआ है जिस पर अशोक के दीर्घ राजादेशों का एक समूह गुदा हुआ है। रुद्रदामा का संस्कृत पाठ अशोक के प्राकृत पाठ का विलोम है। इसमें ऐतिहासिक परिवर्तन को प्रभावपूर्ण ढंग से संप्रेषित किया गया है। यह मुख्य रूप से सुदर्शन झील पर मौर्य काल के एक बांध के जीर्णोद्धार का दस्तावेज है। बांध अब भी काम में आ रहा था, लेकिन एक ज़ोरदार आंधी से बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गया था। जिस मंत्री ने जीर्णोद्धार का काम करवाया उसे योग्य, धीर, निरभिमानी, प्रामाणिक तथा रिश्वत से परे बताया गया है। इस अभिलेख में रुद्रदामा के नर्मदा घाटी में विजय-अभियानों का, सातवाहन राजाओं (नर्मदा से दक्षिण) के विरुद्ध उसके पराक्रम तथा राजस्थान में यौधेय गण-संघ पर उसकी विजय का भी उल्लेख प्रशस्ति भाव से किया गया है। अभिलेख में रुद्रदामा का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है :

> जिसने अपने हाथ के संकेत से धर्म के प्रति प्रबल प्रतिबद्धता उत्पन्न की; जिसने व्याकरण, संगीत, तर्क तथा अन्य महान् शास्त्रों के अध्ययन तथा स्मरण द्वारा, उनके ज्ञान तथा व्यवहार द्वारा विस्तृत ख्याति अर्जित की है; जो घोड़ों, हाथियों और रथों के प्रबंधन में, तलवार और ढाल के उपयोग में, मुष्टियुद्ध में...त्वरित चेष्टाओं में और शत्रु-सेना के प्रतिरोध में (पारंगत है); जो दिन-प्रति-दिन लोगों को भेंट-उपहार देने और सम्मानित करने का अभ्यस्त है तथा अनादरपूर्ण व्यवहार से दूर रहता है; जो दानी है; जिसका कोष साधिकार प्राप्त नजराने, शुल्कों तथा भागों के कारण सोने, चांदी, हीरे, वैदुर्य रत्नों तथा मूल्यवान वस्तुओं से लबालब भरा हुआ है; जो ऐसे गद्य तथा पद्य (की रचना करता है) जो प्रांजल, रुचिकर, मधुर, आकर्षक, सुंदर, उपयुक्त शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से उत्कृष्ट तथा आलंकारिक हैं; जिसकी काया शुभ लक्षणों तथा गुणों से युक्त है, जैसे शुभ-सूचक ऊंचाई और आयाम, स्वर, ठवन, रंग, तेज और शक्ति; जिसने स्वयं महाक्षत्रप का नाम धारण किया है; जिसे स्वयंवर में राज-पुत्रियों ने अनेक मालाओं से विभूषित किया है।

एपिग्राफियाइंडिका, VIII, पृ. 36 आदि, एफ. कीलहार्न के अनुवाद से पुनरनूदित, 'जूनागढ़ राक इंस्क्रिप्शन ऑफ रुद्रदामन्'

यह अभिलेख आगे चलकर प्रशस्तियों के रूप में सामने आनेवाली राजाओं की

जीवनियों का एक प्रारंभिक उदाहरण है–सो केवल इसी दृष्टि से नहीं कि इसमें संस्कृत भाषा का प्रयोग किया गया है, बल्कि इस नज़रिए से भी कि इसमें पारंपरिक क्षत्रिय राजा का वर्णन किया गया है। राजाओं की प्रशंसा करनेवाले इन अभिलेखों में देखा जा सकता है कि एक साहित्यिक शैली के रूप में प्रशस्ति का विकास हो रहा था। यह चीज बुद्ध की अश्वघोष-कृत जीवनी *बुद्धचरित*में और भी स्पष्ट दिखाई देती है। यह शैली उन क्षेत्रों में राजतंत्र की दृढ़ संस्थापना का द्योतक है जो उस व्यवस्था से कम परिचित थे और साथ ही यह आदर्श राजा के वर्णन के स्वर का सूत्रपात करती है। वैधीकरण के एक उपाय के तौर पर प्रशस्ति सरदारों और अधीनस्थ शासकों को भी आदर्श क्षत्रिय राजा के रूप में चित्रित कर सकती थी, चाहे उनके मूल कुछ भी हों।

इस प्रकार के प्रशस्तिमूलक अभिलेखों में बाद के राजाओं की उन जीवनियों के बीज भी निहित थे जो दरबारी साहित्य के अंग के रूप में लिखी गईं। देवताओं से तुलनाएं आरंभ हो चुकी थीं, लेकिन उनका अतिरेक नहीं हुआ था। विचित्र विडंबना है कि राजा के देवत्व का वर्णन तब अधिक मुखर हुआ जब उसकी शक्ति विशेष प्रबल नहीं थी। इसका एकमात्र अपवाद कुषाणों की दैवपुत्र की उपाधि है। मध्य एशियाई मूल के राजवंशों को बौद्ध, जैन, भागवत आदि पहचानों तथा विचारधाराओं को अपनाने की पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी और यह देखना दिलचस्प होगा कि किसने किसको अपनाया। बौद्ध विहारों तथा ब्राह्मणों को भूमिदान देकर भी वैधता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा था। अभी यह प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत ही चल रही थी, लेकिन बाद में वह ऐसा रूप लेनेवाली थी जिसने राज्यव्यवस्था की संरचना को प्रभावित किया।

सातवाहन

सातवाहन राजवंश की स्थापना पश्चिमी दकन में पहली सदी ई.पू. में हुई। सातवाहनों को कभी-कभी आंध्र राजवंश भी कहा जाता था। इससे यह धारणा बनी कि उनका उद्भव आंध्र क्षेत्र में पूर्वी तट पर कृष्णा तथा गोदावरी के डेल्टों में हुई, जहां से वे पश्चिम की ओर चलकर गोदावरी नदी के किनारे पहुंचे और अंत में उन्होंने पश्चिमी दकन में अपना राज्य स्थापित किया। समझा जाता है कि मौर्य साम्राज्य के विघटन से इस प्रक्रिया में सहायता मिली। अशोक अपने राज्य के जन-समाजों में आंध्रों का उल्लेख विशेष रूप से करता है, लेकिन विजित राज्य के रूप में नहीं। अब सामान्य राय यह है कि इस परिवार का उद्भव पश्चिम में हुआ और इसने बाद में अपना नियंत्रण पूर्वी तट तक फैला लिया, जिसका संबंध आंध्र संज्ञा से था।

सातवाहनों के उदय का रूप सरदारतंत्र से राजतंत्र की दिशा में संक्रमणवाला

है। इस वंश के नवोदित राजाओं ने अपने वैधीकरण के लिए वैदिक यज्ञ किए। प्रशासकों के पदनामों को ध्यान में रखकर देखें तो सातवाहन प्रशासन सरदारतंत्र से सातत्य को प्रतिबिंबित करता है। समझा जाता है कि उनमें राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा इसलिए उदित हुई कि मौर्यों वे अधीन वे प्रशासनिक पदों पर आसीन थे और इस तरह के अन्य अनेक लोगों तथा समूहों की तरह उन्हें भी मौर्य साम्राज्य के विघटन के पश्चात् स्वतंत्र राजत्व की संभावनाएं दिखाई देने लगीं।

जिस प्रथम सातवाहन राजा को व्यापक स्वीकृति प्राप्त हुई वह था शातकर्णि। इसका कारण था उसका सैनिक विस्तारवाद। ऐसा वर्णन मिलता है कि वह पश्चिम में राज करता था और उसी के विरुद्ध कलिंग-राज खारवेल ने युद्ध किया था। उसे 'प्रतिष्ठान (दकन में आधुनिक पैठन) का स्वामी' भी कहा गया है। यह सातवाहनों की राजधानी था। मुद्राशास्त्रीय साक्ष्य से प्रकट होता है कि वह 50 ई.पू. के आसपास राज करता था। अपने विजय-अभियान के क्रम में वह नर्मदा के उत्तर में मालवा पहुंचा, जिस पर उन दिनों शकों का खतरा मंडरा रहा था। मध्य भारत में सांची में प्राप्त एक अभिलेख में उसका उल्लेख राजन् श्री शातकर्णि के रूप में हुआ है। एक विस्तृत राज्य के राजपद के आकांक्षी व्यक्ति के लिए यह विरुद अत्यधिक साधारण है। उसका अगला अभियान दक्षिणाभिमुख था और गोदावरी घाटी को जीतने के बाद उसे स्वयं को 'दक्षिणी क्षेत्रों का स्वामी' कहने में कोई संकोच नहीं हुआ। अपने राजत्व को सिद्ध करने के लिए उसने अश्वमेध यज्ञ संपादित किया। उसने *खतियों* का नाश करने का भी दावा किया। इस शब्द का अर्थ अकसर टालेमी द्वारा उल्लिखित खत्रिएओई लोग लगाया गया है, लेकिन इसका तात्पर्य पश्चिमी और मध्य भारत की अल्पतांत्रिक राज्यव्यवस्थाओं के क्षत्रिय शासक कुल भी हो सकता है। इन राज्यव्यवस्थाओं की सतत् उपस्थिति तथा राजतांत्रिक राज्यव्यवस्थाओं के विरोध के बावजूद अपना अस्तित्व कायम रखने की इनकी क्षमता पर उतना विचार नहीं किया गया है जितना योग्य है।

परन्तु सातवाहनों के पश्चिमी प्रदेशों पर ठीक उन्हीं लोगों ने अधिकार कर लिया जिनसे शातकर्णि को डर था। तात्पर्य शकों से है, जो अब पश्चिमी भारत में, नर्मदा से उत्तर के क्षेत्रों में काफी शक्तिशाली हो गए थे। शक क्षत्रप नहपान द्वारा जारी किए गए सिक्के नासिक क्षेत्र में मिले हैं, जिसका अर्थ यह हो सकता है कि प्रथम शताब्दी ई. के आते-आते इस क्षेत्र पर शकों का नियंत्रण स्थापित हो गया था। परंतु मालूम होता है, इसके शीघ्र बाद सातवाहनों ने अपने पश्चिमी प्रदेशों पर फिर से अधिकार स्थापित कर लिया, क्योंकि नहपान के सिक्कों पर बहुधा गौतमीपुत्र शातकर्णि का नाम भी देखने को मिलता है। पश्चिमी भारत में सातवाहन शक्ति की पुनःस्थापना का श्रेय उसी को जाता है। *पेरिप्लस* में बंदरगाहों तथा राजनीति के उल्लेखों के आधार पर देखें तो पश्चिमी तट स्पर्धा का क्षेत्र बनता जा रहा था, और

इस स्पर्धा को घनीभूत कर रहा था रोम-अधिकृत मिस्र का व्यापार।

गौतमीपुत्र के बेटे वासिष्ठीपुत्र का, जो दूसरी सदी के पूर्वार्द्ध में राज करता था, एक और नाम श्री पुलुमावि था, जिसके आधार पर उसकी पहचान उस सीरो पोलेमाऑस के रूप में की गई जो दूसरी सदी ई. में टालेमी द्वारा लिखे गए भारत के भूगोल के अनुसार बैठन (पैठन) में राज करता था। अब दकन उत्तर और दक्षिण को जोड़नेवाली कड़ी बन गया था—सो केवल राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि व्यापार तथा बौद्ध और जैन धर्मों के प्रचार की अधिक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से भी। वासिष्ठीपुत्र कहता है कि गौतमीपुत्र ने शकों का मूलोच्छेद कर दिया और क्षत्रियों के अभिमान को चूर-चूर कर दिया; उसने वर्णसंकर को रोक दिया; और द्विजों का हित-साधन कया। ब्राह्मण सामाजिक संहिता में शकों को निम्न जाति का दर्जा दिया जाता था और यवनों को अधम क्षत्रिय कहा जाता था। सातवाहनों के राज-अभिलेखों में शकों, यवनों तथा पहलवों के लिए उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया गया जिनका प्रयोग ब्राह्मणों की सामाजिक नियमों की संहिता में किया जाता था।

सातवाहनों और शकों के संबंध में कुछ मधुरता लाने के लिए दोनों राजवंशों के बीच वैवाहिक संबंध स्थापित किया गया और रुद्रदामा की पुत्री का सातवाहन राजा से परिणय हुआ। दिलचस्प बात है कि जिन सातवाहनों को वर्णसंकर को समाप्त करने पर गर्व था वही शक परिवार की कन्या प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे। राजनीतिक प्रयोजन सिद्ध करने के लिए सिद्धांत और व्यवहार के बीच की ऐसी असंगति की अनदेखी आम बात थी। मित्रता का यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ, इसका प्रमाण रुद्रदामा का यह कथन है कि उसने सातवाहन राजा को युद्ध-भूमि में दो बार परास्त किया, लेकिन उसका पूर्ण नाश इसलिए नहीं किया कि दोनों के कौटुंबिक संबंध थे। रुद्रदामा की मृत्यु के बाद सातवाहनों को शक प्रदेशों पर किए गए आक्रमणों में अधिक सफलता मिली। दूसरी सदी के अंतिम दौर में सातवाहनों का राज्य पश्चिमी भारत से लेकर कृष्णा डेल्टा और उत्तरी तमिलनाडु तक फैला हुआ था। लेकिन यह विस्तृत राज्य अधिक काल तक कायम नहीं रहा। अगली सदी में सातवाहन शक्ति का ह्रास होने लगा और उसी अनुपात में स्थानीय शासकों की शक्ति बढ़ने लगी और वे स्वतंत्र स्थिति का दावा करने लगे।

सातवाहनों ने कोई सम्राटोचित विरुद धारणा नहीं किया। शायद उन्हें इस बात का एहसास था कि स्थानीय सरदारों और राजाओं पर उनका नियंत्रण ऐसा नहीं था जो उन्हें चक्रवर्तित्व का हकदार बनाता। इस बात को उनकी प्रशासन प्रणाली में भी स्वीकार किया गया। सत्ता को केंद्र में समेटकर रखने की बजाय वह पदाधिकारियों के सोपान में वितरित कर दी गई। सातवाहन राज्य छोटे-छोटे प्रांतों में विभाजित था। प्रत्येक प्रांत नागरिक और सैनिक अधिकारियों के हाथों में था, जो अमात्य, महामात्य, महासेनापति, महातलवार, महारथी आदि कहलाते थे। कुछ को राजपरिवार में विवाह

की अनुमति दी गई, जिससे लगता है कि वे लोग शायद अपने-अपने इलाके के सरदार थे, जिनसे वैवाहिक संबंध स्थापित करके सातवाहन राजा अपने वंश के प्रति उनकी निष्ठा सुनिश्चित करने की आशा रखते थे। कुछ को तो अपने सिक्के ढलवाने की भी अनुमति दी गई। जब सातवाहन शक्ति बिखरी तो इन स्थानीय शासकों ने सामान्य रीति का अनुसरण करते हुए स्वतंत्र राजाओं की स्थिति प्राप्त कर ली। प्रशासन मुख्य रूप से स्थानीय अधिकारियों के हाथों में छोड़ दिया गया था, यद्यपि राजा के अधिकारी उन पर सामान्य नियंत्रण रखते थे। प्रशासन की न्यूनतम इकाई गांव था। मौर्य काल के भी कुछ तत्व कायम रहे। उदाहरण के लिए, एक पदाधिकारी को महामात्र कहा जाता था, और आहार एक प्रशासनिक इकाई था। कर का स्रोत गांव थ। युद्ध-काल में गांव से सैनिक देने की भी अपेक्षा की जाती होगी, जिससे गांव और भी बंधन में पड़ जाते होंगे। राजनीतिक संबंधों में जो परिवर्तन हुए वे ऊपरी स्तरों–प्रांतीय शासकों तथा उनके अधिकारियों–तक ही सीमित थे।

कुछ सातवाहन राजा मातृनाम का प्रयोग करते थे। इससे यह विवाद छिड़ गया है कि यह राजा को अधिक स्पष्ट रूप से पहचानने का तरीका था या स्थानीय मातृवांशिक रीति का प्रभाव था। नए क्षेत्रों में वर्ण-जाति-आधारित समाज को अपनाने के लिए सभी स्थानीय रिवाजों का त्याग करना जरूरी नहीं होता होगा। जो रिवाज धर्मशास्त्रों के लिए पराए थे उन्हें भी स्थानीय चलन के हिसाब से जरूरी होने पर जारी रहने दिया होगा। इस प्रकार के विधि-ग्रंथों का बोलबाला उतना नहीं रहा होगा जितना कि समझा जाता है।

पश्चिमी भारत के आभीरों तथा त्रैकूटकों ने पतनोन्मुख सातवाहन शक्ति का लाभ उठाया। उसके बाद पश्चिमी दकन पर वाकाटकों का वर्चस्व स्थापित हुआ। कलचुरि-चेदि राजवंश ने प्रायद्वीप के उत्तरी हिस्से पर अपना नियंत्रण स्थापित किया। वे संवत् आरंभ करनेवाले पूर्ववर्ती राजवंशों में से थे। यह संवत् उन्होंने 248-249 में स्पष्ट ही सत्ता पर अपना अधिकार जताने के लिए आरंभ किया। गंगा के मैदान में अनेक छोटे-छोटे राजतंत्र उभर आए। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका यह थी कि उन्होंने पश्चिमोत्तर की शक्तियों को इस मैदानी क्षेत्र को अपना आखेट-स्थल बनाने से रोका, परंतु वे अपने पीछे कोई ख़ास निशान नहीं छोड़ गए हैं। कुछ राजाओं को मघ, बोधि और नाग वंशियों के रूप में पहचाना गया है और कुछ अन्य के नामों के अंत में मित्र प्रत्यय जुड़ा हुआ है, यद्यपि इससे उनका संबंध पुष्यमित्र द्वारा स्थापित शुंग राजवंश से नहीं जुड़ता।

प्रायद्वीप में और भी दक्षिण की ओर चलें तो तीसरी-चौथी सदियों में बृहत्पलायनों, शालंकायनों तथा इक्ष्वाकुओं के राज्यों का उदय हुआ। शालंकायन तथा बृहत्पलायन पश्चिमी गोदावरी जिले और मछलीपतनम् क्षेत्र में राज करते थे। इक्ष्वाकुओं का राज्य और भी दक्षिण की ओर कृष्णा घाटी में था। स्पष्ट ही, ये लोग

किसी स्थानीय कुल के थे और सत्ता प्राप्त करने पर उन्होंने सूर्यवंश से अपना संबंध जोड़ लिया। नागार्जुन कोंड के भव्य नगर का निर्माण उन्होंने ही किया। उन्हें संरक्षण के संदर्भ में पुरुष-स्त्री-भेद के लिए भी याद किया जाता है : राजा वैदिक यज्ञ किया करते थे लेकिन राजपरिवार की स्त्रियां बौद्ध संघ को मुक्तहस्त दान दिया करती थीं। दो प्रकार के संरक्षण से अलग-अलग प्रयोजन सिद्ध होते थे। उनकी आस्था दो में से किस धर्म में थी, इस बात को अलग रखें और साथ ही इस बात को भी कि क्या उनकी आस्था दोनों धर्मों में थी। यहां मुद्दे की बात यह है कि वैदिक कर्मकांड इस क्षेत्र के लिए नए थे और इनका संपादन सरदारों का केंचुल छोड़कर राजाओं के रूप में वैधता प्राप्त करने के लिए किया जाता था। दूसरी ओर बौद्ध संघ का तंत्र बहुत विस्तृत था और इसलिए वह संरक्षक राजाओं के लिए समर्थन जुटाने में अधिक कारगर हो सकता था। वैदिक कर्मकांड अपनाने से सरदारों के परिवार पूर्व कुलतंत्रीय समाज में अपने कुलबंधुओं तथा अन्य लोगों की तुलना में विशिष्ट दिखने लगते थे। पहली पीढ़ी के क्षत्रिय दर्जा प्राप्त कर लेने के बाद दूसरे सरदार, जैसे कि महातलावर कहलाने वाले सरदार भी गोत्रीय पहचान के अधिकारी बन जाते थे।

दक्षिण भारत

प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के अंतिम दौर में दक्षिण भारत ने प्रागितिहास से निकलकर इतिहास में पदार्पण किया, और उसके संबंध में समकालीन घटनाओं को प्रतिबिंबित करनेवाले साहित्यिक प्रलेख हमें उपलब्ध हैं। अशोक ने अपने अभिलेखों में दक्षिण भारत के जन-समाजों को चोल, चेर, पांड्य और सतियपुत्र कहा है। ये तमिलकम की संस्कृति के मुख्य धारक लोग थे, और इस संस्कृति को यह संज्ञा उस काल की द्राविड़ समूह की प्रमुख भाषा तमिल से प्राप्त हुई। इनमें से कुछ नामों के अंत में पुत्र शब्द जुड़े होने से कुलों और सरदारोंवाली व्यवस्था का आभास होता है। इनमें से प्रथम तीन सरदारतंत्र लगभग जातिवाचक संज्ञाएं बन गए। जो समाज जिस सरदारतंत्र के क्षेत्र में रहता था वह उसी के नाम से जाना जाने लगा। लेकिन उन्होंने राज्य का दर्जा बाद में प्राप्त किया। चोल और पांड्य पूर्वी क्षेत्र में बसे हुए थे। चोल लोग कावेरी के निचले बहाववाले इलाके में केंद्रित थे। कोरकै और अलगंकुलम् ठिकानों की खुदाई हाल में हुई है। इन्हें पांड्य प्रदेश में विनिमय केंद्र माना जाता है। कोरकै का संबंध मोती निकालने के धंधे से था और अलगंकुलम में बंदरगाह था। कावेरी तट पर करूर एक महत्त्वपूर्ण अंतर्देशीय केंद्र था। ऐसा ही कोडुमनाल भी था। खुदाइयों से पता चला है कि यहां कीमती पत्थरों का उत्खनन होता था। कालांतर में चेर लोग पश्चिमी तट पर बसे दिखाई देते हैं। सतियपुत्रों का इतिहास अपेक्षाकृत सीमित है। उनकी पहचान तमिलनाडु के एक स्थानीय अभिलेख में उनके उल्लेख से की

गई है।

दक्षिण भारत के इस क्षेत्र का इतिहास विविध स्रोतों के आधार पर तैयार किया गया है। वे हैं महापाषण कब्रें, तमिल ब्राह्मी (जो तमिल लिखने के लिए प्रयुक्त आद्यतम लिपि थी) अभिलेख और संगम साहित्य के तमिल काव्य। कुछ तुलनीय सूचना यूनानी स्रोतों से मिलती है। ये हैं *पेरिप्लसमैरिसइरिथ्रियाईदपेरिप्लसऑफ दइरिथ्रियनसी*और टालेमी की *ज्याग्रफी*(जिसमें दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों का वर्णन किया गया है), और इनके अलावा प्लिनी की लैटिन भाषा की *नच्युरलहिस्टरी* भी है। महापाषाण कब्रें प्रायद्वीप में विंध्य पर्वतश्रेणियों तक सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। कहीं उनके बीच की दूरी कम है तो कहीं ज़्यादा, और कब्रों के रूप भी अलग-अलग हैं। जो कब्रें तमिलकम में मिली हैं उनमें मेनहिर (दीर्घाश्म स्तंभ), बहु-प्रस्तरीय (डोलमेन), कलश-शवाधान तथा पाषाण-वृत्त किस्म की कब्रें शामिल हैं, लेकिन केरल में चट्टान को काटकर बनाई गई कक्ष कब्रें भी मिली हैं। पत्थर की पटियों से ज़मीन में खुदे एक गर्त में एक कक्षिका बना दी जाती थी, जिसमें स्मृति-चिह्न और कब्र-सामग्री रखी जाती थी। उसके बाद कक्षिका को मिट्टी से ढक दिया जाता था, और उस छोटे-से हलके को पत्थरों के वृत्त से घेर दिया जाता था। कब्रों में पक्की मिट्टी (टेराकोटा) के कलश और ताबूत भी मिले हैं। चट्टान काटकर बनाए गए कक्ष पहाड़ी इलाकों में मिले हैं और कलश कब्रें नदियों की घाटियोंवाले क्षेत्रों में। कब्रों की इन किस्मों का इस्तेमाल करनेवाले समाज एक जैसे नहीं थे और सांस्कृतिक दृष्टि से अलग-अलग प्रकार के थे। तथापि उनकी संस्कृतियों में एक-दूसरे को जोड़नेवाली कुछ लड़ियां हैं, जिसके कारण प्रायद्वीप की संस्कृति का एक विशिष्ट रूप हो जाता है।

शवाधान सामग्री के साथ-साथ कब्रों से न केवल पूर्वजों के प्रति सम्मान का, बल्कि मरणोपरांत जीवन में विश्वासों का भी पता चलता है। कब्रों में पूरी-की-पूरी अस्थियां या उनके हिस्से रखे हुए मिले हैं। साथ में धातु की चीजें हैं, जो मुख्यतः लोहे की हैं, लेकिन कुछ तांबे, सोने और चांदी की भी हैं। इनके अलावा शंख और हाथीदांत के गहने और मनके मिले हैं। जले हुए चावल या रागी दाने और कृष्ण-लाल मृद्भांड भी शामिल हैं। संभव है, ये राज-परिवार की कब्रें रही हों।

ये कब्रें प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. की हैं और इनके ऊपरी स्तरों पर कुछ ऐसी चीजें मिली हैं जो नई सहस्राब्दी के आगमन के दौर की हैं—जैसे रोम के सिक्के। संरचनाएं जैसे-तैसे नहीं निर्मित की गई हैं और एक ख़ास तरतीब से जोड़ने के लिए खान से पत्थर के बड़े-बड़े खंडों को काटकर निकालने की ज़रूरत पड़ी होगी। कब्रों में बरतन मुख्य रूप से कृष्ण-लाल मृद्भांड हैं, जो स्थानीय रूप से बनाए गए होंगे और जिनसे इस कारीगरी में विशेषज्ञता सूचित होती है। कुछ ठीकरों पर खरोंच कर कुछ आकृतियां बनाई गई हैं, जिनमें से कुछ हड़प्पाई मुहरों के संकेतों

से मेल खाती हैं। लोहे के शिल्प-तथ्य—फावड़े, घोड़े के साज और औज़ार—या तो ठिकानों पर जाकर काम करनेवाले लोहारों से प्राप्त किए गए होंगे या विनिमय तंत्र के माध्यम से। दकन में खुदाई से धातु गलाने की एक भट्ठी मिली है, और दक्षिण में कोडुमनाल का ठिकाना लौह शिल्प-तथ्यों के उत्पादन का एक केंद्र था। इस प्रकार के विनिमय की एक वस्तु मनके भी होते होंगे। यदि ये चीजें स्थानीय कारीगर नहीं बनाते होंगे तो विनिमय के तंत्र बहुत विस्तृत रहे होंगे।

कब्रों के रूप में विविधता के बावजूद शवाधान सामग्री में काफी एकरूपता थी। कब्रों के आसपास बस्तियों के ठिकाने नहीं मिले हैं। एक अनुमान यह है कि इसका कारण समाज की खानाबदोश जीवन-शैली थी, लेकिन यह कारण पर्याप्त नहीं लगता। फावड़े जैसे कृषि के उपकरण या तो स्थानांतरण कृषि में इस्तेमाल किए जाते होंगे या स्थिर कृषि में। लेकिन कब्रगाह एक पवित्र स्थान होती है, जिसकी देखरेख करना जरूरी होता है। इसलिए इस बात की संभावना नहीं दिखाई देती कि कोई जन-समूह अपनी कब्रगाह के ठिकाने को छोड़कर दूर चला जाएगा। मृत लोगों की स्मृति में खड़ी की गई संरचनाएं अकसर सामुदायिक तथा धार्मिक कार्यकलाप के केंद्र और संबंधित समूहों की पहचान के प्रतीक होती हैं। मध्य भारत में ऐसे स्थान को सरना कहते हैं, जो ऐसी ही भूमिका निभाते हैं।

महापाषाणों के अतिरिक्त इस क्षेत्र के इतिहास के लिए हमें जो अन्य आद्यतम और काफी हद तक सही किस्म के स्रोत उपलब्ध हैं वे हैं छोटे-छोटे समर्पण अभिलेख। इनका काल लगभग दूसरी सदी ई.पू. से लेकर प्रथम सहस्राब्दी ई. के मध्य तक जाता है। इन अभिलेखों में किसी सरदार या बाद में किसी शिल्पी अथवा सौदागर द्वारा, बल्कि यहां तक कि बौद्ध या जैन भक्षु द्वारा भी किसी गुफा-दान का वर्णन किया गया होता है। ब्राह्मण बस्तियों के उल्लेख पहली सहस्राब्दी के मध्य के आसपास मिलने लगते हैं। अभिलेखों की भाषा तमिल है, यद्यपि कभी-कभी कुछ प्राकृत शब्द भी शामिल कर लिए गए हैं। यहां हमें अशोक की ब्राह्मी लिपि में आवश्यकतानुसार किए गए परिवर्तनों के सूत्र प्राप्त होते हैं। ऐसे परिवर्तनों के साथ इस लिपि का तमिल के लिए अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा था। संभव है कि मौर्य प्रशासन के प्रभाव तथा यायावर बौद्ध एवं जैन भिक्षुओं के दक्षिण भारत पहुंचने के फलस्वरूप ब्राह्मी को तमिल भाषा के अनुकूल रूप देने का यह सिलसिला शुरू हुआ हो। अभिलेख ठीकरों पर बनाई गई सजावटी आकृतियों के रूप में भी मिलते हैं। ये उन बड़े-बड़े भांडों के हिस्से हैं जिन पर नाम गोद दिए जाते थे। मन्नत (वोटिव) अभिलेखों में दाताओं के धंधों का उल्लेख होता था। उनमें से अनेक कपड़े, ताड़ी, अनाज और नमक के व्यापारी या सोनार और मणिकार जैसे कारीगर थे। इन अभिलेखों के प्राप्ति-स्थानों से मार्गों के बीच के संबंध का पता चलता है। ये अभिलेख अमूल्य हैं—अपने-आप में कालानुक्रम निर्धारित करने की दृष्टि से भी और

आद्यतम साहित्यिक स्रोत संगम साहित्य में उल्लिखित सरदारों और कुलों के नामों की प्रामाणिकता की जांच करनेवाले स्रोत के रूप में भी।

संगम साहित्य प्रारंभिक समाजों में लोकप्रिय विषयों पर लिखे काव्य की चयनिकाओं का संग्रह है। परंपरा के अनुसार, सदियों पूर्व एक-के-बाद-एक तीन संगम या सम्मेलन आयोजित किए गए। अंतिम संगम मदुरै में हुआ और कवियों तथा चारणों की कृतियों की चयनिकाओं को संगम साहित्य में संकलित किया गया। सबसे पहले की रचनाओं में मुख्य रूप से चारणों की रचनाएं हैं, जिन्हें एट्टुटोगै कहा गया है। उससे कुछ बाद की पट्टुपट्टु कहलानेवाली रचनाओं का काल 200 ई.पू. से 300 ई. के बीच पड़ता है। इनके अतिरिक्त, तमिल व्याकरण *तोलकाप्पियम* और उससे कुछ बाद का उपदेशात्मक पाठ *तिरुकुरल*भी हैं। इन रचनाओं की सही तिथियों का निर्धारण समस्यामूलक है, जिससे ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में उनके उपयोग में उलझन पैदा होती है।

अनेक कविताओं में हमलों और लूट-पाट के वृत्तांतों का वर्णन है। कुछ में विवाह के लिए कन्याओं के अपहरण का वर्णन है। इस प्रकार के विषय सभी वीरगाथा साहित्य में देखने को मिलते हैं और अन्य भारतीय भाषाओं के महाकाव्य साहित्य से इसके अनेक सादृश्य हैं । इन काव्यों में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमें परिवेश के प्रति सजगता और पर्यावरणीय समझों से कार्यकलाप का तालमेल दिखाई देता है। पांच पर्यावरणीय क्षेत्र निर्दिष्ट किए गए हैं। प्रत्येक को *तिनै*कहा गया है। कोई *तिनै* आखेटक-खाद्य-संग्राहक जीवन के लिए उपयुक्त था तो कोई पशुचारकों के लिए, कोई लुंठकों के लिए तो काई मछुआरों के लिए और कोई चावल के काश्तकारों के लिए। चूंकि ये. क्षेत्र ठीक से सीमांकित नहीं थे, इसलिए एक क्षेत्र की गतिविधि दूसरे में भी किसी हद तक चल सकती थी। संपत्ति तथा जोती-बोई ज़मीन के उल्लेखों से कृषि के क्रमिक प्रसार का आभास होता है।

कुलों में गृहस्थी का मुखिया महत्त्वपूर्ण होता था, लेकिन *वेलीर*या सरदार को उससे ऊंचा स्थान दिया जाता था। संभव है, महापाषाण कब्रों में ऐसे सरदारों को ही दफनाया जाता हो। *वेलीर*से भी ऊंचा स्थान *वेंतर*का था, जिस शब्द का प्रयोग चोलों, चेरों और पांड्यों के लिए किया जाता था। विनिमय और उत्पादों का पुनर्वितरण तीनों स्तरों को आपस में जोड़ता होगा। कुछ तत्व उत्तर भारत के इससे पूर्ववर्ती काल के जनपदों के जैसे थे, जिनमें से अनेक में गण-संघ राज्यव्यवस्था कायम रही, लेकिन कुछ राजतंत्रों के रूप में विकसित हुए। सरदारतंत्र से राजतंत्र की दिशा में परिवर्तन आगे के काल में हुआ।

राजतंत्रों के विकास की गति शायद धीमी रही होगी, क्योंकि बहुत सीमित ढंग की कारीगरी के कारण शहरों में कारीगरों के संकेंद्रण की आवश्यकता नहीं उत्पन्न होगी, और इसलिए ऐसे समूहों के भरण-पोषण के लिए कृषि-उत्पादों की मांग भी

सीमित ही होगी।

संभव है, विनिमय की वस्तुओं, कदाचित् कच्चे माल और बागवानी के उत्पादों से इसमें मदद मिली हो, और विनिमय का काम व्यापारी करते रहे हों। आरंभ में धन देनेवाली मुख्य वस्तु काली मिर्च थी, जो व्यापार के निमित्त बागवानी से पैदा की जानेवाली चीज थी। रोम से लाई गई वस्तुओं–सोने और चांदी के सिक्कों तथा मृगों–के बदले काली मिर्च का विनिमय आरंभ में ऐसे केंद्रों में होता था जो क्रमिक रूप से ही व्यापारिक नगरों के रूप में विकसित हुए। सरदारतंत्रों के समाज के लिए चावल की पैदावार काफी होती थी, और उसकी खेती का विस्तार करने की कोई प्रेरणा स्पष्ट दिखाई नहीं देती। महापाषाण बस्तियों में लौह प्रौद्योगिकी किसानों पर आधारित विकसित और स्थिर काश्तकारी का उद्‌वाहक नहीं थी, जैसी कि वह उत्तर भारत के मामले में बताई गई है। इसके अतिरिक्त, दक्षिण भारत में लोहे के फाल पैदावार में भारी वृद्धि के लिए आवश्यक नहीं थे, क्योंकि गंगा के मैदान के विपरीत, उसके अधिकतर हिस्सों की मिट्टी काफी नरम है। इस परिस्थिति में शहरीकरण तथा राज्यों की संरचना के लिए आरंभिक प्रेरणा व्यापार की बढ़ती मांगों से मिली होगी। राजतंत्रों का उदय एक क्रमिक प्रक्रिया थी।

जैसा कि सभी वीर–पूजक समाजों में होता है, कवियों और चारणों का काफी आदर किया जाता था, यद्यपि उनका दबदबा स्पष्ट दिखाई नहीं देता। उन्होंने वीरों की प्रशस्ति में कविताएं लिखीं और उनका संप्रेषण किया, और इस प्रकार उन्हें ख्याति और अमरता प्रदान की। अपने–अपने संरक्षकों की हैसियत के मुताबिक वे पारितोषिक में एक वक्त के भोजन से लेकर स्वर्ण कमल तक प्राप्त कर सकते थे। ऐसे समाज में दान और भेंट देना एक मानी हुई बात थी और अर्थव्यवस्था कौटुंबिकता से जुड़ी हुई थी। छोटे कुटुंबी सरदारों के लिए साधन जुटाते थे और सरदार औरों पर हमले करते थे, जिनसे प्राप्त लूट का माल पुरस्कार-स्वरूप कुटुंबियों में वितरित किया जाता था। गैर-कुटुंबी श्रम का उपयोग बाद के काल में आरंभ हुआ। जहां श्रम कौटुंबिकता से विनियमित होता है वहां परंपरा से चले आ रहे रिवाजों का पालन किया जाता है। दूसरी ओर गैर–कौटुंबिक श्रम, जिसका स्रोत बहुधा ज़ोर–ज़बरदस्ती या दरिद्रता होती है, अधिक निर्वैयक्तिक होता है। संगम काव्यों में विभिन्न धंधों का उल्लेख हुआ है, लेकिन समाज के वर्ण–व्यवस्थित होने का कोई प्रत्यक्ष जिक्र कहीं नहीं हुआ है।

संपत्ति के पुनर्वितरण के केंद्र के रूप में सरदार की बस्ती धीरे–धीरे प्रशासनिक केंद्र के रूप में विकसित हुई होगी। इस चीज से जब व्यापार का संयोग हुआ तब वह बस्ती शहरीकरण की दिशा में आगे बढ़ने लगी होगी। उरैयूर, मदुरै और करूर के मामलों में ऐसा ही हुआ। रोज़मर्रा की ज़रूरत की चीजें, जैसे धान और नमक, कमोबेश स्थानीय रूप से मिल जाती होतीं, जिसके लिए वस्तु–विनिमय का सहारा

लेना पड़ता होगा। विलासिता की वस्तुओं के व्यापार की दिशा में प्रगति बंदरगाह बस्तियों में हो सकती थी। इस तरह के व्यापार का उदाहरण रोम के साथ चलनेवाला व्यापार है, जिसमें काली मिर्च, कीमती पत्थरों (ख़ास तौर से वैदुर्य) और कपड़ों का विनिमय रोम के सोने और चांदी के सिक्कों, मदिरा तथा मूंगे से किया जाता था। मुजिरिस, अरिकामेडु तथा पुहार (कावेरीपत्तनम) के महत्त्व का रहस्य यही था। आगे चलकर पुहार कई दिशाओं से होनेवाले व्यापार का केंद्र बननेवाला था।

रोम की मिस्र-विजय के फलस्वरूप सिंकदरिया रोम से संबद्ध हो गया। शायद इसी कारण से मिस्रियों द्वारा अरब सागर के अवगाहन में तेजी आई। इस क्षेत्र में कुछ गतिविधियां तो वे लोग पहले भी चला रहा थे, लेकिन तब उनकी कोशिशों में झिझक थी। पहले वे लोग सिंधु डेल्टा के बंदरगाहों तक ही सीमित थे, लेकिन अब और भी दक्षिण के बंदरगाहों में पहुंचने लगे। ईसवी सन् के प्रारंभ में जब यवन व्यापारी दक्षिण भारत में सक्रिय हुए तब तक मन्नत (वोटिव) अभिलेखों में विभिन्न शिल्पों के विशेषज्ञों और व्यापारियों के उल्लेख होने लगे थे। ये लोग सोने, कीमती पत्थरों, कपड़ों आदि से संबंधित शिल्पों तथा सौदागरी में लगे हुए थे।

चेरों, चोलों तथा पांड्यों के बीच बहुधा संघर्ष चलते रहते थे। इससे कवियों को युद्ध तथा प्रेम-काव्यों की रचना करने का पूरा अवसर मिला। कुछ सरदारों के बारे में तो यहां तक कहा गया है कि वे *महाभारत*में वर्णित कुरुक्षेत्र के युद्ध में शामिल हुए थे। इस प्रकार, उनकी पुरातनता दरशाने और उनके वीर नायक होने के दावे को रेखांकित करने की कोशिश की गई। एलारा के नेतृत्व में तमिलों ने उत्तरी श्रीलंका पर आक्रमण किया और उसके एक हिस्से पर कब्जा कर लिया, लेकिन कुछ काल के लिए ही। दत्तुगामिनी ने उन्हें निकाल बाहर किया, जिस कारण से आगे चलकर वह सिंहलियों का एक प्रकार का वीर पुरुष बन गया। भारतीय उपमहाद्वीप के तटवर्ती इलाकों में सिंहली ब्राह्मी सजावटी लेखों वाले मृद्भांडों के ठीकरे मिले हैं, जिससे दक्षिण भारत और श्रीलंका के बीच प्राचीन संपर्क का संकेत मिलता है। ऐसा वर्णन किया गया है कि चेर सरदार नेडुचेरल अडन ने हिमालय तक के प्रदेशों को जीत लिया। स्पष्ट ही यह एक काव्यात्मक अहंकार है। उसके बारे में यह भी कहा गया है कि उसने यवन बेड़े को हरा दिया। शायद यह रोम का कोई व्यापारिक जहाज रहा होगा, क्योंकि आरंभ में यवन का मतलब था समुद्री व्यापार के सिलसिले में पश्चिम से आनेवाले लोग। प्रारंभिक चोल वीर नायकों में एक था कारिकाल ('जले हुए पैरवाला मनुष्य')। उसके बारे में कहा गया है कि उसने पांड्यों, चेरों तथा ग्यारह छोटे-छोटे सरदारों की संयुक्त सेना से लोहा लिया था।

जहां तक सुदूर दक्षिण का संबंध है, यह सरदारतंत्रों से राजतंत्रों की दिशा में संक्रमण का काल था, जिस दौरान राज्यों की संरचना हो रही थी। इस क्षेत्र में उसके कारक वही नहीं थे जो गंगा के मैदान में थे। खेती करने के लिए जंगलों को साफ

करने का कोई साक्ष्य नहीं मिलता, यद्यपि महापाषाण बस्तियों में चावल की सिंचित खेती के जो साक्ष्य मिलते हैं उनसे लगता है कि ऐसी खेती से कुछ अधिशेष का उत्पादन होता होगा। लोहे का उपयोग दीर्घ काल तक होता रहा, फिर भी ऐसा नहीं लगता कि शहरीकरण की दिशा में परिवर्तन का यह कोई निर्णायक कारक था। सरदारतंत्रों की समाप्ति का कारण कलभ्रों के साथ उनकी शत्रुता मानी जाती है। कलभ्रों ने मौजूदा प्रणाली को अस्त-व्यस्त कर दिया था। लेकिन मालूम होता है, अन्य परिवर्तन शहरीकरण की दृष्टि से अधिक प्रभावकारी थे।

बौद्ध तथा जैन भिक्षुओं-जैसे देशांतरण करनेवाले लोगों ने मौर्य प्रशासन द्वारा सुलभ कराए अवसरों का उपयोग किया। कुछ आगे चलकर व्यापार और नई कृषि बस्तियों के बसने का संकेत ब्राह्मण उपनिवेशियों के रूप में मिलता है, जो शायद दकन से आकर वहां बसे थे। भिक्षुओं ने विहार और बसदियां स्थापित करने के लिए सरदारों की कृपा प्राप्त करने की कोशिश की होगी, और बाद में जब शहर बस गए तो उन्होंने धनाढ्य शिल्पियों तथा व्यापारियों से संरक्षण प्राप्त करने का प्रयत्न किया होगा। पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र से व्यापार के सहारे विनिमय के महापाषाण तंत्रों का कुछ विस्तार अवश्य किया गया होगा। इससे संपत्ति के संग्रह को बल मिला होगा। परिवर्तन के अनेक संभावित कारण थे : वस्तु-विनिमय का व्यापार में रूपांतरण; या कुल पर आधारित कृषि के किसानों पर आधारित कृषि का रूप ले लेना, जिससे कृषि कर का जरिया बन गई; सरदारों द्वारा संयोजित गैर-कुटुंबी श्रम का उपयोग; और सरदारों द्वारा हमलों और लूटपाट के अलावा अन्य उपायों से संपत्ति अर्जित करना।

शायद राजतंत्रों के उदय के साथ दक्षिण भारत में ब्राह्मण बस्तियों के बसने से स्थानीय भाषा में संस्कृत का समावेश हुआ। लेकिन उसका मतलब यह था कि संस्कृत-भाषी लोग तमिल सीखें और पेशेवर तरीके से उसका इस्तेमाल करें और बेशक कुछ संस्कृत-भाषियों ने ऐसा किया। यह दोतरफा प्रक्रिया थी, इस बात की ओर क्वचित् ही ध्यान दिया जाता हो, परंतु सांस्कृतीकरण के विश्लेषण के लिए यह बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भाषा के परिवर्तन और देवी-देवताओं तथा कर्मकांडों के समाहार के अलावा और भी बहुत-सी बातें इस प्रक्रिया से संबंधित थीं, और इसलिए इसे एक लगातार जारी रहनेवाली प्रक्रिया के रूप में देखना चाहिए। इस उपमहाद्वीप के अन्य अनेक भागों में भी ऐसा ही हुआ।

मार्गों और व्यापार-केंद्रों के तंत्र

इस काल में इस उपमहाद्वीप की राजनीति तरह-तरह के रंगबिरंगे खंडों से बनी पच्चीकारी जैसी दिखाई देती है। प्रत्येक खंड का आकार अलग है। कुछ छोटे हैं, लेकिन कुछ खंड देखने में बड़े लगते हैं, चाहे उनके उपखंडों को जितने भी शिथिल

ढंग से जोड़ा गया हो। इस कारण से विविधता और बढ़ जाती है कि इस समग्रता में अलग-अलग प्रकार की राजनीतिक प्रणालिया शामिल हैं—राजतंत्र, अल्पतंत्र और सरदारतंत्र। इसलिए पूरे उपमहाद्वीप को ध्यान में रखते हुए ऐतिहासिक सामान्यीकरण करना एक तरह से कठिन है। लेकिन इन तमाम विविधताओं को जो एक धागा पिरोता है वह है विनिमय और व्यापार। लेकिन यहां भी हमें तसवीर में एकरूपता नहीं दिखाई देती। तथापि यह बात काफी महत्त्वपूर्ण है कि किस प्रकार उपमहाद्वीप के अनेक भागों में चल रही गतिविधियां तथा राजनीतिक अस्मिताएं इससे जुड़ी हुई थीं। यह कार्य विभिन्न प्रकार के ऐसे व्यापारिक केंद्रों के विकास द्वारा संपादित किया गया जो दूर-दूर तक पहुंचनेवाले मार्गों के माध्यम से एक-दूसरे से जुड़े हुए थे।

पहले वस्तुओं का निर्माण कच्चे माल के स्रोतों के निकट या जहां शिल्प-विशेष की परंपरा मौजूद थी वहां किया जाता था और आसपास के इलाकों के कारीगर वहां इकट्ठे हो जाते थे। अब शिल्पी और कारीगर छितरा गए थे, और उनमें से बहुत-से लोग ऐसे स्थानों में एकत्र हो जाते थे जहां बाजार होते थे। छोटे विनिमय केंद्रों का पनपना कच्चे माल के स्रोतों की निकटता या वितरण की संभावनाओं पर निर्भर होता था, लेकिन बड़े बाजार शहरों में थे। छितराव का कारण कच्चे माल को ढोकर दूर-दूर तक ले जाने की कठिनाई भी थी। सूती और रेशमी कपड़े के उत्पादन के लिए जरूरी कताई और बुनाई विभिन्न क्षेत्रीय तकनीकों की अपेक्षा रखती थी। कहा जाता था कि कपास को सांप के केंचुल जैसा सूक्ष्म होना चाहिए ताकि उससे कता सूत दिखाई ही न पड़े। धुनिए की धुनकी—जिसका उपयोग कई स्थानों में आज भी किया जाता है—के इस्तेमाल से कपास की गुणवत्ता की अभिवृद्धि हुई। लोहा अनेक स्थानों में बिखरी खानों से या कुछ क्षेत्रों में लोहायुक्त मिट्टी से प्राप्त होता था। तांबे का खनन राजस्थान, दकन और हिमालय की तराई में होता था। कीमती पत्थर प्रायद्वीप के कई पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों में मिलते थे। हिमालय की ढालों में बहुप्रयुक्त कस्तूरी और केसर मिलता था। पंजाब की लवण पर्वतश्रेणी नमक का प्रमुख स्रोत बनी रही। दक्षिण भारत मसाले, सोना, कीमती पत्थर, मोती और साथ ही चंदन तथा आबनूस की लकड़ी मुहैया करता था।

अब उपमहाद्वीप से होकर कई मार्ग गुजरते थे और कुछ तो उससे निकलकर आगे मध्य और पश्चिमी एशिया तक चले जाते थे। शकों तथा कुषाणों के राजनीतिक नियंत्रण ने मध्य एशिया और भारत को एक-दूसरे से जोड़ दिया। जब संबंध स्थापित हो गया तब व्यापार का जारी रहना स्वाभाविक था, बशर्ते कि विनिमय के लिए माल उपलब्ध हो। चीन के व्यापारी रोएंदार चमड़े और घोड़ों का आयात करते थे। घोड़े के व्यापार में भारतीय सौदागरों की भी दिलचस्पी थी। जब कुषाणों का पतन हुआ उसी दौर में मध्य एशिया में रोम के व्यापारिक हितों का ह्रास हुआ। इससे पश्चिमोत्तर भारत के व्यापारिक हितों की हानि हुई, लेकिन यह सिलसिला लंबे समय

तक नहीं चला। अन्यत्र–जैसे कि प्रायद्वीप के तटों पर–पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र के साथ व्यापार की उन्नति हुई और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ व्यापार अधिक लाभदायक हो गया।

व्यापारिक मार्ग सामान्यतः उच्च पथों और नदी घाटियों का अनुसरण करते थे। नदियों पर पुल नहीं थे, लेकिन नावों से उन्हें पार करने की सुविधा आम थी। व्यापारिक यात्राएं खुश्क गरमी और सरदी के मौसमों में की जाती थीं, और चौमासा विश्राम के महीने होते थे। काफिले बड़े-बड़े होते थे और सुरक्षा की खातिर अकसर कई काफिले साथ हो जाते थे। बैल और खच्चर काफिले के पशु थे, यद्यपि रेगिस्तानों में ऊंटों का उपयोग किया जाता था। चलने में अधिक दक्ष गधे असमतल पहाड़ी क्षेत्रों के भारवाही पशु थे। कौटिल्य का परामर्श था कि दक्षिण में खनन क्षेत्रों से गुजरनेवाले मार्गों से चलना चाहिए, क्योंकि ये मार्ग घने आबाद क्षेत्रों में पड़ते हैं और इसलिए ज़्यादा सुनसान मार्गों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित हैं। लगता है, खनन कार्य का, ख़ास तौर से सोने और कीमती पत्थरों के खनन का विस्तार हुआ। बौद्ध स्रोतों में लंबी–लंबी दूरियों तक जानेवाले मार्गों से लोगों के नियमित रूप से चलने का जिक्र मिलता है। इसके उदाहरण उत्तर से दक्षिण–पश्चिम को जानेवाला श्रावस्ती–प्रतिष्ठानपुर मार्ग तथा उत्तर के नदी घाटियों के समानांतर चलनेवाले मार्ग थे। जहां तक संभव होता था, वहां तक रेगिस्तानी मार्गों से बचने की कोशिश की जाती थी। जरूरी होने पर कम दूरी की यात्राएं रेगिस्तानों से की जा सकती थीं।

तटवर्ती नौपरिवहन आम था, क्योंकि जलमार्ग थलमार्गों की अपेक्षा कई गुना सस्ते होते थे। लेकिन जल–मार्गों के कुछ दोष भी थे। *अर्थशास्त्र*में जल और थल मार्गों के लाभों की तुलना करनेवाला एक दिलचस्प अवतरण है। एक स्थल पर कहा गया है कि यद्यपि समुद्री यात्रा सस्ती है तथापि जल–दस्युओं के खतरे और जहाज खो बैठने की संभावना के कारण वह महंगी हो जाती है। जल–दस्यु इतिहास के पूरे दौर में समुद्री व्यापार में लगे तटवर्ती क्षेत्रों के लिए अभिशाप साबित होनेवाले थे। थलवर्ती लुटेरों की तुलना में वे कोई कम उत्पाती सिद्ध नहीं हुए। तटवर्ती मार्ग स्पष्ट ही मध्य समुद्री मार्ग की अपेक्षा सुरिक्षत होता है, और साथ ही उसे स्थानीय व्यापार के अधिक अवसर भी मिलते हैं। लेकिन जहां लाभ सुनिश्चित होता था और समय का अत्यधिक महत्त्व होता था वहां मध्य समुद्री मार्ग अपनाना जरूरी हो जाता था, क्योंकि उससे गंतव्य स्थान तक जल्दी पहुंचा जा सकता था। छोटे तटवर्ती जहाजों, लट्ठों को एक–दूसरे के साथ बांधकर बनाए गए उनसे बड़े जहाजों और फिर लाल सागर या दक्षिण–पूर्व एशिया को जानेवाले दूरगामी और सबसे बड़े जहाजों से माल की ढुलाई की जाती थी। प्लिनी के अनुसार, सबसे बड़ा भारतीय जहाज 75 टन का था, लेकिन कुछ अन्य स्रोतों में इतने बड़े जहाजों का अनुमान दिया गया है जिनमें सात–सात सौ यात्री यात्रा कर सकते थे।

जहां तक बंदरगाहों की बात है, सिंधु डेल्टा में बारबारीकम नामक बंदरगाह पश्चिमोत्तर के लिए बहुत उपयोगी था, लेकिन मुहाने पर तलछट जमा हो जाने से उसके बंदरगाहों के स्थान बदलने पड़े और अंत में उनका क्षय हो गया। उसका पृष्ठदेश (हिंटरलैंड) उत्तर में गंधार तक फैला हुआ था। भृगुकच्छ/भारुकच्छ या यूनानी स्रोतों का बैरिगाजा तथा आधुनिक भरुच विगत सदियों की ही तरह पश्चिमी समुद्री व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह बना रहा, और उसका पृष्ठप्रदेश गंगा के मैदान तक पहुंचता था। भृगुकच्छ पहुंचनेवाले जहाजों को उनके लंगरगाहों तक मार्ग-दर्शक नौकाएं ले जाती थीं। कम से कम एक जातक कथा में बवेरू (बेबिलोन) का उल्लेख मिलता है। कांबे की खाड़ी अरब सागर के बहुत-से जहाजों का गंतव्य बनी रही; बल्कि यह स्थिति हाल तक जारी रही। लेकिन बहुत-सा व्यापार पश्चिमी तट पर और भी दक्षिण की ओर के बंदरगाहों के जरिए चलता था—जैसे सोपाराऔर कल्याण के जरिए। ये दोनों बंदरगाह पश्चिमी दकन के काम आते थे। इसी प्रकार मुजिरिस बंदरगाह दक्षिण भारत के केंद्रों से जुड़ा हुआ था। पूर्वी तट के बंदरगाह आरंभ में नदियों के मुहानों के निकट थे। इनमें से बड़े बंदरगाह गंगा डेल्टा में पड़ते थे, जैसे ताम्रलिपि या तामलुक। इस बंदरगाह से गंगा नदी के मार्ग से होनेवाले व्यापार का भी संबंध था। इसी प्रकार पश्चिमोत्तर से आनेवाले व्यापारिक मार्ग गंगा के मैदान से होकर उस बंदरगाह तक पहुंचते थे। गंगा के डेल्टा में खरोष्ठी लिपि के अभिलेखोंवाले जो ठीकरे जब-तब मिल जाते हैं वे इन संबंधों का संकेत करते हैं। इसी प्रकार सिंहली ब्राह्मी के सजावटी लेखों वाले जो ठीकरे यहां और साथ ही सुदूर द्वीप बाली में मिलते हैं वे भी इस बंदरगाह के व्यापारिक संबंध सूचित करते हैं।

मौर्यों ने तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक एक राजमार्ग बनवाया था। इसी मूल सड़क को आधार बनाकर या उसके आसपास आगे शेरशाह, मुगलों तथा अंग्रेजों ने भी सड़कें बनवाईं। अंग्रेज इसे ग्रैंड ट्रंक रोड कहते थे और अब राष्ट्रीय उच्चपथ नं॰ 1 के रूप में उसका जीर्णोद्धार किया गया है। पाटलिपुत्र सड़क और जलमार्ग दोनों के जरिए तामलुक से जुड़ा हुआ था, और उधर तामलुक समुद्री मार्ग से श्रीलंका तथा म्यानमार से जुड़ा हुआ था। व्यापारिक मांगों में तीव्रता आने से मौर्योत्तर काल में दक्षिण की ओर जानेवाले मार्गों का भी विकास हुआ। जहां संभव था वहां थल-मार्ग नदियों की घाटियों के समानांतर चलते थे। दकनी पठार की ऊंचाई सीधे उत्तर-दक्षिण संचार के मार्ग में बाधक थी, लेकिन नदियों की घाटियों से—जैसे गोदावरी और कृष्णा की घाटियों से—होकर पूर्व-पश्चिम मार्गों के लिए गुंजाइश रह जाती थी। गंगा के मैदान की तरह पठारी क्षेत्र में घने जंगल थे और इसलिए घाटियों के साफ इलाकों और बस्तियों के मुकाबले वह असुरक्षित था।

तथापि दकन में जगह-जगह अनेक क्रय-विक्रय तथा उत्पादन केंद्र उभर आए

थे और बहुत-से बौद्ध विहार स्थापित हो चुके थे। तेर, भोकार्दन, कराड, कोंडपुर, धरनीकोट और अमरावती ऐसे स्थानों के कुछ उदाहरण हैं। इनके अलावा अपेक्षाकृत उत्तर की ओर विदर्भ तथा पश्चिमोत्तर दकन में जो केंद्र थे सो अलग। भोकार्दन, कोटलिंगला, धूलीकट्टा तथा पेडबुंकुर के रास्ते उज्जैन अमरावती से जुड़ा हुआ था। इनमें से कुछ स्थानों में महापाषाण या स्तूप अथवा किलेबंद बस्तियां थीं। बौद्ध ठिकाने कभी-कभी महापाषाणिक ठिकाने के निकट हुआ करते थे। इन क्षेत्रों में बौद्ध भिक्षुओं के आगमन का मतलब यह था कि यहां ऐसी बस्तियां थीं जिनकी भिक्षा से इन लोगों का भरण-पोषण हो सकता था। किसी महापाषाण कब्र के ठिकाने की पवित्रता स्तूपों को भी पवित्रता प्रदान करनेवाली सिद्ध होती होगी, क्योंकि दोनों तत्वत: मृतकों की समाधियां या समाधियों के प्रतीक ही थे, यद्यपि अलग-अलग प्रकार के। एक और मार्ग भृगुकच्छ, नासिक, कोंडपुर, नागार्जुनकोंड और अमरावती को आपस में जोड़ता था। इस प्रकार के ठिकानों के उत्खनन से लगता है कि वे मार्ग में आनेवाले अलग-थलग पड़े पड़ाव नहीं थे, बल्कि आसपास के किसानों, पुश-चारकों तथा आखेटक-खाद्य-संग्राहकों से उनके तार जुड़े हुए थे।

पहाड़ों में जहां भी घाटियां होती थीं या उनकी श्रृंखला टूटती थी उन हलकों का उपयोग मार्ग निकालने के लिए किया जाता था। इसका उदाहरण हमें प्रायद्वीप में मिलता है। एक प्रमुख मार्ग पश्चिम में मलाबार तट ये आरंभ होकर पालघाट के दर्रे से गुजरता था और फिर कावेरी की घाटी से होते हुए पूर्वी तट की बस्तियों तक चला जाता था। बीच में वह कोडुमनाल तथा करूर जैसे ठिकानों को पार करता हुआ अरिक़ामेडु, कोरकै या अलगंकुलम पहुंचता था। पूर्वी तट के ठिकानों का श्रीलंका की बस्तियों से संपर्क था। तटवर्ती जलमार्ग तेजी से विकसित हुए, और दोनों तटों पर उत्तर-दक्षिण संबंध के सेतु बन गए। कभी-कभी थल-मार्गों के मुकावले भी इन्हें तरजीह दी जाती थी। पहले यह समझा जाता था कि रोम के जहाजों का माल पश्चिमी बंदरगाहों पर उतार दिया जाता था, जहां से वह थल-मार्गों से पूर्वी तट को ले जाया जाता था, जहां अरिकामेडु जैसे स्थान व्यापार के केंद्र बन गए थे। आयातित माल आगे वितरण के लिए उतार लिया जाता था और निर्यात का माल ख़ास तौर से लाल सागर के बंदरगाहों को भेजने के लिए लाद दिया जाता था। अब ऐसा माना जाता है कि दक्षिण भारत और श्रीलंका के बीच के समुद्र के खतरनाक होने के बावजूद जहाज सीधे पूर्वी तट के बंदरगाहों तक पहुंचते थे।

भारत के अंदर के मार्गों का उपयोग ज़ोर-शोर से किया जाता था, और पश्चिम तथा मध्य एशिया के उन दूरस्थ स्थानों से संपर्क के कारण इस गतिविधि में वृद्धि हुई जो हेलनवादी संसार से जुड़े हुए थे। उत्तर में सबसे अधिक उपयोग तक्षशिला से पश्चिम दिशा में बेग्राम को जानेवाले मार्ग का होता था। बेग्राम जाकर वह मार्ग कई शाखाओं में विभाजित हो जाता था। उत्तरी मार्ग बैक्ट्रिया, आमूदरिया, कैस्पियन सागर,

और काकेसस से होते हुए काला सागर पहुंचता था। एक अपेक्षाकृत अधिक दक्षिणाभिमुख मार्ग कंदहार और हेरात से एकबतना जाता था, जिसके बाद वह पूर्वी भूमध्य सागर के बंदरगाहों से जुड़ जाता था। एक अन्य महत्त्वपूर्ण उच्च पथ कंदहार को परसिपोलिस और सुसा से जोड़ता था। इन मार्गों से तरह-तरह की वस्तुएं बेग्राम जैसे शहरों में आती थीं, और इनमें भारत के सिद्धहस्थ कारीगरों द्वारा हाथी दांत से बनाई गई चीजें और चीनी रेशमी कपड़ा भी शामिल होता था। बैक्ट्रिया से लगा हुआ मर्जियाना पूरब से भूमध्य सागरीय क्षेत्र के लिए आनेवाले रेशमी कपड़े के लिए आवागमन केंद्र का काम करता था। इसलिए यह अप्रत्याशित नहीं है कि वहां अनेक बौद्ध विहार थे। गंधार भी थलमार्गीय व्यापार के लिए एक केंद्रीय स्थल बन गया। रेशम मार्ग तथा पूर्वी बैजन्तियाई व्यापार केंद्रों की व्यापारिक हलचलों का वह खूब लाभ उठाता था। गंगा के मैदान से उसके संबंध के फलस्वरूप उसका पृष्ठप्रदेश गंगा के डेल्टा तक पहुंचता था। गंधार हखामनी तथा मौर्य जैसे साम्राज्यों एवं पश्चिमोत्तर के विविध राजतंत्रों की अधीनता झेलकर भी अपनी सांस्कृतिक अस्मिता कायम रखे हुए था। वहां व्यापार का जो माल पहुंचता था उसमें भारत की काली मिर्च, तरह-तरह के कपड़े, धातुएं, गैंडे, हाथी आदि शामिल थे और पश्चिम से कछुए की खोपड़ियां वगैरह आती थीं।

मध्य एशिया की गतिविधियां राजनीतिक दृष्टि से तो खानाबदोशों के हमलों और देशांतरणों से परिचालित होती थीं लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण था रेशम मार्ग का उदय और उससे होकर चलनेवाला व्यापार। तकलामाकन रेगिस्तान के चारों ओर अनेक नखलिस्तान थे, जो इस मार्ग के लिए पड़ाव बन गए। चीन-स्थित लोयांग और चांग-आन से यह मार्ग दुनहांग पहुंचता था, जहां वह दो शाखाओं में बंट जाता था। उत्तरी मार्ग तुरफान, कराशहर और कुचा होते हुए काशगर चला जाता था। दक्षिणी मार्ग नीया और खोतान होते हुए काशगर पहुंचता था। काशगर से वह मार्ग बैक्ट्रा / बल्ख चला जाता था और वहां से या तो ईरान और पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र में या और भी दक्षिणाभिमुख होकर भारत में पहुंचता था।

यह कोई एक और सीधा मार्ग नहीं था, बल्कि उसमें अनेक शाखाएं शामिल हो जाती थीं, जो नखलिस्तानी शहरों से निकलती थीं। रेशम मार्ग की राजनीति वे लोग तय करते थे जिनका उसके विभिन्न हिस्सों पर अधिकार होता था। नखलिस्तान ऐसे स्थान होते थे जहां काफिले के भारवाही पशुओं को बदला जा सकता था या उनकी कमी को पूरा किया जा सकता था। वहां सशस्त्र रक्षकों की भी भर्ती की जा सकती थी। सड़कें ऊबड़-खाबड़ थीं और यात्रा में पहाड़ों तथा रेगिस्तानों को पार करना पड़ता था। इसके अलावा उस क्षेत्र में लुटेरे और कठिन जलवायुगत स्थितियों का भी सामना करना पड़ता था।

भारतीय व्यापारी काशगर, यारकंद, खोतान, मीरन, कुची, कराशहर और तुरफान

जैसे स्थानों में व्यापार केंद्र स्थापित कर रहे थे और व्यापारियों की बस्तियां बसा रहे थे। इन दूरस्थ क्षेत्रों में न केवल भारतीय व्यापारियों का बल्कि बौद्ध धर्म-प्रचारकों का भी जमावड़ा होने जा रहा था। लाभ के आकर्षण में व्यापारी अपने काम में जुटे रहे और बौद्ध धर्म के प्रचार के आकर्षण ने भिक्षुओं को सक्रियता की प्रेरणा दी। इन गतिविधियों के फलस्वरूप चीन के साथ मध्य एशिया के संचार में और भी सुधार हुआ। एक अर्थ में कुषाण शासन भारत और चीन के बीच की कड़ी था, और बौद्ध धर्मप्रचारकों के कार्यकलाप के फलस्वरूप इस संबंध में और भी निकटता आई। रोम साम्राज्य के व्यापारी कभी-कभी गोभी रेगिस्तान तक पहुंच जाने का साहस दिखाते थे, लेकिन भारतीय व्यापारियों को यह समझते देर नहीं लगी कि चीनियों तथा पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्रों और बैजन्तियाई प्रदेशों के केंद्रों के बीच चलनेवाले विलासिता की वस्तुओं के व्यापार में बिचौलिए की भूमिका कितनी अधिक लाभदायक है।

पहलवों के साथ रोमवालों के संघर्ष के कारण चीनी माल कभी-कभी तक्षशिला और भृगुकच्छ की ओर भेज दिया जाता था, जिससे पश्चिमोत्तर भारत की समृद्धि की और भी वृद्धि होती थी। यवनों तथा मध्य एशिया के साथ थलमार्गीय व्यापार उत्तर के पहाड़ों के दर्रो के रास्ते होता था और उस व्यापार से तक्षशिला या ऐ-खानूम जैसे नगर संबंधित होते थे। इस तरह उन्होंने विपुल संपत्ति प्राप्त की, जिसका पता खुदाइयों से उद्घाटित उनके उच्च जीवन-स्तर से चलता है।

कुछ दक्षिण हटकर पश्चिम एशिया की ओर जानेवाला एक मार्ग फ़ारस की खाड़ी से सिल्युसिया पहुंचता था। जहाज तटवर्ती जलमार्ग से बेबिलोन की ओर बढ़ते हुए दजला और फरात के डेल्टे तक पहुंचते थे। सीरिया में पामीरिया और जोर्डन में पेत्रा के द्वीप-शहर पश्चिम एशियाई मार्गों को पूर्वी भूमध्य सागर के बंदरगाहों से जोड़ते थे या फिर जहाज अरब सागर को पार करके अदन अथवा डियोस्कुराइडीस-सोकोत्रा द्वीप-को जा सकते थे और वहां से आगे लाल सागर तक पहुंचा जा सकता था। भारतीय जहाज चावल, गेहूं और कपड़े लेकर सोकोत्रा जाते थे और उधर से कछुए के खोपड़े आदि लेकर लौटते थे। मालूम होता है, उनके लाल सागर के बंदरगाहों में जाने पर प्रतिबंध लगा हुआ था। सिकंदरिया के समुद्री कप्तान भारत से जो माल लेकर वापस लौटते थे वह लाल सागर के मिस्री तट के बंदरगाहों पर उतार दिया जाता था-जैसे बेरिनिस या मायोस होरमस में-और वहां से थल-मार्ग से नील नदी तक ले जाया जाता था, जहां से नदी मार्ग से सिकंदरिया तक पहुंचाया जाता था, जो भूमध्य सागरीय संसार का गोदाम था।

अरब का दक्षिणी क्षेत्र कृषि-संपदा से भरपूर था, और उसे व्यापार से भी अच्छी आय होती थी। भारतीय माल में तांबा, चंदन की लकड़ी, सागवान और आबनूस शामिल थे, और भारत को निर्यातित माल में मोती, रंगों, मदिरा, खजूर, सोने और विशेष रूप से प्रशिक्षित गुलामों का समावेश था। इनमें से कुछ बंदरगाहों का उपयोग

इससे पहले भी किया जाता रहा हो तो इसमें आश्चर्य नहीं। बारबरीकममें जहाजों और व्यापारियों का आना-जाना लगा ही रहता था। वहां पहुंचनेवाले आयातित माल में बालटी, कपड़ा, पुखराज, मूंगा, शिला-रस (स्टोरैक्स, जो सुगंधि बनाने के काम आनेवाला एक पदार्थ था), लोबान, शीशा, चांदी, सोने के पत्तर और मदिरा शामिल थे; निर्यात तरह-तरह के मसालों, फीरोजा, लाजवर्द, मलमल, रेशमी धागे और नील का होता था। यूनानी स्रोतों का बैरीगाजा, अर्थात् भृगुकच्छ पश्चिमी तट के सबसे बड़े गोदामों में से था और पश्चिम एशिया के साथ समुद्री व्यापार का अधिकांश इसी बंदरगाह के जरिए होता था। वह तरह-तरह के माल का आयात करता था, जिसमें मदिरा, टिन, मूंगा, पुखराज, जाली, शिला-रस, सिंजी या वनमेथी, शीशा, मन-शिला (लला संखिया), अंजन, मरहम और सोने तथा चांदी के सिक्के शामिल थे। स्थानीय शासकों द्वारा प्राप्त भेंटों में सोने-चांदी के गहने, गायक लड़के, सुंदरियां, मदिरा और उत्कृष्ट कोटि के कपड़े होते थे। भृगुकच्छ के निर्यात में आम किस्मों के मसाले, बालछड़, 'मालबाथरम' (मरहम बनाने में इस्तेमाल के लिए), हीरे, नीलम और कीमती पत्थर शामिल थे। इन वस्तुओं पर गौर करने से लगता है कि चिकित्सा-संबंधी जानकारी का नियमित आदान-प्रदान होता था।

भारत से पश्चिम एशिया पहुंचने का तटवर्ती जलमार्ग बहुत कठिन था और उसे सिर्फ आवश्यक वस्तुओं के व्यापार के लिए ही कायम रखा गया। अरब सागर को पार करने के लिए बीच समुद्र से गुजरनेवाले मार्गों को ग्रीष्म ऋतु में दक्षिण-पश्चिम से चलनेवाली मानसूनी हवाएं सुविधाजनक बना देती थीं। इन हवाओं के कारण बीच समुद्र से होकर यात्रा करने में तटवर्ती समुद्री मार्ग से मात्रा करने की अपेक्षा बहुत कम समय लगता था। शायद सबसे पहले अरबों ने ही इस प्रयोजन से हवाओं का उपयोग किया। पहली सदी ई.पू. के मध्य में भूमध्य सागरीय संसार के व्यापारियों ने इन हवाओं की उपयोगिता को पहचाना। यूनानी स्रोतों में उल्लेख है कि हिपालस की खोज से नौचालन में क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया, क्योंकि अब समुद्र को उसके बीच से पार करने के लिए मानसूनी हवाओं का उपयोग कर सकते थे। ऐसा माना जाता था कि हिपालस कोई व्यक्ति था, जिसने इन हवाओं का पता लगाया, लेकिन अब यह राय जाहिर की जा रही है कि हिपालस वस्तुतः इस हवा को दिया गया नाम था। लाल सागर के दक्षिणी छोर से चलनेवाले जहाज दक्षिण-पश्चिम मानसून के प्रबलतम वेग से गुजर जाने की प्रतीक्षा करते थे, जिसके बाद अपेक्षाकृत कम उग्र हवा में यात्रा आरंभ करते थे। भारत पर से गुजरकर आनेवाली पूर्वोत्तर मानसूनी हवाओं के साथ सर्दी के मौसम में ये जहाज लौट जाते थे। नौ-चालन के लिए हवाओं के इस्तेमाल के कारण मिस्र से आए नाविकों तथा व्यापारियों के लिए भारतीय तट पर कुछ समय रुके रहना शायद जरूरी हो जाता होगा। इस अल्प प्रवास के बाद ही वे अपने लाल सागर स्थित बंदरगाहों के लिए प्रस्थान करते होंगे, लेकिन इस दौरान स्थानीय भारतीयों तथा

आगंतुक यवनों के बीच संपर्क की अभिवृद्धि होती होगी।

एक समय कहा जाता था कि भारत के साथ रोम के व्यापार के लिए पहल पश्चिम द्वारा की गई और यह सिलसिला जारी रहा। जब इस व्यापार का पहले-पहल संज्ञान लिया गया तब उसके स्रोत यूनानी और लैटिन थे, जिससे लगता था कि इस व्यापार में प्रमुख भागीदारी रोम साम्राज्य की थी। लेकिन तब से प्रायद्वीपीय भारत के आर्थिक मानचित्र–ख़ास तौर से व्यापार-विषयक साक्ष्यों—में पाए जानेवाले रिक्त स्थानों को भरा जा चुका है। अब पूर्ववर्ती कथन का स्थान भरपूर भारतीय भागीदारी के साक्ष्यों ने ले लिया है। प्रायद्वीप में पहले से ही चले आ रहे विस्तृत विनिमय तंत्रों को देखते हुए कहना होगा कि एशिया और मिस्र के साथ व्यापार कोई सरासर नई प्रवृत्ति नहीं थी। लाल सागर के बंदरगाहों की हाल की खुदाइयों में तमिल ब्राह्मी तथा प्राकृत में अंकित भारतीय नामोंवाले ठीकरे प्राप्त हुए हैं, जिससे उस क्षेत्र के व्यापार में उनकी शिरकत का पता चलता है। रोम के साम्राज्यीय सिक्कों के जखीरों की प्राप्ति, भारतीय उत्पादों तथा उनके विनिमय के साक्ष्य और दकन में कुछ यवन दाताओं द्वारा कुछ बौद्ध ठिकानों का दान–ये तमाम बातें इस व्यापार में भारतीयों की उपस्थिति को रेखांकित करती हैं। व्यापारिक परिमापों के केंद्र और परिधियां हमेशा एक ही नहीं रहतीं। यदि आरंभ में पूर्वाभिमुख व्यापार को सिकंदरिया से गति मिली तो भारतीय व्यापारिक तंत्रों ने भी इन दिलचस्पियों का लाभ उठाने और इस व्यापार के भारतीय पक्ष पर अपना नियंत्रण स्थापित करने में देर नहीं की।

ईसा की पहली सदी के मध्य में यूनानी भाषा में लिखा गया समुद्री भूगोल *पेरिप्लुस*लाल सागर और भारतीय तट के बंदरगाहों तथा मार्गों का, उनके पृष्ठप्रदेशों तथा व्यापार के माल का लगभग एक सार-संग्रह है। राजनीतिक अवस्थाओं के भी कुछ प्रासंगिक जिक्र हुए हैं। जिन वस्तुओं का व्यापार होता था उनमें कपड़े, काली मिर्च, कीमती पत्थर और हाथी के दांत शामिल थे, जिनका विनिमय भारतीय प्रायद्वीप में रोम के बहुमूल्य सिक्कों तथा मूंगे और मदिरा से किया जाता था, हालांकि आयात की मुख्य वस्तु रोम के सिक्के ही थे। उत्खननों से मदिरा के तलछट जमे दोहत्थे कलशों के ठीकरे प्राप्त हुए हैं। अन्यत्र प्राप्त मदिरा चुआने की विधि का संकेत देनेवाली वस्तुओं से लगता है कि स्थानीय तथा आगन्तुक दोनों तरह के लोग मदिरा एवं शराब का सेवन करते थे। प्रारंभिक तमिल साहित्य में मुजिरिस जैसे बंदरगाहों में यवनों के माल से भरे जहाजों के आने का वर्णन किया गया है और इस बात का जिक्र बड़े उत्साह से किया गया है कि वे उत्तम कोटि की मदिरा लाते हैं। इसके अतिरिक्त स्थानीय काली मिर्च के साथ रोम के सिक्कों के विनिमय के लाभदायक व्यापार का उल्लेख तो किया ही गया है।

दकन के आंतरिक प्रदेशों में इस व्यापार में न केवल राजतांत्रिक राज्यों की राजधानियां बल्कि तेर, नेवासा, भोकार्दन, कोंडापुर, सत्तनिकोट और सन्नति जैसे

उत्पादन केंद्र भी शरीक थे। पौनी, पौनार और सन्नतिजैसे कुछ स्थानों में बौद्ध विहार भी स्थित थे। पूर्वी दकन में तोटलाकोंड, भट्टिप्रोलु, धरनीकोट, अमरावती और नागार्जुनकोंड में बौद्ध केंद्रों की स्थापना के साथ व्यापार की अभिवृद्धि हुई। पूर्वी तट के शहर अंदर के शहरों से–जैसे कोंडपुर और पेड्डबंकुर से–जुड़े हुए थे, और उधर ये केंद्र उत्तरी और पश्चिमी भारत को जानेवाले मार्गों से संबंधित थे। कुछ केंद्र कृष्णा घाटी में और भी आगे जाकर सोने की खानोंवाले क्षेत्रों के आसपास स्थित थे। ये गंगा के मैदान और मध्य भारत से देशांतरण करनेवाले बौद्ध तथा जैन भिक्षुओं के महत्त्वपूर्ण केंद्र थे।

कोची के निकट शायद कोडांगल्लूर / क्रैंगानूर के आसपास स्थित मुचीरी या मुजिरिस बंदरगाह काली मिर्च, मसालों तथा वैदुर्य के व्यापार से संबंधित था। हाल में प्राप्त ईसा की दूसरी सदी के एक यूनानी पेपीरस में सिकंदरिया के एक आयात करनेवाले व्यापारी तथा एक महाजन के बीच के अनुबंध को लिपिबद्ध किया गया है, जिसका संबंध जहाज से ढोए जानेवाले माल, ख़ास तौर से मुजिरिस से लाई जानेवाली काली मिर्च से है। इससे इस व्यापार के विपुल परिमाण का पता चलता है। मलाबाार के साथ काली मिर्च के समृद्धिपूर्ण व्यापार के उल्लेख पुर्तगालियों के आगमन तक जारी रहते हैं। सिक्कों के जखीरों की प्राप्ति के स्थानों से लगता है कि व्यापारिक संबंधों का एक सिलसिला मुजिरिस से आरंभ होकर पालघाट के दर्रे के पास वैदुर्य खानों का लाभ उठाते हुए कावेरी घाटी से आगे बढ़ते हुए पूर्वी तट तक पहुंचता था।

*पेरिप्लुस*में निर्दिष्ट मार्ग प्रायद्वीप के दक्षिणी छोर का चक्कर लगाकर ऊपर पूर्वी तट को जाता है, जहां के जितने भी बंदरगाहों का उल्लेख किया गया है उन सबमें एक, अर्थात् अरिकामेडु (जिसे *पेरिप्लुस*में मेडाउक कहा गया है) के बारे में काफी विशद जानकारी दी गई है। इस ठिकाने के उत्खनन से एक बड़ी बस्ती उद्‌घाटित हुई है, जहां हमें पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र के व्यापारियों से संपर्क के साक्ष्य मिलते हैं। अरिकामेडु दक्षिण-पूर्वी भारत का मात्र जहाजों के आने-जाने और ठहरने का ही बंदरगाह नहीं था। वहां से न केवल स्थानीय रूप से उपलब्ध माल का निर्यात किया जाता था, बल्कि समझा जाता है कि कुछ ख़ास किस्म के कपड़े भी शायद रोम के लोगों की अपेक्षाओं के अनुसार बनाए जाते थे, और रोम भेजने के लिए जहाजों में लाद दिए जाते थे। वहां विशिष्ट रोमन मृद्‌भांडों के–जैसे टेरा सिजिलाटा, अरेटीन भांड और दोहत्थे कलशों के—ठीकरे और साथ ही मनके, शीशा और पक्की मिट्टी की मूर्तियां मिली हैं। इन सब पर गौर करने से लगता है कि यह बस्ती कम से कम पहली सदी ई.पू. से सक्रिय थी। आरंभ में वह स्थानीय विनिमय तंत्रों से संबंधित थी और बाद में अधिक व्यापक समुद्री व्यापार से जुड़ गई। एक लहरदार डिजाइनवाला कृष्ण मृद्‌भांड काफी लोकप्रिय हो गया और उसकी नकलें दूर-दूर तक फैल गईं। दोहत्थे कलशों के ठीकरों से न केवल कुछ मदिरा के आयात का बल्कि ख़ास यवनों के

उपभोग की कुछ और वस्तुओं–जैसे जैतून के तेल और मछली के एक प्रकार के सालन–के आयात का भी साक्ष्य मिलता है। ऐसे ठीकरों पर अकसर भूमध्य सागरीय क्षेत्र के निर्माताओं की छाप दिखाई देती है और मदिरा दक्षिणी इटली या यूनानी द्वीपों की मालूम होती है। लगता है, कोरकै तथा अलंगनकुलम जैसे तटवर्ती ठिकानों और गोडुमनाल जैसे अंतर्देशीय ठिकानों के भी ऐसे ही संपर्क थे।

कांसे और मिट्टी की बनी रोम की वस्तुओं की नकल की जाती थी। प्रायद्वीप में किए गए उत्खननों में नेप्ट्यून तथा पोसाडन जैसे देवताओं की कांसे की लघु मूर्तियां मिली हैं। उनसे इस दलील की पुष्टि होनी चाहिए कि यवन लोग भारतीय प्रायद्वीप में बस गए थे, यद्यपि ऐसी वस्तुएं भारतीय व्यापारियों द्वारा लाए गए स्मृति-चिह्न भी हो सकती थीं। रोम के सिक्कों की छापवाले मिट्टी के 'ब्रुले' आम तौर पर मिलते हैं। हाल के वर्षों में कुछ ऐसे सिक्के उद्घाटित हुए हैं जिन्हें संगमकालीन पांड्य, चेर और चोल सिक्के कहा गया है। उनमें शायद आहत सिक्कों से उधार लिए गए प्रतीक हैं। लेकिन अधिक ध्यान देने योग्य यह बात है कि कुछ सिक्कों में रोम के सिक्कों की वक्षाकृतियों की नकल करने की कोशिश करते हुए स्थानीय राजाओं की घटिया वक्षाकृतियां अंकित कर दी गई हैं। इनकी ढलाई से मालूम होता है कि विनिमय सरल वस्तु-विनिमय से बहुत परिष्कृत स्थिति में था।

रोम के बाजारों में जिन उत्पादों की मांग थी उनका विनिमय मुख्यतः रोम के सिक्कों से किया जाता था। दकन और दक्षिण भारत में इन सिक्कों के जखीरे बार-बार मिले हैं, जिससे लगता है कि यह व्यापार अच्छे-ख़ासे परिमाण में चलता था। अधिकतर सिक्के पूर्व रोमन सम्राटों के–जैसे आगस्टस और टिबेरियस के–हैं। नीरो के अवमूल्यित सिक्कों को जमा रखना शायद योग्य नहीं माना गया। कुछ सिक्कों पर लकीर बनी हुई है या वे कटे हुए हैं, जिससे शायद वे चलन में नहीं आ पाए। रोमन इतिहासकार प्लिनी शिकायत करता है कि पूर्वी दुनिया के साथ व्यापार के कारण रोम की आय गंभीर रूप से छीज रही है। उसके अनुसार, हर साल 5 अरब 50 करोड़ सेस्टर रोम से निकल जाते थे, जिसका पंचमांश भारत पहुंचता था। भारत से आयात मुख्यतः विलासिता की वस्तुओं का किया जाता था–जैसे मसाले, रत्न, कपड़े, हाथी दांत और रोम के कुलीनों के मनोरंजन के लिए बंदर, तोते और मोर। इसलिए यह माना जाता था कि व्यापार का संतुलन भारत के पक्ष में था। लेकिन हाल में यह राय जाहिर की गई है कि यदि प्लिनी के आंकड़े सही हों तब भी पूर्वी दुनिया से रोम-अधिकृत मिस्र में किए जानेवाले आयात पर इतने अधिक प्रवेश-शुल्क तथा अन्य कर लगाए जाते थे कि इस व्यापार पर किए जानेवाले आरंभिक व्यय की भली भांति भरपाई हो जाती थी। यह भी कहा गया है कि टिबेरियस और आगे चलकर प्लिनी ने जो रोम के धन के बहकर भारत चले जाने की शिकायत की उसके पीछे उनकी प्रमुख मंशा शायद रोम के उस कुलीन समाज के खिलाफ एक नैतिक फतवा देना था जो अपने

धन का प्रदर्शन करने में गर्व का अनुभव करता था। तथापि वह भारतीय प्रायद्वीप के व्यापारियों तथा सरदारों के लिए एक लाभदायक व्यापार था। काली मिर्च से होनेवाले लाभ तो आगे तक भी जारी रहे, क्योंकि उसका इस्तेमाल यूरोप में खाद्य पदार्थ परिरक्षक तथा औषधि दोनों रूपों में किया जाता था। आज अधिक दिलचस्पी भारतीय तथा यवन व्यापारियों के बीच के संपर्कों के बदलते रूप तथा भारत में मौजूद विनिमय तंत्र में और साथ ही इस बात में है कि ये सब किस प्रकार से एक बृहत्तर व्यापार के अंग बन गए। व्यापारिक तंत्रों में केंद्रों तथा परिधियों एवं उनकी बदलती स्थितियों का विवेचन इस व्यापार को समझने का एक और भी पहलू है।

पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र के यवन व्यापारी सातवाहन राज्य में और उससे दक्षिण के प्रदेशों में भी व्यापार करते थे। उनकी उपस्थिति दकन में बौद्ध केंद्रों के मन्नत अभलेखों में दर्ज की गई है। पश्चिम के व्यापारी रोम-निवासी रोमन लोग नहीं थे, बल्कि वे सिकंदरिया के मिस्री यहूदी और यूनानी और साथ ही कुछ उत्तर अफ्रीका के भी थे। ये सभी देश रोम साम्राज्य के हिस्से थे। शायद इन संबंधों के कारण ही बाद की सदियों में ईसा मसीह के शिष्य सेंट टामस के भारत आने की कहानी चल निकली होगी। संभव है, कुछ व्यापारी पश्चिमोत्तर के हिंद-यूनानियों तथा शकों के वंशज रहे हों।

व्यापार का लाभ उठाने के लिए भारतीय व्यापारियों के दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रवेश करने की प्रेरणा अंततः शायद रोम के व्यापार से मिली हो। जिन वस्तुओं की मांग थी उनमें मुख्यतः मसाले थे, ख़ास तौर से वे मसाले जो भारत में आसानी से उपलब्ध नहीं थे। यद्यपि सबसे आसान रास्ता समुद्री था, तथापि उसमें खतरा बहुत ज़्यादा था, जिसकी साक्षी सुवर्णद्वीप (जावा, सुमात्रा और बाली) में व्यापारियों के साहसिक कृत्यों से संबंधित कथाओं के संकलन भरते हैं। लेकिन सिकंदरिया के व्यापारियों को बेचे जानेवाले मसालों से प्राप्त भारी लाभ इन खतरों को प्रतिसंतुलित कर देता था, और जब रोम का व्यापार छीजने लगा तब दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भारत के व्यापार का विस्तार होने लगा और वह पश्चिम की पिछलग्गू स्थिति से मुक्त हो गया।

चीन तथा भारत के साथ दक्षिण-पूर्व एशिया का संपर्क ईसा की प्रारंभिक सदियों के दौरान हुआ। हाथी दांत की एक कंघी, अंगूठी के कार्नेलियन नग और ब्राह्मी अक्षरोंवाली एक मुहर-जैसी चीजों से भारतीय व्यापारियों की उपस्थिति का आभास होता है। भारत के निकट के स्थानों में यह उपस्थिति और भी स्पष्ट थी-जैसे म्यानमार में श्रीक्षेत्र (प्रोम) में और ऑक-एयो जैसे बंदरगाहों में, जो सियाम की खाड़ी के निकट चीन और भारत के बीच स्थित था। दक्षिण-पूर्व एशिया में हाल में किए गए उत्खननों से पहले से ही विद्यमान ऐसी संस्कृतियों का पता चलता है जिनके साथ भारतीय व्यापारी संभवतः व्यापार करते होंगे। बान चियांग में चावल की खेती का

साक्ष्य मिलता है और भैंस-जैसे पशु खेती की आमदनी की अनुपूर्ति करते होंगे। कुछ स्थानों में शवाधान कलशों और कुछ में महापाषाणों के साथ कब्रगाहें मिली हैं। सज्जित कांस्य ढोलों तथा अन्य कांस्य शिल्प-तथ्योंवाली डोंग सोन संस्कृति से परिष्कृत ताम्रपाषाणिक समाजों का आभास होता है। किसी बड़ी बस्ती के इर्द-गिर्द छोटी-छोटी बस्तियों के वितरण का अर्थ सरदारतंत्रों की उपस्थिति लगाया गया है। उनके बीच थोड़ा-बहुत विनिमय चलता होगा। इससे आगंतुक व्यापारियों के साथ प्रारंभिक विनिमय को प्रोत्साहन मिला होगा, और संभव है कि अंतर्देशीय विनिमय तंत्रों का भी लाभ कम-से-कम दक्षिण-पूर्व एशिया की मुख्य भूमि में उठाया जाता हो। इस सिलसिले के दक्षिण भारत के साथ कुछ साम्य हैं। विनिमय का क्रमिक विकास व्यापार और प्रारंभिक किस्म के शहरीकरण में हुआ।

इन तमाम संबंधों की शायद सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि संस्कृतियों की सृष्टि का श्रेय किसी एक लड़ी को प्राप्त नहीं है। प्रत्येक किसी दूसरी पर निर्भर है और यह सिलसिला दूर तक चल सकता है। इसके अतिरिक्त, ये संस्कृतियां एक-दूसरे से अलग-थलग भी नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे जो हैं उसके लिए उनका पारस्परिक जुड़ाव आवश्यक है। इन सारी गतिविधियों के फलस्वरूप क्षेत्र का अर्थ भी विस्तृत हो जाता है। जब हम पश्चिमोत्तर भारत की बात करते हैं तो अनिवार्यतः उसमें अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया की ओर के क्षितिजों का भी समावेश हो जाता है। हम कह सकते हैं कि अपनी भौगोलिक स्थिति तथा आर्थिक उद्यमों दोनों कारणों से भारत उस सरगरमी में सक्रिय रूप से भाग ले रहा था जिसे तब शायद ईसा की पहली सहस्राब्दी के पूर्वार्ध का लगभग विश्व-व्यापार माना जाता होगा।

अध्याय : आठ

व्यापारी समुदाय का उदय

लगभग *200* ई.पू. - *300* ई.

विनिमय की अर्थव्यवस्थाएं

इस काल के राजवंश तेजी से बदलते रहे, फिर भी इन परिवर्तनों के अंतस् में सबसे स्थिर तत्व था व्यापार। शुंगों, काण्वों, हिंद-यूनानियों, शकों, कुषाणों, सातवाहनों, इक्ष्वाकुओं, चेरों, चोलों और पांड्यो के तमाम उतार-चढ़ावों के दौर में व्यापारियों तथा शिल्पियों की बढ़ती हुई उपस्थिति देखी जा सकती थी, यद्यपि उनकी उपस्थिति में क्षेत्रीय विविधता अवश्य थी। उनके संबंध राजाओं, सरदारों तथा वैहारिक केंद्रों की सीमाओं से परे थे और इन सब की भी भूमिकाएं अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग थीं। इस काल की शायद सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता शहरी संस्कृति का बोलबाला है, जिससे शहरों के जीवन-स्तर में काफी सुधार हुआ।

मौर्य प्रशासन ने सड़कें बनवाकर और अपेक्षाकृत दूरस्थ क्षेत्रों से संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न करके इस उपमहाद्वीप के द्वार खोल दिए थे। आगे चलकर गैर-स्थानीय राजाओं द्वारा पश्चिमोत्तर भारत पर अधिकार कर लिया जाना और उसके बाद लोगों के देशांतरण व्यापारियों के लिए लाभदायक सिद्ध हुए। अब ये व्यापारी उन स्थानों को जाने लगे जो अब तक उनसे अछूते थे। पश्चिमी एशिया और भूमध्य सागरीय क्षेत्र के साथ मौर्य काल में जो संपर्क आरंभ हुआ था उसे हिंद-यूनानी राजाओं ने मजबूत बनाया। शक, पहलव तथा कुषाण मध्य एशिया को भारतीय व्यापारियों की कक्षा में ले आए और उधर इससे चीन के साथ व्यापार को प्रोत्साहन मिला। रोम की मसालों, उम्दा कपड़ों, कीमती पत्थरों तथा विलासिता की अन्य वस्तुओं की मांग पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र के यवन व्यापारियों को दक्षिण तथा पश्चिमी भारत में खींच लाई और भारतीय व्यापारियों को भी उद्यमियों के रूप में दक्षिण-पूर्व एशिया का अवगाहन करने को प्रेरित किया। धार्मिक संस्थाओं को व्यापारी समुदाय द्वारा दिए गए दानों और

उस काल के साहित्य में समृद्ध व्यापारियों के वर्णन से इस वर्ग की खुशहाली स्पष्ट है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि इन व्यापारियों द्वारा समर्थित धर्मों ने—मुख्य रूप से बौद्ध तथा जैन धर्मों ने—इन सदियों के दौरान अपना चरमोत्कर्ष देखा। लेकिन यह सब कहने का मतलब यह नहीं कि आर्थिक कार्यकलाप व्यापार तक ही सीमित थे या यह कि खेती-बारी में कमी आई। राजस्व का साधन कृषि ही बनी रही। लेकिन अधिक नाटकीय उत्थान व्यापारी समुदाय का हुआ।

कृषि-कार्य न केवल पहले से कृषि के अधीन लाए गए क्षेत्रों में चल रहा था, बल्कि जंगलों और परती ज़मीनों को भी साफ करके उनमें खेती-बारी आरंभ की जा रही थी। मानव *धर्मशास्त्र*में कहा गया है कि ज़मीन उसकी होती है जो उसमें खेती शुरू करता है। इस तरह के छिटफुट कथन भी उक्त स्थिति के द्योतक हैं। इस तरह का कथन स्वामित्व के प्रश्न पर भी प्रकाश डालता है। निजी स्वामित्ववाली ज़मीनों में वृद्धि होने के साथ यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो गया था। पट्टों में खेती-बारी के दस्तूरों तथा ज़रूरतों के मुताबिक विविधता होती थी। इसलिए करों के उल्लेख बार-बार मिलते हैं। *गहपतियों* से, जो आम तौर पर बड़े भूमिपति होते थे, हमारा सावका संघ के दाताओं के रूप में मन्नत अभिलेखों में पड़ता है। दान का मतलव यह हो सकता है कि ज़मीन का सौदा होता था। ज़मीन बौद्ध विहारों तथा ब्राह्मणों को दान में दी जाती थी, हालांकि अभी तक ऐसा छोटे पैमाने पर ही होता था। लेकिन यह आनेवाली स्थिति का संकेत था; लेकिन *अर्थशास्त्र*में सुझाई गई राज्य-प्रबंधित कृषि के उल्लेख स्रोतों में कम ही हुए हैं; उनमें भूमि के निजी स्वामित्व पर ही ज़ोर है। अधिक प्रभावोत्पादक पुरातात्विक खोजों का संबंध भले ही व्यापार से हो, परंतु कृषि स्पष्ट ही राजस्व का महत्त्वपूर्ण स्रोत थी।

भूराजस्व का महत्त्व अंशतः सिंचाई प्रणालियों की विविधता से भी निर्धारित होता है। राज्य पूर्ववर्ती नहरों और बांधों का अनुरक्षण करता रहा। सुदर्शन झील के बांध की मरम्मत की गई। नंदों द्वारा कलिंग में बनवाई गई नहर उल्लेखनीय है। यह राय जाहिर की गई है कि चोल-राज कारिकल ने सिंचाई की सुविधा देने के लिए कावेरी के एक हिस्से के तलछट की सफाई करवाई। इलाहाबाद के निकट शृंगवेरपुर की जलोत्तन (वाटर लिफ्टिंग) प्रणाली इस प्रकार की अधिक प्रभावोत्पादक प्रणालियों का नमूना है। इसका उपयोग शायद सिंचाई के लिए नहीं किया जाता होगा, लेकिन विभिन्न जल-स्तरों से जल के उत्तोलन की प्रौद्योगिकी शायद सिंचाई प्रणालियों से ही प्रेरित रही होगी या यह भी संभव है कि उससे सिंचाई प्रणालियां प्रभावित हुई हों। पानी ऊपर खींचने का एक और तरीका कुएं में लगे चक्र का था, लेकिन आरंभ में उसमें गरारी नहीं होती थी। 'जलयंत्रों' के निर्माण में लगे पेशेवर लोग शायद लघु सिंचाई विधियों का भी विकास कर रहे थे। तथापि अधिकांश सिंचाई या तो धनाढ्य भूस्वामियों के हाथों में रही या उसके लिए जैसे निर्माण की ज़रूरत होती थी वैसा

निर्माण ग्रामवासियों के संयुक्त प्रयत्न से किया जाता था। तालाबों, कुओं और बांधों के जिक्र मिलते हैं। अलग-अलग दाताओं द्वारा बौद्ध भिक्षुओं के समुदाय को कुएं और तालाब दान में दिए जाने के भी उल्लेख मिलते हैं।

गरज यह कि एक संसाधन के रूप में ज़मीन का उपयोग तरह-तरह से किया जाता रहा। अधिकतर उपयोग अतीत से चले आ रहे थे, लेकिन कुछ नए उपयोग भी किए जाने लगे। तथापि विनिमय और व्यापार ऐसे कार्यकलाप थे जो कई क्षेत्रों में विकसित हुए और वे नए संसाधनों से प्राप्त होने वाले राजस्व के स्रोत बन गए। जिन क्षेत्रों में व्यापार की संभावना थी उन्होंने उसे अपनी सर्वप्रमुख अर्थव्यवस्था बना लिया। ख़ास-ख़ास किस्मों के समाजों से अलग-अलग प्रकार के विनिमय का संबंध था। पुराने ढंग की अदला-बदली और प्रत्यक्ष विनिमय चलते रहे, लेकिन उनके साथ ही व्यापारिक विनिमय के नए-नए तरीके भी आजमाए जाने लगे। भेंट-विनिमय भी प्रचलित था, लेकिन इसमें लाभ से अधिक अपने रुतबे के प्रदर्शन की बात होती थी। ऐसा विनिमय उन समाजों में चलता था जिनमें कुलों के सरदार अब भी प्रमुख स्थिति में थे और जहां आदान-प्रदान का दस्तूर था। लेकिन उसका भी एक आर्थिक प्रयोजन अवश्य था।

किसी मूर्त पदार्थ का विनिमय अमूर्त से भी किया जा सकता था। अब अमूर्त का महत्त्व आनुष्ठानिक होता था। मध्य एशिया में भेंट-विनिमय के तौर पर सरदारों के परिवार रेशमी थानों का आदान-प्रदान किया करते थे। अंत में वे बाजार में पहुंचते थे, जहां व्यापार का माल बन जाते थे। कर्मकांडी यज्ञ में या संघ को दिए गए दान से यज्ञ का कर्ता प्रतिष्ठा प्राप्त करता था और दाता पुण्य अर्जित करते थे। यहां प्रतिष्ठा या पुण्य अमूर्त था, लेकिन पुरोहित या संघ को दिया गया दान मूर्त। पहले दान वैदिक यज्ञ या अन्य कर्मकांड के संपादन के लिए दिया जाता था। अब वह संघ को भी दिया जा सकता था। लेकिन दाता और ग्रहीता का संबंध उपासक और उसके उपास्य/उपास्या के बीच का संबंध हो बना रहा। इस चलन का विस्तार हुआ तो इसमें दूसरों के निमित्त दिए गए दान का भी समावेश हुआ। उदाहरण के लिए, कोई अपने माता-पिता की ओर से दान दे सकता था। तब पुण्य के पात्र उसके माता-पिता बन जाते थे।

एक अधिक जटिल विनिमय का संबंध पुनर्वितरण की प्रणालियों से था। यह विनिमय मुख्य रूप से आर्थिक प्रयोजनों से निर्धारित होता था। इसके बीज उन समाजों में विद्यमान थे जो हमलों से संपत्ति प्राप्त करते थे। लूट का माल घर लाकर वे कुल-बंधुओं में उसका वितरण करते थे। जब इस तरह के हमले बंद हो गए तब भी युद्ध का एक उद्देश्य लूट का माल हासिल करना होता था। संपत्ति अर्जित करते हुए अधिशेष को निबटाने का अधिक शांतिपूर्ण तरीका विनिमय था। व्यापार से पर्याप्त आमदनी होने पर वह शहरी जीवन और राज्य प्रणाली शुरू करने का जरिया हो सकती

थी। राज्य का विकास, जिसमें एक खजाना होना और सार्वजनिक कार्यों पर खर्च करना जरूरी था, पुनर्वितरण का एक और रूप था। धन किसी एक स्थान पर एकत्र किया जाता था, जहां से उसका वितरण किया जाता था और यदि उससे राज्य का संबंध होता था तो वह स्थान अकसर राजकोष होता था। एक ही काल में अलग-अलग सामाजिक स्तरों पर दोनों रूपों का सह-अस्तित्व हो सकता है। वे बाजार के माध्यम से नियंत्रित व्यापार से पहले की अवस्थाएं हैं और वे मांग तथा पूर्ति पर निर्भर होती हैं। बाजारों से मुद्रा का संबंध दिखलाने और मौद्रिक अर्थव्यवस्था की बात करने की कोशिश करना इस काल के संदर्भ में ठीक नहीं होगा और ऐसे शब्दों का जिक्र करना तभी ठीक होगा जब हम इन विशेषताओं का सही मूल्यांकन करने की स्थिति में होंगे। जहां तक इस प्रारंभिक काल का संबंध है, मुद्रा तथा बाजारों के दाखिल किए जाने से शुद्ध आर्थिक लाभ के लिए चलनेवाले व्यापार में तेजी आई, और यद्यपि विनिमय के पूर्ववर्ती रूप समाप्त नहीं हुए होंगे तथापि वे कमज़ोर अवश्य पड़ गए होंगे।

उस काल के अनेक शहरी केंद्रों की खुदाइयों से जीवन-स्तर में सुधार के साक्ष्य मिलते हैं। तक्षशिला में हिंद-यूनानी नगर सिरकप की खुदाई से उसके शहरी रूप का पता चलता है। विशिष्ट लोगों का हलका सामान्य लोगों से भिन्न था। आज हम सीधे उसके आवासीय नगर की सड़कों पर चल सकते हैं, उसके भली भांति सीमांकित अलग-अलग हलकों को देख सकते हैं और मन में उस काल के नगर की लगभग पूरी तसवीर बना सकते हैं। बैक्ट्रिया व्यापारिक मार्गों के संगम पर स्थित था और इस स्थिति का उसने भरपूर लाभ उठाया। उसके नगरों की योजना अनुमान के अनुसार ही है। शासक अभिजन वर्ग के लिए ऊंचा किलेबंद हलक़ा है, जिसके निकट उससे अधिक विस्तृत आवासीय नगर है। आवासीय नगर में घरों, शिल्प-केंद्रों और विहारों का जमघट था, लेकिन उपनगर और भी दूर स्थित था। माना जाता है कि बैक्ट्रा (आधुनिक बल्ख) की आबादी लगभग 1,00,000 थी। शिल्प-केंद्रों की प्रमुखता इन दोनों नगरों और साथ ही इस काल में इस उपमहाद्वीप के अन्य भागों के नगरों की भी ख़ास विशेषता है। बैक्ट्रा की तरह मथुरा भी देशांतरणकारी समूहों, कलात्मक शैलियों तथा धार्मिक भवनों को प्रदत्त संरक्षण के मानो चौराहे पर स्थित था। कुषाण संरक्षण ने मथुरा के महत्त्व को कायम रखा, यद्यपि उसे गंधार के कुषाण नगरों से अधिक संरक्षण प्राप्त नहीं था। मथुरा के निकट माट में कुषाण राजाओं की मूर्तियों की दीर्घा स्थापित करके मथुरा के राजनीतिक महत्त्व को रेखांकित किया गया।

श्रेणि नामक संस्था के माध्यम से उत्पादन तथा विनिमय का मार्ग प्रशस्त किया गया। इसे यूरोप की गिल्ड जैसी संस्था बताया गया है, लेकिन यह हू-ब-हू वैसी नहीं थी। यह उन पेशेवर लोगों, व्यापारियों या कारीगरों का समूह थी जो संघबद्ध होकर काम करते थे। लेकिन इसमें गिल्ड की कुछ विशेषताएं अवश्य थीं। इन संगठनों के

कारण वाणिज्य के लिए आवश्यक उत्पादन में वृद्धि हुई और ये शहरी जीवन का एक महत्त्वपूर्ण कारक बन गईं। बहुत-से शिल्पी-कारीगर श्रेणियों में शामिल हो गए, क्योंकि अलग-अलग व्यक्तियों के लिए पेशेवर लोगों के संगठनों से स्पर्धा करना कठिन था। इसके अलावा, श्रेणियां अपने सदस्यों को प्रतिष्ठा और एक हद तक सुरक्षा भी प्रदान करती थीं। *मिलिंद-पंहो* और *महावस्तु*जैसे बौद्ध पाठों में पचहत्तर या उससे भी अधिक पेशों का जिक्र हुआ है। इनमें से बहुत सारे श्रेणियों में संगठित नहीं रहे होंगे, भले ही श्रणियों की संख्या उतनी क्यों न रही हो। यदि लक्ष्य उत्पादन में चुस्ती लाना और लाभदायक बिक्री था तो श्रेणियां शायद उन्हीं लोगों तक सीमित थीं जो ऐसे माल का उत्पादन करते थे जिनकी व्यापारिक मांग थी। जब मांग बढ़ी तो कुछ श्रेणियां उजरती मजदूरों और गुलामों से काम लेने लगीं। राज्य इस प्रकार के संगठनों को प्रोत्साहन देता था, क्योंकि उनसे व्यापारिक उत्पादन और बिक्री पर राजस्व की वसूली में सुविधा होती थी।

*अर्थशास्त्र*के अनुसार, श्रेणियों का पंजीकरण उसी इलाके में होना चाहिए जहां वे काम करती हैं और यदि वे अपने स्थान बदलना चाहें तो उनके लिए तदर्थ अनुमति लेना आवश्यक होना चाहिए। लेकिन लगता है, इस नियम का कड़ाई से पालन नहीं किया जाता होगा। किसी भी शिल्प से संबंधित कारीगर श्रेणि बना सकते थे। कुम्हारों, धातुकर्मियों, बुनकरों, सोनारों, मनके और शीशे बनानेवालों, हाथी दांत नक्काशों और बढ़इयों की श्रेणियां विशेष महत्त्वपूर्ण थीं। लेकिन इससे निजी उद्यमशीलता का रास्ता बंद नहीं हो सकता था। सद्दलपुत्त नामक एक धनाढ्य कुम्हार के पास बरतन बनाने की 500 कर्मशालाएं थीं। वह अपने माल के वितरण का प्रबंध भी खुद ही करता था। उसके पास कई नौकाएं थीं, जिनपर वह अपने बरतन गंगा नदी प्रणाली के विभिन्न बंदरगाहों तक पहुंचाता था।

श्रेणियां काम के नियम और साथ ही तैयार माल की गुणवत्ता का पैमाना और उसकी कीमत तय करती थीं, ताकि कारीगर तथा खरीदार दोनों के हितों की रक्षा हो। निर्मित वस्तुओं की कीमतें उनकी गुणवत्ता पर निर्भर होती थीं या निश्चित पैमाने के अनुसार तय की जाती थीं। सदस्यों के व्यवहार पर एक अदालत के माध्यम से नजर रखी जाती थीं। वह अदालत श्रेणि के रिवाजी नियमों का, जिसे श्रेणि-धर्म कहते थे, पालन सुनिश्चित करती थी। जाति तथा श्रेणि जैसी संस्थाओं के कार्यकलाप में प्रातिनिधिकता के कुछ तत्व होते थे, भले ही वे समूह-विशेष के लोगों तक ही सीमित रहते थे। कभी-कभी दोनों संस्थाओं के कार्य और अधिकार एक-दूसरे का अतिक्रमण करने लगते थे। तब श्रेणि जाति की स्थिति से काम करती थी और उसकी भूमिका निभाती थी। उसके ऐसे कार्यों में से विवाह तय करने के मामले में उसके आंतर-विवाही (एंडोगेमस) इकाई बन जाने की संभावना विद्यमान होती थी। श्रेणि की अध्यक्षता उसका प्रधान करता था, जो ज्येष्ठ कहलाता था। ज़रूरत पड़ने पर वही

शायद अन्य संस्थाओं से भी वार्ता करता होगा। श्रेणि के कार्यों में किसी हद तक गण-संघों के प्रकार्यों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। श्रेणि अपने सदस्यों के निजी जीवन में भी दखल देता था, यह बात इस नियम से स्पष्ट है कि यदि कोई विवाहिता स्त्री बौद्ध संघ में शामिल होना चाहती है तो उसके लिए उसे न केवल अपने पति की बल्कि अपनी श्रेणि की भी अनुमति लेनी पड़ेगी। श्रेणि के सदस्यों की भरती का संबंध उसकी जाति से होता था। जाति-विशेष के बच्चे सामान्यतः अपने पिता के ही पेशे को अपनाते थे। इस प्रकार श्रेणि को निरंतर सदस्य मिलते रहते थे। नए सदस्यों की भरती के वंशानुगत स्रोत के अलावा एक और भी तरीका था। कुछ कारीगर प्रशिक्षुओं को अपने साथ लगा लेते थे, जो प्रशिक्षित होकर श्रेणि के सदस्यों के रूप में काम करने लगते थे। श्रेणियों पर खतरे संक्रांति-काल में आते थे, जब किसी जाति के पेशे में आर्थिक परिवर्तन होता था या जब उत्पाद-विशेष की मांग घट जाती थी।

जो माल कारीगर व्यक्तिगत रूप से या श्रेणि के सदस्य की हैसियत से तैयार करते थे उसे व्यापारी खरीद लेते थे। ये लोग वनिज कहलाते थे। बनिया के रूप में वह शब्द आज भी जीवित है। माल के दूरगामी परिवहन का प्रबंध सार्थवाह या काफिले के नेता करते थे। लुटेरों से बचाव के लिए कई सार्थ या काफिले साथ होकर यात्रा करते थे। व्यापारिक कार्यकलाप में सहायता देने का काम पुग (कार्पोरेशन), गोष्ठियां (समितियां) और निगम (वे स्थान जहां विनिमय होता था) करते थे, जो श्रेणियों से जुड़े तो होते थे, लेकिन उतने शक्तिशाली नहीं होते थे। तक्षशिला, कौशांबी तथा भट्टिप्रोलु जैसे शहर निगमों से संबंधित थे।

उत्खननों में अनेक मुहरें मिली हैं, जिन पर श्रेणियों तथा पुगों के प्रतीक-चिह्न हैं। उत्सवों के अवसरों पर श्रेणियों के पताकों तथा प्रतीकों को किस प्रकार ले जाया जाता था, इसका चित्रण कुछ बौद्ध स्तूपों के तक्षित फलकों में किया गया है। प्रतीक श्रेणि के विज्ञापन के भी साधन होते थे। इसी प्रकार, श्रेणियां धार्मिक संस्थाओं को जो दान देती थीं और जो दान मन्नत अभिलेखों में दर्ज कर दिए जाते थे उनसे भी उनका विज्ञापन होता था। इसके उदाहरण भरहुत तथा सांची के बौद्ध स्तूपों के चारों ओर बनी मूर्तियों के निमित्त धान्य-विक्रेताओं तथा स्वर्णकारों और रजतकारों द्वारा दिए गए पुष्कल दान हैं। विदिशा के हाथीदांत के कारीगरों की श्रेणि ने भी सांची के कुछ निम्न उद्भृतों (बॉस-रिलीफ) पर काम किया। ऐसे स्थानों को दान देनेवाले लोग केवल आसपास के शहरों के ही नहीं, बल्कि दकन जैसे दूरस्थ स्थानों के भी थे।

पश्चिमी भारत में नासिक की एक गुफा में शक राज-परिवार के एक सदस्य द्वारा जारी किए गए एक अभिलेख में बुनकरों की एक श्रेणि में निवेश की गई एक भारी राशि के ब्याज के संघ के निमित्त दान किए जाने का वर्णन किया गया है। अभिलेख इस प्रकार है :

बयालीसवें वर्ष के वैशाख महीने में दिनिक के पुत्र और क्षहरात क्षत्रप राजा नहपान के जमाता उशवदत ने यह गुफा सामान्य रूप से संघ को दान कर दी; उसने एक स्थायी निधि भी प्रदान की है, तीन हजार–3000 कहापण, जो इस गुफा में निवास करनेवाले संघ के किसी भी संप्रदाय या मूल के सदस्यों के वस्त्र-धन और उनके बाहरी जीवन के निमित्त धन का प्रयोजन सिद्ध करेगा; और ये कहापण गोवर्धन में निवास करनेवाली श्रेणियों में निवेशित किए गए हैं–2000 बुनकरों की एक श्रेणि में, जिसकी ब्याज-दर सैकड़ा एक प्रतीक (मासिक) है और 1000 बुनकरों की एक अन्य श्रेणि में, जिसकी ब्याज-दर सैकड़ा, 3/4 प्रतीक (मासिक) है, और ये कहापण वापस नहीं किए जाने हैं, केवल उनके ब्याजों का ही उपभोग करना है।

उनमें से एक प्रतीक प्रतिशत पर दो हजार, 2000 वस्त्र-द्रव्य है; उनमें से मेरी गुफा में *वस्सा* (चौमासा) बितानेवाले बीस भिक्षुओं में से प्रत्येक के लिए बारह कहापण वस्त्र-द्रव्य हैं। जहां तक 3/4 प्रतिशत ब्याज पर निवेशित एक हजार का संबंध है उनमें से प्राप्त द्रव्य कुषाण (मासिक वृत्ति?) के लिए है। और कापुर जनपद में छिखलपद्र गांव में नारियल की आठ हजार, 8000 कोंपलों में से सब-की-सब रीति के अनुसार नगर भवन में, प्रलेख कार्यालय में घोषित और पंजीकृत की गई हैं।

एपिग्राफियाइंडिया, VII, पृ. 82, ई. सेनर्ट के अंग्रेजी अनुवाद
'नासिक केव इंस्क्रिप्शंस' के आधार पर, अभिलेख नं. 12

इस प्रकार के अभिलेख श्रेणियों के राजनीतिक महत्त्व को प्रकारांतर से दरशाते हैं। यद्यपि श्रेणियां शहरी जीवन में काफी शक्तिशाली थीं तथापि लगता है कि उनके ज्येष्ठ राजनीतिक प्रभाव या पद प्राप्त करने को उत्सुक नहीं रहते थे, जिसका कारण शायद यह था कि राजनीति को, कम से कम सिद्धांततः राजा का विशेषाधिकार माना जाता था। इसमें संदेह नहीं कि राज-कुल से संबंध उनके क्रियाकलाप को एक राजनीतिक धार प्रदान करता था, लेकिन मालूम होता है, उनकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएं शमित रहती थीं। इसका एक संभावित कारण यह प्रतीत होता है कि कुछ प्रसंगों में श्रेणियों में राज-परिवारों के आर्थिक हित निहित होते थे। व्यापारिक उद्यमों में निवेशों से भारी लाभ प्राप्त होते थे, जो शायद उतनी कीमत के ज़मीन के टुकड़े से मिलनेवाले राजस्व से अधिक होते थे। राज-परिवार अपना धन व्यापारिक कार्यकलाप में निवेशित करते थे, इसलिए श्रेणियों के हितों की रक्षा में उनका अपना भी हित था। राज-परिवारों द्वारा दिए जानेवाले आर्थिक समर्थन और राजा की ओर से श्रेणियों के किसी प्रकार के विरोध के अभाव के कारण श्रेणि-ज्येष्ठों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा कुंद हो गई होगी। इसके अतिरिक्त श्रेणि-विशेष के राजनीतिक सत्ता में भागीदार बनने की शर्त यह रही होगी कि पहले वह अन्य श्रेणियों की निष्ठा प्राप्त करने के लिए उनके साथ गठजोड़ करे, क्योंकि इसके बिना किसी भी प्रकार की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं हो सकती थी। इस प्रकार के सहयोग में जातीय नियम बहुत बाधक होते होंगे–जैसे कि रोटी-व्यवहार की मनाही, जो अलग-अलग

जातियों की श्रेणियों के बीच भेद की अलंघ्य दीवार खड़ी करती थी। लेकिन अगर ऐसे नियमों का पालन नहीं किया जाता हो तो भी कुछ अन्य कारणों से राजनीतिक सहयोग नहीं हो पाता होगा। दानों के फलस्वरूप राज-कुल, श्रेणियों तथा संघ के बीच संबंध का एक तार जुड़ जाता था, जो उनके आपसी संबंधों को संतुलित रखता था। श्रेणियों का उदय मुख्य रूप से एक शहरी संघटना थी, और एक विलक्षणतायुक्त सामाजिक संस्था के रूप में वे शहरी जीवन के महत्त्व को भी प्रतिबिम्बित करती थीं।

जिसे ऊपर उद्धृत किया गया है उस तरह के अभिलेखों में बुनकरों, कुम्हारों आदि की श्रेणियों में राज-परिवार द्वारा धन के निवेश का उल्लेख हुआ है। स्पष्ट ही ये लाभदायक और सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य पेशे थे, अन्यथा राज-परिवार और ऊंची जातियों के लोग उनमें निवेश नहीं करते। तथापि ये ऐसे पेशे हैं जिन्हें धर्मशास्त्रों में निम्न सामाजिक वर्गों के पेशों में रखा गया है और उन लागों को शूद्र की स्थिति प्रदान करते हुए यह स्पष्टीकरण दिया गया है कि वे संकीर्ण जातियों, अर्थात् वर्णसंकर जातियों के लोग हैं। इस प्रकार उन्हें अशौचकारी समूहों से थोड़ा ही ऊपर रखा गया है। उन्हें संकीर्ण जातियां इसलिए कहा गया है कि उनका जन्म दो इतर जातियों या इतर धंधों के लोगों के विवाहों से हुआ है। इन जातियों के स्थान निर्धारित करते हुए अनुलोम तथ प्रतिलोम जातियों का जिक्र किया गया है। अनुलोम का शब्दार्थ है शरीर के बालों की दिशा के अनुरूप और प्रतिलोम का शब्दार्थ उसके प्रतिकूल है। अनुलोम विवाह में पति ऊंची जाति का और पत्नी निम्न जाति की होती थी और प्रतिलोम में इसके विपरीत स्थिति होती थी। अलग-अलग धर्मशास्त्रीय पाठों में अलग-अलग तरह की बातें कही गई हैं, इसलिए इन बातों को अक्षरशः वास्तविक स्थिति का द्योतक नहीं मानना चाहिए, बल्कि यह समझना चाहिए कि कुछ जातियों को प्रतिष्ठा से वंचित रखने के लिए गढ़े गए ये कल्पित सिद्धांत थे। किसी सामाजिक अवस्था की व्याख्या करने की धर्मशास्त्रों की अन्य अनेक कोशिशों की तरह ही यह भी एक कपोल-कल्पना है, जिसका उद्देश्य उन लोगों की ऊर्ध्वमुखी सामाजिक गतिशीलता पर रोक लगाना है जिन्हें निम्न स्थिति प्रदान की गई है। लेकिन इसी तर्क से इसे प्रकारांतर से इस बात का संकेत माना जा सकता है कि कतिपय शूद्र जातियों की अवस्था में सुधार हुआ था।

धर्मशास्त्रीय पाठों की दृष्टि और सामाजिक यथार्थ के बीच संगति का अभाव है। उनकी दृष्टि को हम एक छोटे-से सुविधा-प्राप्त समूह द्वारा समर्थित सामाजिक नियम मान सकते हैं, लेकिन उसे बृहत्तर समाज जिस ढंग से काम करता था उसका वर्णन नहीं माना जा सकता। शायद धर्मशास्त्रों के इन तिरस्कारपूर्ण सिद्धांतों ने ही तथा-कथित निम्न कोटि के पेशों में लगे समूहों को बौद्ध धर्म तथा उदीयमान भागवत संप्रदायों की ओर झुकने को प्रोत्साहित किया होगा। थोड़े-बहुत अतिरंजन के बावजूद

अभिलेखों के चित्रण अधिक यथार्थवादी थे, और साथ ही कतिपय बौद्ध पाठों के चित्रण भी। जिन्हें शूद्रों की कोटि में रखा गया था उनमें से सबकी स्थिति धर्मशास्त्रीय विधान की अपेक्षा समान रूप से तो बेहतर नहीं थी, लेकिन उनमें से कुछ अवश्य ही काफी अच्छी स्थिति में थे। उदाहरण के लिए, बरतनों के भारी उत्पादक और वितरक कुंभकार उद्यमी सद्दलपुत्त का उल्लेख किया जा सकता है। और धर्मशास्त्रों सहित अधिकतर पाठों में शूद्रों में से कुछ को गरीब बताया गया है। दरिद्रता के उल्लेखों के आधार पर देखें तो इन प्रारंभिक समाजों के लिए गरीबी कोई अपरिचित स्थिति नहीं थी।

अभिलेखों से जो एक और पहलू उभरता है वह यह है कि श्रेणि साहूकार, वित्तदाता और न्यासी का काम कर सकती थीं। लेकिन सामान्यत: ये कार्य एक अलग वर्ण द्वारा किए जाते थे, जो श्रेष्ठि या सेट्ठि कहलाते थे और जो कुलनाम या जातिनाम सेठ / सेठी और चेट्टियर के रूप में आज भी कायम हैं। *सेट्ठि-गहपति* पद से ऐसे धनाढ्य भूस्वामी परिवारों का आभास होता है जिनके पास व्यापार में निवेश के लिए अधिशेष धन था और जो आरंभ में व्यापार के पेशे में उन्हीं परिवारों से निकल कर आए। साहूकारी पूर्णकालिक धंधा नहीं था और श्रेष्ठि लोग बहुधा दूसरे काम भी किया करते थे। एक पेशे के रूप में साहूकारी का विस्तार तब हुआ जब ढले हुए धातु के सिक्कों का चलन बढ़ा, क्योंकि कौड़ियों या अदला-बदली की प्रणाली निवेश के लिए अनुकूल नहीं थी।

सूदखोरी साहूकारी का स्वीकृत अंग थी, और ब्याज की सामान्य दर 12 से 15 प्रतिशत तक थी। समुद्री व्यापार के लिए दिए गए कर्ज पर अकसर ब्याज की अधिक ऊंची दर ली जाती थी। एक धर्मशास्त्रकार का विचार था कि ब्याज की दरें कर्जदार की जाति के अनुसार अलग-अलग होनी चाहिए और ऊपरी जातियों के लोगों को निचली जातियों की अपेक्षा कम ब्याज देना चाहिए। इससे निचली या आर्थिक दृष्टि से विपन्न जातियों के लिए कर्ज अदा करना या व्यापार आदि के लिए धन की व्यवस्था करना अधिक कठिन हो गया होगा, और ऊपरी जातियों के लोगों के लिए व्यापार में निवेश करना बहुत आसान रहा होगा।

मौर्योत्तर काल में सिक्कों की ढलाई में खूब तेजी आई। पश्चिमोत्तर के राजाओं ने यूनानी, रोमन और ईरानी सिक्कों की नकल की। अन्य राजाओं ने स्थानीय सिक्के जारी किए, जो मौर्य काल के आहत सिक्कों से बेहतर थे। अन्यत्र ढाले गए सिक्कों का उपयोग खुलकर किया जाता था—जैसे रोम साम्राज्य के *दिनाराईका*। सिक्कों की ढलाई से माल और पूंजी के संबंध में सट्टेबाजी की संभावना उत्पन्न हुई। लेकिन मुद्रा के बढ़ते हुए प्रयोग के कारण अदला-बदली या वस्तु-विनिमय की प्रणाली खत्म नहीं हुई—ख़ास तौर से ग्रामीण क्षेत्रों में, जहां धान जैसे कृषि उत्पाद विनिमय की इकाई का काम करते थे। भृगुकच्छ से मुजिरिस तक पश्चिमी तट पर भी सिक्कों के विविध

प्रकार के उपयोग से अलग-अलग व्यापारिक अर्थव्यवस्थाओं का पता चलता है। ऐसी विविधताओं का *पेरीप्लुस*में भरपूर वर्णन किया गया है। शहरों में अनेक प्रकार के सिक्कों का उपयोग होता था। ये सोने (निष्क, सुवर्ण और पल), चांदी (शतमन), तांबे (काकिनी) और रांगे के होते थे। कर्षापण या पण का उपयोग सबसे आम था। व्यापारिक उद्यमों के विस्तार के साथ माप-तौल अधिकाधिक विशद और जटिल होती गई।

दक्षिण भारत में अक्षरशः जखीरों में प्राप्त सोने और चांदी के रोमन सिक्कों के बारे में समझा जाता है कि उनका इस्तेमाल बहुत हद तक सोने-चांदी की निधियों के रूप में या अति मूल्यवान सिक्कों के तौर पर किया जाता होगा, क्योंकि इस क्षेत्र में सोने के स्थानीय सिक्के नहीं मिलते। यह सोने और चांदी के सिक्कों के संचय का कारण हो सकता है। ये ऐसे क्षेत्र थे जहां, पश्चिमोत्तर भारत के विपरीत, स्थानीय सिक्के थोड़े-बहुत ही थे। आहत सिक्कों और साथ ही रोमन सिक्कों की उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि यहां के लोग सिक्कों की ढलाई से परिचित थे। रोमन गणतंत्र के सिक्के भी पाए गए हैं, लेकिन उनकी अपेक्षा बहुत बड़ी संख्या में पूर्ववर्ती सम्राटों द्वारा जारी किए गए सिक्के मिले हैं, जो ईसवी सन् के प्रारंभ के आसपास के हैं। इन सिक्कों के मूल्य का कारण यह था कि इनमें प्रयुक्त धातुएं उच्च कोटि की हैं, और संभव है, इनका संचय स्थानीय सरदारों के बीच चलनेवाले भेंट-विनिमय की वस्तु के रूप में किया जाता होगा या आगे विनिमय के लिए संभावित पूंजी के रूप में इन्हें बचाकर रखा जाता होगा।

उत्तर भारत में उच्च मूल्य के रोमन सिक्कों का अपेक्षाकृत अभाव है। दक्षिण भारत के मुकाबले वहां एक चौथाई से भी कम रोमन सिक्के मिले हैं। इसका एक कारण यह सुझाया गया है कि उत्तर भारत में सिक्कों को गलाकर उनसे प्राप्त धातु से फिर से सिक्के ढाल कर जारी किए जाते थे, यद्यपि वहां इस प्रयोजन के लिए धातुएं उपलब्ध थीं। यदि किसी बड़े पैमाने पर ऐसा किया जाता होगा तो यूनानी और लैटिन स्रोत उस पर टिप्पणी अवश्य करते, क्योंकि उनमें विभिन्न स्थानों में चलनेवाली मुद्राओं के ख़ास उल्लेख किए गए हैं। कुषाणें के सोने के सिक्कों में रोमन भार मानक का अनुसरण किया जाता था, जिसका कुछ कारण तो यह था कि वे सुनिश्चित करना चाहते थे कि जिन क्षेत्रों में रोम का व्यापार चलता था उनमें वे वैध मुद्रा के रूप में चलें। कुछ ख़ास सिक्कों के अनुकरण का उद्देश्य फैशन की अपेक्षा शायद विनिमय के एक माध्यम का सातत्य बनाए रखना था।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान

यद्यपि रोम के साथ समुद्री व्यापार से प्राप्त रोम के सिक्कों के अधिक संचय दक्षिण भारत में प्राप्त हुए हैं तथापि यूनानो-रोमन विचारों तथा शिल्प-तथ्यों का अधिक प्रभाव

उत्तर भारत पर दिखाई देता है। इसका कारण स्पष्ट ही यह था कि पड़ोस की हेलनवादी संस्कृति से पश्चिमोत्तर भारत का संबंध दीर्घ काल तक रहा। व्यापार के माल के विनिमय का अनिवार्य परिणाम विचारों के आदान-प्रदान के रूप में सामने आया। एक स्तर पर तकनीकी किस्म के अधिकतर शब्द उधार लिए; एक अन्य स्तर पर सौंदर्यशास्त्रीय प्रभाव दिखाई देता है--ख़ास तौर पर बौद्ध कला पर। बौद्ध धर्म शायद हेलनवादी यूनानियों के बीच अधिक लोकप्रिय रहा होगा, क्योंकि ब्राह्मणीय धर्म की तुलना में उसके माध्यम से भारतीय समाज में अधिक आसानी से स्थान बनाया जा सकता था। यूनानी भाषा में अंकित मुद्रालेख इस बात की ओर इशारा करते हैं कि प्राकृत तथा संस्कृत के अलावा यहां उस भाषा का भी प्रयोग ज़ारी रहा। भारतीय लोक-कथाएं और नीति-कथाएं पश्चिम में फैलीं और *पंचतंत्र* जैसे संकलनों का बाद में पड़ोसी देशों की भाषाओं में अनुवाद हुआ और वे यूरोपीय साहित्य में अनेक रूपों में सामने आए, जिनमें शायद ईसप की नीति-कथाओं के कुछ पाठ भी शामिल थे। भारत की पारंपरिक चतुरंगिणी सेना के नाम से अपना नाम ग्रहण करनेवाले चतुरंग का खेल पश्चिम एशिया में लोकप्रिय हुआ और उसी से शतरंज के खेल का विकास हुआ।

इस संपर्क का एक स्थायी परिणाम यह हुआ कि भूमध्य सागरीय संसार की विभिन्न कृतियों में भारत की चर्चा काफी विस्तार से की गई। डियोडोरस की *लाइब्रेरी ऑफहिस्टरी*, स्ट्रैबो की *ज्याग्रफी*, एरियन की *इंडिका*,*बड़ेप्लिनीकीनेच्युरल हिस्टरी*तथा *पेरिप्लुसमैरिसइरिथ्रियाईऔरटालेमीकीज्याग्रफी* ऐसी कृतियों के कुछ उदाहरण हैं। इनमें से पहले तीन लेखकों का कहना था कि उन्होंने भारत-संबंधी पूर्ववर्ती किंतु विस्मृत लेखन से--जैसे मेगास्थनीज की *इंडिका*से--काफी-कुछ उद्धृत किया। जिन्हें मेगास्थनीज के उद्धरण बताया गया वे वास्तव में उसके सारांश थे, इसका पता इस बात से चलता है कि उपर्युक्त तीन पाठों में ख़ास-ख़ास विषयों पर कही गई बातों में फर्क है। अन्य लेखकों ने बिलकुल नए सिरे से लिखा। इन कृतियों के सामने सिकंदर के आक्रमणों से संबंधित विवरणों का महत्त्व घटने लगा। अब भारत यूनानो-रोमन संसार में न केवल एक विस्मयकारी देश के रूप में जाना जाने लगा था बल्कि ऐसे स्थान के रूप में पहचाना जाने लगा था जिसमें व्यापार की प्रचुर संभावनाएं थीं और जिसकी ज्ञान की परंपराएं यूरोपीय विद्वानों के लिए दिलचस्पी का विषय थीं। लेकिन भारत से अब काफी अधिक परिचय होने के बावजूद मेगास्थनीज-कृत *इंडिका*की भ्रांतियों को सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। भारतीय समाज का सप्तांग विभाजन इन लेखकों के लिए वेद-वाक्य बन गया।

सबसे प्रत्यक्ष और स्पष्ट संबंध कला के क्षेत्र में कायम हुआ, जिसके फलस्वरूप अफगानिस्तान और पश्चिमोत्तर भारत में गांधार कला का उदय हुआ। गांधार कला का विकास शैलियों के मिश्रण से हुआ। उनमें से एक सिकंदरिया की

यूनानो-रोमन शैली थी। मूर्तिकला तथा गचकारी वहां से चलकर पश्चिम एशियाई व्यापारिक मार्ग से पूरब में आई और उसने हेलनवादी तथा भारतीय नमूनों को प्रभावित किया। गांधार कला का उदय बौद्ध धर्म में लोकोत्तर हस्तियों तथा परलोकों की कल्पना के समावेश साथ हुई। ये तत्व मूर्तिकला तथा चित्रकला में अभिव्यक्ति के लिए बहुत उपयुक्त थे। गांधार कला को प्रभावित करनेवाली विविध शैलियों को देखते हुए उसे समरूप शैली के रूप में नहीं देखना चाहिए, बल्कि विविधता के अनुसार उसका उपविभाजन कर देना चाहिए।

भारतीय विचारों की भी छाप कुछ पश्चिम एशियाई धार्मिक विश्वासों में देखी जा सकती है–ख़ास तौर से मानीवादियों (मेनिकीयनों), गूढ़ज्ञानवादियों (नोस्टिकों) तथा नव-अफलातूवादियों (न्यू-प्लेटोनिस्टों) के सिद्धांतों में। इनमें से नव-अफलातूनवाद का यहूदी-ईसाई परंपरा के वैकल्पिक दर्शन के रूप में यूरोप में एक लंबा और घटनापूर्ण इतिहास था। उसके कुछ विचार एशियाई माने जानेवाले चिंतन तथा आचरण से संबंधित थे। ईसा के जीवन के कुछ पहलू (काम-रहित गर्भाधान की अवधारणा तथा शैतान द्वारा दिया गया प्रलोभन) बुद्ध के जीवन की कथाओं से इतने अधिक मिलते-जुलते हैं कि ऐसा संदेह होना अस्वाभाविक नहीं होगा कि कहीं ये बातें अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध धर्म से तो उधार नहीं ली गईं। एसिनिस संप्रदाय (कहा जाता है कि ईसा मूलतः इसी संप्रदाय के थे) के कुछ व्रतों आदि से लगता है कि उन लोगों को भारतीय धार्मिक विश्वास तथा आचार का कुछ ज्ञान था। इस काल में भारतीय धार्मिक आचार के कुछ अन्य पहलुओं के भी सादृश्य पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र में मिलते हैं। उनमें संन्यास (जो सिकंदरिया के पाल तथा सेंट एंथनी से संबंधित था), स्मृति-शेष-उपासना तथा जपमाला का उपयोग शामिल थे।

शांति-दूतों के माध्यम से स्थापित संबंध इससे भी अधिक प्रत्यक्ष किस्म के थे। भारतीय राज्यों द्वारा रोम को भेजे शांति-दूतों में से सबसे अधिक जाना-पहचाना वह है जिसने भृगुकच्छ से 25 ई.पू. के आसपास प्रस्थान किया था। उसके साथ विचित्र किस्म के मनुष्य और पशु-पक्षी थे–बाघ, भेड़, कछुए, एक भिक्षु तथा एक भुजा-विहीन लड़का, जो अपने पंजों से तीर चला सकता था। इन सबको रोमन साम्राज्य के लिए उपयुक्त समझकर भेजा गया था। रोम पहुंचने में इस दूत-मंडली को चार साल लगे। ऐसी दूत-मंडलियों से भारत की जादुई और विस्मयकारी देश की छवि और भी पुख्ता होती होगी।

संपर्क की ऐसी सजीव संभावना केवल पश्चिम के बारे में ही नहीं थी। इन सदियों के दौरान चीन के साथ भी भारत के संपर्क शुरू हुए और भारतीय संस्कृति का दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रवेश हुआ। यह सारा कुछ व्यापार के माध्यम से हुआ। दूसरी और तीसरी सदी ई.पू. में कुछ चीनी वस्तुएं भारत में इस्तेमाल की जा रही थीं, जिनके नाम चीनी भाषा से लिए गए थे–उदाहरण के लिए *चीनपत्ता*(चीनी कपड़ा)

और *कीचक*(बांस), जिसका संबंध चीनी भाषा के *की-चोक*से निर्दिष्ट किया जा सकता है। जब बौद्ध धर्म-प्रचारकों के पहले समूह में पहली सदी ई. में चीन के लोयांग नामक स्थान में पहुंचकर श्वेताश्व विहार की स्थापना की तो वह संपर्क एक अलग ढंग का था, यद्यपि इस प्रचारक समूह का वास्तविक कार्य आरंभ होने में समय लगा। मध्य एशिया के यारकंद, खोतान, काशगर, ताशकंद, तुरफान, मीरान, कूचा और दुनह्वांग के नखलिस्तान जब विकसित होकर शहर और आगे चलकर विहारों तथा स्तूपों के ठिकाने बन गए तो वे उपयोगी पड़ावों का भी काम करने लगे। इन विहारों तथा स्तूपों की सजावट के लिए भारत के कीमती पत्थरों तथा चीन के रेशमी कपड़ों की ज़रूरत पड़ी। इस सबके फलस्वरूप व्यापार की अभिवृद्धि हुई। भारत से पांडुलिपियां, चित्र और कर्मकांडी वस्तुएं भी लाई गईं, और आगे की कई सदियों तक चीन तथा भारत दोनों देशों में बौद्ध धर्म के विकास में ये विहार सक्रिय रुचि लेते रहे। उत्तरी बौद्ध धर्म के इतिहास की काफी जानकारी बौद्ध पाठों के चीन तथा मध्य एशिया में किए गए अनुवादों से प्राप्त हुई है। चीनी बौद्धों ने बौद्ध धर्म के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए मध्य एशिया की यात्रा की, और जो अधिक साहसी थे उन्होंने विभिन्न विहारों में पाठों का अध्ययन करने के लिए भारत की कठिन यात्रा भी की।

बौद्ध धर्म से संबंधित जो अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत हाल में प्रकाश में आए हैं उनमें गंधार के बौद्ध वर्ति-लेखों (स्क्रॉल) का उद्घाटन है, जो ब्रिटिश लाइब्रेरी में रखे हुए हैं। भोजपत्र के इन रॉलों को मिट्टी के बरतनों में बंद करके रखा गया था। अब उन्हें खोलकर पढ़ने के बाद सुरक्षित रखा जा रहा है। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसे सधे हाथों से संपन्न करना पड़ता है और पढ़ने में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। ये पाठ प्राकृत के गांधार रूप में और खरोष्ठी लिपि में हैं, जो प्रबल क्षेत्रीय परंपरा को अभिव्यक्त करते हैं। ये संकर संस्कृत में लिखे उत्तरी बौद्ध पाठों तथा दक्षिणी थेरवादी परंपरा द्वारा पालि में प्रलेखबद्ध बौद्ध धर्मशैक्षिक पाठों दोनों के दिलचस्प प्रतिरूप हैं। पहली सदी के आसपास के ये पाठ गंधार के शायद हड्डा पुस्तकालय में रखे हुए थे। ये बौद्ध धर्मशैक्षिक साहित्य के अंग हैं, जिनमें बौद्ध धर्म से संबंधित कुछ कथाओं का संकलन भी है। इनका संबंध बौद्ध धर्म के धर्मगुप्तक संप्रदाय से है। यद्यपि धर्मगुप्तक महायान धारा को स्वीकार नहीं करते थे तथापि उसकी कुछ शिक्षाएं–जैसे मैत्रेयी के अवतरित होने में विश्वास—स्वीकार करते थे। वर्ति-लेखों को बरतनों में ठूंसकर रखने से लगता है कि अब उनकी ज़रूरत नहीं थी, शायद अन्य भोज-पत्रों पर उनकी नकल कर ली गई थी और उन्हें इसलिए सुरक्षित रख दिया गया था कि ऐसी पवित्र चीजों को फेंका नहीं जा सकता था। ये बौद्ध धर्म के वे पाठ और रूप थे जो मध्य एशिया पहुंचे, जहां बौद्ध हलकों में गंधारी प्राकृत का इस्तेमाल होता था।

दक्षिण-पूर्व एशिया के बंदरगाहों की यात्राओं के पीछे मसालों की तलाश की प्रेरणा थी। दक्षिण-पूर्व एशिया में ऐसे स्थानों में जहां बंगाल की खाड़ी से जहाज पहुंच सकते थे, ब्राह्मी लिपि में की गई सजावटोंवाले ठीकरे, कार्नेलियन के मनके तथा लहरदार मृद्भांड मिल रहे हैं। ऐसे स्थानों में इरावदी का डेल्टा, मलय प्रायद्वीप, बल्कि मेकांग डेल्टा में ओसियो जैसा अंदरूनी इलाका और बाली शामिल हैं। गंगा डेल्टा के नजदीक महास्थान तथा चंद्रकेतुगढ़ जैसे शहरों एवं पूर्वी तट के भी शहरों की समृद्धि का कारण शायद ये नए संबंध रहे होंगे। दक्षिण-पूर्व एशिया में राज्यों के उद्भव से संबंधित कथाओं में अकसर भारतीय राजकुमारों तथा सौदागरों की चर्चा होती है। कौंडिन्य नामक एक भारतीय ब्राह्मण को, जिसने कथा के अनुसार एक कंबोडियाई राजकुमारी से विवाह किया था, उस देश में भारतीय संस्कृति को ले जाने के लिए याद किया जाता है। यह कथा सांस्कृतिक आचार-व्यवहारों की व्याख्या करने का एक प्रयत्न थी। व्यापार के लिए म्यानमार जानेवाले कलिंगियों के बारे में कहा जाता है कि वे वहां इरावदी डेल्टा में बस गए। भारतीय साहित्य में इन क्षेत्रों की यात्रा करनेवाले भारतीयों की कथाएं मिलती हैं, जिनमें से कुछ विचित्र और काल्पनिक भी हैं। स्थानीय आख्यानों में दक्षिण-पूर्व एशिया में राज्यों की संरचना का संबंध कभी-कभी व्यापारियों तथा कर्मकांड विशेषज्ञों के रूप में भारतीयों के आगमन से दरशाया जाता है, और इस प्रक्रिया की प्रेरणा के स्रोत की पहचान करने के संबंध में काफी विचार किया गया है। संक्रमण सरदारतंत्र से राज्यों की ओर था, और शायद भारतीयों की उपस्थिति के कारण उपर्युक्त भारतीय आचारों तथा विश्वासों को अनुकूल बनाकर अपना लिया गया। दक्षिण-पूर्व एशिया में स्थान-नामों में सुवर्ण शब्द के जोड़े जाने से लगता है कि दक्षिण-पूर्व एशिया के संबंध में भारतीयों की समझ शायद व्यापार से होनेवाले लाभों से जुड़ी हुई थी।

शिक्षा, साहित्य और ज्ञान-विज्ञान

अर्थव्यवस्था में अपनी भूमिका के अतिरिक्त श्रेणियां शिक्षा देने का भी काम करती थीं, यद्यपि औपचारिक शिक्षा, मुख्य रूप से ब्राह्मणों तथा बौद्ध एवं अन्य मतों के भिक्षु-पंडितों के हाथों में ही रही। अपनी सदस्यता को शिल्प-विशेष के कारीगरों तक सीमित रखकर श्रेणियां तकनीकी शिक्षा के केंद्र बन गईं। खनन, धातु-विज्ञान, बुनाई, रंगरेजी, बढ़ईगीरी आदि के ज्ञान के प्रवाह को संबंधित श्रेणियां जारी रखती होंगी। इस प्रकार से प्राप्त अद्भुत प्रगति सिक्कों की ढलाई, सधी हुई संग-तराशी, पालिश के काम और नक्काशी में देखी जा सकती है। बांधों तथा सिंचाई जलाशयों के निर्माण में इंजीनियरी कौशल का प्रमाण उनके अवशेषों में मिलता है। प्रलेखों से मालूम होता है कि ज्यामिति का प्रथम प्रयोग वेदियां और यज्ञ-मंडप बनाने के लिए किया गया। बाद में उसका उपयोग अधिक जटिल स्थापत्य में किया जाने लगा। निर्माण में आरंभ

में लकड़ी की इमारतें बनाने के तरीके का इस्तेमाल किया जाता था, लेकिन धीरे-धीरे उसका स्थान पत्थर की इमारतों ने ले लिया, जिनके लिए इंजीनियरी और स्थापत्य के नए सिद्धांतों की आवश्यकता पड़ी। अभी धार्मिक इमारतों के निर्माण के लिए विशेष कौशल तथा विविधता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने की ज़रूरत सामने नहीं आई थी, क्योंकि बौद्ध लोग प्रवेश-द्वारों और बाड़ों से घिरे स्तूपों या पहाड़ी इलाकों में बनाई गई सरल गुफाओं से ही संतुष्ट थे। खुले आसमान के नीचे स्वतंत्र रूप से बने विहार घरेलू स्थापत्य के ढंग पर बने होते थे।

विश्व के अन्य भागों की परिघटनाओं से परिचय के फलस्वरूप प्राप्त ज्ञान का प्रयोग खगोल-विज्ञान, गणित तथा आयुर्विज्ञान के क्षेत्रों में किया गया। बीच समुद्र में जहाज चलाने के लिए नक्षत्रों का विश्वसनीय ज्ञान आवश्यक था और इसमें संदेह नहीं कि इस अध्ययन को व्यापारियों का संरक्षण मिल रहा था। लेकिन खगोल-विज्ञान का संबंध गाणितिक ज्ञान और ज्योतिष-शास्त्र से भी था। पश्चिमी एशिया से संपर्क के फलस्वरूप खगोल-विज्ञान तथा ज्योतिष-शास्त्र के ज्ञान का आदान-प्रदान हुआ, और सिकंदरिया के कुछ पाठ–जैसे *स्फूजिध्वज*–का अनुवाद यूनानी से संस्कृत में हुआ। ज्योतिष-शास्त्र की हेलनवादी संकल्पनाओं में भारतीयों की रुचि थी और खगोल-विज्ञान के क्षेत्र में भारत में इस्तेमाल की जानेवाली पूर्ववर्ती प्रणालियों का राशि पर आधारित प्रणालियों द्वारा संवर्धन किया जा रहा था। इसी काल में खगोल वैज्ञानिकों तथा ब्रह्मांड-वैज्ञानिकों के बीच संवाद आरंभ हुआ, जिससे काल के सिद्धांत समृद्ध हुए। ब्रह्मांड-विज्ञान (कास्मोलॉजी) से उद्भूत काल की चक्रीय अभिधारणाओं की अंतर्क्रिया ऐतिहासिक काल के रेखीय रूपों के साथ हुई। मानव कार्यकलाप से संबंधित अतीत की घटनाओं के संदर्भ में काल के एक प्रखरतर बोध ने रेखीय काल के रूप में आकार ग्रहण किया, जो ऐतिहासिक ढंग के साहित्य तथा अनेक संवतों में निहित है।

भिषजया ओझा-गुनी को धीरे-धीरे छोड़कर आयुर्विज्ञान के औपचारिक अध्ययन और सुविन्यासीकरण की ओर कदम बढ़ाया गया। संस्कृत में रचित पाठ सामान्यतः इस दूसरी विधि का अनुमोदन करते हैं। तथापि ओझा-गुनी की परंपरा लुप्त नहीं हुई। उसके अपने ग्राहक थे और औपचारिक परंपरा में अब भी उसके लिए एक स्थान था। परिवर्तन केवल अनुभव पर आधारित ज्ञान की दिशा से अभ्यास तथा औपचारिक ज्ञान से प्राप्त प्रयोग और विश्लेषण की ओर हुआ। भारतीय आयुर्विज्ञान पद्धति कफ, पित्त और वायु इन तीन गुणों पर आधारित थी, और इन तीनों के सही संतुलन को स्वस्थ शरीर का रहस्य माना जाता था। शरीर की क्रिया से संबंधित प्रक्रियाओं के मूल पांच वायु और उनकी अंतर्क्रियाएं थीं। इस काल में औषध-कोषों तथा आयुर्वैज्ञानिक व्यवहारों पर प्रबंध लिखे गए, जिनमें सबसे प्रसिद्ध चरक की संहिता है। एक और अनुशीलन सुश्रुत का था, जिसमें शल्य-चिकित्सा पर विशेष

ध्यान दिया गया। कतिपय सबसे प्रारंभिक आयुर्वैज्ञानिक पाठ मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं, जहां रेगिस्तान के नखलिस्तानों के शुष्क जलवायु के कारण भोजपत्रों पर लिखी पांडुलिपियां सुरक्षित रहीं। स्पष्ट है कि भारत का जड़ी-बूटियों का ज्ञान पश्चिमी दुनिया में पहुंचा, क्योंकि यूनानी वनस्पति-वैज्ञानिक थियोफ्रैस्टस ने अपनी कृति *हिस्टरीऑफप्लांट्स*में अनेक भारतीय पौधों तथा जड़ी-बूटियों के औषधिक उपयोग विस्तार से बताए हैं।

स्पष्ट ही ये पाठ उन लोगों ने लिखे जिन्होंने औपचारिक शिक्षा प्राप्त की थी। तथापि ब्राह्मणीय नियमों के अधीन चिकित्सकों को समाज में निम्न स्थान दिया गया था, यद्यपि जिन लागों ने मनुष्यों, घोड़ों और हाथियों से संबंधित आयुर्वैज्ञानिक विषयों पर लिखा था उन्हें बहुधा ब्राह्मण का दर्जा प्राप्त था। मानव शरीर के अध्ययन तथा पशु-चिकित्सा में उपयोग के कारण आयुर्विज्ञान रूढ़िवादिता से मुक्त हो गया। यह भारतीय समाज का एक अंतर्निहित विरोधाभास साबित होनेवाला था। कुछ पेशों को सिद्धांततः निम्न माना जाता था, लेकिन जब उनकी उपयोगिता को समाज महत्त्व देने लगा तब उन पर संस्कृत में तकनीकी प्रबंध लिखे गए, जिससे संबंधित पेशे को सम्मान प्राप्त हुआ। ये प्रबंध स्वभावतः उन लोगों द्वारा लिखे गए जिन्होंने औपचारिक शिक्षा प्राप्त की थी और जो सामान्यतः ब्राह्मण या उनसे संबंधित होते थे। शायद उनमें से कुछ लोग इस पेशे में एक धंधे के तौर पर भी लगे हुए थे।

भाषावैज्ञानिक विश्लेषणों का परिणाम पाणिनि के संस्कृत व्याकरण के रूप में सामने आया था, जो इस भाषा की आधारशिला वन गया। इस काल का वैयाकरण पतंजलि था, जिसका *महाभाष्य*वाक्य-रचना तथा शब्दों के विकास का एक प्रभावोत्पादक अध्ययन है, जो अधिक गूढ़ नियमों को उद्‌घाटित करता है। इसके अलावा, व्याकरण के नियमों को समझाने के लिए जो उदाहरण दिए गए हैं उनसे कुछ ऐतिहासिक सामग्री भी प्राप्त होती है। पतंजलि को निस्संदेह म्लेच्छों के लिए अर्थात् जो लोग संस्कृत नहीं जानते थे लेकिन उसे सीखने के लिए उत्सुक थे उनके लिए व्याकरण की उपयोगिता का भान था। व्याकरण के माध्यम से भाषा का विश्लेषण प्रारंभिक भारतीय चिंतन की एक चिरस्मरणीय देन है। लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि यूनानी भाषा की रचनाओं में तमाम रुचि के बावजूद किसी भी वैयाकरण को संस्कृत और यूनानी भाषाओं के बीच कोई साम्य नहीं दिखाई दिया।

साहित्य-सृजन धर्मशास्त्रों और व्याकरणों तक सीमित नहीं था; काव्य और नाटक भी लोकप्रिय थे। हाल की प्राकृत भाषा की लघु कविताएं *गाथासप्तशती* प्रेम-रस में पगी हैं—कुछ तो बहुत भावुकतापूर्ण हैं और कुछ अश्लील लेकिन फिर भी विदग्धतापूर्ण और आनन्ददायी। अश्वघोष द्वारा रचित मानी जानेवाली *वज्रसूची* बौद्ध प्रबंध है, जिसमें ब्राह्मणों तथा उनके द्वारा समर्थित समाज-व्यवस्था दोनों की आलोचना की गई है। परंतु उसकी अधिक प्रसिद्धि उसके प्रबंध काव्य *बुद्धचरित*के

कारण है, जिसमें ऐतिहासिक जीवनियों के विकास के बीज निहित थे। अश्वघोष ने संस्कृत का प्रयोग अत्यधिक भाषा-लाघव के साथ किया। वह बौद्ध धर्म संबंधी चिंतन की पसंदीदा भाषा बन गई। सीमांत क्षेत्रों के अतिरिक्त सर्वत्र संस्कृत साहित्य तथा दार्शनिक विवेचन की भाषा के रूप में विकसित हुई। अपने समय की शायद सबसे प्रभावशाली विभूति नागार्जुन ने भी संस्कृत में लिखना पसंद किया और बौद्ध विमर्श में तथा ब्राह्मणीय एवं अन्य दर्शनों के प्रत्युत्तर के रूप में उसका व्यापक उपयोग किया। तथापि स्थानीय भाषा या स्थानीय प्राकृतों का सर्वथा त्याग नहीं कर दिया गया। अभिजनों तथा औपचारिक रूप से शिक्षित लोगों की संस्कृति–जिसे उच्च संस्कृति कहा जाता है–और लोक-संस्कृति के बीच सीमांकन करने की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट रूप में सामने आई।

अश्वघोष के नाटकों के अंश मध्य एशिया के तुरफान नामक स्थान में एक दूरस्थ विहार में प्राप्त हुए। पाठकों की जितनी रुचि बौद्ध विषयों में रही होगी उतनी ही साहित्य की शैली में भी रही होगी। कुशल नाटककार भास ने, जिसके नाटकों में *स्वप्नवासवदत्ता*जैसी प्रसिद्ध कृति शामिल है, अपनी रचनाओं में दरबारी मिजाज को अभिव्यक्ति देने की कोशिश की। भास का जीवन-काल विवादास्पद है, लेकिन ऐसा माना जाता है कि वह कालिदास का पूर्ववर्ती और ईसवी सन् के आरंभिक दौर का था। उसके चुने विषयों का संबंध महाकाव्यों या ऐतिहासिक रूमानी कथाओं से था और दरबारी लोग राजाओं के शृंगारिक पराक्रमों के वर्णन का खूब आनन्द उठाते थे। भास ने दरबारी हलके के सीमित पाठकों-श्रोताओं के लिए लिखा। लेकिन अश्वघोष के नाटक धार्मिक सभाओं में अपेक्षाकृत अधिक बड़े दर्शक-समूह के लिए मंचित किए जा सकते थे।

पूर्ववर्ती काल के विपरीत, साहित्य के रचयिताओं के अधिकांश विषयों और शैली की पृष्ठभूमि शहरी थी। अब तक नगरी जीवन अपनी विशिष्ट पहचान बना चुका था, जैसा कि तक्षशिला, मथुरा, शिशुपालगढ़, महास्थान, नागार्जुनकोंड और कावेरीपत्तनम् जैसे बड़े नगरों के उल्लेखों से स्पष्ट है। शहरी जीवन के प्रति ब्राह्मण स्रोतों की स्थिति ढुलमुल या विरोधपूर्ण है। ख़ास तौर से व्यापारिक केंद्रों के रूप में शहर उन्हें पसंद नहीं थे। उनके लिए शहर केवल दरबार के केंद्र के रूप में ही स्वीकार्य थे।

सामाजिक रंग-रूप

व्यापार की अभिवृद्धि और पश्चिमी तथा मध्य एशिया के लोगों के आगमन के फलस्वरूप एक प्रत्यक्षतः नई आबादी सामने आई, जिसमें पूर्ववर्ती शासक परिवार भी अपनी अनुवांशिक पहचानों के साथ मौजूद थे। जिन लोगों ने जाति-व्यवस्था पर आधारित समाज में जन्म नहीं लिया था उनका समाहार ब्राह्मण सिद्धांतकारों के लिए

एक समस्या रहा होगा। उन्होंने या तो उन लोगों की उपेक्षा कर दी या उन्हें निम्न स्थान प्रदान किए, हालांकि उन नए लोगों के कार्यकलाप में उससे कोई फर्क पड़ हो, ऐसी बात नहीं थी। सामाजिक नियमों को कठोर रूप में पेश किया जाता रहा था और मानव *धर्मशास्त्र*के पितृसत्तात्मक सिद्धांतों को प्रामाणिक माना जाता रहा।

सैद्धांतिक स्तर पर सोपानीकरण को धार देना शायद अधिक लचीले रुखों के संबंध में ब्राह्मणीय प्रतिक्रिया रही हो। मसलन, ऐसे रुखों का परिचय बौद्ध लोग दे रहे थे। ऐसे रुख गैर-भारतीयों के साथ व्यापार और इस उपमहाद्वीप के अंदर नए क्षेत्रों के द्वार खोले जाने के परिणाम थे, क्योंकि इससे भिन्न रीति-रिवाजों और संस्कृतियोंवाले लोगों से संबंध स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी। स्थिर वर्णगत अस्मिता की, जन्म और पेशे के अतिरिक्त, एक बुनियादी अपेक्षा स्थान-विशेष में स्थायी रूप से निवास करना था, जिससे स्थानिक पहचान की सृष्टि होती थी। परन्तु नए पेशों, देशांतरण तथा दूर-देशों से संबंधित पहचानों पर ज़ोर होने के कारण सिवाय ब्राह्मणों के अन्य लोगों के संदर्भ में वर्ण पर आग्रह करना कठिन था। शहरी आवादी की परिवर्तनशीलता, निस्संदेह, धर्मशास्त्रों में शहरी जीवन के प्रति तिरस्कार का एक कारण था। सैद्धांतिक दृष्टि से चारों वर्ण सटीक और स्पष्ट रूप से परिभाषित थे। धर्मशास्त्रों में सबके योग्य कार्यकलाप और दायित्व निर्धारित कर दिए गए थे। तथापि व्यवहारतः अनेक असंगतियां थीं।

जन्म, जाति और सांप्रदायिक व्यवहार की अंतर्निर्भरता के कारण अन्य धर्मों और संप्रदायों के लोगों के लिए वैष्णव या शैव संप्रदाय में शामिल होना सैद्धांतिक रूप से आसान नहीं था, यद्यपि से संप्रदाय इस समस्या से कन्नी काटकर निकल जाने का रास्ता बना लेते थे। किसी बड़े गैर-हिंदू समूह को उसे किसी जाति का रूप देकर धीरे-धीरे हिंदू समाज में शामिल कर लिया जा सकता था। लेकिन किसी व्यक्ति के समाहार में उसकी जातिगत स्थिति की समस्या उठती थी और जाति जन्म से निर्धारित होती थी। इसलिए आगंतुक व्यक्ति के लिए बौद्ध बन जाना अधिक आसान था, यद्यपि ऐसे कुछ लोग भागवत संप्रदाय में भी शामिल हो जाते थे। दकन में बौद्ध ठिकानों में प्राप्त मन्नत अभिलेखों में यवनों द्वारा बौद्ध धर्म अंगीकार किए जाने के उल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार के एक उल्लेख के अनुसार, थियोडोरस दतियपुत्त ने एक अनुदान दिया। और ऐसा जिक्र मिलता है कि दत्तमिति (जिसे अराकोसिया का दिमित्रियस शहर माना गया है) से आनेवाले उत्तरदेशवासी धमदेव के पुत्र यवन इंद्राग्निदत्त ने एक अनुदान दिया। चूंकि उस काल में बौद्ध धर्म उत्थानोन्मुख था इसलिए बाहर के जो लोग बौद्ध धर्म स्वीकार करते थे वे इस धर्म की प्रतिष्ठा के कारण भारतीय समाज में आसानी से खप जाते थे।

रूढ़िवादी ब्राह्मण निम्न वर्गों से दूरी बरतते थे, लेकिन उन्हें नए शासक अभिजन से किसी-न-किसी प्रकार से तालमेल बैठाना था, क्योंकि राजनीतिक सत्ता के आसन

पर बैठे लोगों को वे समाज से बाहर नहीं रख सकते थे। नए शासक राजवंशों को रणनीतिक रियायत देते हुए उन्होंने उन्हें व्रात्य क्षत्रिय की स्थिति प्रदान की, यद्यपि जिन पर व्रात्य विशेषण लागू किया गया वे उसे पसंद नहीं करते होंगे। भारत में राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में प्रमुखता की स्थिति रखनेवाले ऐसे लोगों की उपस्थिति से वर्ण की सैद्धांतिक संरचना को अवश्य ही चुनौती मिली होगी, यद्यपि राजनीति के अखाड़े और ख़ास तौर से राजपद के द्वार पूर्ववर्ती काल में अपेक्षाकृत खुले हुए थे और उनमें किसी भी वर्ण के व्यक्ति का प्रवेश हो सकता था। इसमें संदेह नहीं कि जो लोग निचली जातियों में थे उन्होंने नवागंतुकों से जुड़कर सामाजिक सोपान में ऊपर जाने का प्रयत्न किया होगा। वाणिज्य-व्यापार के विस्तार का मतलब श्रेणियों की संख्या में वृद्धि थी। अधिकाधिक कारीगरों को रोजगार से लगाया जाता होगा और उनमें संपन्नता आती होगी। कारीगर शूद्र जातियों के होते थे। उनमें से कुछ लोग अपना पेशा और स्थान बदलकर अपनी जातिगत स्थिति में सुधार करना चाहते थे। संकीर्ण जाति की कल्पना की उद्भावना के पीछे भी ऐसे समूहों पर अंकुश रखने की मंशा रही होगी। सिद्धांततः निम्न जातियों के लोगों को कुछ ख़ास-ख़ास हलकों तक सीमित रखना था, जहां वे अपने धंधे चलाते। अकसर ऐसे स्थान नगर की परिधि पर होते थे, और अस्पृश्यों से नगर की सीमाओं के बाहर रहने की अपेक्षा की जाती थी।

सामाजिक सोपान के निम्न अर्धांश पर स्थित कुछ जातियों ने शहरी जीवन के तक़ाजों का लाभ उठाते हुए अपनी स्थिति में सुधार करने का प्रयत्न किया होगा, जिससे रूढ़िवादी सामाजिक नियमों और रीति-रिवाजों के रक्षक चिंतित हो उठे होंगे। शायद यही कारण था कि धर्मशास्त्रों में समाज के अन्य सदस्यों की तुलना में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का पुनर्कथन किया गया और इस बात पर ज़ोर दिया गया कि उन्हें अधिक से अधिक आदर देना चाहिए। इन पाठों में यह बात इतना ज़ोर देकर कही गई है कि लगता है, दरअसल ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती दी जा रही थी। मालूम होता है, समाज के कार्य-व्यापार में जितना अधिक लचीलापन आता जा रहा था, धर्मशास्त्रीय पाठों में सामाजिक नियम उतने ही कठोर होते जा रहे थे। धर्मशास्त्रों से पहले धर्मसूत्रों का प्रणयन तब किया गया जब गंगा के मैदान में चल रहा शहरीकण वेद-समर्थित लोकाचार को अस्त-व्यस्त कर रहा था और 'नास्तिक' संप्रदाय ब्राह्मणीय नियमों पर प्रश्न-चिह्न लगा रहे थे। *मानवधर्मशास्त्र*, जो इन पाठों में शायद सबसे अधिक रूढ़िवादी है, तब लिखा गया जब 'व्रात्य क्षत्रिय' शासन कर रहे थे और इस उपमहाद्वीप के द्वार व्यापार तथा नए विचारों के लिए खुल रहे थे। गुप्तोत्तर काल में नई जातियों, उपासनाओं तथा राज्यों का तेजी से उदय हुआ, और वे सब बंधे-बंधाए विचारों को चुनौती दे रहे थे। ऐसे संयोगों में एक बार फिर धर्मशास्त्रीय पाठों तथा उनकी टीकाओं की बाढ़-सी आ गई।

मूर्तिकला से इस काल की सुख-संपन्नता की जो तसवीर उभरती है उसकी और भी पुष्टि सांची तथा भरहुत जैसे स्तूप ठिकानों से प्राप्त मन्नत अभिलेखों से होती है। कुछ अपवादों को छोड़कर इन अभिलेखों में श्रेणियों, कारीगरों, छोटे भूस्वामियों, भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों द्वारा दिए गए दानों को प्रलेखबद्ध किया गया है। दाता अपना परिचय अपने पेशे और निवास-स्थान से देते हैं, न कि वर्ण या जाति से। इनका भौगोलिक विस्तार दकन तथा उसकी परिधि तक है। इनमें से कई उज्जैन तथा भोगवर्धन जैसे बड़े शहरों के थे, लेकिन छोटी जगहों को अब अकसर पहचाना नहीं जा सकता। दकन के ठिकानों में लगभग आधे अनुदान भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों द्वारा दिए गए हैं, जिससे उनकी संपत्ति के स्रोत का प्रश्न उठता है। क्या ये दान उन्होंने अपनी दीक्षा के समय दिए? या कि अब भी पारिवारिक संपत्ति में उनके हिस्से थे और अगर थे तो क्या उन्हें संपत्ति रखने की अनुमति थी? अथवा क्या उन्होंने अपनी पहले की संपत्ति का निवेश व्यापार में कर दिया था और अब उसका लाभ संघ को दान में दे रहे थे? दाताओं के वर्ग स्थान के अनुसार अलग-अलग थे— मथुरा में बौद्धों की अपेक्षा दान देनेवाली जैन स्त्रियों की संख्या अधिक थी और यह सिलसिला मध्य भारत के बौद्ध ठिकानों से भिन्न था।

जैन तथा बौद्ध केंद्रों में भिक्षुणियों की उपस्थिति गौर करने लायक है–सो उनकी संख्या की दृष्टि से भी और उनकी व्यक्तिगत संपत्ति की दृष्टि से भी, जिसके बल पर उन्होंने दान दिए। भिक्षु या भिक्षुणी का जीवन संघ द्वारा सुलभ कराया गया एक संभावित वैकल्पिक जीवन था, और जब संघ भी समृद्ध हो गया तो वह अन्य संस्थाओं के तौर-तरीकों से बहुत भिन्न नहीं रहा। यद्यपि संघ में भिक्षुणियों का स्थान भिक्षुओं से नीचे था तथापि उसने स्त्रियों को उसमें प्रवेश करने से रोका नहीं। स्त्रियों के लिए वह आकर्षक जीवन था, क्योंकि वह सामाजिक दृष्टि से अनुमोदित एक संस्था के अन्दर उन्हें सुरक्षा प्रदान करता था। संघ में प्रवेश करने से उन्हें सामाजिक दृष्टि से उपयोगी भूमिका निभाने का अवसर मिलता था, जो उनकी सामान्य भूमिका से हटकर थी। उदाहरण के लिए, जैन भिक्षुणियां समाज के सदस्यों के रूप में काफी दबदबा रखती थीं। इस जीवन ने स्त्रियों को सही है घरेलू काम-काज से भी मुक्ति दिलाई। एक भजन में चक्की, मूसल और पति से स्त्री की मुक्ति का गुण-गान किया गया है, और साथ ही कहा गया है कि भिक्षुणी बनने का अर्थ पुनर्जन्म से मुक्ति है। स्त्री दाताओं ने अपना परिचय कौटुंबिक संबंधों से बहनों, पुत्रियों, माताओं और पत्नियों के रूप में दिया है। कौटुंबिक संबंध का अधिक जिक्र माताओं और पत्नियों के रूप में हुआ है।

जहां दाता भिक्षुणी है वहां संपत्ति का स्रोत अस्पष्ट है। क्या स्त्री की संपत्ति उसका स्त्री-धन था? स्त्री-धन पर स्त्री का एकांत अधिकार उसके पैतृक संपत्ति के उत्तराधिकार से वंचित रखे जाने को एक हद तक प्रतिसंतुलित करता था। उसे पैतृक

संपत्ति का उत्तराधिकार तभी मिल सकता था जब उसके पिता का कोई पुरुष उत्तराधिकारी न हो। धर्मशास्त्रों में इस बात पर विचार किया गया है कि स्त्री-धन में क्या-कुछ शामिल हैं और उसका मनचाहा उपयोग करने के स्त्री के अधिकार का भी विवेचन किया गया है। स्त्री-धन से स्त्री की सामान्य स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता था, क्योंकि वह समेकित धन नहीं होता था, बल्कि बिखरा हुआ और चल धन होता था, जो अनेक स्रोतों से प्राप्त किया जाता था। बौद्ध स्तूपों को दिए गए ये दान स्त्रियों तथा उनके संपत्ति-संबंधी अधिकारों के संबंध में धर्मशास्त्रों के सिद्धांतों का खंडन करते हैं। धर्मशास्त्रों के कथनों को उस काल के सामान्य व्यवहार की बातें और सामाजिक दस्तूर मानना सही नहीं होगा। ऐसा नहीं है कि इन अभिलेखों में स्त्रियों का चित्रण अपेक्षाकृत स्वतंत्र स्थिति में किया गया है, लेकिन इतना अवश्य है कि व्यवहारतः स्त्रियों के क्रियाकलाप तथा परिवार में उनकी भूमिका तथा धर्मशास्त्रों के कठोर दृष्टिकोण के बीच अंतर है। इससे यह बात रेखांकित होती है कि इन पाठों में क्या कहा गया है, इसे समझने के लिए इनके लेखकों, इनके मंतव्य और पाठक-श्रोता-समूह को जानना आवश्यक है।

स्थापत्य और मूर्तिकला

स्थापत्य तथा तक्षण दोनों में कलात्मक एवं दृष्टिगत सौंदर्य सामान्यतः बौद्ध धर्म की आवश्यकताओं की उपज था, और इनमें से अनेक का निर्माण और रचना धनाढ्य व्यापारियों, श्रेणियों तथा राज-परिवारों के संरक्षण का परिणाम थी। बौद्ध धार्मिक स्थापत्य में विहार, स्तूप और चैत्य शामिल थे, जिनमें से कुछ खुले आसमान के नीचे स्वतंत्र रूप से निर्मित थे और कुछ पहाड़ी इलाकों में चट्टान को काटकर बनाए गए थे। किसी धार्मिक स्थान की पहचान के लिए विशिष्ट भवनों का निर्माण एक अपेक्षाकृत नया विचार था। स्तूपों और चैत्यों में पहले भी पूजा होती थी लेकिन छोटे पैमाने पर और वैदिक यज्ञ की बात करें तो यज्ञ संपन्न हो जाने के बाद यज्ञ-मंडप आदि का तो कोई निशान ही नहीं रह जाता था। नया स्थापत्य अंशतः धार्मिक आवश्यकताओं से निर्धारित हुआ होगा और इस आवश्यकता से भी कि धार्मिक इमारतों को आवासीय इमारतों से अलग दिखना चाहिए। मन्नत अभिलेख को भी स्पष्ट रूप से दरशाना था, बुद्ध के जीवन से संबंधित आख्यानों को उनसे मिलनेवाले संदेशों के साथ लोगों के लिए सुगम्य बनाना था, और ख़ास-ख़ास दिनों को पूजा के लिए एकत्र होनेवाले भक्तों के लिए स्थान की व्यवस्था करनी थी। इस सबके लिए जरूरी था कि संरचना काफी बड़ी हो। विशालता शक्ति और प्रतिष्ठा की भी द्योतक थी और यह बात स्तूपों के बढ़ते हुए आकार में दिखाई देती है।

स्वतंत्र संरचनाओं के निर्माण का सिलसिला बहुत पहले कौशांबी, सांची और भरहुत में शुरू हुआ था, लेकिन बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ-साथ वैहरिक संरचनाएं

धीरे-धीरे विस्तृत होती चली गईं, जिनका एक उदाहरण पेशावर के निकट तख्त-ए-बाही का विहार है। गुफा विहारों का विकास शायद एकांत प्राप्ति के आरंभिक प्रयत्नों से हुआ, लेकिन इस संस्था के तीव्र विस्तार के फलस्वरूप शीघ्र ही एकांत का विचार त्याग दिया गया। जहां विहार पहाड़ी इलाके में किसी व्यापारिक मार्ग पर था, वहां चट्टान काटकर निर्माण करना स्वाभाविक था। यह काम ख़ास तौर से दकन में किया गया, जहां की परतदार ज्वालामुखीय चट्टानों को काटना आसान था। विहार की भू-योजना का आधार यह बात थी कि वह भिक्षुओं के एक समूह के आवास का काम करनेवाला था और इसलिए उसका विकास गृह-स्थापत्य से हुआ। उसमें एक बड़ा आंगन होता था, जिसके चारों ओर भिक्षुओं के रहने के लिए कमरे बने होते थे। आंगन में कभी-कभी एक मन्नत (वोटिव) स्तूप भी होता था, जिसका उपयोग भिक्षुओं की सभा के लिए किया जाता था। उसका उपयोग सामूहिक भोजन के लिए भी किया जा सकता था।

बौद्ध स्तूप के मूल का निर्देश प्राक्-बौद्ध दफन दूहों में किया जाता है। आरंभ में स्तूप स्वयं बुद्ध या पावन स्थिति-प्रदत्त भिक्षु अथवा संत के स्मृति-चिह्न पर बनाया गया अर्धगोल होता था। स्मृति-चिह्न को सामान्यतः एक मंजूषा में रखा जाता
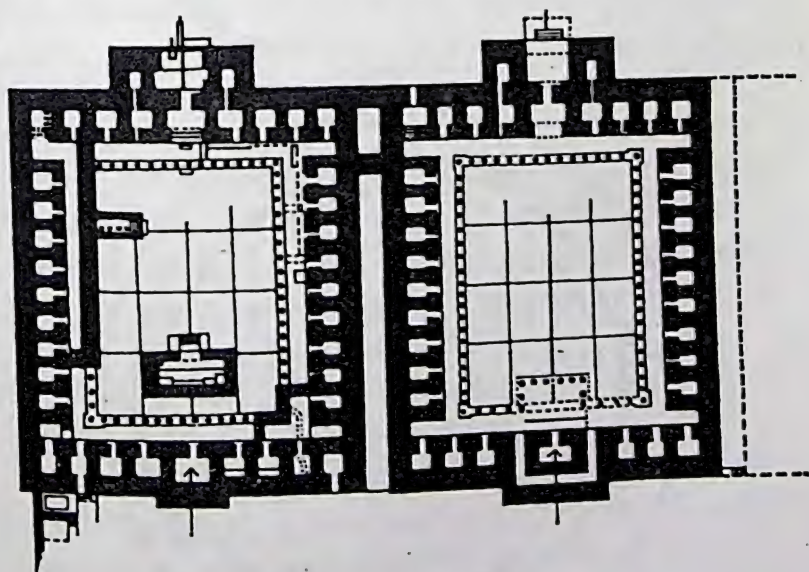
1. बौद्ध विहार की योजना

था और मंजूषा को स्तूप के केंद्र में बनी एक छोटी कक्षिका में रख दिया जाता था। एक वृत्ताकार चबूतरा अर्धगोल या स्तूप के लिए आधार का काम करता था। स्तूप के शीर्ष को चौरस कर दिया जाता था, ताकि उसे एक छोटे वर्गाकार चबूतरे का रूप दिया जा सके। वहां से एक लाट नीचे मंजूषा के केंद्र तक चली जाती थी। वर्ग के
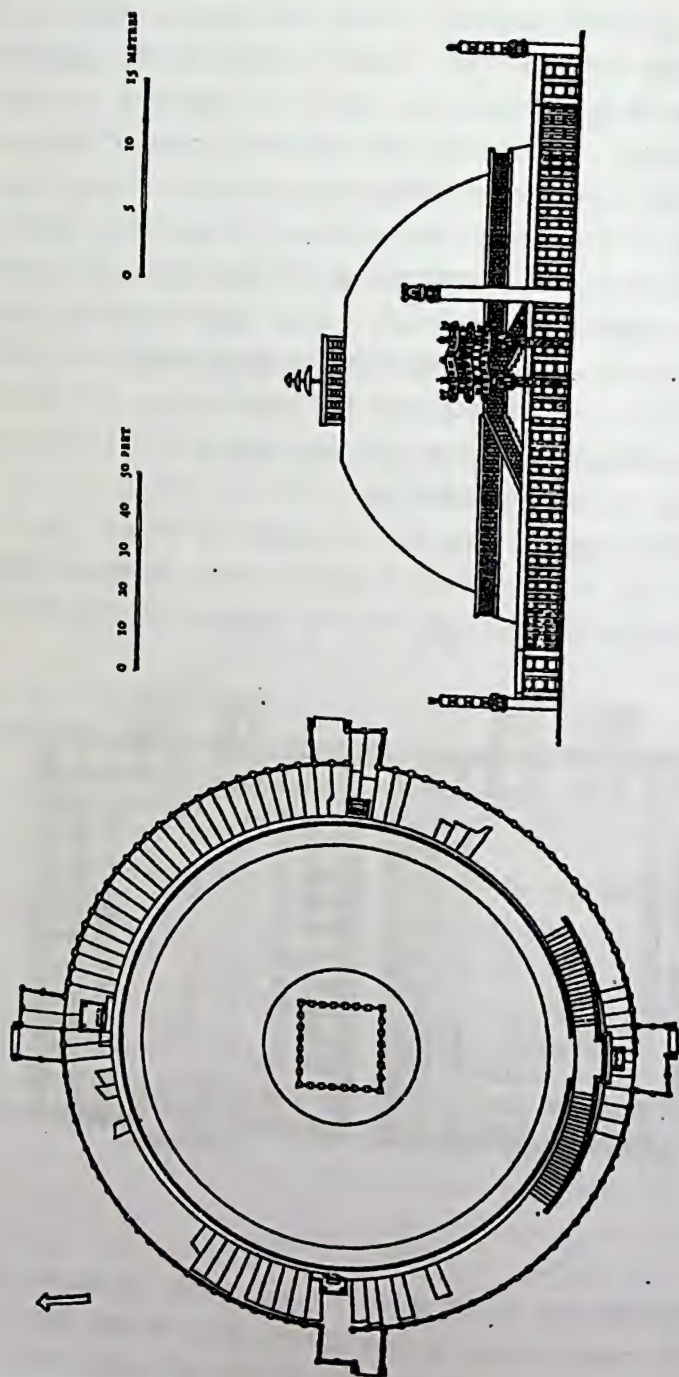
2. सांची का महान् स्तूप : योजना तथा उत्थापन

केंद्र में एक पतला स्तंभ होता था, जिस पर एक-के-ऊपर-एक तश्तरियां बनी होती थीं। उस अर्धगोल के चारों ओर एक बाड़ेदार रास्ता होता था, जो आध्यात्मिक और अधिभौतिक की पृथकता का प्रतीक होता था। इन तमाम विशेषताओं में एक ब्रह्मांडीय व्यवस्था का अर्थ पढ़ा गया है, जो लौकिक तथा अलौकिक को जोड़ती है, लेकिन उसे यह अर्थ शायद बाद में प्रदान किया गया—मूल मंतव्य तो स्मृति-चिह्नों को श्रद्धेय स्थिति प्रदान करना ही था। कई दृष्टियों से यह वैदिक यज्ञ-स्थल का विलोम था। वैदिक रीति के अधीन यज्ञ-स्थल को अस्थायी पवित्रता प्रदान की जाती थी, लेकिन स्तूप एक स्थायी पवित्र स्थल था। शारीरिक अवशेषों का समाधीकरण और पूजा ब्राह्मणीय धर्म के शौच के उन नियमों के विरुद्ध थी जिनके अनुसार जलाए गए अवशेषों को विसर्जित कर देना ही श्रेयस्कर माना जाता था। स्मृति-चिह्न बुद्ध या पूज्य व्यक्ति की उपस्थिति का प्रतीक माना जाता था और स्तूप उपासना की वस्तु बन गया।

पवित्र और पार्थिव की पृथकता रोजमर्रा के जीवन में भी दिखाई देती थी। यह चीज बाड़ों और सिंहद्वारों के निम्न उद्‌भूत (बॉस-रिलीफ) में देखी जा सकती है। नागरिकों को छज्जों पर खड़ा दरशाया गया है। राह चलते लोगों के प्रति उनकी जिज्ञासा नगर के दृश्य के प्रति ध्यान आकृष्ट करती है। पार्थिव से पवित्र की यह पृथकता आनुष्ठानिक विशेषताओं के अलावा शायद नगर और उसके परिवेश की अवधारणा से भी प्रभावित थी। इस मूर्तिकला के नगर-दृश्य में जो कंगूरे, खंदक, बुर्ज, प्रासाद, वीथियां और सिंहद्वार चित्रित किए गए है वे शहर को उसके आसपास के भूदृश्य से अलग करते हैं। इमारतों की मेहराबी छतें इस स्थापत्य की एक ख़ास विशेषता मानी जाती हैं। कुछ इमारतें बहुमंजिली हैं। बौद्ध गल्प-कथाएं इस काल के स्थापत्य की एक सामान्य विशेषता बन गईं। भित्तियों पर बुद्ध की जीवन-गाथा और जातक कथाएं भरपूर चित्रित की गईं। जातक-कथाओं का स्रोत लोक-कथाएं थीं, जिन्हें बुद्ध के जीवन-चरित और उनके पूर्वजन्मों की कथाओं में बहुत चतुराई से गूंथ दिया गया। ये चित्रण अत्यधिक सजीव और कभी-कभी विनोदपूर्ण भी हैं। इसलिए इनका अवलोकन एक सुखद अनुभव हो जाता है। साथ ही इनसे दैनिक जीवन की भी मार्मिक झांकियां मिलती हैं।

चारों मुख्य बिंदुओं पर बाड़ में एक-एक सिंहद्वार के लिए अंतराल छोड़ दिया जाता था। ये सिंहद्वार तक्षकों को अपनी कला के प्रदर्शन के और भी अवसर प्रदान करते थे। स्तूपों के जो बाड़े अवशिष्ट हैं उनमें से भरहुत स्तूप का बाड़ा (जिसे अब हटाकर कलकत्ता के संग्रहालय में रख दिया गया है) लगभग दूसरी सदी ई.पू. का है। इसी काल में सांची स्तूप की मरम्मत और विस्तार किया गया। यह काम दकन और मध्य भारत के व्यापारियों, शिल्पियों, किसानों और राज-परिवार के कुछ सदस्यों के प्रयत्नों से पूरा हुआ। संघौल (पंजाब) में हाल में खोजे गए स्तूप के बाड़ों को भली भांति लपेटकर पास की ज़मीन में गाड़ दिया गया था, जिसका उद्‌देश्य शायद बौद्ध

धर्म के विरोधियों से उनकी रक्षा करना था।

स्तूप पूज्य संरचना था, जिसकी देख-रेख किसी-न-किसी बौद्ध विहार के जिम्मे होती थी। इसलिए वह किसी ऐसे स्थान में अवस्थित होता था जहां लोग अकसर इकट्ठा हुआ करते थे। यह स्थान पहले से मौजूद कोई पवित्र स्थल हो सकता था; या कोई तीर्थ-स्थान हो सकता था, जहां लोग एकत्र होते थे; अथवा वह मार्ग में पड़नेवाले किसी ऐसे केंद्रीय बिंदु पर हो सकता था जहां यात्री ठहरते थे। इनमें से एक अपेक्षाकृत अधिक दिलचस्प स्तूप अमरावती का है, जो एक महत्त्वपूर्ण महापाषाण कब्र के निकट पड़ता है।

स्वयं स्तूप में स्थापत्य के निखार की ख़ास गुंजाइश नहीं थी। सिंहद्वार शहरों और गांवों में प्रयुक्त लकड़ी के सिंहद्वारों के नमूने पर आधारित थे। काष्ठ स्थापत्य के विषयों का अनुसरण गुफा स्थापत्य में भी किया जाता था। पहाड़ी क्षेत्रों में किसी विहार या चैत्य के नमूने पर बड़ी-बड़ी गुफाएं काटी जाती थीं। चैत्य शब्द से प्राग्बौद्ध काल के उन पवित्र अहातों का आभास होता है जो प्राचीन गण-संघों के पूजा कर्मकांड के नियमित अंग होते थे। जब किसी गुफा की कटाई के लिए किसी उदार
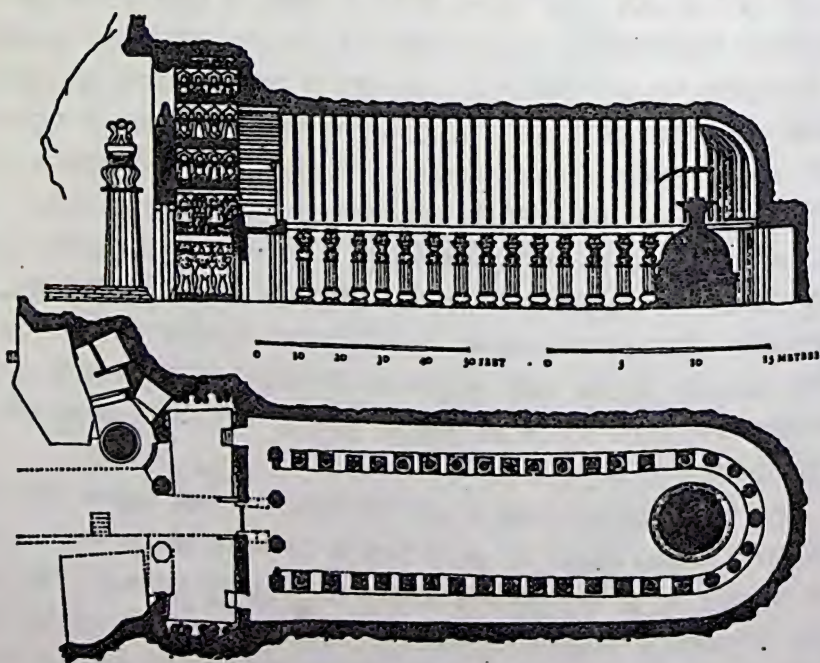
3. कार्ले में चैत्य हॉल : योजना एवं उत्थापन

दाता से भरपूर दान मिल जाता था तब गुफाओं की एक श्रृंखला में खुले आसमान के नीचे बने स्तूप क़े पूरे परिसर की नकल करने की कोशिश की जाती थी और

उपासना-कक्ष के साथ ही विहार का भी निर्माण किया जाता था। उदाहरण के लिए, पश्चिमी दकन की किस्म के स्तूप, जैसे कार्ले और बेड़सा के स्तूप, काफी जटिल किस्म के हैं। जहां चट्टानें ऐसी होती थीं जिन्हें काटने में आसानी होती थी वहां स्तूप बड़ी संख्या में दिखाई देते हैं–जैसे बिहार में बाराबर में, उड़ीसा और पश्चिमी दकन में। दिलचस्प बात है कि चट्टान काटकर बनाई गई ऐसी गुफाएं दकन से दक्षिण केरल में भी मिलती हैं जिनमें कब्रें और कब्र सामग्री मौजूद हैं।

कार्ले की गुफा में एक छोटे प्रवेश-क्षेत्र से अंदर जाया जा सकता है। प्रवेश करने पर पूजा महाकक्ष आता है, जो आयताकार है, लेकिन एक छोर पर वह अर्धगोलाकार हो जाता है, जहां उपास्य स्तूप स्थित है। चैत्य महाकक्षों में अर्धगोलाकार हिस्सा अकसर देखने को मिलता है। स्तंभों की कतार मध्य भाग को पार्श्ववीथि से अलग करती है। छत मेहराबी है और मेहराब को दिखाने को तो लकड़ी की कमानियों का सहारा दिया गया है लेकिन इस सहारे की ज़रूरत नहीं है। चैत्य के दोनों ओर पहाड़ी को काटकर भिक्षुओं के लिए कक्ष बनाए गए हैं। बाद के काल की बौद्ध चट्टानी संरचनाएं अधिक विस्तारपूर्ण हैं–जैसे अजंता और अलोरा की गुफाएं। उनकी योजना और तक्षण दोनों में यह बात दिखाई देती है। अजंतावाले ठिकाने की यह परंपरा आगे चलकर जैन, वैष्णव और शैव गुफा-मंदिरों में भी अपना ली गई। जैन गुफा-बसदियां (जैन साधुओं के रहने का स्थान) बौद्ध गुफा-विहारों की समकालीन हैं, और उदयगिरि तथा खंडगिरि (उड़ीसा) में ऐसी कई गुफाएं जैन साधुओं को समर्पित की गईं, और इनके संरक्षक चेदि राजा थे।

गुफा-विहारों तथा चैत्यों में स्थापत्य शैली के विकास की विशेष गुंजाइश नहीं थी। लेकिन ऐसे विहार और चैत्य व्यापारिक मार्गों के तथा दकन के दर्रों में पड़नेवाले मुख्य-मुख्य स्थलों पर—जैसे बाघ, नासिक, जुनार, कन्हेरी, भाज, कोंडने और कार्ले में–एक सिलसिले से मिलते हैं। पूर्वी तट के मुख्य रूप से खुले आसमान के नीचे बने विहारों की शृंखला से भी व्यापारिक मार्ग का आभास होता है। ईसवी सन् की प्रारंभिक सदियों के दौरान अमरावती, घंटशाला और नागार्जुनकोंड में काफी कलात्मक सरगरमी रही। यद्यपि सर्वाधिक ध्यान देने योग्य प्रतिमाएं बौद्ध धर्म से संबंधित थीं तथापि इनमें से कुछ क्षेत्रों में अन्य संप्रदायों के संदर्भ में भी कलात्मक प्रवृत्तियां उभर रही थीं। इसी काल में यहां एकमुखलिंगम् बनाने का चलन आरंभ हुआ, जिसमें लिंग में मानव तत्वों का समावेश किया गया। उतने ही महत्त्वपूर्ण पश्चिमोत्तर में स्वात घाटी या हिंदूकुश के आरपार जानेवाले मार्गों में पड़नेवाले वे स्तूप-स्थल हैं जो किसी समय हड्डा और बामियान के प्रसिद्ध केंद्र थे। यद्यपि कुछ साल पहले बामियान के बौद्ध स्मारकों को नष्ट कर दिया गया, लेकिन अब उनके पुनरुद्धार की योजना बनाई जा रही है। व्यापारिक मार्गों पर स्थित होने के कारण विहारों को व्यापारिक गतिविधियों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहन मिला। जिन विहारों को भूमि-अनुदान प्राप्त थे उन्होंने

उन पर स्वत्वाधिकार का दावा किया, और इस संपत्ति का रख-रखाव आवश्यक था। यह उस चीज की शुरुआत थी जो आगे चलकर मठों की जमींदारी के रूप में उभरी।

मानव-मूर्तियों (पोर्ट्रेट) की रचना को प्रश्रय राजाओं से मिला। आरंभ में हिंद-यूनानी सिक्कों में उनकी प्रतिछवियां हुआ करती थीं, लेकिन कुषाण काल आते-आते राजाओं की आदमकद मूर्तियां बनाई जाने लगीं। जैन धर्म के अनुयायियों ने खुले आसमान के नीचे निर्मित मूर्तियों की कला को प्रश्रय दिया। इस कला में मथुरा के कलाकार विशेष दक्ष थे। मथुरा बुद्ध की भी मूर्तियां बनाने का केंद्र था। यह शायद जैन प्रतिमाओं के निर्माण के समानांतर चलनेवाली प्रवृत्ति थी। वैसे कुछ विद्वान मानते हैं कि बौद्ध प्रतिमाओं के पीछे उपास्य देवी-देवताओं की प्रतिमाएं बनाने की हेलनवादी प्रवृत्ति की प्रेरणा थी। पहले की स्तूप मूर्तिकला में बुद्ध की प्रतिमा नहीं देखने को मिलती। उनकी उपस्थिति प्रतीकों द्वारा दरशा दी जाती थी—जैसे घोड़े द्वारा, जो उनके संन्यास का प्रतीक था, या उनकी ज्ञान-प्राप्ति के प्रतीक वृक्ष द्वारा, अथवा उनके प्रथम धर्मोपदेश के प्रतीक धर्मचक्र या उनके निर्वाण के प्रतीक स्तूप द्वारा। जव उपासना के अंग के रूप में स्वयं उनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित हो गई तब उसका निर्माण स्थानीय शैलियों में होने लगा, जैसे गांधार या मथुरा या अमरावती शैली।

इस काल में मूर्तिकला की शुरुआत स्थापत्य के अनुषंगी के रूप में हुई। यह मुख्य रूप से सजावटी थी, जिसका उपयोग सिंहद्वारों, बाड़ों और प्रवेश-द्वारों में किया जाता था। भित्ति-मूर्तिकला के साथ ही स्वतंत्र रूप से भी मूर्तियां बनाई जाती थीं। इस दूसरी कोटि में यक्ष-चक्षी की प्रतिमाएं आती हैं। इनसे प्रतिमाओं की पूजा को प्रोत्साहन मिला। धार्मिक संप्रदायों में ऐसी प्रतिमाएं दान करने का आम रिवाज था। मथुरा जैसे प्रतिष्ठित केंद्रों में बनाई गई प्रतिमाएं भिन्न-भिन्न स्थानों को ले जाई जाती थीं लेकिन शीघ्र ही प्रत्येक क्षेत्र ने अपनी अलग शैली विकसित कर ली। पूर्ववर्ती मूर्तिकार पत्थर की मूर्तियां बनाने की कला से विशेष परिचित नहीं थे। वे अपेक्षाकृत अधिक कोमल माध्यमों—जैसे लकड़ी और हाथी दांत—पर काम करने के अधिक अभ्यस्त थे। लेकिन ईसवी सन् के आरंभ तक दकन के मूर्तिकारों ने पत्थर पर काम करने में सिद्धहस्तता प्राप्त कर ली थी। पश्चिमोत्तर में जलालाबाद, बेग्राम, तक्षशिला और स्वात घाटी में वे परतदार चट्टान से मूर्तियां बनाना अधिक पसंद करते थे। मथुरा क्षेत्र में लाल बलुई पत्थर से बोधिसत्त्वों और जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं बनाई जाती थीं। ये गुप्त-कालीन मूर्तिकला की जननी थीं। कृष्णा घाटी में इस तरह के ठिकानों के जो समूह हैं—जैसे अमरावती, नागार्जुनकोंड, घंटशाला और जग्गेयपेटा—उनमें मूर्तियों में प्रयुक्त पत्थरों की किस्म और शैली में भी बदलाव आया, जिसका उद्देश्य स्थानीय सामग्री तथा सौंदर्यबोध को स्थान देना था।

कला की अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम पत्थर ही नहीं था। कंघों, आईनों के पृष्ठ भाग और उपस्करों में पच्चीकारी के लिए हाथी दांत का उपयोग जारी रहा। हाथी

दांत की मनमोहक और नाजुक कारीगरी पत्थरों से बनाई गई मूर्तियों से भिन्न किस्म की है और यह कला मनके बनाने तथा उत्कृष्ट आभूषणों के निर्माण के, जो भारत में ज़ोरदार ढंग से शुरू हुआ, अधिक निकट जान पड़ती है। लेकिन हाथी दांत के काम से बहुत-कुछ मिलने-जुलनेवाली स्वर्णकारी के ख़ास ध्यान देने याग्य नमूने नहीं मिले हैं, यद्यपि साहित्य में उनका उल्लेख लगातार देखने को मिलता है। अधिक विस्तृत खुदाई होने पर शायद इसके उत्कृष्ट नमूने मिल सकें। तथापि उनकी संख्या मध्य एशिया में शक मकबरों में प्राप्त सोने की चीजों से कम ही होगी।

गंधार की कला में बौद्ध संरक्षण प्रतिबिंबित होता था, यद्यपि अन्य देवी-देवताओं और विषयों की भी उपेक्षा नहीं की गई। बुद्ध की माता का रूप-साम्य एथेंस की एक देवी से दरशाया गया और बुद्ध की प्रतिछवि में अपोलो जैसी मुखाकृति दिखाई गई। यूनानी देवताओं को बुद्ध की प्रणति में नत दिखलाया गया। विभिन्न दृश्यों में दरशाए गए सामान्य लोगों की संख्या से रोमो-यूनानी प्रभाव का संकेत मिलता है, यद्यपि इस क्षेत्र से बाहर भारत के अन्य भागों और मध्य एशिया में शैलीगत पहचानों में वैविध्य आया। गचकारी एक लोकप्रिय तकनीक थी, जो स्थापत्य में खूब प्रयुक्त हुई। हड्डा में और बाद में अफगानिस्तान में बामियान में विहारों को बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की गचकारी प्रतिमाओं से भरपूर सजाया गया, या फिर इनकी मूर्तियां स्थानीय पत्थर से बनाई गईं। हड्डा की गचकारी कला की भव्यता स्थानीय कलाकारों की उच्च उपलब्धि की द्योतक है। बामियान में एक खड़ी चट्टान में विशाल आकार की सुंदर मूर्तियां तराशी गईं, जो पूरे भूदृश्य पर छाई हुई-सी लगती थीं। मातृ देवी की प्रतिमाएं भारी संख्या में बनाई गईं। उनकी पूजा अपने-आप में और उर्वरा की देवी के रूप में भी काफी लोकप्रिय थी। बौद्ध धर्म में स्थानीय धर्म की भी कुछ विशेषताएं समाविष्ट हो गईं। यह बात स्तूपों के प्रतीकात्मक महत्व और सांची आदि में नारी मूर्तियों से युक्त दीवारगीरों से स्पष्ट है। मृण्मूर्तिकाएं बड़ी संख्या में मिली हैं। उनमें से कुछ खिलौने हैं, कुछ सजावटी मूर्तियां और कुछ कर्मकांडों से संबंधित। मृण्मूर्तियों के संरक्षक राज-परिवार नहीं, बल्कि आम लोग थे, इसलिए इनसे उनके जीवन की अच्छी झांकी मिलती है।

यह उन मंदिरों के विकास के आरंभ का भी काल था जिनमें वे प्रतिमाएं रखी जाती थीं जिनकी पूजा शैव और वैष्णव करने लगे थे। इनका आरंभ बेसनगर, नागार्जुनकोंड, सांची और तक्षशिला के निकट झंडियाल से हुआ दिखाई देता है। इनमें से झंडियाल का मंदिर शायद हेलनवादी मंदिरों से बहुत अधिक प्रभावित रहा होगा। यह भी हो सकता है कि इस मंदिर को एक स्थानीय संप्रदाय ने अग्नि-मंदिर का रूप दे दिया। देवत्व-प्रदत्त राजाओं के लिए बनवाए कुषाण मंदिरों ने भी मंदिर की प्रारंभिक कल्पना को शायद प्रभावित किया होगा। इस काल में बौद्ध स्मारकों की तुलना में मंदिर बहुत छोटे और साधारण हुआ करते थे। बस, प्रतिमा के लिए एक कमरा हुआ

करता था। लेकिन आगे चलकर उन्होंने भव्य रूप ग्रहण कर लिया।

धार्मिक विश्वासों और आचारों का मिश्रण

इस काल में अधिकांश कार्यकलाप की पृष्ठभूमि में बौद्ध धर्म की छाया विद्यमान रहती थी, और इन कार्यकलाप को धनी-मानी और शक्तिशाली लोग समर्थन देते थे। *मिलिंदपन्हो*, *महावस्तु*तथा *सद्धर्म-पुंडरिक*जैसे बौद्ध ग्रंथ व्यापारिक समुदाय द्वारा सृजित रीति-नीति का समर्थन करते हैं। इसलिए, यह स्वाभाविक ही है कि विहारों को भरपूर दान-अनुदान दिए जाते थे; बड़े-बड़े स्तूप बनवाए जाते थे और छोटों का जीर्णोद्धार किया जाता था। बौद्ध संघ धन-धान्य से पूर्ण हो गया और उसका खूब सम्मान था। कुछ विहारों के पास काफी संपत्ति थी, और वे गुलाम तथा उजरती मजदूर रखते थे, जो उनके खेतों तथा अन्य उपक्रमों में काम करते थे। पहाड़ियों में चैत्यों तथा विहारों की कटाई और खुले आसमान के नीचे उनके निर्माण के लिए भिक्षुओं का विभिन्न प्रकार के प्रबंधन कौशलों में पारंगत होना आवश्यक होता होगा। दान-अनुदानों का संग्रह करना, तकनीकी विशेषज्ञता का पता लगाना, श्रम पर नियंत्रण रखना, हिसाब-किताब रखना, निर्माण की देख-रेख करना इसके कुछ उदाहरण हैं। उनमें से कुछ को तो उनके काम के स्वरूप को देखते हुए तद्रूप पदनाम भी दे दिए जाते थे, लेकिन ज़्यादातर अप्रशिक्षित ही होते थे और वे सिर्फ श्रमिकों की निगरानी करते होंगे। उन्हें इस काल में अपने उन गृहस्थ अनुयायियों से अवश्य सहायता मिलती होगी जो इन पेशों में थे। वे दिन बहुत पीछे छूट चुके थे जब भिक्षु प्रतिदिन पूर्वाह्न में मांगी गई भिक्षा पर ही गुजारा करते थे। अब तो बड़े-बड़े और संपन्न विहारों में रहनेवाले भिक्षु अपने भोजनालय में नियमित भोजन किया करते थे।

विहार किसी शहर के निकट या व्यापारियों और सार्थों अथवा तीर्थ-यात्रियों के आने-जाने के मार्ग पर बनवाए जाते थे। व्यस्त शहरों से दूर पड़नेवाले सुंदर और एकांत स्थलों में विहार कभी-कभी ही बनवाए जाते थे। लेकिन इस तरह के विहारों के पास भी अनुदान में प्राप्त काफी संपत्ति होती थी, जिसके बल पर भिक्षु किसी हद तक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। सभी प्रकार की सुविधाओं से युक्त विहारों को ध्यान में रखकर देखें तो संघ आम लोगों से दूर जा रहा था, जिससे सामाजिक नैतिकता का समर्थन करनेवाली विचारधारा के रूप में उसकी शक्ति क्षीण हुई होगी। यह चिंताजनक स्थिति थी और यह माना जा सकता है कि यदि स्वयं बुद्ध जीवित होते तो वे इस प्रवृत्ति का शायद विरोध करते।

बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का एक दूसरा पहलू उसकी स्थानीय उपासनाओं को ग्रहण कर लेने की तत्परता थी। मथुरा स्थित एक उत्तर कुषाण विहार को उन से कुछ अनुदान मिले हुए थे जो उस क्षेत्र में प्रचलित एक लोकप्रिय उपासना से संबंधित

उर्वरता की देवी की पूजा करते थे। यह उपासना नाग-पूजा थी। इससे स्वभावत: यह प्रश्न भी उठता है कि कहीं ऐसा तो नहीं था कि नाग उपासंना को ग्रहण करके उक्त विहार उस ठिकाने पर काबिज हो गया। लेकिन साथ ही यह बात भी है कि मथुरा जैसे स्थान न केवल सभी धर्मों के लिए पवित्र थे, बल्कि वे राजनीतिक महत्त्व के भी नगर थे, जिनके पास वाणिज्य-व्यापार से अर्जित भरपूर संपत्ति थी। मालूम होता है, विहारों के लिए ठिकानों के चयन के पीछे ये सभी कारण काम करते थे, यद्यपि उनके सामाजिक प्रकार्य भिन्न-भिन्न रहे होंगे। बौद्धों में विविध समूहों को एक साथ लाने की प्रवृत्ति थी, लेकिन यदि वर्ण-विषयक नियमों का पालन किया जाता होगा तो वे समूह एक-दूसरे से अलग हो जाते होंगे।

बुद्ध का दैवीकरण और उनकी प्रतिमा की पूजा, बोधिसत्त्व की अवधारणा और पुण्य के हस्तांतरण की कल्पना बौद्ध शिक्षा की मूल विशेषताएं नहीं थीं, यद्यपि काफी बहस के बाद बौद्ध धर्म के कई संप्रदायों में उनके महत्त्व को स्वीकार कर लिया गया। बुद्ध ने दैवीकरण का विरोध किया था। फिर भी पहली सदी ई. के आते-आते उनकी प्रतिमाएं पत्थरों में तराशी जाने लगीं, चट्टानों पर तक्षित की जाने लगीं और उनके चित्र बनाए जाने लगे, एवं उनकी पूजा की जाने लगी। एक और भी नई कल्पना बोधिसत्त्व की थी। इस कल्पना के अनुसार, बोधिसत्त्व ऐसा व्यक्ति है जो अपने निर्वाण की चिंता न करते हुए मानव जाति के कल्याण के लिए निस्स्वार्थ भाव से तबतक काम करता रहता है जब तक कि उसका यह उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। इसकी एक और भी परिभाषा यह थी कि बोधिसत्त्व बुद्ध का पूर्वावतार है, जो निर्वाण के लिए कर्म करता है और एक-के-बाद-एक जन्म ग्रहण कर पुण्य अर्जित करता है। यह पुण्य मात्र बोधिसत्त्व के लिए नहीं, बल्कि मानव-मात्र के लिए उद्दिष्ट था। इसके अतिरिक्त, यह पुण्य हस्तांतरणीय था, जिसके लिए आवश्यकता इस बात की थी कि पुण्य कार्य उस व्यक्ति के नाम पर किया जाए जिसे उसका लाभ देना हो। इस प्रकार संपन्न लोग संघ को गुफा आदि दान देकर पुण्य अर्जित कर सकते थे, या अन्य लोगों के दानों द्वारा पुण्य का भंडार खड़ा किया जा सकता था। यहां उस सामान्य वाणिज्यिक व्यवहार से साम्य देखा जा सकता है जिसके अंतर्गत पूंजी का संचय और हस्तांतरण हो सकता था।

इन परिवर्तनों के फलस्वरूप बौद्ध भिक्षुओं तथा उपासकों या गृहस्थ अनुयायियों की अंतर्निर्भरता में बदलाव आ गया। उपासक स्थापना और संघ दोनों की भलाई के लिए महत्त्वपूर्ण बन गया। सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य संस्था होने के लिए संघ के लिए धर्मप्राण लोगों तथा धनाढ्यों दोनों का समर्थन आवश्यक था। जितनी अधिक प्रतिष्ठा संघ को प्राप्त होती उतनी ही उसके समर्थकों को भी होती, चाहे वे निम्न जातियों के ही क्यों न रहे हों। यह पारस्परिक शक्ति-संवर्धन का एक उपाय था, जो अनेक धार्मिक संप्रदायों पर लागू होता था। लेकिन इस मामले में बौद्ध और जैन धर्म

वैष्णव तथा शैव संप्रदायों से भिन्न थे। इसका कुछ कारण तो यह था कि वैष्णव तथा शैव संप्रदायों में संस्थाबद्ध संन्यास नहीं था। संन्यस्त लोगों के आश्रम विहारों और बसदियों से मिलते-जुलते थे लेकिन उनमें इन दो संगठनोंवाली बात नहीं थी। साथ ही शैव और वैष्णव संप्रदायों में बौद्ध तथा जैन संप्रदायों से यह फर्क भी था कि इन दोनों संप्रदायों के मूल अकसर जातियों में होते थे और संबद्ध जातियां गृहस्थ अनुयायियों का स्थान ले लेती थीं या इसका एक और पहलू यह था कि धार्मिक संप्रदाय स्वयं ही जाति में परिणत हो जाता था। संघ गृहस्थ अनुयायियों पर निर्भर रहा और इन अनुयायियों ने बहुत अनुकूल प्रतिक्रिया दिखलाई। दान-अनुदानों का संबंध पुण्य अर्जित करने से जुड़ गया, और पुण्य अर्जित करना तो किसी भी कर्म का स्वभावत: सर्वप्रमुख परितोषिक था।

दान का आरंभ वैदिक यज्ञ के लिए यजमान द्वारा पुरोहित को दान दिए जाने से हुआ। लेकिन वैदिक यज्ञों का संपादन छीजने लगा था और ग्रहीता भूमि-अनुदान अधिक पसंद करते थे। भूमि स्थायी संपत्ति का सबसे मूर्त रूप होती जा रही थी और साथ ही उससे आर्थिक मूल्य में परिवर्तन का भी संकेत मिल रहा था। यज्ञों के पुरोहितों और वस्तुदान-प्राप्तकर्ताओं की अपेक्षा भूस्वामियों के रूप में ब्राह्मणों की सत्ता में अधिक लचीलापन आया।

बौद्धों तथा जैनों के बीच दान देने की क्रिया क्षत्रियों तक सीमित नहीं थी। कोई चाहे भूस्वामी हो या सेट्ठि अथवा शिल्पी, यदि वह दान देना चाहता तो दे सकता था। दान-अनुदान एक निवेश बन गए। उससे दाता को पुण्य प्राप्त होता था और ग्रहीता को भौतिक संपत्ति। दान देना मुख्य रूप से व्यक्ति का कार्य था, यद्यपि कभी-कभी वह कुछ कुटुंबियों के साथ मिलकर भी दान देता था। लेकिन इस कार्य में कुल या यहां तक कि विस्तारित परिवार भी शामिल नहीं होता था। संघ को दान देनेवाले कुछ दाता ऐसे धंधों में लगे हुए थे जिन्हें धर्मशास्त्रों ने केवल शूद्रों के उपयुक्त बताया था। लेकिन वे लोग दान देने की स्थिति में थे। इसलिए कतिपय ब्राह्मणीय पाठों में रियायत देते हुए ब्राह्मणों को शूद्रों से दान प्राप्त करने की सुविधा प्रदान कर दी गई, लेकिन साथ ही यह शर्त रख दी गई कि ऐसे ब्राह्मणों को श्राद्ध में निमंत्रित नहीं किया जा सकता।

संचार में सुधार होने से तीर्थयात्राओं में वृद्धि हुई, जिससे नए स्थानों का महत्व बढ़ा और नए आचार आरंभ हुए। उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों को और विदेशों को भी धर्मप्रचारकों की मंडलियां भेजने और वहां बौद्ध धर्म का प्रचार होने से इस धर्म में नए विचारों का समावेश हुआ। मूल सिद्धांत की पुनर्व्याख्या की गई और बौद्ध धर्म दो धाराओं में विभाजित हो गया-हीनयान और महायान। यह विभाजन सांप्रदायिक विभेदों से अधिक बड़ा था। सैद्धांतिक मतभेद तो थे ही, साथ ही संपन्न लोगों और गरीबों की परस्पर-विरोधी आवश्यकताओं के बीच आसानी से सामंजस्य नहीं स्थापित

किया जा सकता था। इन परिवर्तनों से बौद्ध धर्म की पूर्ववर्ती काल से चली आ रही संरचना में कमज़ोरी आना लाजिम था।

सांप्रदायिक विभाजन उन धर्मों में अधिक होता था जो अपने मूल का निर्देश ऐतिहासिक संस्थापकों तथा संस्थाओं में करते थे और इसके मुकाबले उन धर्मों के साथ ऐसा कम होता था जो मिथकों तथा कर्मकांडों के इर्द-गिर्द विकसित होते थे। बुद्ध की शिक्षा को लेकर विवाद उनकी मृत्यु के शीघ्र बाद आरंभ हो गया। आम तौर पर होता भी ऐसा ही है। अनेक संगीतियां आयोजित करके इन मतभेदों को मिटाने की कोशिश की गई। थेरवाद संप्रदाय ने, जिसका केंद्र कौशांबी में था, बुद्ध की शिक्षा को पालि में संकलित किया था। वह सबसे पुराना संप्रदाय था, जिसने मूल शिक्षा से निकटता का दावा किया। मथुरा में उद्भूत सर्वास्तिवाद संप्रदाय उत्तर की ओर गंधार, मध्य एशिया और उससे भी आगे फैला। उन्होंने संस्कृत में या जिसे संकर संस्कृत कहा गया है उस भाषा में सामग्री संकलित की। बौद्ध धर्म की शिक्षा को गंधारी प्राकृत में भी लिपिबद्ध किया गया। संभव है, अनुवाद के क्रम में पूर्ववर्ती शिक्षा की अर्थ-छटा में गैर-इरादतन ही बदलाव आ गया हो या हो सकता है कि पाठ की मूल भाषा से इतर भाषा में उसकी रचना करने के कारण ऐसा हुआ हो। इसके अतिरिक्त, बौद्ध धर्म से संबद्ध समाजों का ऐतिहासिक संदर्भ बदलता रहा होगा और इन बदलावों के कारण मूल शिक्षा में भी कुछ बदलाव आए होंगे।

कुछ बौद्ध परंपराओं के अनुसार, हीनयान और महायान के पारस्परिक विच्छेद को चौथी बौद्ध संगीति में स्वीकृति प्रदान की गई, जिसका आयोजन ईसवी सन् की दूसरी सदी के आरंभ में किया गया था और जिसका आयोजक बहुधा कनिष्क बताया जाता है। इस संगीति की प्रामाणिकता पर शंका की गई है। हो सकता है, यह उस स्थानीय बौद्ध परंपरा को प्रतिष्ठा देने का एक प्रयत्न रहा हो जो पश्मिोत्तर में तथा मध्य एशिया में एक स्वीकृत वस्तु बन गई थी। संभव है, पाटलिपुत्र में आयोजित तीसरी संगीति से, जिसके बाद थेरवाद का उदय हुआ और जिस संगीति का संबंध अशोक से बताया जाता है, चौथी संगीति की परंपरा को प्रेरणा मिली हो। अधिक सनातनी बौद्धों का मानना था कि हीनयान में बुद्ध की मूल शिक्षा सुरक्षित रही और महायान ने ऐसे नए विचारों को समाविष्ट किया जो इस धर्म की मूल शिक्षा से संगत नहीं थे। अंत में दोनों के बीच एक प्रकार का भौगोलिक विभाजन हो गया, लेकिन वह सर्वथा स्पष्ट नहीं था। हीनयान के गढ़ श्रीलंका, म्यानयार और दक्षिण-पूर्व एशिया के देश थे, जब कि महायान के अधिकतर अनुयायी मध्य एशिया, तिब्बत, चीन तथा जापान में थे।

महायान सिद्धांत पर कुछ समकालीन बौद्ध दार्शनिकों के विचारों का भी प्रभाव पड़ा। इनमें सर्वप्रमुख नागार्जुन था, जो उत्तरी दकन के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुआ था। उसने शून्यता के सिद्धांत का प्रवर्तन किया, जिसका अर्थ कभी-कभी यह

लगाया जाता है कि हम शून्यता से घिरे हुए हैं और जो-कुछ हम देखते हैं वह माया है। परंतु शून्यता निर्वाण या जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति थी, जिसकी तलाश प्रत्येक बौद्ध को थी। इन विचारों को आगे और भी विकसित किया गया, जिसके फलस्वरूप विविध प्रकार के दार्शनिक चिंतनों का जन्म हुआ, जो कभी-कभी परस्पर विरोधी भी थे। इन चिंतनों में आदर्शवादिता की प्रधानता थी, लेकिन कुछ तत्व बुद्धिसंगतता और तर्क के भी थे। संभव है, इसमें कुछ तत्व शून्य की गाणितिक अवधारणा के भी रहे हों। बाद के काल में इस अवधारणा का अधिक उपयोग किया गया।

महायान बौद्ध संप्रदाय के दूसरे पहलुओं को, जिनके अंकुर पूर्ववर्ती शिक्षा में भी विद्यमान थे, अन्य विभिन्न धर्मों के संपर्क से प्रोत्साहन मिला। यह संपर्क ईसाई, जर्थुस्त्री और मानीवादी धर्मों से मुख्य रूप से एशिया के उत्तरी भारत से पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र तक फैले भाग और मध्य एशिया में हुआ। उक्त पहलुओं में से प्रमुख था सच्चे धर्म की रक्षा के लिए बुद्ध मैत्रेयी का अवतरण। इसी से 'कष्ट उठाते त्राता' की अवधारणा का जन्म हुआ, जिसे कभी-कभी बोधिसत्व के रूप में देखा जाता है, जो स्वयं कष्ट उठाकर मानवता का उद्धार करता है। स्पष्ट है कि पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र में प्रचलित विश्वासों से जर्थुस्त्रियों की तरह ही बौद्ध भी परिचित थे। जर्थुस्त्रियों की मान्यता के अनुसार, जिस त्राता का आगमन होना था वह था शाओश्यान्त। महायान बौद्धों ने ब्राह्मांड सिद्धांत और युगांत सिद्धांत को भी अपनी विचार-सरणी में शामिल किया। ब्राह्मांड-सिद्धांत स्वर्ग लोकों की एक जटिल प्रणाली था। इसके अनुसार, एक-के-ऊपर-एक कई स्वर्ग लोक थे, जिनमें बोधिसत्त्वों का निवास था। बोधिसत्त्वों की पूजा देवताओं की तरह की जाने लगी। इस काल के अधिकांश धर्म लोकप्रिय उपासनाओं, विशेषतः उर्वरता की उपासना को अपने अंदर स्थान देकर अपने लिए अधिकाधिक समर्थन जुटाने की कोशिश में लगे हुए थे। प्रमुख धर्मों के मिथकशास्त्रों और ब्राह्मांड-सिद्धांत में अनेक यक्षों, यक्षियों, नागों आदि का समावेश किया गया। देवियों पर भी विशेष ध्यान दिया गया, जिनमें से कुछ पश्चिम एशिया जैसे क्षेत्रों से आयातित थीं।

समृद्धि और सत्ता से जुड़ जाने के कारण कभी-कभी धर्म संप्रदायों में बंट जाता है। जैन धर्म को विशेष रूप से नगरों के श्रेष्ठि परिवारों में लोकप्रियता प्राप्त हुई। उसमें भी सांप्रदायिक विभाजन हुआ। जैन साधु दिगंबरों और श्वेतांबरों में विभाजित हो गए। वे लोग मगध से पश्चिम की ओर खिसकने लगे और मथुरा, राजस्थान, उज्जैन, सौराष्ट्र तथा सोपारा में पश्चिमी तट पर बस गए। इन सभी स्थानों में वे खूब फूले-फले। मथुरा और मध्य भारत में उनकी उपस्थिति विशेष रूप से लक्षित होती थी। मथुरा राजनीतिक और व्यापारिक केंद्र था और मध्य भारत से होकर बहुत सारे मार्ग गुजरते थे। राजस्थान और गुजरात में भी उनका ख़ासा जमाव हुआ। एक और समूह कलिंग की ओर चला गया, जहां उन्हें खारवेल से राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। दक्षिण

में उनका मुख्य जमाव कर्नाटक और तमिल देश में था। अपने सुंदर भित्तिचित्रों के लिए प्रसिद्ध सित्तनवासल जैसे ठिकाने बसदियों के केंद्र थे, लेकिन बाद में श्रवण वेलगोल एक महत्वपूर्ण तीर्थ-स्थान के रूप में विकसित हुआ। यहां की महावीर की विशाल मूर्ति को एक नियमित अंतराल से आनुष्ठानिक स्नान कराया जाता है। जिस प्रकार के लोगों का समर्थन बौद्ध धर्म को प्राप्त था, बहुत-कुछ उसी प्रकार के लोगों द्वारा समर्थित जैन धर्म को भी उसी प्रकार के संकटों से गुजरना पड़ा जिस प्रकार के संकट बौद्ध धर्म को झेलने पड़े। तथापि बौद्ध धर्म के विपरीत, उसने समुदाय से घनिष्ठता से जुड़े एक धर्म के रूप में अपना अस्तित्व कायम रखा। इसलिए उसके अनुयायी कम भले रहे हों लेकिन उनका अस्तित्व हमेशा कायम रहा। बौद्ध धर्म के विपरीत, वह अखिल एशियाई धर्म नहीं बन सका, जिसका कारण यह था कि अन्य संस्कृतियों में उसका आनुष्ठानिक पालन कठिन था।

वैदिक ब्राह्मणीय धर्म के अनुयायी आरंभ में कम ही थे, लेकिन वे काफी प्रभावशाली थे। उसके अनुयायी मुख्य रूप से राज-परिवारों और दरबारों के लोग थे। उदाहरणार्थ, शुंग, सातवाहन, इक्ष्वाकु आदि राज-परिवार उसके अनुयायी थे। राजाओं के अभिषेक में वैदिक यज्ञों की प्रमुख भूमिका होती थी। कर्मकांड द्वारा उनके राजपद के दावे को वैधता प्राप्त होती थी। लेकिन वैदिक परंपरा ब्राह्मणों का इजारा बनी रही। हाल में विकसित हो रहे भागवत तथा शैव संप्रदायों के साथ उसका मामूली घाल-मेल हुआ। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म से उसकी कुछ स्पर्धा थी, जिसका मुख्य कारण संरक्षण प्राप्त करने की आपा-धापी थी। कुछ वैदिक देवता–जैसे वरुण और मित्र–चुपचाप तिरोहित हो गए थे; इंद्र और अग्नि जैसे देवता अपना महत्व खो चुके थे; और कुछ अन्य अतिरिक्त गुणों से युक्त नए देवताओं के रूप में उभर रहे थे। इस दौर में वैदिक ब्राह्मण धर्म का भागवत तथा शैव जैसे संप्रदायों से फर्क किया जाने लगा। आज पौराणिक हिंदू धर्म कहलानेवाले इन संप्रदायों ने इस काल के उत्तरार्ध में अपना असली स्वरूप ग्रहण किया।

इस दौर के संदर्भ में हिंदू-धर्म शब्द का उपयोग ऐतिहासिक दृष्टि से कालदोषपूर्ण होगा। प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में 'हिंदू' शब्द का प्रयोग नहीं होता था। जो लोग उन संप्रदायों के अनुयायी थे जिन्हें आज हम हिंदू संप्रदाय कहते हैं वे अपने धर्म की पहचान अपने संप्रदाय के रूप में करते थे। व्यापकतर छाप का प्रयोग करते हुए वे अपने को वैष्णव या शैव कहते थे और संकीर्णतर छाप का प्रयोग करते हुए भागवत, पाशुपत आदि कहते थे। धार्मिक पहचान के प्रति सजगता सभी संप्रदायों को अपने अंदर समाहृत करनेवाले धर्म की नहीं, बल्कि संप्रदाय की पहचान थी। जिसे आज हम हिंदू धर्म कहते हैं उसके स्वरूप को समझने के लिए इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है।

'हिंदू' शब्द के व्यापकतर प्रयोग का उद्भव आठवीं सदी में अरबों से हुआ।

तब इस शब्द का तात्पर्य वे सभी लोग थे जो सिंधु के पूरब में रहते थे। बाद में इस शब्द का अर्थ वे सभी लोग हो गए जो भारत में उस काल में प्रचलित धर्मों के अनुयायी थे। वैदिक ब्राह्मण धर्म से फर्क बताने के लिए यह आवश्यक हो गया कि उक्त संप्रदायों को कोई और छाप दी जाए, और फलतः पौराणिक हिंदू धर्म पद का प्रयोग होने लगा। इसका मूल उस परिवर्तन में समाया हुआ है जो पुराणों में निहित है। पुराणों की रचना ईसवी सन् की आरंभिक सदियों में शुरू हुई। प्रत्येक पुराण देवी या देवता-विशेष की उपासना की संहिता है, जिससे उपासक मार्ग-दर्शन ग्रहण करता है। बाद में पुराणों ने देवी-देवताओं, पूजा के अनुष्ठानों और देवी-देवताओं के पवित्र माने गए अलग-अलग स्थानों के तथाकथित इतिहासों के संबंध में और भी पाठों की रचना की प्रेरणा दी। इन पाठों में सर्वाधिक सुविदित आगम और महात्म्य हुए। इस प्रक्रिया में ऊंची जाति के रचनाकारों ने लोकप्रिय विश्वासों तथा उपासनाओं पर भी अधिकार कर लिया। वैदिक ब्राह्मण धर्म के विपरीत, इस नए धर्म में पुरोहित की मध्यस्थता आवश्यक नहीं, बल्कि वैकल्पिक थी, और आगे चलकर तो वे लोग ऐसी मध्यस्थता का प्रतिरोध भी करने लगे जिनके लिए धर्म उनके उपास्य के प्रति श्रद्धा का विषय-मात्र था।

वैदिक ब्राह्मणीय धर्म की तरह ही वैष्णव तथा शैव संप्रदायों की स्थापना ऐतिहासिक व्यक्तियों ने नहीं की थी। वे इलहामी धर्म नहीं थे, बल्कि उनका जन्म और विकास तरह-तरह की उपासनाओं, विश्वासों और कर्मकांडों से हुआ था, जिनमें से कुछ ब्राह्मणीय धर्माचरणों से छन-छनकर आए थे। अन्य तत्व, जो लोकोपासना जैसे सर्वथा भिन्न स्रोतों से आए थे, वैदिक ब्राह्मणीय धर्म के लिए जुगुप्साजनक भी हो सकते थे। लोकोपासनाएं बहुधा मुख्य धर्म से जुड़ जाती थीं। पुरोहितों को लोक उपासनाओं के लिए गुंजाइश करनी ही पड़ती थी।

इस प्रकार के संप्रदायों के मूल अकसर उनकी सामाजिक पहचान में समाए रहते थे, अर्थात् संप्रदायों के रूप में वे उस काल के विश्वासों को समाहृत कर लेते थे जब संबंधित समाज कुलों या वंशों के आधार पर संगठित थे। जब कुल जातियों में परिणत हो गए होंगे तब ये पहचानें भी बदल गई होंगी, लेकिन पूर्ववर्ती विश्वासों तथा कर्मकांडों के अभ्यस्त हो जाने के कारण उनमें उनके कुछ अंश अवशिष्ट रह गए होंगे। कुल या कौटुंबिकता में समाई जड़ों का स्थान जाति की सदस्यता और पहचान ने ले ली। कुल-पुरोहित के कर्मकांडों पर जाति के एहसास से उत्पन्न कर्मकांड हावी हो गए होंगे। एक नए प्रकार की आराधना का विकास हुआ, जिसमें आराधक और आराध्य के बीच पुरोहितों की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं थी। यह प्रक्रिया बाद के काल में अधिक स्पष्ट हो गई, लेकिन परिवर्तन के संकेत इसी काल में मिलने लगे थे। तथापि पुरोहितों की मध्यस्थता समाप्त नहीं हो गई, और कुछ काल तक दूरी बरतने के बाद पुरोहित उपासना के इस नए रूप पर भी हावी होने लगे।

आराधना का रूप वैदिक यज्ञ से भिन्न था, और उसका विकास पूजा के रूप में हुआ। आराध्य को किए गए अर्पण के रूप में पूजा वैदिक यज्ञ का ही सातत्य थी। फर्क यह था कि अर्पण में प्राणी-बलि वैकल्पिक था और आराध्य अब अमूर्त नहीं था, बल्कि मंदिर में प्रतिष्ठित किसी-न-किसी मूर्त वस्तु की आराधना की जाती थी। ये दोनों परिवर्तन बहुत महत्त्वपूर्ण थे। आराध्य का रूप कुछ भी हो सकता था, प्रतिमा से लेकर मात्र एक पत्थर तक। वह किसी अवधारणा का प्रतीक भी हो सकता था, जैसे शिव-लिंग। उर्वरता से संबंधित कई लोकप्रिय उपासनाएं इसमें समाविष्ट कर ली गईं। जब प्रतिमाएं मानवाकृतिक होने लगीं, तब भी उनमें कुछ बदलाव करके उन्हें कई-कई भुजाओं और मुखाकृतियों से युक्त कर दिया गया, जिसका प्रयोजन आराध्य में आरोपित विभिन्न गुणों को दरशाना था।

मूर्तिपूजा हेलनवादी संसार की सामान्य विशेषता थी, लेकिन संभव है, भारत में उसका विकास किसी एक आराध्य की आराधना पर ध्यान केंद्रित किए जाने से हुआ हो। कुछ लोगों का कहना है कि वैदिक ब्राह्मण धर्म में अन्य धर्मों के रूपों का वर्जन सहज समाहित था। लेकिन इन संप्रदायों ने अपने प्रारंभिक धर्माचरणों को नए धार्मिक रूपों के अनुरूप ढाला और अन्य उपासनाओं को अपने मिथकशास्त्र में खपाया। इसके फलस्वरूप विविध प्रकार के धार्मिक विश्वासों का समाहार संभव हुआ–जैसा कि विष्णु के अनेक अवतारों से देखा जा सकता है। अतीत में इसे आदान-प्रदान का रूप माना जाता था, लेकिन अब इसे वर्ण समाज से परे लोगों को अपने समाज में शामिल करने की रणनीति माना जाता है। उन लोगों को वर्ण का कोई दर्जा दे दिया जाता था और मिथकशास्त्र तथा आराध्य-समूह का विस्तार करके उनके धार्मिक विश्वासों को अपने अंदर पचा लिया जाता था। कुछ कर्मकांड-विशेषज्ञों तथा कुलों के सरदारों को छोड़कर ऐसे समूहों को आम तौर पर वर्ण समाज में निम्न अर्थात् शूद्र का ही दर्जा दिया जाता होगा। इसलिए ऐसे समाहार का वे लोग शायद विरोध भी करते होंगे जो कुल के अंतर्गत समानता की हैसियत का उपभोग करते थे।

यद्यपि बहुत सारे देवी-देवताओं की पूजा होती रही तथापि कुछेक पर विशेष ध्यान देने की प्रवृत्ति मौजूद थी। इससे इन संप्रदायों में एकेश्वरवादी चिंतन को कुछ प्रोत्साहन मिला होगा। लेकिन त्रिदेव की कल्पना को बढ़ावा मिलता रहा–स्रष्टा ब्रह्मा, पालक विष्णु और विध्वंसक शिव की कल्पना को। इन तीन देवताओं में विष्णु और शिव को व्यापक समर्थन मिलता रहा और आगे की सदियों के दौरान वैष्णव तथा शैव हिंदू धर्म के प्रमुख संप्रदाय बने रहे। ब्रह्मा पृष्ठभूमि में तिरोहित हो गए।

कल्पना यह है कि विष्णु सृष्टि पर दृष्टि रखते हैं और जब बुराई की अति हो जाती है तब उसे मिटाने के लिए धरती पर विभिन्न अवतार लेते हैं। माना जाता है कि उन्होंने अनेक अवतार लिए, जिनमें से नौ पर आम सहमति है। अवतारों में से कुछ पशु हैं और कुछ मनुष्य। महाकाव्यों के नायक राम और कृष्ण को अवतारों के रूप

में प्रस्तुत किया गया, और इन ग्रंथों को, जो मूलतः कुलों के सरदारों तथा राजाओं की चारण-गाथाएं थे, पवित्र धर्मग्रंथों का दर्जा प्राप्त हुआ। धार्मिक साहित्य के रूप में उपयोग के लिए उन्हें संशोधित किया गया। इन महाकाव्यों के संशोधन-संपादन के क्रम में इनमें अनेक क्षेपक जोड़ दिए गए, जिनमें से सर्वाधिक प्रसिद्ध *महाभारत*का *भगवद्गीता*वाला अंश है। इस प्रकार के पाठों के अनेक स्तर हैं और जहां क्षेपकों का इतिहास दृष्टिगोचर होता है वहां हमें इन पाठों की असली भूमिका की पहचान मिलती है। विष्णु का दसवां और अंतिम अवतार होना अभी शेष है। वह उनका ब्राह्मण कल्कि अवतार होगा। वे संसार की रीति-नीतियों को रास्ते पर ले आएंगे, अत्याचार का अंत करेंगे और उन लोगों के प्रयत्नों को उलट देंगे जिन्होंने ब्राह्मणीय नियमों के विरुद्ध आचरण करके विश्व को विपर्यस्त कर दिया है। ऐसी विपर्यस्त स्थिति में निम्न जातियों द्वारा उच्च स्थान प्राप्त कर लिया जाना भी शामिल है।

अवतारों की कल्पना से बुद्ध के पूर्वजन्मों और बोधिसत्त्व के सिद्धांत का स्मरण हो आता है। कल्कि में हमें बुद्ध मैत्रेयी का आभास मिलता है। बुद्ध का वह अवतार भी अभी शेष है और जब वे आएंगे तब बौद्ध विश्वासों और आचारों को पुनः प्रतिष्ठित करेंगे। यद्यपि मैत्रेयी की चर्चा पूर्ववर्ती पाठों में भी हुई हैं, तथापि इस दौर में उसकी लोकप्रियता बढ़ गई, जिसका कारण यह डर था कि त्राता के प्रादुर्भूत नहीं होने से बौद्ध धर्म का पतन हो सकता है। एक नई जीवन-पद्धति के संस्थापक से बुद्ध एक मसीहा, परम पूज्य आराध्य बन गए थे। अवतारों और उद्धारकों की ये अवधारणाएं एक धर्म के दूसरे को प्रभावित करने का परिणाम नहीं थीं। बल्कि वे यात्रा करनेवालों, आपस में मिलने-जुलनेवालों और एक-दूसरे से बातचीत करनेवालों के बीच विमर्श के एक संसार के अस्तित्व का नतीजा थीं। यह विमर्श उस काल के अनेक धर्मों में—विशेषतः भारत, मध्य एशिया तथा पश्चिम एशिया के अनेक धर्मों में-लक्षित होनेवाले समान विचारों तथा विश्वासों में प्रतिबिंबित होता है।

विविध कोटियों की देवियों, बहुधा उर्वरता से संबंधित देवियों ने पौराणिक हिंदू धर्म के मिथकशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया और उनकी पूजा प्राथमिक और प्रमुख आराध्याओं के रूप में की जाती थी। आगे चलकर तंत्र संप्रदाय की देवियों के विकास का मूल एक हद तक इन्हीं में देखा जा सकता है। प्रकृति तथा पशुओं को इन देवियों की पवित्र अभिव्यंजनाएं माना जाता था-ख़ास तौर से वृक्षों, कुंजों, नदियों, पर्वतों और सांड़ों तथा सांपों को। इन उपासनाओं के अतिरिक्त विभिन्न श्रेणियों के अर्धदेव-देवियां और वायवी हस्तियां भी थीं, जिनकी पूजा की जाती थी।

पुनर्जन्म से मुक्ति पाने की चिंता के कारण कुछ अवधारणाएं सामने आईं-जैसे कर्म और संसार की प्रारंभिक कल्पना। इस कल्पना का सूत्रपात उपनिषदों में हुआ था और उसका पल्लवन बौद्ध तथा जैन धर्मों की शिक्षाओं में किया गया। अब इस कल्पना का अच्छा प्रचार हो चला। प्रतिमा की पूजा में, जो वैदिक ब्राह्मण धर्म के

लिए अनजानी चीज थी, विशेष ध्यान आराध्य और आराधक पर होता था। इस आराधना का उद्देश्य मोक्ष है। श्रमण धर्मों में विकसित होने वाली व्यक्ति की मुक्ति की अवधारणा के केंद्रीय महत्व ने इसकी लोकप्रियता में बहुत अधिक योगदान किया।

इस जन्म के कर्मों से अगले जन्म की अवस्था निर्धारित होती है। यह भाग्यवाद नहीं है, क्योंकि व्यक्ति विचारपूर्वक सत्कर्म करके अपने भवितव्य में सुधार कर सकता है। भाग्यवाद यह है कि किसी कर्म की शुद्धता इस बात पर निर्भर है कि वह कर्म धर्मसम्मत है या नहीं। वैदिक ब्राह्मण धर्म और किसी हद तक पौराणिक हिंदू धर्म में भी धर्म का निर्णायक ब्राह्मण और उनका धर्मशास्त्र था और ये दोनों वर्ण-धर्म के पालन को ही नैतिक मानते थे। बौद्ध और जैन सामाजिक नैतिकता की एक भिन्न अवधारणा पर ज़ोर देते थे–जैसे मध्यम मार्ग पर, जिसका मूल वर्ण में नहीं था। *गीता* का उद्घोष है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्म के अनुसार कर्म करना चाहिए और फल के बारे में नहीं सोचना चाहिए। जब अर्जुन कुरुक्षेत्र युद्ध के आरंभ में अपने परिजनों की हत्या करने में हिचकता है जब उसके सारथी कृष्ण उसे समझाते हैं कि उनकी हत्या से उसे कोई पाप नहीं लगेगा, क्योंकि युद्ध की मांग हत्या की है और क्षत्रिय नायक अर्जुन एक सत्पक्ष की रक्षा के लिए प्रयत्नशील था। यदि सारथी बुद्ध होते तो संदेश कुछ और ही देते।

एक अन्य धर्म अर्थात् ईसाई धर्म ने भारत में व्यापारिक जहाजों के माध्यम से पश्चिम से प्रवेश किया, यद्यपि उसके आगमन की तिथि विवादास्पद है। ईसाइयत के आगमन का संबंध सेंट टामस के आख्यान से जोड़ा जाता है। इडेसा के कैथलिक चर्च के अनुसार, वे धर्म-प्रचार के उद्देश्य से दो बार भारत आए। पहली यात्रा में वे पश्चिमोत्तर में पहलव राजा गोंडोफेयर्स से मिले। दूसरे अवसर पर वे, कहते हैं, लगभग 52 ई. में मलाबार पहुंचे। मान्यता यह है कि वे ईसा के शिष्य थे। परंपरा से मालूम होता है कि वे मद्रास के निकट माइलापुर में शहीद हो गए, लेकिन इस दावे के समर्थन में कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलता। पूर्वी भूमध्य सागरीय परंपराओं से प्राप्त वृत्तांतों के अनुसार वे सोकोट्रा से मुजिरिस आए। भारत और रोम के बीच चलनेवाले व्यापार के कारण इन दो स्थानों के बीच जितनी यात्राएं की जाती थीं उन्हें देखते हुए इस कथा का सच होना संभव दिखाई देता है। दिलचस्प बात है कि ये परंपराएं उनका संबंध व्यापार के सबसे अधिक सक्रिय क्षेत्रों–पश्चिमोत्तर और दक्षिण भारत–से जोड़ती हैं। लेकिन जो ऐतिहासिक कड़ियां पहली सहस्राब्दी ई. के मध्य में पड़ती हैं उनका संबंध इडेसा और फ़ारसी चर्च से अधिक मजबूत दिखाई देता है। फ़ारसी ईसाइयों के एक समूह ने टॉमस काना के नेतृत्व में केरल को देशांतरण किया, जहां स्थानीय राजा ने उन्हें एक भूमि-दान दिया। भारत में ईसाई धर्म के प्रथम प्रवेश

का संबंध सीरियाई ईसाई गिरजा संगठन की स्थापना से जोड़ना ज़्यादा सही लगता है।

इस काल की तसवीर पर निगाह डालें तो हम लोगों को बड़ी संख्या में विभिन्न दिशाओं में आते-जाते देखते हैं। न केवल यवन लोग इस उपमहाद्वीप के साथ व्यापार कर रहे थे, बल्कि भारत के विभिन्न भागों के व्यापारी मध्य एशिया, पश्चिम एशिया, लाल सागर के बंदरगाहों और दक्षिण-पूर्व एशिया में पहुंच रहे थे। मृद्भांडों, शिल्प-तथ्यों और लिपियों के व्यापक वितरण से भारत के अंदर और बाहर इन लोगों की आवाजाही का संकेत मिलता है। कई क्षेत्रों में मिले-जुले समुदायों के लोग बसे हुए थे, जिनकी अलग-अलग पहचानें थीं—कुछ की पेशे और जाति पर आधारित तो कुछ की धार्मिक संप्रदाय और भाषा पर आधारित। आगे की सदियों के दौरान इन पहचानों का बोलबाला रहनेवाला था। धर्मशास्त्र इतनी अधिक विविधता को नियंत्रित तो क्या कर सकते, वे इसका ठीक से जायजा तक नहीं ले सकते थे। अवसर आने पर ये ग्रंथ सैद्धांतिक दलीलों पर अपने पूर्वाग्रह लागू कर सकते थे। वर्णों के उल्लेख तो हुए, लेकिन बहुधा ऊंची जातियों के संदर्भ में ही। निम्न जातियां, जिन्हें अकसर वर्णसंकर कहा जाता था, अधिकतर अपने पेशों से पहचानी जाती थीं। धर्मशास्त्रों की कठोरता निस्संदेह परिवर्तनों के युग में रूढ़िवाद की असुरक्षा का द्योतक थी।

अध्याय : नौ

संक्रमण काल

लगभग *300-700* ई.

क्लासिकी स्थिति

जब इतिहासकार 'स्वर्ण युगों' के बारे में लिखा करते थे, उन दिनों गुप्त काल को स्वर्ण युग कहा जाता था। मान्यता यह थी कि जब किसी सभ्यता में जीवन के सारे पहलू उत्कृष्टता के एक शिखर पर पहुंच जाते हैं तब वह उस सभ्यता का स्वर्ण युग होता है। गुप्त काल को स्वर्ण युग मुख्य रूप से संस्कृत भाषा में रचे गए प्रभावोत्पादक साहित्य तथा कला की उच्च कोटि के कारण कहा गया। यह साहित्यिक तथा कलात्मक उत्कर्ष उस काल में हुआ जिसे ब्राह्मणीय 'पुनर्जागरण' के रूप में देखा गया। चूंकि पहले भारतीय सभ्यता को हिंदू और सांस्कृतिक सभ्यता के रूप में चित्रित किया जाता था इसलिए 'उच्च' संस्कृति के रूप में ब्राह्मणीय संस्कृति के अभूतपूर्व प्रसार को स्वर्ण युग कहा गया। उच्च संस्कृति का संबंध विभिन्न राजदरबारों के अभिजनों से दरशाया गया और उस संस्कृति के आकलन में केंद्रीय महत्त्व रचनात्मक साहित्य, मूर्तिकला, स्थापत्य, दर्शन और साथ ही जीवन-शैली को दिया गया। अभिजन तो अभिजन, आम लोगों के बारे में भी यह मान लिया गया कि वे भौतिक दृष्टि से सुखी थे और उनके पास शिकायत का कोई कारण नहीं था।

स्वर्ण युग को सामान्यत: आदर्श तो होना ही था, लेकिन उसे सुदूर अतीत में देखना था, और भारत के प्राचीन इतिहास पर काम करनेवाले विद्वानों ने इसके लिए ऐसे काल को चुना जब हिंदू संस्कृति पहले के किसी भी काल की अपेक्षा अधिक दृढ़ता से प्रतिष्ठित हो गई थी। सुदूर अतीत एक सुविधा यह प्रदान करता था कि उसकी तसवीर तैयार करने में कल्पना के लिए अधिक गुंजाइश होती थी। अब चूंकि इतिहासकार जीवन के सभी पहलुओं के बारे में लिख रहे हैं, इसलिए ऐसे समग्रतापूर्ण स्वर्ण युग की कल्पना पर शंका उठाई गई है जिसमें संपूर्ण समाज का समावेश था।

यह शंका पेरीक्लीज कालीन एथेंस पर, एलिजाबेथ कालीन इंग्लैंड पर या किसी भी अन्य संस्कृति पर लागू होती है। प्राकाधुनिक काल के अधिकतर समाज सुखी-संपन्न लोगों और अपेक्षाकृत अभावग्रस्त लोगों में विभाजित थे। प्रथम वर्ग के लोगों को दूसरे वर्ग की अवस्था की कोई चिंता नहीं थी। स्वर्ण युग का वर्णन सुखी-संपन्न लोगों के जीवन को प्रतिबिंबित करता था और केवल उन्हींके कार्यकलाप ऐसे युग की विशेषताओं के रूप में प्रस्तुत किए गए।

पहले स्वर्ण युग की कल्पना और क्लासिकी या मानक युग की अवधारणा एक-दूसरे के क्षेत्र का कुछ-कुछ अतिक्रमण करते थे, परन्तु अब दोनों को एक-दूसरे से भिन्न माना जाता है। 'क्लासिकी' छाप का एक भिन्न अर्थ है–यह जीवन की अभिव्यक्तियों के मूल्यांकन के लिए मापदंड स्थापित करती है। इसके मानदंड स्थायी उत्कृष्टता और एक अनुकरणीय स्तर हैं। नवोन्मेषकारी प्रयत्न परिपक्व होकर तात्विक शैलियां बन जाते हैं और क्लासिकी रूप अति-अलंकृत रूपों को अपनाने की प्रवृति से पहले की स्थिति होता है। अब बहुत-से इतिहासकार इस मान्यता को भी अपर्याप्त मानते हैं, क्योंकि तात्विक अभिव्यक्ति में भी देश, काल और विषय के अनुसार अंतर होता है। कलात्मक और साहित्यिक अभिव्यक्ति को क्लासिकी स्थिति प्रदान करने के उत्साह का कारण शायद यह रहा हो कि इन्हें ऐतिहासिक विकास की बृहत्तर प्रक्रिया से अलग करके देखा गया। एकाधिक क्लासिकी कालों का अस्तित्व भी स्वीकार किया जाना चाहिए, क्योंकि भाषा, कला, दर्शन, ज्ञान और यहां तक कि भौतिक संस्कृति की अभिव्यक्ति के अनुसार भी उत्कृष्टता के मानदंड बदल जाते हैं। इसके अतिरिक्त, इस स्पष्ट बात का भी उल्लेख नहीं किया गया है कि क्लासिकी स्थिति की एक दीर्घ भ्रूणावस्था होती है।

कम से कम तीन ऐसे काल हैं जब कलात्मक तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रभावोत्पादक ऊंचाइयों पर पहुंची–मौर्योत्तर तथा गुप्त काल; चोल काल; और मुगल काल। गुप्त काल की संस्कृति का पुरोगामी निखार उत्तरी भारत तक ही सीमित नहीं था, क्योंकि दकन में भी संस्कृतियों का जबर्दस्त विकास हुआ। यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में प्रत्येक क्षेत्रीय संस्कृति का अपना क्लासिकी युग था, और क्लासिकी युगों को इसी रूप में देखना चाहिए। ये ऐसे काल नहीं हैं जब संपूर्ण उपमहाद्वीप एक ही सार्वजनीन सांस्कृतिक रूप का अनुसरण कर रहा हो। इसलिए यह परिभाषा व्यापक उत्कृष्टता की नहीं, बल्कि सीमित उत्कृष्टता की है–ऐसी उत्कृष्टता की जिसे मूल्यांकन का पैमाना माना जा सकता है। सांस्कृतिक संस्कृति की अवधारणा के उपयोग को प्राथमिकता देने का मतलब अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की ओर ध्यान देते हुए एक ऐतिहासिक दृष्टि-बिंदु प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। इसका तात्पर्य बौद्धिक विमर्श की भाषा के रूप में तथा विभिन्न गतिविधियों के मुहावरे के तौर पर संस्कृत का स्पष्ट और विस्तृत उपयोग है, भले ही ये गतिविधियां

दरबारों और विद्वानों की संस्कृति तक ही क्यों न सीमित रही हों। भूमि संबंधों से लेकर दार्शनिक विमर्शों तक में ऐतिहासिक परिवर्तन के व्यापक आयामों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

इस काल की सांस्कृतिक संस्कृति के मूल को पूर्ण रूप से ब्राह्मणीय रीति-नीतियों में समाहित देखने की प्रवृत्ति रही है। इसीलिए इसे ब्राह्मणीय पुनर्जागरण का काल कहा गया है। तथापि इस काल की अभिव्यक्ति में ऐसा बहुत-कुछ है जिसका विकास एक ऐसे मुहावरे से हुआ जिसका मूल श्रमणीय और उसमें भी विशेष रूप से बौद्ध परंपरा में है। बुद्ध की प्रतिमाएं आराध्यों में अधिक प्रभावोत्पादक थीं, बौद्ध संस्कृत साहित्य ने सृजनात्मक साहित्य को प्रोत्साहन दिया, और तत्कालीन चिंतन के संबंध में पूर्ववर्ती बौद्धों तथा श्रमणों द्वारा उठाई गई शंकाओं से दार्शनिक परिचर्चा विकसित हुई।

गुप्त काल की क्लासिकी स्थिति कोई गुप्त शासन से उद्भूत नवोन्मेष नहीं है, बल्कि पूर्व में आरंभ हुई प्रक्रिया की परिणति है। प्राक्-गुप्त काल में उत्तर भारत में नए कलात्मक रूपों का सूत्रपात हुआ, जैसे बौद्ध धर्म से संबंधित रूपों का। अन्य धार्मिक संप्रदायों में भी वैसी ही प्रवृत्तियां उभरीं, और तकनीकी विषयों पर ग्रंथों की रचना हुई और विभिन्न प्रकार का रचनात्मक साहित्य लिखा गया। बहुत-सा साहित्य संस्कृत में है, लेकिन केवल यही भाषा इस काल को एक विशेष गुणवत्ता प्रदान नहीं करती। सांस्कृतिक संस्कृति के प्रसार में कुछ ख़ास किस्मों की सामाजिक तथा सांस्कृतिक वर्जनशीलता सहज समाहित मानी जाती है और वह एक सामाजिक समूह को दूसरे से अलग करती है। क्लासिकी स्थिति अनेक शैलियों, रूपों तथा आकांक्षाओं के आपस में जुड़ने से उदित होती है और इसलिए वह एक विकासमान सातत्य है। वह एक समरूप, अभिजन संस्कृति की दिशा में संक्रमण का प्रयत्न करती है, लेकिन इस प्रक्रिया में अनेक अन्य के लिए उत्प्रेरक बन जाती है। इसलिए गुप्त काल पुनरुत्थान या पुनर्जागरण की अपेक्षा प्रथम सहस्राब्दी ई. के उत्तरार्ध में उत्तर भारतीय समाज में स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की दिशा में संक्रमण का काल था।

ऊपरी वर्गों के संदर्भ में गुप्त काल को क्लासिक युग कहना किसी हद तक सही है, क्योंकि इन वर्गों के लोग बहुत हद तक उस काल के साहित्य तथा कलाओं में अभिव्यक्त जीवन जीते थे। पुरातत्व से जो अधिक यथार्थ और सही साक्ष्य प्राप्त होते हैं उनसे अधिकांश लोगों के संदर्भ में जीवन की जो तसवीर उभरती है वह जरा कम ही भड़कीली है। जिन ठिकानों की खुदाई हुई है उनसे लगता है कि भौतिक दृष्टि से औसत जीवन-स्तर इससे पहले के काल में शायद बेहतर रहा होगा। इस बात की पूरी पुष्टि शहरी ठिकानों और ग्रामीण बस्तियों की क्षैतिज खुदाई के बाद ही हो सकती है, जिसके लिए ऐसी खुदाइयों के परिणामों की तुलना पूर्ववर्ती काल के अवशेषों से करनी पड़ेगी। खुदाइयों से उद्घाटित भौतिक संस्कृति तथा साहित्य और

कला में प्रतिबिंबित भौतिक जीवन के बीच अभी जो असंगति दिखाई देती है वह क्लासिकी स्थिति के सामाजिक संदर्भ पर अपने-आप में एक टिप्पणी है।

गुप्त राजा और उनके उत्तराधिकारी

गुप्तों के परिवार के उद्‌भव और पूर्वेतिहास पर सीमित साक्ष्य ही प्राप्त हैं, क्योंकि लगता है, वे अदना स्थिति से उभरे थे। पहले यह समझा जाता था कि यह परिवार मगध में किसी छोटे-से प्रदेश पर शासन करता था, लेकिन हाल में विद्वानों की यह राय बनी है कि उनका आधार पश्चिमी गांगेय क्षेत्र में था। उनके पारिवारिक नाम से लगता है कि वे जाति के वैश्य थे, लेकिन कुछ इतिहासकार उन्हें ब्राह्मण का दर्जा देते हैं। इस वंश के एक परवर्ती राजा की प्रशस्ति से मालूम होता है कि कुषाणों के पतन के बाद कई छोटे-छोटे राज्य कायम हो गए थे और संभव है, उन्हीं में से एक गुप्तों का भी रहा हो। इस राजवंश ने प्रथम चंद्रगुप्त के सिंहासनारोहण के साथ अपना वर्चस्व स्थापित किया। चंद्रगुप्त ने अपने राज्य को मात्र छोटी प्रादेशिक स्थिति से ऊपर उठाया। उसने लिच्छवि परिवार में विवाह किया। यह किसी समय उत्तर बिहार में एक पुराना प्रतिष्ठित गण-संघ था, जो अब नेपाल के एक राज्य से संबद्ध था। इस विवाह ने इस परिवार पर स्वीकार्यता की मुहर लगा दी और वह राजनीतिक दृष्टि से गुप्तों के लिए बहुत लाभदायक था, क्योंकि प्रथम चंद्रगुप्त ने अपने सिक्कों में इस तथ्य को खूब उछाला। उसका राज्य गंगा के मध्य मैदान (मगध, साकेत और प्रयाग) में फैला हुआ था और उसने महाराजाधिराज का विरुद धारण किया, यद्यपि अब विरुद का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया था। अब छोटे-बड़े कई राजा इसका उपयोग कर रहे थे। ऐसा समझा जाता है कि 319-20 ई. में आरंभ किया गया गुप्त संवत् चंद्रगुप्त के सिंहासनारोहण की स्मृति में प्रवर्तित किया गया था।

समुद्रगुप्त का दावा था कि लगभग 335 ई. में उसके पिता ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। उसकी एक लंबी प्रशस्ति एक अशोक स्तंभ पर अंकित की गई, जो अब इलाहाबाद में है। उससे उसके शासन-काल के संबंध्र में बुनियादी जानकारी प्राप्त होती है। यह बात कुछ विचित्र-सी लगती है कि उसने अशोक के आदेश से युक्त स्तंभ को अपनी प्रशस्ति अंकित करवाने के लिए चुना। इससे या तो यह ध्वनित होता है कि वह कुछ ऐतिहासिक सातत्य का दावा कर रहा था या अगर अशोक के अभिलेख को पढ़ना अब भी संभव था तो इससे यह मालूम होता है कि समुद्रगुप्त यह दिखलाना चाहता था कि उसने अशोक की दृष्टि के विपरीत स्थिति अपनाई। इस स्तंभ पर समुद्रगुप्त के बाद के राजाओं के अभिलेख भी अंकित हैं। इस प्रकार यह स्तंभ एक प्रकार से ऐतिहासिक विवरण का उपादान बन गया।

प्रथम चंद्रगुप्त के उत्तराधिकारी के संबंध में खड़े विवाद और एक अल्पज्ञात

राजा कच के सिक्कों से पता चलता है कि समुद्रगुप्त का कोई प्रतिद्वंद्वी भी था, जिसे अंत में उसने परास्त कर दिया। मालूम होता है, समुद्रगुप्त के मन में राजधानी से केंद्रीय रूप से नियंत्रित एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की महत्त्वाकांक्षा पल रही थी। मौर्यों के कुछ-कुछ लक्षण उभर रहे थे। यदि प्रशस्ति को अक्षरश: सही माना जा सकता हो तो उससे उन राजाओं और क्षेत्रों की एक प्रभावोत्पादक सूची सामने आती है जो इस उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में समुद्रगुप्त के विजय-अभियान के ग्रास बन गए। बाद के काल में विजयों की ऐसी सूचियां बहुधा दरबारी गुण-गान किस्म की चीज होती थीं; लेकिन समुद्रगुप्त के प्रसंग में एक दरबारी कवि द्वारा की गई अतिरंजना शायद सीमित ही रही होगी। प्रदेशों के साम्राज्य में विलय की अपेक्षा अधीनता की स्वीकृति पर अधिक ज़ोर दिया गया दिखाई देता है। चार उत्तरी राजाओं को मुख्य रूप से दिल्ली और पश्चिमी गांगेय क्षेत्र में विजित किया गया। दक्षिण और पूरब के राजाओं को अधीनतासूचक कर देने पर विवश किया गया। उन्हें बंदी बनाकर मुक्त कर दिया गया। उल्लिखित स्थानों से लगता है कि समुद्रगुप्त की विजय-वाहिनी पूर्वी तट पर कांचीपुरम् (आधुनिक चेन्नई) तक पहुंच गई। उत्तर भारत में आर्यावर्त के नौ राजाओं का मूलोच्छेद कर दिया गया। मध्य भारत और दकन के वनवासियों के राजाओं से अधीनता स्वीकार करवाई गई। छठी सदी के एक अभिलेख में कहा गया है कि मध्य भारत के अठारह वनांचलीय राज्यों का उत्तराधिकार एक स्थानीय राजा को मिला। इससे लगता है कि इन क्षेत्रों की विजय का सिलसिला पहले ही आरंभ हो चुका था। प्रशस्ति के अनुसार, पूर्वी भारत के राजाओं और साथ ही नेपाल तथा पंजाब के छोटे-छोटे राज्यों को कर देने को विवश होना पड़ा। पूर्वकाल में राजस्थान में विद्यमान गण-संघों में से नौ को, जिनमें सदियों पुराने मालव और यौधेय भी शामिल थे, गुप्तों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इसके अतिरिक्त, दैवपुत्र शाहानुशाही (जो स्पष्ट ही एक कुषाण विरुद था), शकों और सिंहल (श्रीलंका) के राजा भी गुप्तों को कर देते थे, जैसे सभी द्वीपों के निवासी देते थे।

यह प्रशस्ति राजाओं के पूर्ववर्ती दरबारी गुण-गान के सातत्य में है और बाद की ऐसी रचनाओं के लिए एक नमूना बन जाती है। स्वीकृत शैली में एक स्पष्ट इरादे से इस प्रशस्ति की रचना की गई। इसलिए इसे अक्षरश: सही मानने में झिझक होती है। तथापि इसमें महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचना निहित है और समुद्रगुप्त की विजयों की सूची प्रभावोत्पादक है। दक्षिण और दकन के राजा समुद्रगुप्त के अधिराजत्व (सुजरेंटी) में नहीं थे, बल्कि उन्होंने मात्र उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। उत्तर भारत के बहुत-से राजाओं ने भी ऐसा ही किया था। अपनी विजयों के बल पर उसने अपने मूल मंतव्य के अनुरूप उत्तर भारत में अपना राज्य-विस्तार किया, लेकिन जिन राजाओं के प्रदेशों को वह अपने राज्य में नहीं मिला पाया उन्हें अधीनता स्वीकार करने और नजराना देने को विवश किया। लगता है, उसने जितना सोचा था उससे अधिक प्रबल

प्रतिरोध का उसे सामना करना पड़ा। उसका प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण गंगा के मैदान तक सीमित था, क्योंकि पश्चिमी भारत में शक अविजित रह गए और पश्चिमोत्तर पर भी उसका नियंत्रण शिथिल ही रहा होगा।

यह अभिलेख अशोक के अभिलेखों के ठीक उल्टा है। मौर्य सम्राट के नियंत्रण में समुद्रगुप्त की अपेक्षा बहुत अधिक प्रदेश थे, तब भी उसके दावे बहुत विनम्रतापूर्ण थे। अशोक ने तो देश-विजय का लगभग त्याग ही कर दिया, किंतु समुद्रगुप्त को इस कार्य में उल्लास का अनुभव होता था। उसकी विजयों की एक दिलचस्प विशेषता उनकी विविधता और संख्या है, जिसके दायरे में सरदारों के छोटे-छोटे इलाकों से लेकर राजाओं के राज्य तक शामिल थे। समुद्रगुप्त ने जल-विभाजक क्षेत्र और उत्तरी राजस्थान में सरदारों की शक्ति को ध्वस्त कर दिया। उत्तर गुप्तों के लिए इसका परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण हुआ, क्योंकि उन छोटे-छोटे राजाओं और सरदारों की अनुपस्थिति में हूणों ने पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण कर दिया। गंगा के मैदान की पश्चिमी सीमा, अर्थात् जल-विभाजक क्षेत्र अब बाहरी आक्रमण झेलनेवाले मध्यवर्ती राज्यों की स्थिति में नहीं रह गया था। इसके अतिरिक्त इन सरदार-तंत्रों की समाप्ति गण-संघ राज्य-व्यवस्था के अंत का सूचक थी। ये संघ राजतंत्र के विकल्प के रूप में हजार साल से कायम थे। मध्य गांगेय मैदान के गण पहले ही नन्दों और मौर्यों के ग्रास बन चुके थे। देखा जा सकता है कि गण-संघ के रूप में लिच्छवियों का पूर्वेतिहास विस्मृत हो चुका था, क्योंकि गुप्तों ने इन लोगों से रिश्तेदारी पर तो गर्व व्यक्त किया लेकिन उनके संगठन के पूर्ववर्ती रूप का कोई उल्लेख नहीं किया। जाति और कुल के बीच की स्पर्धा में और राज्य-प्रणालियों को जन्म देने की इन दोनों की भूमिका में जाति ने कुल को पीछे छोड़ दिया लेकिन दिलचस्प बात है कि बार-बार आक्रमणों को झेलकर भी गैर-राजतांत्रिक राज्य इतने दीर्घ काल तक टिके रहे।

उक्त प्रशस्ति में किए गए व्यापकतर दावे शंकास्पद हैं। पतनोन्मुख कुषाणों के साथ समुद्रगुप्त का संबंध अस्पष्ट है। जहां तक श्रीलंका का संबंध है, एक परवर्ती चीनी स्रोत से इस बात का साक्ष्य मिलता है कि एक सिंहली राजा ने समुद्रगुप्त को उपहार भेजे और उससे गया में एक बौद्ध विहार बनवाने की अनुमति मांगी। ऐसे अनुरोध को अधीनता का सूचक नहीं माना जा सकता और संभव है कि अन्य दूरवर्ती राजाओं से भी समुद्रगुप्त का संबंध इसी प्रकार का रहा हो। 'द्वीपों के निवासी' कौन थे, यह अस्पष्ट है। संभव है, तात्पर्य दक्षिण-पूर्व एशिया के उन हिस्सों से हो जिनमें भारतीयों की बस्तियां थीं और जिनके साथ संपर्क बढ़ गया था।

अपनी विजयों की घोषणा करते हुए समुद्रगुप्त के लिए अश्वमेघ यज्ञ करना अन्य किसी भी राजा की अपेक्षा उचित था। कहा गया है कि कुछ काल तक इस यज्ञ का सिलसिला रुक गया था। तात्पर्य शायद यह है कि उस दौर के राजा गैर-ब्राह्मणीय धर्मों के समर्थक थे। राजा द्वारा गो-ब्राह्मण की रक्षा का मुहावरा बाद

के अभिलेखों का एक सूत्र-वाक्य बन गया। लेकिन समुद्रगुप्त मात्र विजयाकांक्षी और युद्ध-प्रेमी ही नहीं था। काव्य और संगीत के प्रेमी के रूप में उसके चरित्र के अधिक सुसंस्कृत पक्ष का भी उल्लेख किया गया। इसकी पुष्टि कुछ सिक्कों में उसके वीणा बजाते दरशाए जाने से भी होती है, यद्यपि इस तरह की पारंगतता राजपद के साथ चस्पां करने की भी एक रीति बन गई थी।

परन्तु जिस गुप्त राजा की ख्याति गुप्तों में से सर्वाधिक शूर-वीर और उदार राजा के रूप में है वह था समुद्रगुप्त का पुत्र द्वितीय चंद्रगुप्त। उसके लगभग 375 से 415 ई. तक के चालीस साल के दीर्घ शासन की शुरुआत रहस्यों से घिरी हुई है। कोई दो सदी बाद लिखे *देवी-चंद्र-गुप्त*नामक एक नाटक में, जिसे समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद की घटनाओं पर आधारित माना जाता है, रामगुप्त को समुद्रगुप्त का बेटा बताया गया है, जो अपने पिता की मृत्यु के बाद सिंहासनारूढ़ हुआ। आगे कथा यह है कि रामगुप्त लड़ाई में शकों से पराजित हो गया और वह शक-राज को अपनी पत्नी ध्रुवदेवी भेंट करने पर राजी हो गया। यह जानकर उसका छोटा भाई चंद्र आगबबूला हो गया। उसने रानी का वेष धारण करके शक-राज के शिविर में प्रवेश किया और उसे मार डाला। इससे उसे उसकी प्रजा का तो प्यार और सम्मान मिला लेकिन अपने भाई राम से उसकी शत्रुता हो गई। अंत में चंद्र ने राम की हत्या करके ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया। रामगुप्त के सिक्के प्राप्त होने और अभिलेखों में चंद्रगुप्त की पत्नी के रूप में ध्रुवदेवी के उल्लेख से इस कथा को कुछ प्रामाणिकता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त, चंद्रगुप्त ने बड़ी लड़ाइयां शकों के खिलाफ लड़ीं। परन्तु कथा के वीर-रसपूर्ण तथा उदात्त स्वर को देखते हुए यह भी लगता है कि यह शायद एक अशोभन घटना पर पर्दा डालने का एक प्रयत्न हो, क्योंकि दरबारी साहित्य में बहुधा ऐसा किया जाता था। इस नाटक में उसी विषय को लिया गया है जो ऐतिहासिक जीवन-चरितों में अकसर देखने को मिलता है, जिनमें छोटे भाई द्वारा सिंहासन हड़प लिए जाने का औचित्य प्रतिपादित किया जाता है।

शकों के खिलाफ चंद्रगुप्त की लड़ाइयों के फलस्वरूप पश्चिमी भारत का गुप्तों के राज्य में विलय हो गया। इसकी स्मृति में उसने चांदी के सिक्के चलाए। उसका महत्त्व केवल इसी बात में निहित नहीं था कि इस प्रकार पश्चिमी सीमा सुरक्षित हो गई, बल्कि उसकी अहमियत यह भी थी कि इससे पश्चिमी व्यापार गुप्तों की पहुंच के अंदर आ गया, क्योंकि अब पश्चिम के बंदरगाहों पर गुप्तों का अधिकार था। पश्चिमी दकन पर पहले सातवाहनों का शासन था, लेकिन अब उस पर वाकाटक राजवंश का अधिकार हो गया था, जो दकन की प्रमुख शक्ति के रूप में उभर आया था। उसकी एक शाखा, जिसका गुप्तों से घनिष्ठ संबंध था, रामटेक में स्थित थी, जहां उन्होंने अनेक मंदिर बनवाए। दूसरी शाखा का केंद्र वत्सगुल्म था। उनके भूमिदानों को लेखबद्ध करनेवाले उपलब्ध अभिलेखों से मालूम होता है कि उनमें से दान की

कुछ भूमि दूर-दराज के इलाकों में स्थित थी। संभवतः उन क्षेत्रों में सभ्य संसार का प्रवेश वाकाटकों के अधीन ही हुआ था। कुछ दान-ग्रहीताओं के नामों से उनके कबायिली मूल का आभास होता है। चंद्रगुप्त की बेटी और वाकाटक राजा द्वितीय रुद्रसेन के विवाह से दकन पर गुप्तों की स्थिति मजबूत हुई, यद्यपि वाकाटक एक स्वतंत्र शक्ति ही बने रहे। हुआ यह कि सिंहासनारोहण के पांच साल बाद द्वितीय रुद्रसेन की मृत्यु हो गई और उसकी विधवा तथा द्वितीय चंद्रगुप्त की बेटी प्रभावती गुप्त ने लगभग 390 से 410 ई. तक अभिभाविका रानी की हैसियत से शासन किया, क्योंकि उसके बेटे अवयस्क थे। इससे वाकाटक राज्य गुप्तों के बहुत निकट आ गया। द्वितीय चंद्रगुप्त ने विक्रमादित्य का विरुद धारण किया, और इसलिए उसे आख्यानों में प्रसिद्ध इसी नाम के उस राजा की पहचान मिली जिसकी न्याय-भावना अत्यधिक प्रबल थी। इस गुप्त राजा को साहित्य तथा कला के महान् संरक्षक के रूप में स्मरण किया जाता है।

चंद्रगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी कुमार गुप्त के शासन-काल (लगभग 415-54 ई.) में पश्चिमोत्तर से एक नए आक्रमण के संकेत आने लगे, लेकिन पांचवीं सदी के पूर्वार्ध तक यह एक दूरस्थ खतरा ही बना रहा। मध्य एशिया के श्वेत हूणों, अर्थात् हेफ्थलाइटों की एक शाखा ने पिछली सदी के दौरान बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया था और उनके हिंदूकुश पर्वत को पार करने का खतरा मंडराने लगा था। भारतीय स्रोतों में इन लोगों को हूण कहा गया है। हूणों का खतरा भारतीय सीमा पर अगले सौ सालों तक बना रहा और उस खतरे को रोकने के लिए गुप्तों तथा उनके उत्तराधिकारी शासक-वंशों को एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाना पड़ा। परन्तु इस काम में उन्हें सीमित सफलता ही मिली, क्योंकि जब हूण अंत में इस देश में प्रवेश करने में कामयाब हुए तब तक यहां के शासक इतने कमज़ोर हो चुके थे कि वे भारत को रोम साम्राज्य के हश्र से नहीं बचा पाए। इस कथन का सच होना काफी संभाव्य लगता है कि चीनियों तथा भारतीयों ने मध्य एशिया के खानाबदोशों का जो प्रबल प्रतिरोध किया, बहुत हद तक उसी के परिणामस्वरूप वे यूरोप पर पूरी भयावहता के साथ टूट पड़े। हूणों का आगमन उत्तर भारत की राजनीति में मध्य एशिया का एक और हस्तक्षेप था। इसका रूप शकों तथा कुषाणोंवाला ही था, जिसकी पुनरावृत्ति बाद में तुर्कों ने की। फर्क शायद इतना था कि शकों तथा कुषाणों के लिए वह मध्य एशिया से उत्तरी भारत में उनके शासन का विस्तार था, किंतु हूणों तथा तुर्कों के मामले में आरंभ में उद्देश्य सिर्फ लूट का माल बटोरना था।

कुमार गुप्त के उत्तराधिकारी उसकी तरह अपने राज्य की रक्षा न कर पाए, और हूणों के आक्रमण की प्रत्येक लहर गुप्तों को कमज़ोर करती चली गई। स्कंदगुप्त भी म्लेच्छों के खिलाफ लड़ा, लेकिन उसके सामने घरेलू समस्याएं उपस्थित हो गईं। दरबार में स्पर्धा और वैर-वैमनस्य का बाजार गरम हो उठा, और अधीनस्थ सरदार,

जिन्हें केंद्रीय शासन से जोड़कर रखना वैसे भी बहुत श्रमसाध्य था, गुप्त राज्य से टूटकर अलग हो गए। दिखाई देता है कि इधर जारी किए गए सिक्कों के मूल्य में गिरावट आ गई थी। इससे राजकोषीय संकट का संकेत मिलता है। मालूम होता है, लगभग 460 ई. तक स्कंदगुप्त ने गुप्त सेनाओं को भली भांति लामबंद कर दिया था, लेकिन 467 ई. के वाद हमें स्कंदगुप्त के वारे कुछ भी देखने-सुनने को नहीं मिलता। उसकी मृत्यु के बाद गुप्तों की केंद्रीय सत्ता का ह्रास तीव्र से तीव्रतर होता चला गया। इसके बाद के राजाओं का उत्तराधिकार-क्रम अनिश्चित है। प्रशासनिक कार्यालय की कई मुहरें प्राप्त हुई हैं, जिन पर राजाओं के नाम हैं, लेकिन उनके उत्तराधिकार के अलग-अलग क्रमों से लगता है कि यह राजवंश उलझन-भरे अन्त को प्राप्त हुआ। एक भारी आघात पांचवीं सदी के अंत में लगा, जव हूण उत्तरी भारत में प्रवेश करने में कामयाब हो गए। अगले पचास वर्षों के दौर में गुप्त शक्ति छीजती चली गई, जिसके बाद उसके स्थान पर कई छोटे-छोटे राज्य काम हो गए।

बृहत्तर हूण राज्य ईरान से खोतान तक फैला हुआ था, जिसकी राजधानी अफगानिस्तान में बामियान थी। भारत में कमोबेश महत्त्व का पहला राजा तोरमान था, जिसने उत्तर भारत पर मध्य भारत के एरन नामक स्थान तक विजय प्राप्त करने का दावा किया। तोरमान का बेटा मिहिरकुल (527 ई.) हूणों की छवि के अनुरूप ही था। उन्हीं दिनों उत्तर भारत की यात्रा करनेवाले एक चीनी तीर्थयात्री उसके बारे में कहता है कि उसका रंग-ढंग गंवारपन-भरा था, वह मूर्तिभंजक था और बौद्धों के प्रति विशेष शत्रुता रखता था। बौद्धों के प्रति उसके इस रुख का प्रमाण यह था कि उसने वहुत-से भिक्षुओं को मौत के घाट उतार दिया और विहारों को ध्वस्त कर दिया। बारहवीं सदी के इतिहासकार कल्हण के अनुसार, बौद्धों के प्रति शत्रुता का रुख शैव ब्राह्मणों का भी था। *राजतरंगिणी*में ब्राह्मणों के लालच पर टिप्पणी करते हुए वह कहता है कि उन्होंने हूण राजाओं द्वारा प्रदत्त ग्रामदान दोनों हाथों से ग्रहण किए। मध्य भारत से प्राप्त अभिलेखों से मालूम होता है कि गुप्त राजा अब भी हूणों का प्रतिरोध करने का प्रयत्न कर रहे थे। अंत में मिहिरकुल को भारत के मैदानी इलाकों से खदेड़ कर कश्मीर तक सीमित कर दिया गया, जहां लगभग 542 में उसकी मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् हूणों का राजनीतिक प्रभाव समाप्त हो गया। लेकिन उनका खतरा एक सदी और बना रहा, भले ही वह खतरा ख़ास प्रभावी नहीं हो पाया। गुप्तों की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी, जिसे हूणों ने और भी गति दी।

लेकिन हूणों का इतना ही प्रभाव नहीं हुआ। हूण सेनाओं के पीछे-पीछे मध्य एशिया से देशांतरण करके और भी बहुत-से लोग भारत में बस गए। उनमें से कुछ तो पहाड़ी क्षेत्रों में पशु-चारकों का जीवन व्यतीत करते रहे, लेकन अन्य लोग तरह-तरह के धंधों में लग गए। स्थिति के कुछ अंदर जाकर देखें तो उत्तर भारत में अब कोई साम्राज्यीय संरचना खड़ी करने की संभवना ध्वस्त हो चुकी थी, क्योंकि

सारी राजनीतिक शक्ति हूणों को रोक रखने में खप रही थी, ताकि अब छोटे-छोटे राज्यों के रूप में जो-कुछ शेष रहा गया था उसे बचाए रखा जाए। प्रतिरक्षा की योजना स्थानीय रूप से बनाई जाती थी, लेकिन कभी-कभी छोटे-छोटे राज्यों का गठजोड़ भी बन जाता था। इससे कभी-कभी कुछ सुयोग्य अभिरक्षकों के नेतृत्व में किसी हद तक एकता स्थापित हो जाती थी। लेकिन उसमें निर्णायक तत्व अपने राजसी अतीत के प्रति उनकी चिंता नहीं, बल्कि उनकी सैनिक योग्यता होती थी। हूणों ने अन्य देशों की भाँति भारत के भी जीवन की गति को अस्त-व्यस्त कर दिया। हूण आक्रमणों का ज्वार छठी सदी के अंत में जाकर तब उतरा जब तुर्कों और ईरान के ससानियों ने बैक्ट्रिया में उन पर आक्रमण कर दिया। बाद में तुर्कों ने फारसियों पर भी हमला किया, लेकिन बैक्ट्रिया पर कब्जा जमाए रखा। आगे चलकर उत्तर भारत का तुर्कों से पाला पड़नेवाला था।

हर्ष

गुप्तों के पतन से लेकर सातवीं सदी के आरंभ में हर्ष के उदय के पूर्व तक उत्तरी भारत में सत्ता मुख्यतः चार राज्यों के हाथों में थी—मगध के गुप्त, कन्नौज के मौखरि, थानेसर के पुष्यभूति और वलभी के मैत्रक। मगध के गुप्त मुख्य गुप्त राजवंश के अंग नहीं थे, बल्कि उनका एक मामूली-सा अलग वंश था, जिसका कुल-नाम वही था। आरंभ में कन्नौज के इर्द-गिर्द पश्चिमी गांगेय मैदान पर मौखरियों का अधिकार था, जहां से उन्होंने मगध के गुप्तों को धीरे-धीरे उखाड़ फेंका था। प्रारंभ में वे करद राजा थे, जिन्होंने एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया और अपने महाराज विरुद के स्थान पर महाराजाधिराज विरुद धारण कर लिया, जो निस्संदेह मगध के पूर्ववर्ती गुप्तों का अनुकरण था। पुष्यभूति थानेसर पंर राज करते थे, जो दिल्ली के उत्तर में पड़ता था। मौखरियों के साथ उनके वैवाहिक संबंध के फलस्वरूप, अंतिम मौखरि राजा की मृत्यु होने पर, ये दोनों राज्य एक हो गए, जिस पर अंततः पुष्यभूति परिवार का हर्ष शासन करने लगा। गुप्तों के अधीन प्रशासनिक पद पर आसीन मैत्रक गुजरात में सौराष्ट्र पर शासन करते थे, और उन्होंने अपनी राजधानी वलमी का विकास वाणिज्य और विद्या के एक महत्त्वपूर्ण केंद्र के रूप में कर लिया था। इन चारों की परिधि पर कई छोटे-छोटे राजवंश थे—उड़ीसा में मान और शैलोद्भव, असम में वर्मन और औलिकर आदि, जिनके हवाले उनके भूमिदान-विषयक अभिलेखों में मिलते हैं। उक्त चार मुख्य राज्यों में मैत्रकों का राज्य सबसे दीर्घजीवी साबित हुआ। वे आठवीं सदी के मध्य तक शासन रते रहे, लेकिन फिर अरबों के आक्रमणों के कारण कमज़ोर पड़ गए।

प्रभाकरवर्धन के सिंहासनारूढ़ होने पर पुष्यभूति परिवार प्रभावशाली हो उठा। *हर्षचरित*में बाणभट उसकी प्रशंसा इन शब्दों में करता हैं,

...हूण हिरन के लिए सिंह, सिंधु देश के राजा के लिए जलानेवाला ताप, गुजरात की निंद्रा के लिए बाधक, गंधार के मदमत्त हाथी--रूपी राजा के लिए पित्तप्रकोप रोग के समान घातक, लाट की अराजकता का लुटेरा, मालवा के वैभव के लिए कुठार।

बाणभट्ट, हर्षचरित, अनु. ई. बी. कॉत्रेल, पृ. 101

प्रभाकरवर्धन की देश-विजय की आकांक्षा को अंततः उसके छोटे बेटे हर्षवर्धन ने फलीभूत किया, जिसे सामान्यतः हर्ष नाम से जाना जाता है।

हर्ष का शासन 606 ई. में आरंभ हुआ। हर्ष के आरंभिक जीवन का सजीव वर्णन उसके परम विद्वान् लेकिन रूढ़ि-भंजक तथा मस्त-मौला मित्र बाणभट्ट द्वारा लिखित *हर्षचरित*से प्राप्त होता है। यह किसी राजा का प्रथम चरित या जीवनी था, और इसके साथ साहित्य की एक ऐसी विधा प्रारंभ हुई जो बाद के काल में आम हो गई। इन चरितों की शैली प्रशस्तिमूलक है तथा इनसे कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है, जिन्हें रीत्यानुगामी सामग्री के अंबार से छांट कर निकालना पड़ता है। किसी शासन-काल में कौन-सी घटनाएं महत्त्वपूर्ण थीं, इसके संबंध में समकालीन समझ का इनसे पता चलता है। इसलिए उनका मूल्यांकन इतिहास-लेखन के आधुनिक मानदंडों से करने के साथ ही उन्हें संबंधित काल के वस्तु-बोध के परिप्रेक्ष्य में भी समझना आवश्यक है। जीवनचरित लिखने का एक तात्कालिक कारण छोटे भाई के शासन का वैधीकरण होता था (जैसा कि *हर्षचरित*के प्रसंग में था), क्योंकि संभव है, वह छोटा भाई बड़े भाई का प्रतिद्वंद्वी रहा हो, जिसका मतलब ज्येष्ठाधिकार के नियम की अनुल्लंघनीयता को चुनौती देना था।

इस जीवन-चरित का विलोम है चीनी बौद्ध भिक्षु हुआन त्सांग या जुआन झुआंग का विवरण। वह हर्ष के शासन-काल में तीर्थयात्रा पर भारत आया था और वह अपनी यात्राओं का पूर्ववर्ती चीनी यात्री फा-हियान की अपेक्षा अधिक परिपूर्ण विवरण छोड़ गया है। वह मूलतः कन्फ्युशियस का अनुयायी था, लेकिन बाद में उत्साही बौद्ध बन गया। वह मन्दरिन अर्थात् चीन के प्रशासक परिवार में उत्पन्न हुआ था। इसलिए अपने विवरण में तफसीलों का ध्यान बहुत सावधानी से रखा। उसके विवरणको मुख्यतः एक वर्णन के रूप में पढ़ा जाता है, और उसका वाचन करते समय उसके अपने वस्तु-बोधों की बारीकियों को बाद कर दिया जाता है।

हर्ष ने इकतालीस साल राज किया, और इस दौरान उसने जालंधर (पंजाब), कश्मीर, नेपाल और वलमी के राजाओं को अपने करद शासक बना लिए। पूरबी क्षेत्र के शासक शशांक की उससे शत्रुता थी और हर्ष अपनी शक्ति का विस्तार दकन में नहीं कर पाया। उसे पश्चिमी दकन में चौलुक्य-राज द्वितीय पुलकेसी के हाथों बड़ी हार झेलनी पड़ी। वह अपनी राजधानी थानेसर से, जो जल-विभाजक क्षेत्र में पड़ता था, कन्नौज ले गया। थानेसर शायद पश्चिमोत्तर से उत्पन्न होनेवाले खतरों के क्षेत्र से

बहुत नज़दीक पड़ता था, जब कि कन्नौज पश्चिमी गांगेय मैदान के समृद्ध कृषि-क्षेत्र में बसा हुआ था। इससे हर्ष को मैदानी क्षेत्र पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता था, जिससे उसका संबंध सीधे दकन से स्थापित जो जाता था। इसके फलस्वरूप पश्चिमी भारत और साथ ही दक्षिण तथा पूर्व की ओर जानेवाले व्यापारिक मार्गों से उसका अधिक सीधा संपर्क हो जाता था। हर्ष बहुत स्फूर्तिवान व्यक्ति था, और वह बहुधा दौरे पर निकल जाया करता था, ताकि अपने राज्य से परिचय रख सके, प्रजा की उससे निकटता हो और अपने करद राजाओं पर निगाह रख सके।

राजा और प्रशासक के रूप में अपने कर्तव्यों का बोझ उठाते हुए भी, कहते हैं, उसने तीन नाटक लिखे, जिनमें से दो क्लासिकी शैली के सुखान्त नाटक थे और तीसरा बौद्ध चिंतन से प्रभावि विचार-प्रधान कृति था। इस संबंध में अनिश्चिता है कि इनका लेखक सचमुच हर्ष ही था या उसे सिर्फ उनका श्रेय दे दिया गया। ध्यान देने की बात यह है कि राजाओं को न केवल साहित्यिक प्रवीणता का बल्कि ख़ास-ख़ास कृतियों के रचयिता होने का भी श्रेय दिया जाने लगा था।

हर्ष के शासन-काल के अंत की घटनाओं का वर्णन चीनी स्रोतों में हुआ है। उसके समकालीन तांग सम्राट् ताई शुंग ने 643 में और फिर 647 में उसके दरबार में अपना एक दूत भेजा। दूसरे अवसर पर दूत ने पाया कि हर्ष की मृत्यु हो चुकी है और एक अयोग्य राजा ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया है। चीनी दूत ने शीघ्रता से नेपाल और असम जाकर एक सेना खड़ी की, जिसकी सहायता से हर्ष के मित्र राजाओं ने अनधिकारी राजा को हटा दिया और उसे बंदी बनाकर चीन ले जाया गया। उसका नाम ताई शुंग के मकबरे के आधार पर अंकित है। हर्ष का राज्य बहुत तेजी से बिखरकर छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया। उसके कुछ उत्तराधिकारी कश्मीर से करकोटा राजवंश की महत्त्वाकांक्षाओं से टकरा गए, और आठवीं सदी में ललितादित्य ने कन्नौज के राजा यशोवर्मन पर आक्रमण कर दिया। हर्ष को छोटे-छोटे राज्यों के समूह की कमज़ोरी का एहसास था और इसलिए उसने अपने पड़ोसी राज्यों को एक बृहत्तर संरचना में जोड़ देने के उद्देश्य से उन पर अधिकार कर लिया था। लेकिन उस काल की विशिष्ट राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण यह संरचना टिक नहीं सकी।

बदलती राजनीतिक व्यवस्था के संकेतक

गुप्त राजाओं ने महाराजाधिराज और परमेश्वर जैसे बड़े-बड़े विरुद धारण किए, लेकिन उत्तर गुप्तों के प्रसंग में ये विरुद अतिरंजित थे, क्योंकि पूर्ववर्ती सदियों के 'महराजाओं' की तुलना में उनकी राजनीतिक शक्ति सीमित थी। ऐसी अन्य उपाधियों में पश्चिमोत्तर तथा उससे परे के क्षेत्रों के शासकों की प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि सुनाई देती है और उन्हीं की उपाधियों की तरह इनमें भी देवत्व के तत्व का समावेश दिखाई

देता है। इस प्रकार के विरुदों का चलन बौद्ध धर्म के संरक्षक राजाओं के बीच भी दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, उड़ीसा के भौमकर वंश के राजा अपने को परमोपासक कहते थे। राज-शक्ति के वर्णन के लिए शब्दाडंबर का सहारा अधिकाधिक लिया जा रहा था। कुछ के मूल तो वैदिक ब्राह्मणीय धर्म में राजपद से संबंधित यज्ञ कर्मकांड में समाए हुए थे और कुछ का अविष्कार वर्तमान काल में किया जा रहा था। दूसरी कोटि का संबंध महादानों से था। महादानों में अनुष्ठान कराने वालों का उल्लेख होता था और राजाओं को प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी।

गंगा के मैदान में, जिस पर गुप्त राजाओं का प्रत्यक्ष नियंत्रण था, प्रशासन का केंद्र राजा था। उसकी सहायता राज-परिवार के कुमार, मंत्री और परामर्शदाता करते थे। राजकुमार कुछ-कुछ प्रांतों के वाइसराय के जैसे पदों पर भी आसीन होते थे। प्रांत (देश, राष्ट्र या भुक्ति) कई जिलों (प्रदेश या विषय) में विभाजित होते थे। प्रत्येक जिले के अपने प्रशासनिक कार्यालय होते थे। लेकिन व्यवहारतः स्थानीय प्रशासन केंद्र से दूर ही पड़ता था। चाहे नीति का मामला हो या परिस्थिति-विशेष का, निर्णय सामान्यतः स्थानीय स्तर पर ही लिए जाते थे। हां, यदि किसी नीति या परिस्थिति से केंद्रीय सत्ता की नीति या आदेश प्रभावित होता था तब फैसला स्थानीय रूप से नहीं किया जाता था। जिलों के प्रभारी अधिकारी (आयुक्तक, विषयपति) और उससे ऊपर प्रान्तीय अधिकारी (कुमारामात्य) केंद्र तथा स्थानीय प्रशासन के बीच की कड़ी का काम करते थे। कभी-कभी इनमें से कुछ पद वंशानुगत हो जाते थे, जिससे स्थानीयता का महत्त्व और भी उजागर होता है। नौकरशाही सोपान में इन सबसे नीचे अष्टकुल अधिकरण, अर्थात् ग्राम-समिति के सदस्य, महत्तर या समुदाय के बुजुर्ग और ग्रामाध्यक्ष, अर्थात् गांव के प्रधान होते थे। प्रशासनिक इकाइयों के लिए प्रयुक्त शब्दों के अपने प्रतीकात्मक अर्थ होते थे, जिनमें पोषण देनेवाली वस्तु का भाव भी शामिल था-जैसे आहार, भोग, भुक्ति आदि।

स्पष्ट ही स्थिति मौर्य प्रशासन से बहुत भिन्न थी। अशोक का आग्रह था कि उसके राज्य में जहां जो-कुछ हो उससे उसे अवगत रखा जाए, लेकिन गुप्त राजा स्थिति को कुमारामात्यों तथा आयुक्तकों के हाथों में सौंप कर ही संतुष्ट थे। इसमें संदेह नहीं कि *अर्थशास्त्र*में बहुत चुस्त-दुरुस्त प्रशासन का वर्णन किया गया है, लेकिन वह आदर्शगत स्थिति थी। फिर भी अभिलेखों तथा मुहरों से प्राप्त साक्ष्यों से लगता है कि गुप्त प्रशासन अधिक विकेंद्रीकृत था, और उसके अधिकारी एकाधिक पदों पर आसीन होते थे। हर्ष के दौरे किसी शाही निरीक्षक के दौरों की किस्म के थे, क्योंकि वह प्रशासन के काम करने के सामान्य तौर-तरीकों और करों की उगाही का जायजा लेता था, और लोगों की शिकायतें सुनता था, एवं पारमार्थिक दान देता था।

गांव कई प्रकार के थे : ग्राम, पल्ली, पुरवा; गुल्म, जिसका मूल सैनिक था;

खेतक, जो एक पुरवा ही था; आदि। वे ग्रामीण संस्थाओं के अधीन थे, जिनमें प्रधान और ग्राम बुजुर्ग शामिल होते थे। बुजुर्गों में से कुछ ग्रामाध्यक्ष या कुटुंबी के पद पर आसीन होते थे। नगरीय प्रशासन में प्रत्येक नगर एक समिति के अधीन होता था। समिति में नगरश्रेष्ठि शामिल होता था, जो नगर निगम का अध्यक्ष होता था। उसके अलावा सार्थवाह, अर्थात् व्यापारियों की श्रेणि का प्रधान, प्रथम कुलिक यानी कारीगरों का एक प्रतिनिधि तथा प्रथम कायस्थ अर्थात् मुख्य लिपिक शामिल होते थे। इस समिति तथा मेगास्थनीज और कौटिल्य द्वारा वर्णित समिति में एक अंतर यह था कि मौर्य काल में समितियों की नियुक्ति सरकार करती थी, किंतु गुप्तों की व्यवस्था के अधीन समिति में स्थानीय प्रतिनिधि शामिल होते थे, जिनमें व्यापारिक हित बहुधा सर्वोपरि होता था।

यदि मौर्य राज्य मुख्य रूप से मौजूदा अर्थव्यवस्था से राजस्व वसूल करने या राज्य के हस्तक्षेप से किसानों पर आधारित कृषि का विस्तार करने के लिए फिक्रमंद रहता था तो गुप्त राज्य और उसके समकालीनों ने कृषि-अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना का आरंभिक प्रयास किया। इसका रूप व्यक्तियों को भूमिदान देने का था, जिसके पीछे यह मंशा होती थी कि वे लोग ग्रामीण क्षेत्रों की उन्नति के लिए काम करेंगे। किसानों को बाहर से लाकर बसाने की अपेक्षा अधिक ज़ोर पहले से बसे लोगों को किसान बनाने पर था। इस पद्धति का विकास इस भावना से हुआ कि राजा के लिए समर्थन जुटाने में भूमि-दान देना यज्ञ करने की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी है। इसके अलावा महादान के लिए भूमि को अधिक उपयुक्त समझा गया। इस निवेश के पीछे मंतव्य यह भी था कि इससे उपजाऊ और सिंचित भूमि की उपज बढ़ेगी और परती ज़मीनों को लोग आबाद करेंगे। इस प्रकार परिधिवर्ती क्षेत्रों को बृहत्तर कृषि-अर्थव्यवस्था का अंग बनाया जा सकता था। इसीलिए हम देखते हैं कि आरंभ में भूमिदान गंगा के मैदान के मुख्य भाग में नहीं दिए गए, बल्कि उससे बाहर के क्षेत्रों में दिए गए। राज्य द्वारा कृषि-बस्तियां बसाने पर ज़ोर देना धीरे-धीरे कम होता गया, और यह उम्मीद रखी जाने लगी कि भूमिदानों के ग्रहीता इस प्रयोजन के लिए पहल करेंगे।

भूमिदान धार्मिक तथा कर्मकांडी विशेषज्ञों या राज्याधिकारियों को दिए गए। इससे राज्य के लिए राजस्व की सृष्टि तो नहीं होती थी, लेकिन स्थानीय स्तर पर राजस्व की मांगों में कुछ फेर-बदल की गुंजाइश हो गई और ग्रामीण क्षेत्रों में समृद्धि के छोटे-छोटे केंद्र स्थापित हो गए, जिनका अनुकरण करने से स्थिति में व्यापक सुधार संभव था। यदि ब्राह्मणों को (चाहे कर्मकांड-विशेषज्ञ के रूप में हो या प्रशासक के रूप में) दान की गई भूमि परती या जंगल होती थी तो ग्रहीता आगे बढ़कर उसमें खेती-बारी की शुरुआत करते थे। ब्राह्मण कृषि-कर्म की देख-रेख में पारंगत हो गए। इसमें उन्हें कृषि-कर्म संहिताओं से मदद मिली। इनका एक उदाहरण *कृषिपराशर* है, जो शायद इसी या कुछ बाद के काल की रचना हो। कुछ आदर्शगत पाठ, कतिपय

विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, ब्राह्मणों के खेती करने पर प्रतिबंध लगाते हैं, लेकिन यह चीज कृषि-कर्म में उनके पारंगतता हासिल करने में बाधक नहीं हुई।

श्रेणियों को दान देकर व्यापारिक गतिविधियों को प्रोत्साहन दिया गया, भले ही उनसे प्राप्त ब्याज धार्मिक संस्थाओं के हाथों में चले जाते थे। वाणिज्यिक उद्यमियों को नगर समितियों में स्थान देकर और निवेश तथा लाभ की संभावनाओं से युक्त स्थितियों में रखकर भी व्यापारिक गतिविधायों को बढ़ावा दिया जाता था। वाणिज्य से राज्य को प्राप्त होनेवाले करों का दायरा बढ़ा दिया जाता था, जिससे अधिकारियों के सोपान के विस्तार की ज़रूरत पड़ती थी। यद्यपि आरंभ में थोड़ी-बहुत भूमि ही दान दी गई, तथापि आठवीं सदी के आते-आते उसका काफी विस्तार हो गया, जिससे क्रमशः एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था सामने आई जो प्राग्गुप्त व्यवस्था से स्पष्ट रूप से भिन्न थी।

जो राजा पड़ोसी राज्यों को जीतते थे वे कभी-कभी पराजित राजाओं को करद या अधीनस्थ शासक बना लेते थे, जिन्हें आधुनिक इतिहास लेखन में अंगरेजी में बहुधा फ्यूडेटरी कहा जाता है। ऐसे शासकों के साथ अनुबंध भी किए जाते थे। ऐसे राजाओं के लिए धीरे-धीरे सामंत शब्द का प्रयोग होने लगा, यद्यपि इस शब्द का मूल अर्थ पड़ोसी था। इसका मतलब था राजा और स्थानीय शासकों के बीच अधिक सुपरिभाषित और स्पष्ट संबंध। आगे चलकर जब राजा की मांगों और सामंतों की आकांक्षाओं के बीच खींच-तान आरंभ हुई तो इस संबंध ने एक महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर लिया: जहां सामंत मजबूत थे वहां राजा की शक्ति कमज़ोर पड़ गई। लेकिन राजा की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए उसके लिए सामंतों का सहयोग या सामंत-चक्र आवश्यक था। सामंतों की स्थिति संभावित मित्र और शत्रु के बीच दोलायमान रहती थी।

भूमि-दानों के फलस्वरूप सामंतों के अतिरिक्त अन्य मध्यर्थी वर्गों की भी सृष्टि हुई। धार्मिक ग्रहीताओं को दिए जाने वाले भूमिदानों के भोक्ताओं में मंदिर, विहार और ब्राह्मण शामिल थे। मंदिरों को दिए गए ऐसे दानों से उन संप्रदायों की शक्ति बढ़ी जो इन मंदिरों के मालिक थे। मंदिरों के अनुरक्षण के लिए ग्राम-दान भी दिए जा सकते थे। इससे मंदिर आदि पवित्र स्थान होने के साथ-साथ प्रशासनिक भूमिका में भी आ जाते थे। जब भूमि-दान विशेष कृपा के प्रतीक हुआ करते थे तब ब्राह्मणों को ऐसे दान दिए जाने से उनकी विशेष स्थिति अवश्य रेखांकित होती होगी। अग्रहार दान, अर्थात् ब्राह्मणों को सामूहिक रूप से दिया गया ग्राम-दान और मंदिरों तथा विहारों को दिए गए दान कर-मुक्त होते थे। जिन ब्राह्मणों को ऐसे दान दिए जाते थे वे बहुधा वेदों के ज्ञाता या किसी विशेष विद्या, विशेषतः ज्योतिष-शास्त्र में पारंगत होते थे। ब्राह्मणों को दिए गए दानों के बारे में माना जाता था कि इससे कलियुग के दोष दूर होंगे। ज्योतिष का सहारा लेना अधिक आम था। यदि दान सदा के लिए नहीं दिए जाते

थे तब भी ग्रहीता के वंशजों में उन्हें ऐसा ही मानने और वंशानुगत समझने की प्रवृत्ति होती थी। लेकिन राजा को दान वापस लेने का अधिकार होता था, बशर्ते कि मूल दाता ने स्पष्ट रूप से इसके विपरीत व्यवस्था न कर दी हो। तथापि किसी दान को निरस्त करने में राजनीतिक विरोध का सिलसिला आरंभ हो जाने का खतरा रहता था। कई अभिलेखों में इस आशय का एक सूत्र होता था कि दान को अक्षुण्ण रखने में दान देने से भी अधिक पुण्य निहित है।

नकद दान का स्थान भूमि-दान लेने लगा। भूमि अधिक स्थायी थी, उत्तराधिकारणीय थी और ऐसी पूंजी थी जिसे क्षति पहुंचाने की संभावना कम थी। ऐसे दान ब्राह्मण ग्रहीताओं में ज़मींदारी को प्रोत्साहन देने में अधिक सहायक थे, यद्यपि जमींदारी की स्थिति अपनाने में बौद्ध विहार भी बहुत पीछे नहीं थे। राजस्व-दान को संभालना आसान था, लेकिन भूमि-दान लेकर कृषि बस्तियां बसाना कठिन। तथापि भूमि-दान को दाता द्वारा पुण्यार्जन का माध्यम माना जाता था और फलतः वह नकद या अन्य प्रकार के दानों का स्थान लेने लगा। सातवीं सदी के बाद जव बौद्ध धर्म उतना व्यापक नहीं रहा गया तब बौद्ध संस्थाओं को प्रदत्त दान कुछ ख़ास-ख़ास क्षेत्रों में केंद्रित होने लगे। बड़े-वड़े बौद्ध विहार अकसर ग्राम-दान प्राप्त करते थे, जिसका कारण शायद यह था कि नई कुमारी ज़मीनों में बस्ती बसाने की अपेक्षा गांवों की व्यवस्था करना आसान था। कहते हैं, नालंदा विहार को सौ या शायद दो सौ गांवों का राजस्व प्राप्त था।

इस काल की एक और भी विशेषता यह थी कि कभी-कभी राज्य के अधिकारियों को भूमि से प्राप्त राजस्व का दान देकर पुरस्कृत किया जाता था। यह सैनिक तथा प्रशासनिक सेवाओं के लिए वेतन का विकल्प था। इस काल से लेकर आगे के कालों के भूमि-दानपत्रों में और हुआन सांग के विवरणों में भी इस बात का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के दानों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी, और ब्राह्मणों को दिए दान भी हमेशा पुण्यार्जन के लिए ही नहीं होते थे, क्योंकि बहुत-से शिक्षित ब्राह्मण राज्याधिकारियों के पदों पर आसीन थे। राजा के साथ आज्ञाकारिता तथा एवजी सुरक्षा के बंधनों से बंधे किसी ताबेदार (वैसेल) योद्धा वर्ग का उदाहरण क्वचित् ही मिले।

भूमि और गांव दान करने से राजा की सत्ता कमज़ोर हो सकती थी, यद्यपि आरंभ में ऐसे दान सीमित पैमाने पर दिए जाते थे और उनकी संख्या तथा विस्तार में अधिकता बाद में आई। इस प्रकार के दान दानभोगियों और केंद्रीय सत्ता के बीच दूरी पैदा करते थे, और इस प्रकार प्रशासन को अधिक विकेंद्रीकरण की दिशा में ले जाते थे। बहुत बड़े-बड़े क्षेत्रों के राजस्व-भोक्ता आपस में मिलकर इतनी शक्ति और संसाधन संचित कर ले सकते थे कि वे शासक वंश की सत्ता को चुनौती दे सकें। इसके अतिरिक्त यदि वे अपने जैसे और लोगों तथा वनवासियों के सरदार वगैरह दूसरे

लोगों का समर्थन प्राप्त कर लेते या किसानों को अपनी ओर से लड़ने को मजबूर कर देते तो वे तत्कालीन सत्ता को उखाड़कर खुद को राजाओं के रूप में प्रतिष्ठित कर ले सकते थे। कम-से-कम राज्य के सीमांत क्षेत्रों में यह बहुत संभव था।

धार्मिक ग्रहीताओं के रूप में ब्राह्मणों को राजवंश को वैधता प्रदान करने या सही कर्मकांड करके किसी आपदा को टालने अथवा राजा के पुण्यार्जन के एवज में भूमिदान दिए जाते थे। ब्राह्मण राजा के वंश का संबंध पूर्ववर्ती काल के धीरोदात्त नायकों के वंशों से दिखलाकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाते थे। यदि दान काफी बड़ा होता था तो ग्रहीता शक्ति और संसाधन अर्जित करके किसी नए राजवंश का संस्थापक बन जा सकता था। भूमिदान तब धर्म-प्रचार की प्रक्रिया का भी अंग होता था जब ग्रहीता अपने धर्म के प्रचार का प्रयत्न करता था। बहुत-से दान वेदों के पंडित ब्राह्मणों को दिए जाते थे, लेकिन जब ब्राह्मण वनांचलों के निकट या ऐसे गांवों में जा बसते होंगे जहां के निवासी अपने पहले से प्रचलित धर्म का आचरण कर रहे होते थे तब तनाव पैदा हो जाता होगा और दोनों ओर से सामंजस्य की आवश्यकता उत्पन्न होती होगी। ऐसी स्थिति में पौराणिक संप्रदाय वैदिक ब्राह्मणीय धर्म तथा स्थानीय लोगों के धर्मों के बीच उपयोगी मध्यस्थ की भूमिका निभाते होंगे। जब ब्राह्मण स्थानीय लोगों के पुरोहित के कर्मकांड पर अधिकार स्थापित कर लेते होंगे तब भी उन्हें स्थानीय मिथकों तथा देवी-देवताओं के समूह को सतत विस्तारमान पौराणिक संप्रदायों में स्थान देना पड़ता होगा।

इस प्रक्रिया में यह भी होता होगा कि नए क्षेत्रों में पहले से मौजूद सामाजिक संगठनों के स्थान जाति और वर्ण ले लेते होंगे। छठी सदी ई. के अभिलेखगत साक्ष्य में ऐसी अठारह वनांचलीय राज्य-व्यवस्थाओं को जीतने का उल्लेख हुआ है जो अपने को परिव्राजक (जिसका शब्दार्थ यायावरी धर्म के अनुयायी है) राजा कहनेवालों को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थीं। यह उनके पूर्वज द्वारा वनांचल में भूमिदान पाने का सूचक हो सकता है। ऐसे कुछ राजाओं को ब्रह्म-क्षत्र मूल प्रदान किया गया। इससे लगता है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दर्जों का दावा करनेवाले पूर्वजों का मिश्रण हुआ। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में वनांचलीय कबीला जाति में बदल गया होगा। कभी-कभी राजवंशों के उद्‌भव से संबंधित मिथकों में म्लेच्छ कबीलों के भी भागीदार होने की बात कही गई है--जैसे शैलोद्‌भव मिथकों में पुलिंदों और गुहिल मिथकों में भीलों की शिरकत। ये शायद वनवासियों के सरदार थे, जो दानभोगियों के मित्र बन गए, शायद उनके साथ वैवाहिक संबंध भी कायम कर लिए और या तो उन्होंने राज्यों की स्थापना की या उनकी स्थापना में शिरकत की। पौराणिक देवी-देवताओं को समर्पित बहुत-से प्राचीन मंदिर मध्य भारत में स्थित है, जिसका कारण शायद वनांचलीय बस्तियों से उनकी निकटता है। देवताओं के अवतारों को भी—जैसे विष्णु के वराह-अवतार को—मध्य भारत से जोड़ा जाता है, और हो सकता है, ये कबायिली उपासना और

पौराणिक धर्म के एक संप्रदाय के बीच के समझौते के द्योतक हों।

नए क्षेत्रों में किसानों पर आधारित कृषि का प्रवर्तन करके भूमिदान ने धीरे-धीरे राजनीतिक व्यवस्था को बदल दिया। परती में, जो सिद्धांततः राज्य की संपत्ति थी, चरागाह और जंगल भी शामिल थे। इस तरह के भूमिदानों के पीछे मंशा यह थी कि दान-भोगी जंगल-झाड़ को साफ करके उसमें बस जाएं और फिर उसमें हल-कृषि आरंभ करें, ताकि राज्य को राजस्व प्राप्त हो सके। जो ज़मीन खेती के लायक थी उसमें तो पहले से ही खेती हो ही रही थी, भले ही वह दान देते समय परती पड़ी हो। फसलों की किस्में मुख्य रूप से पूर्ववत् रहीं। हुआन सांग ने बताया है कि पश्चिमोत्तर में गेहूं और गन्ना पैदा किया जाता था और मगध तथा उसके पूरब में चावल। उसने तरह-तरह के फलों और सब्जियों का भी जिक्र किया है।

खेती की ज़मीन का और भी वर्गीकरण इस आधार पर किया गया कि अमुक ज़मीन में सिंचाई की सुविधा है या नहीं। पश्चिमी भारत में गांवों और खेतों के अलावा सीढ़ीदार कुओं के भी दान किए जाने के अभिलेखगत उल्लेख मिलते हैं। किसानों द्वारा निर्मित और अनुरक्षित रहट ग्रामीण परिदृश्य का एक अभिन्न अंग बन गए। अभिलेख में ऐसे चक्र को घटों की माला कहा गया है। जलोत्तोकों (वाटर-लिफ्ट) से लेकर तालाबों या छोटे बांधों-जैसी लघु सिंचाई सुविधाओं का निर्माण स्थानीय पहल से या दान-भोगी द्वारा किया जाता था। छोटे बांधों का उल्लेख करते हुए कुछ अभिलेखों में भावपूर्ण रीति से कहा गया है कि ये अपने माता-पिता के पुण्य की अभिवृद्धि के लिए निर्माता के योगदान हैं। सुदर्शन सरोवर के बांध को, जिसका निर्माण मूलतः एक मौर्य प्रांतीय शासक ने किया था और जिसकी मरम्मत रुद्रदामा ने करवाई थी, फिर से दुरुस्त करके उपयोग के लायक बनाया गया। स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि मरम्मत का पूरा खर्च प्रशासन ने उठाया और उसके लिए न कोई अतिरिक्त कर लगाया गया और न बेगार लिया गया। शायद सामान्यतः ऐसे अतिरिक्त करों तथा बेगार की मांग की जाती थी।

दान-भोगी को राजस्व के और साथ ही कुछ प्रशासनिक एवं न्यायिक अधिकार भी प्राप्त होते थे। बाद के काल में इन अधिकारों की अभिवृद्धि हुई और दान की शर्तों में इन्हें शामिल किया जाने लगा। जब गांव और जिन पर खेती होती थी ऐसी ज़मीनें दान की जाती थीं तब भूमि के साथ-साथ उस पर काम करनेवाले किसान भी हस्तांतरित कर दिए जाते थे। इससे ज़मीन से बंधे किसानों का एक वर्ग खड़ा हो गया और उन लोगों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। लेकिन यह कृषिदासता का पर्याय नहीं था, क्योंकि किसानों और दान-ग्रहीता के बीच के अनुबंधात्मक संबंध उस तरह के नहीं थे जिस तरह के संबंध कृषदास व्यवस्था के अंतर्गत सामान्यतः होते थे। इसके अतिरिक्त, श्रमिकों का उपयोग भी कृषिदासों की तरह नहीं किया जाता था। यह जरूरी नहीं था कि हस्तांतरित किसान अपनी ज़मीन के अलावा दान-भोगी की

ज़मीन में भी खेती करे। उसका योगदान यह था कि वह दान-भोगी को उतनी अदायगी करता रहे जितनी पहले राज्य को कर के रूप में करता था। ग्रहीता दान की शर्तों में निर्धारित अन्य प्रकार की मांगें उससे कर सकता था। ग्रहीता को दी गई प्रमुख रियायतें ये थीं कि वह राज्य के सैनिकों को अपने यहां ठहराने और राज्य के अधिकारियों के खान-पान वगैरह का इंतजाम करने के दायित्व से मुक्त था और नए कर तथा विष्टि या बेगार आरोपित कर सकता था। धीरे-धीरे जो स्थिति उभर रही थी उसमें एक ओर बड़े-बड़े भूमिखंडों का स्वामित्व था और दूसरी ओर छोटे पैमाने का कृषि उत्पादन था। किसानों के बंधन हमेशा आर्थिक नहीं होते थे, लेकिन उनसे जब्रन् अधिशेष का उत्पादन कराया जा सकता था। जो कमी रह जाती थी उसकी पूर्ति एक सोपानबद्ध समाज करता था, जिसमें जाति पर आधारित अंतर नियंत्रण का एक और भी औज़ार था।

दान ताम्रपत्रों पर अंकित होता था और उन पत्रों को एक छल्ले से एक साथ बांध दिया जाता था। दानपत्र पर दाता की मुहर अंकित होती थी। चूंकि यह दान को पंजीकृत करनेवाला एक कानूनी दस्तावेज था, इसलिए इसे परिवार में ही रखा जाता था, ताकि जब स्वामित्व सिद्ध करने या अधिकारों का दावा करने की ज़रूरत पड़े तो उसे प्रस्तुत किया जा सके। कभी-कभी दान पत्थर की पटिया पर भी अंकित किया जाता था, जिसे किसी सुरक्षित और महत्वपूर्ण स्थान में—जैसे स्थानीय मंदिर में—रख दिया जाता था। वाकाटक रानी प्रभावती गुप्त के निम्नलिखित दानपत्र से इस दस्तावेज को लिखने के सूत्र की जानकारी मिलती हैं :

सफलता। भागवत ने विजय प्राप्त की है। नंदिवर्धन से। [अतीत में] महाराज यशस्वी घटोत्कच्छ थे, प्रथम गुप्त राजा। उनके श्रेष्ठ पुत्र महाराज यशस्वी चंद्रगुप्त [प्रथम] थे। उनके श्रेष्ठ पुत्र महाराजाधिराज समुद्रगुप्त थे, जो रानी कुमारदेवी से उत्पन्न हुए थे; लिच्छवि की कन्या के पुत्र थे; जिन्होंने अनेक अश्वमेध किए। उनके श्रेष्ठ पुत्र महाराजाधिराज चंद्रगुप्त [द्वितीय] हैं, जिन पर उनकी कृपा थी; जो भागवत के परमभक्त हैं, जो धरती पर अप्रतिम योद्धा हैं; जिन्होंने सभी राजाओं का मूलोच्छेद कर दिया है; जिनकी ख्याति ने चार महासमुद्रों के जल का स्वाद लिया है; जिन्होंने हजारों-करोड़ गौएं और सोना दान किया है। जिनकी धारण गोत्रीय पुत्री यशस्विनी प्रभावतीगुप्त, जो यशस्विनी रानी कुबेरनाग से उत्पन्न हुई, जो नाग परिवार में उत्पन्न हुई थीं, जो भागवत की परमभक्त हैं, जो वाकाटकों के महाराज यशस्वी रुद्रसेन [द्वितीय] की पट्ट महिषी थीं, जो युवराज यशस्वी दिवाकरसेन की माता हैं; जो अपने सुंदर स्वास्थ्य की घोषणा करती हुई, सुप्रतिष्ठा आहार में, विलवनक के पूर्व, शीर्षग्राम के दक्षिण, कदपिंजन के पश्चिम और सिदी-विवरक के उत्तर में स्थित दंगुन ग्राम के गृहस्थों, ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों को निम्नवत् आदेश देती हैं: 'आप सबको ज्ञात हो कि अपने पुण्य की अभिवृद्धि करने के निमित्त हमने चंद्र पंचांगानुसार कार्तिक शुक्ल पक्ष द्वादशी को इस गांव को भागवत के चरण-चिह्नों पर अर्पित करन के उपरान्त इसे आचार्य चलन स्वामी को जलांजलि देते हुए उन्हें दान कर दिया, जो पहले कभी दान नहीं किया गया था। अतएव

आप सबको उनके सभी आदेशों का पालन प्रतिष्ठापूर्वक करना चाहिए।

उन्हें हम वे विमुक्तियां प्रदान करते हैं जो चातुर्विद्य ब्राह्मणों को प्रदत्त अग्रहार के साथ प्रदान किए जाते हैं और जिनका अनुमोदन पूर्ववर्ती राजाओं ने भी किया है : इस गांव में सैनिक और आरक्षी प्रवेश नहीं कर सकते; यह दौरे पर आए राज्याधिकारियों को घास, आसन के लिए चमड़े और काष्ठांगार सुलभ कराने के दायित्व से मुक्त है; मदिरा खरीदने और नमक निकालने के दायित्व से मुक्त है; उसकी खानें और *खादिर*वृक्ष विमुक्त है; वह फूल और दूध सुलभ कराने से मुक्त है; उसकी भूगर्भ संपदा पर उसका अधिकार है और उसे छोटे-बड़े करों की वसूली का अधिकार है।

अतएव इस दान को भावी राजाओं को अनुरक्षित एवं संवर्धित करना चाहिए। यदि कोई हमारे आदेश की अवहेलना करेगा और बाधा डालेगा तो ब्राह्मणों द्वारा उसके विरुद्ध शिकायत की जाने पर हम उसे सजा और अर्थदंड भी देंगे।...'

यह दानपत्र तेरहवें शासन-वर्ष में लिखा गया और चक्रदास ने इसकी गुदाई की।

वी.वी. मिराशी द्वारा संपादित 'पूना प्लेट्स ऑफ प्रभावती गुप्त', *इंस्क्रिप्शंसऑफद वाकाटकज*, कॉ.इं.इं.,V , पृ. 5 आदि पर दिए अंग्रेजी अनुवाद से।

भू-राजस्व राज्य की आमदनी का बहुत बड़ा जरिया था। राज्य उपज के छठे भाग की मांग करता था और कभी-कभी तो उसकी मांग चौथाई भाग तक भी चली जाती थी। षष्ठांश पारंपरिक अनुपात था। यहां तक कि संन्यासियों द्वारा संन्यास से अर्जित पुण्य के भी छठे भाग पर राजा दावा करता था। राजस्व की मांग के इस अनुपात में अन्य करों-जैसे कृषि-क्षेत्र, सिंचाई सुविधा आदि पर लगाए जाने वाले करों-के साथ ही अंतर पड़ता रहता था। जब भूमि-दान बड़े पैमाने पर दिए जाने लगे तब राज्य की आय में कुछ कमी आ गई होगी। लेकिन इसके अपने कुछ मुआवजे भी थे। उदाहरण के लिए, ग्रहीता राजा के लिए समर्थन का तंत्र खड़ा कर देते थे और ऐसे तंत्र वे दूर-दराज के इलाकों में भी खड़े कर देते थे। इससे शासक वंश को वैधता प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त, नए क्षेत्रों में परती ज़मीन दान करने से किसी तरह के राजकीय निवेश के बिना इस तरह की ज़मीन में खेती होने लगती थी। गंगा के निचले बहाव से पूरब की ओर पड़नेवाले इलाकों में भूमिदानों का परिणाम ऐसा ही हुआ।

हमेशा की तरह ज़मीन को मापने के पैमानों में फर्क था। हाथ, भुजा, धनुष या हल की लंबाई पर आधारित माप के अलग-अलग शब्दों का इस्तेमाल किया जाता था। माप की और भी विधियां थीं-जैसे अमुक परिमाण में बीज कितनी ज़मीन में डाले जा सकते हैं या अमुक समय में बैलों की जोड़ी कितनी ज़मीन जोत सकती है। इनके आधार पर कुल्यवाप, द्रोणवाप, निवर्तन आदि माप-शब्दों का प्रयोग होता था। निवर्तन का हिसाब एक एकड़ से कुछ कम से लेकर 4 एकड़ तक लगाया गया है। एक एकड़ वाला हिसाब ज़्यादा ठीक लगता है, क्योंकि कहा गया है कि छह

निवर्तन ज़मीन एक गृहस्थी के लिए काफी होती है। कुछ दान बहुत बड़े-बड़े भूमि-खंडों के होते थे। इसका पता इस कथन से चलता है कि एक व्यापारी ने आधा गांव खरीद कर उसे एक ब्राह्मण को दान में दे दिया। यदि इस कथन को शब्दशः सही मानें तो इससे अधिकारों तथा कर्तव्यों के मामले में सभी संबंधित लोगों के लिए बहुत उलझन पैदा हो जाती होगी। अनिवार्यतः ज़मीन की कीमतों में फर्क होता था। जिस ज़मीन में खेती की जा रही होती थी वह परती ज़मीन से बहुत अधिक कीमती होती थी, ख़ास तौर से तब जब उसमें सिंचाई की सुविधा भी रही हो। एक प्रसंग में देखने को मिलता है कि बंगाल में अमुक एकड़ रकबे की ज़मीन, जिसमें शायद खेती की जा रही थी, चार दीनार (स्वर्ण मुद्रा) मूल्य की मानी गई। यह चांदी के चौंसठ सिक्कों के बराबर था। एक अनुमान है कि उसका क्षेत्रफल 12 से 16 एकड़ रहा होगा, लेकिन और भी अनुमान लगाए गए हैं। धार्मिक लाभानुभोगियों के लिए ज़मीन की खरीदारी के उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं, लेकिन पाठों में निवेश के रूप में भी ज़मीन खरीदने के जिक्र मिलते हैं।

शहरी जीवन

राजस्व भूमि और व्यापार पर लगाए गए तरह-तरह के करों से प्राप्त होता था। तरह-तरह की प्रवृत्तियों को संरक्षण देनेवाले शक्तिशाली राज्य का अनुरक्षण काफी व्यय-साध्य था और उससे अर्थव्यवस्था पर दबाव पड़ा होगा। उत्तर गुप्त कालीन सिक्कों के अवमूल्यन का अर्थ राजकोषीय संकट का द्योतक लगाया गया है। हुआन सांग का कहना है कि हर्ष अपने राज्य की आय को चार भागों में बांट देता था। एक चौथाई सरकारी खर्च के लिए, दूसरी सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों के वेतन के लिए, तीसरी बौद्धिक उपलब्धियों को पुरस्कृत करने के लिए और चौथी दान के लिए सुरक्षित रहती थी। ऐसा विभाजन एक आदर्शभूत अवधारणा थी, लेकिन यदि हर्ष सचमुच ऐसा करता रहा हो तो यह बात आर्थिक दृष्टि से अव्यावहारिक रही होगी।

कुछ विद्वानों का कहना है कि इस काल में शहरों का ह्रास हुआ, और वे गुप्त काल की अर्थव्यवस्था को सामंती विशेषताओं से युक्त बताते हैं। शहरों का न केवल ह्रास हुआ, बल्कि कई में वाणिज्य-व्यापार की समाप्ति स्पष्ट दिखाई देती थी। खुदाइयों के कुषाण स्तरों से अधिक समृद्ध स्थिति का भास होता है। प्रायद्वीप में समुद्री व्यापार जारी रहा, लेकिन अब उसका प्रभाव कम हो गया था। रोमन साम्राज्य पर हुए हूण हमलों के फलस्वरूप न केवल पश्चिमोत्तर से परे के क्षेत्रों में बल्कि पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र में भी वाणिज्यिक परिपथ में बाधा पड़ी होगी। शहरों को खिलाने-पिलाने के लिए कृषि की पैदावार में कमी आने का कारण जलवायुगत परिवर्तन बताया गया है। परिवेश में अधिकाधिक शुष्कता आती गई। ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की आपदाएं आईं और उर्वरता कम हो गई। वर्षा में कमी और विवनीकरण से भी

कृषि-उत्पादन प्रभावित हुआ होगा। इस प्रकार के परिवर्तनों से शहरों के लिए आवश्यक कृषि-समर्थन कमज़ोर पड़ गया होगा। इन परिवर्तनों के संयुक्त प्रभाव से शहरों का ह्रास हुआ, ऐसा माना जा सकता है।

साहित्यिक तथा पुरातात्विक सामग्री को आमने-सामने रखकर शहरी जीवन का मूल्यांकन करने में एक कठिनाई यह है कि साहित्यिक सामग्री धनाढ्य लोगों की स्थिति को प्रतिबिंबित करती है और इसलिए वह एक सकारात्मक छवि प्रस्तुत करती है, जब कि पुरातात्विक सामग्री उससे भिन्न तसवीर पेश कर सकती है, जिसमें साधारण लोगों के जीवन की तसवीर का भी समावेश है। साहित्यिक सामग्री कई प्रकार की सामाजिक अवस्थाएं प्रस्तुत करती है, और हमारे लिए यह आवश्यक हो सकता है कि हम क्षैतिज खुदाइयों के लिए इन्तजार करें और उनके परिणाम सामने आ जाने के बाद ही पुरातात्विक सामग्री से उचित निष्कर्ष निकालें। पहले यह कहा जा रहा था कि शहरीकरण की पुनरावृत्ति बारहवीं सदी या उसके आस-पास के काल से पहले नहीं हुई, लेकिन अब नवीं-दसवीं सदियों के शहरों के साक्ष्य प्राप्त होने से यह काल पीछे चला गया है। एक और भी समस्या का संबंध इस प्रश्न से है कि यह ह्रास पूरे उपमहाद्वीप में हुआ या कुछ क्षेत्रों तक सीमित था। गंगा के मैदान में कुछ शहरी ह्रास के साक्ष्य पर विचार किया गया है, लेकिन कुछ अन्य क्षेत्रों में ह्रास उतना स्पष्ट नहीं है।

कुछ शहरों का ह्रास अवश्य हुआ, लेकिन वह उपमहाद्वीप-व्यापी ह्रास नहीं था, और ह्रास के कारण अलग-अलग थे। परिवेशगत परिवर्तनों के अलावा ये कारण आर्थिक परिवर्तन से भी संबद्ध रहे होंगे। यदि नए संसाधनों को उपयोग में लाया जाने लगा हो और वितरण विनिमय के नए केंद्रों से होने लगा हो तो हो सकता है कि व्यापारिक मार्ग उन क्षेत्रों से कतरा कर निकल गए हों जो कभी महत्त्वपूर्ण थे। पूर्वी गांगेय मैदान में नए शहरों का उदय हुआ। उधर कान्यकुब्ज या कन्नौज कृषि-उत्पादन से भरपूर पृष्ठदेश के मध्य में स्थित था, और कृषि-उत्पादन शहरों के विकास के लिए आवश्यक बना रहा, क्योंकि कृषि-उत्पादन का विनिमय अधिक व्यापक आधार पर स्थित विनिमय का मार्ग प्रशस्त करता था। वाकाटक काल में दकन में पौनार फूल-फल रहा था। अरब सागर से होकर चलनेवाले व्यापार से जुड़ जाने के कारण वलभी का व्यापारिक महत्त्व बढ़ा। अरब प्रायद्वीप के समृद्ध अरब व्यापारी अरब सागर पार के व्यापार में भाग लेकर उसे बढ़ावा दे रहे थे।

इस बीच भारतीय व्यापारी मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया में खूब सक्रिय हो उठे थे। इन दोनों क्षेत्रों में भारतीय व्यापारिक केंद्र स्थापित किए जाने से आरंभ में आय का रुख उनकी ओर मुड़ गया। हो सकता है, भारतीय नगरों के धन-धान्य में ह्रास के लिए कुछ काल के लिए यही स्थिति जिम्मेदार रही हो। लेकिन अंत में भारतीय बिचौलिए दोनों क्षेत्रों में फूलने-फलने लगे। उपमहाद्वीप के कुछ हिस्सों में

गुप्त काल उस आर्थिक सक्रियता की चरम परिणति था जो उससे पहले के काल में आरंभ हुई थी। अन्य भागों में छठी सदी ई. में लोगों के नए समूह व्यापारिक गतिविधियों में शामिल हुए। पश्चिमी तट के व्यापारी सक्रिय हुए, और अरब व्यापारियों से संपर्क के फलस्वरूप विनिमय की एक नई पद्धति शायद शुरू हुई।

व्यापारिक संपत्ति के स्रोत खानें, पेड़-पौधे और पशु थे। कारीगर खनिज पदार्थों तथा लकड़ी आदि को अपनी कारीगरी से व्यापारिक माल में परिणत कर देते थे। खानों से सोना निकालने का काम कर्नाटक में होता था, लेकिन उसे छानकर निकालने का काम सुदूर उत्तर के पहाड़ों में बहनेवाली धाराओं में किया जाता था। सुंदर डिजाइन और चुस्त-दुरुस्त ढलाईवाले गुप्त सिक्कों में सोने की कारीगरी की उत्कृष्टता स्पष्ट देखी जा सकती है। हर सिक्का एक लघु मूर्ति है। सामान्यतः वे राशियों में मिलते हैं और कुछ सद्यः ढली स्थिति में हैं। दूसरी किस्म के इन सिक्कों को देखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि ये सिक्के व्यावसायिक उपयोग के लिए नहीं, बल्कि भेंट में देने के लिए थे। लेकिन आरंभ में उनमें कुषाण भार-मानों का अनुसरण किया गया, जिससे लगता है कि उनका चलन मध्य एशियाई और उत्तर भारतीय व्यापार में था। ऊंचे मूल्यों के सिक्के घोड़ों और रेशम के व्यापार में उपयोगी थे और सुपरिचित भार-मान से व्यापार में सुविधा होती थी। यद्यपि मालूम होता है, प्रतिछवि-अंकन (पोर्ट्रेचर) की कला ने भारत में सिक्कों के नमूने तैयार करनेवालों का ध्यान आकृष्ट नहीं किया, तथापि गुप्त सिक्कों में राजाओं की गतिविधियों का सुन्दर और प्रभावोत्पादक अंकन हुआ है। इनमें से कुछ में राजत्व के प्रतीकों को भी दरशाया गया है। मुहरें जानकारी का एक अन्य स्रोत हैं। जब उनमें उत्तराधिकार सूची दी गई होती है तब तो वे अपने-आपमें एक स्रोत बन जाती हैं। इसके अलावा वे ताम्रपत्रों पर अंकित अभिलेखों में भी देखी जा सकती हैं। इस स्थिति में भी वे सूचना के स्रोत का काम करती हैं।

तांबे और लोहे का खनन जारी रहा। इन धातुओं से घरेलू वस्तुएं, बरतन, औज़ार और हथियार बनाए जाते थे। लोहे के परिशोधन के फलस्वरूप इस्पात का अधिक व्यापक उपयोग होने लगा। इस काल की सर्वाधिक प्रभावोत्पादक वस्तुओं में वह लौह स्तंभ शामिल है जो अब दिल्ली में मेहरौली में स्थापित है। यह 23 फुट से कुछ अधिक ऊंचा है, और ऐसी उत्कृष्ट धातु से बना हुआ है जिसमें जरा भी जंग नहीं लगी है। इस पर चंद्र नामक राजा का अभिलेख अंकित है। कुछ विद्वानों ने उस राजा की पहचान द्वितीय चंद्रगुप्त के रूप में की है। उतनी ही प्रभावोत्पादक बुद्ध की तांबे की आदमकद मूर्ति है। इसे दो हिस्सों में ढाला गया है। अब यह बर्मिंघम संग्रहालय में रखा हुआ है। धातु के पालिशदार आईने भी संपन्न लोगों में लोकप्रिय थे।

हाथीदांत के काम का महत्त्व बना रहा। इसके लिए आभूषण-निर्माण जैसी बारीकी और सिद्धहस्तता अपेक्षित थी। पश्चिमी भारत के मोतीगाह फूलते-फलते रहे।

वहां के मोतियों की मांग दूर-दूर के बाजारों में थी। कीमती पत्थरों—जैसे जैस्पर, गोमेद, कार्नेलयन, बिल्लौर और लाजवर्द—की कटाई और पालिशिंग का काम भी दूरदेशीय व्यापार से ही संबंधित था। मनके बनाने का काम उज्जैन और भोकरदान जैसे शहरों में चलता था। पत्थर और हाथीदांत से मुहरें बनाई जाती थीं। कुछ तांबे पर भी गोदी जाती थीं, और टेराकोटा की भी कुछ मुहरें अवशिष्ट हैं। बरतन बनाने का काम एक प्राथमिक कारीगरी के तौर पर चलता रहा, लेकिन सुंदर काले पालिशदार भांड का उपयोग अब नहीं होता था। उसकी बजाए एक प्रकार का लाल बरतन चलन में आ गया था, जिसका परिष्कार लगभग धातु के बरतन जैसा है।

विभिन्न प्रकार के कपड़ों का निर्माण किया जाता था, जिनके लिए विशाल घरेलू बाजार था, क्योंकि हम देखते हैं कि उत्तर और दक्षिण भारत के बीच चलनेवाले व्यापार में कपड़ों की प्रमुखता थी। इसके अतिरिक्त, एशियाई बाजार में भी उनकी काफी मांग थी। रेशमी, ऊनी और मलमल, छालटी आदि तरह-तरह के सूती कपड़े का उत्पादन बड़े पैमाने पर होता था। पश्चिमी भारत रेशमी कपड़े की बुनाई के प्रमुख केंद्रों में से था। आगे चलकर गुप्त काल में रेशमी कपड़े का उत्पादन शायद कम हो गया हो, क्योंकि पश्चिमी भारत में रेशम-बुनकरों की महत्त्वपूर्ण श्रेणि के बहुत-से सदस्य देशांतरण करके देश के अंदरूनी हिस्सों में और धंधे करने के लिए चले गए।

वस्तु-निर्माण तथा वाणिज्य दोनों प्रकार के उद्यमों में श्रेणियां महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती रहीं। कुछ दृष्टियों से उनकी स्वायत्तता कायम रही—जैसे उनके आंतरिक संगठन में उनके नियमों का आदर किया जाता था। स्थापत्य से लेकर तैलक-कर्म तक को कारीगरी की श्रेणि बनाकर संस्थागत रूप देना केवल व्यापारिक दृष्टि से ही लाभदायक नहीं था। श्रेणियां अपने सदस्यों को कई प्रकार से वैसा ही समर्थन देती थीं जैसा जाति देती थी। श्रेणियों के प्रतिनिधि और व्यापारी बहुधा शहरी प्रशासन संस्थाओं के सदस्य होते थे। इससे लगता है कि धर्मशास्त्र द्वारा कुछ पेशों को निम्न स्थिति प्रदान करना हमेशा कारगर नहीं होता था। यह इस बात का एक और उदाहरण है कि धर्मशास्त्रों के नियमों में उस शहरी तथा व्यापारिक जीवन के वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था जो सामाजिक समूहों के वास्तविक कार्य-व्यवहार से उदित हो रहा था। शहरी जीवन का नियमन करनेवाली शाही तथा नैगम सत्ता ब्राह्मणीय विधानों से हमेशा सहमत नहीं होती थी, और इस स्थिति के मूल प्राक्-गुप्तकाल में निहित थे। पाठों में विहित दर्जों और यथार्थ जीवन के दर्जों के बीच लगातार अंतर्विरोध दिखाई देता है, जिससे जाति की परिवर्तनहीन कार्य-पद्धति के संबंध में कोई सामान्यीकारण करना कठिन हो जाता है।

कर्ज पर ब्याज की दर इस बात पर निर्भर होता था कि कर्ज किस प्रयोजन से लिया गया। पूर्ववर्ती काल में समुद्री व्यापार के लिए लिए जानेवाले कर्ज की ब्याज-दरें बहुत ऊंची थीं, लेकिन अब वह घटकर 20 प्रतिशत की वाजिब दर पर

आ गई थी, जिससे समुद्री व्यापार पर लोगों का विश्वास जमना प्रमाणित होता है। महाजन और ऋणी के बीच समझौते के आधार पर ब्याज-दर वैध दर से अधिक भी हो सकती थी, लेकिन सामान्यतः उसे मूल धन से अधिक नहीं होने दिया जा सकता था। ब्याज दर में कमी होने से यह भी लगता है कि माल का उत्पादन अब अधिक हो रहा था और इसलिए मुनाफे में शायद कमी आ गई थी।

पूरब और दक्षिण दिशा में समुद्र गुप्त द्वारा किए गए सैनिक अभियानों और हर्ष द्वारा बार-बार अपने राज्य का दौरा करने से लगता है कि संचार व्यवस्था और माल का संचलन अच्छा था। सड़कों पर आम तौर पर बैलगाड़ियां चलती दिखाई देती थीं। जब यात्रा असमतल और ऊबड़-खाबड़ इलाकों में करनी पड़ती थी तब भारवाही पशुओं का इस्तेमाल किया जाता था, वल्कि घने जंगलवाले इलाकों में तो हाथियों का भी उपयोग किया जाता था। गंगा, गोदावरी, नर्मदा, कृष्णा और कावेरी जैसी बड़ी-बड़ी नदियों के निचले बहाव मुख्य जलमार्ग थे। पूर्वी तट के ताम्रलिपि तथा घंटशलाा जैसे बंदरगाहों से पूर्वी तट के बंदरगाहों तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ व्यापार चलता था, और पश्चिमी तट के बंदरगाहों से पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र तथा पश्चिमी एशिया के साथ व्यापार चलता था। प्रायद्वीप के जो बंदरगाह और उत्पादन-केंद्र समुद्री व्यापार से संबंधित थे, लगता है, उनका ह्रास नहीं हुआ था, लेकिन वे गुप्तों के नियंत्रण से बाहर थे।

मसालों, काली मिर्च, चंदन, मोतियों, रत्नों, सुगंधियों, नील और जड़ी-बूटियों का निर्यात जारी रहा। लेकिन आयातित माल में पहले के आयातित माल से भिन्नता आई। मालूम होता है, घोड़ों के आयात में काफी वृद्धि हुई। घोड़े थल-मार्ग से ईरान और बैक्ट्रिया से पश्चिमोत्तर भारत के व्यापार केंद्रों में पहुंचते थे, और अरबी घोड़े जल-मार्ग से पश्चिमी तट पर उतारे जाते थे। भारत ने अच्छी नस्लों के घोड़े कभी भी पैदा नहीं किए, जिसका कारण शायद प्रतिकूल जलवायुगत परिस्थितियां और उपयुक्त चरागाहों का अभाव था। फलतः उत्कृट नस्लों के घोड़ों आदि का हमेशा आयात ही होता रहा। भारतीय सेना के अश्वारोही दलों के लिए इसके परिणाम प्रतिकूल हुए होंगे, और अंत में वह मध्य एशियाई अश्वारोहियों से पिछड़ गई होगी।

अब अरब सागर तथा हिंद महासागर में भारतीय जहाजों का नियमित आना-जाना होता रहता था और बहुधा वे चीन सागर तक जाने का साहस दिखलाते थे। 'काले यवनों के द्वीप' का उल्लेख हुआ है। तात्पर्य शायद मडागास्कर या जंजीबार से हो। माना जाता है कि पूर्वी अफ्रीकी तट से भारत का संपर्क प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. में ही आरंभ हो गया था और अब तक यह संपर्क व्यापार के माध्यम से विकसित अवस्था में पहुंच चुका था। इसके बावजूद, धर्मसास्त्रकार ऊपरी जातियों के लोगों के लिए समुद्री यात्रा का निषेध कर रहे थे। दूर देशों की यात्रा पर आपत्ति का कारण म्लेच्छों (अर्थात् जाति-परिधि से बाहर पड़नेवाले और इसलिए कर्मकांडी दृष्टि से अशुद्ध

लोगों) से संपर्क का भय था। बाहर जाकर कर्मकांडों और जाति के नियमों का पालन करना भी कठिन था। इस निषेध से ब्राह्मणों को अतिरिक्त और अप्रत्यक्ष लाभ यह था कि इसका पालन होने से व्यापारिक समुदाय की शक्ति पर अंकुश लगता। लेकिन इससे उन भारतीयों की उद्यमी प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं पड़ी जो व्यापार करना चाहते थे, चाहे वे ब्राह्मण रहे हों या गैर-ब्राह्मण। बहुत-से व्यापारी बौद्ध थे, जो वैसे भी ब्राह्मणीय नियमों की परवाह नहीं करते थे। लेकिन जैन लोग बड़ी संख्या में बाहर नहीं निकले, जिसका कारण शायद यह था कि उनके धर्माचरण की कठोरता उन्हें दूर देशों की यात्रा करने से हतोत्साहित करती थी।

अधिकतर नगरों की योजना में पूर्ववर्ती नगरों की योजना से ज़्यादा बदलाव नहीं आया था। नगर पूर्ववत् बड़े क्षेत्रों में परस्पर एक-दूसरे को काटनेवाली दो सड़कों के बीच बसे होते थे। बाजारों और दुकानोंवाली वीथियां उत्पादित और बेचे जानेवाले माल के अनुसार अलग-अलग होती थीं। घरों में अकसर एक छज्जा होता था, जहां से सड़कों का दृश्य देखा जा सकता था। संपन्न लोगों के मकान ईंटों के होते थे। घरों की अंदरूनी योजना सीध में होती थी, और पर्याप्त नालियां तथा कुएं होते थे। तथापि वह ऐसी संस्कृति थी, जिसमें रहन-सहन के स्तरों में काफी फर्क दिखता था। शहरों में सुविधा का जीवन व्यतीत करनेवाले लोगों का शहर की सीमा के बाहर बसे जातीय समाज से इतर लोगों से कोई वास्ता नहीं होता होगा, और वे लोग लगभग उसी अवस्था में रहते थे जिस अवस्था में आज झोंपड़-पट्टियों के लोग रहते हैं। लेकिन शायद गांवों में रहन-सहन के स्तर में कम अंतर था।

कामसूत्र के अनुसार देखें तो संपन्न नागरिक का जीवन भद्र और परिष्कृत था, जो उसके अवकाश तथा संसाधनों के कारण संभव हो पाता होगा। विलासितापूर्ण न सही तो कम से कम सुविधापूर्ण परिवेश काव्य-रचना, चित्रकारी तथा संगीत के लिए उपयुक्त मनःस्थिति की सृष्टि करता था और कलाप्रेमी नागर युवक से इन सभी कलाओं में पारंगतता अपेक्षित थी। जिस परिस्थिति में नागर जीवन को सभ्य जीवन का आदर्श माना जाता था उसमें कामशास्त्र की रचना कोई अप्रत्याशित चीज नहीं थी। युवक को काम-कला का प्रशिक्षण देना भी वांछनीय था। *कामसूत्र* में इस सबका विवेचन बहुत प्रांजलता के साथ किया गया है और कभी-कभी तो चौंकानेवाली कल्पनाशीलता के साथ। ऐसे स्थलों की तुलना काम-कला संबंधी आधुनिक लेखन से की जा सकती है। गणिका नागर जीवन की एक सामान्य विशेषता थी, जिसकी ओर न तो रूमानी दृष्टि से देखा जाता था और न तिरस्कार की दृष्टि से। गणिका को जो प्रशिक्षण दिया जाता था उसे ध्यान में रखकर देखें तो वह काफी कठिन पेशा था, क्योंकि वेश्या के विपरीत वह एक सुसंस्कृत सहचरी थी—बहुत-कुछ जापान की 'गीशा' या प्राचीन यूनान की 'हेटेरा' जैसी।

सामाजिक रीति-रिवाज

कामसूत्र में वर्णित संपन्न नगरवासियों का जीवन चाहे जितना सुखमय रहा हो, अधिकतर लोगों का जीवन वैसा नहीं था। अकाल और गरीबी को नक्षत्रों का फेर बताकर लोगों से संतोष रखने को कहा जाता था और बार-बार समझाया जाता था कि पतन के युग कलियुग में इससे बेहतर कुछ हो भी नहीं सकता। कालिदास-कृत *शाकुन्तलम्* नाटक में एक बहुत ही मार्मिक प्रसंग आता है। जिस मछुआरे ने उस मछली को पकड़ा था जो राजा की मुद्रिका निगल गई थी उसे राज्य के अधिकारियों के सामने पेश किया जाता है। उसे मारा-पीटा जाता है, उसकी नीची जाति की खिल्ली उड़ाई जाती है और चोर करार देते हुए मृत्यु-दंड के लिए तैयार कर दिया जाता है। लेकिन जब राजा उसे पुरस्कार-स्वरूप एक थैली भेजता है तो वह उसमें से अपने सतानेवालों को खुश रखने के लिए उन्हें भी हिस्सा देता है। अधिकारी मदिरालय चलने का सुझाव देता है, जिसे मछुआरा सहर्ष स्वीकार कर लेता है। एक निम्न जातीय मछुआरे के साथ एक अधिकारी के मदिरापान करने का मेल धर्मशास्त्रों के नियमों से कैसे बैठाया जा सकता है? क्या यह उस सामाजिक लचीलेपन का साक्ष्य नहीं है जिसका धर्मशास्त्र निषेध करते थे? *हर्षचरित*में हम देखते हैं कि जब राजा के सैनिक शिविर उखाड़कर चले जाते हैं तब गरीब ग्रामवासी वहां बिखरे पड़े अनाज बीनने लगते हैं। बाण हमें अपनी इस कृति में यह भी बताता है कि राजा के हाथियों ने गरीबों के झोंपड़ों को रौंद डाला, जिससे वे बेघर-बार हो गए और अब वे जो-कुछ कर सकते थे, वह बस इतना कि सिपाहियों पर ढेले फेंके।

अलग-अलग श्रेणियों के गुलाम बहुधा निचली जातियों और अस्पृश्यों में से भर्ती किए जाते थे। इस काल के धर्मशास्त्रों में पूर्ववर्ती धर्मशास्त्रों की अपेक्षा अधिक पूर्णता से गुलामों पर विचार किया गया है। इससे लगता है कि इस काल में दास-श्रम का अधिक उपयोग होने लगा था, यद्यपि उस पैमाने तक नहीं जिस पैमाने पर विश्व के कुछ अन्य भागों में उसका इस्तेमाल किया जा रहा था। उजरती मजदूर के उल्लेख लगातार मिलते हैं, जिससे पहले की अपेक्षा उनके अधिक उपयोग का भास होता है। गुलामों की भर्ती के स्रोत पहले की ही भांति युद्ध-बंदी, कर्जदार और दासियों की संतान हैं, लेकिन अब एक और भी श्रेणी जुड़ जाती है। तात्पर्य संन्यास व्रत को तोड़नेवालों की श्रेणी से है, जो कुछ विचित्र-सी लगती है। मालूम होता है, अधिकतर गुलाम घरेलू काम-काज में लगाए जाते थे। कृषि-क्षेत्र में नियुक्त श्रमिकों के अन्य वर्ग थे-जैसे बंधुआ मजदूर, उजरती मजदूर और वे लोग जिनसे विष्टि या बेगार के तौर पर ख़ास-ख़ास काम करने की अपेक्षा रखी जाती थी। जातीय नियम अस्पृश्यों के घरेलू काम में लगाए जाने में बाधक थे। जाति-विभाजित समाज में काम करने को मजबूर अस्पृश्य लोग भूमिहीन श्रमिकों का एक स्थायी स्रोत थे। जन्मजात

निर्योग्यताएं उनकी यह स्थायी अधम स्थिति सुनिश्चित करती थीं।

चीनी बौद्ध भिक्षु फा-हियान ने बौद्ध पांडुलिपियों का संग्रह करते हुए और बौद्ध विहारों का अध्ययन करते हुए 405 से 411 ई. तक भारत की तीर्थयात्रा की थी। वह बताता है कि लोग आम तौर पर सुखी थे। लेकिन उसने यह भी लिखा है कि अस्पृश्यों को शहर की सड़कों पर एक घंटी बजाकर अपने आने के बारे में लोगों को आगाह करते हुए चलना पड़ता था, और यदि कोई अस्पृश्य ऊंची जाति के किसी व्यक्ति के निकट आ जाता था तो उस ऊंची जाति के व्यक्ति को अपनी शुद्धि के लिए स्नान करना पड़ता था। हो सकता, यह सब अब तक सामान्य रीति बन गया हो। हुआन सांग बताता है कि कसाई, मछुआरे, नट, जल्लाद और भंगी को शहर से बाहर रहना पड़ता था और उनके घरों पर निशान लगा दिया जाता था, ताकि उनसे कतरा कर निकला जा सके। तथापि चीन के बौद्ध भिक्षुओं के विवरण कुल मिला कर प्रशंसात्मक हैं, जिसका कारण शायद यह था कि उनके लिए भारत 'पश्चिमी स्वर्ग', बुद्ध की पवित्र भूमि था। या शायद इसलिए कि वे अपने अवचेतन में अन्य स्थानों से यहां की स्थिति की तुलना करके देख रहे थे।

समाज की संरचनाओं का एक और प्रतिबिंब लैंगिक संबंधों की सामाजिक मान्यता में दिखाई देता है। साहित्य तथा कला में स्त्रियों को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया जाता था और इस प्रकार सृजित कुछ छवियां पाठक या दर्शक को मोहक लगती हैं। लेकिन ये छवियां संपूर्ण स्त्री के संबंध में पुरुष की कल्पना के सांचे में ढली हुई हैं, और इस तरह के आदर्शों ने स्त्रियों को परवशता की स्थिति में डाल दिया। ऊंची जातियों की स्त्रियों को थोड़ी-बहुत शिक्षा दी जाती थी, लेकिन उसका उद्देश्य उन्हें परिचर्चाओं में शरीक होने के लिए प्रोत्साहित करना या पेशेवर विशेषज्ञता प्रदान करना नहीं होता था।

संपत्ति पर स्त्रियों का अधिकार या उनका उत्तराधिकार सीमित था, और उसमें भी जाति प्रथा और क्षेत्र के अनुसार फर्क होता था। सामाजिक रीति-रिवाज समान नहीं थे, भले ही धर्मशास्त्रों ने उसके लिए जितना भी प्रयत्न किया हो। मातृवांशिक प्रणालियों के अधीन उत्तराधिकार पितृसत्तात्मक प्रणाली से भिन्न था। कुछ सामाजिक समूहों में रिश्ते के भाई-बहनों के बीच विवाह चलता था। संपत्ति का उत्तराधिकार उससे भी प्रभावित होता था। इस बात के कुछ संकेत मिलते हैं कि उत्तर भारत के अभिजन हलकों में पूर्ववर्ती काल में कदाचित् रिश्ते के भाई-बहनों के बीच विवाह का चलन था। लेकिन चूंकि धर्मशास्त्र पितृसत्तात्मक व्यवस्था का समर्थन करते थे, इसलिए जो लोग अपने समाजिक दर्जे में सुधार के आकांक्षी थे उन्होंने उस व्यवस्था को अपना लिया होगा।

बाद की सदियों में ऊंची जातियों की स्त्रियों की एक नियति यह थी कि कच्ची उम्र में ही, यहां तक कि उनके रजस्वला होने से भी पहले, उनके विवाह की

हिमायत की जाती थी। विधवा से सादगी से रहने की अपेक्षा की जाती थी, लेकिन यदि वह क्षत्रिय जाति की हो और विशेषतः अगर उसके पति ने वीरगति प्राप्त की हो तो उससे सती हो जाने की आशा की जाती थी। सती प्रथा का आद्यतम ऐतिहासिक साक्ष्य 510 ई. का है, जब इस घटना की स्मृति को एरन के एक अभिलेख में स्थायित्व प्रदान किया। आगे चलकर सती होने की घटनाओं में वृद्धि हुई। ऐसा उस दौर में हुआ जब इस बात को लेकर बहस चल रही थी कि कोई स्त्री, विशेषतः विधवा, पुनर्विवाह कर सकती है या नहीं। कुछ लोगों का कहना था कि यदि पति गायब हो गया हो, मर गया हो, नपुंसक हो गया हो अथवा समाज से विमुख हो गया हो या जाति-बहिष्कृत कर दिया गया हो तो स्त्री को पुनर्विवाह की अनुमति होनी चाहिए। लेकिन अन्य लोग इस विचार के विरुद्ध थे। स्त्री को सती होने के लिए प्रोत्साहित करना एक समाधान हो सकता था। इन्हीं दिनों नव-क्षत्रियों की संस्कृति की भी रचना हो रही थी, और जैसा कि बहुत-से नया-नया महत्त्व प्राप्त करनेवाले समूहों में देखा जाता है, कुछ नियमों के इन क्षत्रियों द्वारा अक्षरशः अपना किए जाने की संभावना थी। यदि इस तरह के परिवार का मूल किसी ऐसे समाज में समाहित रहा हो जिसमें विधवा पुनर्विवाह का आम चलन था, तो उस चलन पर अंकुश लगाना पड़ता होगा।

कुछ थोड़ी-सी स्त्रियां, जिन्हें थोड़ी-बहुत आज़ादी हासिल थी, स्त्रियों से अपेक्षित गृहस्थी के 'सामान्य' काम-काज से विमुख होकर भिक्षुणी हो जाती थीं, या गणिका का प्रशिक्षण लेती थीं या नाट्य मंडलियों में शामिल हो जाती थीं। कारीगरों, व्यापारियों और छोटे भू-स्वामियों का संसार दरबारी हलकों और बड़े-बड़े भूस्वामियों के वर्ग से भिन्न था। दोनों का फर्क इस बात में भी दिखाई देता है कि प्रथम वर्ग के लोग मुख्य रूप से श्रमण परंपरा के धर्मों के गृहस्थ अनुयायी होते थे और दूसरे वर्ग के लोग, कम से कम सिद्धांततः, धर्मशास्त्रों के नियमों का समर्थन करते थे। इन नियमों से संघर्ष की स्थिति तब उत्पन्न होती होगी जब नव-सृजित जातियां अपने-अपने प्राग्जाति रीति-रिवाजों को कायम रखती होंगी। उनमें से कुछ जातियां समाज में स्त्रियों के अधिक खुले तौर पर शिरकत करने की हामी रही होंगी। मध्य भारत में उच्छकल्प के राजा इस बात का ख़ास ध्यान रखते थे कि अभिलेखों के वंशावलीवाले हिस्से में प्रत्येक राजा के नाम के साथ उसकी माता का नाम जुड़ा हुआ हो। प्रथाओं को धर्मशास्त्रों के नियमों की तुलना में प्राथमिकता देने के *नारदस्मृति* के सुझाव का जितना समझा जाता है उससे बहुत अधिक महत्त्व था।

इस काल के अभिलेखों से स्पष्ट है कि जातियों के बीच थोड़ी-बहुत गतिशीलता स्वीकार्य थी। इसका शायद सबसे दिलचस्प उदाहरण पश्चिमी भारत की रेशम-बुनकरों की श्रेणि है। जब इस श्रेणि के लोग रेशम-बुनाई से गुजारा करने में असमर्थ हो गए तो वे पश्चिमी भारत में लाट नामक स्थान का त्याग करके मंदसोर

(मध्य प्रदेश) चले गए। उनमें से कुछ लोगों ने अपनी मूल जाति से ऊंची जातियों के पेशे अपना लिए—जैसे धनुर्धर, सिपाही, चारण और विद्वान के पेशे। पेशे में बदलाव आने के बावजूद, लगता है, अपनी श्रेणि के प्रति उनकी निष्ठा कायम रही—कम से कम एक पीढ़ी तक। सूर्योपासक होने के कारण उन्होंने अपने खर्च से एक सूर्य मंदिर बनवाया और मंदिर के एक लंबे अभिलेख में अपनी श्रेणि के इतिहास का वर्णन किया। यह अभिलेख 436 ई. का है। इसकी भाषा में कालिदास की भाषा की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

इस काल में कई धर्मशास्त्र लिखे गए, लेकिन उन्होंने जिन विचारों की घोषणा की उनमें समानता नहीं थी। यद्यपि जाति और स्त्री के संदर्भ में किसी का भी रुख उदार नहीं था, तथापि किसी में कम रूढ़िवादिता थी और किसी में ज़्यादा। इन धर्मशास्त्रों में सबसे सुविदित याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, नारद तथा कात्यायन के धर्मशास्त्र थे। बृहस्पति तथा नारद की कृतियों में न्याय-प्रक्रिया के सैद्धांतिक नियमों का वर्णन किया गया। राजा न्यायाधीशों की नियुक्ति करता था। ज़रूरत पड़ने पर अपील के सर्वोच्च न्यायालय के रूप में राजा स्वयं भी उपस्थित हो सकता था। तब उसकी सहायता, प्रसंगानुसार, न्यायाधीश, मंत्री, पुरोहित, ब्राह्मण और असेसर करते थे। पेशों के प्रतिनिधि, ख़ास तौर से व्यापारी, भी राजा को सलाह दे सकते थे। निर्णय धर्म-शास्त्रों, सामाजिक प्रथाओं या राजा के आदेश पर आधारित होते थे। प्रथाओं को बहुधा प्राथमिकता दी जाती थी। साक्ष्य इन तीन में से किसी भी स्रोत पर या सभी पर आधारित हो सकता था—दस्तावेज, गवाह या आरोपी के पास अपराध-निदर्शक वस्तुओं का होना। कठिन शारीरिक कष्ट देकर परीक्षा लेने की विधि न केवल अनुमत थी बल्कि विहित भी थी। कात्यायन ने जाति के अनुसार दंड के सिद्धांत को स्वीकार किया। उसमें सबसे ऊंची जाति के अपराधी के लिए सबसे हल्की सजा का विधान है। लेकिन कुछ परिस्थितियों में बात ठीक इससे उल्टी भी हो सकती थी।

फा-हियान का कहना है कि भारत में शाकाहार का चलन था, लेकिन स्रोत बताते हैं कि मांसाहार आम था, ख़ास तौर से अभिजनों के बीच। चिकित्सक पुंसत्व बढ़ाने के लिए बैल का मांस खाने का सुझाव देते थे। स्थानीय रूप से उत्पादित और आयातित दोनों प्रकार की मदिरा लोकप्रिय थी। इसी तरह पान खाना भी बहुत पसंद किया जाता था। नाटकों के दर्शक ख़ासी तादाद में थे। उनमें दरबारी हलकों के लोग भी शामिल थे और शहरों के दूसरे लोग भी। लोक-नृत्य और संगीत की प्रस्तुति के भी उल्लेख मिलते हैं। ये प्रस्तुतियां ख़ास तौर से विशेष अवसरों पर की जाती थीं। पुरुषों में जुए का प्रेम कायम रहा। इसी तरह उनका पशु-पक्षियों की लड़ाई का शौक भी बना रहा—ख़ास तौर से भेड़ों, मुर्गों और बटेरों की लड़ाई का। यह शौक ग्रामीण इलाकों में अधिक लोकप्रिय था।

ज्ञान-विज्ञान

औपचारिक शिक्षा ब्राह्मणीय आश्रमों और बौद्ध विहारों तथा जैन वसदियों में उपलब्ध थी। आश्रमों में ऊंची जातियों के बच्चों को ही शिक्षा दी जाती होगी। सैद्धांतिक दृष्टि से आश्रम की शिक्षा अनेक वर्षों तक चलती थी, लेकिन यह संभव नहीं दिखाई देता कि अधिकतर वच्चे विद्यार्थियों के रूप में लंबा समय बिताते होंगे। विद्याध्ययन गुरु और शिष्य के बीच का वैयक्तीकृत अनुभव था। ज़ोर पाठों को, जैसे वेदों के अंशों को, कंठस्थ करने और धर्मशास्त्रों के सारांश से परिचय प्राप्त करने के अतिरिक्त व्याकरण, अलंकार, गद्य तथा पद्य की रचना, तर्कशास्त्र और रहस्यवाद की शिक्षा पर होता था। लेकिन संस्कृत माध्यम से विद्यार्जन में नक्षत्र-विज्ञान, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-शास्त्र आदि अन्य अनेक विषयों का भी समावेश होता था।

चिकित्सा-शास्त्र से ही जुड़ा हुआ पशु-चिकित्सा-विज्ञान था। पशुओं में विशेष ध्यान हाथियों और घोड़ों पर दिया जाता था, जो सेना के लिए वहुत अहम् थे। कुछ विषयों के संदर्भ में संस्कृत पाठों में सैद्धांतिक पक्ष के साथ ही व्यावहारिक पहलू का भी समावेश होता था। परंतु सामान्यत: किसी पेशे के व्यावहारिक पहलू को शिक्षा के एक अलग रूप के तौर पर देखा जाता था। ऐसी शिक्षा देना पेशेवर लोगों का काम होता था। किसी विषय पर संस्कृत में संहिता की रचना उस विषय के महत्त्व का सूचक होता था। वराहमिहिर ने कृषि के जिन पहलुओं पर विचार किया उनमें नील जैसी नई फसलों की खेती, वर्षा के प्रभाव और जल-विभाजन की पद्धतियों का समावेश था। ये विवेचन *मानसार* और *कृषिपाराशर*जैसी रचनाओं में जारी रहे।

बौद्ध विहार विद्यार्थियों को अपेक्षाकृत कम अवधि, लगभग 10 वर्ष, तक रखते थे, लेकिन जो शिक्षार्थी भिक्षु बनना चाहते थे उन्हें अधिक लंबी अवधि तक रहना पड़ता था। नए शिष्यों की शिक्षा मौखिक पद्धति से आरंभ होती थी, जिसके बाद उन्हें पढ़ना-लिखना सिखाया जाता था। विहारों के पुस्तकालयों में महत्त्वपूर्ण पांडुलिपियां उपलब्ध होती थीं, जिनके पुरानी पड़ जाने पर उनकी नकलें तैयार कराई जाती थीं। दक्षिण विहार में स्थित नालंदा उत्तर भारत का प्रमुख वैहारिक तथा शैक्षिक केंद्र बन गया। वहां चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया जैसे दूर देशों के लोग विद्याध्ययन के लिए आते थे। यह इसलिए संभव हुआ कि उसे दान में मिले सैकड़ों गांवों की आय सुलभ थी। नालंदा की खुदाइयों से विस्तृत क्षेत्र में फैले सुनिर्मित भिक्षु-निवास तथा उपासना-कक्ष उद्‌घाटित हुए हैं।

भारतीय खगोल-विज्ञान के प्रारंभिक प्रतिपादन को *ज्योतिषवेदांग*में लिपिबद्ध किया गया। तब उसके कुछ अंश का उपयोग बड़े-बड़े यज्ञों के आयोजन के लिए किया जाता था। हेलनवादी संसार से संपर्क के फलस्वरूप कई प्रकार की नई पद्धतियों से परिचय हुआ, जिनमें से कुछ को भारतीय खगोल-विज्ञान में समाविष्ट

कर लिया गया। साथ ही, प्रारंभिक स्रोतों में विवेचित चंद्र-केंद्रित खगोल-विज्ञान के स्थान पर उस खगोल-विज्ञान को अपनाया गया जिसमें ग्रहों पर अधिक ज़ोर था। यह एक हद तक हेलनवादी और भारतीय खगोल-वैज्ञानिकों के बीच के संवाद का परिणाम था। नया खगोल-विज्ञान एक ऐसे मोड़ का द्योतक था जिसने उन नए सिद्धांतों को दिशा दी जिन्होंने यूरेशियाई संसार में खगोल-विज्ञान और गणित को प्रभावित किया। इनमें से कुछ सूचनाओं का समावेश बाद के काल के बृहत्तर पाठों में किया गया, लेकिन कुछ का विवेचन ख़ास खगोल-विज्ञान से संबंधित पाठों में किया गया। मुख्य भारतीय मध्याह्निक (मेरीडियन) पर स्थित उज्जैन खगोल-विज्ञान के अध्ययन का एक केंद्र बन गया।

आर्यभट पहला खगोल-वैज्ञानिक था जिसने 499 ई. में नए अध्ययनों की अपेक्षाकृत अधिक मूलभूत समस्याओं का समाधान निकाला। उसने पाइ का हिसाब 3.1416 और सौर वर्ष का हिसाब 365.3586805 दिन लगाया। दोनों हाल में लगाए गए हिसाबों से इतने निकट हैं कि आश्चर्य होता है। वह मानता था कि पृथ्वी एक ग्रह है, जो अपने अक्ष पर घूमती है, और चंद्रमा पर पृथ्वी का साया पड़ने से ग्रहण लगते हैं। ग्रहणों का यह कारण बहुत विवादजनक था, क्योंकि रूढ़िवादी सिद्धांत के अनुसार एक दैत्य के उस ग्रह के निगल जाने से ग्रहण लगते हैं। इस सिद्धांत का प्रबल प्रतिवाद बाद में भी लल्ल नामक एक खगोल वैज्ञानिक ने किया। आर्यभट तथा उसकी चिंतन पद्धति का अनुसरण करनेवाले लोगों को उनके अन्य समकालीन खगोल-वैज्ञानिकों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक माना जाता है। खगोल-विज्ञान से संबंधित ज्ञान के क्षेत्र में आर्यभट का योगदान अति महत्त्वपूर्ण था और वह वैदिक खगोल-विज्ञान के पूर्ववर्ती सिद्धांतों से बिलकुल हटकर था। इनमें से कुछ मान्यताओं पर बाद में आपत्ति की गई, जैसे ब्रह्मगुप्त द्वारा। लेकिन लगता है, उसके पीछे मंशा रूढ़िवादियों को नाराज न करने की थी।

आर्यभट के एक निकटस्थ समकालीन नराहमिहिर की कृति में खगोल विज्ञान तथा गणित के अध्ययन में जन्मपत्री और ज्योतिष का भी समावेश कर लिया गया। यह ऐसा परिवर्धन था जिस पर आर्यभट शायद आपत्ति करता, क्योंकि वराहमिहिर का ज़ोर खगोल-विज्ञान पर नहीं बल्कि ज्योतिष पर था, और यद्यपि दोनों के बीच स्पष्ट द्विभाजकता शायद आम नहीं रही होगी तथापि इससे तो फर्क पड़ा ही होगा कि ज़ोर किस पर दिया जा रहा था। ज्योतिष ने आर्यभट के सिद्धांतों की तर्कसंगतता को अस्वीकार कर दिया। वराहमिहिर-कृत *पंचसिद्धांतिका*में उन दिनों ज्ञात खगोल-विज्ञान के पांच सिद्धांतों का विवेचन किया गया, जिनमें से दो में हेलनवादी खगोल-विज्ञान की अच्छी जानकारी प्रतिबिंबित हुई है। इन तमाम प्रणालियों का अवगाहन दूसरों से कट कर नहीं किया गया : भारतीय तथा अरब खगोल-वैज्ञानिकों एवं गणितज्ञों के बीच उसी प्रकार अधिकाधिक संवाद चल रहा था जैसा संवाद पूर्ववर्ती काल में

हेलनवादी और भारतीय खगोल-वैज्ञानिकों के बीच चला था। बगदाद खिलाफत के अधीन जिन विद्वत्केंद्रों का उदय हुआ उनमें विशेषत: गणित, खगोल विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र पर भारतीय कृतियों का बहुत आदर था, और सच तो यह है कि बगदाद में बहुत-से भारतीय विद्वान बसे हुए थे। विचारों का आदान-प्रदान इन ज्ञान-प्रणालियों की ख़ास विशेषता था, यद्यपि नए पहलुओं का उद्‌घाटन भारतीय चिंतकों ने किया।

तकनीकी ज्ञान मुख्य रूप से श्रेणियों के पास था, जिनमें कारीगरों के बेटों को वंशानुगत व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया जाता था। इन केंद्रों का विद्या की औपचारिक संस्थाओं से ख़ास लेना-देना नहीं था, लेकिन ऐसा मालूम होता है कि कुछ ख़ास-ख़ास कोटियों के ज्ञान के क्षेत्र में कुछ आदान-प्रदान होता था। गणित के अध्ययन ने दो किस्मों की शिक्षा के बीच सेतु का काम किया होगा, और इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि यह गणित के ज्ञान के प्रसार का बहुत सक्रियतापूर्ण काल था। अरब विद्वानों ने ऐसा उल्लेख किया है कि भारत से प्राप्त गाणितिक ज्ञान यूनानी स्रोतों से प्राप्त इस ज्ञान से अधिक उन्नत था। अंक विद्या का उपयोग कुछ समय से हो रहा-था। बाद में वह अरबी अंक-विद्या के रूप में यूरोपीय संसार में दाखिल किया गया, लेकिन यह विद्या अरबों ने भारत से प्राप्त की थी, जैसा कि उसके नाम हिंदसा से स्पष्ट है। बाद में इन अंकों ने रोमन अंकों का स्थान ले लिया। दशमलव स्थान मूल्य पद्धति का उपयोग भारतीय गणितज्ञ नियमित रूप से कर रहे थे और शून्य का इस्तेमाल करनेवाला प्राचीनतम अभिलेख सातवीं सदी का है, जिससे लगता है कि उसके उपयोग से लोग सुपरिचित थे। जो चीज आगे चलकर बीज गणित के रूप में विकसित हुई उससे भी भारतीयों ने अरबों का परिचय कराया।

चिकित्साशास्त्र में दिलचस्पी से प्रकारांतर से कीमिया (अलकेमी) में भी दिलचस्पी उत्पन्न हुई। ज्ञान के तरह-तरह के प्रायौगिक रूपों के लिए यह जरूरी हो गया। ऐसा ज्ञान न केवल भौतिक तत्वों के अध्ययन के लिए, बल्कि उन तत्वों के अध्ययन के लिए भी आवश्यक हो गया जिनका मन और पदार्थ के तत्वांतरण से संबंधित धार्मिक विश्वासों पर कुछ प्रभाव था। चीनियों ने कीमिया की किंचित् विस्तार से छानबीन की और वह ऐसा क्षेत्र है जिसमें इस विषय से संबंधित भारतीय सूचना काफी मूल्यावान साबित हुई।

बौद्धिक जीवन की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि एक छोर से दूसरे छोर तक, बौद्ध धर्म से लेकर ब्राह्मणीय धर्म के विभिन्न चितंकों के बीच बहुत ऊर्जापूर्ण बहस चल रही थी। कालांतर में ये सारी बहसें सुपरिभाषित दार्शनिक सिद्धांतों पर केंद्रित हो गईं। इनमें से सामान्यत: छह की गिनती षड्-दर्शन के रूप में की जाती है। यद्यपि इनके मूल गुप्त काल से पहले के काल में समाए हुए हैं और ये आगे के काल में भी जारी रहे, तथापि इनकी कतिपय मूलभूत विशेषताओं का प्रतिपादन इसी

काल में किया गया। तर्क पर आधारित न्याय या विश्लेषण का उपयोग बहुधा बौद्ध धर्मशिक्षकों के साथ चलनेवाली बहस में किया जाता था—ख़ास तौर से इसलिए कि उन लोगों को तर्क के अपने उन्नत ज्ञान तथा उपयोग पर गर्व था। वैशेषिक या विशिष्ट विशेषताओं से संबंधित दर्शन के अनुसार ब्रह्मांड असंख्य परमाणुओं से बना हुआ था, लेकिन ये परमाणु आत्मा से भिन्न थे और इसलिए पदार्थ तथा आत्मा के अलग-अलग ब्रह्मांड थे। सांख्य दर्शन तत्वतः नास्तिक था। उसके अनुसार सृष्टि की रचना पचीस सिद्धांतों से हुई। पदार्थ और आत्मा की द्वैतता को स्वीकार किया गया। सांख्य दर्शन इस सिद्धांत का समर्थन करता था कि सद्‌गुण, उत्साह और आलस्य के उचित संतुलन से सहजता की सृष्टि होती है। यह शायद उस काल के चिकित्सा-संबंधी ज्ञान में प्रचलित हास्य के सिद्धांत का प्रभाव था। योग दर्शन का मानना था कि शरीर तथा इंद्रियों पर संपूर्ण नियंत्रण प्राप्त करना अंतिम सत्य के ज्ञान का आरंभ है। योग की उन्नति के लिए शरीर-रचना का ज्ञान आवश्यक था, और इसलिए योग का अभ्यास करने और करानेवालों को चिकित्सा-शास्त्र के संपर्क में रहना पड़ता था। मीमांसा का विकास इस एहसास से हुआ कि ब्राह्मणीय शक्ति के स्रोत वेदों की अवहेलना की जा रही है। इसके समर्थकों ने वेदों के परम विधान होने पर ज़ोर दिया और वेदोत्तर चिंतन की चुनौती का खंडन किया। वेदांत गैर-ब्राह्मणीय सिद्धांतों का खंडन करने में निर्णायक सिद्ध हुआ, विशेषतः बाद की सदियों में, जब उसका अच्छा बोलबाला हो चला। वेदांत ने वेदों के सबकुछ का मूल होने का भी दावा किया और घट-घट में परात्मा के निवास की मान्यता प्रस्तुत की, और कहा कि जीवन का अंतिम ध्येय शरीर के अंत के बाद परमात्मा में आत्मा का विलय है।

दर्शन के ये सिद्धांत एक-दूसरे से स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं हुए थे, क्योंकि उनमें एक-दूसरे के विचारों तथा अन्य सिद्धांतों एवं संप्रदायों पर चर्चा और खंडन-मंडन का समावेश था। किसी भी बहस में अपेक्षित एक तरीका लगभग द्वंद्वात्मक पद्धति का अनुकरण होता था। कोई मान्यता उसके समर्थन में दी गई दलीलों के साथ पेश की जाती थी, जिसके बाद उसका विशद खंडन किया जाता था या पहले उसे नकारनेवाले सिद्धांत की चर्चा की जाती थी और उसके बाद उसका खंडन किया जाता था। अंत में दोनों का मूल्यांकन किया जाता था, यद्यपि सहमति वैकल्पिक था। यह न केवल एक तार्किक पद्धति थी, बल्कि लगता है, दार्शनिक बोधों का रुझान विचारों और बहस के खुलेपन के पक्ष में था—यहां तक कि वैसे प्रसंगों में भी जब इस बहस के कुछ हिस्सों के परिणाम पारस्परिक विरोध, बल्कि शायद अनास्तिकता (एग्नोस्टिसिज्म) के भी रूप में सामने आते थे। स्पष्ट ही दार्शनिक चिंतन उन नई ज्ञान पद्धतियों से स्वतंत्र नहीं था जिन पर बहस चल रही थी। अभी मात्र मीमांसा और वेदान्त ही मुख्य रूप से तत्वचिंतनात्मक (मेटाफिजिकल) दर्शन थे, शेष चार का आनुभविक विश्लेषण से गहरा संबंध बना रहा। न्याय को प्रमुखता कुछ-कुछ इसलिए

मिली कि वह कई बौद्ध दार्शनिक सिद्धांतों के केंद्र में था। न्याय शाखा के दार्शनिकों के बीच बहस सदी-दर-सदी चलती रही। तथापि आधुनिक काल में वेदांत की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया, यहां तक कि उसे प्राकाधुनिक भारत के सर्वप्रमुख दार्शनिक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया गया। अब वेदों का काल इतना पीछे छूट चुका था कि इस धारा के दार्शनिकों के लिए अपनी बात के समर्थन में दैवी मूल का हवाला देना आसान हो गया था। वेदों की दुहाई देने के लिए यह जरूरी नहीं था कि वेदों का पाठ वैदिक ज्ञान से मेल खाए, क्योंकि वह वैधता प्राप्त करने का एक तरीका भी हो सकता था।

जिन नई ज्ञान-पद्धतियों के योगदान के फलस्वरूप इस काल को क्लासिकी काल की छाप मिली वे अपने-आप में स्वतंत्र और निरपेक्ष प्रवृत्तियों का परिणाम नहीं थीं। उनका उदय विभिन्न पूर्व-स्थितियों से हुआ। इनमें सनातनी पंथों तथा असनातनी पंथों के बीच के मुकाबले और दार्शनिक शंकाओं की अभिव्यक्ति का भी समावेश था। उनमें बहुत सावधानी के साथ पर्यवेक्षण करने की शक्ति थी। इसका परिचय दूर्वीक्षण यंत्र की सहायता के बिना खगोल विज्ञान के क्षेत्र में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धांतों की यथार्थता से मिलता है। इस प्रकार के अनेक सिद्धांतों में—जैसे ग्रहणों के कारण के विवेचन में–विद्वानों के बीच तर्कबुद्धि को प्राथमिकता दी जा रही थी, भले ही अन्य लोग मिथकीय कारणों को खारिज करने को तैयार न रहे हों। ज्योतिष का अभ्यास भी कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, क्योंकि ज्ञान के तर्कसंगत आधार का विरोध करनेवालों की ओर से यह प्रत्याशित प्रतिक्रया थी। वैदिक ब्राह्मणीय धर्म की विश्व-दृष्टि का स्थान नए सिद्धांत ले रहे थे, जिनमें से कुछ में बौद्ध तथा अन्य दार्शनिकों से बहस की छाप स्पष्ट थी। सनातनी दृष्टि और असनातनी दृष्टि का अंतर्विरोध धार्मिक विश्वास तक ही सीमित नहीं था, बल्कि ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में व्याप्त था।

खगोल विज्ञान और गणित ने अनिवार्यतः लोगों की दिलचस्पी काल और ब्रह्मांडशास्त्र में जगाई। ब्रह्मांड के संदर्भ में काल को चक्रीय रूप में देखा गया और चक्रीय काल के संबंध में कम-से-कम दो दृष्टियां थीं। दोनों में कल्पना की बहुत ऊंची उड़ानें भरी गई हैं। अधिक सुविदित महायुग का सिद्धांत था और जिसका कम उपयोग किया जाता था वह था मन्वन्तर, यद्यपि कभी-कभी दोनों को आपस में मिला भी दिया जाता था। चक्र को कल्प कहते थे और उसमें 43,20,000 मानव वर्ष होते थे। दूसरे सिद्धांत के अनुसार, एक कालचक्र में चौदह मन्वंतर होते हैं, जिन्हें लंबे अंतराल एक-दूसरे से अलग करते हैं। प्रत्येक मन्वंतर के अंत में सृष्टि की नवरचना होती है, जिस पर मनु या आदि मानव शासन करता है। अभी हम लोग वर्तमान कालचक्र के चौदह में से सातवें मन्वंतर में हैं। इनमें से प्रत्येक 71 + महायुगों में विभाजित है।

दूसरा चक्र सिद्धांत संख्याओं की दृष्टि से अधिक सुलझा हुआ है। उसमें कालचक्र या महायुग चार युगों में विभाजित है। इनमें से भी प्रत्येक एक चक्र है और पहले को छोड़कर शेष के नाम जुए के पांसे की फेंको के नाम पर हैं—कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। इन युगों में क्रमशः 4800, 3600, 2400 और 1200 दिव्य वर्ष हैं, जिन्हें मानव वर्ष में परिवर्तित करने के लिए प्रत्येक को 360 से गुना करना होगा। प्रत्येक अगले युग के वर्ष का ह्रास गाणितिक रीति से होता है और उनकी दीर्घता में कमी आने के साथ ही उनकी गुणवत्ता भी छीजती जाती है। हम लोग इनमें से चौथे, अर्थात् कलियुग में जी रहे हैं, जिसके आरंभ के वर्ष का हिसाब लगाएं तो वह 3102 ई.पू. होगा। यह वह काल है जब विश्व दोषों और दुष्टताओं से भरा हुआ है। इस प्रकार विश्व का अंत अपेक्षाकृत निकट है, यद्यपि उसके आने में अभी सहस्राब्दियों का विलंब है।

कलियुग के उत्तर काल का वर्णन करते हुए कहा गया कि तब धर्मशास्त्रों के सामाजिक नियम तिरोहित हो जाएंगे और निम्न जातियों के लोग ऊंची जातियों के स्थान हड़प लेंगे। इस वर्णन के अनुसार, उस काल में पूरी दुनिया ही उलट जाती है। इन्हीं उलट-फेरों के कारण अप्रत्याशित घटित होता है। चूंकि विश्व आज कलियुग के दौर से गुजर रहा है, इसलिए ये बुराइयां सदी-दर-सदी प्रकट होती रहती हैं। विश्व कल्कि के, अर्थात् विष्णु के दसवें अवतार की प्रतीक्षा कर रहा है। वही धर्म की पुनःस्थापना करेंगे। चक्रीय काल पुनर्जन्म के सिद्धांत के लिए भी एक सुविधाजनक संदर्भ था।

खगोल-विज्ञान तथा गणित में सैद्धांतिक गणनाओं के लिए काल के लंबे दौर की आवश्यकता थी और लंबे दौरों की कल्पना चक्रीय काल की दृष्टि से करना ज़्यादा आसान था। लेकिन काल को केवल इसी रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया। काल के रेखीय रूप का उपयोग अतीत का वर्णन करने या वर्तमान के संदर्भ में ऐतिहासिक दावे करने के लिए किया गया। पुराणों ने उस चीज को महत्व दिया जिसे उन्होंने वीर नायकों की वंशावलियां और अतीत के राजवंश बताया। सूची में शामिल पीढ़ियां, चाहे वे काल्पनिक रही हों या वास्तविक, रेखीय काल के अनुसार थीं। मानव संततियों के पर्याय वंश का अर्थ बांस या बेंत भी है, जिसका हर हिस्सा एक गांठ से उत्पन्न होता है। काल को पीढ़ियों में मापने के लिए इस साम्य का उपयोग बहुत उपयुक्त था। आरंभ में शासन-काल और बाद में संवतों का उपयोग भी रेखीय काल का द्योतक था। इस तरह देखा जा सकता है कि चक्रीय तथा रेखीय दोनों कालों का इस्तेमाल किया जाता था। पहले में कभी-कभी दूसरे का भी समावेश होता था, लेकिन दोनों में से प्रत्येक के ऐतिहासिक तथा सामाजिक प्रयोजन अलग-अलग थे।

सृजनात्मक साहित्य

इस काल का बहुत-सा सृजनात्मक साहित्य आगे के काल में नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा साहित्यिक सिद्धांत के अध्ययन का स्रोत बन गया। नृत्य, नाटक तथा काव्य पर आधारभूत प्रबंध भरत-कृत *नाट्यशास्त्र*को कई विद्वान् इसी काल की रचना मानने के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि इस प्रबंध ने प्रेरणा-स्रोत की भूमिका निभाई। साहित्यालोचन शीघ्र ही ध्वनि और अर्थ, मिज़ाज और प्रभाव के पारस्परिक संबंधों का अवगाहन करने जा रहा था। इनमें से कुछ रस-सिद्धांत के विवेचन के लिए बीज-रूप सिद्ध होनेवाले थे। इस विवेचन में एक दलील यह थी कि सृजनात्मकता की खूबी उसके द्वारा उत्पन्न प्रतिक्रिया से निर्धारित की जा सकती है।

संस्कृत गद्य और पद्य मुख्य रूप से अभिजनों का–दरबारों, अभिजात वर्ग, शहरी धनाढ्यों तथा इस प्रकार के हलकों से जुड़े लोगों का–साहित्य था। कालिदास एक असाधारण कवि और नाटककार था, जिसकी कृतियों ने इस भाषा की प्रतिष्ठा बढ़ाई और जिससे परवर्ती काल के अनेक काव्यात्मक रूप प्रभावित हुए। *मेघदूत*उसका लंबा गीति-काव्य था, जिसमें प्राकृतिक सौंदर्य तथा भावनाओं का मनमोहक संगम है। उसके *अभिज्ञान-शाकुंतल* को साहित्यालोचक संस्कृत नाटक का उत्कृष्ट नमूना मानते हैं। संस्कृत साहित्यिक सिद्धांत में और आगे चलकर पूरे यूरोप में उस पर व्यापक चर्चा हुई। जर्मन रूमानी आंदोलन पर भी उसका प्रभाव पड़ा। कालिदास के बाद संस्कृत में सृजनात्मक साहित्य की रचना का उद्दाम विस्फोट हुआ। भारवि-कृत *किरातार्जुनियम्*, माघ-कृत *शिशुपालवध* और *भट्टीकाव्य* आदि तथा कुछ आगे चलकर भवभूति-कृत *मालती-माधव* इसके चंद उदाहरण हैं। ये *रामायण*तथा *महाभारत*के विषयों तथा प्रसिद्ध आख्यानों पर आधारित थे। इनका निरूपण दरबारी शैली में किया गया और ये अनेक प्रकार की साहित्यिक विशेषताओं से विभूषित थीं। अपेक्षाकृत अधिक शृंगारिक काव्य भर्तृहरि और अमरू के थे। नाटक मुख्य रूप से रूमानी और सुखांत बने रहे। दुखांत विषयों को दूर रखा गया, क्योंकि रंगमंच का उद्देश्य मनोरंजन था। शूद्रक-कृत *मृच्छकटिकम्*में शहरी जीवन की झांकी मिलती है। विशाखदत्त ने अतीत की राजनीतिक घटनाओं को अपने नाटक का विषय बनाया। उसका *मुद्राराक्षस*मौर्यों द्वारा नंदों के सिंहासनाच्युत किए जाने की कहानी कहता है और *देवी-चंद्रगुप्त*द्वितीय चंद्रगुप्त द्वारा सत्ता प्राप्त करने की गाथा सुनाता है। इन दोनों में दरबारी साजिशों के तत्व हैं, लेकिन दोनों एक-दूसरे से महत्वपूर्ण दृष्टियों से भिन्न हैं, जिससे बदलते ऐतिहासिक संदर्भों के प्रति नाटककार की संवेदनशीलता का परिचय मिलता है।

एक राजकुमार को दुनियादारी की शिक्षा देने के लिए लिखी गई पंचतंत्र कथाओं का विभिन्न पाठांतरों में संवर्धन किया गया और अनुवादों के जरिए वे पश्चिमी दुनिया में पहुंचीं। सुबंधु-कृत स्वप्न-*वासवदत्ता*अपनी साहित्यिक खूबियों के कारण विख्यात

है। बाण-कृत *हर्षचरित*को जीवन-चरित और संस्कृत गद्य दोनों के नमूने के तौर पर उद्धृत किया गया। कल्पना की ऊंची उड़ान पर आधारित आख्यान उसकी कादंबरी का कथानक इतना उलझा हुआ है कि पाठक कथा का सूत्र ही भूल जाता है। भामह के लेखन में साहित्यालोचन अपने स्थान पर भली भांति प्रतिष्ठित हो गया। साहित्यिक विधाओं में इस गहन सृजनात्मकता की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसका मुख्य सरोकार धार्मिक विचारों की प्रस्तुति नहीं है–जैसा कि कुछ आधुनिक विचारक मानते हैं–बल्कि वह है मानवीय व्यवहार पर विचार करना, भले ही उसका संबंध समाज के एक छोटे हिस्से से ही रहा हो। ऐतिहासिक संदर्भ मुख्य रूप से राजदरबारों का है, यद्यपि कुछ विद्वान यह कहना चाहेंगे कि राजदरबार तो मात्र एक प्रतीक है।

क्लासिकी संस्कृत राज-काज की भाषा के रूप में लोकप्रिय हुई। कारण यह था कि वह राजदरबार और अभिलेखों की भाषा के रूप में सामने आई। इसलिए वह कर्मकांडी संस्कृत से, जिसे पूर्व काल में वैयाकरणों की मान्यता प्राप्त थी, भिन्न थी। लेकिन संस्कृत की प्रधानता गुप्त काल से आरंभ हुई और लगभग दूसरी सहस्राब्दी ई. के पूर्वार्ध तक जारी रही, जिसके बाद क्षेत्रीय भाषाओं का व्यापक उपयोग होने लगा। तुर्कों और मुगलों के काल में दरबार की भाषा फ़ारसी थी। संस्कृत की प्रधानता राजनीतिक और सांस्कृतिक थी और उसे अभिजन वर्ग का संरक्षण प्राप्त था। लेकिन स्थानीय भाषाओं और संस्कृतियों का त्याग नहीं कर दिया गया। विभिन्न संदर्भों में प्राकृत के उपयोग में उनकी झांकी मिलती है। इसका प्रमाण अभिलेखों के अंशों में, धार्मिक संप्रदायों की भाषाओं आदि में मिलता है। *नाट्यशास्त्र*में कई भाषाओं तथा बोलियों की सूची दी गई है, और ध्यातव्य है कि उसमें निम्न जातियों तथा चंडालों की बोलियों को शामिल नहीं किया गया है। ये लोग चूंकि ऊपरी जातियों के लोगों की सेवा में रहते थे इसलिए कुछ-न-कुछ द्विभाषिकता रही ही होगी। कहा गया है कि ऊपरी जातियों को प्राकृत से परहेज करना चाहिए, क्योंकि यह म्लेच्छों और जनसाधारण की भाषा है। उच्च संस्कृति और लोक संस्कृति के भेद को धीरे-धीरे दोनों के लिए अलग-अलग शब्द अपनाकर मान्यता प्रदान की गई। उच्च संस्कृति को मार्ग कहा गया और लोक संस्कृति को देशी। संस्कृत विद्वत्परंपरा की भी भाषा बन गई और, निस्संदेह, ब्राह्मणों तथा बौद्ध विहारों को दिए गए संरक्षण से इसे प्रोत्साहन मिला।

संस्कृत के अतिरिक्त, प्राकृत भाषा (जिसका संस्कृत की अपेक्षा लोकवाणी से अधिक संबंध था) के साहित्य को भी दरबारी हलके से बाहर संरक्षण प्राप्त था। जैन पाठों के प्राकृत साहित्य की शैली अधिक उपदेशात्मक थी। विमलसूरि-कृत *पौमचरियम्*रामकथा का जैन रूपांतर है। वह न केवल वाल्मीकि से भिन्न विचार प्रस्तुत करने की दृष्टि से उल्लेखनीय है, बल्कि लोक-साहित्य के रूप में महाकाव्य के प्रयोजन पर पुनः ज़ोर देने की दृष्टि से भी ध्यान देने योग्य है। इस काल के संस्कृत

नाटकों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ऊपरी दर्जे के चरित्र संस्कृत बोलते हैं, लेकिन निम्न या अनिश्चित दर्जे के चरित्र तथा सभी स्त्रियां प्राकृत बोलती हैं। दर्जे और लिंग का संबंध भाषा से भी था।

स्थापत्य, कला और संरक्षण

इस काल के मंदिर-स्थापत्य के कुछ थोड़े-से छोटे-छोटे नमूने ही अवशिष्ट हैं। मंदिरों के भग्नावस्था में होने का गढ़ा-गढ़ाया उत्तर यह है कि पांच सदी बाद मुसलमानों में से मूर्तिभंजक लोगों ने उन्हें नष्ट कर दिया। लेकिन गुप्त काल के मंदिरों की ओर उनका ध्यान गया होगा, ऐसा संभावित नहीं दिखाई देता। स्थापत्य अब भी विकास की अवस्था में ही था। मंदिर को एक धर्मस्थान होने के अलावा राजनीतिक सत्ता की अभिव्यक्ति या संपत्ति के धारक के रूप में अभी नहीं देखा जाता था और इसलिए वह हमले का प्रमुख लक्ष्य नहीं था। चट्टानें काटकर बनाई गई बौद्ध गुफाएं-ख़ास तौर से अजंता और एलोरा की गुफाएं-कलात्मक तथा सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से सर्वाधिक विस्मयकारी उपलब्धियां हैं। ये बाद के काल के एलोरा, एलिफेंटा तथा औरंगाबाद के वैष्णव एवं शैव गुफा-मंदिरों के लिए प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुईं। ये मंदिर सत्ता की अभिव्यक्ति की अपेक्षा धार्मिक आस्था की अभिव्यक्ति थे और इसीलिए इन पर मूर्तिभंजकों की गाज नहीं गिरी।

कुछ नए बौद्ध स्तूप बनवाए गए, जैसे सिंध में; कुछ का जीर्णोद्धार किया गया, जैसे सारनाथ के स्तूप का। उड़ीसा में इस क्षेत्र में चलनेवाली गतिविधियों के फलस्वरूप बौद्ध स्तूपों और विहारों का निर्माण जारी रहा। इनमें सबसे अधिक प्रभावोत्पादक ललितगढ़, रत्नागिरि और उदयगिरि में किए गए निर्माण थे। स्पष्ट है कि ये राजाओं और व्यापारियों के संरक्षण के परिणाम थे। अजन्ता तथा एलोरा के बौद्ध विहार और चैत्य एक दर्रे और एक पहाड़ी क्षेत्र में चट्टानें काटकर बनाए गए। अजन्ता की गुफाओं को मूर्तिकला से सजाया गया, और कुछ में भित्ति-चित्र बनाए गए, जिनमें बुद्ध के जीवन, जातक-कथाओं तथा अन्य आख्यानों को चित्रित किया गया। प्रभाव की दृष्टि से ये चित्र समकालीन जीवन के दर्शन कराते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों के लोग दीवारों से बाहर की ओर कदम रखते-से लगते हैं। इन भित्ति चित्रों की यथार्थता दैनिक जीवन की जद्दो-जेहद को साकार कर देती है और मनुष्य की अवस्था को भी प्रतिबिंबित करती है। तथापि इन चित्रों की शैली लालित्यपूर्ण और साथ ही सौंदर्यबोध को तुष्ट करनेवाली है।

साहित्य में चित्रकारी का उल्लेख बार-बार हुआ है और एक उपलब्धि के रूप में उसका व्यापक सम्मान था। इन गुफा-मंदिरों से निसृत सौंदर्य के समक्ष प्रारंभिक शैव तथा वैष्णव मंदिर फीके पड़ जाते हैं। इस काल की सर्वाधिक कलात्मक उपलब्धियां बौद्ध कला तथा उसे प्रदत्त संरक्षण की देन हैं। अजंता चित्रकला की

उत्कृष्टतम शैलीगत विशेषता का प्रतीक है, और यद्यपि हो सकता है कि राजनीतिक दृष्टि से वह वाकाटक-गुप्त प्रभाव के अधीन रही हो, तथापि वह उस बौद्ध कला का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी जड़ें प्रायद्वीप में समाई हुई थीं।

सबसे प्रारंभिक मंदिर एक-कक्षीय होते थे और उस कक्ष में प्रतिमा प्रतिष्ठित रहती थी। इसका एक उदाहरण सांची का मंदिर है। ऐहोल, तिगोवा, भूमरा, नाचना, कोठारा, लाध खान और देवगढ़ के शुरुआती मंदिर इसी प्रकार के थे। कभी-कभी मंदिर का ठिकाना पहले से मौजूद कोई पवित्र स्थान होता था। उदाहरण के लिए, ऐहोल मंदिर के इर्द-गिर्द महापाषाण कब्रें थीं। प्रायद्वीप में अर्धवृत्ताकार योजना और साएदार पथवाले शेजरला और टेर के आरंभिक मंदिरों के बारे में समझा जाता है कि बौद्ध चैत्यों को मंदिरों का रूप दे दिया गया था। नव-विकासशील धर्म पहले से मौजूद पवित्र स्थानों का उपयोग करते थे, यह बात सुविदित है, और वह किसी ठिकाने के क्रमिक रूपांतरण अथवा जब्रन् किए गए परिवर्तन का परिणाम हो सकता था। जब मंदिरों के अनुरक्षण के लिए भूमि-दान मिलने लगे, तो वे मंदिरों के वित्तीय संसाधन के प्रमुख स्रोत बन गए। ऐसे मंदिरों में सामान्यतः विष्णु, शिव, पार्वती, दुर्गा, वराह आदि पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा होती थी। देवगढ़ का दशावतार मंदिर विष्णु के अवतारों को समर्पित सबसे प्रारंभिक मंदिरों में से है।

शैव तथा वैष्णव मंदिरों के भवन का निर्माण गर्भ-गृह के चारों ओर किया जाता था। छोटे मंदिरों में एक अलिंद से होकर गर्भ-गृह में प्रवेश किया जाता था। इसलिए प्रतिमा और उसे प्रतिष्ठित करने के स्थान के बीच एक प्रकार का पारस्परिक संबंध है। मंदिर के विस्तार का तक़ाजा था कि गर्भ-गृह में एक ड्योढ़ी से होकर प्रवेश किया जाए और उधर उस ड्योढ़ी में एक बड़े कक्ष से होकर प्रवेश किया जाता था, जो अलिंद में खुलता था। यह निर्माण एक घिरे हुए अहाते में किया जाता था, और बाद में उस अहाते में भी कई-कई प्रतिमा-कक्ष बनाए जाने लगे।

बौद्धों ने दकन में चट्टानों को काटकर चैत्य बनाना जारी रखा, और वैष्णवों, शैवों तथा जैनों ने बाद की सदियों में उनका अनुकरण किया। वे अपने मंदिर बहुधा बौद्ध गुफाओं के निकट ही बनाते थे। जो मंदिर चट्टानें काटकर नहीं बल्कि खुले आसमान के नीचे बनाए जाते थे वे सामान्यतः पत्थरों के बने होते थे (यद्यपि भितरगांव में इस प्रारंभिक काल का ईंटों का भी एक मंदिर है) और पत्थर अधिकाधिक भव्य और सुदृढ़ रूप ग्रहण करती शैली के मंदिरों के निर्माण का मुख्य उपादान बन गए। खुले आसमान के नीचे मंदिर बनवाने को प्राथमिकता कुछ तो इस कारण से दी गई कि जहां-जहां मंदिर बनवाना होता था वहां हमेशा पहाड़ी क्षेत्र सुलभ नहीं होता था और होता था तो चट्टानें ऐसी नहीं होती थीं जिन्हें आसानी से काटा जा सकता, लेकिन उसका कुछ कारण यह भी था कि चट्टानें काटकर बनवाए गए मंदिरों का विस्तार नहीं किया जा सकता था। धीरे-धीरे मुख्य प्रतिमा के इर्द-गिर्द बहुत-सी

अनुचर प्रतिमाओं को भी स्थान दिया जाने लगा, जिसके फलस्वरूप बाद की शैलियों में भरपूर मूर्तिकलात्मक अलंकरण का समावेश हुआ।

उच्च सौंदर्य-शास्त्रीय संवेदनशीलता को प्रतिबिंबित करनेवाली क्लासिकी मूर्तिकला ख़ास तौर से सारनाथ, मथुरा, कुशीनगर और बोध गया की बुद्ध की मूर्तियों में देखी जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि इससे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण वैष्णव
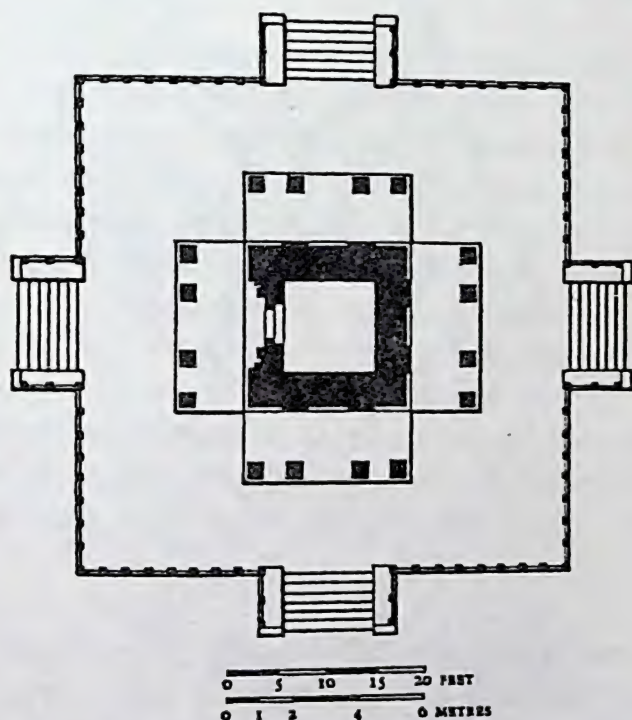
4. देवगढ़ में विष्णु मन्दिर की योजना

तथा शैव देवी-देवताओं की प्रभावोत्पादक प्रतिमाओं के निर्माण की प्रेरणा मिली। ये प्रतिमाएं प्रतिरूपण से अधिक प्रतीक ही हुआ करती थीं। उदाहरण के लिए, यद्यपि देवी-देवता मानवाकृतिक होते थे, तथापि उन्हें चार, आठ या उससे भी अधिक भुजाओं से युक्त किया जा सकता था, जिनमें से प्रत्येक उस देवी या देवता की किसी-न-किसी विशेषता के प्रतीक को धारण किए होती थी। वैष्णव प्रतिमाएं या तो देवी-देवताओं की होती थीं या विष्णु के अवतारों की, जिससे उनकी संख्या
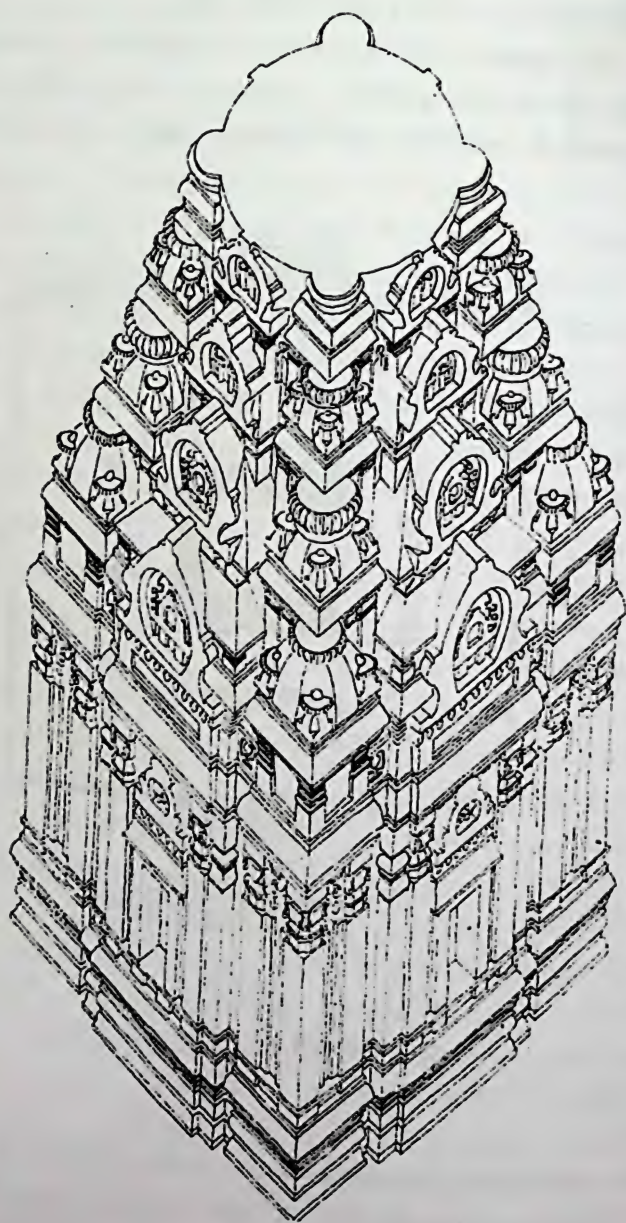
5. नागर शैली मन्दिर : उत्थापन

काफी बढ़ जाती थी और मूर्तिकला के लिए उतनी ही अधिक गुंजाइश हो जाती थी। शिव को बहुधा लिंग के रूप में प्रतरूपित किया जाता था। इससे मूर्तिकला प्रतिरूपण की गुंजाइश सीमित हो जाती थी। इसका अपवाद सिर्फ मुखलिंग थे, जिनमें लिंग में ही मुखाकृति या यहां तक कि शरीर भी तराश दिया जाता था। वैसे अन्य मानवीय रूप भी शैव प्रतिमाओं में विकसित हो रहे थे। प्रतिमा निर्माण पौराणिक धर्म की विशेषता था, और यह वैदिक ब्राह्मण धर्म से, जिसमें प्रतिमा-पूजा के लिए कोई स्थान नहीं था, भिन्न स्थिति का द्योतक था।

प्रतिमाएं बनाने का एक लोकप्रिय उपादान टेराकोटा या पक्की मिट्टी थी। प्रस्तर प्रतिमाओं को धनाढ्यों के संरक्षण की अपेक्षा थी, लेकिन पक्की मिट्टी की आकृतियां इतिहास के पूरे दौर में आम लोगों को सुलभ रहीं। अब उन्हें लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति के रूप में गंभीरता से देखा जा रहा है। देवी-देवता और मानवाकृतियां दोनों बनाए जाते थे। कुछ आकृतियों से प्रकट होता है कि उनके निर्माता अपने मिट्टी-रूपी माध्यम के तकनीकी उपयोग में कितने सिद्धहस्त थे। पक्की मिट्टी की आकृतियां ख़ास तौर से गंगा के मैदान और पूर्वी भारत में बड़ी संख्या में मिली हैं। बहुत-सी आकृतियां सांचों में बनी हुई हैं और इसलिए उनका निर्माण बड़े पैमाने पर हुआ। कुछ आकृतियों का उपयोग कर्मकांडों में किया जाता था, लेकिन अधिकतर सामान्य किस्म की थीं और खिलौने के रूप में या सजावट के लिए इस्तेमाल की जाती थीं। कुछ बड़ी आकृतियां देवी-देवताओं की प्रतिमाएं थीं। इनमें गंगा और यमुना, इन दो नदी देवियों की आकृतियां विशेष रूप से आकर्षक थीं।

धार्मिक सिद्धांत

इस काल के आते-आते भारतीय उपमहाद्वीप में धर्मों की एक श्रृंखला कायम हो चुकी थी। सैद्धांतिक दृष्टि से बौद्ध धर्म वैदिक ब्राह्मण धर्म का प्रतिद्वंद्वी था, लेकिन प्रतिद्वंद्विता बहुधा प्रकट होती थी शैव संप्रदाय के साथ। परंतु पूजा के विधि-विधानों और धर्माचरण में बौद्ध धर्म पर अन्य धर्मों का प्रभाव अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा था। बौद्ध धर्म के अनुयायी भारत की सीमाओं के बाहर मध्य एशिया, चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया में थे। उन क्षेत्रों में प्रचलित धार्मिक आचार-व्यवहारों को वहां के नव-स्थापित बौद्ध धर्म में स्थान दिया गया। इसके लिए कभी-कभी मूल शिक्षाओं को नए रूप मे सूत्रबद्ध करना पड़ता था।

जैन धर्म को पश्चिमी भारत के व्यापारिक समुदाय का और कर्नाटक तथा दक्षिण में स्थानीय राज-परिवारों का संरक्षण प्राप्त होने लगा। छठी सदी के पूर्वार्ध में वलमी में द्वितीय जैन परिषद आयोजित की गई, जिसमें जैन धर्म-शिक्षा को वह रूप दिया गया जो आज देखने को मिलता है। संस्कृत का उपयोग बढ़ रहा था, क्योंकि अब वह कई क्षेत्रों में अभिजनों की प्रतिष्ठासूचक भाषा थी। लेकिन इसका उपयोग

करनेवाले धर्मों पर इसका वही असर हुआ जो अन्य मामलों में हुआ : धर्म-शिक्षक अपने आम अनुयायियों की भारी संख्या से कट गए। जैनों ने उपास्य प्रतिमाओं की एक शृंखला विकसित कर ली थी। महावीर तथा अन्य गुरुओं की किंचित् तन कर खड़ी आकृतियां या पालथी लगाकर बैठी आकृतियां जैन धर्मगुरुओं के चित्रण की शैली बन गईं।

सहस्राब्दी के मध्य में अनेक क्षेत्रों से ऐसी कई उपासनाएं उभर आईं जो, लगता है, अब तक दबी हुई थीं। इनका केंद्र देवियों की पूजा थी, और इनका संबध उर्वरता की कल्पनाओं से था। ये देवियां कई कर्मकांडों की जननी बन गईं। ये कर्मकांड जादुई तत्वों से प्रेरित होते थे, और इनके बाद के रूप तंत्र संप्रदाय के आधार सिद्ध हुए। ये तमाम देवियां अंततः एक सर्वग्राही देवी में समाहित हो गईं। इस देवी को कर्म की प्रवर्तिका और शिव की शक्ति कहा गया। ऐसी मान्यता सामने आई कि पुरुष को नारी के संयोग से ही सक्रिय किया जा सकता है। इन विचारों के प्रभाव का प्रमाण योगिनियों को समर्पित मंदिर हैं। योगिनियां जादुई शक्ति से संपन्न और कभी-कभी देवियों से संबद्ध मानी जाती थीं। इनके जो मंदिर अवशिष्ट हैं और जिनमें से अधिकांश मध्य भारत में हैं वे कुछ बाद के काल के बने हुए हैं। उनकी योजना वृत्ताकार है। वृत्ताकार दीवारों पर विभिन्न योगिनियों की मूर्तियां बनी हुई हैं और ऊपर कोई छत नहीं है। देवी की पूजा से संबंधित कुछ मिथकों को एक पाठ के अंतर्गत संकलित किया गया, जो *देवीमहात्म्य* के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

शक्ति उपासना या शाक्त मत न केवल अनेक धार्मिक संप्रदायों का अंतर्निहित विश्वास बन गया, बल्कि धीरे-धीरे उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। देवताओं की पत्नियां स्वतंत्र रूप से पूजी जाने लगीं, जैसे विष्णु की पत्नी लक्ष्मी और शिव की पत्नी के पार्वती, काली, दुर्गा आदि विभिन्न रूप। इस उपासना का स्रोत देवी की पूजा थी, जो शायद हड़प्पा काल से ही लगातार भारतीय धर्म की एक प्रमुख विशेषता बनी रही। चूंकि उसका दमन नहीं किया जा सका इसलिए पुरोहितों ने उसका अनुमोदन किया और लोक-विश्वास तथा कर्मकांड में उसे शामिल कर लिया। सदियों के दौर तक चलनेवाली देवी पूजा कुछ सामाजिक स्तरों पर समाज में स्त्रियों की परवशता का प्रति-संतुलन भी था।

तांत्रिक विश्वास और कर्मकांड बौद्ध धर्म को भी प्रभावित करनेवाले थे। बौद्ध धर्म की एक नई धारा फूटनेवाली थी। यह था वज्रयान, जिसका केंद्र पूर्वी भारत में था। वज्रयानी बौद्धों ने तत्कालीन बौद्ध देव-समूह को नारी प्रतिमूर्तियां प्रदान कीं। ये प्रतिमूर्तियां तारा कहलाती थीं और उद्धारिकाएं मानी जाती थीं। ये नेपाल और तिब्बत में विशेष रूप से लोकप्रिय थीं। उपमहाद्वीपीय पैमाने पर देखें तो सातवीं सदी के आस-पास कुछ क्षेत्रों में बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ। हुआन सांग को बोध गया, सारनाथ तथा कुछ अन्य स्थानों में यह ह्रास दृष्टिगोचर हुआ। उसने शशांक जैसे कुछ राजाओं

का उल्लेख इस धर्म के शत्रुओं के रूप में भी किया। हर्ष इस धर्म का बहुत बड़ा संरक्षक था, जिससे लगता है कि अब भी बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या काफी बड़ी थी, लेकिन हर्ष इस धर्म के प्रतिद्वंद्वी शैव संप्रदाय का भी संरक्षक था। यदि विहारों तथा स्मारकों को सूचक माना जाए तो पूर्वी भारत में यह धर्म उठान पर था।

वैष्णव तथा शैव संप्रदायों के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं ने, जिनके मूल इस काल में हुए परिवर्तनों में समाए हुए थे, एक ऐसे धार्मिक लोकाचार का सूत्रपात किया जो बौद्ध या वैदिक ब्राह्मण धर्म के लोकाचार से भिन्न था। प्रतिमा पूजा केंद्र के रूप में उभरकर सामने आई और प्रतिमा पूजा ने वैदिक यज्ञ को अपदस्थ कर दिया। तथापि प्रतिमा को बहुधा भोजन के रूप में और कभी-कभी पशु-बलि के रूप में चढ़ावा अर्पित करना कर्मकांड की एक अपेक्षा बना रहा। कुछ विद्वान यह कहना चाहेंगे कि पूजा का सर्वाधिक साम्य बौद्ध धर्म के कर्मकांड से था। वैदिक ब्राह्मण धर्म की तुलना में पुरोहित की भूमिका पर ज़ोर में कमी आने के फलस्वरूप धीरे-धीरे भक्ति पौराणिक धर्म का सबसे व्यापक रूप बन गई। किसी देवी-देवता की पूजा व्यक्ति का निजी सरोकार बन गई, क्योंकि भक्ति के बल पर ही व्यक्ति जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्ति प्राप्त कर सकता था। वैदिक धर्म के सुपरिभाषित कर्मकांड थे और वह ऊंची जातियों के लोगों तक सीमित था। पौराणिक धर्म का आकर्षण बहुत व्यापक हलकों तक पहुंचता था। वह लोगों के लिए अधिक स्वीकार्य इसलिए था कि उसमें बहुत कम निवेश अपेक्षित था—हैसियत के मुताबिक कम या ज़्यादा दान देना, व्रत-उपवास रखना, सामूहिक तीर्थयात्रा करना और स्थानीय मिथकों में विश्वास रखना, इतना काफी था। यह धर्म में व्यक्ति की भागीदारी और संप्रदाय की संसक्ति का मर्म था। इस धर्म की सदस्यता जरूरी तौर पर जन्म पर नहीं बल्कि आस्था पर आधारित थी, यद्यपि उसमें भी एक हद तक वर्जना थी।

अपनी पसंद के देवी-देवता के साथ व्यक्ति के संबंध पर पौराणिक धर्म का ज़ोर देना एक हद तक कुल या जाति की अपेक्षा व्यक्ति पर ज़ोर देनेवाले असनातनी धर्मों से साम्य का द्योतक है। देखा जा सकता है कि यद्यपि औपचारिक बौद्ध धर्म गुप्तोत्तर काल में ह्रासोन्मुख था, तथापि वह श्रमणीय विरासत के हिस्से के रूप में पौराणिक संप्रदायों पर एक छाप छोड़ रहा था। श्रमणीय धर्मों में व्यक्ति का महत्व एक अर्थ में आम था, क्योंकि इन धर्मों के ऐतिहासिक मूल नगरवाद में समाए हुए थे। इसी प्रकार का लेकिन इससे कहीं अधिक जटिल परिवर्तन ईसवी सन् की आरंभिक सदियों के दौरान हुआ था, जब सर्वग्राही राज्य का स्थान छोटे-छोटे असुरक्षित राज्यों ने ले लिया था। वैष्णव तथा शैव संप्रदायों ने तरह-तरह की उपासनाओं एवं देवी-देवताओं का समाहार करते हुए भी व्यक्ति-केंद्रित उपासना के रूप में भक्ति की भावना को मजबूत किया।

कुछ पुराण इस काल में लिखे गए, यद्यपि उनकी तिथियों का ठीक-ठीक

निर्देश करना कठिन है। वे एक तरह से सांप्रदायिक प्रचार-पुस्तिकाएं हैं, जिनमें उपासक को उस देवी या देवता से संबंधित मिथकों, पूजा के विधि-विधानों तथा आचारों की सूचना दी गई है जिसके बारे में पुराण-विशेष लिखा गया है। पौराणिक धर्म के पाठों के रूप में वे स्वभावत: उन लोगों के-श्रमणीय धर्मों के अनुयायियों के—आलोचक थे जिन्हें वे असनातनी मानते थे, हालांकि कुछ नए संप्रदाय श्रमणों के संगठन और रणनीति का अनुकरण कर रहे थे। कुछ स्तरों पर पुराण मौखिक परंपरा के जरिए संप्रदायों के धर्मों के प्रचार के प्रयत्न थे। उनका पाठ नियमित रूप से उन लोगों के लिए किया जाता था जो पढ़ नहीं सकते थे। निस्संदेह, पाठ के बाद भी बहुत-से श्रोताओं को बात समझानी पड़ती होगी।

जहां पुराण अतीत के धरोहरदार होने का दावा करते थे वहां वे विश्व की सृष्टि से आरंभ करते थे और उस चीज का वर्णन करते चले जाते थे जिसे वे ऐतिहासिक अतीत बताते थे। उस ऐतिहासिक अतीत में प्राचीन क्षत्रिय वंश और बाद के राजवंश शामिल थे। राजवंशों के क्रम का वर्णन भविष्यवाणी के रूप में किया जाता था, ताकि पाठ की शक्ति की अभिवृद्धि हो। सूची गुप्त राजवंश के साथ समाप्त हो जाती थी, जो इस बात का द्योतक था कि उसका संकलन उसी काल में किया गया। *विष्णुपुराण* में एक विभाग अतीत की वंशावलियों तथा राजवंशों पर है, जिसका शीर्षक *वंशानुचरित* है। इसके अतीत का प्रलेख होने का दावा किया गया है, किंतु उसका कोई भी अंश इतिहास के रूप में स्वीकार्य नहीं है। वह ऐतिहासिक परंपरा की सृष्टि का प्रयत्न था। अतीत को एक विशिष्ट रंग-रूप में देखा गया, जो मुख्य रूप से आविष्कृत था, लेकिन साथ ही जिसमें स्मृति पर आधारित इतिहास के कुछ तत्व भी यत्र-तत्र बिखरे पड़े थे। मगर मनगढ़ंत होने पर भी अतीत को याद करने के इस तरीके में रेखीय काल की स्वीकृति समाहित है, जो इसे इतिहास का आभास देती है। सूर्य और चंद्रवंशों का ढांचा और राजवंशों का विवरण उन लोगों को सुलभ था जो इनमें से किसी से जुड़ने को इच्छुक थे। इस सूचना को किसी धर्मग्रंथ में सहेजने से इसे वैधता प्राप्त हुई और साथ ही इसकी जानकारी भी सुनिश्चित हुई।

इस प्रकार जो बातें अतीत की लोक-स्मृतियों के रूप में आरंभ हुईं उन्हें भविष्यवाणी के रूप में संशोधित और पुनर्लिखित किया गया और वे अतीत की ब्राह्मणीय व्याख्या बन गईं। अपने-अपने संरक्षकों को अमरत्व प्रदान करनेवाले सूतों को निम्न जाति का दर्जा दे दिया गया और उनकी मौखिक परंपरा को अन्य प्रयोजनों की सिद्धि के लिए नए रूप में प्रस्तुत किया गया। इनमें से एक प्रयोजन यह था कि नवोदित राजवंशों को ब्राह्मणों ने क्षत्रिय का दर्जा प्रदान किया। । यह काम प्राचीन काल के वीर नायकों से उनका संबंध दिखलाकर किया गया, जिसके लिए कहा गया कि वे प्राचीन, सुप्रतिष्ठित क्षत्रियों के वंशज हैं। इसलिए शीघ्र ही राजवंशों ने खुद को सूर्यवंशी या चंद्रवंशी बताना शुरू कर दिया। अब पुराणों के लेखकों को नए राजवंशों

को क्षत्रियों के रूप में वैधता प्रदान करने की शक्ति प्राप्त हो गई, चाहे संबंधित राजवंश का मूल जो भी रहा हो। जो लोग यह कार्य करते थे उन्हें खूब पुरस्कृत किया गया। अतीत का उपयोग इस प्रकार से एक राजनीतिक प्रयोजन से करने का रिवाज, चाहे वह अतीत यथार्थ हो या नहीं, बहुत-से समाजों में है। इसका प्रयोजन वैसा ही था जैसा राजाओं के जीवन-चरित लिखने का था, और बाद के काल में राजाओं के इतिवृत्त लिखने के चलन से भी इसका साम्य था।।

पौराणिक धर्म ऐसा था कि उसमें नए देवी-देवताओं, मिथकों या कर्मकांडों का समाहार आसानी से हो सकता था। जब सीमांत समाजों को जाति-आधारित समाज में खपाया जा रहा था उस दौर में ऐसा समाहार विशेष रूप से उपयोगी था। उनके आराध्यों को पौराणिक धर्म में उचित स्थान देने से उनकी स्थिति में यह परिवर्तन सुगम हुआ। इस काल में न केवल गण-संघों का उच्छेद हुआ, बल्कि वनवासी तथा अन्य सीमांत समाजों को जातीय समाज में शामिल करने का सिलसिला भी ज़ोरों से चला। अब वनांचल अज्ञात-अनियंत्रित क्षेत्र के प्रतीक नहीं रह गए, बल्कि उन्हें रूमानी दृष्टि से देखा जाने लगा। पहले तो उनमें संन्यासियों के आश्रम स्थापित किए गए और बाद में साफ करके खेती-बारी के लिए किसानों को बसाया गया। यह दूसरी प्रक्रिया शायद अधिक स्पष्ट रूप में सामने आई, क्योंकि कुछ क्षेत्रों में खेती की ज़मीन पर दवाव बढ़ता जा रहा था। *हर्षचरित* में शबरों के एक गांव का लंबा वर्णन मिलता है। ये लोग मुख्य रूप से वनवासी थे, लेकिन अब किसानों का जीवन जी रहे थे।

पूर्वकाल के सामाजिक आचार-व्यवहारों को अब पवित्र कानून माना जा रहा थ और जिन लोगों को जातीय समाज में शरीक होने की अनुमति नहीं थी उनकी वर्जना के कठोर नियम बना दिए गए थे। सौभाग्य की बात यह थी कि उन नियमों को, जो मुख्य रूप से सैद्धांतिक थे, लागू करना लोगों को कठिन लगता था। कुछ ने जीवन के चार उद्देश्यों को परिभाषित करने का प्रयत्न किया। ये थे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। माना गया कि इनमें से प्रथम तीन के बीच सही संतुलन होने से चौथे की प्राप्ति होती है। इस संतुलन को परिभाषित करने का काम उन लोगों पर छोड़ दिया गया जो सामाजिक आचार की संहिता की रचना करते थे, लेकिन व्यवहारतः लौकिक जीवन की अपेक्षाओं का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था।

भारत और एशिया

भारतीय जीवन पद्धति को भारत से बाहर पहुंचाने में धर्म को वाणिज्य-व्यापार से सहायता मिली। इसमें बौद्ध धर्म ने एशिया के विभिन्न भागों में भारतीय संस्कृति का समावेश करके पहलकदमी की। बौद्ध धर्म को मध्य एशिया में समर्थन प्राप्त हुआ। वहां के नखलिस्तानों में स्थानीय राजाओं तथा व्यापारियों से बौद्ध विहारों को अनुदान प्राप्त हुए। ये नखलिस्तान व्यापार के केंद्र बन गए थे। अफगानिस्तान और भारत के

बीच सांस्कृतिक निकटता कायम रही—ख़ास तौर से हड्डा और बामियान के एक समय के भव्य ठिकानों में। भारतीय लिपियों और भारतीय भाषाओं के उपयोग के अपनाए जाने से भारतीय व्यापारियों को मदद मिली होगी। साक्षरता के साथ-साथ इन लिपियों तथा भाषाओं के लिए मार्ग खुल गया होगा। भारतीय लोग मध्य एशिया में बसने लगे। उन्हींमें कुमारजीव था। यह बौद्ध दार्शनिक चौथी सदी ई. में कुचा में निवास करता था, जहां उसके पिता ने एक रुतबेदार स्थानीय परिवार में विवाह किया था। इधर बौद्ध धर्म में तिब्बतियों की रुचि राजा स्त्रोंग-साम-गंपो ने जगाई, जो सातवीं सदी ई. में राज करता था। उसने राजपद की आधारशिला को दृढ़ करने के लिए बौद्ध धर्म का उपयोग। ऐसी परिस्थिति में किया जब वहां के शक्तिशाली कुल केंद्रीय शासन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। बौद्ध धर्म ने उसे तिब्बत से बाहर की दुनिया से संपर्क करने का भी अवसर प्रदान किया।

भारतीय बौद्ध अपने धर्म-संदेश लेकर और भी दूर देश चीन पहुंचे। 379 ई. तक बौद्ध धर्म चीन का स्वीकृत धर्म बन चुका था। उसे राज्य का भी संरक्षण प्राप्त था, जिससे उसके अनुयायियों की संख्या तेजी से बढ़ी। लेकिन उसे कठिनाइयों के दौरों से भी गुजरना पड़ा, क्योंकि परवर्ती सदियों में बौद्धों पर अत्याचार किए गए। चीनी बौद्ध भिक्षु मूल बौद्ध धर्म-शैक्षिक ग्रंथों की प्रतियां हासिल करना चाहते थे। फा-हियान, सुंग युन, हुआन सांग और आगे चलकर यी त्सिंग या यीजिंग, इन सबने भारत की तीर्थयात्रा की और यहां काम किया। इनमें से तीन पूर्ववर्ती भिक्षु मध्य एशिया के रास्ते वहां की कठिन प्राकृतिक स्थितियों और खतरों को झेलकर भारत पहुंचे थे। उनके वर्णनों के आधार पर देखें तो चंद नखलिस्तानों को छोड़कर यह अब भी एक दुर्गम भूभाग था। अब चीनी संस्कृति में भारतीय तत्वों का समावेश आरंभ हुआ। सबसे स्पष्ट चीन के बौद्ध विहारों की मूर्तिकला और चित्रकारी में भारतीय तकनीकों का इस्तेमाल था। विविधता तथा सौंदर्य की अभिव्यक्ति की दृष्टि से सबसे उल्लेखनीय दुन हुआंग के चित्र हैं। यह चीनी चित्रकला का मानो एक संग्रहालय ही है। मीरान, कुचा तथा तुरफान जैसे विहारों के अन्य ठिकानों में भी तरह-तरह के भित्ति-चित्र देखने को मिलते हैं। पारस्परिक आदान-प्रदान से खगोल-विद्या, कीमिया और आयुर्विज्ञान के ज्ञान का भंडार समृद्ध हुआ। भारतीय समुद्री व्यापार के दक्षिण चीन में फैलने से चीन-भारत संपर्क की वृद्धि हुई। तांग काल (618-907 ई.) में भारतीय व्यापारी कैंटन में निवास करते थे, और सातवीं सदी के तांग सिक्के दक्षिण भारत में मिले हैं। बौद्ध धर्म प्रचारक चीन से जापान पहुंचे।

मध्य एशिया के व्यापार का फैलाव पूर्वी भूमध्य सागर क्षेत्र तक हुआ। इस तरह इस व्यापार में पश्चिम एशिया की शिरकत हुई। अरब प्रायद्वीप इथियोपिया-बैजंतिया व्यापार से जुड़ा हुआ था। इस व्यापार में अरब ऊंटों के काफिले परिवहन का काम करते थे। इस व्यापार से प्राप्त संपत्ति तथा इसके संबंध में चलनेवाली गतिविधियों का

इसलाम के उदय से करीबी रिश्ता है।

पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र के साथ व्यापार की मांगों ने भारतीय उद्यमियों को दक्षिण-पूर्व एशिया में अपनी गति-विधियां तेज करने के लिए प्रोत्साहित किया था, क्योंकि वहां से उन्हें बहुत-सा आवश्यक माल—जैसे मसाले और कीमती पत्थर–प्राप्त होता था। दक्षिण-पूर्व एशिया में मौजूद संभावनाओं का पता लग जाने पर भारत के बौद्ध तथा हिंदू दोनों धर्मों के अनुयायी व्यापारियों ने संबंधों को विकसित किया। व्यापार के फलस्वरूप वे लोग वहां बस गए और तत्पश्चात् स्थानीय लोगों के साथ उनका तरह-तरह का आदान-प्रदान चलने लगा। स्थानीय जीवन-पद्धति में भारतीय संस्कृति के तत्वों का समावेश हुआ–ख़ास तौर से उन क्षेत्रों में जिन्हें आज थाईलैंड, कंबोडिया और जावा कहा जाता है।

दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय गतिविधियों का जिक्र करनेवाले उस काल के ऐतिहासिक विवरणों में फुनान (मेकांग डेल्टा) का उल्लेख ऐसी गतिविधियों के प्रथम क्षेत्र के रूप में किया गया है। छोटी-छोटी बस्तियां मलय प्रायद्वीप में भी बसाई गईं, क्योंकि उसका संबंध भारत के पूर्वी तट के समुद्री व्यापार के केंद्रों से था। ताम्रलिप्ति तथा अमरावती से जहाज म्यानमार, मर्तबान और इंडोनेशिया पहुंचते थे। दक्षिण भारत के बंदरगाहों के जहाज तेनासरीम, त्रांग तथा मलक्का और जावा के जलडमरूमध्यों को जाते थे। पश्चिमी तट के बंदरगाह भी इस व्यापार में भाग लेने लगे।

विदेशों से भारत का संबंध अलग-अलग किस्मों का था, जो इस बात पर निर्भर था कि इस उपमहाद्वीप का कौन-सा क्षेत्र उसका स्रोत था और मेजबान समाज के साथ उसका संबंध किस प्रकार का था। प्रक्रिया शयद वैसी ही थी जैसी कि उपमहाद्वीप की मुख्य धारा के साथ संपर्क होने से सीमांत समाजों में आने वाले बदलावों में दिखाई देती है। तथापि चूंकि विदेशों के समाजों में जाति-व्यवस्था के अधिकांश तत्व अनुपस्थित थे इसलिए उन समाजों का अपना मूल रूप बहुत हद तक कायम रहा। संस्कृत ने अभिजन संस्कृतियों की भाषाओं को प्रभावित किया, जिसका कारण शायद यह था कि वह भारतीय पदाधिकारियों द्वारा दाखिल किए गए कर्मकांड की भाषा थी। कुछ उत्कृष्ट संस्कृत अभिलेख इन्हीं क्षेत्रों की देन हैं। भारतीय संस्कृति से जुड़े भौगोलिक स्थान-नाम उन लोगों द्वारा अपनाए गए। उदाहरणार्थ, थाईलैंड की प्राचीन राजधानी का नाम रामायण के राम की राजधानी अयोध्या के अनुकरण पर अयुतिया रखा गया। यह भारतीय महाकाव्यों की लोकप्रियता के अनेक उदाहरणों में से सिर्फ एक है। भारतीय देव-प्रतिमाओं के तत्वों का समावेश स्थानीय प्रतिमाओं में हुआ। बौद्ध तथा पौराणिक धर्मों को मिश्रित कर देनेवाली विशिष्ट शैली दक्षिण-पूर्व एशियाई ठिकानों की एक मुखर विशेषता है, जो आगे चलकर अपने सर्वाधिक रचनात्मक रूपों में कंबोडिया में अंकोरवाट तथा बायन में और जावा में बोरोबुदुर के

सोपानबद्ध स्तूप एवं प्राम्बनम मंदिर में विकसित हुई।

तथापि इन समाजों ने अपनी मूल संस्कृति के बहुत-से तत्वों को कायम रखा। भारतीय प्रभाव को इस दृष्टि से देखना चाहिए कि यहां की कतिपय उन्नत प्रौद्योगिकियां उन क्षेत्रों में पहुंचीं और वहां के अभिजनों ने नई पद्धतियों को अपनाया। भारतीय व्यापारियों की उपस्थिति से भी परिवर्तन में सहायता मिली। उन्होंने वहां विनिमय अर्थव्यवस्था दाखिल की, जिससे उन्हें लाभ हुआ और जिसकी बदौलत उनके लिए सत्ता के विभिन्न स्तरों पर शिरकत करना संभव हुआ। तथापि इस काल के दक्षिण-पूर्व एशिया को 'बृहत्तर भारत' कहना शब्दों का दुरुपयोग है। स्थानीय संस्कृति जीवन के सभी पहलुओं में स्पष्ट दिखाई देती थी। *रामायण* के जावाई रूप में भारतीय कथा का ढांचा-मात्र कायम रखा गया, बाकी सब जावाई आख्यानों का समाहार था। कंबोडिया के खामेर राजाओं की देव-राजा की अवधारणा एक प्राक्-भारतीय स्रोत से ली गई थी, यद्यपि बाद के एक काल में भारतीय अवधारणाएं भी शामिल कर ली गईं।

सातवीं और आठवीं सदी ई. के आसपास जब दक्षिण-पूर्व एशिया में बौद्ध धर्म की उपस्थिति दिखाई देती है, लगभग तभी तिब्बत में इस धर्म को अपनाया गया। दोनों क्षेत्रों में इतने अधिक स्थानीय संशोधन किए गए कि दक्षिण-पूर्व एशियाई बौद्ध धर्म तिब्बती बौद्ध धर्म से स्पष्ट रूप से भिन्न दिखता था। दरबारी हलकों में भारतीय या चीनी तत्वों का अनुकरण साफ-साफ देखा जा सकता था—ख़ास तौर से चीन से निकट के क्षेत्रों में, परंतु इन देशों के शेष समाज ने कतिपय आयातित रीति-रिवाजों के समाहार के बावजूद अपनी पहचान कायम रखी।

सांस्कृतिक संस्कृति की सृष्टि का तात्पर्य मात्र संस्कृत भाषा के व्यापक उपयोग से कुछ अधिक है। उसका अर्थ है एक नई व्यवस्था के वैधीकरण के लिए उठाए गए आरंभिक कदम। भूस्वामी मध्यवर्ती वर्ग की संस्कृति और समाज, क्षत्रिय और नए धार्मिक संप्रदाय उस व्यवस्था के तत्व हैं। परंतु इन सबसे आगे के क्षितिज पर नए ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अन्वेषणों तथा रचनात्मक साहित्य का संसार भी था। अन्वेषणों के फलस्वरूप भारतीय ज्ञान उस चीज से जुड़ गया जो तेजी से ज्ञान के एशियाई आदान-प्रदान का रूप लेकर विकसित हो रही थी और रचनात्मक साहित्य एशिया के कई हिस्सों में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा था।

यह संक्रांति काल है। इसकी गठरी में पिछले काल की बहुत-सी चीजें हैं, लेकिन साथ ही इसके पास नया भी बहुत-कुछ है, जो आगे के काल में अधिक स्पष्ट रूप ग्रहण करनेवाला है। मौखिक परंपराओं को पाठों का रूप दिया गया और ऐसा करते हुए उनमें बहुत-से क्षेपक जोड़ दिए गए। इनमें निहित रूप से ऊपरी जातियों की दृष्टि पर ज़ोर देने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। यह प्रवृत्ति उस वर्ग की

प्रभावकारिता और शक्ति की अभिवृद्धि करती थी। ब्राह्मणों को भूमिदान देना, जिसमें गुप्तोत्तर काल में वृद्धि हुई, समाज में उनकी प्रमुखता पर ज़ोर देना था। अपने को वैदिक ब्राह्मण धर्म के उत्तराधिकारी बताकर ब्राह्मणों ने अपनी इस स्थिति को मजबूत किया। इसमें असनातनियों और वैदिक ब्राह्मण धर्म का विरोध करनेवालों को हाशिए पर धकेल देने की प्रवृत्ति थी। तथापि पौराणिक संप्रदायों की स्थापना के साथ सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में एक और आयाम जुड़ गया। यह वैदिक ब्राह्मण धर्म और श्रमणीय धर्मों दोनों से भिन्न था।

दरबारों की उच्च संस्कृति और लोक संस्कृति का विभेद और भी स्पष्ट हुआ। इस प्रकार के विभेदों के कारण सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अलग-अलग क्षेत्र उत्पन्न हो गए और एक के तत्वों के दूसरे में समावेश के लिए भरपूर सामाजिक परिवर्तन आवश्यक हो गए। इसलिए इस काल की संस्कृति को बेहतर ढंग से तभी समझा जा सकता है जब हम न केवल उन चीजों की ओर ध्यान दें जिनका बोलबाला कायम हो गया बल्कि उनकी ओर भी दृष्टिपात करें जो हाशिए पर चली गईं। प्राचीन भारत के ऐतिहासिक स्रोतों की अपनी सीमाएं हैं, क्योंकि वे मुख्य रूप से अभिजन समूहों की कृतियां हैं। इस कारण से दरबारी संस्कृति और लोक-संस्कृति के बीच चलनेवाले संवाद की प्रक्रिया का अनुमान भर लगाया जा सकता है लेकिन यह प्रक्रिया वर्चस्वी संस्कृति की सृष्टि के लिए आवश्यक थी। जिन लोगों की पहचान लोक-संस्कृतिवाली थी वे अन्य भाषाएं बोलते थे; उनकी स्त्रियां पितृसत्तात्मक अभिजन समूहों की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र थीं; उनके कर्मकांड और रीति-रिवाज अलग थे। यदि अभिजन वर्ग वर्णगत सोपानीकरण को अपरिवर्तनीय रूप में प्रस्तुत करते थे तो ऐसी शंका करना स्वाभाविक होगा कि उसका पालन उतने व्यापक रूप से नहीं किया जाता होगा। अधिकांश लोगों के लिए जातिगत सोपानीकरण शायद अधिक यथार्थ था। यदि अज्ञात सामाजिक मूल के परिवार राजा होने की आकांक्षा रखते थे तो उनकी वंशावलियां गढ़नी पड़ती थी। सूतों द्वारा प्रस्तुत सामग्री का सहारा लेकर ब्राह्मण यह वैधता प्रदान कर सकते थे। संस्कृत का प्रसार एक नई व्यवस्था को वैध बना रहा था।

इस प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण माध्यम दरबार, राजा तथा अन्य पदाधिकारियों के आदेशों के रूप में दूर-दूर के क्षेत्रों में अभिलेख जारी करना और उनका पालन किया जाना था। अब अभिलेख एक प्रमुख ऐतिहासिक स्रोत के रूप में सामने आ रहे हैं, जिनमें भूमि-दान के संदर्भ में सामाजिक तथा आर्थिक सूचना एवं व्यापार, प्रशासनिक व्यवस्थाओं, धार्मिक अनुदानों आदि के विषय में बहुमूल्य जानकारी संचित है। वे स्रोतों के रूप में अधिकाधिक परिमाण में पाठों की बराबरी पर आ रहे हैं।

राजनीतिक दृष्टि से यह वह काल था जब राजतंत्र ने गण-संघों तथा वनवासी कबीलों पर विजय प्राप्त की। पहले क्षत्रियेतर मूलों के राजाओं को क्षत्रिय का दर्जा

हासिल करने की फिक्र नहीं रहती थी, लेकिन गुप्तोत्तर काल से राजतंत्र के लिए ऐसा करना सामान्य रीति बन गया। क्षत्रियों का नयापन कई अर्थों में स्पष्ट था, क्योंकि क्षत्रिय की परिभाषा के लिए शैली की स्थापना उन्होंने ही की। अपने मूल को पूर्ववर्ती क्षत्रियों से जोड़ने के लिए ब्राह्मणों की सहायता उनके लिए आवश्यक थी और इस सहायता को न केवल महत्व दिया जाता बल्कि पुरस्कृत भी किया जाता था।

इस काल में राजपद के साथ जो विचारधारा जुड़ी हुई थी उसमें सफल सैनिक अभियानों तथा अनेक राजाओं पर अधिकार रखने का अत्यधिक महत्व था। क्या यह राजा के दिग्विजयी या चक्रवर्ती होने की वैदिक अवधारणा की पुनस्स्थापना था, या कि इसमें पश्चिमोत्तर के पूर्ववर्ती राजाओं द्वारा स्थापित पद्धति प्रतिध्वनित हो रही थी? फिर, किसी देवता के साथ राजा का तादात्म्य स्थापित करना भी शायद वैदिक स्रोतों एवं राजपद के संबंध में कुषाणों की दृष्टि इन दोनों के प्रभाव का परिणाम रहा हो। वैदिक चक्रवर्ती को बौद्धों ने त्याग दिया था। उनकी परिभाषा के अनुसार चक्रवर्ती वह था जो सैन्य विजय नहीं बल्कि धर्म–चक्र को गतिमान करके धर्म–विजय प्राप्त करता था। मौर्योत्तर काल में बौद्ध साहित्य में अशोक को चक्रवर्ती कहा जा रहा था, और वह निश्चय ही गुप्त राजाओं का आदर्श नहीं था। जिन गुप्त राजाओं ने परम भट्टारक विरुद धारण किया वे वैष्णव थे और उन्होंने धर्म का रक्षक होने का दावा किया। यह धर्म बौद्धों या जैनों का धर्म नहीं, बल्कि वर्णाश्रम धर्म था।

सत्ता को प्रतिष्ठित करने के लिए अभिकरणों के उपयोग के क्षेत्र में इस काल की नई खोज राजपद के वैधकर्ताओं को भूमि दान देकर पुरस्कृत करने की प्रवृत्ति में निहित थी। अनुदत्त भूमि किसानों की उस तरह की बस्तियां नहीं थीं जिसकी हिमायत *अर्थशास्त्र*में की गई थी। नई बस्तियां ऐसे नाभिकेंद्रों का काम करनेवाली थीं जहां से राजा के प्रति समर्थन का सिलसिला फैलता चला जाए। इन बस्तियों में जातिगत दर्जे को फैलाने की सहज क्षमता विद्यमान थी। यह चीज भी नियंत्रण का एक साधन सिद्ध हुई। नई बसाई बस्तियों में अभिजनों को वर्णगत और शेष को जातिगत दर्जे दिए गए।

क्या इसका अर्थ वैदिक ब्राह्मण धर्म का पुनरुज्जीवन या पुनर्जागरण है या कि वह जिसे पौराणिक धर्म कहा गया उसे वैदिक ब्राह्मण धर्म द्वारा दी गई रियायतें हैं? राजत्व की विचारधारा में वैदिक ब्राह्मण धर्म के कर्मकांडों को प्रोत्साहन दिया गया और भूमिदान उसे जीवित रखने में सहायक सिद्ध हुए, यद्यपि अंततः उसे पौराणिक हिंदू धर्म के लिए जगह खाली करनी पड़ी। परंतु वैष्णव तथा शैव पूजा के पुरोहितों के रूप में ब्राह्मणों को कई रियायतें देनी पड़ीं, जैसे ब्राह्मणों को मंदिरों में पुजारी बनने की छूट दी गई, यद्यपि उन्हें वैदिक कर्मकांड के विशेषज्ञों से नीचे का दर्जा दिया गया। यज्ञ कर्मकांड के संपादन में एक प्रकार का आकर्षण था। यज्ञों को भले ही अब पूर्ण रूप से फलदायी न माना जाता रहा हो, लेकिन उनसे सरदारों को राजाओं में

बदलने की शक्ति निसृत होती थी। जो बात अधिक स्पष्ट थी वह यह कि राजा अब महाकाव्यों तथा प्राचीन वीर नायकों की परंपरा के बिंबों का सहारा लेते थे और उनकी प्रशस्तियों में *महाभारत* के वीर नायकों की प्रशस्तियों की अनुगूंज सुनाई देती थी। क्या पौराणिक धर्म के संरक्षकों के रूप में गुप्त राजा पौराणिक हिंदू धर्म में वैदिक ब्राह्मण धर्म के कुछ कर्मकांडों का समावेश इस उद्‌देश्य से कर रहे थे कि वे वैधता के एकाधिक स्रोतों का उपयोग कर सकें?

लेकिन शायद और भी कारण रहे होंगे। जिन राजवंशों के मूल अज्ञात होते हैं वे बहुधा ऐसे संप्रदायों के संरक्षक बनकर वैधता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं जो प्रमुखता की स्थिति में भले ही न हों लेकिन संभावनाओं से युक्त हैं। पौराणिक हिंदू धर्म तथा वैदिक ब्राह्मण धर्म के संरक्षक बनकर ये राजा बौद्ध धर्म को संरक्षण देनेवाले राजाओं से भिन्न वैधता प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे। यदि अशोक को आदर्श बौद्ध चक्रवर्ती माना जाए तो समुद्र गुप्त के बारे में कहा जा सकता है कि वह चक्रवर्ती के ब्राह्मणीय रूप के निकट था। इसी दृष्टिकोण से दान में दिए गए भू-क्षेत्र पौराणिक धर्मों के ऐसे सीमावर्ती क्षेत्र बन गए जिनसे क्षत्रिय दर्जे का दावा करनेवाले अनेक अज्ञात-मूल राजवंशों के लिए समर्थन के ताने-बाने तैयार हुए।

अध्याय : दस

प्रायद्वीप के उदीयमान क्षेत्रीय राज्य

लगभग 500-900 ई.

पल्लव, चौलुक्य और राष्ट्रकूट

उत्तर भारतीय परिदृश्य से गुप्तों और उनके उत्तराधिकारियों के तिरोहित होने के साथ ऐतिहासिक दिलचस्पी का रुख दक्षिण की ओर मुड़ जाता है और उसके केंद्र दकन तथा वे प्रदेश बन जाते हैं जिन्हें तमिलहम कहा जाता था। इस काल की अधिक महत्वपूर्ण घटनाएं विंध्य से दक्षिण ऐसे क्षेत्रों में घटित होती हैं जो विशुद्ध रूप से राजनीतिक नहीं हैं। दक्षिण भारत की संस्थाएं इसी काल में स्थापित हो रही थीं और आगे उनका अद्भुत सातत्य कायम रहनेवाला था। पूर्ववर्ती काल के सरदारतंत्रों और छोटे राज्यों की राज्य-व्यवस्था का स्थान बड़े-बड़े राज्यों ने ले लिया। उत्तर भारत में हुए परिवर्तनों से उसका कुछ साम्य था, लेकिन साथ ही दोनों में महत्वपूर्ण अंतर भी थे। प्रायद्वीप के दरबारों में स्थानीय संस्कृतियों पर रखे जा रहे आग्रह तथा विस्तारमान सांस्कृतिक संस्कृति के बीच पारस्परिक अभिमुखता दिखाई देती थी। यह प्रक्रिया विभिन्न क्षेत्रों में देखी जा सकती है, लेकिन शायद सबसे अधिक स्पष्ट रूप में अभिलेखों की भाषा में। पूर्ववर्ती अभिलेखों की भाषा तमिल थी। बाद में प्राकृत और संस्कृत का भी उपयोग होने लगा। लेकिन दक्षिण में शीघ्र ही तमिल की प्रधानता हो गई, जो तब तक कायम रही जब तक कि ऐसी स्थिति नहीं आ गई कि अभिलेख का मुख्य भाग तमिल में और अपेक्षाकृत अधिक सूत्रबद्ध भाग संस्कृत में लिखे जाने लगे। इसी प्रकार, प्रायद्वीप के अन्य भागों के अभिलेखों में संस्कृत तथा कन्नड का उपयोग किया जाता था। कुछ दृष्टियों से इसी की समानांतर थी वैदिक ब्राह्मण धर्म और तमिल भक्ति आंदोलन की पारस्परिक अभिमुखता। पश्चिमी दकन के राज्यों ने उत्तर और दक्षिण के बीच सेतु का काम करने की अपनी भूमिका जारी रखी और दोनों के बीच विचारों के आदान-प्रदान का मार्ग प्रशस्त रखा।

परंतु स्थापत्य के इतिहास से स्पष्ट है कि यह कोई निष्क्रिय भूमिका नहीं थी, जिसका प्रमाण स्थापत्य की दकनी शैली या वेसरा है, जिसके फलस्वरूप नागर या उत्तरी और द्राविड़ या दक्षिणी शैलियों में कई विशिष्ट और अलग-अलग रूप सामने आए।

दकन तथा उससे और भी दक्षिण के राजनीतिक इतिहास का केंद्र दो क्षेत्रों के बीच दीर्घ काल तक चलनेवाला संघर्ष था। उनमें से एक था पश्चिमी दकन और तमिलहम, अर्थात् सागर-तटों के समानांतर पहाड़ों से आवेष्ठित विस्तृत पठारी क्षेत्र और दूसरा था चेन्नै से दक्षिण पड़नेवाला उपजाऊ मैदान। इस क्षेत्र की अधिकांश नदियां पश्चिम से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। प्रायद्वीप के पश्चिम के पठारी राज्यों तथा पूरब के तटवर्ती राज्यों इन दो भागों में विभाजित होने के कारण दोनों में प्रत्येक की संपूर्ण जलमार्ग, विशेषत: गोदावरी और कृष्णा नदियों पर नियंत्रण स्थापित करने की आकांक्षा बढ़ती गई। गोदावरी तथा कृष्णा के डेल्टों के बीच बसा वेंगी और साथ ही उससे अंदर की ओर पड़नेवाले उपजाऊ रायचूर दोआव को लेकर आए दिन झगड़े होते रहते थे। यह संघर्ष जितना राजनीतिक था उतना ही आर्थिक भी और फलत: ख़ास-ख़ास राजवंशों की भाग्यश्री में समय-समय पर चाहे जो उतार-चढ़ाव आते रहे हों, यह संघर्ष जारी ही रहा। जो चीज राज्यों के उतार-चढ़ाव की जटिल आंख-मिचौनी जैसी लगती है वह तब उतनी जटिल नहीं लगती जब हम उसे भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। डेल्टा क्षेत्र मुख्य कृषि-भूमि थे और पूर्वी तट, जहां अब तक बौद्ध केंद्रों की भरमार हो चुकी थी, विस्तृत व्यापारिक तंत्रों में बहुत सक्रिय था। उपजाऊ मैदानों के विस्तृत क्षेत्रों की अनुपस्थिति में, कृषि पर आधारित बड़े राज्य यहां की राज्यव्यवस्थाओं के रूप में कम कारगर थे, और इसलिए छोटे और क्षेत्रीय राज्यों की संरचना प्रारंभ में ही यहां की एक सातत्यपूर्ण विशेपता वन गई। इस प्रकार इस प्रायद्वीप के राज्य उत्तर भारत की अपेक्षा पहले से ही क्षेत्रीय वफादारियों की ओर अभिमुख हो गए।

पश्चिमी दकन में वाकाटकों के पतन के बाद वातापी या वादामी के चालुक्यों की शक्ति का उदय हुआ। पूर्वी दकन से दक्षिण की ओर राज्यों की एक पूरी श्रृंखला थी। इनमें से एक पर शांकलायनों और बाद में चालुक्यों का शासन था। कृष्णा-गुंटुर क्षेत्र पर इक्ष्वाकु राज करते थे, जिनके मुख्य केंद्र नागार्जुनकोंड और धरणीकोट थे। उनके निकट ही विष्णुकुंडियों का राज्य था। कर्नाटक कदंबों, नोलंबों और गंगों के राज्यों में विभाजित था। यहां भी पहाड़ियों तथा वनों में बसे लोगों की मैदानों के निवासियों से ज़ोर-आजमाई चलती रहती थी। ग्रेनाइट चट्टानोंवाली छोटी-छोटी पहाड़ियां दुर्गों के लिए उपयोगी आधारों का काम करती थीं। कदंबों का नियंत्रण कोंकण तक फैला हुआ था और पूर्वी गंग उड़ीसा में राज करते थे। पूर्वी दकन की सीमा पर पड़नेवाले अन्य राजवंश शरबपुरिया और पांडुवंशी थे। कुछ राजवंशों की स्थापना ब्राह्मणों ने की थी। ये वे ब्राह्मण थे जिन्हें भूमिदान प्राप्त हुए थे और

जिन्होंने दान की भूमि को ही आधार बनाकर छोटे-मोटे राज्य कायम कर लिए थे। इसीलिए यह दावा किया गया है कि ये ब्रह्म-क्षत्र जाति के थे। अर्थात् ये क्षत्रियों के कार्य करनेवाले ब्राह्मण थे या ये ब्राह्मण और क्षत्रिय के मिश्रित मूल का भी दावा कर सकते थे।

उससे दक्षिण की ओर तमिलहम में अपने-अपने राज्यों में चेरों, चोलों और पांड्यों के नियंत्रण को कलभ्रों के उदय से प्रबल आघात लगा। कलभ्रों के मूल अज्ञात हैं। यह अज्ञात मूल से किसी राजवंश के उदय का एक और उदाहरण है। वस्तुतः इस उपमहाद्वीप में ऐसा एक सिलसिला-सा चल पड़ा था। कहते हैं, कलभ्र लोग पहाड़ी जनजाति के थे, लेकिन शीघ्र ही उन्होंने इतनी स्थिरता प्राप्त कर ली कि बौद्धों तथा जैनों को संरक्षण प्रदान करने लगे। शायद यही कारण है कि बाद के पाठों में उनकी बहुत निंदा की गई, क्योंकि उनमें से कुछ के रचयिता ब्राह्मण थे। इस परिवर्तन से कुल पर आधारित समाजों के टूटने के सिलसिले को बढ़ावा मिला। इससे अपेक्षाकृत अधिक निर्वैयक्तिक शासन का आरंभ हुआ, जो राजत्व पर आधारित था। पूरब में पल्लवों तथा पांड्यों के और केरल में चेरों या पेरुमालों के राजवंश थे।

छठी सदी के मध्य के बाद 300 वर्षों तक तीन बड़े राज्य आपस में संघर्षरत रहे। ये थे बादामी के चालुक्य, कांचीपुरम् के पल्लव और मदुरै के पांड्य। सभी उपजाऊ क्षेत्रों पर अपना-अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे। चालुक्यों ने सर्वप्रथम कदंबों के अधीनस्थ शासकों के रूप में प्रसिद्धि पाई, लेकिन बाद में वे उनसे स्वतंत्र हो गए। चालुक्यों का केंद्र उत्तरी कर्नाटक में वातापी या बादामी में था और निकटवर्ती ऐहोल ऊपरी गोदावरी में पड़ता था। यहीं से उत्तर की ओर बढ़ते हुए उन्होंने पूर्ववर्ती वाकाटक राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। उन्होंने पश्चिमी तट के कुछ क्षेत्रों को भी अपने राज्य का अंग बना लिया, जिसका कारण शायद यह था कि अब यहां अरब सागर पार से आनेवाले व्यापारियों की गतिविधियां खूब चल रही थीं। उत्तर की शक्ति पर अंकुश लगाते हुए चालुक्य-राज द्वितीय पुलकेशी ने नर्मदा तट पर हर्षवर्धन को परास्त कर दिया। बाद के चालुक्य अभिलेखों में इस घटना का जिक्र बार-बार बहुत गर्व के साथ किया गया। सातवाहन राज्य के पूर्वी हिस्से-कृष्णा और गदोवरी के डेल्टों-को तीसरी सदी ई. में इक्ष्वाकुओं ने जीत लिया था। पल्लवों द्वारा इस क्षेत्र की विजय के साथ इक्ष्वाकु शासन समाप्त हो गया। पल्लवों ने कदंब शासकों को भी परास्त करके उनके राज्य को, जो चालुक्य राज्य के दक्षिण में पड़ता था, अपने राज्य में मिला लिया।

पल्लवों का मूल विवादास्पद है। कुछ साल पहले यह राय जाहिर की गई थी कि पल्लव पहलव (पार्थियाई) का एक अन्य रूप है। इस राय के अनुसार, पल्लव मूलतः पहलव थे, जो दूसरी सदी ई. में शकों तथा सातवाहनों के बीच चलनेवाली लड़ाइयों के दौरान पश्चिमी भारत से पूर्वी तट की ओर खिसक आए

थे। यह संभावित नहीं लगता, क्योंकि पल्लवों या पहलवों के दक्षिण की यात्रा करने का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। एक अन्य परंपरा में इस नाम के गिर्द एक रूमानितय भरी कथा गढ़ी गई है। एक राजकुमार को पाताल-लोक की एक नाग राजकुमारी से प्रेम हो गया। अंत में जव उसे राजकुमारी से विदा लेनी पड़ी तब उसने उससे कहा कि यदि तुम हमारी संतान को उसके शरीर पर एक लता या पल्लव बांधकर धारा में बहा दोगी तो मैं उसे देखकर पहचान लूंगा और अपने राज्य का एक हिस्सा उसे दे दूंगा। राजकुमारी ने वैसा ही किया और बच्चा पहचान लिया गया एवं उसे पल्लव राजवंश के संस्थापक के रूप में सिंहासनासीन कर दिया गया। जिस प्रदेश पर पल्लव शासन करते थे उसका नाम तोंडैनाडु था और इस नाम से पल्लव (पत्ता) शब्द के साथ इस राजवंश के संबंध की और पुष्टि होती है। नाग सरदार स्थानीय शक्ति के प्रतीक थे। इसलिए यह कथा शायद इस संभावना को प्रतिबिंबित करती हो कि प्रारंभिक पल्लव शासन पहले से कायम सरदारतंत्रों पर अपना वर्चस्व स्थापित करके कायम हुआ। यह आख्यान केवल पल्लवों के संदर्भ में ही नहीं आता है। इसी प्रकार की कथा कंबोडिया के खामेर राजाओं के बारे में भी कही जाती है, यद्यपि लगता है कि यह कथा शायद पल्लव आख्यान से ही उधार लिया गया। इस उपमहाद्वीप के राजवंशों के उद्‌भव के मिथकों में दर्जे की अस्पष्टता अकसर देखने को मिलती है। अस्पष्टता को दूर करने के लिए कर्मकांड विशेषज्ञों द्वारा विशेष प्रकार का कर्मकांड करने का विधान था और वंशावलीगत संबंध राजा को ऊंचा दर्जा देने के लिए दरशाए जाते थे। एक अभिलेख में एक परवर्ती राजा के जीवन-चरित का वर्णन करते हुए उसे ब्राह्मण अश्वत्थामा तथा एक अप्सरा का वंशज बताया गया है।

यह भी कहा गया है कि मूल पल्लव राजा अशोकवर्मन् का-शायद मौर्य राजा अशोक-का पूर्वज था। बौद्ध परंपरा के अनुसार, कांचीपुरम के निकट का स्तूप उसी ने बनवाया। अब उसे चक्रवर्ती की बौद्ध कल्पना से भी जोड़ा जा रहा था और वह वहुत समादृत था। पल्लव पूर्वजता से उसका नाता जोड़ने में, लगता है, मन्तव्य बौद्ध परंपरा के इस्तेमाल का था, जो तब भी उस क्षेत्र में विद्यमान थी। एक अन्य अभिलेख में बुद्ध को विष्णु का अवतार कहा गया।

पल्लवों के पूर्वतम अवशिष्ट प्रलेख वे अभिलेख हैं जो तब जारी किए गए जब उनकी हैसियत कांचीपुरम् में शासन करनेवाले मात्र एक स्थानीय राजवंश की थी। परवर्ती अभिलेख तब जारी किए गए जब इस राजवंश का शासन पूरे तमिलनाडु में स्थापित हो चुका था। तब यह उस क्षेत्र का वास्तविक महत्व का प्रथम राजवंश वन गया, जिसके फलस्वरूप पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने उन्हें 'साम्राज्यिक (इंपीरियल) पल्लव' कहा। एक प्रारंभिक पल्लव अभिलेख के अनुसार, पल्लव राजा ने विभिन्न प्रकार के वैदिक यज्ञ किए, जिनमें अश्वमेध भी शामिल था। स्थानीय आबादी के

लिए ये अनुष्ठान अपेक्षाकृत नए थे और इन्हें शायद मुख्य रूप से प्रतीकात्मक माना जाता था, जो सांस्कृतिक संस्कृति में कर्मकांड से जुड़ी शक्ति पर ज़ोर देते थे। उल्लेख है कि इक्ष्वाकु राजाओं ने परती ज़मीन को साफ और आबाद कराने के लिए बैलों से खींचे जानेवाले हल वितरित किए। हो सकता है, प्रारंभिक पल्लवों ने भी ऐसे प्रयत्नों को बढ़ावा दिया हो, क्योंकि कृषि के विस्तार से राजस्व की वृद्धि होना स्वाभाविक था। पल्लव राज्य को संपन्न माना जाता था, और इसलिए उस पर बहुतों की आंख गड़ी रहती थी। पल्लव स्रोतों में अधीनस्थ शासक उदयन और पृथ्वी-व्यग्रह का उल्लेख हुआ है, जिन्हें शबर और निषाद सरदार कहा गया है। वैसे शबर और निषाद शब्द सामान्यत: जाति-आधारित समाज के दायरे से बाहर के वनवासी आखेटक-खाद्य-संग्राहकों और झुम खेती करनेवालों के लिए प्रयुक्त लगभग जातिवाचक संज्ञाएं थे। इससे भी लगता है कि पल्लव राज्य ने वनांचलों को अपने राज्य में मिलाकर उन्हें खेती-वारी के लिए साफ किया या हो सकता है, उसने लकड़ी, हाथी तथा कीमती पत्थरों जैसे वनोत्पादों के लिए उन्हें जीता हो। सरदारों द्वारा सांस्कृतिक नामों का अपनाया जाना उनके सांस्कृतीकरण का द्योतक है।

उत्तर पल्लव राजाओं में पल्लवों की बढ़ती हुई राजनीतिक शक्ति का श्रेय प्रथम महेंद्र-वर्मन् (600-630) को है। उसने प्रारंभिक तमिल संस्कृति के निर्णायक तथा पुरस्कर्ता की भी भूमिका अपना ली। वह चालुक्य-राज द्वितीय पुलकेशी और थानेश्वर के हर्षवर्धन का समकालीन था। हर्ष की तरह वह नाटककार और कवि भी था और *मत्तविलास-प्रहसन*शीर्षक से एक प्रहसन भी लिखा था। राजाओं को साहित्यिक उपलब्धियों से जोड़ना सांस्कृतिक विद्या का एक और पैमाना हो गया, ख़ास तौर से दरबारी संस्कृति के संदर्भ में। चट्टानों को तराशकर बनाए गए कतिपय छोटे किंतु उत्कृष्ट मंदिर उसी के शासन की देन हैं, जिनमें महाबलीपुरम् या माम्मलपुरम् के मंदिर शामिल हैं। कहते हैं, अपने जीवन के आरंभ में महेंद्र-वर्मन् जैन था, किंतु अप्पर ने उसे शैव बना लिया। कहा गया है कि उसके बाद तमिलनाडु में जैन धर्म को प्राप्त संरक्षण में कमी आ गई।

लेकिन महेंद्र-वर्मन् की योग्यताएं प्रहसन लिखने और मंदिर-निर्माण को संरक्षण देने तक ही सीमित नहीं थीं; उसे लड़ाइयां भी लड़नी थीं। उसका उत्तर भारतीय समकालीन हर्ष उससे इतना दूर बैठा था कि उससे उसका संघर्ष होने का प्रश्न ही नहीं था, लेकिन निकट में हाल में स्थापित चालुक्य शक्ति थी और चालुक्य-राज द्वितीय पुलकेशी पल्लवों की महत्वाकांक्षा पर अंकुश लगाने और उन्हें वेंगी पर अपना नियंत्रण स्थापित करने से रोकने को कृतसंकल्प था। दोनों पक्षों की ये महत्वाकांक्षाएं चालुक्य-पल्लव युद्धों की एक दीर्घ शृंखला को जन्म देनेवाली थीं। दोनों राजवंशों की समाप्ति के बाद ही यह संघर्ष बंद हुआ, लेकिन सो भी अल्प अवधि के लिए ही, क्योंकि उनके उत्तराधिकारियों के उदय के बाद वह पुन: आरंभ हो गया। पुलकेशी

की महत्वाकांक्षा पश्चिमी दकन के नियंत्रण से ही नहीं थमी। उसने दक्षिण में कदंबों तथा गंगों को परास्त करके अपनी सैन्य शक्ति का परिचय दिया और उसके बाद उसने उतना ही सफल आक्रमण आंध्र पर किया। उसने नर्मदा तट पर हर्ष की सेना का भी सामना किया, और उसे धूल चटा दी। और आगे बढ़ते हुए उसने पश्चिमी भारत में लाट, मालवा और गुजरात को अधीनता स्वीकार करने को विवश कर दिया। बादामी लौटकर उसने एक और सफल सैनिक अभियान किया। इस बार उसका प्रतिरोधी पल्लव-राज महेंद्र-वर्मन् था। इस अभियान के फलस्वरूप पल्लवों के कुछ उत्तरी प्रदेशों पर पुलकेशी का अधिकार हो गया। उसकी उपलब्धियों को प्रलेखबद्ध करनेवाला ऐहोल का एक अभिलेख एक उत्कृष्ट साहित्यिक दस्तावेज है, जो संग्रहणीय पाठों की श्रेणी में आता है।

परंतु पल्लवों की पराजय प्रतिशोधविहीन रहनेवाली नहीं थी। महेंद्र-वर्मन् की मृत्यु हो चुकी थी, किंतु उसका उत्तराधिकारी प्रथम नरसिंह-वर्मन् अपने खोए हुए प्रदेश पुनः प्राप्त करने को कृतसंकल्प था और अपने इस संकल्प को उसने साकार किया। नरसिंह-वर्मन् ने द्रुत गति से बढ़ते हुए वातापी पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार अपने 'वातापीकोंडा' (वातापी-विजेता) के विरुद के लिए औचित्य प्रस्तुत कर दिया। महाबलीपुरम् को और भी सुंदर मंदिरों से विभूषित किया गया। अगला कदम उठाने की बारी चालुक्यों की थी, किंतु उस राजवंश में बारह वर्षों का व्यवधान पड़ जाने के कारण युद्ध का सिलसिला थम गया। इस बीच पल्लवों को अपने मित्र श्रीलंका के राजा के समर्थन में नौसैनिक युद्ध में उतरना पड़ा। श्रीलंका का राजा हाल में अपना सिंहासन खो बैठा था और वह उसे पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था, जिसमें वह पल्लवों की सहायता से सफल रहा। तमिलनाडु तथा श्रीलंका के बीच आदान-प्रदान का सिलसिला पूर्ववर्ती काल में ही आरंभ हो चुका था, जिसका प्रमाण दोनों की महापाषाण बस्तियों के बीच पाई जानेवाली समानताएं हैं। यह सिलसिला इतिहास के पूरे दौर में जारी रहनेवाला था, और दो निकट-पड़ोसियों के बीच आशा भी इसी की की जाएगी।

चालुक्य एक विखंडित राज्य को एकीकृत करने और अपने अधीनस्थ राजाओं पर अंकुश लगाने का प्रयत्न कर रहे थे। 655 में पुलकेशी का एक पुत्र एकता का एक आभास कायम करने में कामयाब हो गया, और पल्लवों द्वारा छीने गए प्रदेशों पर पुनः अधिकार करके चालुक्यों की शक्ति को क्रमशः पुनः प्रतिष्ठित कर दिया गया। नर्मदा नदी के उत्तर पड़नेवाले चालुक्य प्रदेशों पर मुख्य चालुक्य परिवार का एक कुमार शासन करता था, जिसके वंशज उनके द्वारा शासित प्रदेश लाट के नाम पर लाट चालुक्य कहलाए। वे लोग अब भी वातापी के प्रति निष्ठा रखते थे और किसी प्रकार का कोई कष्ट-क्लेश उत्पन्न नहीं कर रहे थे। चालुक्य राजा अब पल्लवों से निबटने के लिए मुक्त था। उधर पल्लव भी फिर से युद्ध आरंभ करने की तैयारी

कर रहे थे। काफी लंबे समय तक चलनेवाले संघर्ष के बाद पल्लवों ने एक बार फिर वातापी पर अधिकार कर लिया। कांची के निकट प्राप्त एक पल्लव दानपत्र में इस युद्ध का जो सजीव वर्णन किया गया है उसके अनुसार दोनों पक्षों को भारी क्षति उठानी पड़ी। निस्संदेह सामान्यतः ऐसा ही होता था, क्योंकि चालुक्यों और पल्लवों की सेनाएं बराबरी की थीं और जीत आम तौर पर बहुत कम अंतर से हासिल की जाती थी। दोनों एक-दूसरे के प्रदेशों को अपने-अपने राज्य में मिला लेने के बाद उन पर लंबे समय तक काबिज नहीं रह पाते थे। इससे लगता है कि दोनों की सैन्य शक्ति और राजनीतिक सत्ता में एक प्रकार का खतरनाक संतुलन था।

द्वितीय नरसिंह-वर्मन् ने, जिसे बहुधा राजसिंह कहा जाता है, महाबलीपुरम् का सुंदर तटवर्ती मंदिर बनवाया और कांचीपुरम् में उस मंदिर का निर्माण करवाया जिसे आज कैलाशनाथ मंदिर कहते हैं। ये दोनों मंदिर उसकी प्रमुख उपलब्धियों में गिने जाते हैं। कैलाशनाथ मंदिर एक नए मोड़ का सूचक है, क्योंकि कांचीपुरम् अव तक ऐसा धार्मिक केंद्र था जहां बौद्धों का बोलबाला था। बड़े-बड़े सैनिक अभियानों का एक आनुषंगिक परिणाम यह था कि कभी-कभी पराजित राजा के मंदिरों से प्रतिमाओं को उठाकर विजयी राजा विजय-प्रतीक के रूप में अपने यहां ले जाता था। बहुधा राजमिस्त्री, निर्माता और कारीगर भी विजयी राजा द्वारा अपनी राजधानी में मंदिरों के निर्माण के लिए ले जाए जाते थे। इससे कभी-कभी कलात्मक शैलियों का मिश्रण प्रतिफलित होता था।

लेकिन पल्लवों का यह सुख-शांतिपूर्ण दिखाई देनेवाला काल 731 में समाप्त हो गया, जब चालुक्यों तथा गंगों ने मिलकर उन पर आक्रमण कर दिया। सिंहासनारूढ़ राजा की मृत्यु हो गई और चूंकि उसका कोई प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी नहीं था इसलिए मंत्रियों की परिषद ने पुरोहितों के मंडल से परामर्श करके इस परिवार की एक शाखा के एक सदस्य का राजाभिषेक कर दिया। वह द्वितीय नंदि-वर्मन् नाम से शासन करने लगा। बालक राजा को दरबार के भागवत गुट का समर्थन प्राप्त था, यद्यपि पहले दरबार में शैव गुट का बोल-बाला था। चालुक्यों ने कांची पर फिर से कब्जा करके अपना बदला चुका लिया था। अब पल्लवों की बारी थी, लेकिन इसी समय परिस्थिति में बदलाव आया और पल्लवों के दक्षिणी पड़ोसी भी संघर्ष में शामिल हो गए। ये पड़ोसी थे मदुरै के पांड्य, जिनकी पल्लवों के हेतु से कोई सहानुभूति नहीं थी। उनकी शत्रुता उतनी तीव्र नहीं थी जितनी कि चालुक्यों की थी। पांड्यों ने छठी सदी तक दक्षिण तमिलनाडु में अपनी स्थिति मजबूत कर ली थी और आगे कई सदियों तक इस क्षेत्र पर उनका नियंत्रण रहनेवाला था। उनकी प्रभावकारिता अन्य शक्तियों के साथ उनके अच्छे-बुरे संबंधों के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थी। पांड्य अपने उत्तरी पड़ोसी को परेशान तो करते रहे, लेकिन कभी भी उनकी शक्ति का उच्छेद नहीं कर पाए।

पश्चिमी तट पर केरल में कृषि की दृष्टि से समृद्ध विभिन्न क्षेत्रों में ब्राह्मणों की बस्तियां विकसित होती रहीं और ये पेरियार घाटी में मेकोटाई राज्य के लिए समर्थन का एक स्रोत थीं, परंतु केरल की संपत्ति तथा प्रतिष्ठा का बड़ा स्रोत समुद्री व्यापार था। केरल में भी ब्राह्मण देशांतरणकारी विलंब से पहुंचे और उन्हें ऐसी संस्कृतियों से सहयोग करते हुए काम करना पड़ा जिनसे वे पूर्णतः परिचित नहीं थे। स्थानीय लोगों को ब्राह्मण वर्ण में स्थान दिया जाना अनिवार्य था और स्थानीय राज-प्रणालियों के साथ भी सामंजस्य स्थापित करना ही था। मातृवांशिक समाजों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में नंबूदिरी ब्राह्मणों तथा नायर भूस्वामियों के बीच का संबंध उससे भिन्न रूप में सामने आया जो उपमहाद्वीप के अन्य भागों में ब्राह्मणों तथा भूस्वामियों के बीच देखने को मिलता है।

दक्षिण भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों के बीच पूर्ववर्ती संपर्क पल्लवों तथा केरल के पेरुमाल राजवंश के आपसी संबंधों में जारी रहे। प्रेरक तत्व मुख्य रूप से पश्चिम एशिया के साथ व्यापार था। यह ऐसा व्यापार था जिसमें अन्य लोग भी शामिल होना चाहते थे। पूर्वी रोम साम्राज्य के साथ व्यापार का ह्रास हुआ था। लेकिन यूरोप में काली मिर्च और मसालों की मांग जारी रही। उसे अरब व्यापारियों ने चालू रखा था : वे बैजंतिया के बाजारों में ये चीजें पहुंचाते रहे थे। मलाबार और कोंकण तटों पर उन अरबों की बस्तियां थीं जो इस व्यापार के अंग थे। रोम के साथ व्यापार से जुड़े पूर्ववर्ती व्यापारियों के विपरीत, अरब लोग पश्चिम और दक्षिण के तटीय क्षेत्रों में आठवीं और नवीं सदियों के आसपास से स्थायी रूप से बस गए। उनका वहां स्वागत किया गया, उनके व्यापारिक केंद्रों के लिए उन्हें ज़मीनें दी गईं और उन्हें अपने धर्म का आचरण करने के लिए उसी प्रकार पूरी स्वतंत्रता दी गई जिस प्रकार पहले दक्षिण भारत में ईसाइयों को दी गई थी। तथापि उन्हें नवागंतुक नहीं माना जाता था, क्योंकि इसलाम के उदय से पूर्व भी पश्चिमी तट और अरब प्रायद्वीप के बीच व्यापार चलता रहा था। आज के मप्पिल या मलाबारी मुसलमान उन्हीं लोगों की संतान हैं। यही बात नवायतों पर भी लागू होती है, जो कोंकण के जैन व्यापारिक समुदायों के बीच बसे अरबों की संतति हैं।

पश्चिमी तट की अरब बस्तियों के अपेक्षाकृत दिलचस्प पहलुओं में से एक यह है कि प्रत्येक समूह ने स्थानीय समाज के कतिपय प्रथागत कानूनों और यहां तक कि पूजा के कुछ रूपों को भी अपना लिया। इसीलिए गुजरात के खोजों और बोहरों, कोंकण के नवायतों तथा मलबार के मोप्पिलों द्वारा आचरित इसलाम में अंतर दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, मातृवांशिकता और मातृस्थानिकता मोप्पिलों की विशेषताएं थीं, लेकिन अन्यों में ये चीजें देखने को नहीं मिलतीं। मालूम होता है, ये रिवाज स्थानीय नायर रिवाजों से उधार लिए गए, क्योंकि रूढ़ इसलाम के लिए तो वे ग्राह्य नहीं हो सकते। मुख्य रूप से व्यापारी होने के कारण पश्चिमी तट पर

बसे मुसलमान अरबों को राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने या इसलाम का प्रचार करने की कोई फिक्र नहीं थी। इसलिए स्थानीय समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई पैदा नहीं हुई। अरब लेखक भारत में बसे अरबों को *बयासिरा* कहते हैं, जिसका अर्थ दक्षिणी अरब के लोग लगाया जा सकता है।

सातवीं सदी में अरब सेना ने फारस पर आक्रमण कर दिया था। कुछ जर्थुस्त्रियों को मुसलमान बना लिया गया और कुछ ने भारत को देशांतरण करना बेहतर समझा और आठवीं सदी के आरंभ से उनका देशांतरण शुरू हो गया। वे लोग भी पश्चिमी भारत ही आए, जिससे उनका व्यापारिक संपर्क पहले से ही कायम था। उन्होंने मुंबई से उत्तर बड़ी-बड़ी बस्तियां बसाईं, जैसे संजान में। उनके वंशजों ने बाद में पारसी नामक समुदाय की स्थापना की। यह पारसी शब्द उनके मूल निवास स्थान तथा भाषा दोनों का सूचक है। कुछ लोग ग्रामीण क्षेत्रों में भी बसे, लेकिन व्यापार के केंद्रों के निकट। कुछ अन्य लोग उस काल के व्यापारिक परिपथों पर अधिक सक्रिय थे। नवीं सदी में राष्ट्रकूटों के लिए काम करनेवाले अरब अधिकारी संजान क्षेत्र में नियुक्त किए गए, जो पश्चिम एशिया के साथ व्यापारिक संबंधों की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। मालूम होता है, यह बस्ती काफी शांतिपूर्ण थी। चूंकि अरब ही वे लोग थे जिनसे डरकर, कहते हैं, जर्थुस्त्री लोग फारस से भागे थे, इसलिए लगता है, कुछ देशांतरण का संबंध मात्र धार्मिक अत्याचार से बचना न होकर व्यापारिक हित-साधन भी रहा होगा।

लेकिन आठवीं सदी में अरबों ने सिंध पर कब्ज़ा कर लिया था और पश्चिमी भारत में पैर जमा लिए थे। इन दोनों घटनाओं के फलस्वरूप पश्चिमी तट के बंदरगाहों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए उन्हें चालुक्य प्रदेशों की ओर बढ़ने का प्रोत्साहन मिला। लाट चालुक्य उनकी बढ़त को रोकने में कामयाब रहे। इस प्रकार उन्होंने अपने दक्षिणी पड़ोसियों को शस्त्र-सज्जित होने का अवसर प्रदान किया। अरबों का खतरा तो फिलहाल टल गया, लेकिन चालुक्य इससे भी कहीं अधिक भयावह संकट में पड़ गए। दंतिदुर्ग ने, जो उनका अधीनस्थ और प्रशासन में एक उच्च अधिकारी था, अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और उसके परिवार ने क्रमिक रूप से अपनी सत्ता को प्रतिष्ठित करते हुए चालुक्यों को उखाड़ फेंका और राष्ट्रकूट नामक नए राजवंश की स्थापना की। इस परिवार का आधार गुलबर्गा क्षेत्र में था और उसका शक्ति-केंद्र उस स्थान में था जो मान्यखेट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दंतिदुर्ग नंदि-वर्मन् का श्वसुर था और उसने अपने दामाद को कांची पर फिर से अधिकार करने में सहायता दी थी। इस विजय की स्मृति में पल्लव-राज ने कैलाशनाथ मंदिर के ढब पर वैकुंठ पेरुमालमंदिर का निर्माण करवाया। यह मंदिर राजा के निर्वासन के अंत और सत्ता की पुनः-प्राप्ति का सूचक था। पल्लवों का राजनीतिक अस्तित्व चालुक्यों से सदी भर बाद तक कायम रहा, परंतु नवीं सदी में उनकी सत्ता निरंतर क्षीण होती

गई। पल्लवों के एक पदाधिकारी ने अंतिम पल्लव राजा की हत्या करके पल्लव राजवंश को समाप्त कर दिया।

राष्ट्रकूट राज्य अन्य राज्यों की कमज़ोरी से लाभ उठाकर शक्तिशाली होता गया। पल्लवों का ह्रास हो रहा था और उनके उत्तराधिकारी चोल अव तक परिदृश्य पर प्रकट नहीं हुए थे। उत्तर भारत में कोई भी शक्ति इतनी प्रवल नहीं थी कि दकन के मामलों में हस्तक्षेप करती। राष्ट्रकूटों की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि उन्हें उत्तरी और दक्षिणी दोनों भागों के राज्यों से युद्ध और मित्रता के संबंधों में उतरना पड़ा, यद्यपि दक्षिणी राज्यों से अधिक। राष्ट्रकूटों ने कन्नौज की राजनीति में प्रभावकारी ढंग से हस्तक्षेप किया और इस हस्तक्षेप के कारण उन्हें कई लड़ाइयां लड़नी पड़ीं, यद्यपि दसवीं सदी के पूर्वार्ध में कुछ काल के लिए कन्नौज पर अधिकार स्थापित करने में वे सफल रहे।

परंतु राष्ट्रकूटों की सुविधा यह थी कि पश्चिमी तट के एक बहुत बड़े भाग पर उनका नियंत्रण था, जिसके बल पर वे पश्चिमी एशिया और ख़ास तौर से अरबों के साथ चलनेवाले व्यापार को भी नियंत्रित करते थे। वे अरबों को ताजिक कहते थे और उन्हें अपने राज्य के अधिकारी और यहां तक कि तटवर्ती क्षेत्रों के प्रशासनिक हलकों के शासक भी नियुक्त करते थे। इनमें से मधुमती (शायद मुहम्मद का संस्कृत रूप) नामक एक शासक ने ब्राह्मणों के एक संपन्न मठ को भूमिदान भी दिया था। दानपत्र से यह भी ज्ञात होता है कि वह राष्ट्रकूटों की ओर से अनेक पत्तन अधिकारियों पर नियंत्रण रखता था।

दंतिदुर्ग ने राष्ट्रकूट राज्य की स्थापना 753 ई. के आसपास की। उसका उत्तराधिकारी प्रथम कृष्ण था, जिसकी प्रसिद्धि का संबंध एलोरा में चट्टानें काटकर बनाया गया कैलाश मंदिर से है। राष्ट्रकूट राजाओं में शायद सबसे अधिक अमोघवर्ष को स्मरण किया जाता है। उसका दीर्घ शासन-काल (814-80) सैनिक दृष्टि से बहुत दीप्तिपूर्ण नहीं है, लेकिन उसने मान्यखेट के केंद्रीय क्षेत्र को मजबूत बनाया। जैन तथा शैव धर्मों को उसके द्वारा दिए संरक्षण से काफी सहयता मिली। वह कन्नड भाषा में *कविराजमार्ग* नामक एक कव्यशास्त्रात्मक ग्रंथ का रचयिता भी था। राजाओं द्वारा साहित्य में दिलचस्पी लेने का यह एक और उदाहरण है।

अमोघवर्ष की सबसे बड़ी समस्या उसके अधीनस्थ राजाओं द्वारा विद्रोह का खतरा था और यह खतरा कभी भी मिट नहीं पाया। चालुक्यों को अधीनस्थ स्थिति में डाल दिया गया था, लेकिन अपना वर्चस्व पुनः स्थापित करने के लिए वे कसमसा रहे थे। बहुत जल्दी ही वे राष्ट्रकूटों को अपदस्थ करके स्वयं राजा बन बैठनेवाले थे, जिसका मतलब था पहिए के चक्कर का पूरा हो जाना। एक और परिवार, अर्थात् शिलाहारों की महत्वाकांक्षा उभरने लगी थी, यद्यपि वे भी राष्ट्रकूटों के अधीन थे। इस बीच तमिलनाडु में चोलों की उदीयमान शक्ति राष्ट्रकूट राज्य के लिए एक और

खतरा बन गई थी। दसवीं सदी के पूर्वार्ध तक राष्ट्रकूटों का भाग्य-सूर्य उत्थान पर था और उनके एक राजा को हम 'कांची-विजेता' होने का दावा करते देखते हैं। लेकिन यह दावा अल्पायु सिद्ध हुआ। दसवीं सदी के अंत तक कांची के नए शासकों तथा चालुक्यों ने मिलकर राष्ट्रकूट राजवंश को समाप्त कर दिया और अब चालुक्यों की दूसरी पंक्ति राष्ट्रकूटों के राज्य पर शासन कर रही थी।

प्रायद्वीप की राज्य-व्यवस्थाएं

जब राजवंशों की शक्ति समान होती है तो उनके बीच उतार-चढ़ाव का खेल चलता रहता है। प्रायद्वीप में स्थिति ऐसी ही थी। अपेक्षाकृत कम दखलंदाज शासन-व्यवस्था से गांवों और जिलों के प्रशासन में स्थानीय स्वायत्तता को बढ़ावा मिला। यह स्वायत्तता राज्य की सत्ता को कम नहीं करती थी। उल्टे वह प्रशासन तथा राजस्व की वसूली में सहायक होती थी। तमिलनाडु में ऐसी स्वायत्तता काफी हद तक कायम रखी गई। वहां यह परंपरा सदियों से चली आ रही थी।

राजा आडंबरपूर्ण विरुद धारण करते थे। उनमें से कुछ, जैसे महाराजाधिराज, उत्तर भारत में पूर्व प्रयोग के कारण सुपरिचित थे। अन्य स्थानीय ईजाद थे–जैसे धर्ममहाराज, अर्थात् धर्म के अनुसार शासन करनेवाला महाराज। राजाओं से धर्म का उद्धार और रक्षा करने की अपेक्षा की जाती थी, क्योंकि माना जाता था कि कलियुग में धर्म क्षय हो रहा है। कुछ विरुद काफी असाधारण थे–जैसे *अग्गितोम-वाजपेय-अस्समेध*-याजी,अर्थात् अग्निस्तोम, वाजपेय तथा अश्वमेघ यज्ञ करनेवाला। यह राजपद के लिए विहित वैदिक आचरणों के पालन पर सजग आग्रह जैसा लगता है। अब कई अभिलेखों में राजा की प्रशस्तियां होती थीं। इसका एक राजनीतिक प्रयोजन था, क्योंकि राजतंत्र में मजबूती आने के साथ राजा को असाधारण व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करना था।

सिद्धांततः राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था, लेकिन यह अधिक संभावित लगता है कि विवाद स्थानीय स्तर पर निबटा लिए जाते होंगे। राजा की सहायता मंत्रियों का एक समूह करता था, और उत्तर पल्लव काल में मंत्रियों की यह परिषद् राज्य की नीति निर्धारित करने में प्रमुख भूमिका निभाती थी। कुछ मंत्री राजा जैसी उपाधियां धारण करते थे। संभव है, ऐसे मंत्री करद राजाओं, भू-स्वामियों और उन लोगों में से नियुक्त किए जाते हों जो प्रशासन तथा राजस्व पर नियंत्रण होने के कारण शक्तिशाली बन गए थे। इस अंतिम कोटि के लोगों में से कुछ ने शायद बड़ी-बड़ी जोतोंवाले पट्टेदारों के रूप में जीवन आरंभ किया होगा और क्रमिक रूप से शक्तिशाली स्थिति प्राप्त कर ली होगी। जो लोग स्थानीय स्तर पर सत्ता का उपभोग करते थे और जिनका राजा के साथ अधीनता का संबंध था, उन सबके लिए अंग्रेज़ी में आम तौर पर 'फ्युडेटरी' (सामंत) शब्द का प्रयोग किया जाता है। परंतु इस शब्द

के प्रयोग में एक असुविधा यह है कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों के लेखन में यह शब्द अकसर यूरोपीय फ्यूडेलिज्म के साथ एक समानता के परिचायक के रूप में प्रयोग किया गया है। समानताएं रही हों या नहीं रही हों, लेकिन यह सच है कि ऐसे लोगों के हाथों में केंद्रित सत्ता में इस उपमहाद्वीप के अंतर्गत देश-काल के अनुसार अंतर होता था। इसलिए ऐसे लोगों के लिए उनके विशिष्ट पदनामों का प्रयोग बेहतर हो सकता है।

कतिपय प्रशासनिक इकाइयों के नाम मौर्य काल के नामों जैसे हैं–जैसे आहार, विषय और राष्ट्र। तमिलनाडु में बुनियादी इकाई नाडु ही कहलाती रही। प्रांतीय शासन का प्रभार संभालने के लिए अधिकारियों का एक सोपान था, जो स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के साथ मिलकर काम करता था। इन संस्थाओं की हैसियत सलाहकारों की होती थी। इस काल में उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत में ये संस्थाएं अधिक प्रचलित मालूम होती हैं। इनकी रचना जाति, पेशे और धार्मिक संप्रदाय के स्थानीय संबंधों के आधार पर होती थी। इनके कार्य करने के लिए बार-बार इनकी बैठकें या सभाएं आयोजित करना आवश्यक होता था। सभाएं कई प्रकार की और कई स्तरों की होती थीं। उनमें व्यापारियों की श्रेणियां, शिल्पी और कारीगर-बुनकर, तेली आदि और साथ ही विद्यार्थी, संन्यासी एवं पुरोहित शामिल हो सकते थे। छोटे समूह सुपात्र व्यक्तियों में से चुने जाते थे और उनका काम करने का तरीका कुछ-कुछ आधुनिक समितियों के समान होता था–प्रत्येक समूह किसी ख़ास काम के लिए जिम्मेदार होता था।

गांव में बुनियादी संगठन *सभा*होती थी, जिसका सरोकार गांव से संबंधित सभी मामलों से होता था–मंदिर की संपत्ति और विभिन्न प्रकार के अनुदान, सिंचाई, खेती की ज़मीन, अपराध के लिए दंड देना, जनगणना के तथा अन्य प्रकार के प्रलेख रखना आदि। *सभा*विधिवत् स्थापित संस्था थी, लेकिन वह उर् के साथ मिलकर काम करती थी। उर्में अब्राह्मण किसानों के नेता शामिल होते थे। उर् के बाहर *चेरिया*, जो उन लोगों का निवास-क्षेत्र होता था जो जाति की सीमाओं से बाहर थे। भूस्वामियों की एक परिषद् नाडु के प्रशासन के साथ मिलकर काम करती थी। *नगरम्*मुख्य रूप से व्यापारियों का समूह होता था। जिन गांवों में मुख्यतः ब्राह्मण रहते थे, उनमें सभाओं तथा परिषदों के काम करने के तरीकों से संबधित प्रलेख कभी-कभी मिल जाते हैं। अन्य गांवों की सभाओं के प्रलेख अवशिष्ट नहीं रह पाए हैं। इसके आधार पर यह राय जाहिर की गई है कि ये स्वायत्त संस्थाएं ब्राह्मणों के गांवों तक ही सीमिति थीं। लेकिन ऐसी संस्थाओं से संबंधित प्रलेख न मिलने का मतलब जरूरी तौर पर यह नहीं है कि अन्य गांवों में ये संस्थाएं थीं ही नहीं। यदि गांवों के कुछ समूहों में ग्रामसभाएं उपयोगी पाई गईं तो संभावना यही है कि उस क्षेत्र के अन्य गांवों में भी उनका अस्तित्व रहा होगा। ग्राम सभा और सरकारी प्रशासन

के बीच की कड़ी का काम गांव का प्रधान करता था, जो गांव का मुखिया भी था और सरकार की ओर से बिचौलिया भी।

इससे उत्तर दकन की ओर चलें तो देखते हैं कि इस प्रकार की प्रशासनिक संस्थाओं को कम स्वायत्तता प्राप्त थी। चालुक्यों के प्रदेशों में सरकारी अधिकारी गांवों तक के रोजमर्रा के प्रशासन में अधिक दखल रखते थे। ग्राम सभाएं अधिकारी की पितृवत् देख-रेख में काम करती थीं, और गांव के मुखिया के रूप में गांव के प्रधान की भूमिका अधिक औपचारिक किस्म की थी। आठवीं सदी से दकन के कुछ राजा दस-दस या बारह-बारह गांवों की प्रशासनिक इकाइयां गठित करने लगे।

राजनीतिक सत्ता का विस्तार मुख्य रूप से राजस्व में हुई उस वृद्धि पर आधारित होता था जो पहले परती मानी जानेवाली ज़मीनों में खेती आरंभ करवाने का परिणाम होती थी। यह काम करने का एक तरीक ब्राह्मणों तथा मंदिरों को भूमिदान देना था। इसमें पूर्ववर्ती काल से फर्क आ गया था। आरंभ में अन्य स्थानों के ब्राह्मणों को अपने राज्य में बस जाने के लिए आमंत्रित किया गया और अपनी बसावट की प्रक्रिया में उन्होंने परती ज़मीनों में खेती-बारी शुरू करवा दी। इसी प्रक्रिया में यह भी हुआ कि उन क्षेत्रों के स्थानीय समाज किसान बन गए जिनमें पहले से किसानों का अस्तित्व नहीं था। किसानों के देशांतरण करके अन्यत्र बस जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है, हालांकि जब व्यावहारिक होता होगा तब वे शायद ऐसा भी करते होंगे। वे बाहर से आते भी होंगे तो केवल अपना श्रम लेकर ही। राजाओं को जो विचारधारात्मक समर्थन ब्राह्मणों से मिलता था वह समर्थन देने में वे असमर्थ थे। विचारधारात्मक समर्थन में वैदिक यज्ञों के संपादन का भी समावेश था। इन यज्ञों में प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. में राज्य की संरचना के दौर की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। सरदार-पद से राजपद की ओर संक्रमण में ये विस्तृत कर्मकांड भी संपादित करने पड़ते थे। इनके फलस्वरूप राजपद के साथ देवत्व के भी कुछ तत्व जुड़ जाने की संभावना रहती थी। कुछ दृष्टियों से यह पूर्ववर्ती काल की पुनरावृत्ति और साथ ही एक ऐतिहासिक परंपरा का सातत्य भी था। जब राज्य सुस्थापित हो जाते थे तब कर्मकांड कम संपादित किए जाते थे या किए जाते थे तो मात्र एक रीति के पालन के लिए।

सरदारों के जरिए शासन करने की रीति का स्थान धीरे-धीरे भूस्वामी मध्यवर्ती लोगों तथा इसी तरह की भूमिका निभानेवाले मंदिरों के जरिए शासन करने का सिलसिला ले रहा था। जिन क्षेत्रों में बार-बार भूमिदान दिए जा रहे थे उनकी अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना की जा रही थी। ब्राह्मणों से वैधीकरण और मंदिरों से समर्थन प्राप्त करने की कोशिशें जारी थीं। वर्णगत नियम लागू तो किए गए लेकिन ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य लोगों के संदर्भ में इसमें सफलता कम ही मिली। ब्राह्मणों के बीच रूढ़िवादिता को दिया गया समर्थन शायद वेलालों, अन्य भूस्वामियों तथा

किसानों पर उनकी निर्भरता से जुड़ा हुआ था। ये लोग सांस्कृतिक दृष्टि से अपनी अलग पहचान रखते थे और ब्राह्मणों ने उन्हें शूद्र का दर्जा देकर अपने अधीन लाने की कोशिश की। लेकिन इन लोगों में से जो लोग भूस्वामी थे उनके हाथों में शक्ति भी थी।

जिन ज़मीनों पर निजी मिल्कियत थी उनके अलावा सारी ज़मीनें राजा की मानी जाती थीं। राजा अपने अधिकारियों को राजस्व-दान और ब्राह्मणों को भूमिदान दे सकता था अथवा अपनी ज़मीनों पर छोटे-छोटे किसानों और भूस्वामियों से खेती करवाना जारी रख सकता था। बदले में ये लोग राजा को कर देते थे। इस दूसरी स्थिति में स्वभावतः पट्टे स्थायी नहीं होते थे। निजी भूस्वामी ज़मीन खरीद या बेच सकते थे या धार्मिक प्रयोजनों से दान कर सकते थे। अधिकारियों की भूमि अथवा भू-राजस्व के रूप में दिए गए दान मुख्य रूप से वेतनों के एवज में होते थे, और उन दानों में ऐसी कोई शर्त दर्ज नहीं रहती थी कि ग्रहीता को सेनाओं के लिए रसद-पानी का इन्तजाम करना पड़ेगा या राज्य को राजस्व का अमुक प्रतिशत कर के रूप में देना होगा।

दान सामान्यतः सदा के लिए दिए जाते थे और समय के साथ दान देने के प्रसंग बढ़ते चले गए। यद्यपि कुछ ऐसा ख़्याल है कि दान कृषि के संगठन का मुख्य रूप थे तथापि सर्वत्र ऐसा नहीं था। उपमहाद्वीप के अन्य भागों की तरह यहां भी कृषकों का अस्तित्व उनकी भूमि के दान का अंग बन जाने के पहले से था। मूल्यांकन और कर-निर्धारण के संबंध में राज्य तथा किसान के बीच अनुबंध या तो पहले से विद्यमान व्यवस्था का सातत्य होता था या उसके लिए नई व्यवस्थाएं करनी पड़ती थीं। स्पष्ट है कि ऐसे अनुबंध किसान की अपेक्षा राजा के पक्ष में अधिक होते थे। यदि ऐसी ज़मीन राजा द्वारा दिए गए भूमिदान का हिस्सा बन जाती थी तो शर्तें अधिक जटिल हो जाती होंगी, सो इस कारण से कि अब राज्य और किसान के बीच एक मध्यवर्ती हस्ती आ जाती थी। इस भूमि को बेचने या इसे अपने वारिस के हवाले करने का मध्यवर्ती व्यक्ति का अधिकार दानपत्र की शर्तों पर निर्भर होता था।

गांव का दर्जा और पट्टे की शर्तें अलग-अलग होती थीं और अंत में उनकी तीन किस्में व्यापक रूप से प्रचलित हुईं। सबसे आम वे गांव थे जिनमें अलग-अलग जातियों के लोग रहते थे और खेती की ज़मीन के रकबे तथा उसकी पैदावार एवं अन्य पेशों पर राज्य को कर देते थे। दूसरी किस्म में व्यक्तियों अथवा ख़ास समूहों को दिए गए विभिन्न प्रकार के भूमिदान थे। सामान्यतः ये दान ब्राह्मणों को दिए जाते थे लेकिन राजा चाहे तो किसी और को भी दे सकता था। जब किसी एक ब्राह्मण को या उनके किसी समूह को पूरा गांव या गांव की कुछ ज़मीन दान में दे दी जाती थी तो ब्रह्मदेय गांव की सृष्टि होती थी। ये ग्रहीता आम तौर पर काफी

समृद्ध होते थे, क्योंकि ब्राह्मणों को कर नहीं देना पड़ता था और उनकी ज़मीन का रकबा भी असाधारण रूप से बड़ा होता था। जब ब्राह्मणों की बस्तीवाला गांव उन्हें दान कर दिया जाता था तब वह अग्रहार कहलाता था। उनसे गांव की ज़मीन पर कोई कर नहीं लिया जाता था, लेकिन अगर ब्राह्मणों की इच्छा हो तो वे वहां के लोगों को निःशुल्क शिक्षा दे सकते थे। तीसरी किस्म देवदान या देवदेय की थी। इसमें भूमि या गांव देवी या देवता को दान कर दिया जाता था। इसके अंतर्गत आनेवाला गांव उसी तरह काम करता था, जिस तरह पहली किस्म के गांव करते थे। फर्क यह होता था कि इस गांव के किसान मंदिर के पट्टेदार बन जाते थे। इस प्रकार के गांव से प्राप्त राजस्व मंदिर को दान कर दिया जाता था और इसलिए उसे राज्य नहीं बल्कि मंदिर के अधिकारी प्राप्त करते थे। मंदिर के अधिकारी ग्रामवासियों को रोजगार देकर गांव की सहायता करते थे। इस तीसरी किस्म के गांवों का महत्व बाद की सदियों में, जब मंदिर ग्रामीण जीवन की सांस्कृतिक संस्थाएं बन गए, बहुत बढ़ गया। पल्लव काल में प्रथम दो कोटियों के गांवों की प्रमुखता थी।

गांव में ग्रामीणों के घर, बगीचे, सिंचाई के साधन–मुख्य रूप से तालाब और कुएं–पशुओं के बाड़े, परती ज़मीनें, गांव की सामूहिक भूमि, गांव के चारों ओर के जंगल, गांव की ज़मीन से गुजरनेवाले जलस्रोत, मंदिर और मंदिर की ज़मीनें, श्मशान तथा खेती की सिंचित-असिंचित ज़मीनें शामिल होती थीं। उसमें वह ज़मीन भी शामिल होती थी जिस पर सबका हक होता था और जो ख़ास-ख़ास प्रयोजनों के लिए, जैसे धान निकालने के लिए, अलग रखी जाती थी। चावल मुख्य फसल थी, जिसका उपयोग वस्तु-विनिमय के पैमाने के रूप में और साथ ही अधिशेष पैदावार होने पर व्यापार के जिंस के तौर पर भी किया जाता था। नारियल के विस्तृत बगान होते थे, जिनके उत्पाद के अनेक उपयोग किए जाते थे। पनई ताड़ और सुपारी ताड़ के वृक्ष भी उगाए जाते थे। सुपारी ताड़ से प्राप्त सुपारी मुख्यतः निर्यात की जाती थी। आम और केले के बगीचे परिदृश्य की आम विशेषता थे। बिनौले और तिल के तेल की मांग खूब थी।

एक विशेष वर्ग की ज़मीन का भी उल्लेख मिलता है–*एरिपट्टी*या तालाबी ज़मीन। व्यक्तियों द्वारा अनुदत्त इस ज़मीन से प्राप्त राजस्व गांव के तालाब की देखभाल के लिए अलग रखा जाता था। इससे तालाब से की जानेवाली सिंचाई पर गांव की निर्भरता का पता चलता है। कुएं के पानी से सिंचाई का स्थान दूसरा था। वर्षा के पानी से तालाब के जलभंडार की वृद्धि होती थी, जिससे हर साल आनेवाले सूखे मौसम के लंबे दौर में सिंचाई की जा सकती थी। ईंटों या पत्थरों से बंधे किनारोंवाला तालाब गांव के सहकारी प्रयत्न से बनाया जाता था और किसान उसके पानी में हिस्सेदारी करते थे। पल्लव काल से ग्रामीण मामलों से संबंधित जो अभिलेख प्राप्त

हुए हैं उनमें ऐसे तालावों के अनुरक्षण के उल्लेख देखने को मिलते हैं। जलोत्तन यंत्र की सहायता से तालाब से पानी लेकर नहरों में डाला जाता था। जल-स्तर के नियमन और स्रोत पर जल को वहुत ऊपर उठकर बाहर बहने से रोकने के लिए नहरों में जल-कपाटों की व्यवस्था होती था। गांव द्वारा नियुक्त एक विशेष तालाब समिति सिंचाई के लिए जल के वितरण की निगरानी करती थी। जिसके हिस्से जितना पानी तय रहता था उससे ज़्यादा पानी लेने पर उसे उसके लिए कर देना पड़ता था।

दानपत्रों में, जिनमें से मुख्यत: वही अवशिष्ट हैं जो ताम्रपत्रों पर जारी किए गए, दिए गए विशद विवरणों से ज़मीन के पट्टों तथा कराधान के विषय में सूचना प्राप्त होती है। गांव में दो तरह के कर लगाए जाते थे : किसानों द्वारा राज्य को अदा किया जानेवाला राजस्व ज़मीन की उपज के छठे से लेकर दसवें भाग तक होता था, जिसे गांव वसूल करके राज्य के कर-संग्राहक के हवाले कर देता था; दूसरी कोटि में स्थानीय कर आते थे, जो गांव में ही वसूल किए जाते थे लेकिन जिनका उपयोग गांव की सेवा और उसके परिवेश के अनुरक्षण के लिए किया जाता था, जैसे सिंचाई व्यवस्था की मरम्मत या मंदिर के जीर्णोद्धार और सजावट के लिए। भू-राजस्व की दर कम थी, इसलिए उसकी अनूपर्ति अतिरिक्त करों से की जाती थी, जो भारवाही पशुओं, ताड़ी निकालनेवालों, बरातों, कुम्हारों, सोनारों, धोबियों, वस्त्र-निर्माताओं, बुनकरों, दलालों, डाकियों तथा घी बनानेवालों पर लगाए जाते थे। दुर्भाग्य से कर के प्रतिशत का उल्लेख हमेशा नहीं किया जाता था और निस्संदेह उसमें अलग-अलग कराधीन वस्तुओं के अनुसार अंतर होता होगा। राजस्व लगभग पूर्ण रूप से ग्रामीण स्रोतों से प्राप्त होता था और व्यापारिक तथा नगरीय संस्थाओं का दोहन अब भी बहुत कम होता था।

ताम्रपत्रों पर अंकित और सुरक्षित एक भूमि दानपत्र का उदाहरण नीचे उद्धृत किया जा रहा है। जिन ग्यारह ताम्रपत्रों पर यह गुदा हुआ है वे 1879 में पांडिचेरी के निकट एक गांव में प्राप्त हुए। सभी पत्र तांबे के एक छल्ले से बंधे हुए थे। छल्ले के दोनों छोरों पर टांके लगे हुए थे और राजमुद्रा अंकित थी, जिसमें एक वृषभ तथा एक लिंग शामिल थे। ये दोनों पल्लवों के प्रतीक थे। इस दानपत्र में राजा नंदि-वर्मन् के शासन-काल के बाईसवें वर्ष (753ई.) में दिए गए एक ग्रामदान को प्रलेखबद्ध किया गया है। इसका आरंभ संस्कृत में राजा की प्रशस्ति से होता है, जिसके बाद तमिल में दान की तफसीलें दी गई हैं और अंतिम श्लोक संस्कृत में है। मालूम होता है, यह दान राजा के गुरु को दिया गया, जिसने उसके लिए शायद विभिन्न कर्मकांड भी संपादित किए थे, जिनमें भागवत संप्रदाय-विषयक कर्मकांड भी शामिल था। राजा द्वारा बनवाया गया मंदिर अपने गुरु के प्रति उसकी श्रद्धा का द्योतक होने के साथ ही उसकी सत्ता का परिचायक भी रहा होगा। नीचे

का उद्धरण दानपत्र के तमिल अंश से लिया गया है। ध्यान देने की बात है कि इन दानपत्रों के सर्वाधिक प्रासंगिक भाग संस्कृत की अपेक्षा तमिल में होते थे।

उपर्युक्त प्रशस्ति का रचयिता त्रिविक्रम था। यह उपर्युक्त राजा का आदेश है, जो उसके शासन के बाईसवें वर्ष में जारी किया गया। उरुकट्टुकोट्टम के निवासी इसे देख लें। जब राजा ने हमारे देश के कोडुकल्लि गांव को ब्रह्म युवराज के अनुरोध पर उसके पूर्ववर्ती स्वामियों से लेकर, घोरशर्मन् को दान का प्रवर्तक नियुक्त करके, उसमें से पहले मंदिरों को दिए दानों और ब्राह्मणों को दिए दानों को अलग करके, किसानों के घरों को दो *पत्ति*[ज़मीन की एक माप] की सीमा तक बाद करके उसे ब्रह्मदेय के रूप में शेट्टिरंग सोमयाजी [सोम यज्ञ के संपादक] को, जो भारद्वाज गोत्र के हैं, छान्दोग्यसूत्र के अनुगामी हैं और पुनी में निवास करते हैं, देने का कृपापूर्ण निर्णय किया तब इस आशय से जारी किए गए आदेश को देखकर हम यहां के निवासी सीमाओं पर गए, जो हमें नाडु [जिले] के प्रधान ने बताईं, दाईं से बाईं ओर का गांव का चक्कर लगाया और झाड़ियां रोपकर उनके चारों ओर पत्थर रख दिए। इस गांव की सीमाएं इस प्रकार हैं : पूर्वी सीमा पलैयुर की सीमा से पश्चिम में है, दक्षिणी सीमा पलैयुर की सीमा के उत्तर में है, पश्चिमी सीमा मनारपक्कम् की सीमा और कोल्लिपक्कम् की सीमा के पूर्व में है और उत्तरी सीमा वेलिमनल्लूर की सीमा के दक्षिण में है। ग्रहीता इस चौहद्दी के अंदर आनेवाले सिंचित तथा असिंचित सभी भूमि का, जहां-कहीं भी गोह दौड़ते हैं और कछुए रेंगते हैं उन सबका उपभोग करेंगे और सेयारू, वेहका तथा तिरैयन ताल से नदी नहरें और सिंचाई नहरें खोदने के लिए स्वतंत्र होंगे।...जो लोग टोकरियों से निकालकर या शाखा नहरें काटकर अथवा छोटे जलोत्तोलकों द्वारा यह पानी लेंगे और इसका उपयोग करेंगे उन्हें अर्थदंड देने होंगे, जिनकी वसूली राजा करेंगे। वे [ग्रहीता] और उनके वंशज मकानों, मकानों के बगीचों आदि का उपभोग करेंगे और उन्हें पके हुए खपड़ैलों से मकान और महाकक्ष बनवाने का अधिकार होगा। इन सीमाओं के अंतर्गत आनेवाली भूमि को हमने समस्त विमुक्तियां प्रदान की हैं। वह स्वयं इस गांव में प्रचलित विमुक्तियों का उपभोग करेगा और कोल्हुओं तथा करघों के लिए, कुएं खोदनेवाले रखने के लिए, राजा के ब्राह्मणों के हिस्से, *शेंगोडी* [एक पौधा] के हिस्से, *कल्लल*[एक प्रकार का अंजीर का पेड़] के हिस्से, *कन्निहु*के हिस्से, अनाज की बालों के हिस्से, प्रधान के हिस्से, कपड़े के हिस्से, कुम्हार के हिस्से, धान छानने, घी की कीमत, कपड़े की कीमत, कपड़े के हिस्से, शिकारियों, संदेशवाहकों, नृत्यांगनाओं, घास, उत्कृष्ट गाय और सांड, जिले के हिस्से, सूत, नौकरों, ताल गुड़, लेखाकार और मंत्री को दिए जानेवाले जुर्माने, कमल लगाने पर कर, कमल के हिस्से, पुराने पड़ गए सुपारी तथा नारियल जैसे पेड़ों के तनों की चौथाई के लिए उसे कुछ भी अदा नहीं करना पड़ेगा। यह दान स्थानीय अधिकारियों, मंत्रियों तथा सचिवों की उपस्थिति में दिया गया।

नंदिवर्मन के कसक्कुडि ताम्रपत्रों के ई. हल्ख द्वारा किए गए अंगरेजी अनुवाद से।

इस व्यवस्था में ब्राह्मण की भूमिका कर्मकांड के संपादन और आडंबर तक सीमित नहीं थी। इससे आगे ब्राह्मण ग्रहीताओं की नए बाशिंदों, बस्तियां बसानेवालों और उद्यमियों के रूप में भी अपनी भूमिका थी। उक्त अनुदान से यह भूमिका स्पष्ट है, लेकिन हमेशा उसे स्वीकार नहीं किया जाता था। ब्राह्मणों की बस्तियां और उनके

साथ-साथ विकसित होनेवाले मंदिर एक हद तक राज्य का दूसरा रूप थे, यद्यपि उनसे राज्य के अधिकारियों से मिलकर काम करने की अपेक्षा की जाती थी। वे एक ऐसी प्रशासनिक उपसंरचना प्रस्तुत करते थे जो दान की गई भूमि तथा अन्य संसाधनों को अधिक से अधिक उपयोगी ढंग से काम में लाने में सहायक होती थी। जिस हद तक राजा के प्रशासन का प्रयोजन विविध प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं को कृषक अर्थव्यवस्थाओं से समेकित करना था उस हद तक इस काम में कृषक अर्थव्यवस्थाओं के उन नाभि-केंद्रों से सहायता मिलती थी जो इन दानों के फलस्वरूप उभर आते थे। ग्रहीता राजस्व की वसूली करते थे और कृषि के अतिरिक्त विस्तार को प्रोत्साहन देते थे, जिसके कुछ हिस्से से राज्य को भी राजस्व प्राप्त हो सकता था। इसके अलावा, वे सिंचाई की ठीक व्यवस्था करने के लिए भी जिम्मेदार होते थे, हालांकि सिंचाई के मुख्य साधनों, अर्थात् तालाबों, कुओं और वावलियों के अनुरक्षण का काम ग्रामसभाएं करती थीं।

विचारधारात्मक स्तर पर देखें तो ब्राह्मण व्यवस्था और ब्राह्मणों को महत्व देने से राजतंत्र में दृढ़ता आई, क्योंकि उसके फलस्वरूप शासक राजवंश को वैधता प्राप्त हुई, कुछ मामलों में राजपरिवार को क्षत्रिय पद दिया गया और मौजूदा सामाजिक समूहों को जातीय सांचे में ढालकर उन्हें अधिक कार्यात्मक बनाने के लिए सोपानबद्ध कर दिया गया। राजवंशों को हम जिस तरह आए दिन ब्रह्म-क्षत्र मूल का दावा करते देखते हैं उससे पता चलता है कि इस काल में प्रायद्वीप के कुछ भागों में राजनीतिक सत्ता और ब्राह्मणीय विचारधारा एक-दूसरे से घनिष्ठ सहयोग करते हुए काम कर रही थीं। ब्राह्मण तथा अब्राह्मण दर्जा धीरे-धीरे इस क्षेत्र का आधारभूत वर्गीकरण बन गया। यद्यपि यह चातुर्वर्ण्य समाज से मेल नहीं खाता था, तथापि इसका स्रोत वर्ण संगठन ही था। बेशक ऊंचे दर्जे प्राप्त करने के और भी उपाय थे। उदाहरण के लिए, युद्ध में अथवा गांव की रक्षा करते हुए किसी का वीरगति प्राप्त करना उसके कुटुंबियों के लिए ऊंचे दर्जे की और भूमि की मांग का आधार हो सकता था।

कृषि के विस्तार के कारण अन्य आर्थिक प्रयत्न बंद नहीं हुए। उदाहरण के लिए, पशुचारण को लें। कुछ ख़ास-ख़ास क्षेत्रों में पशुपालन महत्वपूर्ण बना रहा। इसका प्रमाण *वीरगल*या उन वीरों के प्रस्तर स्मारक हैं जिन्होंने अपने पक्ष के लोगों के पशुओं की रक्षा करते हुए अथवा मनुष्य और पशु हमलावरों का मुकावला करते हुए वीरगति प्राप्त की। आरंभ में तो इनके स्मारक साधारण होते थे लेकिन सहस्राब्दी के अंत तक वे खूब आडंबरयुक्त होने लगे। उनसे मालूम होता है कि आए दिन हमले आदि होते ही रहते थे और इन सबका प्रतिरोध गांव के प्रयत्नों से ही करना पड़ता था। गांवों को अपनी रक्षा अपने बलबूते करनी पड़ती थी, इससे विकेंद्रीकृत प्रशासन का पता चलता है। प्रथम सहस्राब्दी के उत्तरार्ध से वीरगलों की संख्या खूब बढ़ने लगती है।

एकाकी स्मारक प्रस्तर अलग-थलग पड़े इलाकों में मिलते हैं, जिनमें अकसर योद्धा को या तो खड़ा या घोड़े पर सवार दिखलाया गया है। जहां वे समूह में मिलते हैं वहां, मालूम होता है, वे अन्य स्थानों से गांव के निकट—बहुधा ऊपरी जातियों द्वारा इस्तेमाल किए जानेवाले मंदिर के अंदर या उसके आसपास—लाए जाते थे। कुछ स्मारक युद्ध में वीरगति प्राप्त नायकों के हैं, लेकिन धीरे-धीरे प्रतिरक्षा संबंधी सभी कार्रवाइयों से नायकत्व की भावना जुड़ गई। वे सीमा क्षेत्रों में या वनांचलों की परिधि पर, जहां राजकीय रक्षा-व्यवस्था कमज़ोर रही होगी, बड़ी संख्या में मिलते हैं। कृषि की दृष्टि से उपजाऊ क्षेत्रों में वीरगल कम मिलते हैं। महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के अर्धशुष्क क्षेत्रों में पशुहरण अभियानों का प्रतिरोध बार-बार सामने आनेवाला प्रसंग था। हो सकता है, ये हमले कृषक बस्तियों द्वारा वनवासियों के विस्थापन के परिणाम रहे हों। गोआ जैसे तटवर्ती प्रदेशों में समुद्री लड़ाइयों के चित्रण से जल-दस्युओं के हमलों का आभास होता है।

जब वीरगल की सजावट की जाने लगी तो एक पट के स्थान पर तीन-तीन या चार-चार पटों का इस्तेमाल किया जाने लगा। इन पटों के किनारों को मूर्तिकला से सज्जित कर दिया जाता था। सबसे ऊपरी पट नायक के संप्रदाय के प्रतीक दरशाता था—जैसे शैवों के मामले में शिवपुत्र कार्तिकेय की प्रतिमा या लिंग तथा योनि; जैनों के मामले में महावीर की छोटी-सी प्रतिमा; और सामान्यतः अमरत्व के प्रतीक सूर्य तथा चंद्रमा। दूसरे पट में नायक को दिए गए वचन के पालन का, अप्सराओं द्वारा उसे स्वर्ग ले जाए जाने का चित्रण होता था। सबसे निचले पट में उस घटना का चित्रण होता था जिसमें उसने वीरगति प्राप्त की। कभी-कभी इन पटों के नीचे एक छोटा-सा अभिलेख होता था, जिसमें उस व्यक्ति और उसकी शहादत के प्रसंग की सूचना दी गई होती थी। आगे चलकर जब उस वीर नायक की पत्नी से सती होने की अपेक्षा की जाने लगी तब एक स्मारक द्वारा उसकी मृत्यु को भी स्मृति में संजोया जाने लगा। इस पट पर किया गया तक्षण सरल होता था, जिसमें अनावृत्त दाहिनी भुजा दिखलाई जाती थी, जिसकी चूड़ियां अब भी सुरक्षित थीं और जो वीर नायक के साथ उसके विवाह के आगे भी जारी रहने का प्रतीक थीं। जिन बस्तियों की रक्षा राज-सेना नहीं करती थी उनकी रक्षा के लिए वीरता की भावना का संपोषण आवश्यक था।

राजा को प्राप्त राजस्व का कुछ भाग सेना रखने पर खर्च होता था। राजा की स्थायी सेना के अतिरिक्त समय-समय पर अनिवार्य भर्ती भी की जाती थी। सेना में मुख्यतः पैदल, घुड़सवार और हस्तिसेना की एक इकाई शामिल होती थी। घुड़सवार सेना सबसे ज़्यादा खर्चीली थी, क्योंकि घोड़ों की उपलब्धता सीमित थी और उत्तर भारत या पश्चिम एशिया से घोड़े का आयात करना बहुत महंगा पड़ता था। पल्लवों ने नागपत्तिनम् में एक गोदी बनवाई और एक नौसेना खड़ी की, यद्यपि आगे चलकर

चोलों के अधीन दक्षिण भारत ने जो नौसैनिक शक्ति प्राप्त की उसकी तुलना में यह नौसेना तुच्छ थी। महाबलीपुरम में हाल में एक संभावित घाट का पता लगने से भी समुद्री गतिविधियों का संकेत मिलता है।

नौसेना दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ समुद्री व्यापार में सहायता करती थी। अब तक उस क्षेत्र में कई राज्य कायम हो चुके थे : कंबुज और फूनान (कंबोडिया); चंपा (वियतनाम); और श्रीविजय (दक्षिणी मलय प्रायद्वीप, जावा और सुमात्रा)। वे सभी राज्य भारत के संपर्क में थे और जिन व्यापारिक मार्गों से दक्षिण भारत के सौदागर यात्रा करते थे उनसे भी उनका संबंध था। पश्चिमी तट पर समुद्री व्यापारिक प्रयत्नों पर धीरे-धीरे मध्यवर्ती लोगों ने, मुख्यत: अरबों ने, अधिकार स्थापित कर लिया। भारतीय व्यापारी पश्चिम के देशों को माल ले जानेवालों की बजाय धीरे-धीरे इस काम को करनेवालों के लिए माल के आपूर्तिकर्ता बन गए। परंतु दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ सांस्कृतिक संपर्क न केवल जारी रहा बल्कि उसमें वृद्धि भी हुई।

व्यापार का जारी रहना शहरीकरण को प्रोत्साहन देनेवाला एक कारक था। तटवर्ती क्षेत्रों में चलनेवाले समुद्री व्यापार के अतिरिक्त, पूरे प्रायद्वीप में फैले व्यापारिक तंत्र से भी इस गतिविधि को प्रश्रय मिल रहा था। मालूम होता है, गंगा के मैदान के नगर कुछ काल के लिए ह्रासोन्मुख हो चले थे, लेकिन अनेक अन्य क्षेत्रों में नगरों तथा व्यापार के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। पूर्ववर्ती काल में भारतीय बंदरगाहों में पहुंचनेवाली कुछ वस्तुएं उपहार-विनिमय में खप जाती थीं क्योंकि ऐसा विनिमय सरदारतंत्रों का आवश्यक अंग था। कृषि तथा व्यापार से प्राप्त राजस्व के साथ राजतंत्रों के उदय ने शायद उपहार-विनिमय की भूमिका को कम कर दिया। बढ़ती हुई संपत्ति और वर्गीकरण का मतलब था उपहारों की अपेक्षा व्यापार के माध्यम से विनिमय का चलना।

पूर्ववर्ती काल में दान के मामले में प्रायद्वीप के दकन तथा दक्षिण इन दो क्षेत्रों के बीच अंतर था। दकन के मन्नत अभिलेखों में कारीगरों, श्रेणियों तथा भूस्वामियों के जिक्र होते थे, लेकिन तमिल ब्राह्मी अभिलेखों में अलग-अलग पेशेवर व्यक्तियों तथा व्यापारियों द्वारा दान दिए जाने के उल्लेख होते थे और भूस्वामियों के नाम कम हीं आते थे। जब भूमि अर्थव्यवस्था का प्रमुख भाग बन गई तब यह स्थिति बदल गई।

दकन के अभिलेखों में कई शहरों का उल्लेख हुआ है। उनमें बनवासी, कोल्हापुर, वातापी, ऐहोल, पट्टडकलऔर श्रवण बेलगोल शामिल हैं। कुछ शहर पहले सैनिक छावनियां थे, लेकिन धीरे-धीरे छावनियां प्रशासनिक और व्यापारिक केंद्रों में बदल गईं। इनका एक उदाहरण पुलिगिरि है। अन्य आरंभ में प्रशासनिक केंद्र या स्थानीय धार्मिक गतिविधियों के केंद्र थे। दोनों प्रकार के केंद्रों ने शहरी विशेषताएं प्राप्त कर लीं और वे बहुधा विनिमय के प्रमुख स्थान बन गए। नकद

अनुदानों के उल्लेख तो मिलते हैं, लेकिन लगता है, सिक्के बड़े पैमाने पर नहीं ढाले जाते थे। इसका संबंध शायद इस बात से था कि इस दौर में कृषि-संबंधी हितों का विस्तार अधिक हो रहा था। ऐसे विस्तार से विनिमय केंद्रों को तो प्रोत्साहन मिला होगा, लेकिन विनिमय शायद स्थानीय पैदावार का ही होता होगा।

*शिलप्पादिगारम्*और *मणिमेगलै* में आए शहरी जीवन के वर्णनों में शहर का महत्व देखा जा सकता है। अपने बंदरगाह और घाट, सौदागरों के मकानों और यवनों के निवासवाले विशेष भाग के कारण कावेरीपत्तिनम्, जिसे पुहार या पंपुहार भी कहते थे, आकर्षण का मुख्य केंद्र था। नावों में लादकर धान पुहार लाया जाता था, जहां उन अन्य वस्तुओं से उसका विनिमय किया जाता था जो कांचीपुरम्, उरैयुर और मदुरै के अंतर्देशीय बाजारों के लिए होती थीं। पुहार में व्यापार के लिए जो उत्पादन होता था उसका संबंध भी अन्य स्थानों से प्राप्त संसाधनों से था। पालघाट से वैदुर्य तथा उससे भी दक्षिण से मोती आते थे; चंदन, सागवान, आबनूस आदि लकड़ी अन्दरूनी हिस्सों के जंगलों से आती थी; और कपड़े कई केंद्रों से आते थे। पुहार जीवन से भरपूर नगर था, जहां की जीवन-शैली समृद्धिपूर्ण थी।

साहित्यिक संस्कृति

इस काल के आरंभिक दौर में शिक्षा देने का काम जैन और बौद्ध करते थे और उनके विचार शहरी संस्कार में व्याप्त थे। परंतु कालांतर में उनका स्थान ब्राह्मणों ने ले लिया। जैनों की संस्कृत साहित्य की अपनी एक परंपरा थी, जिसके प्रमाण *आदिपुराण*तथा *यशस्तिलक*जैसे ग्रंथ थे। उन्होंने प्राकृत का भी उपयोग किया था और अब तमिल का भी करने लगे थे। उन्होंने धार्मिक शिक्षा देने के लिए मदुरै और कांचीपुरम् के निकट तथा श्रवण बेलगोल में कुछ केंद्रों का विकास किया, जिनमें उन्नत शिक्षा भी दी जाती थी। बहुत-से जैन भिक्षुओं में इधर-उधर बिखर जाने और पहाड़ियों तथा जंगलों में गुफाओं में जाकर एकांत-सेवन की प्रवृत्ति होती थी। इनमें से सबसे सुंदर गुफाएं पुडुकोट्टै में सित्तन्नवासल में थीं, जहां कुछ ऐसे निशान देखने को मिलते हैं जो उत्कृष्ट भित्तिचित्र के मालूम होते हैं। विहार बौद्ध शिक्षा प्रणाली के नाभि-केंद्र थे। वे कांचीपुरम् क्षेत्र में तथा कृष्णा और गोदावरी की घाटियों में स्थित थे। बौद्ध केंद्र धर्म के अध्ययन पर ज़ोर देते थे, ख़ास तौर से इसलिए कि बौद्ध संप्रदायों का वैष्णव एवं शैव संप्रदायों के साथ तीव्र विवाद चल रहा था। धार्मिक सिद्धांत के सूक्ष्म बिंदुओं पर बहस में काफी समय खर्च किया जाता था। राज-संरक्षण से, जिसका अब बौद्धों को बहुधा अभाव रहता था, दूसरों की स्थिति मजबूत हुई। एक हद तक जैन धर्म की लोकप्रियता में भी कमी आई, ख़ास तौर से जब उसके मुकाबले शैव मत को अधिक संरक्षण मिलने लगा। जब पल्लव-राज प्रथम महेंद्र-वर्मन् जैन धर्म में रुचि खो बैठा और शैव मत का पक्षधर बन गया

तब जैन महत्वपूर्ण राज-प्रश्रय से वंचित हो गए। राज-संरक्षण में इस तरह के उतार-चढ़ाव आम नहीं थे, क्योंकि अधिकतर राजा संरक्षण का वितरण बहुत चतुराई से करते थे। बदलाव व्यक्तिगत झुकाव के कारण हो सकता था या इस अनुमान के कारण भी कि अमुक समूह राजा को समर्थन देनेवाले तंत्र के रूप में अथवा राजस्व-दाता के तौर पर अपना महत्व खो रहा है।

मंदिरों के साथ सामान्यत: घटिकाएं जुड़ी होती थीं, जो ब्राह्मणीय विद्या प्रदान करनेवाले महाविद्यालय और केंद्र होती थीं। आरंभ में इन महाविद्यालयों में केवल द्विजों को ही प्रवेश मिलता था। यद्यपि कभी-कभी घटिकाओं को व्यापारियों से भी अनुदान मिलते थे तथापि उन्हें ब्राह्मणीय संस्थाओं के रूप में ही देखा जाता था और वे उन्नत शिक्षा देती थीं। व्यापक राज-प्रश्रय ने उनकी राजनीतिक गतिविधियों की संभावना की अभिवृद्धि की, सो इस तरह कि वे या तो राजा के प्रति निष्ठावान होती थीं या यदि राज-परिवार के राजा से रुष्ट सदस्य उन्हें प्रश्रय देते थे तो वे राजा के विरोधी के प्रति निष्ठा रखती थीं। कांचीपुरम् में विहारों तथा महाविद्यालयों का ऐसा जमघट था कि उसने शिक्षा के क्षेत्र में लगभग नालंदा की बराबरी की प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। लेकिन इनके अलावा भी बहुत-से संस्कृत महाविद्यालय थे। आठवीं सदी के आसपास ब्राह्मण धर्म तथा पौराणिक हिंदू धर्म द्वारा समर्थित मठ बौद्ध विहारों तथा जैन बसदियों की समानांतर संस्थाओं के रूप में उभरे। यह पांथशाला, लंगर और शैक्षिक केंद्र का मिश्रित रूप था। इससे उस संप्रदाय का परोक्ष प्रचार होता था जिससे वह संबंधित रहता था। जहां तीर्थयात्री एकत्र होते थे और जहां धार्मिक परिचर्चा अधिक प्रभावकारी हो सकती थी वहां ये मठ स्वभावत: अधिक उपयोगी प्रयोजन सिद्ध करते थे।

अब संस्कृत इन संस्थाओं का स्वीकृत माध्यम थी और अग्रहारों, घटिकाओं तथा मठों के जरिए वह खूब फैली। वह दरबार की भी भाषा थी, जिससे साहित्यिक क्षेत्रों में इसके प्रयोग को बढ़ावा मिला। इस काल की दो सर्वप्रमुख कृतियां थीं भारवि-कृत *किरातार्जुनियम्*तथा दंडी-कृत *दशकुमारचरित*। पहली कृति *महाभारत* के एक प्रसंग पर आधारित थी, जिसमें शिव के साथ इस महाकाव्य के नायक अर्जुन की स्पर्धा होती है। दंडी की दस राजकुमारों की कथाओं के स्थान उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में पड़ते थे और उनमें जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र के पात्रों का जमघट था। कथाओं का वर्णन विदग्धता के साथ और आडंबर-रहित ढंग से किया गया है। परंतु साहित्यिक आयासपूर्ण रचना का भी चलन था, जो शायद अपने भाषा-पांडित्य के प्रदर्शन का एक प्रयत्न था। कभी-कभी कोई काव्य ऐसी कुशलता से रचा जाता था कि उसे आगे की ओर भी पढ़ा जा सकता था और पीछे की ओर भी। दोनों में से प्रत्येक वाचन में अलग कथा कही जाती थी-जैसे एक वाचन में *रामायण*की कथा कही जाती थी और दूसरे में *महाभारत*की। जो लोग इस प्रकार

की साहित्यिक कृत्रिमता का खेल खेलते थे या उसकी प्रशंसा करते थे वे नए साहित्य की भाषाओं की–दक्षिण में तमिल तथा दकन में कन्नड़ और बाद में तेलुगु की—उपेक्षा कर देते थे।

इस काल में कन्नड़ साहित्य के अस्तित्व के उल्लेख देखने को मिलते हैं, परंतु उसका ख़ास-कुछ शेष नहीं बचा है। बादामी में प्राप्त एक चालुक्य राजा के सातवीं सदी के एक अभिलेख में कन्नड़ का जिक्र स्थानीय प्राकृत भाषा तथा संस्कृत का संस्कृति की भाषा के रूप में हुआ है। इससे दोनों भाषाओं का संबंध बिलकुल साफ हो जाता है। बाद में इस संबंध को *देशी*और *मार्ग*इन दो तरह की छापों द्वारा स्पष्ट किया गया। पहला था स्थानीय लोक-साहित्य और दूसरा था संस्कृत का मुख्यधारा का साहित्य। इस भेद से भाषाओं तथा साहित्यों के सामाजिक संदर्भ के प्रति सजगता ध्वनित होती है। सदी भर बाद एक चालुक्य राजा ने कांचीपुरम् में कन्नड़ में एक अभिलेख अंकित करवाया। नवीं सदी की रचना *कविराजमार्ग*का कन्नड़ काव्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है।

अब तमिल में गीतिकाव्य और महाकाव्य दोनों की रचना होने लगी थी। पूर्ववर्ती काल की उपदेशात्मक कविताओं से, जो जैन धर्म से प्रेरित थीं, लोगों का परिचय था और उनका गायन भी किया जाता था। इसके उदाहरण *कुराल*और *नलडियार* की कविताएं हैं। *शिलप्पादिगारम्*और *मणिमेगलै*इन दो तमिल महाकाव्यों ने तमिल में परिपक्व तथा स्वतंत्र काव्य-शैली के विकास की आधारशिला का काम किया। इनका काल बहुधा प्रथम सहस्राब्दी ई. का मध्य माना जाता है। इनमें से प्रथम का रचनाकार इलंगो आदिगल राज-परिवार का था और स्पष्ट ही वह श्रमणों का पक्षपाती था, क्योंकि इस काव्य का स्वर अहिंसा तथा कर्म पर ज़ोर देता है, यद्यपि इसमें किसी हद तक धार्मिक समभाव का भी तत्त्व है। व्यापारी परिवार से संबंधित कट्टन द्वारा लिखे इसके उत्तरांश में कथा और भाव आगे जारी रहता है। ये काव्य खड्गहस्त वीरों की पूर्ववर्ती कथाओं तथा काव्यों से हटकर हैं, क्योंकि पहली कृति की मुख्य पात्र नायिका कन्नकि है, जिसकी वीरोचित हिंसा और उसका परिणाम मदुरै नगर को दिए गए एक शाप का असाधारण रूप ग्रहण कर लेती है और अंततः वह देवी पट्टणी के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। यद्यपि इन काव्यों का वर्गीकरण महाकाव्यों के रूप में किया गया है तथापि इनके विषय महाकाव्यों के रूढ़ विषयों से भिन्न हैं। जैन रामायणों की एक शृंखला में भी उपदेशात्मक अंश स्पष्ट हैं। इनकी रचना अलग-अलग स्थानों में हुई है, और ये ब्राह्मणीय प्रवृत्ति से प्रेरित पाठों से भिन्न हैं।

दोनों दीर्घकाव्यों के वर्णन ग्रामीण और साथ ही कावेरीपत्तिनम् के बिंबों से भरे पड़े हैं और दैनिक जीवन की गतिविधियों को साकार करने की दृष्टि से विशेष रूप से प्रभावक्षम हैं। *शिलप्यादिगारम्*के एक अवतरण के अंगरेजी अनुवाद से किया गया हिंदी अनुवाद नीचे देखिए :

धान और गन्ने के लहलहाते खेतों से
उठते बयार जिन्हें सहलाते हैं
उन तालों में उगते
नव-कमलों की सघन झाड़ियों में से
जल-मुर्गों, चीखते सारसों,
लाल पैरोंवाले हंसों, हरे पैरोंवाले बगुलों,
वन-मुर्गों, जलकौओं, उराल पनचाहों
और अन्य पक्षियों के तरह-तरह के
कोलाहलपूर्ण स्वर सुनाई देते थे,
मानो, रणभूमि में दो राजा
जूझ रहे हों जीत के लिए।
और भैंसें प्रवेश करती हैं और धंस जाती हैं
मुलायम कीचड़ में जिस पर
नहीं चलाया गया है अभी हल।
उनके शरीर के बाल अनधुले हैं और
आंखें लाल और वे आकर अपनी खुजलाती
पीठों को रगड़ती हैं अक्षत धानियों से,
जिससे उन्हें संभाले रखनेवाली
ऐंठी हुई लड़ियां पड़ जाती हैं ढीली।
धानियां एक-दूसरे से अलग हो जाती हैं
और भरे-पूरे दाने
जो चौरियों से दिखनेवाले श्रेष्ठ धान
के पूलों के अंदर भंडारित थे,
बाहर आ जाते हैं।
और सुनाई देती थी
ऊंचे स्वर में बात करते सबल भुजाओंवाले मजदूरों और
झुंडों में खड़े किसानों की आवाज
और सुनाई देता था स्वर
नई शैलियों के गीतों का, जिन्हें गा रही थीं
तीव्र मदिरा का पान कर मत्त,
खेतों में काम करती निम्न-जात स्त्रियां।
मीनिकाओं जैसे विस्फारित नेत्रोंवाली
वे स्त्रियां अभद्र शब्द उछाल रही थीं और
कीचड़-सने अपने वस्त्रों में और
कीचड़-पुते उरोजोंवाली तथा बाजूबंदों से
आवेष्ठित कंधोंवाली लगती थीं
अतीव आकर्षक।
अपने बालों से वे सुगंधित पुष्पों को निकालकर

खोंस रही थीं उनमें पौदें।
और सुनाई देता था हलवाहों का
प्रशस्ति-गान, जो अपने-अपने हलों के निकट
खड़े, हाथ जोड़कर प्रार्थना में गा रहे थे।
लगता था मानो वे
धान की चमकीली बालों से गूंथी मालाओं
से कांत और नीलकमलों
और घनी लतावत् हरियाली घास
की चुन्नटोंवाली धरती
की परत को खोल रहे थे।

इलिंगो आदिगल, शिलप्पादिगारम्, अनु. आर. पार्थसारथी, द ले ऑफ एन एंकलेट, पृ. 98-9

नगर का वर्णन *मणिमेगलै* में मिलता है, जिसमें पुहार की तुलना स्त्री से की गई है :

असंख्य फूलों से सज्जित, हजार प्रकार के पक्षियों के कलरव से अनुगूंजित स्वच्छ जल से भरी खंदकें उसकी पाजेब हैं। चारों ओर के प्राचीर, जिन पर ऊंचे बुर्ज बने हुए हैं, उसकी हीरा-जड़ित करधनी हैं। सिंहद्वार, जिन पर लट्ठों में टंगी पताकाएं फहरा रही हैं, अनेक कंठों से लदे उसके कंधे हैं। कल्प-तरु मंदिर और वज्र मंदिर, जो आमने-सामने हैं, उसके दो उत्कृष्ट तथा उत्तेजक उरोज हैं। हजारों साल पुराना, अप्रतिम भव्यतावाला विशाल प्रासाद, जो नगर में सबसे ऊंचाई पर स्थित है और जिसमें आर्कड वृक्ष के पत्रों का हार पहननेवाला चोलराज रहता है, उसकी मुखाकृति है। पूरब में उदीयमान पूर्ण चंद्रमा और पश्चिम में अस्तोन्मुख सूर्य उसके कान की चांदी और सोने की बालियां हैं।

कट्टन, मणिमेगलै, अनु. ए. डेनाइलू, पृ. 22

तमिल के क्लासिकी साहित्य में प्रेम की भावना का उद्रेक करनेवाली अनेक अभिव्यक्तियों का समावेश है। इस भावना का बीज-रूप पूर्ववर्ती संगम काव्य में देखा जा सकता है। तमिल के विकास को उस धार्मिक आंदोलन से बहुत गति मिली जिसे कवियों, भजन-लेखकों और धर्म-प्रचारकों के एक समूह ने लोकप्रिय बनाया। ये थे तमिल भक्ति संप्रदायों के संत। इन रचनाओं में तमिल का व्यापक उपयोग हुआ, जिससे अन्य भाषाओं की तुलना में उसका अधिक विकास हुआ।

दार्शनिक तथा धार्मिक परिवर्तन

व्यापारियों के परिपथों और सेनाओं के नियमित मार्गों तथा साथ ही नई बस्तियां बसानेवाले ब्राह्मणों के माध्यम से दक्षिण की संस्कृति के साथ उत्तर भारत की

संस्कृति का जो आदान-प्रदान हुआ उसके फलस्वरूप उत्तर की कुछ पद्धतियों, विचारों तथा संस्थाओं को स्वीकार किया गया, किंतु कुछ को अस्वीकार या संशोधित कर दिया गया। कुछ ने प्रेरणा-स्रोतों का काम किया और फलतः नए रूपों की सृष्टि हुई। तमिलनाडु में बसनेवाले ब्राह्मण अपने को उस चीज के अभिरक्षकों के रूप में देखते थे जिसे अब वे अनुल्लंघनीय वैदिक परंपरा मानते थे। उसे किस हद तक उत्तर की देन के रूप में देखा जाता था, यह विवादास्पद है, क्योंकि प्रायद्वीप के वैदिक अध्ययन केंद्रों में भी वेदों के कुछ भागों को संशोधित-संपादित किया गया था। अधिक संभावना इस बात की है कि अंगीकरण और रूपांतरण के माध्यम से संस्कृत के वर्चस्वी भाषा बनने का जो सिलसिला पहले ही आरंभ हो चुका था वह आगे जारी रहा। तथापि प्रायद्वीप में उसका वर्चस्व अक्षत नहीं था, क्योंकि द्राविड़ मूलों से निकली भाषाओं का दबदबा कायम रहा और उनका अधिक व्यापक उपयोग होता रहा। शिक्षित ब्राह्मण गतिमान हो गए थे और वे नए संरक्षकों की तलाश में थे, क्योंकि उत्तर के म्लेच्छ राजा—शक, हिंद-यूनानी, कुषाण तथा हूण—बौद्ध तथा जैन धर्मों को तथा उदीयमान पौराणिक धर्मों को अधिक समर्थन देते थे। परंतु अपने अभिलेखों में संस्कृत का सर्वप्रथम उपयोग पश्चिमी भारत के राजाओं ने—क्षत्रपों ने—किया था और वे ब्राह्मणों के संरक्षक थे।

वैदिक परंपरा के अभिरक्षकों के रूप में ब्राह्मणों को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था और उन्हें प्रायद्वीप के राजाओं में अच्छे संरक्षक मिल गए। अन्य किसी भी क्षेत्र के राजाओं की तरह ये राजा रूढ़िवादी परंपरा का पालन करके सम्मान प्राप्त करना चाहते थे और प्रस्तुत प्रसंग में ऐसी परंपरा ब्राह्मणों की व्याख्या की परंपरा थी। राजा द्वारा कर्मकांड का संपादन ऊंचा दर्जा प्राप्त करने का एक रास्ता था। ब्राह्मणों का देवताओं के संपर्क में रहने का दावा, अदृश्य शक्तियों को अनुकूल रूप देने की उनकी तथाकथित क्षमता और राजा का कल्याण करने के लिए सही मंत्र की जानकारी रखने की उनकी प्रतीति, ये तमाम बातें राजा को अन्य दावों की अपेक्षा शायद अधिक विश्वसनीय लगती थीं। कर्मकांड से सत्ता और शक्ति प्राप्त होती है, यह विश्वास व्यापक था और एक अन्य प्रलोभन था स्वर्ग की प्राप्ति। कर्मकांड बहुधा आगमों पर आधारित होते थे, यद्यपि वैदिक आचरण भी जारी रहे। वस्तुतः ये ऐसे अवसर होते थे जब दोनों परंपराओं का कुछ संयोग होता था।

वैदिक परंपरा कर्मकांडों तक ही सीमित नहीं थी। वैदिक साहित्य की टीकाओं से उन दिनों चल रहे दार्शनिक विचारों के मंथन को प्रोत्साहन मिला था। अब उपमहाद्वीप के अनेक भागों में दार्शनिक सिद्धांतों के विकास को लक्ष्य किया जा सकता था। कुछ दार्शनिक वैदिक चिंतन में नवजीवन का संचार करना चाहते थे, और मठों तथा घटिकाओं की स्थापना के पीछे इस बात की प्रेरणा रही होगी। लेकिन नवजीवन का संचार करने के लिए परिवर्तनों की आवश्यकता होती है। वैदिक साहित्य

पर आधारित दर्शन को अधिक स्वीकार्य बनाने का एक तरीका था उसकी रहस्यमयता को कम करना और इस प्रकार उसे शिक्षित लोगों की समझ में आने लायक बनाना। इसका प्रयत्न शंकराचार्य ने किया। बौद्ध धर्म, जैन धर्म तथा लोकप्रिय भक्ति संप्रदायों द्वारा ब्राह्मण धर्म को दी गई चुनौती को उन्होंने स्वीकार किया और उसका उत्तर देने का प्रयत्न किया।

शंकर का जन्म केरल में हुआ था और उनके लेखन तथा धर्म-शिक्षण के कार्यों का काल शायद आठवीं-नवीं सदी थी, यद्यपि उनसे संबंधित तिथियां विवादास्पद हैं और वे आगे भी खिसक सकती हैं। उन्होंने वैदिक प्रणाली के गंभीर अध्येता तथा वेदांत दर्शन के नए व्याख्याता के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की। उन्होंने अपने भाष्यों द्वारा उपनिषदों में भी नए सिरे से लोगों की रुचि जगाई। अपने भाष्यों में उन्होंने आत्मा तथा ब्रह्म के संबंधों का पल्लवन करते हुए कहा कि ब्रह्म की अनुभूति उपयुक्त ज्ञान द्वारा ही संभव है।

शंकर ने अद्वैत का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार दृश्य जगत् माया है और सत्य उससे परे है, जिसे मानवेंद्रियों से अनुभव नहीं किया जा सकता है। संन्यास इंद्रियों का निग्रह करके उन्हें ऐसी दिशा देने की शक्ति प्रदान करता है जिससे सत्य के दर्शन संभव हैं। शंकर अनावश्यक और निरर्थक कर्मकांड के विरुद्ध थे। उन्होंने अपने मठ स्थापित किए, जहां सरल रीति से पूजा की जाती थी और सुविन्यस्त वेदांत की शिक्षा दी जाती थी। मठों की कल्पना विहारों तथा बसदियों की समानांतर संस्था के रूप में की गई थी और कहते हैं, ये हिमालय में बदरीनाथ, उड़ीसा में पुरी, पश्चिमी तट पर द्वारका और दक्षिण में श्रृंगेरी में—जो सबसे महत्वपूर्ण था—स्थापित किए गए। इन सभी स्थानों में बड़ी संख्या में तीर्थयात्रियों का जमघट होता था, और माना जाता था कि ये उपमहाद्वीप के चार कोनों में स्थित हैं। तथापि कुछ कालानुक्रमिक असंगति दिखाई देती है, क्योंकि शांकर मठों से संबंधित अभिलेख बाद के काल के हैं। इस कारण से मठों की तिथियों को लेकर काफी विवाद उठा। इन संस्थाओं को भरपूर अनुदान प्राप्त हुए और इनकी शाखाएं शीघ्र ही अन्यत्र भी स्थापित हो गईं, जो शंकर की शिक्षा के केंद्र बन गईं। इन संस्थाओं में नियंत्रण का एक सोपानबद्ध तंत्र कायम हो गया, जिन्होंने धार्मिक संगठन का रूप ले लिया, परंतु वह संगठन राज्य का समानांतर नहीं था, चाहे प्रशासन के मामलों में वह जितना भी प्रभावशाली रहा हो।

कहते हैं, शंकराचार्य ने विद्या के अनेक केंद्रों की यात्रा की और मंडन, कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर जैसे उद्‌भट विद्वानों और साथ ही बौद्ध एवं जैन विद्वानों से शास्त्रार्थ किया। उन्होंने अपने संन्यासी संघ के सदस्यों को एक धार्मिक हेतु के रूप में अपनी शिक्षा का प्रचार करने के लिए प्रोत्साहित किया। शंकर द्वारा अपनाए गए दार्शनिक रूप और संस्थागत संगठन बहुधा बौद्धों के सामानांतर या उनके अनुकरण होते थे।

इसलिए बौद्ध लोग स्वभावतः एक ऐसे आंदोलन से क्षुब्ध थे जो उन्हीं के तरीकों से उनकी जड़ों को कमज़ोर करने में प्रवृत्त था। इसका एक उदाहरण लामा तारनाथ द्वारा सोलहवीं सदी में लिखे गए बौद्ध धर्म के तिब्बती इतिहास में शंकर का निंदात्मक वर्णन है। शंकर को बौद्ध धर्म एक खतरे जैसा लगा, यह इस बात का प्रमाण है कि बौद्ध विचार अब भी महत्वपूर्ण थे। बौद्धेतर स्रोतों में शंकर के लेखन की आलोचना बहुत पहले बारहवीं सदी में रामानुज की टीका में दिखाई देती है।

विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ आम बात थी, और उनकी सार्वजनिक भूमिका का स्रोत पूर्ववर्ती श्रमणीय परंपरा थी। जिस चीज को प्रतिष्ठित परंपरा माना जाता था उस पर यह भाष्यों तथा टीकाओं के लेखन का भी काल था। अब नए सामाजिक समूहों के बीच उस परंपरा की पुनर्व्याख्या की जा रही थी। टीकाओं तथा भाष्यों में बहुधा नए विचार होते थे। जहां उनमें पूर्ववर्ती चिंतन से अंतर आता है वहां उनका अपना ऐतिहासिक महत्व होता है। उदाहरण के लिए, कानून के स्रोत बदल रहे थे और ज़्यादा ज़ोर परिवार, श्रेणि तथा जाति से संबंधित प्रथागत कानून पर दिया जा रहा था।

अपने विरोधियों के साथ शास्त्रार्थ करने के शंकर के उत्साह तथा उनके विरोधियों के उत्तरों से एक ऐसी परंपरा कायम हुई जिसने दार्शनिक केंद्रों को नए तत्व-चिंतन की ओर प्रेरित किया, भले ही इससे कभी-कभी रूढ़िवादी विचारों को ही प्रश्रय क्यों न मिला हो। शंकर के दर्शन में नकारात्मक प्रतिक्रियाओं की संभावनाएं भी मौजूद थीं। उनमें से एक यह थी कि यदि दृश्य जगत् माया है तो वह कैसे काम करता है, इसे समझने की कोई प्रेरणा नहीं रह जाती और न उससे आनुभविक ज्ञान प्राप्त करने का कोई कारण रह जाता है।

दक्षिण में केवल वैदिक दर्शन तथा आचरण की ही उपस्थिति नहीं थी। धर्म-शिक्षा की दृष्टि से अन्य वेद-विरोधी या अवैदिक समूहों का भी विकास हुआ था और अब उनकी उपस्थिति एक वास्तविकता थी। जैन धर्म और बौद्ध धर्म के अलावा भागवत और पाशुपत संप्रदाय भी थे, जो क्रमशः विष्णु तथा शिव के प्रति भक्ति की शिक्षा देते थे। उनके कर्मकांड प्रत्येक संप्रदाय के आगमों में वर्णित थे। ज़ोर व्यक्तिगत पूजा पर थी। पूजा-कर्म के चढ़ावे के रूप में पशु-बलि की अपेक्षा सामान्यतः फूल, फल और अनाज होते थे। कर्मकांडों का स्रोत मंत्रों की प्रभावकारिता में विश्वास था। मंदिरों में प्रतिष्ठित प्रतिमाओं की पूजा करते समय और पूजा की विधियों के क्रम में उन मंत्रों का उच्चार किया जाता था। यह पुरोहितों के मार्गदर्शन में राजाओं द्वारा संपादित वैदिक तथा अन्य कर्मकांडों की अपेक्षा पूजा का अधिक सरल और समझ में आनेवाला रूप था और आगे आम लोगों के बीच इसकी जड़ें जमनेवाली थीं।

यद्यपि रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने आरंभ में भक्ति आंदोलन की अनदेखी कर दी, तथापि अंत में वह दक्षिण में अन्य धार्मिक प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय

सिद्ध हुआ और इस बात को धर्म को संरक्षण देनेवाले राजाओं और उनके परिवारों को भी स्वीकार करना पड़ा। तमिल भक्ति आंदोलन आराध्यों के चयन में वैष्णव तथा शैव संप्रदायों से गहरे तौर पर प्रभावित हुआ। कुछ संप्रदाय बौद्ध तथा जैन संप्रदायों के विरोधी थे, फिर भी इनसे प्रभावित थे। ये संप्रदाय भक्ति आंदोलन की पूर्ववर्ती अभिव्यक्तियां थे।

भक्ति आंदोलन. शब्दों का प्रयोग इस उपमहाद्वीप में काल के अलग-अलग दौरों में उठनेवाले विभिन्न सांप्रदायिक आंदोलनों के लिए किया गया है। इनमें से कइयों में समानताएं थीं, परंतु ये सब एक नहीं थे। भक्ति परंपरा की अनेक लड़ियां थीं, जिन्हें अलग-अलग पहचानने की ज़रूरत है। एक व्यापक आधारवाली परंपरा के रूप में उसने भारत में धर्म की एक मूलभूत विशेषता को रेखांकित किया : यह कि धर्म के औपचारिक रूप का संबंध ऊपरी दर्जे के एक छोटे-से समूह से था, लेकिन अधिसंख्य लोगों के लिए धर्म अंतर्क्रिया, समाहार, स्थानीकृत ढंग की स्पर्धा और धार्मिक विश्वास तथा आचार से संबंधित भावनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं की तलाश के प्रयोग का क्षेत्र बना रहा। सांप्रदायिक पहचान अधिक पहचानी जानेवाली पहचान थी। धर्म के आवश्यक तत्व इन दूसरे समूहों द्वारा व्यक्त रूपों में समाहित थे-उनके गठन में, उनकी पूजा के रूपों में और उनकी पूजा के स्थानों में। जो लोग धर्मग्रंथों की एक शृंखला में धर्म को उद्घाटित देखते हैं उनमें इस यथार्थ की अनदेखी कर देने की प्रवृत्ति होती है।

कहा जा सकता है कि वैष्णव और शैव संप्रदाय उन आंदोलनों को दिए गए औपचारिक रूपमात्र थे जिन्हें हर हाल में उभरना तो था ही। इस अर्थ में वे रूढ़ आचारों तथा सामाजिक असमानता का आग्रह रखनेवाली वैदिक ब्राह्मण धर्म के सबकुछ पर अपना मुलम्मा चढ़ा देने के प्रयत्नों का प्रतिवाद करनेवाली स्थानीय भावना की अभिव्यक्ति थे। बौद्ध तथा जैन धर्म भक्ति आंदोलनों में कम लोकप्रिय इस धारणा के कारण थे कि वे संन्यास द्वारा शरीर के दमन के पक्ष में हैं। परंतु कतिपय अधिक प्रमुख धर्मशिक्षकों के जैन धर्म का त्याग करके वैष्णव या शैव बन जाने का यह एकमात्र कारण नहीं था, और जैन धर्म तथा तमिल भक्ति आंदोलन के बीच के संबंध की पर्याप्त छानबीन अभी नहीं हो पाई है। इस आंदोलन का प्रकट होना अप्रत्याशित नहीं था, क्योंकि वह दीर्घ काल से इतिहास के गर्भ में पल रहा था, ख़ास तौर से अगर हम इसके मूल को संगम प्रेम-काव्यों में देखें, जिससे प्रेम और भक्ति के काव्य का विकास हुआ बताया जाता है। प्रेमी के रूप में आराध्य कभी-कभी अत्यधिक सशक्त काव्य की प्रेरणा देता है, जो धर्म और शृंगार के संगम पर स्थित होता है।

भक्ति काव्य में पुनर्जन्म के बंधन से मुक्ति की लालसा, मुक्ति के मार्ग के रूप में भक्ति तथा हिंसा से यथासंभव बचने पर ज़ोर होता है। प्रेम का पात्र कोई

आराध्य होता था। भक्ति के पहलू की कल्पना का आधार पुरुष या स्त्री तथा उसके आराध्य के बीच का संबंध था और वह संबंध प्रेम तथा आराध्य द्वारा आराधक पर की जानेवाली कृपा पर आधारित होता था। पूर्ववर्ती धार्मिक चिंतन में इस कल्पना पर विशेष बल नहीं दिया गया था। अपनी अपूर्णता की अनुभूति करते हुए आराधक अपने आराध्य के प्रति अपने प्रेम की घोषणा करता था और माना जाता था कि आराध्य पारस्परिकतापूर्ण संबंध की अनुमति देता है। इस भावना का वर्णन इस परंपरा के एक पूर्वतम तमिल काव्य में अत्यंत मार्मिक ढंग से किया गया है। यह काव्य मुरुगन को समर्पित है।

> देखो जब उसकी मुखाकृति, सोल्लास उसका गुण-गान करो,
> करबद्ध हो उसकी पूजा करो, नत होओ उसके समक्ष ऐसे
> कि तुम्हारा मस्तक उसके चरणों को छुए।
> दिव्य और दुर्घर्ष होगा उसका रूप–
> स्वर्गाभिमुख, परंतु उसकी कठोरतर मुखाकृति
> होगी छिपी हुई और दिखलाएगा वह तुम्हें
> एक युवा का रूप, सुगंधमय और सुष्ठु
> और होंगे उसके शब्द प्रेम में पगे और कृपापूर्ण–
> मत होओ भयभीत–जानता था मैं तुम आ रहे हो।
>
> पट्टुपट्टु, 'तिरुमुरुगनरुंपदै', 285-90,
> ए.एल. बैशम, *वंडरदैहवाजइंडिया*,
> पृ. 30 में दिए अंगरेजी अनुवाद के आधार पर

तमिल भक्ति को वैष्णव अलवार तथा शैव नयनार संतों के भजनों तथा कविताओं के माध्यम से अतीव लोकप्रियता प्राप्त हुई। शिव तथा विष्णु को समर्पित भजन दो पृथक् संग्रहों में सुरक्षित हैं–*तिरुमुरै*और *नलयिरादिव्य-प्रबंधम्*। शैव कवियों में सबसे प्रसिद्ध अप्पर (कहते हैं, उन्होंने ही राजा महेंद्रवर्मन् को शैव बनाया था), संबंदर, मणिक्कवसागर और सुंदरमूर्ति थे, जिनमें से कुछ जैन धर्म का त्याग करके शैव बने थे। अधिक विख्यात वैष्णव अलवार कवि थे नम्मलवार, तिरुमनकै अलवार और वेशक अति श्रद्धेया अंदाल। वैदिक देवताओं को या तो अस्वीकार कर दिया गया या उनकी उपेक्षा कर दी गई। ज़ोर उपास्य पर नहीं, बल्कि उपासना में समाहित संबंध पर था। मणिक्कवसागर इसे अपने भजनों में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :

> इंद्र हों या विष्णु अथवा ब्रह्मा,
> नहीं मुझे आकांक्षा उनकी कृपा की,
> कामना है तो तुम्हारे संतों के प्रेम की,
> चाहे इस कारण नष्ट हो जाए मेरा घर-बार।

मैं रौरव नरक में जाऊं तो क्या,
होनी चाहिए कृपा तुम्हारी मेरे साथ
सबसे बढ़कर, कैसे मेरे हृदय में
आ सकता है किसी और ईश्वर का विचार, सिवाय तुम्हारे?
मैं गुण-रहित, तप, ज्ञान और आत्म-संयम से विहीन,
किसी कठपुतली की भांति औरों के इशारों पर
नाच-नाच कर हो जाता था बेहाल,
पर भर दिया उसने मेरे अंग-अंग को
प्रेम की पागलपन-भरी लगन से
कि पहुंच जाऊं मैं उस ऊंचाई पर
लौटता जहां से नहीं कोई।
दिखलाया उसने अपना सौंदर्य और बना लिया मुझे अपना।
अरे मैं, कब जाऊंगा उसके पास?

पी. किंग्सबरी और जी.ई. फिलिप्स, हिम्स ऑफ द तमिल शैवाइट संट्स,
पृ. 89, 127 में दिए गए अंगरेजी अनुवाद के आधार पर

विष्णु को समर्पित नम्मलवार की कविताओं में आराध्य से और भी प्रबल प्रतिबद्धता देखने को मिलती है और औपचारिक धर्म को कहीं कोई स्थान नहीं दिया गया है :

लिंगाख्यानों में विश्वास करनेवाले तुम लोग,
और तुम जैन
और बौद्ध लोग
तार्किक खंडन-मंडनों में फंसे तुम लोग
अपने देवता स्वयं बन गए हो,
लेकिन वह तो रहा यह,
हम सबका स्वामी :
आओ और देखो उसे कुरुकुर में
जहां भरी-पूरी धान की बालियां उसे चंवर डुलाती हैं।
असत्यों से विहीन इस स्थान में
आओ और उसकी प्रशस्ति के गीत गाओ।

अन्यत्र वे कहते हैं :

मैंने बस इतना कहा
'मेरे स्वामी का उपवन और पहाड़ी'

और वह नीचे उतर आया
और मेरे हृदय को कर दिया आप्लावित,
मेरे स्वामी,
जो उस दिन मुझे ले गया
सदा के लिए परमानंद की अवस्था में,
और मुझे अपना बना लिया
और तमिल में गाए अपने ही गीत, मेरे माध्यम से :
क्या कहूंगा मैं
उस सर्वोपरि से,
उस शिखा से
जो वहां जल रही है
किससे कहूंगा मैं
ठहर जाने के लिए?

और उसकी (प्रभु की प्रेमिका-रूप कवि की) माता ने क्या कहा :

बहनो,
बेटियां हैं तुम्हारे भी
और पाला-पोसा है तुमने उन्हें।
मैं कैसे बताऊं तुम्हें
अपनी बेचारी बेटी के बारे में?
वह बात करती है शंख* की
और करती है चक्र* की,
और बात करती है दिन-रात
उसके बालों में गुंथी तुलसी की।
मैं क्या करूं?

ए.के. रामानुजम्, हिम्स फॉर द ड्राउनिंग, पृ. 57, 78,
35 में किए अंगरेजी अनुवाद के आधार पर

अप्पर कहते हैं :

एक समय उसने मुझे भगाया
निर्वसन जैनों के साथ
और तब गववाया मुझसे मधुर गीत
अपने कनक-चरणों की प्रशस्ति में।

---

* विष्णु के प्रतीक चिह्न

कुरनकुटुदुरै के स्वामी ने
मुझे बचाया कर्म से
और शामिल कर लिया अपने सच्चे भक्तों में।

इंदिरा वी. पिटर्सन, पोएम्स टु शिव, पृ. 289
में दिए अंगरेजी अनुवाद से

भजन-गायकों में कुछ ब्राह्मण भी थे, लेकिन उसमें शरीक बहुत-से लोग निम्न जातियों के कारीगर और किसान थे। सभी रचनाकार नहीं थे, लेकिन रचनाओं से परिचित अवश्य थे। वे तमिल देश के विभिन्न भागों के निवासी थे, और खूब यात्रा किया करते थे। इन समूहों की अधिक क्रांतिकारी विशेषताओं में कवयित्रियों की सक्रिय भागीदारी और पुलैयर अर्थात् पंचम जाति के लोगों की उपस्थिति का समावेश था।

अंदाल सर्वाधिक विख्यात कवयित्रियों में थीं। उनके भजन बहुधा गाए जाते थे। वे अपने को भगवान् विष्णु की प्रेमिका मानती थीं और उनके पद अपने आराध्य के प्रति उनके प्रेम में पगे होते थे। ये पद मीराबाई के पदों के पूर्वाभास देते हैं, जो कई सदी बाद भक्ति की कवयित्री के रूप में उत्तर भारत में ऐसी ही प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाली थीं। मीरा के आराध्य भी एक प्रकार से विष्णु ही थे, क्योंकि वे विष्णु के एक अवतार कृष्ण के प्रेम में दीवानी थीं। करैक्कलमनैयार के भजन संन्यास के अधिक निकट हैं। तमिल भक्ति आंदोलन में शरीक स्त्रियों ने अपने सामाजिक दायित्वों का त्याग कर दिया, परंतु वे वैकल्पिक व्यवस्था में शामिल नहीं हुईं और साध्वी का बाना नहीं अपनाया। अलबत्ता, अपने काव्य, गतिविधियों तथा वासना के दमन के द्वारा उन्होंने समाज के अंदर वैकल्पिक संभावनाएं अवश्य उत्पन्न कीं। एक हद तक यह पितृसत्तात्मकता को चुनौती था, लेकिन उस चुनौती को किसी आराध्य के प्रति भक्ति का रूप लेना था। अपने एक गीत में नम्मलवार अपने बारे में कल्पना करते हैं कि मैं अपने आराध्य देव के प्रेम में पड़ी एक स्त्री हूं। लेकिन किसी देवी के प्रति कवि के वासनात्मक प्रेम को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। यद्यपि देवियों की पूजा का व्यापक चलन था तथापि इन काव्यों में भक्ति का केंद्र उन्हें कदाचित् ही बनाया गया हो।

प्रश्न यह उठता है कि अलवारों तथा नयनारों का धर्म पहली सहस्राब्दी के उत्तरार्ध से इतना अधिक लोकप्रिय क्यों हुआ। संभव है, यह अभिजन हलकों में दाखिल की गई आडंबरयुक्त सांस्कृतिक संस्कृति तथा धर्माचरण की प्रतिक्रिया और इस संस्कृति के वशीभूत किए जाने के खिलाफ विरोध की भावना का परिणाम रहा हो। वैदिक ब्राह्मण धर्म के प्रति भक्ति परंपरा की भूमिका कई दृष्टियों से वैसी ही थी जैसी पूर्ववर्ती काल में श्रमणीय संप्रदायों की थी। कर्मकांड तथा ब्राह्मणों

के देवताओं के निकट होने के दावे अस्वीकार्य थे और इसी तरह निम्न जातियों का वर्जन भी मंजूर नहीं था। परंतु तमिल भक्ति का रुख श्रमणीय परंपराओं के प्रति भी ढुलमुल ही था और श्रमणों के प्रति तो स्पष्ट रूप से विरोधपूर्ण था। वैष्णव तथा शैव दृष्टिकोणों से श्रमणीय विश्वास अपधर्म था। प्रतिमा-रूप में कल्पित तथा मंदिर में प्रतिष्ठित आराध्य की केंद्रीय स्थिति पौराणिक हिंदू धर्म का महत्वपूर्ण अंग बन गई थी और उससे भक्ति आंदोलन का स्पष्ट संबंध था।

एक राय यह है कि यह आंदोलन राज्य-व्यवस्था में परिवर्तन का सहवर्ती था। राजा को निष्ठा के केंद्र के रूप में देखा जाता है और वह मध्यवर्तियों तथा अपनी प्रजा से भक्ति की मांग करता है। आराध्य को इसी प्रकार की भावनाओं की प्राप्ति आराधकों से होती है। इस अव्यक्त पारस्परिक क्षेत्रातिक्रमण ने राजाओं को निष्ठा की भावना पर ज़ोर देनेवाले भक्ति संप्रदायों को संरक्षण प्रदान करने के लिए प्रोत्साहन दिया होगा। जिन धर्मों में मंदिरों और राजाओं के देवत्व के लिए स्थान नहीं था उनकी अपेक्षा यह धर्म अधिक सीधा संदेश भेजता था। परंतु मंदिर के साथ राज्य का और आराध्य के साथ राजा का समीकरण अधिक जटिल था। यद्यपि तमिलनाडु की राज्यव्यवस्था में जिस प्रकार के परिवर्तन हुए वैसे परिवर्तन इस काल में उपमहाद्वीप के अन्य क्षेत्रों की राज्य-व्यवस्थाओं में भी हुए, तथापि जिसे हम भक्ति की संज्ञा दे सकते हैं वह चीज अन्य क्षेत्रों में बाद में प्रकट हुई। एक व्यापक सामाजिक वर्ग ने भक्ति आंदोलन की प्रेरणा दी, परंतु इन शिक्षाओं में जिस व्यक्तिगत मुक्ति का संकेत दिया गया है वह शायद ऐतिहासिक परिवर्तनों से उद्भूत हुई हो। तमिलनाडु में उसका संबंध शायद किसानों तथा कारीगरों के कुछ समूहों की ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता एवं नगरों द्वारा विचारों तथा कर्मों के लिए प्रदान की गई स्वतंत्रता से भी हो।

कुछ परंपराओं के अनुसार, तमिल समाज ने अंततः बौद्ध धर्म को अस्वीकार कर दिया और जैन धर्म को दिए जानेवाले संरक्षण में भी कमी कर दी। एक प्रसंग का वर्णन अकसर किया जाता है : बहुत-से जैन भिक्षु एक शैव मठ पर हमला करने के बाद बहस के लिए राजी हुए और जब वे हार गए तो शूली पर चढ़ा दिए जाने के लिए तैयार हो गए। जिन्हें शूली पर चढ़ाया गया उनकी संख्या कभी-कभी आठ हजार बताई जाती है। यह असंभावित कथा जैसी लगती है—ख़ास तौर से उस दौर में जब राजा, कहते हैं, जैन धर्म का त्याग करके शैव धर्म का वरण कर रहे थे। ऐसी परंपराओं में शत्रुता सामान्यतः शैवों तथा श्रमणीय संप्रदायों के बीच बताई जाती है। उपमहाद्वीप के अन्य भागों के संदर्भ में भी ऐसा ही देखने को मिलता है। धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ गई कि प्रायद्वीप का गृहस्थ जैन समाज कर्नाटक में सिमटकर रह गया तथा अन्यत्र उनके कुछ बहुत छोटे-छोटे हलके ही शेष रह गए। परंतु तमिल भक्ति संप्रदायों पर बौद्ध तथा जैन धर्मों की छाप स्पष्ट थी। उनका झुकाव जाति संरचना में सोपानबद्ध समाज की प्रतिष्ठित व्यवस्था को अस्वीकार करने की

ओर था, लेकिन यह अस्वीकृति नैतिक धरातल पर थी, यह समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन की कोई शुरुआत नहीं थी।

आराध्य कोई लोक-देवता भी हो सकता था, जिसे क्रमशः मुख्यधारा के देवता के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। दयावान देवता की कल्पना बौद्ध विचारों को प्रतिबिंबित करती थी, ख़ास तौर से दयावान बोधिसत्त्व की भावना को, यद्यपि संभव है, दक्षिण के ईसाइयों का भी उस पर प्रभाव पड़ा हो। मानवीय अपूर्णता की जो भावना भक्ति संप्रदायों का इतना महत्वपूर्ण पहलू बन गई उसका मूल वैदिक धर्म *कीअपेक्षा*बौद्ध धर्म में रहा होगा। असनातनी संप्रदायों का ह्रास भक्ति संप्रदायों के उदय के साथ-साथ हुआ, जिन्होंने असनातनी संप्रदायों को शायद काफी संभावित अनुयायियों से वंचित कर दिया होगा।

एक स्तर पर तमिल भक्ति संप्रदायों ने सांस्कृतिक संस्कृति का प्रतिरोध किया। ब्राह्मणों को राजाओं का संरक्षण प्राप्त था, लेकिन इन संप्रदायों को व्यापक जन-समर्थन प्राप्त था, यद्यपि बाद की सदियों में जब इन संप्रदायों के अनुयायियों की संख्या काफी बढ़ गई तब राजा इन्हें भी संरक्षण देने लगे, जिसका कारण धार्मिक प्रतीति के अतिरिक्त किसी हद तक राजनीतिक प्रयोजन भी था। लोकप्रिय आंदोलनों के प्रति सतत सजगता राजसत्ता का एक आवश्यक अंग थी। लोकप्रिय आंदोलन से जुड़ने से निष्ठा का एक तंत्र सुलभ होता था और यदि वह आंदोलन व्यापक हुआ तो निष्ठा के क्षेत्र का विस्तार हो सकता था। तमिल भक्ति आंदोलन के मूल उस क्षेत्र में फैले हुए थे और उस हद तक वह राजनीतिक सत्ता के लिए उपयोगी था। वैदिक ब्राह्मण धर्म विस्तृत कर्मकांडों के माध्यम से संस्कृत का प्रचार करता था, लेकिन भक्ति संप्रदाय अपनी अभिव्यक्ति आसानी से समझ में आनेवाले रूपों में आम लोगों की भाषा के उपयोग द्वारा करते थे। ब्राह्मण जातिगत नियमों के आग्रह से ग्रसित थे, लेकिन तमिल कवि केवल जाति के आधार पर किसी का वर्जन नहीं करते थे, उल्टे निम्न जातियों के लोगों का स्वागत करते थे।

ब्राह्मणों के तत्वावधान में संगठित धर्म धन और संरक्षण के दुर्ग में सुरक्षित था और ये दोनों चीजें या तो राज-परिवारों से या संपन्न भूस्वामियों तथा व्यापारियों से प्राप्त होती थीं। स्थानीय मंदिर, जिसे देवता का आवास माना जाता था, धार्मिक गतिविधि का एक प्रमुख केंद्र था। कुछ लोगों ने धर्म के दोनों स्तरों को–ब्राह्मण धर्म तथा भक्ति आंदोलन को–कर्मकांडों तथा समारोहों के द्वारा, सीमित हद तक ही सही लेकिन, एकीकृत करने का प्रयत्न किया। मंदिर एकीकरण के इस प्रयत्न का केंद्र बन गया। मंदिर में विभिन्न वर्गों के पुजारी-सेवक रहते थे। सबसे प्रभावशाली स्मार्त ब्राह्मण थे, जो वैदिक तथा अन्य संस्कृत विद्या में निष्णात होते थे। बहुत-से ब्राह्मण स्थानीय रूप से भरती किए गए पुरोहित-पुजारी थे, जिन्हें कुछ वैदिक तथा पौराणिक ज्ञान होता था और जो रोजमर्रा के अनेक कर्मकांड संपादित करते थे। जहां

मंदिर किसी स्थानीय उपासना केंद्र से उभरा था, वहां पुरोहित-पुजारियों ने देवताओं की पूजा में स्थानीय मिथकों तथा कर्मकांडों का समावेश कर दिया था। उसके बाद उसे सांप्रदायिक आगम ग्रंथों में स्थान देकर उस पर प्रामाणिकता की छाप लगा दी जाती थी, जिससे मंदिर को स्थल-पुराणों तथा स्थल-महात्म्यों के माध्यम से एक माना हुआ इतिहास प्राप्त हो जाता था। तमिल भक्त कवि-कवयित्री किसी विशेष आराध्य और उसकी प्रतिमा को संबोधित करके लिखते थे। जब उनके अनुयायी बढ़ जाते थे तब उनकी रचनाएं भक्ति उपासना का अंग वन जाती थीं। इस विविधता से अलग-अलग समूहों में कुछ मतभेद पैदा हुए होंगे। एक स्तर पर भक्ति स्थानीय उपासना, पूजा के स्थानीय रूपों तथा स्थानीय भाषा पर ज़ोर देती थी। एक अन्य स्तर पर उपमहाद्वीप के अन्य भागों में ज्ञात देवी-देवताओं की पूजा के द्वारा वह पौराणिक हिंदू धर्म को एक हद तक समांगीकृत करने का भी काम करती थी।

मंदिर की भूमिका

मंदिर का खर्च या तो ग्रामदान तथा भूमिदान से प्राप्त संपदा से या पूंजी के निवेश से होनेवाली आय से चलता था। दाता राज-परिवार के सदस्य, संपन्न भूस्वामी मध्यवर्ती लोग या व्यापारी अथवा श्रेणियां हो सकती थीं। मंदिर के छोटे-मोटे उपादान–जैसे अवर प्रतिमाएं, दीपक, तेल आदि–आम तौर पर समाज के साधारण लोगों द्वारा दिए गए दानों से प्राप्त होते थे। मंदिर के सेवक भिन्न-भिन्न कोटियों के थे। गर्भगृह में पूजा-पाठ केवल ब्राह्मण कर सकते थे और अन्य जातियों (सामान्यतः छोटी जातियों) के लोग मंदिर के समारोहों में गायन-वादन करते थे, दीप जलाते थे, प्रतिमाओं की पूजा के लिए आवश्यक फूल और मालाएं जुटाते थे तथा मंदिर की सफाई का ध्यान रखते थे। लेकिन कुम्हारों, चर्मकारों और चातुर्वर्ण्य से बाहर के लोगों को, जिन्हें कर्मकांडी दृष्टि से अस्वच्छ माना जाता था, मंदिर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी, क्योंकि उनकी उपस्थिति अशौचकारी मानी जाती थी। मंदिर द्वारा प्राप्त दान-संपदाओं तथा उसके सेवकों की संख्या में काफी वृद्धि हो जाने पर उनकी व्यवस्था की निगरानी के लिए विधिवत् एक प्रबंध समिति नियुक्त की जाती थी। इस समिति के सदस्यों में ब्राह्मण, वेलाल या भूस्वामी, जिन्हें शौचपूर्ण शूद्र माना जाता था, तथा कुछ कारिंदे होते थे।

तमिल कवियों ने अपने भजनों और संगीत को लोकप्रिय बनाया, जो धीरे-धीरे मंदिर के पूजा-पाठ में शामिल कर लिए गए। बाद के काल में इसकी प्रेरणा से कुछ हृदय-स्पर्शी संगीत की सृष्टि हुई। वीणा शायद सबसे अधिक प्रयुक्त वाद्य-यंत्र थी। आरंभ में वह नाशपाती के आकार की होती थी, लेकिन बाद में उसने वह रूप ग्रहण किया जो हम आज देखते हैं–दोनों ओर तंवूरे और बीच में एक लंवा पटरा, जिसमें लगे तारों को छेड़कर मनचाहे स्वर निकाले जा सकते हैं। संगीत और

नृत्य को आराध्य की सेवा के रूपों के तौर पर मंदिर के कर्मकांड में शामिल कर लिया गया। पल्लव काल से अधिक समृद्ध मंदिर प्रशिक्षित नर्तक-नर्तकियां, गायक-गायिकाएं और संगीतज्ञ रखने लगे। लोक-नृत्यों से जन्म लेकर मंदिरों की नृत्य-मंडलियां धार्मिक विषयों की परिष्कृत तथा शैलीबद्ध प्रस्तुति करने लगीं, जिसका दर्शन उनके बाद के रूपों में होता है। इससे लगभग पूरे भारत में अनेक बड़े मंदिरों में देवदासियां रखने की रीति चल पड़ी। प्रशिक्षण बहुत कठिन तथा नृत्य, गान और संगीत की जटिल तकनीकों तथा रूपों पर आधारित था। उनमें से कुछ भक्ति काव्यों की रचयिता हो गईं। मूल की दृष्टि से देखें तो वे जो कर्मकांड करती थीं उनका संबंध इस धारणा से था कि स्त्रियों में कुछ विशेष शक्तियां निहित होती हैं, जिनके कुछ पहलू कर्मकांड तथा नृत्य में अभिव्यक्त होते थे। लेकिन कभी-कभी इसका रूप बिगड़ जाता था और इसका मतलब मंदिर के अधिक समृद्ध पदाधिकारियों तथा पुजारियों का मनोरंजन करना हो जाता था। स्पष्ट है कि जहां उसमें ऐसी विकृति आ जाती थी वहां उसका संबंध आराध्य देवी-देवता को अर्पित श्रद्धांजलि से नहीं रह जाता था।

बौद्धों ने गुफा मंदिरों के निर्माण की जो रीति आरंभ की थी वह जारी रही। ब्राह्मणों तथा बौद्धों के संरक्षक दकन की पहाड़ियों तथा उससे भी दक्षिण में गुफा मंदिर बनवाने में एक-दूसरे से होड़ करने लगे। इनमें से सबसे प्रभावोत्पादक अजंता और एलोरा की गुफाएं थीं। एलोरा में शिव तथा विष्णु के गुफा मंदिरों तथा जैनों के गुफा मंदिरों के निर्माण से मालूम होता है कि बौद्धों ने गुफा धर्मस्थलों के निर्माण का जो सिलसिला आरंभ किया था वह आज भी जारी था।

कुछ बौद्ध गुफा-मंदिरों में बौद्ध आख्यानों का भित्ति-चित्रण किया गया था। ऐसे चित्रों में बौद्ध ग्रंथों के आख्यानों के कुछ परिचित विषयों का चित्रण किया गया, लेकिन साथ ही समकालीन जीवन के विभिन्न पहलुओं की भी उपेक्षा नहीं की गई। काफी अंदर तक जाकर काटी गई गुफाओं की दीवारों को भित्ति-चित्रों से सज्जित करना या उन पर तक्षण करना कोई सामान्य उपलब्धि नहीं थी, क्योंकि इन पर विचार करते हुए इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि उन बड़ी-बड़ी गुफाओं में पर्याप्त प्रकाश की व्यवस्था करना और काम करने के लिए अनुकूल स्थितियां बनाना कितना कठिन रहा होगा। चित्रकारी की तकनीक के लिए यह अपेक्षित था कि पहले उसके लिए उपयुक्त पीठिका तैयार की जाए। पिसी हुई चट्टान, मिट्टी या गोबर को भूसे तथा सीरे में मिलाकर लेई बना ली जाती थी, जिसे आधार के रूप में दीवार पर लेप दिया जाता था। उसे सावधानी से चिकना बना दिया जाता था और उसके नम रहते ही उस पर चूना पोत दिया जाता था। आधार के सूख जाने पर रंग का प्रयोग किया जाता था और जो चीज बनकर तैयार होती थी उसे चमकाया जाता था। रंग खनिजों और पौधों से बनाए जाते थे और

कुछ की मूल चमक आज भी बनी हुई है।

भित्ति-चित्र गुफा मंदिरों में ही नहीं, बल्कि दक्षिण के खुले आसमान के नीचे बनाए गए मंदिरों में भी आम थे। जहां तक गुफा मंदिरों का संबंध है, उनके कुछ भित्ति-चित्रों के चित्रकार शायद भिक्षु रहे होंगे, यद्यपि आज भी जिनकी पेशेवराना उत्कृष्टता देखते ही बनती है वे अवश्य ही सिद्धस्त कलाकारों की कूंचियों के कमाल रहे होंगे। भित्ति-चित्र केवल धार्मिक भवनों तक ही सीमित नहीं थे, क्योंकि यदि साहित्यिक वर्णनों के आधार पर देखें तो रिहाइशी स्थापत्य भी भित्ति-चित्रों से सजाया जाता था, लेकिन दुर्भाग्यवश आज वे अवशिष्ट नहीं हैं।

चट्टानें काटकर बनाए गए मंदिर में बाद में कुछ जोड़े नहीं जा सकते थे, इसलिए कौन-सी चीज कहां होगी, इसकी योजना पहले ही बना ली जाती थी। चट्टान काटने में अतीव सावधानी बरतने की ज़रूरत होती थी, क्योंकि जरा-सी चूक से मूर्ति या स्थापत्य का रूप नष्ट हो जा सकता था। चट्टानें काटकर मंदिर बनाने का रिवाज पल्लव काल में आरंभ हुआ। ये बौद्ध गुफा मंदिरों के समान थे, लेकिन उनसे बहुत छोटे और ऐसे जिनसे इस कलात्मक तकनीक की प्रारंभिक अवस्थाओं का एहसास होता है। ग्रेनाइट शिलाखंडों को तराशकर बनाए गए महाबलीपुरम् के एकखंडीय मंदिरों में अब भी वैसी ही मेहराबी छतें और मेहराबी द्वार होते थे जैसे दकन के बौद्ध गुफा मंदिरों तथा समकालीन स्थापत्य शैलियों में दिखाई देते हैं। शैली की दृष्टि से वे गांव के किसी कुटीर से लेकर विस्तृत मकान तक से समानता दरशाते हैं, और रिहाइशी स्थापत्य से अधिक जटिल मंदिर शैलियों की ओर संक्रमण का आभास देते हैं।

मुंबई के निकट एलिफेंटा द्वीप पर चट्टानें काटकर बनाए गए मंदिरों की शैली प्रभावोत्पादक है। लेकिन सबसे भव्य उदाहरण एलोरा का कैलाशनाथ मंदिर है, जो चट्टानें काटकर बनाए गए मंदिरों से खुले आसमान के नीचे बनाए जानेवाले विशाल मंदिरों की ओर संक्रमण का द्योतक है। उसे आठवीं सदी में एक राष्ट्रकूट राजा के संरक्षण में बनवाया गया या यों कहें कि तराशा गया। जब वह बनकर तैयार हुआ तो वह खुले आसमान के नीचे बना एक मंदिर था, जो पूर्णरूप से पहाड़ी क्षेत्र की चट्टान से तराशा गया था। खुले आसमान के नीचे बनाए जानेवाले मंदिर की योजना का सख्ती से पालन किया गया था। एलोरा का कैलाशनाथ मंदिर क्षेत्रफल में लगभग एथेंस के पार्थेनन के बराबर था और ऊंचाई में ड्योढ़ा। काम पर लगाए गए संगतराशों तथा कारीगरों की संख्या और मंदिर को तराशने पर हुआ व्यय निश्चय ही असीम रहा होगा—खर्च की दृष्टि से शायद एक बड़े युद्ध के व्यय के बराबर। एक राय यह है कि चट्टान से मंदिर तराशना खुले आसमान के नीचे उतने ही आयामों का मंदिर बनवाने से सस्ता पड़ता था। हो सकता है, यह तथ्य चट्टान काटकर मंदिरों तथा अन्य पूजा-स्थलों के निर्माण की दीर्घ लोकप्रियता का कारण रहा हो।

पाषाण-संरचनावाले मंदिर *ऐहोल* में छठी सदी में, महाबलीपुरम् में प्रसिद्ध तट मंदिर सातवीं सदी में और कांचीपुरम् में भी उसी के आसपास बनवाए गए। परंतु चट्टान तराशकर मंदिर बनवाने का रिवाज चोल काल तक कायम रहा।

कर्नाटक में ऐहोल, पट्टडकल और बादामी के मंदिर एक ओर बहुत सरल हैं तो दूसरी ओर अधिक जटिल। वे दकन की विकसित शैली के उदाहरण हैं। चालुक्य मंदिर गुप्त कालीन पूजा-स्थलों से विकसित हुए, लेकिन उनकी परिपक्वता के काल में उनका संबंध उत्तरी अर्थात् नागर और दक्षिणी यानी द्राविड़ दोनों शैलियों से था। शैली की दृष्टि से ऐहोल का मंदिर बौद्ध चैत्यों की योजना का सातत्य था, क्योंकि वह अर्धवृत्ताकार मंदिर है, लेकिन उसकी छत मेहराबदार नहीं है, जैसा कि अर्धवृत्ताकार मंदिरों की छतें आम तौर पर होती हैं। ऐहोल स्वयं ही एक मंदिर नगर के रूप में उभरता है, जिसका कारण शायद यह था कि उसे एक प्राचीन पवित्र स्थल माना जाता था। उसके आसपास महापाषाण संरचनाएं थीं, और साथ ही पूर्ववर्ती काल में वहां बौद्धों की भी गतिविधियां चलती थीं। वह एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र भी था, जिससे प्रायद्वीप की एक प्रमुख श्रेणि को अपना नाम प्राप्त हुआ।

यदि हम लाढ खां मंदिर की योजना और निर्माण की तुलना वीरुपाक्ष मंदिर से करें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि स्थापत्य शैलियों में कितनी तेजी से बदलाव आया। ऐहोल जैसे स्थानों में गुप्तोत्तर शैली के मंदिर हैं, जिनमें द्राविड़ शैली के तत्वों का भी समावेश है और दोनों शैलियों का मिलन बहुत स्पष्ट है। बदलती हुई शैलियों से न केवल दकन, दक्षिण भारत और गांगेय मैदान के बीच संपर्क का पता चलता है, बल्कि क्षेत्र-विशेष में राजनीतिक रूपों का विकास भी उससे प्रतिबिंबित होता है। अब वे छोटे से बड़े राज्यों की ओर, साधारण से प्रचुर राजस्व की ओर बढ़ रहे थे और राजाओं में यह एहसास जग रहा था कि मंदिर बनवाने पर होनेवाला व्यय ऐसा श्रेयस्कर संरक्षण है जिससे पुष्कल पुण्य प्राप्त हो सकता है। अब मंदिर केवल पूजा-स्थल नहीं रह गए थे, क्योंकि अब उन्हें शक्ति और सत्ता की अभिव्यक्तियों के रूप में देखा जाने लगा था, और उनके निर्माण पर होनेवाले भारी खर्च को देखते हुए वे सचमुच ऐसी अभिव्यक्तियां थे भी। ध्यान देने की बात यह है कि जो लोग मंदिरों का निर्माण करवाते थे उनमें केवल राज-परिवारों के सदस्य और मंत्री ही नहीं, बल्कि समृद्ध-संपन्न व्यापारी भी शामिल थे।

दकन में ऐहोल, बादामी तथा पट्टडकल में और तमिलनाडु में कांचीपुरम् तथा महाबलीपुरम् में खुले आसमान के नीचे बनवाए गए मंदिरों में मूर्तिकला के लिए काफी गुंजाइश थी। मूर्तिकला की दकनी शैली का गुप्त मूर्तिकला से बहुत साम्य था। पल्लव मूर्तिकला बौद्ध परंपरा की, विशेषत: अमरावती शैली की, बहुत ऋणी थी और कुल मिलाकर उसका रूप भव्यतापूर्ण और रेखीय था। उसमें सजावट की प्रवृत्ति से बचा गया है, जो दकनी मूर्तिकला में बहुत आरंभ में ही आ गई थी। तथापि
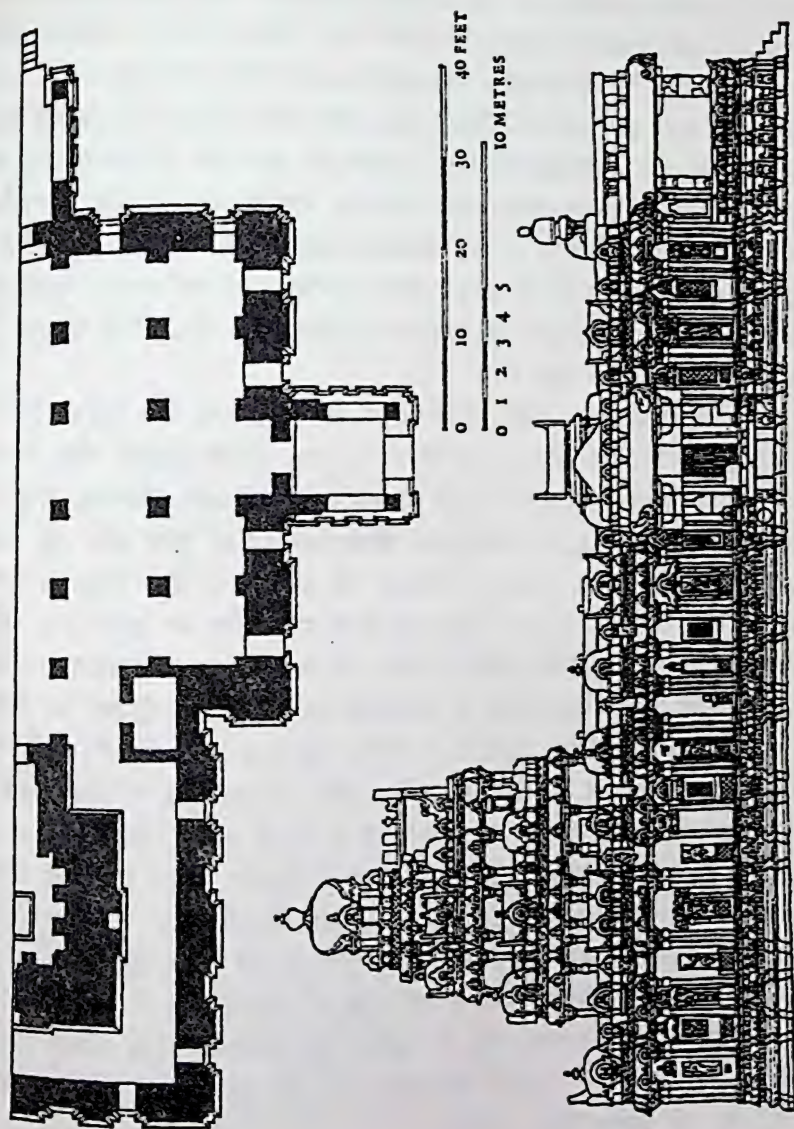
6. विरूपाक्ष पट्टडकल : अर्ध-योजना व विभाग

दकन और तमिलनाडु की मूर्तिकला एवं स्थापत्य मात्र उत्तरी परंपरा से उद्भूत नहीं थे। उन्हें साफ-साफ अलग रूप में पहचाना जा सकता था; उनकी अपनी पृथक् विशेषता थी। बुनियादी रूप पुरानी परंपरा से ग्रहण किया गया था, लेकिन उनका अंतिम रूप स्पष्ट रूप से स्थानीय प्रेरणा को प्रतिबिंबित करता था।

पल्लव राज-मंदिर विभिन्न तरीकों से राजसत्ता के आग्रह को उजागर करते थे। एक तरीका लंबे अभिलेखों में राजा के इतिहास का वर्णन हो सकता था। एक दूसरा तरीका मूर्तिकलायुक्त पटों (पेनल) का हो सकता था, जैसे कि वे पट जो राजा के जीवन-चरित, विशेषत: उसके अभिषेक को दरशाते थे। इन्हें वैकुंठ पेरुमाल मंदिरों में देखा जा सकता है। ये अभिव्यक्तियां कर्मकांड की शक्ति तथा राजनीतिक शक्ति की सुरसंगति तो दरशाती थीं, लेकिन कर्मकांडी तथा राजनीतिक प्रभुसत्ता की पृथकता का संकेत नहीं देती थीं।

अन्य विषयों के प्रेरणा-स्रोत देवी-देवताओं से जुड़े मिथक और पुराणों, *रामायण* तथा *महाभारत*के परिचित आख्यान थे। किसी हद तक वे उन पूर्ववर्ती बौद्ध ठिकानों के निम्न मूर्तिकला (बॉस-रिलीफ) वाले गोलाकार फलकों और पंक्तिबद्ध आकृतियों से मेल खाते हैं जिनमें बुद्ध के जीवन तथा जातक कथाओं के दृश्य देखने को मिलते हैं। जहां कोई मिथक लोक-उपासना से लिया गया और किसी देवी-देवता के विशेष मिथक के साथ समाहृत कर दिया गया वहां किसी राज-मंदिर की दीवारों पर उसका तनिक भी पहचान में आनेवाला चित्रण उसके पौराणिक परंपरा में शामिल कर लिए जाने का द्योतक होगा। महाकाव्यों के आख्यानों के मंदिरों की दीवारों पर चित्रित किए जाने से दर्शक संबंधित मिथकों से परिचित हो जाते होंगे और फिर पौराणिक और कथाकार लोग उन्हें वे आख्यान सुनाते होंगे। महाबलीपुरम् में सबसे अधिक प्रभावोत्पादक वे मूर्तियां हैं जो दीर्घ अवलियों में बनाई गई हैं, ख़ास तौर से वह अवली जो अंतर्तक्षित है और जिसमें एक दृश्य में विभिन्न प्रकार के प्राणी दरशाए गए हैं। इसे कुछ लोगों ने गंगावतरण का दृश्य कहा है और कुछ ने महाकाव्यों के आख्यानों से संबंधित। कुछ दृश्यों में विनोद-वृत्ति के भी दर्शन होते हैं-जैसे उस दृश्य में जिसमें एक बिल्ली संन्यासी की मुद्रा में दिखाई देती है लेकिन उसकी निगाह निकट के चूहे पर टिकी हुई है। मूर्तियों की अवलियों में न केवल मिथकों का चित्रण किया गया है, बल्कि मिथकशास्त्र से ली गई हस्तियों को समकालीन रूप देने का भी प्रयत्न किया गया है।

अभिजन वर्ग द्वारा प्रबल रूप से समर्थित सांस्कृतिक संस्कृति के आवरण के अंदर से क्षेत्रीय संस्कृतियों के नाभि-केंद्र उभर रहे थे। क्षेत्रीय संस्कृतियों के विकास में यह सिलसिला बार-बार सामने आता रहा। परिवर्तन के रंग-रूप समान तो नहीं थे, लेकिन उनमें समानता के कुछ तत्व दिखने लगे थे-जैसे भूमिदान, विचारों का प्रचार या लोकप्रिय धर्मशिक्षा। धार्मिक विविधता की अभिव्यक्ति कई रूपों में हो

रही थी। एक स्तर पर स्वयं ब्राह्मणों के बीच और ब्राह्मणों तथा श्रमणों के बीच बहुधा दार्शनिक किस्म की बहसें चल रही थीं। एक अन्य स्तर पर भक्ति की शिक्षाएं वैदिक ब्राह्मण धर्म को चुनौती दे रही थीं और एक ऐसे धर्म पर ज़ोर दे रही थीं जिसमें आराधक और आराध्य के बीच के संबंध को खानगी रखा जा सकता था, लेकिन जिसने प्रतिमाओं, मंदिरों, तीर्थस्थानों तथा तीर्थयात्राओं का प्रकट रूप ग्रहण किया। ऐसे परिवर्तन उस काल के अधिक ठोस परिवर्तनों से घनिष्ठ रूप से संबद्ध थे और उन्हें सामाजिक समूहों के पुनर्विन्यास में अभिव्यक्त किया गया। इससे जीवंत सांस्कृतिक गतिविधियों का उद्रेक हुआ।

अध्याय : ग्यारह

प्रायद्वीप : प्राधिकरणों और संरचनाओं की स्थापना

लगभग *900–1300* ई.

प्रायद्वीप की राजनीति

पहली सहस्राब्दी ई. के उत्तरार्ध में भारतीय उपमहाद्वीप में परिस्थिति बदल गई। पूर्ववर्ती काल में स्वीकृति की तलाश करते क्षेत्रीय राज्य अब आकार ग्रहण कर रहे थे, और उनकी पहचानों की छाप स्पष्टतर होती जा रही थी। राजवंश बदल जाते थे, लेकिन उत्तराधिकारी राज्य पूर्ववर्ती राज्यों के मुख्य क्षेत्रों पर अधिकार कायम रखते थे। किसी हद तक राजनीतिक विकेंद्रीकरण, कृषि का विस्तार करने पर ज़ोर, अब तक हाशिए पर स्थित लोगों का जातियों में समावेश, वैदिक ब्राह्मण धर्म तथा पौराणिक और शामनी धर्मों के बीच संयोग, ये तमाम प्रवृत्तियां इस काल में भी जारी रहीं और इन सबके परिणामस्वरूप नई सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां सामने आती रहीं। समान पद्धतियां प्रकट होने के बावजूद प्रत्येक क्षेत्र ने अपनी प्रबल पृथक् पहचान कायम रखी। इसमें कोई अंतर्विरोध नहीं है, इसका रहस्य इन क्षेत्रीय रूपों में समाहित है।

प्रायद्वीप के परिदृश्य पर तमिल पहचान की प्रधानता थी। यह पहचान चोलों के अधीन कायम हुई। हाल के वर्षों में दक्षिण भारत के इतिहास के इस काल का, जिसके संबंध में अभिलेखों का पूरा भंडार सुलभ है, व्यापक विवेचन किया गया है। चोल राज्य के स्वरूप के संबंध में विविध सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं और उसकी नई व्याख्याएं की गई हैं। यदि कोई क्लासिकी शब्द का प्रयोग करना चाहे तो इन कारणों से वह इस काल को एक और क्लासिकी काल कह सकता है। चोल काल की क्लासिकता का प्रेरणा-स्रोत राजनीतिक सत्ता कम और इस काल में स्थापित

संस्थाएं तथा सांस्कृतिक रूपों की अभिव्यक्ति अधिक थी। सांस्कृतिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में–चाहे वह सामाजिक संस्थाओं का क्षेत्र हो या धर्म अथवा ललित कलाओं का–इस काल में स्थापित मानदंड का दक्षिण की जीवन-पद्धति पर बोलबाला रहा, और उसने प्रायद्वीप में अन्यत्र विद्यमान पद्धतियों को भी अंशतः प्रभावित किया। दक्षिण-पूर्व एशिया में भी उसका पहले की अपेक्षा अधिक हस्तक्षेप रहा—उस क्षेत्र के व्यापार के साथ ही उसके सांस्कृतिक रूपों में भी।

नवीं सदी में अपने दक्षिणी पड़ोसी पांड्यों तथा चोलों जैसे अधीनस्थ शासकों के संयुक्त आक्रमण के समक्ष पल्लवों के पैर उखड़ गए। तमिलनाडु के राज्यों को कृषि का आधार प्रदान करने का सिलसिला पल्लवों के अधीन ब्राह्मणों को दिए गए भूमिदानों के साथ अधिक व्यवस्थित रूप से आरंभ हो गया था। आगे कृषि-क्षेत्र का विस्तार चरागाहों तथा जंगलों में हुआ। ब्राह्मणों की बस्तियों ने वैदिक ब्राह्मण धर्म की स्थापना की, जो कभी तो वैष्णव तथा शैव संप्रदायों के समानांतर चलता था और कभी-कभी उनमें घुल-मिल जाता था।

चोल दक्षिण भारत में प्रमुख शक्ति के रूप में उभरे। उनके नियंत्रण का केंद्रीय क्षेत्र चोलमंडलम् था, जो तंजावुर के आसपास पूर्वी तट तक, जो बाद में कारोमंडल तट कहलाने लगा, फैला हुआ था। आरंभ में उनका संघर्ष ह्रासोन्मुख राष्ट्रकूटों से हुआ, जिनका स्थान बाद में चालुक्यों की एक पुनरुज्जीवित शाखा ने ले लिया, जिन्हें अब उत्तर चालुक्य कहा जाता है। उत्तर चालुक्यों ने अपनी सत्ता पश्चिमी दकन में स्थापित की। इस काल में दकन समान दर्जे के छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था, जिनमें से कुछ के साथ जब-तब चोलों की ठन जाती थी। चोलों के राजनीतिक संबंध के दायरे में न केवल उत्तर चालुक्य, बल्कि देवगिरि (औरंगाबाद क्षेत्र में उत्तरी दकन) के यादव और वारंगल (आंध्र प्रदेश में) के काकतीय भी आते थे। और भी दक्षिण की ओर चलें तो चोलों की स्पर्धा गंगों (दक्षिण कर्नाटक) और बाद में द्वारसमुद्र (कर्नाटक में ही) के होयसलों तथा साथ ही मदुरै के पांड्यों एवं केरल के चेरों से भी चलती थी। उनके शासन के अंतिम वर्षों में होयसल तथा पांड्य उनके प्रदेशों पर बार-बार हमले करने लगे, जिससे वे कमज़ोर पड़ गए।

संगम काव्यों में चोल सरदारों के उल्लेख ईसवी सन् के आरंभ में ही मिलने लगते हैं। नवीं सदी के मध्य में चोल वंश-मूल का दावा करनेवाले एक सरदार ने तंजावुर क्षेत्र को जीत लिया, जो तमिलहम का मुख्य प्रदेश था। उसने स्वयं को एक स्वतंत्र राज्य का राजा घोषित कर दिया और अपनी प्रतिष्ठा कायम करने के लिए सूर्यवंशी होने का दावा किया। 907 में चोलवंश के प्रथम महत्त्वपूर्ण राजा प्रथम परंतक ने सत्ता की बागडोर संभाली और वह लगभग आधी सदी तक शासन करता रहा। उसने पांड्यों के खिलाफ लड़ते हुए उनकी राजधानी मदुरै पर कब्जा करके अपनी दक्षिणी सीमा को निरापद बनाया। इसके फलस्वरूप वह लंका के संपर्क में आ गया,

जिसके साथ पांड्यों का नजदीकी रिश्ता था। फिर उसके साथ शत्रुता का जो सिलसिला आरंभ हुआ वह दशाब्दियों तक चलता रहा। परंतक के शासन-काल के उत्तरार्ध में राष्ट्रकूटों ने चोलों को हराकर उनके सभी नव-विजित उत्तरी इलाकों पर कब्जा कर लिया। उसके बाद तीस साल का ऐसा दौर आया जब कमज़ोर राजाओं की एक शृंखला के कारण चोलों की शक्ति क्षीण हो गई। लेकिन अंत में इस स्थिति को उलट दिया गया। दकन में चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों को परेशान कर रखा था। किसी समय चालुक्य राष्ट्रकूटों के अधीनस्थ थे लेकिन आगे उनके स्वामी बनने जा रहे थे। उस गड़बड़ी के दौरान चोलों ने उन इलाकों पर धीरे-धीरे फिर से अधिकार कर लिया जो राष्ट्रकूटों ने उनसे छीन लिए थे। प्रथम राजराज (985-1014) के और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजेन्द्र के सिंहासनारोहण के साथ चोल शक्ति सुस्थापित हो गई। इन दोनों के लगभग आधी सदी के शासन-काल में चोल राज्य सुदृढ़ और सुप्रतिष्ठित हो गया।

पिता-पुत्र दोनों के शासन-काल चारों ओर चलाए गए सैनिक अभियानों की अटूट गाथा थे। राजराज ने केरल के चेरों, श्रीलंका तथा पांड्यों के गठजोड़ पर आक्रमण करके यह सिलसिला आरंभ किया। उसका उद्देश्य पश्चिम एशियाई व्यापार पर इन तीन राज्यों के एकाधिकार को समाप्त करना था। अरब व्यापारियों के रूप में पश्चिमी तट पर बस गए थे, और कुछ मलाबार तथा कोंकण के स्थानीय समाज में घुल-मिल गए थे। चोल दक्षिण-पूर्व एशियाई व्यापार में अरबों की संभावित स्पर्धा से बाखबर रहे होंगे, और मलाबार पर अपना नियंत्रण स्थापित करके उन्होंने इस स्पर्धा की जड़ पर आघात करने का प्रयत्न किया। कुछ समय बाद राजराज मालदीव द्वीप-समूह पर, जो अरबों के व्यापार का एक बीच का पड़ाव था, नौसैनिक आक्रमण किया। यद्यपि चोल अरबों के व्यापार पर सीधा हमला करने में असमर्थ रहे, तथापि उन्होंने श्रीलंका पर आक्रमण कर दिया और उसकी तत्कालीन राजधानी अनुराधापुर को तहस-नहस करते हुए पोल्लोनारुव पर जा धमके। साथ ही दकनी राज्यों के राजाओं के खिलाफ भी युद्ध ज़ोरों से चलते रहे। जिस प्रकार अतीत में वेंगी के समृद्ध प्रदेश को लेकर पल्लवों तथा चालुक्यों के बीच संघर्ष चलता रहा था उसी प्रकार अब चोलों तथा उत्तर चालुक्यों के बीच उसी क्षेत्र को लेकर ज़ोर-आजमाई चल रही थी।

प्रथम राजेन्द्र ने दो साल तक अपने पिता के साथ मिलकर शासन किया, जिसके बाद 1014 में वह स्वतंत्र राजा के रूप में गद्दी पर बैठा। राज्य-विस्तार की नीति को जारी रखते हुए उसने चालुक्यों के दक्षिणी प्रदेश समृद्ध रायचूर दोआब और वेंगी को अपने राज्य में मिला लिया। श्रीलंका तथा केरल के विरुद्ध फिर अभियान छेड़ा गया। लेकिन राजेन्द्र की महत्त्वाकांक्षाएं उत्तराभिमुख हो गई थीं। उसकी एक विशाल वाहिनी निकल पड़ी और उड़ीसा से होकर कूच करती हुई गंगा-तट पर पहुंच गई। कहते हैं, वहां से गंगा का पवित्र जल चोलों की राजधानी लाया गया। देश-विजयों

के द्वारा गंगाजल लाना उत्तर पर प्रभुत्व का प्रतीक था। लेकिन राजेन्द्र उत्तरी क्षेत्र पर दीर्घ काल तक अधिकार नहीं रख पाया, जो हमें लगभग 700 साल पहले दक्षिण में समुद्र गुप्त द्वारा चलाए सैनिक अभियानों की याद दिलाता है।

इससे भी कहीं अधिक महत्त्वाकांक्षापूर्ण था राजेन्द्र का समुद्री अभियान, जिसमें सेना और नौसेना दोनों ने दक्षिण-पूर्व एशिया में श्रीविजय राज्य के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया। यह राय जाहिर की गई है कि यह जबर्दस्त अभियान समुद्रपारीय साम्राज्य की स्थापना की इच्छा से प्रेरित था। लेकिन अगर बात ऐसी होती तो इस युद्ध के बाद तटवर्ती क्षेत्रों में भारतीय बस्तियां बसाई जातीं और अंदरूनी इलाकों को जीतने का प्रयत्न किया जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इसलिए लगता है कि युद्ध का हेतु भारतीय व्यापारिक हितों की रक्षा करना था। दसवीं सदी तक चीन तथा दक्षिण भारत के व्यापारियों के बीच वाणिज्यिक संबंध कायम हो चुका था। जहाज समुद्र के उन हिस्सों से गुजरते थे जिन पर श्रीविजय राज्य (दक्षिणी मलय प्रायद्वीप और सुमात्रा) का अधिकार था, क्योंकि मलक्का और सुंडा के जलडमरूमध्यों पर उसी का नियंत्रण था। श्रीविजय के शासकों को इस बात का एहसास था कि यदि चीन-भारत व्यापार का अंतिम पड़ाव श्रीविजय हो तो यह स्थानीय व्यापारियों के लिए अधिक लाभदायक होगा, क्योंकि तब स्थानीय बिचौलिए माल को उनके अंतिम ठिकानों तक पहुंचाएंगे। लेकिन श्रीविजय प्रदेशों के भारतीय व्यापारियों पर खतरा आया देखकर चोल-राज, जिसका इस व्यापार में शायद अपना निवेश भी रहा होगा, आग-बबूला हो उठा और उसने श्रीविजय पर आक्रमण कर दिया। स्वयं श्रीविजय के अपने व्यापारिक हितों की दृष्टि से देखें तो चीन-भारत व्यापार में उसका हस्तक्षेप करना वाजिब था, लेकिन इस प्रसंग में फैसला सैनिक शक्ति से हुआ। यह अभियान सफल रहा, क्योंकि मलक्का जलडमरूमध्य से लगे हुए कई रणनीतिक महत्व के स्थान चोलों के नियंत्रण में आ गए, और कम से कम कुछ काल के लिए श्रीविजय क्षेत्र से होकर भारत के जहाजों का आवागमन तथा उसकी व्यापारिक गतिविधियां सुरक्षित हो गईं।

प्रथम राजेन्द्र के उत्तराधिकारियों ने अपना रुख प्रायद्वीप के अंदर की ओर, मुख्यतः चालुक्यों के साथ संघर्ष की ओर मोड़ा। इस प्रकार वेंगी प्रांत के नियंत्रण की स्पर्धा एक बार फिर आरंभ हो गई। एक-दूसरे के प्रदेशों पर त्वरित आक्रमण का पुराना सिलसिला शुरू हो गया। चोलो ने चालुक्य राज्य के मर्मस्थल पर आक्रमण करके उनकी राजधानी कल्याणी की ईंट से ईंट बजा दी। इसका बदला 1050 में चालुक्य-राज ने लिया। चोल-राज प्रथम कुलोत्तुंग के शासन-काल (1070-1118) में प्रतिद्वंद्विता कुछ कम तीव्र थी, जिसका कारण शायद दोनों राज-परिवारों का कौटुंबिक संबंध था। इसके फलस्वरूप संबंधों में एक नए तत्व का समावेश हुआ। इस बीच सुदूर दक्षिण के पुराने शत्रु पांड्य, चेर और श्रीलंका का रुख विरोधपूर्ण बना रहा, लेकिन श्रीविजय शांत रहा, यद्यपि वह राजेन्द्र के हाथों अपनी पराजय का दंश

अब भी महसूस कर रहा था। इसके फलस्वरूप दक्षिण भारत के व्यापार का धीरे-धीरे उत्थान होता रहा, और चीन के साथ बेहतर संपर्क कायम रहा। कुलोत्तुंग ने 1077 में चीन को 72 व्यापारियों का एक प्रतिनिधिमंडल भेजा।

प्रथम राजराज और राजेन्द्र का मानना था कि उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष और होयसल-राज विष्णुवर्धन से ऊंची है। पूर्ववर्ती चोल राजाओं के साधारण विरुदों का स्थान अब चक्रवर्तीगल-अर्थात् चक्रवर्ती जैसे आडंबरयुक्त विरुदों ने ले लिया। देव-राजा की उपासना को बढ़ावा दिया गया, जिसके लिए मृत राजाओं की पूजा का सहारा लिया गया और उनके स्मारकों के रूप में मंदिर बनवाए गए। यहां कुषाणों के रिवाजों की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है। राजा की गृहस्थी बहुत ताम-झाम के साथ चलाई जाती थी और दान-दक्षिणा देने में परम उदारता बरती जाती थी। पुरोहित की जो भूमिका उत्तर भारतीय राजनीति में थी उसमें चोल पद्धति के अंतर्गत बदलाव आया। चोलों का राजगुरु सांसारिक तथा धार्मिक सभी मामलों में उनका विश्वस्त और परामर्शदाता बन गया। शैव संप्रदाय के प्रति उनके समर्थन की अभिव्यक्ति चिदम्बरम् मंदिर में हुई। शिव का नटराज रूप आराध्य प्रतिमा था, और *पेरियापुराण* श्रद्धेय धर्मग्रंथ।

बारहवीं सदी का उत्तरार्ध आते-आते चोलों का वैभव और शक्ति अस्तोन्मुख हो चली थी। पड़ोसी राज्य उसके सीमावर्ती प्रदेशों को अपने-अपने राज्यों में मिला रहे थे। केंद्रीय नियंत्रण के कमज़ोर पड़ने से दकन के अधीनस्थ राजाओं की शक्ति बढ़ी। लगतार चलने वाली लड़ाइयों के कारण चोलों के संसाधन खुट गए थे, और यद्यपि वे अपनी सर्वोच्चता प्रतिष्ठित करने में अंततः सफल हो गए, तथापि उसकी कीमत उन्हें अपनी स्थिरता से चुकानी पड़ी थी। इसके अतिरिक्त चालुक्यों की शक्ति का चोलों के हाथों विखंडन अंत में स्वयं चोलों पर ही भारी पड़ा, क्योंकि उसके फलस्वरूप अधीनस्थ राजाओं पर से चालुक्यों का नियंत्रण हट गया था। उन राजाओं ने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए और चोल राज्य को पहले तो सीमा पर से कुतरने की और बाद में अधिक प्रबल आक्रमण करने की तैयारी आरंभ कर दी।

उनमें से सबसे अधिक शक्तिशाली यादव, होयसल और काकतीय थे। यादव मुख्य रूप से दकन तक सीमित रहे, और चोलों के अंतिम बिखराव में उनका योगदान कम महत्वपूर्ण था। होयसल और काकतीय बारहवीं सदी से सक्रिय हो उठे। काकतीय चालुक्यों से स्वतंत्रता प्राप्त करके उसका आनन्द उठाने में मग्न हो गए थे। उनकी यह आनन्द-मग्नता तभी भंग होती थी जब बीच-बीच में वे चोलों से लोहा लेने के लिए सक्रिय होते थे। काकतीयों की शक्ति तब सामने आने लगी जब वे हानमकोंडा से निकलकर उसके आसपास के मैदान में आए और वारंगल में अपनी राजधानी स्थापित की। वह नगर और उसमें निहित शक्ति मुख्य रूप से तेरहवीं सदी के राजा गणपतिदेव और उसकी पुत्री तथा उत्तराधिकारिणी रुद्रम्मा देवी की देन थे। नगर चारों ओर से

वृत्ताकार दुर्गों की एक शृंखला से घिरा हुआ था। लगता है, इसके केंद्र में, जहां मुख्य दिशाओं में जाती सड़कें एक-दूसरे को काटती थीं, राजप्रासाद और राज-मंदिर स्थित थे। कम-से-कम राजधानी नगर की सैद्धांतिक योजना तो इसी प्रकार की रही होगी। काकतीय वेंगी को अपने राज्य में मिलाना चाहते थे। इससे उन्हें एक अच्छा ख़ासा तटीय आधार मिल जाता। उन्हें इस क्षेत्र के बंदरगाहों के लाभ का एहसास था।

पश्चिम दिशा से चोलों के मुख्य आक्रांता होयसल थे। चोल उनका प्रतिरोध करने में कामयाब रहे। लेकिन उनके पुराने शत्रु मदुरै के पांड्य राजाओं को चोलों से फिर से लोहा लेने का यह सुनहला अवसर प्रतीत हुआ। इस प्रकार चोलों को अपनी शक्ति पश्चिम और दक्षिण इन दो दिशाओं में लगानी पड़ी। होयसलों का उदय कई दृष्टियों से इस काल से दकन के कुछ राजवंशों के उदय का प्रतीक है। इस परिवार की शुरुआत पहाड़ी सरदारों के रूप में हुई थी, जिनके राजस्व का मुख्य स्रोत लूटपाट थी। यह वस्तुतः पठार के ऊपरी भागों में राजस्व का एक अचूक स्रोत थी। राजवंशों के परिवर्तनों के दौर में उत्पन्न अव्यवस्था के कारण पहाड़ी लोग अपने रक्षक प्राप्त करने को उत्सुक थे। प्रारंभिक होयसलों को उनसे जो समर्थन प्राप्त हुआ उसके बल पर वे नीचे मैदानी क्षेत्र में फैलने लगे, और वहां उन्हें राजस्व का अधिक भरोसेमंद स्रोत प्राप्त हुआ। यह था पहाड़ी सरदारों के आक्रमणों से बचने के लिए मैदानी लोगों द्वारा अदा किया जानेवाला नज़राना। नजराने की नियमित अदायगी के फलस्वरूप नजराने पानेवालों की वैधता और सत्ता प्रतिष्ठित हुई। नजराना कभी-कभी राजनीतिक निष्ठा का जनक होता था, और फलतः पहाड़ी सरदार धीरे-धीरे छोटे-छोटे राज्यों के स्वामी बन गए, जिसके आधार पर उन्होंने राजवंशों की स्थापना की। इस प्रकार के सभी राजवंश कायम नहीं रह पाए और कुछ के प्रदेशों को पुराने राज्यों ने अपने राज्यों में मिला लिया।

होयसल परिवार के लिए राज्य की स्थापना करने का श्रेय विष्णुवर्धन को है। उसका शासन-काल बारहवीं सदी के पूर्वार्ध में पड़ता था। अब भी होयसल सिद्धांततः चालुक्यों के मातहत ही थे। उनके राज्य का मुख्य भाग आधुनिक मैसूर के निकट डोर समुद्र था, और अपनी राजधानी के इर्द-गिर्द अपनी स्थिति सुदृढ़ करके विष्णुवर्धन ने अपनी स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त किया। विष्णुवर्धन को वैष्णव चिंतक रामानुज की शिक्षाओं में रुचि लेने के लिए याद किया जाता है। कहते हैं, रामानुज ने उसे जैन धर्म का त्याग करके वैष्णव बनने पर राज़ी किया। विष्णुवर्धन के पौत्र द्वितीय बल्लाल ने होयसल राज्य का सुदृढ़ीकरण जारी रखा, जिसके फलस्वरूप दक्षिणी दकन पर होयसलों का दबदबा कायम हो गया।

तेरहवीं सदी में चोलों की शक्ति क्षीण हो गई। एक होयसल राजा ने चोल राजा को, जिसे उसके एक अधीनस्थ राजा ने बंदी बना लिया था, मुक्त कराने का दावा किया। इस राजा ने चोल राज्य पर आक्रमण करके शिव के मंदिरों और विष्णु के

पवित्र स्थानों को नष्ट कर दिया था। एक अन्य अभिलेख के अनुसार, होयसल सेना ने गांवों पर आक्रमण किया, जंगल को काट दिया, समुद्रतट के बंदरगाहों को जला दिया और स्त्रियों को छीन लिया। लेकिन उत्तर में होयसलों को देवगिरिके यादवोंके विरोध का सामना करना पड़ा। चालुक्यों के प्रदेश छीनकर यादवों ने भी अपने राज्य का विस्तार किया था। तेरहवीं सदी आते-आते यादवों ने गुजरात पर भी अपना दावा ठोंक दिया था लेकिन उस पर वे अधिक समय तक काबिज नहीं रह पाए। यादवों और होयसलों की शक्ति चौदहवीं सदी के पूर्व तक कायम रहनेवाली थी। चौदहवीं सदी के पूर्व उत्तर भारत की राजनीति में नवागन्तुकों के एक समूह ने अपना सिक्का जमा लिया था। तात्पर्य तुर्क-अफगान सुल्तानों से है। चौदहवीं सदी में उन्होंने दकन की राजनीति में हस्तक्षेप किया। इस हस्तक्षेप के फलस्वरूप अन्य राजवंश उभर आए और नए राजनीतिक समीकरण स्थापित हुए। और भी दक्षिण की ओर चलें तो पांड्यों ने तमिलनाडु की प्रधान शक्ति के रूप में चोलों का स्थान ले लिया था और यदि दकन के राजाओं ने आक्रमण नहीं किए होते तो वे अपनी यह स्थिति शायद अगली सदी के दौरान भी बनाए रखते। पांड्य स्थानीय राजा ही बने रहे और उस क्षेत्र की बदलती हुई राजनीति से प्रभावित होते रहे। मार्को पोलो का कहना है कि उसने 1288 और 1293 में पांड्य राज्य की यात्रा की थी। वह अपने पीछे इस क्षेत्र की धन-धान्यपूर्णता तथा उसके व्यापार की समृद्धि का बहुत सजीव वर्णन छोड़ गया है।

दूसरे तट पर अर्थात् केरल में राजनीतिक परिघटनाएं अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण थीं। चेर राजा कभी चोलों से मित्रता का संबंध बनाते रहे थे तो कभी शत्रुता का, लेकिन उसके राजाओं की राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं तेरहवीं सदी के अंत में जाकर रविवर्मन् कुलशेखर के शासन-काल में उजागर हुईं। वह सफल तो नहीं हुआ, फिर भी उसने तत्कालीन दक्षिण भारतीय राज्यों के अवशेषों पर खड़ा एक बड़ा राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया। लेकिन देश-विजय की प्रेरणा देने के लिए कोई आर्थिक दबाव नहीं था, क्योंकि मलाबार तट स्वयं ही धन-धान्य से परिपूर्ण था और पश्चिम एशिया के साथ व्यापार से उसे पर्याप्त आय होती थी।

इसी काल में पश्चिम एशिया से लोगों का एक और समूह भारत आया। सामान्यत: सदवीं और ग्यारहवीं सदी के माने जानेवाले चेरों के ताम्र-दानपत्रों में यहूदी व्यापारियों को-जैसे जोसफ रब्बान को-भूमिदान दिए गए हैं। यह यहूदी समुदाय के भारत में बसने का सबसे प्रारंभिक साक्ष्य है, यद्यपि परंपरा से ज्ञात होता है कि इससे बहुत पहले ईसवी सन् की प्रारंभिक सदियों के दौरान ही कोचिन में यहूदियों की एक बस्ती बसी थी। सीरियाई ईसाइयों के भारत आगमन की तिथि के संबंध में भी ऐसी ही अनिश्चितता है। संभव है कि बाद में आनेवाले समूह का संबंध सिकंदरिया के यहूदी व्यापारिक समुदाय से या बाद में अदन तथा पश्चिमी तट के दक्षिणी हिस्से—जैसे मंगलूर-के साथ चलनेवाले व्यापार से रहा हो। भारत में जो बस्तियां बसी

थीं वे व्यापारिक उपक्रमों के सिलसिले में ही बसी थीं। काहिरा जेनिजा प्रलेखों में प्रथम सहस्राब्दी ई. के अंतिम दौर में भारत के साथ व्यापार में सक्रिय यहूदी व्यापारियों द्वारा लिखे गए बहुत-से व्यक्तिगत और कारोबारी पत्र शामिल हैं। भारतीय लोग यहूदी सौदागरों के साझीदार या प्रतिनिधि थे, और यहूदियों में से कुछ ने भारत में प्रवास किया था और यहीं विवाह भी कर लिया था। व्यापारियों के इस समूह से संबंधित क्षेत्र कोदुंगलूर या क्रंगानूर था, जिसकी पहचान कुछ विद्वानों ने मुजिरिस के पुराने ठिकाने के रूप में की है, जो रोम के साथ चलनेवाले व्यापार का एक सक्रिय बंदरगाह था। पश्चिम से बाद में आनेवाले व्यापारियों ने आम तौर पर उन्हीं क्षेत्रों में अपनी बस्तियां बसाईं जहां पश्चिम से आनेवाले उनके पूर्ववर्ती व्यापारियों ने बसाई थीं। यह बात ध्यान देने योग्य है। निस्संदेह, यह महज एक संयोग नहीं था। ये क्षेत्र सुरक्षित बंदरगाहों तथा माल की सुलभता से जुड़े हुए थे। नए समूहों का आगमन पश्चिमी तट तथा वाणिज्य की दृष्टि से सक्रिय एशिया के अन्य हिस्सों के बीच के व्यापारिक संबंधों के एक दस्तूर का हिस्सा था। बाद की सदियों में जब यूरोप में यहूदियों पर अत्याचार होने लगे तब कुछ यहूदी वहां से आकर केरल में, जिससे व्यापारिक संबंधों के कारण वे पहले से ही परिचित थे, बस गए।

पश्चिमी दकन में और भी उत्तर की ओर बढ़ें तो राष्ट्रकूटों के पैरों तले की ज़मीन उनके सामंत शिलाहार लोग खिसका रहे थे। शिलाहारों ने 'पश्चिम के स्वामी' की उपाधि धारण की, जिसका तात्पर्य शायद यह था कि पश्चिम एशिया के साथ व्यापार पर उनका नियंत्रण था। यह नियंत्रण इतना दृढ़ था कि एक प्रसंग में व्यापारियों के एक संघ को दान में प्राप्त एक गांव से मिलनेवाले राजस्व में से एक ख़ासी रकम नियमित रूप से चुकाने पर विवश कर दिया गया। एक अभिलेख से लगता है कि कोंकण का व्यापारिक पृष्ठदेश राजस्थान तक फैला हुआ था। व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करने को उत्सुक शिलाहारों ने अपने प्रशासन के ऊपरी स्तरों पर अरबों की नियुक्ति बंद कर दी।

जो परिवार दकन के मुख्य राजवंश थे उनके अतिरिक्त वहां के कुछ छोटे-छोटे इलाकों के कुछ छोटे-छोटे राजा भी थे, और उनमें से कुछ मुख्य राजवंशों के वंशज होने का दावा करते थे। इनकी शुरुआत बहुधा पूर्ववर्ती राज्यों के अधीनस्थ शासकों के रूप में या ऐसे बड़े-बड़े भूस्वामियों के रूप में होती थी जिन्होंने जंगल साफ करवाकर कृषि का विस्तार किया और वहां सिंचाई के लिए तालाब बनवाए और इस प्रकार नई ज़मीनों को आबाद किया। उनमें से कुछ शायद उन जंगली कबीलों के सरदार थे जिन्हें खेतिहर बनाकर जाति-व्यवस्थाके अधीन ले आया गया था। अब वे ऊचें दर्जे का दावा कर रहे थे। जो दर्जा वे चाहते थे वह क्षत्रिय का था, और उसका संबंध या तो सूर्यवंश से या चंद्रवंश से था। भूमि के अधिकारों का भी दावा करना था और इस सबके लिए शासक वंश से संबंध आवश्यक था। राजवंश उन लोगों को

पद और पदवियां देते थे जो प्रशासनिक दायित्वों का निर्वाह करते थे। तरह-तरह के उत्पादों पर कर वसूल किए जाते थे, और उनका कुछ भाग केंद्रीय प्रशासन को हस्तांतरित कर दिया जाता था। इसका मतलब अनिवार्यतः यह था कि भूस्वामी को अधिक से अधिक धन मुहैया कराने के लिए किसान अकसर बहुत दबाव में होते थे।

पहली सहस्राब्दी के उत्तरार्ध के पूरे दौरे में प्रायद्वीप के अधिकांश भागों में कृषि-व्यवस्था में परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा था। परिवर्तन का रूप उत्तर भारत के कुछ हिस्सों में हुए परिवर्तन से कुछ-कुछ मेल खाता था, यद्यपि दक्षिण भारत में तमिलनाडु में इस प्रक्रिया में विविधता थी। हो सकता है, इस क्षेत्र के अधिक विशद अध्ययनों के परिणामस्वरूप ऐसा दिखाई देता हो। दक्षिण में राजनीतिक शक्ति को दिया जानेवाला आर्थिक समर्थन स्पष्ट है और उस हद तक वह प्रायद्वीप के अन्य भागों के साथ तुलनात्मक अध्ययन का दिलचस्प विषय हो सकता है।

कृषि पर आधारित प्रणाली की संरचनाएं

आरंभ में चोल राज्य को केंद्रीकृत नौकरशाही राज्य कहा जाता था। भारत के लगभग प्रत्येक बड़े राज्य को आम तौर पर यही विशेषण दिया जाता रहा है। हाल में इतिहासकार राज्यों की संरचना के अलग-अलग तरीकों तथा राजनीति में होनेवाले परिवर्तनों से सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियों के संबंध की छानबीन करते रहे हैं। चोल राज्य की भी ऐसी छानबीन की गई है। प्रायद्वीप के राज्यों पर सबसे अधिक विस्तार के साथ खंडीय राज्य की अवधारणाओं की दृष्टि से और काफी व्यापक स्तर पर लेकिन कम गहरे अध्ययन के आधार पर फ्यूडलवाद या सामंतवाद को ध्यान में रखकर विचार किया गया है। जैसा कि पहले अध्याय में बताया जा चुका है, खंडीय राज्य का नमूना असमर्थनीय है, जिसका कारण द्वैध प्रभुसत्ता–राजनीतिक प्रभुसत्ता और कर्मकांडी प्रभुसत्ता—पर उसका आग्रह है। केंद्रीय, मध्यवर्ती और सीमांत इन तीन क्षेत्रों की कल्पना करते हुए कहा गया है कि ज्यों-ज्यों हम पहले से दूसरे और तीसरे क्षेत्र की ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों राजनीतिक नियंत्रण शिथिल पड़ता जाता है और उसका स्थान कर्मकांडी प्रभुसत्ता लेती चली जाती है। अभिलेखों को राजनीतिक की अपेक्षा कर्मकांडी प्रभुसत्ता की अभिव्यक्ति कहा गया है। तथापि कर्मकांडों में प्रतीकवाद का समावेश होता है और जरूरी नहीं कि कर्मकांडी प्रतीकवाद राजनीतिक प्रभुसत्ता की कमज़ोरी का द्योतक हो। जिन परिवर्तनों के फलस्वरूप चोल राज्य में शक्ति का सुदृढ़ीकरण हुआ वे उन रूपों में प्रतिबिंबित हुए जो खंडीय राज्य से मेल नहीं खाते। राज्य के अधिकारियों–ख़ास तौर से ऊपरी स्तरों के अधिकारियों—की पदवियों, प्रशासनिक इकाइयों को प्रादेशिक आधार पर संगठित करने की प्रवृत्ति, कराधान के मानकीकरण और सरदारों के स्थान पर क्रमशः ऊंचे दर्जे के अधिकारियों की

प्रतिष्ठापना की ओर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। खंडीय राज्य का सिद्धांत व्यापारियों के संघों के महत्त्व को भी अधिक से अधिक कम कर देता है, यद्यपि उनमें से कुछ तो प्रशासनिक इकाइयों की सीमाओं से बाहर जाकर काम करते थे। इसी प्रकार वह उस व्यापार की अहमियत को भी कम कर देता है जो प्रायद्वीप के साथ ही दक्षिण-पूर्व एशिया में भी विकसित हुआ और जिसकी बदौलत चोल राज्य को अच्छा-ख़ासा व्यापारिक राजस्व प्राप्त होता रहा। यद्यपि तमिल भक्ति आंदोलन के प्रसार तथा उसके बाद धर्म में आए बड़े परिवर्तनों के कारण मंदिरों तथा पवित्र स्थलों के महत्त्व में अभिवृद्धि हुई तथापि मंदिर कोई अराजनीतिक स्थान नहीं थे। यह बात तब बिलकुल स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि जब मंदिर महत्त्वपूर्ण धार्मिक-राजनीतिक संस्थाओं के रूप में काम कर रहे थे उस दौर में उनमें राज-कृपा प्राप्त करने के लिए आपाधापी चलती रहती थी। इसलिए ऐसा संभव नहीं लगता कि वे राजनीतिक प्रभुसत्ता से पृथक् कर्मकांडी प्रभुसत्ता का समर्थन करते।

एक अन्य सिद्धांत के प्रतिपादकों का कहना है कि चोल संपदा का स्रोत उनके सैनिक अभियान थे, जो मुख्यतः लूटपाट के लिए किए गए हमले होते थे। लेकिन इस सिद्धांत को भी समर्थन नहीं मिला है, क्योंकि चोल राज्य का राजस्व की उगाही करनेवाला एक प्रभावोत्पादक तंत्र था, जो कृषि तथा वाणिज्य-व्यापार दोनों प्रकार के उपक्रमों से राजस्व वसूल करता था। वैसे तो एक स्तर पर सभी युद्ध लूटपाट के लिए किए गए हमले होते थे, लेकिन ऐसे हमले चोल राज्य के जैसे जटिल राज्य को कायम नहीं रख सकते थे।

सामंती राज्य के नमूने को अपना औज़ार बना कर कुछ विद्वानों ने दक्षिण भारत के सामाजिक तथा आर्थिक इतिहास की व्याख्या करने की कोशिश की है, लेकिन उसके लिए और भी छानबीन की आवश्यकता है। कृषि-व्यवस्था संबंधी परिवर्तन को प्राथमिकता देनेवाले सिद्धांत वे हैं जो मूलतः सामंतवाद से संबंधित विभिन्न प्राक्कल्पनाओं की उपज हैं। यद्यपि कई दृष्टियों से वे साक्ष्यों के अधिक निकट हैं तथापि भारतीय इतिहास के इस काल के लिए 'सामंतवाद' की प्रतिमानसूचक संज्ञा के प्रयोग पर अभी बहस जारी है। लेकिन इन बहसों के फलस्वरूप सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन की अधिक सटीक समझ पैदा हुई है। फ्यूडेटरी अर्थात् सामंत और फ्यूडल अर्थात् सामंतवादी जैसे शब्दों की तुलना यूरोपीय इतिहास के संदर्भ में उनके प्रयोग से नहीं की जा सकती। वैसे यूरोप में भी यह व्यवस्था सर्वत्र लागू नहीं थी और हमें उसके उस भाग को ध्यान में रखना होगा जिसका संबंध विचाराधीन विषय से है। भारत और यूरोप के सामंती भाग की व्यवस्थाओं में कुछ समानताएं हैं और कुछ भिन्नताएं। उपलब्ध सामग्री को दृष्टि में रखकर इस प्रकार के शब्दों के ख़ास-ख़ास उपयोग का स्पष्टीकरण हमेशा सहायक सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए, स्थानीय संगठनों की सापेक्ष स्वायत्तता के स्वरूप की ओर तब की अपेक्षा बहुत अधिक ध्यान

दिया जा रहा है जब यह माना जाता था कि राजनीतिक नियंत्रण केवल राजा के हाथों में था। कृषि तथा व्यापार से संबंधित संरचनाओं की जो तसवीर आज उभर रही है उसमें सत्ता के सोपानों से उनका संबंध एक मुख्य प्रश्न है।

सामंतवादी व्याख्या से संबंधित काफी दलीलें धार्मिक भोक्ताओं को या राजा की सेवा करने के लिए अन्य लोगों को दिए गए भूमिदानों से आए परिवर्तनों पर टिकी हुई हैं। अनुदत्त भूमि बहुधा 'सिंचित भूमि' होती थी, जिसमें पहले से ही खेती हो रही थी और जिसमें सिंचाई की सुविधाएं थीं। कभी-कभी दान में परती ज़मीन भी दी जाती थी। जहां-कहीं खेती से पहले ज़मीन साफ करनी पड़ती थी और सिंचाई ताल बनवाने पड़ते थे वहां ये काम इतने बड़े पैमाने पर किए जाते थे कि उस ज़मीन का रूप ही बदल जाता होगा। 'सिंचित क्षेत्र' में, जैसे कि उपजाऊ और सुसिंचित गोदावरी घाटी में, आबादी की अधिकता से प्रकट होता है कि इस प्रकार के क्षेत्रों में रहना लोग अधिक पसंद करते थे। उत्तर चोल काल में शुष्क क्षेत्रों में भूमिदान दिए जाते थे। तब शायद सिंचाई की सुविधा के विस्तार का अधिक आम चलन था। किसी क्षेत्र की पर्यावरणीय अवस्था उसके आर्थिक उपयोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होती थी दो भूस्वामी समूह ब्राह्मणों तथा वेलालों के थे। वेलालों में संपन्न लोगों से लेकर ऐसे लोग तक शामिल थे जो संपन्नता की कोटि में नहीं आते थे। इन दो वर्गों के लोगों के पट्टेदारी के अधिकार इतने बहुरंगी थे कि उन पर कोई एक-दो छापें चस्पां नहीं की जा सकतीं। कुछ प्रसंगों में पट्टेदारों को बेदखल भी किया जा सकता था और पूर्ववर्ती दानों को निरस्त किया जा सकता था। निचले स्तर का एक और भी वर्ग कारीगरों और किसानों का था।

ब्रह्मदेयों या अग्रहारों से सांस्कृतिक संस्कृति का प्रवर्तन होता था, जिसमें धर्मशास्त्रों में विहित सामाजिक संगठन के नियमों का समावेश था। पहले से मौजूद कृषि से जुड़े समुदायों के साथ ब्रह्मदेयों तथा अग्रहारों के समेकन के फलस्वरूप कुछ मौजूदा किसानों तथा नए भूस्वामियों के बीच समझौते की आवश्यकता हांती थी। चूंकि भूस्वामियों को राजा का समर्थन प्राप्त रहता था और वे बहुधा कृषि तथा अन्य प्रौद्योगिकियों के संगठन के उन्नत ज्ञान से संपन्न होते थे इसलिए पहले से मौजूद किसानों या हाल में किसान बने लोगों के मुकाबले उनकी स्थिति स्पष्ट रूप से बेहतर होती थी।

ब्रह्मदेय दानों का रूप पल्लव काल के इस प्रकार के दानों जैसा ही बना रहा। यह बात चोल दानपत्रों से स्पष्ट देखी जा सकती हैं। सुंदर चोल द्वारा अनिरुद्ध ब्रह्माधिराज नामक ब्राह्मण को दिए गए भूमिदानों के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार परिभाषित भूमि [की सीमाओं] पर मिट्टी के ढेर लगाकर और नागफनी रोपकर हमने निशान लगा दिए। इस भूमि में शामिल सबकुछ–जैसे फल देनेवाले वृक्ष, जल, ज़मीनें, बगीचे, सभी ऊर्ध्वगामी वृक्ष और अधोगामी कूप, खुले स्थान और परती, जिसमें बछड़े चरते हैं, गांव का ठिकाना, बांबियां, [वृक्षों के गिर्द बने] चबूतरे, नहरें, विवर, नदियां और उनके द्वारा जमा की गई कछारी मिट्टी, तालाब, अन्न-भंडार, मछलियों वाले तालाब, मधुमक्खियों के छत्तोंवाले कोटर, गहरे तालावों के साथ, और हर वह चीज जिस पर गोह दौड़ता है और कछुआ रेंगता है; और कर,जैसे न्याय-स्थानों से प्राप्त आय, पान पर लगाया जानेवाला कर, करघों से प्राप्त होनेवाले कपड़े, गाड़ियों पर [सोने का] कानम...पुराने पट्टेदारों की बेदखली, जो-कुछ राजा ले सकता था और उपयोग में ला सकता था वह सबकुछ–इस व्यक्ति को सौंप दिया जाएगा। उसे पकी ईंटों से कक्ष और ऊपरी मंजिलें बनवाने; छोटे-बड़े कुएं खुदवाने; वृक्ष और नागफनी रोपने; सिंचाई की आवश्यकताओं के अनुसार नाले खुदवाने; अतिरिक्त जल को बर्बाद होने देने की अपेक्षा उसे सिंचाई के लिए बांध से रोक रखने–[ऐसे जल को चुराने के लिए] कोई छोटी टोकरियों का इस्तेमाल नहीं करेगा–की पूरी स्वतंत्रता होगी। इसके निमित्त पुराने आदेश को बदल दिया गया और पुराना नाम तथा पुराने कर हटा दिए गए एवं करुणाकर मंगलम् नाम से एकभोग ब्रह्मदेय [एक ही ब्राह्मण के भोग के लिए दिए गए भूमिदान] की सृष्टि की गई।

'द अनबिल प्लेट्स ऑफ सुंदर चोल', के. ए. नीलकंठशास्त्री, *दचोलज*(मद्रास, 1955), पृ. 577 में दिए गए अंगरेजी अनुवाद से।

कृषि के ज्ञान में सिंचाई की स्थिति का आकलन भी शामिल था। सिंचाई के साधन तालाब, जल-कपाटों से युक्त जलाशय, नहरें और कुएं थे। इनका निर्माण गांव में ही उपलब्ध स्थानीय विशेषज्ञ करते थे और उनका अनुरक्षण भी गांव ही करता था। परंतु चोलों के प्रभावोत्पादक सिंचाई तंत्र, जिनमें नदियों पर बने बांधों और नहरों का समावेश था, सीधे राज्य के नियंत्रण में रहते होंगे। लेकिन चाहे स्थानीय नियंत्रण में हों या केंद्रीय नियंत्रण में, सिंचाई के लिए गांव के स्तर पर और अंतः-ग्रामीण स्तर पर भी श्रम की व्यवस्था करने की ज़रूरत होती थी। भूस्वामियों का अपने मातहत किसानों पर इतना नियंत्रण अवश्य रहता होगा कि वे उनसे बेगार ले सकें। लंबे समय तक श्रम प्रदान करनेवालों में मुख्यतः भूमिहीन या निम्नतम जातियों के मजदूर होते होंगे। उपमहाद्वीप के अनेक भागों में ऐसे परबस समूह दीर्घ काल से मौजूद थे और उनमें तथा जिन्हें बंधुआ मजदूर कहा जा सकता था उन लोगों के बीच, बल्कि वस्तुतः तो उनके तथा गुलामों के बीच भी बहुत कम अंतर होता होगा। हमें गुलामों–अतिमै–के उल्लेख भी मिलते हैं। यह रिवाज अन्य समाज में प्रचलित गुलामी के रूपों के समान भले ही न रहा हो, परंतु उन लोगों पर लगे बंधन की शर्तें ऐसी होती थीं कि आम तौर पर उससे स्वतंत्र हो पाना उनके लिए असंभव होता था। बंधुआ लोगों को भूमिदान के साथ हस्तांतरित कर दिया जा सकता था। इस प्रणाली में चोल शासन के उत्तर भाग में निस्संदेह अधिक तीव्रता आ गई होगी, क्योंकि तब तक भूमि पर गांव के नियंत्रण की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वामित्व अधिक आम हो चला था।

भारतीय इतिहास में कृषक विद्रोह के उदाहरण विरल ही मिलते हैं। पूर्ववर्ती काल के स्रोतों से मालूम होता है कि असंतुष्ट किसान पड़ोसी राज्य या मौजूदा राजा के अधिकार-क्षेत्र से बाहर के इलाकों में चले जाते थे, लेकिन ऐसा देशांतरण अधिक नहीं होता था। यह एक व्यावहारिक विरोध होगा, जिससे राजा के राजस्व की हानि होगी। परंतु उसकी व्यावहारिकता तभी तक संभव थी जब तक भूमि उपलब्ध थी। दूसरी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में विद्रोह के छिटपुट उदाहरण मिलने लगते हैं। ये विद्रोह आम तौर पर प्रशासन के किसी पहलू के प्रति आपत्तियों का इजहार होते थे। मालूम होता है, आसानी से जोती-बोई जा सकनेवाली ज़मीन की उपलब्धता कम हो गई थी और छोटे राज्यों की संख्या बढ़ गई थी।

चोल प्रशासन में ग्राम सभाओं का अत्यधिक महत्त्व था। जो लोग सामान्य काश्तकार गांवों में रहते थे वे समय-समय पर उर् नामक संस्था में एकत्र होते थे, लेकिन ब्रह्मदेय गांवों के लोग अपनी इस प्रकार की संस्था के लिए अधिक महती संज्ञा *सभा* का प्रयोग करते थे। *सभा* की बैठकों में राजाधिकारी उपस्थित रहते थे, लेकिन लगता है, वे उसमें आदेशात्मक भूमिका नहीं निभाते थे। गांव के मामलों में उनकी भागीदारी पर्यवेक्षक और परामर्शदाता के ढंग की थी। इसका परिणाम यह होता था कि ऊपरी स्तर में राजनीतिक परिवर्तन होने से गांव के विकास में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। इसके अलावा, इससे प्रतिफलित गांव की स्पष्ट स्वायत्तता भी ध्यान देने योग्य है।

बड़े गांवों को हलकों में विभाजित किया जा सकता था, जिनमें से प्रत्येक की अपनी एक छोटी सभा हो सकती थी, जो उस हलके की गृहस्थियों का प्रतिनिधित्व करती। गांव की योजना और समान पेशे में लगे लोगों के एक ही स्थान में बस जाने की प्रवृत्ति के कारण ये हलके अलग-अलग पेशों के लोगों के समूहों के प्रतिनिधि बन गए, जैसे बढ़इयों, कुम्हारों, लोहारों आदि के। सभाएं कृषक परिवारों, अर्थात् वेलाल परिवारों के मुखियों से, जो उन सभाओं के सदस्य होते थे, सलाह-मशविरे के ज़रिए उत्पादन का नियंत्रण करती थीं। इसके लिए तरह-तरह के विषयों पर चर्चा करने की ज़रूरत होती थी, जिनमें से कुछ अतिशय महत्त्वपूर्ण होते थे–जैसे सिंचाई की सुविधाओं की व्यवस्था करना। भूमि संबंधी अधिकारों का पूरा आग्रह रखा जाता था। ऐसे अधिकारों में *कानि* अर्थात् वंशानुगत अधिकार भी शामिल थे।

गांवों के समूह नाडु में, जो एक सुपरिभाषित इलाका होता था, संगठित होते थे। ब्रह्मदेयों तथा मंदिरों के कृषि-संगठन एवं नगरम् जैसे विनिमय केंद्रों से संबंधित व्यापारिक संघ नाडु के अंतर्गत काम करते थे, यद्यपि ऐसे कुछ संघों के संबंध एकाधिक नाडुओं से होते थे। वेलालों के जो संघ कृषि उत्पादनों का नियंत्रण करते थे उनके सदस्य इलाके में अधिक व्यापक दौरा करते थे। बारहवीं सदी से उनके उल्लेख अधिक देखने को मिलते हैं। नाडु कोई सीमावर्ती स्वशासी इलाका नहीं था,

बल्कि वह केंद्रीय नियंत्रण के अधीन था। इसीलिए केंद्र नाडुओं को *वलनाडु*और *मंडलम्* जैसी इकाइयों में पुनर्गठित कर पाया, ख़ास तौर से इस कारण से कि नाडुओं के फैलाव समान नहीं थे। इस प्रकार का पुनर्गठन उन क्षेत्रों पर केंद्र के नियंत्रण का द्योतक था।

वलनाडु में कृषि का विस्तार भूमिदान प्राप्त करके बस्तियां बसानेवाले ब्राह्मणों से जुड़ गया, जैसे कि सुदूर दक्षिण में ताम्रपर्णी घाटी में, जहां की भूमि में पहले से ही खेती होती चली आ रही थी। वहां किसानों और दानभोगियों के बीच शर्तनामा होना जरूरी होता था, जो स्पष्ट ही दानभोगियों के लिए लाभदायक होता था। *मंडलम्*जैसी अन्य इकाइयों में भी राजस्व की मांगें तय करने के लिए, प्रशासनिक नियंत्रण के उद्‌देश्य से और क्षेत्र के नगरों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर फेरबदल किए जा सकते थे। *मंडलम्*की आवादी में किसान और साथ ही निकटवर्ती वनवासियों तथा पहाड़ी लोगों की भी बस्तियां शामिल होती थीं।

यदि ब्रह्मदेय तथा मंदिर चोल काल में अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे तो उसका कारण केवल उनकी कर्मकांडी सत्ता नहीं होती थी, बल्कि उत्पादकता पर उनका प्रशासनिक तथा कार्यात्मक नियंत्रण भी होता था। कर्मकांड महत्वपूर्ण है, लेकिन उसका अस्तित्व सामाजिक शून्यता में नहीं होता, और अकसर सामाजिक तथा आर्थिक यथार्थों एवं महत्वाकांक्षाओं से उसका अटूट संवंध होता है। स्वयं दानभोगी दान के लिए राजा के बहुत कृतज्ञ होते थे और राजा के अधिकारियों से यह अपेक्षित होता था कि वे मंदिर के संसाधनों का आवंटन करें और उसके लेखे की परीक्षा करें। बौद्ध विहारों की तरह मंदिर भी तभी टिका रह सकता था जव कृषि से प्राप्त संसाधनों पर या नियमित मेलों तथा त्योहारों से, जो बाजार का ही एक अन्य रूप बन गए थे, मिलनेवाले राजस्व से प्राप्त संसाधनों पर उसका कुछ नियंत्रण होता। इसके लिए यह आवश्यक था कि कृषि तथा सिंचाई पर मंदिर का नियंत्रण हो और साथ ही वाणिज्यिक विनिमय में भी उसकी कुछ शिरकत हो।

उक्त सभाओं के काम करने के तरीके स्थानीय स्थिति के अनुसार अलग-अलग होते थे। उर्‌के द्वार गांव के वयस्क पुरुषों के लिए खुले थे, लेकिन व्यवहारतः बुजुर्ग सदस्य, जैसे गृहस्थी के मुखिया, अधिक प्रमुख भूमिका निभाते थे। उनमें से कुछ लोग मिलकर रोज़मर्रा के काम के लिए एक छोटी-सी कार्यकारी समिति बना लेते थे। *सभा* की भी वही पद्धति थी, और इसके अतिरिक्त वह विशेपज्ञता की अपेक्षा रखनेवाले कामों के लिए अपने सदस्यों में से छोटी-छोटी समितियां भी गठित कर सकती थी। लगता है, *सभा*के लिए चुनाव वांछनीय व्यक्तियों में से किया जाता था, जिसके लिए कभी-कभी पर्चियां डालने की विधि से काम लिया जाता था। लेकिन जरूरी होने पर उसकी कार्यविधि में संशोधन भी किए जा सकते थे। उत्तरमेरुर (एक ब्रह्मदेय गांव) के मंदिर की दीवार से प्राप्त एक अभिलेख में तफसील से बताया गया

है कि *सभा*किस प्रकार काम करती थी। दसवीं सदी का यह अभिलेख निम्न प्रकार है :

तीस हलके होंगे। तीसों हलकों में से प्रत्येक के निवासी एकत्र होकर ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को पर्चियां डालकर चुनेंगे जिसमें निम्नलिखित योग्यताएं हों :
उसके पास एक चौथाई से अधिक कर देनेवाली ज़मीन होनी चाहिए। वह अपनी ज़मीन में बनाए मकान में रहता हो। उसकी उम्र सत्तर साल से कम और पैंतीस से ज़्यादा होनी चाहिए। उसे [वैदिक साहित्य के] मंत्रों और *ब्राह्मणों*की जानकारी होनी चाहिए।

यदि उसके पास [कर देने योग्य] अष्टांश भूमि हो तो भी उसका नाम शामिल किया जाएगा, बशर्ते कि उसे एक वेद और चार भाष्यों में से एक का ज्ञान प्राप्त हो।

जिन लोगों में ये योग्यताएं हों उनमें से भी उसी को लिया जाएगा जो काम-काज में प्रवीण और गुणवान हो और जिसके पास कमाई का ईमानदाराना जरिया हो, जिसका मन स्वच्छ हो और जो पिछले तीन वर्षों से किसी समिति का सदस्य नहीं रहा हो। जो किसी समिति का सदस्य रहा हो लेकिन जिसने अपना लेखा प्रस्तुत न किया हो, वह और उसके निम्नलिखित कुटुंबी पर्चियों में अपने नाम नहीं लिखवा सकते :

उसकी माता की छोटी और बड़ी बहनों के पुत्र।
फूफी और मामा के पुत्र।
उसकी माता का विपितृज भाई।
उसके पिता का विपितृज भाई।
उसका विपितृज भाई।
उसका श्वसुर।
उसकी पत्नी का विपितृज भाई।
उसकी विपितृज बहन का पति।
उसकी विपितृज बहन के पुत्र।
उसका दामाद।
उसका पिता।
उसका पुत्र।

वह जिसके विरुद्ध कौटुंबिक व्यभिचार या पांच महापापों में से प्रथम चार दर्ज हो। [पांच महापाप ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी, व्यभिचार और अपराधियों की संगति थे।] ऊपर निर्दिष्ट उसके सभी कुटुंबी पर्चियां डालकर चुने जाने के पात्र नहीं होंगे। नीच लोगों की संगति के कारण जिसे जाति-वहिष्कृत कर दिया गया हो उसके नाम का चयन तब तक नहीं किया जाएगा जव तक कि उसने प्रायश्चित्त न कर लिया हो।

जो हठी है।...
जिसने दूसरों की संपत्ति चुराई हो।...
जिसने वर्जित भोजन ग्रहण किया हो।...
जिसने पाप किए हों और इसलिए जिसे
प्रायश्चित्त करना हो।...

इन सवको छोड़कर तीस हलकों के लिए पर्चियों पर नाम लिखे जाएंगे और इन बारह वीथियों

के हलकों में से प्रत्येक हलका एक-एक आवरण पर्ची तैयार करेगा और तीसों हलकों में से प्रत्येक की पर्चियां अलग-अलग पुलिंदों में बांध दी जाएंगी। ये पुलिंदे एक बरतन में रख दिए जाएंगे। जब पर्चियां तैयार हो जाएंगी तब इस महान सभा के जवान-बूढ़े सभी सदस्यों की एक पूर्ण बैठक बुलाई जाएगी। उस दिन गांव में उपस्थित मंदिरों के सभी पुजारियों को, निरपवाद रूप से, उस अंदरूनी कक्ष में बैठाया जाएगा जिसमें सभा की बैठक होती है। पुजारियों के बीच में उनमें से सबसे अधिक आयु का एक पुजारी खड़ा होकर उस बरतन को इस प्रकार ऊपर उठाएगा जिससे सभी देख सकें। कोई कम उम्र का लड़का, जिसे यह नहीं मालूम है कि अंदर क्या है, एक हलके [की पर्चियों के पुलिंदे] को निकालेगा और उसे एक अन्य खाली बरतन में डालकर खोलकर हिला दिया जाएगा। उस बरतन में से एक पर्ची निकालकर निर्णायक को दे दिया जाएगा, जो उसे अपनी खुली हथेली पर ग्रहण करेगा। इस प्रकार प्राप्त पर्ची को वह पढ़कर सुनाएगा। पर्ची को आंतरिक कक्ष में उपस्थित सभी पुजारी पढ़ेंगे। इस प्रकार पढ़े गए नाम को लिख लिया जाएगा और स्वीकार कर लिया जाएगा। इसी प्रकार तीसो हलकों में से एक-एक व्यक्ति प्रत्येक हलके के लिए चुना जाएगा।

इस प्रकार चुने गए तीसों लोगों में से जो पहले उपवन समिति में और तालाब समिति में रहे होंगे उन्हें और जो ऊंचे ज्ञानी होंगे और जो अधिक उम्र के होंगे उन्हें वार्षिक समिति के लिए चुना जाएगा। शेष लोगों में से बारह उपवन समिति में और बाकी छह तालाब समिति में लिए जाएंगे। इन तीन समितियों के महानुभाव पूरे 360 दिन पदारूढ़ रहेंगे और उसके बाद निवृत्त हो जाएंगे। समिति का कोई सदस्य यदि किसी अपराध का दोषी पाया गया तो तत्काल हटा दिया जाएगा। इन सबके पद-निवृत्त हो जाने पर बारहों वीथियों के न्याय की देख-रेख के लिए चुनी गई समिति के सदस्य निर्णायक की सहायता से एक सभा का आयोजन करेंगे। समितियां बरतन से पर्चियां निकालकर नियुक्त की जाएगी।...

पंच-अंगी समिति और स्वर्ण समिति के लिए बरतन में डाली जानेवाली पर्चियों के लिए तीसों हलकों के संबंध में नाम लिखे जाएंगे [और उसी प्रक्रिया का अनुसरण किया जाएगा]। जो कभी गधे पर बैठा हो [अर्थात् दंडित किया गया हो] या जिसने जालसाजी की हो उसे उनमें शामिल नहीं किया जाएगा।

ऐसा कोई भी निर्णायक जो गाढ़ी कमाई करता है, गांव का लेखा तैयार करेगा। उस पद पर कोई भी लेखपाल तब तक दोबारा नियुक्त नहीं किया जाएगा जब तक कि उसने अपना लेखा मुख्य समिति के महानुभावों के समक्ष प्रस्तुत न कर दिया हो और समिति ने उसे ईमानदार घोषित न कर दिया हो। जो लेखा वह तैयार करता रहा है उसे वह स्वयं प्रस्तुत करेगा और उसके लेखे को बंद करने के लिए कोई लेखपाल नहीं चुना जाएगा। इस प्रकार इस साल से लेकर सूर्य-चंद्र के अस्तित्व-पर्यंत समितियां सदा पर्चियां निकालकर ही नियुक्त की जाएंगी।...

हम उत्तरमेरुर चातुर्वेदिन्मंगलम् की सभा ने यह व्यवस्था अपने गांव की भावी पीढ़ियों के लिए की, ताकि दुष्ट लोगों का नाश हो और शेष लोग सुख-समृद्धि का उपभोग करें। इस सभा में बैठे महानुभावों के आदेश पर मैं, निर्णायक कडदिपोट्टम् शिवक्कुरि राजमल्लमंगलप्रियन् ने इस व्यवस्था को लिपिबद्ध किया।

आर्कियोलाजिकलसर्वेऑफइंडियारिपोर्ट (1904-05), पृ. 138 और आगे

अन्य अभिलेखों में भी इसी प्रकार की सामान्य प्रक्रियाओं का वर्णन है, यद्यपि

योग्यताओं तथा अपेक्षाओं एवं व्यय की स्वीकृति की प्रक्रिया में अंतर हैं। समय-समय पर संशोधनों द्वारा नियमों की रचना और गुटबंदी को यथासंभव न्यूनतम स्तर पर रखने का प्रयत्न इस अभिलेख की ध्यातव्य विशेषताएं हैं। सभा नगाड़े की चोट पर बुलाई जाती थी और सामान्यतः उसकी बैठक मंदिर के अंदर होती थी। ग्राम-सभाओं के बीच आदान-प्रदान और सहयोग भी चलता था।

ग्राम सभा सरकार के लिए आय की उगाही करती थी और जहां निर्धारित होता था वहां ज़मीन और पैदावार पर कर वसूल करती थी। कभी-कभी पूरे गांव से संयुक्त राशि की उगाही की जाती थी। इसके अतिरिक्त, सभा प्रयोजन-विशेष के लिए-जैसे तालाब के निर्माण के लिए-शुल्क भी लगा सकती थी। ऐसे स्थानीय कोष राज्य के लिए एकत्र किए गए करों से अलग रखे जाते थे। सभा के कार्यों में दस्तावेज-ख़ास तौर से दानों और करों के दस्तावेज़-रखना तथा कृषि-संबंधी विवादों का-जैसे पट्टों की शर्तों तथा सिंचाई के अधिकारों से संबंधित विवादों का-निबटारा करना शामिल था। बड़ी सभाएं कुछ थोड़े-से वैतनिक अधिकारी रखती थीं, लेकिन छोटी सभाओं में अधिकतर कार्य स्वयंसेवा के तौर पर किए जाते थे। विशेष प्रयोजनों के लिए पेशेवर लोग *नाडुस्तर* पर भी नियुक्त किए जाते थे। ऊंचे अधिकारी सामान्यतः संपन्न वेलालों में से लिए जाते थे, जिससे राज्य और स्थानीय प्रशासन के बीच का तार जुड़ जाता था। इससे ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता की संभावनाएं भी पैदा होती थीं, जो प्रसंगवश राजनीतिक महत्वाकांक्षा रखनेवालों को एक आधार प्रदान करती थी। उत्तर चोल-काल में राजस्व अधिकारी अधिक सक्रिय हो गए, क्योंकि करों की संख्या बढ़ गई थी। गांव के स्तर पर जो स्वायत्तता प्राप्त थी उसके फलस्वरूप प्रशासन के ऊपरी स्तरों पर संबंधों में होनेवाले बदलाव गांव के सामान्य जीवन को ख़ास प्रभावित नहीं कर पाते थे।

संपत्ति के अधिकारों में भिन्नता थी और करों की अदायगी के तरीकों में भी। यह इस बात पर निर्भर था कि स्वामित्व क्या व्यक्तिगत है या गांव से सामूहिक कर को क्या अधिक पसंद किया जाता है। कभी-कभी किसी सेवा के एवज में कर पूर्णतः या अंशतः माफ कर दिए जाते थे, लेकिन ऐसा सामान्यतः बहुत छोटे पैमाने पर होता था-जैसे मंदिर को दिया जानेवाला कर इसलिए माफ कर दिया जाता था कि संबंधित व्यक्ति देवी-देवताओं के स्नान के लिए जल लाता था। बाद की सदियों में सैनिक सेवाओं के एवज में भी कर माफ कर दिया जाता था। मंदिर में सेवा करने के लिए देव-प्रतिमाओं के निकट जाने की ज़रूरत हो सकती थी, लेकिन सैनिक सेवा निम्न जातियों के लोग भी कर सकते थे। ब्रह्मदेय दानों के ग्रहीता और भूमिदान प्राप्त करनेवाले मंदिर भी अधिकारों की दृष्टि से नियमित भूस्वामी माने जाते थे। जिनके पास ज़मीन थी और जो कर देते थे और जिनके पास ज़मीन नहीं थी उनके बीच स्पष्ट भेद था। कृषि मजदूर मजदूरी पर काम करते थे। भेद का मुख्य रूप यह था कि मजदूर ग्राम सभा में शामिल नहीं किए जाते थे और स्थानीय प्रशासन में जिम्मेदारी के किसी

पद पर काम नहीं कर सकते थे। बहुत-से मजदूर मंदिर की जायदाद पर काम करते थे, लेकिन निम्न जातियों के होने के कारण उन्हें मंदिर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। परती ज़मीनों को आबाद करना और जंगलों को साफ करना किसानों और मजदूरों के नियमित कार्य थे। राजा ऐसे प्रयत्नों को बढ़ावा देता था, क्योंकि इससे कृषि-क्षेत्र का विस्तार और उसके साथ ही राजस्व की अभिवृद्धि होती थी। पशुपालन अब एक सहायक धंधा ही रह गया था, लेकिन पहाड़ी क्षेत्र इसके अपवाद थे।

ज़मीन और ज़मीन की पैदावार पर लगाए नकद या जिंसी कर चोल राज्य की आय का काफी बड़ा स्रोत थे, यद्यपि अन्य कर भी वसूल किए जाते थे–जैसे खानों, जंगलों, नमक, पेशों आदि पर लगाए गए कर, आयात-निर्यात कर, चुंगी, अर्थदंड और *वेट्टिया* बेगार। भूमि-कर का निर्धारण भूमि की किस्म और सिंचाई सुविधाओं पर निर्भर होता था। धान की सालाना दो, बल्कि तीन फसलें भी सामान्य मानी जाती थीं, यद्यपि इन फसलों की पैदावर में फर्क होता था। कर एक तिहाई तक हो सकते थे, जो किसी भी पैमाने से काफी ऊंचे थे, यद्यपि असाधारण परिस्थितियों में राजा कर माफ कर सकता था या उसमें कभी कर सकता था।

कर के प्रयोजन से ज़मीन का स्थायी मूल्यांकन अज्ञात तो नहीं था, लेकिन वह आम नहीं था। मूल्यांकन के लिए थोड़े-थोड़े अंतरालों से ज़मीन का सर्वेक्षण करना पड़ता था। सभा या मंदिर द्वारा आरोपित स्थानीय करों से मिलकर भूमि-कर किसान पर एक भारी बोझ बन जाता था, लेकिन इन करों को अदा करने के अलावा उसके पास कोई ख़ास विकल्प नहीं था। सिद्धांततः देखें तो किसी ख़ास समय में स्थितियां कठिन होने पर वह राजा से या तो कर माफ करने या उसमें कमी करने की अपील कर सकता था अथवा किसी और क्षेत्र में जाकर बस जा सकता था। इस प्रकार का देशांतरण पूर्ण हताशा की स्थिति में उठाया गया क़दम होता था, क्योंकि ज़मीन के उपलब्ध रहने पर भी किसानों की गतिशीलता प्रतिबंधित थी। जब एक इकाई के रूप में पूरे गांव का मूल्यांकन किया जाता था तब गांव से प्राप्त कुल राजस्व में से उस ज़मीन से हो सकनेवाली आमदनी बाद कर दी जाती थी जो कर लगाने योग्य नहीं थी। इस तरह की ज़मीन में आवासीय क्षेत्र, मंदिर, तालाब, सिंचाई के नाले, कारीगरों तथा जाति-व्यवस्था से बाहर की आबादी के निवास-क्षेत्र और श्मशान आते थे।

कर्नाटक के होयसल राज्य में ग्रामीण क्षेत्रों में मुख्य हस्तियां *गवुण्डायागौड़ा* तथा *हेग्गड़े*थे। इनके उल्लेख गांव में हुए ज़मीन के सौदों, सिंचाई व्यवस्था के अनुरक्षण, करों की वसूली तथा ग्राम परिषद् के कार्य के सिलसिले अभिलेखों में मिलते हैं। दरअसल तो उनके उल्लेख गंगों के अभिलेखों से ही मिलने लगते हैं। मालूम होता है, तब वे मूलतः वहां जाकर बस्तियां बसानेवाले परिवारों के मुखिया थे। उनकी स्थिति और प्रतिष्ठा का संकेत उनके साथ लगे उपसर्गों से मिलता है। उदाहरण के लिए, *प्रजा-गावुण्डा*आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से *प्रभु-गावुण्डा*से नीचे के दर्जे

पर थे। उनकी संख्या में अंतर होता था, और कभी-कभी वह उनकी दोहरी भूमिका से निर्धारित होती थी, जब वे गांव के प्रतिनिधि के साथ ही राज्य के अमले भी होते थे। ज़रूरत पड़ने पर वे नागरिक सेना भी तैयार करते थे। आरंभ में भूमिदान ब्राह्मणों तथा जैनों को दिए जाते थे, जिनके कार्यकलाप में कृषि का विस्तार करने के लिए जंगल को साफ करवाना और परती ज़मीन में खेती-बारी शुरू करवाना शामिल थे। इसके लिए सिंचाई तलाबों का निर्माण तथा अनुरक्षण भी अपेक्षित था। अधिकाधिक किसान खेतिहर बना लिए गए वनवासियों में से और दसवीं सदी की लड़ाइयों के बाद तमिल क्षेत्र से देशांतरण करनेवाले किसानों में से थे।

भूस्वामियों के दर्जे का विकास किसी हद तक एक सामान्य पद्धति से हुआ। मध्यवर्ती भूस्वामियों तथा सामंतों ने कृषि का विस्तार करके पास-पड़ोस के पर्यावरण को बदल दिया। सिंचाई तालाबों का निर्माण करवाकर उन्होंने विस्तार प्रक्रिया को स्थायित्व प्रदान किया। कभी-कभी किसी ऐसे वीर पुरुष के परिवार को भी भूमिदान दिया जाता था जिसने गांव की संपत्ति की रक्षा करते हुए वीरगति प्राप्त की थी। भूस्वामी की पहचान पर और भी ज़ोर देते हुए उसके पारिवारिक देवी-देवता को इलाके में प्रतिष्ठित कर दिया जाता था। यह पौराणिक हिंदू धर्म में नए देवी-देवताओं को स्थान देने और स्थानीय देवी-देवताओं के ऊपर से मौजूदा हिंदू देवी-देवताओं को प्रतिष्ठित कर देने की उभयपक्षीय प्रक्रिया का भी अंग था। स्थानीय देवी-देवता को प्रतिष्ठित करना केवल धार्मिक कृत्य नहीं था, और उसे कर्मकांडी प्रभुसत्ता मानने की भी भूल नहीं करनी चाहिए। उसके साथ भूमिदान भी दिया जाता था और इसलिए स्थानीय देवी-देवताओं को इस तरह प्रतिष्ठित करना प्रशासनिक अधिकारों तथा प्रशासनिक पहचान के हस्तक्षेप के रूप में भी उतना ही महत्वपूर्ण होता था। ब्राह्मण बस्तियों की स्थापना और अग्रहारों की सृष्टि के साथ तसवीर और भी बदल गई। नए बसे ब्राह्मणों और पहले से मौजूद किसानों के बीच कभी-कभी कुछ अनबन हो जाती थी और इसलिए राजस्व की वसूली की शर्तों में कुछ फेरबदल करने पड़ते थे। प्रायद्वीप में किसानों के विरोध का उल्लेख तेरहवीं सदी से मिलने लगता है, जिसमें कभी-कभी धार्मिक स्वर भी समाहित होता है। राज्य के प्रशासन तथा स्थानीय भूस्वामियों की शक्ति के बीच संतुलन बनाए रखना और साथ ही राज-सत्ता के आधार के रूप में कृषि की आवश्यकताओं का ध्यान रखना इस काल के राज्यों का ख़ास अभिलक्षण बन गया।

वारंगल (आंध्र प्रदेश) जैसे क्षेत्र में, जहां की ज़मीन कम उपजाऊ है, कृषि को प्रतिष्ठित करने के लिए परती ज़मीनों को साफ करने तथा तालाब और नहरें बनवाने के लिए भारी निवेशों की आवश्यकता थी। काकतीय राज़ाओं के आदेश से वीरान गांवों को फिर से आबाद किया गया और नए गांव बसाए गए, जिसके लिए जंगलों का अतिक्रमण भी किया गया। काकतीयों तथा उनके अधीनस्थ शासकों ने ख़ास तौर

से ब्राह्मणों को भूमिदान देकर इस प्रयत्न को सक्रिय प्रोत्साहन किया।

इसके विपरीत, केरल में उपजाऊ 'सिंचित भूमि' में बस्तियां बसाई गईं। प्रथम सहस्राब्दी के मध्य की पूर्ववर्ती ब्राह्मण बस्तियां, जिनकी संख्या बत्तीस बताई जाती है, इस काल में काफी फैलीं। राजाओं तथा ब्राह्मणों की मित्रता का संबंध बड़ी संख्या में मंदिरों की स्थापना से भी था, जिनमें से प्रत्येक के पास काफी ज़मीन थी। मंदिरों के प्रबंधकार ब्राह्मणों के नियंत्रण का मतलब यह था कि वे व्यक्तिगत हैसियत से भी ज़मीन के मालिक थे और मंदिरों के प्रबंधकों के रूप में भी। कुछ मामलों में ये दोनों वर्ग एक-दूसरे से भिन्न रहे होंगे, सो इस तरह कि संभव है, वेदों के ज्ञान से जुड़े ब्राह्मणों के पास पूर्ववर्ती दानों से प्राप्त भूमि रही हो और जो लोग मंदिरों में सिर्फ पुजारी थे उन्हें मंदिर में किए गए अपने पूजा-पाठ आदि के कार्यों से आमदनी होती रही हो। मंदिरों के प्रबंधन से धनाढ्य अब्राह्मण भी, जैसे व्यापारी और प्रशासक, संबंधित होते होंगे। पट्टेदारों का एक सोपान मंदिर की ज़मीनों में काश्त करता था, जिनके समानांतर थे वे कारीगर जिन्हें मंदिर अपने काम के लिए रखता था। ब्राह्मणों तथा अभिजातों, ख़ास तौर से नायरों का एक गठजोड़ विभिन्न स्तरों के कृषि-कार्यों पर नियंत्रण रखता था। मंदिरों के पास इतनी ज़्यादा ज़मीन थी कि बहुत सारे मंदिर युद्ध-कला में पारंगत लोगों को अपनी सेवा में रखते थे, जो कठिन समय में उनके लिए नागरिक सेना का काम करते थे। ग्राम सभा तथा मंदिर का प्रबंध करनेवाली परिषद् पर नियंत्रण कठोर था, ख़ास तौर से पट्टेदारों और कारीगरों के काम-काज़ की निगरानी के मामले में।

स्थानीय नागरिक सेनाओं के उल्लेख अब अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगे। यही बात *वीरगलों*अर्थात् वीर पुरुषों की स्मृति में स्थापित पत्थरों की बढ़ती हुई संख्या में भी दिखाई पड़ती है। कुछ का ढांचा ऐसा होता था जिससे छोटे पूजा-स्थल के अनुकरण का आभास होता था और मूर्तिकला से युक्त पटों (पैनलों) में अधिक पेशावराना अंदाज आ गया। उनकी सजावट संबंधित वीर के रुतबे का आभास देती थी। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि जिस वीर की स्मृति में स्मारक बनाया जाता था वह किसी भूस्वामी परिवार का होता था या यह भी होता था कि उसके कुटुंबी भूस्वामी बनने की आकांक्षा पालने लगते थे। जहां मामला वीरगति-प्राप्त व्यक्ति के भूस्वामी परिवार से संबंधित होने का होता था वहां उसके परिजनों की राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा को उनके भूस्वामित्व के रुतबे तथा वीरगति-प्राप्त व्यक्ति से रिश्तेदारी दोनों से बल मिल सकता था। वीर-पूजा का और भी विस्तार किया गया। ऐसा माना जाता था कि वीरगति की प्राप्ति उस व्यक्ति को सहज ही स्वर्ग पहुंचा देगी, और यदि उसकी पत्नी उसके साथ सती हो जाती थी तो उसे भी देवी का दर्जा प्राप्त हो जाता था। इस प्रकार के कृत्यों से व्यक्ति को जो-कुछ प्राप्त होता था उसको इतना अधिक महत्व देने से मालूम होता है कि कुछ ख़ास परिस्थितियों

में गांव स्वावलंबी होते थे। तटवर्ती क्षेत्रों के स्मारक समुद्र से या समुद्र में होनेवाले हमलों से बचाव करनेवाले वीरों की याद में बनवाए जाते थे। इस प्रकार के *वीरगलों* पर जहाजों के चित्रण से प्रसंगवश यह पता भी चलता है कि पहले की तुलना में जहाज-निर्माण में सुधार हुआ था। इसलिए इस काल के *वीरगलों*को स्थानीय स्तरों पर–ख़ास तौर से जहां राज्य की उपस्थिति सद्यः सुलभ नहीं होती थी या जहां ऐसे प्रसंगों में उपस्थित होना वह जरूरी नहीं मानता था वहां–राज-सत्ता की स्थिति पर एक टिप्पणी भी माना जा सकता है।

संपत्ति का संचय करना ग्रामीण जीवन की विशेषता नहीं था। जो लोग विशेष रूप से समृद्ध गांवों में रहते थे उन्हें छोड़कर अधिकतर ग्रामीणों के पास संचय करने के लिए कुछ ख़ास होता भी नहीं था। सामान्य जोत से इतनी ही पैदावार होती थी कि परिवार को रोटी-कपड़ा मिल सके, लेकिन अधिशेष कुछ नहीं रहता था। भोजन साधारण था–मुख्यतः चावल और साग-सब्जियां। लेकिन जाति के अनुसार आहार बदल सकता था। ब्राह्मण, जो कभी मांस-भक्षण भी करते थे, अब सामान्यतः शाकाहारी थे। कुछ ऊंची जातियों में सामिषाहार का रिवाज-सा हो गया, और अन्य लोग सभी तरह का मांस खाते थे, बशर्ते कि इसके लिए उनके पास साधन होते। आवास अपेक्षाकृत सस्ता था, क्योंकि आबोहवा को देखते हुए बड़े-बड़े मकानों की आवश्यकता नहीं थी। तथापि धनाढ्य लोग सुनिर्मित घरों में रहते थे। ग्रामीण समाज के संपन्न लोग ज़मीन को आबाद करने, सिंचाई में सुधार करने और व्यापार में निवेश करने में अपने धन का सदुपयोग करते थे। इसी प्रकार मंदिर के निर्माण या किसी मठ के संचालन के लिए दान देना बड़े पुण्य का कार्य माना जाता था। धन इस प्रकार खर्च किया जाता था जिससे उसके मालिक की प्रतिष्ठा की वृद्धि हो।

शहर-बाजार

शहरों की स्थापना की शुरुआत आम तौर ग्रामीण क्षेत्रों के विनिमय-केंद्रों से, जहां स्थानीय उत्पाद बिक्री के लिए लाए जाते थे, या प्रशासनिक केंद्रों से अथवा तीर्थस्थलों से, जहां लोग बड़ी संख्या में एकत्र होते थे और माल का नियमित विनिमय चलता था, अथवा जहां बार-बार उत्सव और मेले आयोजित किए जाते थे वहां से होती थी। सरदार और प्रशासक ग्रामीण बाजारों को राजस्व की संभावनाओं से युक्त महत्वपूर्ण स्थानों के रूप में देखते थे। बहुधा नियमित निरीक्षण यात्राओं के अंग के रूप में स्थापित सैनिक शिविर शहरों के जन्मदाता का काम करते रहे, ख़ासकर तब जब किसी स्थान में शिविर बार-बार स्थापित किए जाते थे। जो शहर दसवीं सदी से पहले से कायम थे वे इस काल में विस्तारमान व्यापार के फलस्वरूप और भी विकसित हुए। कर्नाटक और तमिलनाडु में शहर, जिन्हें *पत्तनम्*कहा जाता था, व्यापारिक, अकसर समुद्री व्यापारिक केंद्रों के रूप में फूलते-फलते थे। कभी-कभी

शहर के मुख्य धंधे का निर्देश उसके नाम से ही हो जाता था, जैसे बनजुपत्तम् अर्थात् व्यापारियों का शहर। लेकिन इसके पूर्व वे शायद स्थानीय प्रशासन के केंद्र या तीर्थस्थान रहे होंगे। उदाहरण के लिए, श्रवण बेलगोल की शुरुआत सातवीं सदी में एक तीर्थस्थान के रूप में हुई और बारहवीं सदी आते-आते वह व्यापारियों की एक महत्वपूर्ण बस्ती बन गया, जहां अनेक जैन स्थापनाएं फूल-फल रही थीं। व्यापारिक संगठनों और पेशेवर व्यापारियों के मूल प्रायः विनिमय के ग्रामीण केंद्रों या प्रशासनिक केंद्रों में होते थे।

उत्तर चालुक्यों के राज्य में भी इसी प्रकार की प्रक्रियाएं प्रकट हुईं। नगरों के प्रशासन में व्यापारियों और संपन्न भूस्वामियों की काफी चलती थी। अन्यत्र, साप्ताहिक ग्रामीण पेठ बहुधा शहरों का रूप ले लेते थे। कभी-कभी गावुण्डों और हेग्गडों को भी शहरी प्राधिकरण में स्थान दिए जाते थे। एक पहचान ऐसी थी जिसका बहुत व्यापक प्रयोग होता था और जिससे उपमहाद्वीप के अनेक भागों के लोग परिचित थे। तात्पर्य *महाजन*से है। इसका शब्दार्थ तो बड़ा आदमी है, लेकिन इसका प्रयोग कभी-कभी धनाढ्य ब्राह्मणों के लिए भूस्वामियों के रूप में उनकी धर्मेतर भूमिका के संदर्भ में किया जाता था, लेकिन अंत में इसका इस्तेमाल व्यापारिक गतिविधियों में लगे लोगों के लिए किया जाने लगा, जो कभी-कभी शहरी प्रशासन से भी जुड़े होते थे। जो लोग शहरी प्रशासन के ऊपरी स्तरों पर काम करते थे उन्हें गृहस्थों से प्राप्त शुल्कों का एक हिस्सा अपने पास रखने की इजाजत देकर उनकी भरपाई की जाती थी।

बाजार-केंद्र को नगरम कहते थे। वहां व्यापारी लोग एकत्र होते थे और वह स्थान संबंधित क्षेत्र के उत्पादों के विनिमय का केंद्र होता था और मंदिर से भी उसका संबंध होता था। *नगरत्तर*द्वारा प्रशासित उस केंद्र पर कर भी लगाए जाते थे, ख़ास तौर से समुद्री व्यापार से होनेवाली उसकी आमदनी पर। व्यापारी और श्रेणियां चुंगी और आयात-निर्यात-कर अदा करते थे। अभिलेखों में इन करों की तफसीलें मिलती हैं और साथ ही उनसे कर की वसूली के स्थानीय से लेकर केंद्रीय तक के सभी स्तरों की जानकारी मिलती है। कर्नाटक के अभिलेखों में घोड़ों का आयात, सोने से बनी चीजों, कपड़ों और सुंगधियों, काली मिर्च, धान, मसाले, पान के पत्ते, ताड़ के पत्ते, नारियल तथा शकर जैसे उत्पादों पर लगाए जानेवाले करों का जिक्र हुआ है। ये उत्पाद प्रायद्वीप के विभिन्न भागों से आते थे और इनका व्यापार मात्र क्षेत्रीय व्यापार नहीं था। निगमों में संगठित लोगों के वाणिज्यिक उद्यम ख़ास तौर से ग्यारहवीं सदी से सामने आने लगते हैं। अभिलेखों में इस बात का भी उल्लेख हुआ है कि नौकरशाही का बाजाब्ता एक सोपान था। ग्रामीण से शहरी स्थिति की ओर संक्रमण के दौर में स्थानीय प्रशासन कभी-कभी करों में रियायत किया करता था, लेकिन जब व्यापार लाभदायक होता था तब चुंगी, कर और शुल्क धड़ल्ले से लगाए जाते थे।

चोल व्यापारियों की शक्ति का एक साधन समुद्री व्यापार था। पूर्वी तट पर नागापत्तिनम्, महाबलीपुरम्, कावेरीपत्तिनम्, शालियुर तथा कोरकै में विस्तृत स्थापनाएं थीं, जो पूर्व दिशा के साथ दक्षिण भारत के व्यापार का नियंत्रण करती थीं। राजा कुलोत्तुंग के नाम पर विशाखापत्तिनम् बंदरगाह का नाम कुलोत्तुंग-चोल-पत्तिनम् रखा गया। ग्यारवीं सदी के पूर्वार्ध में कंबोडिया से एक प्रतिनिधि-मंडल चोल दरबार में आया, जिससे पूरब के साथ व्यापार को बढ़ावा मिला। इन सदियों के दौरान चीन के साथ व्यापार के परिमाण में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। चीन की सरकार इस व्यापार से होनेवाली आय को खोना नहीं चाहती थी, इसलिए राज्य ने इस पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। चीन के सुंग-काल के स्रोतों में दक्षिणी चीन में भारतीय सौदागरों की उपस्थिति के उल्लेख हुए हैं। व्यापार के अतिरिक्त भारतीय ज्योतिष-विद्या और कीमिया में चीनी विद्वानों की पूर्ववर्ती रुचि कायम रही। चीनी स्रोतों में चीन की यात्रा करनेवाले भारतीयों द्वारा तुच्छ पदार्थों को बहुमूल्य वस्तुओं में बदल देने के चकित करनेवाले अतिरंजित किस्से दर्ज किए गए।

मध्य एशिया पर मंगोलों का नियंत्रण था, इसलिए चीन का माल समुद्री मार्ग से भेजा जाता था—ख़ास तौर से दक्षिण चीन से पश्चिमी एशिया और यूरोप को। दक्षिण भारत चीन को कपड़ों, मसालों, औषधीय पौधों, रत्नों, हाथी दांत, सींगों, आबनूस और कपूर का निर्यात करता था। यही माल पश्चिम की ओर धोफर और अदन के बंदरगाहों को भेजे जाते थे और इसके अतिरिक्त सिर्फ दक्षिण भारत से धूप लकड़ी, सुंगधियां, चंदन की लकड़ी तथा मसाले प्राप्त करता था। फ़ारस, अरब और मिस्र पश्चिम के साथ व्यापार करनेवालों की मंजिलें थे। फारस की खाड़ी का सिरफ बंदरगाह उनके लिए गोदाम का काम करता था, और अरब सागर पार के उनके व्यापार से काहिरा और सिकंदरिया भी संबंधित था। मलाबार तट पर क्विलोन चेरों के पश्चिमाभिमुख समुद्री व्यापार का प्रस्थान-बिंदु था।

उस काल में अन्य अनेक लोगों की तरह भारत की यात्रा करने का दावा करनेवाले मार्को पोलो ने घोड़ों के व्यापार के निर्बाध सिलसिले और विशाल परिमाण पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि उससे अरब लोग और दक्षिण भारत के व्यापारी मालामाल हो रहे थे। उसके अनुसार, उन्होंने घोड़ों के आयात पर एकाधिकार स्थापित कर लिया था। अनेक कारणों से भारत ने कभी भी अच्छी नस्लों के घोड़े नहीं तैयार किए। शायद यहां की आबोहवा, मिट्टी की किस्म तथा प्राकृतिक चरागाह उसके लिए अनुकूल नहीं था। इसलिए इस अत्यधिक व्ययसाध्य माल का हमेशा आयात ही करना पड़ता था। मार्को पोलो ने लिखा :

आगे मैं आपको बता दूं कि यह देश घोड़े नहीं पालता। इसलिए सारा राजस्व या उसका अधिक बड़ा हिस्सा घोड़े खरीदने पर खर्च होता है, और मैं आपको बताऊंगा कि कैसे। आप सच मानिए

कि होरमज और कैस, धोफर और शिहर तथा अदन, बड़ी संख्या में युद्धोपयोगी तथा अन्य प्रकार के घोड़े पैदा करनेवाले इन तमाम इलाकों के व्यापारी सबसे उम्दा घोड़े खरीदते हैं और उन्हें जहाजों में भरकर इस राजा और इसके चार भ्रातृ-राजाओं को निर्यात कर देते हैं। उनमें से कुछ तो सोने की पांच-पांच सौ *सग्गियों*में बेचे जाते हैं, जो राशि चांदी के सौ मार्कों से बड़ी होती है। और आप विश्वास कीजिए कि यह राजा हर साल उनमें से 2000 को या इससे भी ज़्यादा को खरीद लेता है और उतने ही इसके भाई भी। और साल का अंत होते-होते उनमें से सौ घोड़े भी बचे नहीं रहते। उनके साथ जैसा दुर्व्यवहार होता है उसके कारण वे सभी मर जाते हैं, क्योंकि उनके पास कोई पशु-चिकित्सक नहीं है और वे इनका इलाज करना नहीं जानते। आप जान लीजिए कि जो व्यापारी इनका निर्यात करते हैं वे कोई पशु-चिकित्सक नहीं भेजते और न किसी को जाने देते हैं। कारण यह है कि राजा के यहां उनके मर जाने से उन्हें खुशी ही होती है।

मार्को पोलो, *ट्रैवेल्स*(पेलिकन संस्करण), पृ. 237

मार्को पोलो की सामान्य अतिशयोक्ति-प्रियता के लिए गुंजाइश रखते हुए भी मानना पड़ेगा इन कथनों में कुछ सचाई है। लेकिन यह भी सच है कि हाथियों तथा घोड़ों के रोगों का उपचार करनेवाले पशु-चिकित्सक भारत में थे, क्योंकि ये दोनों पशु हस्ति-सेना तथा अश्वारोही सेना के लिए महत्वपूर्ण थे। दरअसल तो पशु-चिकित्सा पर संस्कृत में पोथियां भी लिखी गईं। यदि यह सच है कि घोड़े इतनी बड़ी संख्या में मरते थे तो कारण कुछ और रहे होंगे, जिनकी छानबीन की ज़रूरत है।

तटवर्ती जल-दस्युओं के हस्तक्षेप का जारी रहना समुद्री व्यापार के लिए एक बड़ी बाधा था। संगम काव्य में यवनों के जहाजों पर जल-दस्युओं के हमलों का जिक्र हुआ था और आगे भी ऐसे जिक्र होते रहे। पश्चिमी तट पर राष्ट्रकूट राज्य में सक्रिय व्यापारियों को लूटने के लिए समुद्री लूट-पाट का संगठन कभी-कभी स्थानीय सरदार करते थे। कोंकण के *वीर-गलों*में जल-दस्युओं का प्रतिरोध करते वीरों का बहुत सजीव चित्रण किया गया है। इस प्रकार के उपद्रव अरब सागर, बंगाल की खाड़ी तथा दक्षिण चीन सागर के अनेक तटवर्ती क्षेत्रों में होते रहते थे। इसके विपरीत, कम उपद्रवग्रस्त बंदरगाह व्यापार के लिए बहुत अच्छी संभावना प्रस्तुत करते थे और सौदागरों के संघ वहां काफी लाभ कमाते थे। काकतीय राजा ने आंध्र तट-क्षेत्र में मोटुपल्लि बंदरगाह में व्यापार करनेवाले सौदागरों की हिफाजत के लिए तेरहवीं सदी में एक विशेष आदेशपत्र जारी किया। संस्कृत तथा तेलुगु में खुदे इस अभिलेख में कहा गया है कि व्यापारियों से एक निश्चित शुल्क ही लेना है और उनकी सुरक्षा सुनिश्चित करनी है। मार्को पोलो के अनुसार, मोटुपल्लि से उत्कृष्ट कोटि के हीरों और मलमल का निर्यात किया जाता था। बड़े संघ माल और व्यापारियों की हिफाजत के लिए अपना सैन्य बल रखते थे। इस तरह की परंपरा पूर्ववर्ती काल से ही चली आ रही थी।

अधिकतर उत्पादन स्थानीय उपभोग के लिए होता था, लेकिन व्यापार और ख़ास तौर से समुद्री व्यापार से पहले से मौजूद बाजार को अतिरिक्त प्रोत्साहन मिलता था। हाथी, घोड़े, मसाले, सुगंधियां, रत्न तथा श्रेष्ठ कोटि के कपड़े बड़े पैमाने पर चलनेवाले व्यापार के माल थे, जबकि धातु के बरतन, आभूषण, मिट्टी के बरतन तथा नमक (जो समुद्र के पानी से नमक की क्यारियों में बनाया जाता था) व्यापार की कुछ कम महत्वपूर्ण वस्तुएं थीं। काफी सारे व्यापार पर व्यापारियों के संघों का, जो अकसर श्रेणि कहलाते थे, नियंत्रण होता था। किसी संघ के व्यापारियों के लिए जरूरी नहीं था कि वे साथ मिलकर व्यापार करें। मणिग्रामम्, अय्यावोल, नानादेशी, अंजुवन्नम् और वलंजियार ऐसे संघ थे जिनका उल्लेख बार-बार हुआ है। वे सब एक ही तरह की वस्तुओं का व्यापार नहीं करते थे और न समान क्षेत्रों में। मणिग्रामम् अय्यावोल से छोटे संगठन थे। अंजुवन्नम् विशेष रूप से केरल में सक्रिय थे। दूरस्थ क्षेत्रों से संपर्क और ऐसे क्षेत्रों में चलनेवाली उनकी गतिविधियों का प्रमाण यह है कि अय्यावोल, जिसका मूल स्थान ऐहोल था और जिसमें मुख्यत: ब्राह्मण तथा महाजन शामिल थे, दकन तथा चोल केंद्रों के व्यापार में सक्रिय था। ऐसे ब्राह्मण कभी-कभी अग्रहारों के भी स्वामी होते थे और उनके पास इतना धन होता था कि वे व्यापार में सट्टेबाजी भी कर सकते थे। कुछ अत्यधिक कठिन परिस्थितियों को छोड़कर ब्राह्मणों के लिए व्यापार करना निषिद्ध था, लेकिन वे इसकी कोई परवाह नहीं करते थे। इसी प्रकार वे समुद्री यात्रा के निषेध की भी उपेक्षा कर देते थे। इस संघ के सदस्य अय्यावोल के 500 स्वामी कहलाते थे और उनका दावा था कि वे अपने सदस्यों के प्रथागत कानून की भी रक्षा करते हैं। प्रायद्वीप के अंदर के व्यापार में उनकी शिरकत का मतलब अनिवार्यत: यह था कि वे समुद्री व्यापार में भी कुछ भागीदारी करते होंगे। ऐसे संघों के उल्लेख दक्षिण-पूर्व एशिया के अभिलेखों में भी मिलते हैं। उस काल के आर्थिक जीवन में इन संघों के बोलबाले का पता इस बात से चलता है कि उनकी पहुंच राज्यों की सीमाओं से परे चाहे जिस क्षेत्र तक थी और वे स्थानीय परियोजनाओं के लिए धन का व्यय और निवेश कर सकते थे–जैसे किसी मंदिर के निर्माण के लिए या राजा को ऋण देने के लिए।

स्थानीय व्यापारिक संघ, अर्थात् नगरम् शायद उन बड़े संघों से संबद्ध होते थे जो एक विस्तृत तंत्र के माध्यम से वितरण के लिए माल उनके उत्पादन स्थानों से प्राप्त करते थे। उनके समुद्र में उतरने के उपक्रम राज्य के समर्थन पर निर्भर नहीं थे, लेकिन अगर ज़रूरत पड़ती थी तो और जब राज्य को लगता था कि वह उनकी ओर से कारगर तरीके से हस्तक्षेप कर सकता था–जैसा कि श्रीविजय के प्रसंग में हुआ था–तब वह उनकी सहायता के लिए अवश्य आगे आता था। लेकिन ऐसे प्रसंगों में भी हस्तक्षेप का प्रयोजन कच्चे माल के केंद्रों या बाज़ारों पर अधिकार करना नहीं, बल्कि व्यापार के मार्ग में खड़ी की जानेवाली बाधाओं को दूर करना होता था। हो

सकता है कि राजाओं और अनेक उच्च अधिकारियों ने इस प्रकार के व्यापार में निवेश किया हो या यह भी संभव है कि जहां ज़रूरत हो वहां उनका समर्थन सुनिश्चित करने के लिए श्रेणियां उन्हें विशिष्ट भेंट-उपहार देती हों।

बड़े-बड़े व्यापारिक संघों की संपत्ति तथा उनके फैलाव को देखते हुए यह बात विचित्र लगती है कि उन्होंने अधिक राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा का परिचय नहीं दिया। इन श्रेणियों में शामिल ब्राह्मण लोग शायद राजा की सत्ता को चुनौती देने को अनिच्छुक थे, क्योंकि उनकी वित्तीय पूंजी का स्रोत राजा द्वारा उन्हें दान की गई भूमि थी और दान वापस ले लिए जाने की संभावना उनके लिए एक खतरा था। विभिन्न पेशेवर संगठनों की महत्वाकांक्षाओं की बुनियाद पर शहरों में शक्ति का कोई स्वतंत्र आधार कायम तो हो सकता था, लेकिन मालूम होता है, उन शहरी संरचनाओं ने जितनी स्वतंत्रता उन्हें प्राप्त थी उससे अधिक का कभी आग्रह ही नहीं किया। अब तक राजनीतिक सत्ता के वैध रूप के तौर राजतंत्र की अवधारणा अपनी जड़ें गहराई से जमा चुका था। इसके अतिरिक्त, बहुत-सी श्रेणियों के हितों का फैलाव समुद्रों के पार तक था और इसलिए अंतिम उपाय के रूप में वे चोल राज्य की सैनिक और नौसैनिक शक्ति पर निर्भर थीं। जिन्होंने श्रेणि-प्रणाली को वैधता प्रदान की थी, वे अवसर आने पर निश्चय ही श्रेणियों की राजनीतिक शक्ति को नियंत्रण में रखने की हर संभव कोशिश करते। लेकिन मुख्यत: समुद्री व्यापार पर निर्भर छोटे-छोटे राज्यों में व्यापारिक संघ अधिक शक्तिशाली थे।

विनिमय के एक तरीके के रूप में ग्रामीण क्षेत्रों में वस्तुओं की अदला-बदली जारी रही। इन सौदों की प्रमुख वस्तुएं धान, पालतू जानवर और कपड़ा थे। तांबे के सिक्कों का चलन जारी रहा और उनका इस्तेमाल बाजारों में किया जाता था। सोने और चांदी के सिक्के स्वभावत: ऊंचे दामों की वस्तुओं की खरीद-बिक्री के लिए, दूरवर्ती क्षेत्रों के साथ व्यापार के लिए और कभी-कभी करों की अदायगी के लिए सुरक्षित रखे जाते थे। चोल राज्य समय-समय पर चांदी के कुछ सिक्के ढलवाता रहा, लेकिन सोना अति उच्च मूल्य की मुद्रा की धातु बना रहा। स्वर्ण *कलंजु*, जिसका मूल्यांकन कभी-कभी दकन के *गद्यान*को ध्यान में रखकर किया जाता था, बड़े-बड़े सौदों में और *कशु*छोटे सौदों में इस्तेमाल किया जाता था। देश के विभिन्न हिस्सों में श्रेणियों के आधार होने का एक लाभ यह था कि पूर्ववर्ती काल की तरह ही हुंडियों से दूर-देशीय व्यापार को प्रोत्साहन मिला।

सोने के सिक्कों का चलन निर्बाध था, यद्यपि लगता है, ग्यारहवीं सदी से ऐसे कुछ सिक्कों के वास्तविक मूल्यों में कमी आ गई थी। लेकिन यह एक विवादास्पद विषय है, क्योंकि अलग-अलग क्षेत्रों के सिक्कों में स्वर्णतत्व अलग-अलग होते थे। भारों और मानकों के अंतरों के कारण सभाओं की स्वर्ण समितियों को सोने तथा सोने के सिक्कों का मूल्यांकन करना पड़ता था। सिक्कों के इस्तेमाल से सूदखोरी की आय

को बढ़ावा मिला। सूदखोरी का अब तक आम चलन हो गया था–यहां तक कि ब्राह्मण और मंदिरों के व्यवस्थापकों को भी यह धंधा आम तौर पर स्वीकार हो गया था। इन लोगों के मामले में इसका औचित्य शायद इस आधार पर सिद्ध किया जाता था कि इससे धर्म के उत्थान और प्रचार में मदद मिलती थी।

संस्था के रूप में मंदिर

इस काल में बनवाए गए मंदिरों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि होती है। इसका कारण केवल पूजा में रुचि की अभिवृद्धि रही हो, ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता। मंदिर अन्य प्रयोजन भी सिद्ध करता होगा। राजा द्वारा दिए गए दानों से बनवाए गए मंदिर न केवल दरबार से घनिष्ठ रूप से संबद्ध होते थे, बल्कि उन्हें एक प्रकार का दरबार ही माना जाता था। फलतः वे राज्य की सीमा के अंदर कहीं से भी संसाधन प्राप्त कर सकते थे। उदाहरण के लिए, तंजावुर मंदिर श्रीलंका के गांवों से राजस्व प्राप्त करता था, क्योंकि श्रीलंका तब चोल राज्य का अंग था। इससे दरबार को स्थानीय मामलों में अधिक हस्तक्षेप करने का प्रोत्साहन मिला, यद्यपि अनेक प्रसंगों में दरवार से स्थान-विशेष की भौगोलिक दूरी और स्थानीय सत्ता की व्याप्ति के कारण स्थानीय लोकमत को रियायतें भी देनी पड़ती थीं। अलवारों तथा नयनारों के भजनों में आराध्य तथा राजत्व में समानता को रेखांकित किया जाता था और एक का अनुमोदन करने से दूसरे का अनुमोदन होता था। मंदिरों की कल्पना प्रासादों के रूप में की जाती थी और आराध्य की दिनचर्या से संबंधित कर्मकांड में राजा से संबंधित कर्मकांड का अनुकरण किया जाता था। मंदिर को भी बलि और नजराने तथा उपासक की सेवाएं प्राप्त होती थीं।

राजा द्वारा दिए गए दानों से निर्मित मंदिर राजधानी में स्थित हो सकते थे और दरबार से उनका घनिष्ठ संबंध हो सकता था। तंजावुर का राजराजेश्वर मंदिर तथा गंगैकोंडचोलपुरम् का राजेंद्रेश्वर मंदिर इसके उदाहरण थे। ये दोनों मंदिर ग्यारहवीं सदी में क्रमशः राजराज और राजेंद्र के शासन के उपलक्ष्य में बनवाए गए थे। तंजावुर का मंदिर बहुत ही केंद्रीय स्थान में स्थित था और उसने प्रमुख आनुष्ठानिक केंद्र की आभा प्राप्त कर ली। कभी-कभी पूजा का केंद्र राजा बन जाता था, जो राजत्व पर देवत्व का ठप्पा लगाने में सहायक होता था। कर्मकांड सत्ता-प्राप्ति का एक और मार्ग था, जो कभी-कभी अमूर्त और कभी-कभी मूर्त होता था। इसका कारण ख़ास तौर से यह था कि कर्मकांड अपने-आप में पर्याप्त नहीं होता था और उसे शक्ति के अधिक ठोस स्रोतों से पुष्ट करना पड़ता था। कर्मकांड का आशय शाब्दिक नहीं होता था, बल्कि वह प्रतीकात्मक शक्ति को प्रतिबिंबित करता था। पौराणिक हिंदू-धर्म के लिए राजा का वैदिक यज्ञ का कर्ता होना जरूरी नहीं था, लेकिन चूंकि वह आराध्य देवता का प्रतीक था, इसलिए ऐसा समझा जाता था कि देवता जो कृपा करता है उसमें

वह भी भागीदार है। इससे पूजकों में उसके प्रति निष्ठा को बढ़ावा मिलता था। अतः राजा का देवता के तुल्य होना हमेशा जरूरी नहीं होता था और कुछ परिस्थितियों में उसका देवता का भक्त होना ही काफी होता था। राजा तथा उसके दरबार का धार्मिक विश्वास चाहे जैसा रहा हो, इसमें संदेह नहीं कि भक्ति के लाभ का उन्हें एहसास था।

जैसा कि इस प्रकार की सभी संरचनाओं के साथ होता है, आराध्य की मानी हुई उपस्थिति ने मंदिर को एक पवित्र स्थल के रूप में परिवर्तित कर दिया, जहां आराध्य तथा भक्त के बीच संबंध की तलाश की जा सकती थी। लेकिन इस स्थल और कर्मकांडों में सत्ता तथा अधिकारों एवं कर्तव्यों की प्रतिष्ठा से संबंधित प्रश्न अंतर्भूत थे। पौराणिक हिंदू धर्म का मंदिर एक विस्तृत सामाजिक परिदृश्य पर इस प्रकार के सरोकारों असली रूप देने का सामाजिक तथा राजनीतिक अवसर प्रस्तुत करता था, यद्यपि समाज का निम्नतम समूह उस परिदृश्य से बाहर था। जैसा कि मंदिरों के अभिलेखों को बारीकी से पढ़ने पर प्रकट होता है, मंदिरों के प्रबंधक राजनीतिक तथा आर्थिक हितों एवं धार्मिक सरोकारों का प्रतिनिधित्व करते थे। राजा द्वारा दिए गए दान धन का वितरण करने और समर्थन प्राप्त करने का एक रूप थे, भले ही दोनों का प्रकट प्रयोजन देवता को प्रसन्न करना रहा हो। दान की एक अटूट परंपरा चली आ रही थी और यद्यपि दान के रूप में परिवर्तन हुए तथापि मंतव्य समान रहे।

राज-परिवार के दानों से इतर संसाधनों से बनवाए गए मंदिर भी जटिल संस्थाओं के रूप में विकसित हुए, जिनका संबंध केवल धार्मिक अपेक्षाओं से ही नहीं, बल्कि राजकोषीय, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं से भी था। इस बात को ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े-बड़े मंदिरों के कार्यकलाप में आसानी से देखा जा सकता है। अभिजन लोग अपनी ज़मीन या अपनी ज़मीन न हुई तो ज़मीन खरीद कर मंदिर को दान करते थे। मंदिर की राजकोषीय भूमिका उत्तर चोल काल में, जब मंदिर और व्यापारी ज़मीन की ख़रीदारी सबसे ज़्यादा करते थे, और भी स्पष्ट हो गई। एक संस्था के रूप में मंदिर अनेक प्रकार के रोज़मर्रा के विनिमय का स्थान बन गया। वह तरह-तरह के पेशेवर लोगों के केंद्र के रूप में उभरा, जिन्हें वह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से रोजगार देता था। भू-स्वामी के रूप में वह सत्ता का एक प्रतीक बन गया, जो ग्रामीण लोगों के जीवन में हस्तक्षेप कर सकता था। इस सबके अतिरिक्त वह बैंक की भूमिका निभाता था और विभिन्न प्रकार के वैधीरकण का साधन बन गया; और इतनी ही महत्वपूर्ण बात यह भी थी कि वह अमुक सांप्रदायिक धर्म का भी एक गढ़ बन गया। ग्रामीण क्षेत्रों में मंदिर ग्रामीण सभाओं की बैठकों के स्थान और ऊपरी जातियों के बच्चों के लिए औपचारिक शिक्षा के केंद्र भी थे।

ब्रह्मदेय बहुधा वैदिक विद्या में निष्णात ब्राह्मणों को दिए गए दान होते थे, परंतु मंदिरों का निकट-संबंध पौराणिक धर्मों के विश्वासों तथा आचरणों से होता था। दोनों

के आमने-सामने होने से दोनों के कर्मकांडों में समानता आई, लेकिन एक अन्य स्तर पर यह निकटता दोनों के बीच भेद की रेखा भी खींचती थी। स्थानीय उपासनाओं के समाहार के फलस्वरूप शामिल किए गए नए कर्मकांडों तथा देवी-देवताओं को मंदिर के कर्मकांडों में स्थान देने और उनके सहारे नए मिथकों की सृष्टि करने से उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी। जिन उपासनाओं को इस प्रकार मुख्य धारा में शामिल नहीं किया जाता था वे आम तौर पर हाशिए पर स्थित समूहों से—जैसे अस्पृश्य और कुछ अन्य निम्न जातियों से—संबंधित होती थीं। उन लोगों के पूजा-स्थलों को अलग रखा जाता था।

मंदिर के स्थापत्य, उसकी योजना तथा उसके अलंकरण में पूर्ववर्ती मंदिरों की तुलना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गए थे। चट्टान काटकर बनवाए गए मंदिरों का स्थान खुले आसमान के नीचे बनवाए गए स्वतंत्र मंदिरों ने ले लिया, जो आरंभ में तो छोटे होते थे, लेकिन अंततः उनका रूप विशाल हो गया, जो उनसे रखी जानेवाली संस्थागत अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक हो गया था। चोल शासन के उत्तर चरण के आते-आते बड़े-बड़े मंदिर विस्तृत क्षेत्रों में बनवाए जाने लगे। प्रत्येक मंदिर में अनेक प्रांगण होते थे, जिनमें मुख्य मंदिर की चौहद्दी के अंदर अनेक छोटे-छोटे पूजा-स्थल बने होते थे। आसपास ब्रह्मदेयों के स्थित होने से ऐसे मंदिरों पर भी ब्राह्मण अपना नियंत्रण स्थापित कर लेते थे जो अन्य स्वतंत्र व्यक्तियों द्वारा दिए गए अनुदानों से बनवाए गये थे। मंदिर बहुधा विनिमय के किसी केंद्रीय स्थान में, या व्यापारिक केंद्र में अथवा किसी प्रशासनिक केंद्र में स्थित होता था। जो मंदिर किसी विनिमय या व्यापारिक केंद्र में बना होता था वह व्यापारियों को अपनी ओर आकृष्ट करता था, जिनमें से कुछ मंदिर के प्रशासन से जुड़ जाते थे। वैसे, ब्राह्मण प्रबंधक तो उसमें रहते ही थे। नगरों में छोटे मंदिर श्रेणियों तथा व्यापारियों के अनुदानों से बनवाए जाते थे और उनका खर्च भी ऐसे ही अनुदानों से चलता था। इसलिए ऐसे मंदिर नगर के निवासियों के किसी हिस्से से जुड़े होते थे। बौद्ध स्तूपों की तरह अपेक्षाकृत अधिक संपन्न मंदिरों की भी पहुंच दूर-दूर के इलाकों के संरक्षकों तक होती थी। यह चीज व्यापारियों तथा भूस्वामियों से उन्हें प्राप्त होनेवाले अनुदानों में प्रतिबिंबित होती थी।

मंदिर की आय का जरिया दान में प्राप्त धन और भूमि, ग्राम सभाओं द्वारा दिए चंदे, दान की शर्तों के अनुसार उसे जिन करों की वसूली की अनुमति थी वे कर, भक्तों के चढ़ावे तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकरों के रूप में उसके कार्यकलाप थे। मंदिर पूजा-पाठ के लिए अपने पुजारी और साथ ही प्रलेखपाल, लेखाकार और प्रबंधन की देखरेख करनेवाले प्रशासक भी रखता था। और भी कर्मचारी थे, जो इमारत की सफाई वगैरह करते थे और उसकी सुरक्षा का ध्यान रखते थे। पेशेवर चरवाहे मंदिर के पशुओं की देखरेख करते थे। जो लोग कर्मकांड तथा मनोरंजन के निचले स्तर पर काम करते थे उनमें रसोइए, माली, संगीतज्ञ, नर्तक और देवदासियां शामिल थीं। बहुतों को

भक्ति-भाव से मुफ्त सेवा करने के लिए प्रेरित किया जाता था, लेकिन उपर्युक्त कर्मचारियों के अलावा और भी लोग थे जो अपनी जीविका के लिए मंदिर पर निर्भर थे। चूंकि मंदिर के पास अतिरिक्त संसाधन होते थे इसलिए व्यापारी और कारीगर भी उसकी ओर आकृष्ट होते थे। कारीगरों में ठठेरे, संग-तराश और बुनकर शामिल थे।

बड़े मंदिर बनवाने की वर्षों तक चलनेवाली प्रक्रिया के फलस्वरूप संबंधित क्षेत्र के अंदर के आर्थिक संबंध बिलकुल बदल गए, क्योंकि इस प्रक्रिया को अंजाम तक ले जाने क लिए निर्माण सामग्री, श्रमिकों तथा कुशल कारीगरों की व्यवस्था तो करनी ही पड़ती थी, साथ ही मंदिर बन जाने पर उनके दीर्घ कालीन अनुरक्षण के लिए भी आदमी रखने पड़ते थे। जब मंदिर के अनुरक्षण के लिए दिया जानेवाला व्ययसाध्य संरक्षण बंद हो जाता था तब मंदिर की मरम्मत नहीं हो पाती थी और वह क्षतिग्रसत हो जाता था, बल्कि लोग उसका त्याग भी कर देते थे। यह जरूरी नहीं कि केवल देश-विजय तथा इरादतन विनाश के कारण ही मंदिर नष्ट होते थे; उनके नष्ट होने का कारण उस सत्ता का पतन भी हो सकता था जो उसके संरक्षण के लिए जिम्मेदार थी। गरज यह कि अन्य बड़ी-बड़ी संरचनाओं की तरह मंदिर का भी क्षय तरह-तरह के कारणों से होता था।

मंदिर के अनुरक्षण की तुलना किसी भी बड़ी संस्था के अनुरक्षण से की जा सकती है। कहते हैं, तंजावुर के मंदिर की, जिसके निर्माण में लगभग एक दशक लगा और जो इस काल का शायद सबसे संपन्न मंदिर था, औसत आय 500 पौंड ट्राय चांदी थी, जो दानों, करों की आमदनी और लगभग 300 गांवों के राजस्व से प्राप्त होती थी। मंदिर के कर्मचारियों की संख्या लगभग 600 थी, जिनमें देवदासियां, 212 सेवक—खजांची, लेखाकार, प्रलेखपाल, और चौकीदार—57 संगीतज्ञ और पाठों के वाचक शामिल थे। इनके अलावा विभिन्न प्रकार के कारीगर (जैसे बढ़ई, ठठेरे, सोनार और दर्जी) और साथ ही मंदिर से गुजारा करनेवाले सैकड़ों पुजारी भी थे। उनमें से बहुतों को ज़मीन दी जाती थी, ताकि वे मंदिर के आसपास ही रहें। अनिवार्यतः मंदिर के इर्द-गिर्द एक शहरी केंद्र भी विकसित हुआ। मंदिर के अधिकारियों के लिए अत्यावश्यक हो गया कि वे आय के इस प्रवाह को अजस्र रखें। विभिन्न वाणिज्यिक उद्यमों के लिए वित्त की व्यवस्था करके, ग्राम सभाओं तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं के लिए बैंकर तथा साहूकार की भूमिका निभाकर तथा सामान्यतः 12 से 15 प्रतिशत की ब्याज-दरों पर ऋण देकर मंदिर एक हद तक इस लक्ष्य को पूरा करते थे। इस मामले में अब मंदिर अपेक्षाकृत धनाढ्य बौद्ध विहारों की परंपरा का अनुसरण कर रहे थे।

जाति और संप्रदाय

ब्रह्मदेय राजनीतिक एकीकरण के अभिकरण का भी काम करता था, लेकिन

अभिजनों का कल्याण उसका एक प्रमुख उद्देश्य होता था। इस प्रणाली ने एक ऐसे क्षेत्र में वर्ण सोपान को दाखिल किया जहां वह शायद नया रहा होगा या जहां पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हो गया होगा। कौटुंबिक संबंधों पर आधारित पूर्ववर्ती सामाजिक भेदों का स्थान जाति ने ले लिया। मगर सामाजिक वर्गीकरण के रूप के तौर पर जाति को अपनाने के बावजूद उसमें कुछ समंजन किए गए, जिसके लिए कुछ सामाजिक कोटियों को उसमें समाविष्ट कर लिया गया और कुछ को वर्जित कर दिया गया। महत्व की दृष्टि से ब्राह्मणों के बाद वेलाल आते थे, यद्यपि उन्हें अकसर शूद्र वर्ग में रखा जाता था। लेकिन वेलालों में अनेक आर्थिक हैसियतों के लोग शामिल थे। समाज के शेष भाग को क्रमिक रूपसे जातीय सोपान में खपा लिया गया।

वैदिक ब्राह्मण धर्म का कुछ-कुछ ह्रास हो चुका था, लेकिन तब भी उसका आचरण ब्राह्मणों तथा राजाओं का विशेषाधिकार था। वर्जनशीलता पर उसके आग्रह ने उसे ऊपरी जातियों तक सीमित कर दिया। शैव तथा वैष्णव संप्रदायों के विकास के साथ मंदिर का महत्व बढ़ता गया। जो लोग मंदिरों की व्यवस्था संभालते थे–ख़ास तौर से ग्रामीण क्षेत्रों में–वे स्वभावतः ब्राह्मण और और संपन्न वेलाल थे। ये पहचानें ब्राह्मण और शूद्र नाम की उन पहचानों में जाकर मिल गईं जो पूर्ववर्ती काल में आरंभ हुई थीं और इस तरह दक्षिण के दो मुख्य सामाजिक समूहों की रचना हुई। मंदिरों तथा शैव मठों ने बौद्ध एवं जैन संस्थाओं का अनुसरण करते हुए व्यापारियों का संरक्षण प्राप्त करने का प्रयत्न किया। संरक्षण प्राप्त करने की इस आपाधापी में संप्रदायों के बीच संबंधों में परिवर्तन होते रहे। कभी-कभी उनके संबंध शत्रुतापूर्ण और हिंसक हो जाते थे। बौद्धों तथा शैवों की पूर्ववर्ती शत्रुता का विस्तार जैनों और शैवों के बीच की शत्रुता के रूप में हुआ। शैव भक्तों के जीवन-चरितों का वर्णन करनेवाली बारहवीं सदी की *पेरियापुराणम्*जैसी रचनाओं से इन शत्रुताओं की आग और भी भड़की और जैन मंदिरों को शैव मंदिरों में बदल देने का प्रयत्न किया गया। कहा गया कि शिव के साथ संबंध स्थापित करने से राजा अधिक प्रतापी हो जाते हैं। राजाओं के चित्र और मूर्तियां इस देवता के भक्तों के रूप में बनाई गईं। राजाओं में अधिक लोकप्रिय धर्म को संरक्षण देने की प्रवृत्ति होती थी और शैव मत अनेक क्षेत्रों में अधिक लोकप्रिय था। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप वैष्णवों के साथ भी मुकाबले की स्थितियां उत्पन्न हुईं। वैष्णव लोग अपने कर्मकांड में ऐसे बदलाव लाने की कोशिश कर रहे थे जिनके फलस्वरूप भिन्न-भिन्न वर्गों के अधिक उपासक उनके संप्रदाय को अपना सकते। वे संरक्षण प्राप्त करने के लिए भी प्रयत्नशील थे। *भागवतपुराण* में वैष्णव विश्व-दृष्टि प्रस्तुत की गई। आगमों में पौराणिक धर्मों की पूजा-पद्धति के विषय में जानकारी दी गई।

बारहवीं सदी आते-आते अधिक संपन्न वेलाल बहुधा मंदिरों के शक्तिशाली पदाधिकारी होने लगे। जाति-बोध सामाजिक संबंधों की एक स्पष्ट विशेषता बनता जा

रहा था। लेकिन मालूम होता है, वर्ण-व्यवस्था का व्यवहार में बोलबाला नहीं था। जातियों की व्यवस्था में, मालूम होता है, मुख्य भेद ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का था। अन्य क्षेत्रों की तुलना में देखें तो अब्राह्मणों में क्षत्रियों तथा वैश्यों का ख़ास उल्लेख नहीं होता था, लेकिन शूद्र की प्रमुखता थी। शूद्र दो श्रेणियों में विभाजित थे—स्वच्छ शूद्र, जिनका स्पर्श अशौचकारी नहीं माना जाता था और अस्वच्छ शूद्र, जिन्हें मंदिर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। जातियों का उल्लेख कारीगरों तथा शिल्पियों के संदर्भ में होता था। गुलामों का एक निश्चित वर्ग था, और यद्यपि कुछ गुलामों का उपयोग कृषि तथा शिल्प में किया जाता था, तथापि अधिकांश से घरेलू काम करवाए जाते थे। ऐसे बहुत-से लोग मंदिरों को बेच दिए जाते थे, ख़ास तौर से वे जो बिलकुल विपन्न थे या जिनके पास दुर्भिक्ष के दिनों में आय का कोई जरिया नहीं होता था।

मंदिर सामाजिक गतिशीलता के साधन का भी काम कर सकता था। आंध्र के तटवर्ती क्षेत्र में द्राक्षाराम मंदिर को गायों का एक बड़ा समूह दान किया गया। गाएं इस कारण से एक बड़ी संपदा थीं कि उनके दुग्धोत्पादों से अच्छी आमदनी होती थी। उनकी देख-रेख स्थानीय बोया समुदाय के लोग करते थे। चूंकि वे मंदिर की संपत्ति की देखरेख कर रहे थे इसलिए कालांतर में उनकी स्थिति में सुधार हुआ और वे जाति-हीन लोगों से शूद्र बन गए। शूद्रों के रूप में वे प्रशासन के निचले स्तर में प्रविष्ट हुए और धीरे-धीरे उनमें से कुछ ने ऊंचे पद प्राप्त कर लिए।

नई गतिविधियों के फलस्वरूप विनिमय के लिए अपेक्षित कुछ वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। जो लोग कच्चा माल जुटाकर उससे तैयार माल बनाने और उसका वितरण करने के धंधे में लगे हुए थे उन्हें स्वभावतः सामाजिक महत्व प्राप्त हुआ। इससे जाति-आधारित समाज में गतिशीलता की संभावनाओं पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। इस सबके फलस्वरूप दो नए समूहों का उदय हुआ—*वलगैअर्थात्* दाहिना हाथ और *इदगै*, अर्थात् बायां हाथ। यह अब्राह्मणों तथा गैर-वेलालों के बीच का सामाजिक विभाजन था। ऐसे लोगों में वे कृषि-मजदूर भी शामिल थे जो ऊपरी जातियों की सेवा करते थे। यह विभाजन चोल-काल में आरंभ हुआ लेकिन तेरहवीं सदी से अधिक स्पष्ट होने लगा। चूंकि *इदगैअर्थात्* दाहिने हाथ को *वलगैयानी* बाएं हाथ से श्रेष्ठ माना जाता था, इसलिए उच्चतर स्थिति प्राप्त करने को उत्सुक लोग *वलगैसे इदगै* की ओर जाने की कोशिश करते थे। कभी-कभी कोई ख़ास संगठन कुछ ख़ास-ख़ास पेशेवर समूहों को, जैसे लोहारों और बढ़इयों को, विशेष स्थितियां प्रदान करते थे। कुछ कृषक समूह भी इस तरह की योजना से लाभान्वित हुए। व्यापारिक संघों को कारीगरों की स्थिति की ज़्यादा फिक्र थी, क्योंकि वही लोग वे चीजें बनाते थे जिनकी उन्हें अपने व्यापार के लिए आवश्यकता थी। ये एक नए प्रकार के जातीय संबंध थे, जो एक ऐसे संदर्भ से उत्पन्न हुए थे जिसमें व्यापारियों तथा कारीगरों के आपसी रिश्ते दोनों के लिए लाभदायक थे। *इदगै-वलगैभेद* और प्रत्येक से जुड़े दर्जे स्वभावतः

जातीय प्रतिद्वंद्विता को जन्म देनेवाले थे।

आर्थिक हित वर्ण के निमयों की उपेक्षा कर सकते थे। जो ब्राह्मण व्यापारी थे वे बेझिझक समुद्र पार जाते थे। उन लोगों को कभी-कभी विशेष सुविधाएं दी जाती थीं जो दरबार के लिए काम करते थे—जैसे कि राजा राजेंद्र के ताम्र-दानपत्रों के उत्कीर्णकों को या कांचीपुरम् के बुनकरों को, जो राजपरिवार के लिए कपड़ा बुनते थे या उन संग-तराशों को जो राज-मंदिर या राजप्रासाद के लिए काम करते थे। ये सभी लोग कुछ ख़ास-ख़ास करों की अदायगी से मुक्त थे, और यद्यपि उनमें से कुछ, जैसे बुनकर, निम्न दर्जे के लोग माने जाते थे, तथापि उन्हें अपनी जातियों के अन्य लोगों से अधिक सम्मान दिया जाता था। कभी-कभी वर्णसंकर जातियों के भी उल्लेख मिलते हैं, जिनके आधार पर माना जा सकता है कि जातीय नियमों की कठोरता पर ज़ोर दिए जाने के बावजूद उनका भंग किया जाना आम बात थी।

मंदिरों के दिए गए जो दान प्रलेखबद्ध किए गए उनके दाताओं में काफी बड़ी संख्या स्त्री भक्तों की थी। नौवीं और दसवीं सदियों में उनकी संख्याएं अधिक बड़ी थीं, जिसके बाद उनमें कमी आने लगी और तेरहवीं सदी के बाद अंततः वे शून्य हो गईं। शायद ये वे स्त्रियां थीं जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध परिवारों से संबद्ध थीं, हालांकि देवदासियों द्वारा दिए गए दानों के प्रलेख भी मिलते हैं।

अधिक दानों से नवाजे गए समृद्ध मंदिरों से संबद्ध देवदासियों को मंदिर की आय का एक अतिरिक्त स्रोत माना जाता था। जो देवदासियां केवल मंदिर की सेविकाएं भर बनकर रह गई थीं उन्हें चरित्र से शिथिल माना जाने लगा। लेकिन उनमें जो गुण-संपन्न स्त्रियां थीं उनके साथ सम्मान का व्यवहार किया जाता था। अपने गुणों के कारण इस प्रकार की स्त्रियों को एक हद तक अपने मन की करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी, क्योंकि वे अधिकतर शहरी स्त्रियों की तुलना में सामाजिक रीति-रिवाजों से अपने को ज़्यादा मुक्त रख सकती थीं। इसका कुछ कारण यह था कि वे शिक्षित तथा संगीत-नृत्य में पारंगत होती थीं। राज-परिवारों की स्त्रियां भी अकसर शिक्षित होती थीं, जिससे उनमें आत्मविश्वास पैदा होता था।

प्रायद्वीप में राज्य की ओर से दिए जानेवाले संरक्षण की एक अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि हमें न केवल रानियों द्वारा संरक्षण दिए जाने के अधिक प्रसंग दिखाई देते हैं बल्कि हम उन्हें राजकाज में भी अधिक सक्रिय रुचि लेते देखते हैं। इक्ष्वाकुओं, पल्लवों, गंगों, चोलों तथा उत्तर चालुक्यों के शासन इसकी साक्षी भरते हैं। राजदरबारों के साहित्य में स्त्रियों का जो चित्रण देखने को मिलता है उसके अनुसार वे एकांतप्रिय, भावुक और राज-काज की चिंता से मुक्त होती थीं। चालुक्य दरबार में ग्यारहवीं सदी में बिल्हण द्वारा रचित *विक्रमांकदेवचरित* इसका उदाहरण है। लेकिन समकालीन चालुक्य अभिलेखों में रानियों के उल्लेख न केवल संरक्षिकाओं के रूप में बल्कि ख़ास-ख़ास विषयों की देख-रेख करनेवाली प्रशासिकाओं के रूप में भी

हुए हैं। ऐसी स्त्रियां दरबार की उन गतिविधियों में भाग लेती थीं जिनका संबंध राज-काज से होता था। उनके निर्णयों का महत्व होता था और उनके शासन में दृढ़ता होती थी।

दूसरी ओर कृषक स्त्रियां थीं, जिन्हें परिवार के धंधे की भागीदारिनों के रूप में बहुत कम आज़ादी प्राप्त थी। सर्वाधिक मुक्त स्त्रियां विष्णु या शिव की आराधना में लिखे भजनों की रचयिताएं और गायिकाएं थीं। उन्होंने पारंपरिक प्रतिबंधों को अस्वीकार कर दिया। यह अस्वीकृति उनकी भक्ति का अंग बन गई। बारहवीं सदी की कवयित्री अक्कामहादेवी के काव्य में हमें ऐसा ही देखने को मिलता है। लेकिन ध्यान देने की बात है कि यह आज़ादी उन्हें इसलिए दी गई कि उन्हें सच्ची उपासिकाओं के रूप में स्वीकार किया गया, जिन्होंने अपनी उपासना के क्रम में किसी हद तक संन्यास को भी अपनाया था।

भाषा और साहित्य

मंदिर संस्कृत भाषा में औपचारिक शिक्षा के केंद्र का काम करता रहा। विद्यार्थियों को शिक्षा या तो मंदिर के पुजारी देते थे–जैसे कि छोटे-छोटे ग्रामीण मंदिरों में–या अधिक उन्नत स्तर पर उन्हें *घटिकाओं*अर्थात् मंदिरों से जुड़े महाविद्यालयों में शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार से शिक्षित ब्राह्मणों को या तो पुजारियों के रूप में मंदिरों में रख लिया जाता था या संबंधित क्षेत्र के प्रशासन में खपा लिया जाता था। जैन और बौद्ध बसदियां और विहार भी नए भिक्षुओं को, बल्कि कुछ गृहस्थों को भी, शिक्षा देते थे, लेकिन चूंकि उनकी संख्या में कमी आ गई थी इसलिए उनका प्रभाव भी कम हो गया था। संस्कृत के शिक्षा का माध्यम होने के कारण औपचारिक शिक्षा दैनिक जीवन से दूर हो गई। प्रशिक्षुओं को पेशेवर शिक्षा देने का काम अब भी श्रेणियों द्वारा किया जाता था या फिर कारीगरों के समूहों के अंदर ही प्रशिक्षुओं को प्रशिक्षित किया जाता था। जहां इस प्रकार की शिक्षा का संयोग तकनीकी विशेषज्ञता और संस्कृत के कुछ ज्ञान से होता था वहां पेशागत निपुणता का दर्जा ऊपर हो जाता था। भक्ति काव्य की मौखिक शिक्षा इस बात का प्रमाण है कि जरूरी नहीं कि श्रोता साक्षर ही रहे हों।

इस काल में क्षेत्रीय भाषाओं का अधिक विस्तृत उपयोग होने लगा। फलतः उनका विकास अनेक प्रकार के प्रयोजनों के लिए हुआ। इस परिवर्तनको प्रोत्साहन भक्ति आंदोलन से प्राप्त हुआ, जिसने इन भाषाओं का उपयोग आराध्य के साथ सान्निध्य की अनुभूति के अह्लाद को अभिव्यक्ति देने के लिए किया। इसके अतिरिक्त, सरकारी अभिलेखों में भूमिदानों के स्थानों और शर्तों को दर्ज करने के लिए क्षेत्रीय भाषा का उपयोग किया जाता था। पुस्तकें ताल-पत्रों पर लिखी जाती थीं, जिन्हें बाद में एकसाथ गूंथ दिया जाता था। इसलिए क्षेपक जोड़ने के लिए गांठ को खोलना पड़ता था। पुस्तकें जैन बसदियों, बौद्ध विहारों तथा मठों के पुस्तकालयों में रखी जाती थीं।

संस्कृत की साहित्यिक कृतियों में मुख्य रूप से व्याकरणों, शब्द-कोशों, नियमावलियों, अलंकार ग्रंथों, पुरानी पोथियों की टीकाओं, गद्य गल्पों और काव्य का समावेश था। इन कृतियों में रचना की क्लासिकी परंपराओं का अनुसरण किया जाता था और नए रूपों का प्रयोग सीमित था। इस कारण से भाषा-प्रवीणता को बहुत महत्व दिया जाता था, और मनोभावों का किसी हद तक बोझिल वर्णन होता था। राजाओं को साहित्यिक कृतियों के रचयिता बताया जाता रहा, और संभव है, उनमें से कुछ सचमुच रचनाकार रहे हों। लेकिन विद्योपार्जन की अवधारणा सृजनात्मक साहित्य से हट गई थी। उदाहरण के लिए, चालुक्य-राज सोमेश्वर-कृत *मानसोल्लास*का स्वरूप बहुत-कुछ विश्वकोष जैसा है।

कुछ कृतियों के प्रतिरूपों की रचना तमिल में भी की गई। ऐसी कृतियों को कभी-कभी संस्कृत साहित्य के नमूनों को ध्यान में रखकर प्रणीत किया जाता था। इस काल के तमिल साहित्य ने बहुत जीवंतता तथा ओज का परिचय दिया। उदाहरण के लिए कंबन-कृत *रामायण*। पहले यह समझा जाता था भारत के विभिन्न भागों में मौखिक या लिखित परंपरा में जो भी रामायणें रची गईं उनमें कुल मिलाकर वाल्मीकि के पाठ का अनुसरण किया गया। इन पाठों का आगे और अध्ययन करने से पता चलता है कि रचना के स्थान तथा भाषा, उद्दिष्ट श्रोता-पाठक और नारी-पुरुष का निरूपण, इन सभी मामलों में विविधता थी। विभिन्न श्रोता-पाठकों के लिए रचित अलग-अलग रचनाकारों के उद्दिष्ट प्रतीकात्मक अर्थ के अनुसार कथासूत्र में बदलाव आ जाता है, जिससे वर्णन नई घटनाओं तथा संवेदनाओं से अनुप्राणित हो जाता है। उदाहरण के लिए, कंबन की रामायण में रावण के व्यक्तित्व के निरूपण में उसके धर्मसंकट के प्रति वाल्मीकीय *रामायण*की अपेक्षा बहुत अधिक सहानुभूति दिखलाई गई है।

अभिलेखों की भाषा बृहत्तर ऐतिहासिक परिवर्तन पर हमें एक दृष्टि प्रदान करती है। दानपत्रों को प्रलेखबद्ध करने के लिए द्विभाषी अभिलेखों का उपयोग उत्तरोत्तर बढ़ता गया। पहले अभिलेखों में केवल प्राकृत का प्रयोग किया जाता था, लेकिन चौथी सदी आते-आते उसका स्थान संस्कृत ने ले लिया। द्विभाषिक पद्धति के उसका स्थान लेने में कुछ सदियों का समय लगा। तमिल-भाषी क्षेत्र में संस्कृत के दाखिल किए जाने का प्रमाण हमें संस्कृत-तमिल अभिलेखों में मिलता है। इन अभिलेखों के सूत्र-अंश--मिथक के मूल का वर्णन, वंशावली, राजा के विरुद और उसकी उदारता-सामान्यतः संस्कृत में हैं। राजाओं की वंशावलियां कभी-कभी गढ़ी जाती थीं, जिसका उद्देश्य दान को वैधता प्रदान करना होता था। लेकिन दान की वास्तविक शर्तें तमिल में होती थीं, ताकि संबंधित इलाके के लोग उसे आसानी से समझ सकें। उनमें दान में दी गई भूमि या गांव, उसकी सीमाओं, स्थानीय अधिकारियों की शिरकत, ग्रहीता के अधिकारों तथा कर्तव्यों, उसे देय करों एवं शुल्कों, दान के

साक्षियों तथा स्थानीय सरोकार की किसी भी दूसरी बात के बारे में जानकारी दी जाती थी। दोनों भाषाओं का अपना अलग-अलग प्रयोजन था। दोनों की विषय-वस्तुओं में महत्वपूर्ण अंतर होता था। दोनों भाग दस्तावेज़ की वैधता के लिए आवश्यक थे, लेकिन तमिल में भूमि या गांव के वर्णन से यह सुनिश्चित होता था कि उसकी अवस्थिति तथा ग्रहीता के अधिकारों के बारे में कोई अस्पष्टता न रहे।

संस्कृत का अधिक व्यापक उपयोग शिक्षित ब्राह्मणों के जीविका की तलाश में उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में देशांतरण करने के साथ हुआ। जहां वे अपने हेतु में सफल रहे वहां उन्हें रोजगार दिया गया और साथ ही भूमिदान भी। इस सिलसिले में वे कभी-कभी अंदरूनी इलाकों में भी पहुंच जाते थे। तब संस्कृत वहां की एक नई भाषा बन जाती थी। लेकिन साथ ही ग्रहीता के लिए भी द्विभाषी होना जरूरी हो जाता था। अनेक अभिलेखों की दो भाषाओं में से एक तो संस्कृत थी और दूसरी कोई क्षेत्रीय भाषा, जैसे तमिल या कन्नड़।

दानपत्र के संस्कृत भाषाई अंश का एक राजनीतिक प्रयोजन था—राजसत्ता का प्रचार और प्राचीन वीर नायकों तथा पूर्ववर्ती राजाओं के साथ प्रस्तुत राजा का संबंध दरशाकर उसके विरुदों तथा उसकी प्रतिष्ठा का वैधीकरण। इतिहास को मनचाहे रूप में प्रस्तुत करना महत्वपूर्ण हो गया। इतिहास के पारंपरिक अनुरक्षक सूतों की रचनाओं को अपना बनाकर एवं उन्हें एक नए आकार में संपादित करके ऐसे पाठों के रचनाकार अतीत के उपयोग को और इस प्रकार राजाओं के दर्जे को इच्छित रूप दे सकते थे। अब अतीत को प्रलेखबद्ध करनेवाले पुराणों की रचना संस्कृत भाषा में ब्राह्मण कर रहे थे, यद्यपि अकसर दिखावा यह किया जाता था कि अब भी उनका पाठ सूत लोग ही कर रहे थे, और उन्हीं को मूल रचनाकारों की भूमिका में रखा जा रहा था।

यह राजनीतिक कार्यसूची राजाओं तथा दरबारों की दुनिया के लिए अभिप्रेत थी। जिन रूपों में अतीत को प्रस्तुत किया जाता था वे रूप तथा वर्तमान से उनके संबंध किसी ख़ास भाषा या क्षेत्र तक सीमित नहीं थे। बाणभट्ट-कृत *हर्षचरित*से चरित साहित्य या ऐतिहासिक जीवनियों की जिस शैली का प्रवर्तन हुआ, उसका अनुकरण अनेक दरबारों में किया जाने लगा। अपने भाग्य और जीविका की तलाश में कश्मीर से निकलकर अनेक स्थानों की खाक छानने के बाद बिल्हण अंत में उत्तर चालुक्य दरबार में पहुंचा, जहां उसे एक सम्मानजनक पद प्राप्त हुआ और उसने *विक्रमांकदेवचरित* की रचना की, जो छठे विक्रमादित्य की जीवनी था। यह भी एक ऐसे राजा के बचाव में प्रणीत कृति थी जिसने अपने भाई की गद्दी हड़प ली थी।

इस काल के अभिलेख एक प्रकार से इतिहास के विवरण ही थे। इनके अलावा भी कुछ राजवंशों के संबंध में वंशावलियों के रूप में ऐतिहासिक तफसीलें प्रस्तुत करने की कोशिश की गई। ऐतिहासिक वैधता प्राप्त करने की प्रवृत्ति काफी व्यापक हो चुकी थी। इसका प्रमाण छोटे-छोटे राजवंशों की कुछ लघु वंशावलियां हैं—जैसे

मलाबार के एक अपेक्षाकृत अज्ञात राजवंश पर ग्यारहवीं सदी में अतुल द्वारा लिखा गया *मूषकवंशकाव्य*। इस प्रकार के इतिवृत्त चाहे हिमालयी प्रदेश चंबा में लिखे गए हों या मलाबार में, उनकी संरचना एक जैसी ही रही और वे या तो वंशावली हो सकते थे या संबंधित क्षेत्र का इतिहास। कुछ मिथक तो लगभग समान होते थे। इतिवृत्त की शुरुआत मिथकों से होती थी और आगे संस्थापक पूर्वजों का वर्णन करते हुए वे अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक वंशावलीय इतिहास पर आते थे। कोई एक प्रस्थान-बिंदु एक राज्य की स्थापना का सूचक होता था, जिसके साथ कई परिवर्तन होते थे : अधिक क्षेत्रों में कृषि आरंभ की जाती थी; एक राजधानी नगर की स्थापना की जाती थी, जिसमें एक राज-मंदिर होता था और मार्गों के एक तंत्र से अन्य स्थानों से जुड़ा रहता था; एक प्रशासनिक सोपान तथा सेना का भी जिक्र किया जाता था और राजा की गतिविधियों के सरकारी अभिकथन के साथ अभिलेख जारी किए जाते थे। उसके बाद महत्वपूर्ण घटनाएं इतिवृत्त में दर्ज की जाती थीं। कल्हण-कृत कश्मीर के इतिहास *राजतरंगिणी*को बहुधा अद्वितीय कहा जाता है, लेकिन उसका भी मूल वंशावली वाले रूप में ही समाहित है, यद्यपि वह निस्संदेह उसका एक अत्युत्कृष्ट उदाहरण था। इन ग्रंथों के लेखकों ने राजवंशों को पूर्वेतिहासों से युक्त करते हुए जाति-आधारित समाज में उनकी वर्चस्वी स्थिति पर नए सिरे से ज़ोर दिया। उसमें इस उपमहाद्वीप के एक छोर से दूसरे तक, बल्कि दक्षिण-पूर्व एशिया तक में, एक अंतर्क्षेत्रीय सांस्कृतिक तंत्र के रचयिताओं के रूप में संबंधित राजाओं की भूमिका पर ज़ोर दिया गया। दक्षिण-पूर्व एशिया के संस्कृत अभिलेख लगभग उसी काल के हैं। धीरे-धीरे अभिलेख द्विभाषिक हो गए, जिनमें से एक स्थानीय भाषा होती थी।

लेकिन चौदहवीं सदी के आसपास से द्विभाषिकता में कमी आई और प्रलेख अधिकतर क्षेत्रीय भाषा में तैयार किए जाने लगे। दरबार की भाषा तथा स्थानीय भाषा के बीच के अंतर पर ज़ोर देना शायद इसका कारण रहा होगा। जहां स्थानीय प्रशासक राजा बन गए वहां शायद उन्होंने प्रशासन में अपनी भाषा के प्रयोग का आग्रह रखा। यहां मामला बहुत-कुछ वैसा ही था जैसा कि नए राजवंश के पारिवारिक देवी-देवता के धर्म-विशेष या संप्रदाय-विशेष के उपास्य के रूप में प्रतिष्ठित कर दिए जाने के प्रसंग में दिखाई देता है। अपने बाहुबल से राज्य स्थापित कर लेनेवाले लोगों में भी अपनी क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग करने की प्रवृत्ति होगी और यदि उनका यह पराक्रम उनकी स्थिति में आए परिवर्तन के स्पष्टीकरण के रूप में काफी होता होगा तो फिर उन्हें संस्कृत का सहारा नहीं लेना पड़ता होगा। अभिलेखों के संस्कृत भाग में आडंबर और अलंकार के जो तत्व होते थे उन्हें यदि स्थानीय भाषा में अभिव्यक्त किया जाता तो भी वे वही संदेश देते जो संस्कृत में देते थे। ग्यारहवीं सदी के कुछ अभिलेखों में-अलवारों तथा नयनारों के भजनों के गायकों को दान दिए जाने के प्रसंग प्रलेखबद्ध किए गए हैं। यह तमिल को संरक्षण देना था।

अब वैदिक कर्मकांडों के संपादन के उल्लेख कम होने लगे। वैष्णव तथा शैव संप्रदायों की अभिवृद्धि को भिन्न प्रकार के कर्मकांडों की और साथ ही स्थानीय भाषा के उपयोग की ज़रूरत थी, भले ही इन धार्मिक संप्रदायों के कुछ साहित्य का प्रणयन संस्कृत में किया जाता रहा हो। संस्कृत भाषा धर्मग्रंथों को प्रतिष्ठा प्रदान करती थी और उन्हें अभिजन पाठक सुलभ कराती थी। जिन ब्राह्मणों ने व्यापार आदि अन्य धंधे अपना लिए थे वे वैदिक कर्मकांडों में प्रयुक्त संस्कृत से कम ही परिचित रह गए होंगे। इस परिवर्तन से यह भी ध्वनित हो सकता है कि क्षेत्रीय सत्ता का आग्रह अधिक आत्मविश्वास के साथ किया जा रहा था। लेकिन विचित्र विरोधाभास यह था कि उसके बाद पहचान में जो क्षेत्रीय विविधता आई उससे पूरे उपमहाद्वीप में एक समान स्थिति उत्पन्न हुई।

कन्नड तथा तेलुगु जैसी द्राविड़ मूल की अन्य भाषाओं का भी व्यापक उपयोग किया गया और संस्कृत के साथ उनकी द्विभाषिकता के फलस्वरूप उन्होंने उस भाषा से कुछ शब्द उधार भी लिए। परंतु ज्यों-ज्यों इन भाषाओं का प्रयोग होता रहा त्यों-त्यों यह व्यतिक्रम विस्मृत होता चला गया। तेलुगु ने अपना रूपाकार आंध्र क्षेत्र में ग्रहण किया और ग्यारहवीं सदी से उस भाषा में ग्रंथों की रचना होने लगी। कर्नाटक में कन्नड का मूल और भी पीछे छठी सदी में देखा जा सकता है और उसके पाठ नौवीं सदी से सामने आने लगे। कन्नड़ को राज-प्रश्रय भी मिला और शिक्षित जैनों से भी समर्थन प्राप्त हुआ। अंततः बारहवीं सदी में वह वीरशैव या लिंगायत आंदोलन की भाषा बन गई। इस आंदोलन का अब भी एक धार्मिक महत्व और सामाजिक पहचान थी। लिंगायतों द्वारा रचित बहुत-से *वचनों*या पदों के रचयिता निम्न जातियों के थे, जिससे कन्नड भाषा तथा लिंगायत संदेश दोनों की लोकप्रियता सुनिश्चित हुई। केरल की भाषा के रूप में मलयालम का विकास कुछ बाद में हुआ। उसने तमिल तथा संस्कृत दोनों के तत्व ग्रहण किए। उसके पाठ दूसरी सहस्राब्दी ई. के पूर्वार्ध से मिलने लगते हैं।

पश्चिमी दकन में प्रचलित मराठी भाषा स्थानीय प्राकृतों से उद्भूत हुई थी और उसने संस्कृत से अपना नजदीकी रिश्ता बनाए रखा। यादव राजाओं से उसे प्रोत्साहन मिला। लेकिन उसका व्यापकतर विकास तब हुआ जब वह लोकप्रिय भक्ति आंदोलन की भाषा बन गई। कुछ दृष्टियों से यह आंदोलन अलवारों तथा नयनारों के आंदोलन जैसा था और शीघ्र ही वह पश्चिमी दकन में भली भाँति प्रतिष्ठित हो गया। न केवल मराठी में भजनों की रचना हुई बल्कि *गीता*जैसे पुराने धर्मग्रंथों का भी मराठी में ऐसा रूपांतर किया गया जिसे आम लोग समझ सकें। इस प्रकार के रूपांतरों में स्वभावतः उन ग्रंथों की व्याख्या तथा उनके द्वारा अनुमोदित धार्मिक अवधारणाओं में नई बातों का समावेश किया गया।

इन भाषाओं के साहित्यिक रूप आरंभ में अनुवाद और रूपांतर थे और अनुवाद

तथा रूपांतर संस्कृत ग्रंथों के किए जाते थे, जिन्हें उच्च संस्कृति का प्रतीक माना जाता था। लेकिन अनुवादों में मूल का अविकल अनुकरण नहीं होता था, बल्कि उनमें स्थानीय परिस्थितियों और मान्यताओं तथा रुचियों के अनुसार बदलाव कर दिए जाते थे। परंतु शीघ्र ही इन भाषाओं में मूल पुस्तकें लिखी जाने लगीं और वे बौद्धिक विमर्श की भाषाएं बन गईं। इस बीच संस्कृत मुख्य रूप से ब्राह्मण धर्म से संबंधित क्रियाकलाप की भाषा बनी रही, यद्यपि बौद्ध तथा जैन भी इस दौर में उसका अधिक उपयोग करने लगे। प्रतिष्ठा-सूचक भाषा के रूप में संस्कृत उन सांप्रदायिक आंदोलनों को भी भाती रही जिनकी सामाजिक महत्वाकांक्षाएं थीं।

धर्म और विचारधाराएं

इस काल का अंत होते-होते बौद्ध धर्म पूर्वी भारत को छोड़कर उपमहाद्वीप के शेष भागों में बहुत कम दिखाई देने लगा था। स्वयं बुद्ध को विष्णु के एक अवतार के रूप में वैष्णव संप्रदाय में शामिल कर लिया गया था, यद्यपि इस रूप में उन्हें कभी लोकप्रियता प्राप्त नहीं हो पाई। जैन धर्म कर्नाटक तथा पश्चिमी भारत के अनुयायियों के बूते जीवित रहा। कर्नाटक में जैन भिक्षुओं को भरपूर अनुदान प्राप्त हुए, जिससे वे पट्टेदारों से अपनी ज़मीन में खेती करवाते थे और कभी-कभी तो वे स्वयं भी जैन बसदियों को दान देते थे। जैन व्यापारी प्रमुख अनुदान-दाता थे, और साथ ही जैन राज्याधिकारी भी, जिनमें से कुछ तो सेनापति थे। जैनों का यावनीय संप्रदाय लोकप्रिय था, क्योंकि वह सुप्रतिष्ठित दिगंबर संप्रदाय से कम कठोरतापूर्ण था। यावनीयों ने जैन साध्वियों के लिए आश्रम स्थापित करने में सहायता दी और यहां तक कि बड़ी उम्र की साध्वियों को जैन साधुओं को शिक्षा देने की भी अनुमति दी। कभी-कभी जैनों और शैवों के बीच शत्रुता भड़क उठती थी।

बौद्धों तथा जैनों के ह्रास का कारण एक हद तक भक्ति धर्म था। पूर्ववर्ती कवियों के भजनों को संकलित किया गया और उनकी आस्तिकता इतनी हृदय-स्पर्शी थी कि उसकी प्रेरणा से नए भजनों की रचना की गई। अपेक्षाकृत अधिक दार्शनिक ग्रंथों में आस्तिकता का मूल औपनिषदिक स्रोतों में निर्दिष्ट किया गया। एक अर्थ में एक प्रकार से वैदिक ब्राह्मण धर्म तथा भक्ति धर्म को एक-दूसरे के निकट लाने की कोशिश की गई, यद्यपि दोनों के बीच कुछ ऐसे अंतर थे जिनमें सामंजस्य बैठाया ही नहीं जा सकता था। कुछ वैष्णव आचार्यों तथा शैव मठों ने अलवारों और नयनारों द्वारा सृजित ओज को कायम रखा। इसके साथ ही तेरहवीं सदी से सांप्रदायिक आंदोलनों में अब्राह्मण जातियों का भी हस्तक्षेप हुआ। उनमें से बहुत सारी जातियों को शूद्र कोटि में रखा जाएगा। उन जातियों के स्पष्ट उल्लेख से पता चलता है कि उन्होंने अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। वैसे तो इन आंदोलनों में अस्पृश्यों का भी वर्जन नहीं था, लेकिन उनकी उपस्थिति उतनी स्पष्ट नहीं थी।

भक्ति आंदोलन की उपासना का रूप और आराध्य की अवधारणा वैदिक ब्राह्मण धर्म से भिन्न थी। पूजा-कर्म के द्वार बहुत सारी जातियों के लिए खुले हुए थे। लेकिन यदि हम इनकी तुलना कतिपय अधिक अतिवादी संप्रदायों से करें तो ये परंपानुगामी और पुराणपंथी जैसे लगते हैं। शायद एक दूसरे के प्रतिसंतुलक का काम करता था। संप्रदाय अनेक थे—तांत्रिक और शाक्त संप्रदाय और कापालिकों, कालमुखों तथा पाशुपतों के संप्रदाय। उनमें से कुछ अधिक गुह्य थे, कुछ कम। अब तक उन सबको उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में समर्थन प्राप्त हो चला था। उनमें से कुछ असाधारण गुह्याचरण करते थे, जिनमें जलाए गए मृतकों के अवशेष का उपयोग और कर्मकांडी मैथुन का भी समावेश था। ऐसे गुह्य कर्म वे लोग करते थे जो अपने को रूढ़ि-भंजक कहते थे और जादू की शक्ति में विश्वास करते थे। इसके अतिरिक्त, कुछ लोग समाज को चुनौती की अभिव्यक्ति के रूप में भी ऐसा आचरण करते थे। न्यूनतम सामाजिक दायित्वों तक की ऐसी उपेक्षा उनके लिए कुछ कर्मकांडी अवसरों पर एक आवश्यकता बन गई। उपमहाद्वीप के अन्य भागों में भी ऐसे धर्माचरण किए जाते थे। उनमें एक प्रकार का संगठन और संदेश निहित था।

स्वीकृत सामाजिक नियमों से जानबूझकर हटकर चलना विरोध का एक रूप था। अतिवादी रीति-भंजन से इच्छित प्रचार मिलता था। लेकिन इन कर्मों के बारे में यह दावा भी किया जाता था कि ये जादुई शक्तियों से भरे धार्मिक कर्मकांड हैं। कालमुख मनुष्य की खोपड़ी में भोजन करते थे, अपने शरीर पर श्मशान की राख लगाते थे। उन्हें सामान्यत: एक मदिरा-पात्र और लट्ठ लिए देखा जाता था। उनके विचित्र व्यवहार करने की अफवाहें चलती रहती थीं और ऐसी अफवाहें उनके बारे में उठती थीं जिन्हें रीति-अनुगामी लोग नापसंद करते थे। कुछ लोगों के लिए रीति-भंजन विचार और ज्ञान पर रीति-गामियों द्वारा थोपी गई सीमाओं के खिलाफ सच्चा विरोध-प्रदर्शन भी था। उदाहरण के लिए, जादू में विश्वास मात्र सनसनी पैदा करनेवाली बात नहीं थी, बल्कि उसका जन्म विभिन्न प्रकार के प्रयोग करने की जिज्ञासा और ज्ञान के थातीदारों द्वारा अनुमत सीमाओं से बाहर जाकर जांच-पड़ताल करने की प्रवृत्ति से भी हो सकता था। कीमिया के क्षेत्र में प्रयोग, साधारण धातुओं को सोने में बदल देने की कोशिश और देहांतरण जादू की प्रारंभिक अवस्था में ऐसी प्रवृत्ति से असंबद्ध नहीं थे। लेकिन जैसा कि कुछ विद्वान कहते हैं, इन संप्रदायों के अनुयायी अन्यथा सामान्य जीवन जीते थे और इस प्रकार का उपासना-कर्मकांड समय-समय पर ही करते थे। उनके लिए इस प्रकार के अनुष्ठान शायद एक प्रकार का रेचक थे।

धार्मिक विश्वास और आचरण के क्षेत्र में श्रमणीय पंथों के अलावा तीन मुख्य प्रवृत्तियां उभरती मालूम होती हैं। वैदिक ब्राह्मण धर्म, जो बहुधा दार्शनिकों के तत्व-चिंतन के आवेष्ठन में लिपटा रहता था, एक छोटे समूह का धार्मिक सरोकार

बना रहा, जिसमें मुख्यत: ब्राह्मण शामिल थे, हालांकि बौद्ध तथा जैन विद्वान भी उसकी ओर कुछ ध्यान दे रहे थे। उसके प्रभाव से विद्या के संपन्न केंद्रों की सृष्टि हुई एवं संस्कृत में दार्शनिक विमर्शों की रचना की गई, लेकिन लोक-स्तर पर धर्म पर उसका प्रभाव सीमित ही था। दूसरी ओर अधिक लोकप्रिय प्रवृत्ति का संबंध पौराणिक धर्मों से अर्थात् वैष्णव एवं शैव मतों से था, जिनका अधिकतम प्रभाव भक्ति-भावना के माध्यम से पड़ा। उसकी ओर लोग बहुत बड़ी संख्या में आकृष्ट हुए, जिनमें किसान और कारीगर या उनसे संबंधित धंधों में लगे लोग शामिल थे। विभिन्न प्रकार के स्रोतों से विविध प्रकार की उपासनाओं का उनमें समाहार हुआ। इस समाहार का इस धर्म का अनुगमन करनेवाले ख़ास-ख़ास सामाजिक वर्गों से घनिष्ठ संबंध था। तीसरी प्रवृत्ति का संबंध तरह-तरह की छिटपुट उपसानाओं से था, जिनमें से कुछ को तांत्रिक उपासना कहा जाता था। इनका अनुगमन या तो स्वतंत्र रूप से किया जाता रहा या ये एक और भी धार्मिक विश्वास-समूह के अंग बन गईं। इन विश्वासों को विधिवत शाक्त धर्म की संज्ञा दी गई। यह पौराणिक धर्मों का एक अतिरिक्त अंग बन गया और बौद्ध धर्म के कुछ पहलुओं को भी इसने प्रभावित किया। तीनों प्रवृत्तियां आत्मपूर्त्त नहीं थीं, बल्कि साथ-साथ चलती थीं, और इसलिए एक ने दूसरे के कुछ तत्व उधार भी लिए। कम-से-कम दूसरी तथा तीसरी प्रवृत्तियों के विश्वासों एवं आचारों में एक अंतर्जात और अजस्र लचीलापन था, जो भारत में धर्म की ख़ास विशेषता थी। अलवारों तथा नयनारों ने कतिपय सामाजिक सरोकारों को स्वर दिया था। उनसे पहले यह काम बौद्धों तथा जैनों ने किया था। इन संतों की इसी प्रवृत्ति के कारण ऐसे बहुत-से लोग उनके अनुगामी बन गए जो अन्यथा शायद जैन धर्म के अनुयायी होते।

ऐसा नहीं था कि सभी विरोधों के लिए सामाजिक नियमों का त्याग ही किया जाता था। अन्य शैव संप्रदाय सामाजिक संस्थाओं से बहुत अधिक जुड़े हुए थे। इन्हीं में वीरशैव या लिंगायत भी थे। इस पंथ का उदय सामाजिक सुधारों की कुछ हिमायत के साथ, जो शायद तत्कालीन धार्मिक चिंतन का प्रभाव था, बारहवीं सदी में हुआ। इसके संस्थापक बसवन्ना पहले जैन थे और दकन में कल्याणी के कलचुरि दरबार से संबद्ध थे। उनके कथनों में कभी-कभी व्यंग्य का कुछ स्वर होता था, जिससे उनके कथ्य में एक प्रकार का तीखापन आ जाता था :

बलि के लिए लाया गया मेमना उसे पत्तों की जिस माला से सजाया गया होता है उसके पत्ते खाता है।...किसी सांप के मुंह में जकड़ा मेंढक उस मक्खी को खा जाना चाहता है जो उसके मुंह के पास उड़ रही होती है। ऐसा ही है हमारा जीवना। जिस मनुष्य के भाग्य में मृत्यु लिखी हुई है वह दूध और घी पीता है।...जब वे किसी पत्थर में तराशे सांप को देखते हैं तो उस पर दूध उड़ेलते हैं; अगर सचमुच का सांप आ जाता है तो वे चीख पड़ते हैं : मारो, मारो! देवता के सेवकों को

यदि खाने को दिया जाता तो वह उसे खाता, लेकिन उससे कहा जाता है—भागो-भागो। लेकिन देवता की प्रतिमा को, जो खा नहीं सकती, वे भोजन की थालियां चढ़ाते हैं।

डी वैरी (सं.), *सोर्सेजऑफइंडियनट्रैडिशन,पृ.357*

लिंगायत भक्ति धारा के उपासकों से इस अर्थ में भिन्न थे कि वे एक आराध्य के प्रति भक्ति का उपदेश देकर ही संतुष्ट नहीं थे, बल्कि उन्होंने धार्मिक पाखंड पर सक्रिय प्रहार किया। उनकी आरंभिक शिक्षा के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से में ब्राह्मण धर्म पर, ब्राह्मणीय चिंतन और व्यवहार में समर्थित पुनर्जन्म के सिद्धांत तथा जाति के नियमों पर शंका उठाई गई। कुछ समूहों के सामाजिक दृष्टि से अशुद्ध होने का विचार उन्हें स्वीकार्य नहीं था। लिंगायतों ने सामाजिक विवेक की आवश्यकता पर ज़ोर दिया और कुछ ऐसे सामाजिक व्यवहारों को बढ़ावा दिया जिन्हें धर्मशास्त्र अनुमोदन की दृष्टि से नहीं देखते थे—जैसे रजस्वला होने के बाद विवाह और विधवा-विवाह को। यद्यपि उन्होंने स्त्रियों की स्थिति में सुधार की हिमायत की तथापि उन्हें स्त्रियों का पुजारिन होना पसंद नहीं था। ब्राह्मण जमींदारों के बारे में उनका विचार था कि वे किसानों पर जमींदारों को और साथ ही राज्य को भी कर देने के लिए बहुत अधिक दबाव डालते हैं। इसलिए स्वभावतः ब्राह्मणों ने लिंगायतों का विरोध किया। इस प्रकार के विचार अब्राह्मण समूहों को प्रभावित करते थे और श्रमणीय चिंतन से साम्य को प्रतिबिंबित करते थे। शिव की उपासना लिंगम् के रूप में की जाती थी और पंथ का प्रत्येक सदस्य अपने साथ एक लिंगम् रखता था। उन्होंने मृतकों को जलाने के बदले उन्हें दफन करने का रिवाज चलाया। यह रिवाज सामान्यतः संन्यासियों के बीच प्रचलित था और ब्राह्मण कर्मकांड के विरुद्ध था। अधिक उदार सामाजिक रुख के कारण उन्हें निम्न जातियों का समर्थन प्राप्त हुआ। लेकिन अंत में लिंगायत स्वयं ही एक जाति बन गए।

जिन लोगों के लिए मंदिरों में पूजा करना वर्जित था—जैसे कि कुछ निम्न जातियों और अस्पृश्यों के लिए—उन्हें पूजा के अपने स्थानों और रूपों की तलाश करनी पड़ी, जिनमें से कुछ शायद तब किसी संप्रदाय के कर्मकांड और मिथकशास्त्र में शामिल कर लिए जा सकते थे जब संबंधित लोगों के जातीय दर्जे में सुधार हो जाता था। इसके फलस्वरूप कभी-कभी उन स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा का समाहार कर लिया जाता था जो आरंभ में पौराणिक देव-समूह में शामिल नहीं थे। इन्हीं में से एक थी पश्चिमी भारत में पंढरपुर नामक स्थान में प्रचलित पांडुरंग या विट्ठल की उपासना, जिसे तेरहवीं सदी में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। संभव है, इसका मूल महाराष्ट्र और कर्नाटक की सीमा पर पड़नेवाले इलाकों में प्रचलित वीर पूजाओं में समाहित रहा हो, क्योंकि विट्ठल की प्रतिमा स्थानीय वीरगलों से मेल खाती है। वैष्णव देव-समूह में प्रवेश पाने के बाद विट्ठल कों विष्णु का रूप बताया गया।

पंढरपुर दकन में भक्ति आंदोलन का एक केंद्र बन गया, और आगे चलकर नामदेव, जनाबाई, सेना और नरहरि (क्रमशः दर्जी, घरेलू नौकरानी, नाई और सोनार) जैसे धर्म-शिक्षक और भजन-रचयिता उसकी ओर आकृष्ट हुए, जिन्होंने अपने भजन मराठी में रचे। उन्हें स्थानीय लोगों का भरपूर साथ और समर्थन प्राप्त हुआ। ये उपासना केंद्र तीर्थ-स्थलों तथा विनिमय केंद्रों के रूप में भी विकसित हुए।

इससे भी अधिक स्थानीय स्तर पर थे ग्रामीण देवता। इनमें से एक प्रमुख देवता था तमिलनाडु में अयन्नार, जिसका पूजा-स्थल गांव की सीमा पर होता था और उसकी रक्षा विभिन्न आकार के मिट्टी के घोड़े करते थे। पूजा-स्थल भले ही अति साधारण रहा हो लेकिन घोड़ों के कारण उसकी उपस्थिति बहुत मुखर हो उठती थी। अब वे तमिलनाडु के ग्रामीण क्षेत्रों की अभिलक्षक विशेषता बन गए हैं और अनेक स्थानों में अयन्नार की पूजा शिव तथा विष्णु के मोहिनी अवतार के पुत्र के रूप में की जाती है। इसके अन्य रूप भारत के दूसरे भागों में देखे जा सकते हैं, जहां स्थानीय देवताओं और आत्माओं की पूजा की जाती है। यह कभी-कभी पौराणिक हिंदू धर्म के समानांतर चलता था और कभी-कभी दोनों एक-दूसरे से मिल जाते थे और जहां दोनों का मिलन होता था वहां वह अभिजनों के धर्म और लोकोपासना के बीच आदान-प्रदान का मार्ग बन जाता था। यदि धर्म के एक छोर पर अनेक स्थानों में प्रचलित दार्शनिक चिंतन था तो दूसरे छोर पर ये उपासनाएं थीं।

दार्शनिक चिंतन मुख्य रूप से ब्राह्मणों के विशेषाधिकार का क्षेत्र था, यद्यपि कुछ केंद्रों में बौद्ध तथा जैन विद्वान भी शास्त्रार्थ में शामिल होते थे और साथ ही अपने दार्शनिक सिद्धांतों पर भी ध्यान केंद्रित करते थे। इनके अतिरिक्त कुछ शैव मठों में भी, जहां अब्राह्मण वेलालों का बोलबाला था, दार्शनिक चिंतन चलता था। शास्त्रार्थ उपमहाद्वीप के सभी भागों के विभिन्न मठों तथा महाविद्यालयों में चलते थे और उनके बीच जोड़नेवाली कड़ी का काम संस्कृत भाषा करती थी। प्रारंभिक काल के बौद्ध लोग शहरों के निकट के उद्यानों में खुली बहसें किया करते थे, लेकिन संस्कृत विमर्श में सामान्यतः सम्मानित विद्वान् ही भाग लेते थे, भले ही बहसों और विवादों में उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों के विद्वान् भी क्यों न भाग लेते हों। इसके फलस्वरूप कुछ सूक्ष्म दार्शनिक विचारों का जन्म हुआ, यद्यपि वे विद्वानों के एक छोटे-से समूह तक ही सीमित थे। शंकराचार्य के विचारों का विकास और परिमार्जन जारी रहा और अन्य धर्म-शिक्षकों के सिद्धांतों पर भी विचार किए जाते थे, जिनमें से कुछ शंकर के विचारों के विरुद्ध थे। उनके आलोचकों में सबसे प्रमुख ग्यारहवीं सदी के धर्मशिक्षक रामानुज थे।

रामानुज तमिल ब्राह्मण थे। अपने जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा उन्होंने श्रीरंगम् (तिरुचिरापल्लि) के मंदिर में अध्यापन करते हुए व्यतीत किया और अंत में श्रीवैष्णव आंदोलन के जनक माने जाने लगे। वे शंकर के इस सिद्धांत से असहमत थे कि

पुनर्जन्म के बंधन से मुक्ति का मुख्य मार्ग ज्ञान है। रामानुज के अनुसार, ज्ञान अनेक मार्गों में से मात्र एक था और विशुद्ध भक्ति के समान न तो प्रभावकारी था और न विश्वसनीय। भक्ति का अर्थ था स्वयं को अपने आराध्य के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित कर देना। आराध्य को दयामय और क्षमाशील रूप में चित्रित किया गया, जैसा कि भक्ति उपासना में किया जाता था। यद्यपि इस संवंध को दार्शनिक शब्दावली में अभिव्यक्त किया गया तथापि उसे तत्वत: वैयक्तिक रूप में देखा गया। उनके कुछ अनुगामियों का कहना था कि व्यक्ति को उसकी क्षमाशीलता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, लेकिन अन्य अनुगामी इस मान्यता के समर्थक थे कि आराध्य स्वयं उन्हें चुन लेता है जिन्हें उसे मुक्ति देना होता है। यह अवधारणा बहुत-कुछ परवर्ती कैल्विन संप्रदाय से मेल खाती है। रामानुज के कुछ विचारों का स्रोत उपनिषदें थीं–जैसे मुक्ति की प्राप्ति के लिए परमात्मा से आत्मा के मिलन की आवश्यकता। इस संदर्भ में व्यक्ति पर ज़ोर देना न केवल भक्ति की प्रमुख विशेषता थी, बल्कि उसमें श्रमणीय चिंतन का भी कुछ सुवास था। इस प्रकार रामानुज भक्ति आंदोलनों तथा ब्राह्मण धर्म के तत्व-चिंतन के बीच एक प्रभावकारी सेतु थे, क्योंकि उन्होंने दोनों अलग-अलग रुख वाली लड़ियों को आपस में गूंथ देने की कोशिश की।

तेरहवीं सदी के तत्व-चिंतक मध्व ने ब्राह्मणीय धर्मतत्व से भक्ति के विचारों का सामंजस्य स्थापित करने का और भी प्रयत्न किया। वे भी वैष्णव थे और उनकी विष्णु की अवधारणा यह थी कि भगवान् केवल पवित्र व्यक्तियों की आत्माओं को ही मुक्ति देने की कृपा करता है, अर्थात् वे भी आराध्य द्वारा चयन की प्रक्रिया में विश्वास करते थे। तथापि यह चयन वैसा मनमाना नहीं था जैसा रामानुज के कुछ अनुयायी मानते थे। मध्व के कतिपय विचारों से लगता है कि कदाचित् वे मलावार के ईसाई गिरजा संगठन की शिक्षा से परिचित थे। उदाहरण के लिए, उनके अनुसार विष्णु अपने भक्त पर कृपा अपने पुत्र वायु के माध्यम से करते हैं। यह विचार ब्राह्मण धर्म और पौराणिक धर्म के विश्वास के लिए पराया है, लेकिन ईसाई धर्म की पवित्र आत्मा की कल्पना से मेल खाता है।

रामानुज ने ऊंची जातियों के लिए विशेष अधिकारों को तो स्वीकार किया, लेकिन वे कुछ शूद्र जातियों पर मंदिर में पूजा करने पर लगे प्रतिबंधों के खिलाफ थे। उन्होंने मंदिर के द्वार सभी शूद्रों के लिए खोल दिए जाने की हिमायत की, लेकिन उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। तथापि भक्ति आंदोलन की बढ़ती हुई शक्ति तथा रामानुज और मध्व जैसे तत्वज्ञों के सामासीकरण के प्रयत्नों के फलस्वरूप रूढ़िवादियों को समझौते की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी। यद्यपि मंदिर के द्वार सभी शूद्रों के लिए नहीं खुले तथापि बहुत सारी सहायक उपासनाओं के आराध्य तथा कर्मकांड हिंदू धर्म में समाविष्ट हो गए थे। यदि मंदिर को जाति-आधारित समाज में सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के केंद्र के रूप में अपनी जीवनी-शक्ति को कायम रखना था

तो ऐसा होना अनिवार्य था। मंदिर के परिसर का विस्तार करके उसमें नए पूजा-स्थलों तथा प्रतिमाओं को स्थान देना पड़ा। आर्थिक समृद्धि के फलस्वरूप अधिक विशाल और अलंकृत मंदिर बनने लगे। छोटे-मोटे राजवंशों ने भी भव्य धार्मिक स्मारकों के निर्माण पर भारी धन का निवेश किया। वे इससे अन्य राजाओं तथा अपनी प्रजा की दृष्टि में अपनी प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि की आशा करते थे।

धार्मिक स्मारक

दुर्भाग्यवश इस काल के रिहाइशी मकान शेष नहीं हैं, केवल मंदिर ही बचे हैं। प्रायद्वीप में सामान्यतः इनकी दो शैलियां थीं। दकन में जिस शैली के मंदिर बनाए जाते थे उसे आम तौर पर वेसरा शैली कहते हैं। ऐहोल का दुर्गा मंदिर या पट्टडकल का वीरुपाक्ष मंदिर इसी शैली का है। दक्षिण भारत में द्राविड़ शैली का अधिक चलन था, लेकिन उसके क्षेत्रीय भेद थे। उदाहरण के लिए, केरल के मंदिरों के स्थापत्य का रूप ख़ास केरलाई है। शैली में बदलाव इसलिए आया कि पत्थर के स्थान पर लकड़ी का इस्तेमाल किया जाता था और बहुत-से मंदिर वृत्ताकार थे। गर्भगृह वृत्ताकार होता था और वह बाहर से वृत्ताकार संरचना से ही घिरा होता था। अनेक समान विशेषताओं के बावजूद स्थानीय स्थापत्य की छाप स्पष्ट है।

प्रारंभिक चोल मंदिर छोटे ही बनाए जाते थे और उनकी सादगी उत्कृष्ट किस्म की थी। एक उदाहरण नौवीं स़दी का नट्टमलै का मंदिर है। यह पूर्ववर्ती काल में चट्टान काटकर बनाए गए कुछ गुफा मंदिरों के सामने खड़ा है और पहाड़ी पर उसकी अवस्थिति के कारण सामने धन-खेतों का दृश्य नजर आता है। ग्यारहवीं सदी से चोल राजाओं ने भव्य मंदिरों का निर्माण आरंभ किया। मंदिर के विभिन्न घटकों के संतुलित अनुपात संरचना को सुरुचियुक्त विशेषता प्रदान करते थे। मंदिर का गर्भगृह आसानी से देखा जा सकता था, क्योंकि उसके ऊपर एक ऊंचा शिखर बना होता था। उस तक एक या अधिक कक्षों से होकर पहुंचा जा सकता था। कक्षों की संख्या मंदिर की विशालता पर निर्भर होती थी। उसके इर्द-गिर्द का प्रांगण छत्तेदार दीवार से घिरा हुआ होता था। दीवार में अंदर की ओर एक स्तंभावली होती थी—जैसे कि तंजावुर या गंगैकोंडचोलमंडलम् के मंदिर में। गोपुरम् विस्तृत और सज्जित प्रवेशद्वार होते थे, जो शिखर की शैली को प्रतिबिंबित करते थे। उन पर उत्तरोत्तर अधिकाधिक ज़ोर दिया जाता रहा और अंत में वे शिखर को भी मात देने लगे। मदुरै तथा श्रीरंगम् के मंदिरों में ऐसा देखा जा सकता है। दकन के मंदिरों में पृष्ठकक्ष सामान्यतः बड़े होते थे, जो शायद बौद्ध चैत्य कक्षों का अनुकरण था। समवेत पूजा पौराणिक हिंदू धर्म की विशेषता नहीं थी, लेकिन पुराणों तथा अब तक धर्मग्रंथों का दर्जा प्राप्त कर चुके महाकाव्यों का पाठ विशाल श्रोता समूहों को आकृष्ट करता होगा।

मंदिरों में पाषाण-मूर्तिकला का उपयोग मुख्य रूप से स्थापत्य की सहवर्ती कला

के रूप में किया जाता था। मूर्तियां ताखों में बनाई जा सकती थीं या अलंकरण-आकृतियों के रूप में अवलियों में अथवा स्तंभों और जंगलों की सजावट के लिए तक्षित की जा सकती थीं। परंतु चोल शिल्पियों ने उत्कृष्टता कांस्य प्रतिमाएं बनाने में प्राप्त की थी। उनकी बनाई कांस्य प्रतिमाएं किसी भी क्षेत्र की उत्कृष्ट प्रतिमाओं से होड़ कर सकती थीं। ये प्रतिमाएं मुख्य रूप से देवी-देवताओं, दाताओं तथा भक्तिधारा के संतों की होती थीं। मोम के सांचे के इस्तेमाल वाली प्रक्रिया से निर्मित ये प्रतिमाएं गर्भगृह में रखी जाती थीं और उनमें से कुछ को विशेष अवसरों पर आयोजित शोभा-यात्राओं के लिए निकाला जाता था। शिव नटराज की प्रतिमाएं अच्छी-ख़ासी संख्या में बनाई जाती थीं। लेकिन इनके आरंभिक उदाहरण भी काफी विस्मयकारी हैं। ऐसी ही शिव और पार्वती तथा उनके पुत्र स्कंद की प्रतिमाएं भी हैं। उनके गुणों के प्रतीकों का समावेश अत्यधिक सूक्ष्मता से किया जाता था, क्योंकि अब उनके गुण-सूचक प्रतीकों की संख्या वहुत अधिक हो गई थी। कुछ प्रतीक उनके गुणों से संबंधित स्थानीय कल्पना को प्रतिबिंबित करते थे तो कुछ उनकी अंतर्क्षेत्रीय तथा कुछ ब्रह्मांडीय कल्पनाओं को। ये प्रतिमाएं दक्षिण भारतीय शिल्पियों के प्रतिमा कौशल के सर्वोच्च प्रमाण हैं।

दकन के मंदिरों में आरंभ में पूर्ववर्ती चालुक्य शैली को कायम रखा गया। धीरे-धीरे वे अधिक अलंकृत होते गए। सेलखड़ी के विस्तृत उपयोग से यह प्रवृत्ति और भी तेज होती गई, क्योंकि यह पत्थर पहले उपयोग में लाए जानेवाले पत्थरों से मुलायम था। उत्तर चालुक्यों तथा होयसलों द्वारा बनवाए गए मंदिरों की आधार-योजना और ऊपरी निर्माण दोनों, जो पहले नागर शैली तथा द्राविड़ शैली से मिलते-जुलते थे, अब बदल गए। इसके उत्कृष्ट उदाहरण हलेविड़ (पुराना डोर समुद्र), बेलूर और सोमनाथपुरा के होयसल मंदिर हैं। अब कुछ मंदिरों की आधार-योजना आयताकार न रहकर ताराकार या पंचभुजी हो गई और पूरा निर्माण एक ऊंचे चबूतरे पर किया जाने लगा। चूंकि बुर्जों तथा सिंहद्वारों पर वैसा ज़ोर नहीं दिया जाता था जैसा चोल मंदिरों में दिया जाता था, इसलिए ऊपरी निर्माण अधिक सपाट लगता था। मंदिर की दीवारों के चारों ओर क्षैतिज रूप में संकीर्ण पट बने होते थे, जो मूर्तियों की अवलियों की सजावट से युक्त होते थे। इन मूर्तियों में पशुओं और फूलों की आकृतियों के साथ ही संगीतज्ञों, नर्तकों, युद्ध दृश्यों और धार्मिक साहित्य की प्रसिद्ध घटनाओं का अंकन किया जाता था। ये पट मंदिर के ऊपरी भाग के सपाटपन के प्रभाव को और भी बढ़ाते थे। ताराकार योजना के कारण मूर्तिकला तथा भित्ति-तक्षण के लिए दीवारों में आयताकार योजना की अपेक्षा अधिक स्थान मिल जाता था। होयसल मंदिरों की शायद सबसे विलक्षण विशेषता उनके विस्तृत, गोलाकार स्तंभ हैं, जिन्हें देखकर लगता है जैसे वे खराद पर बनाए गए हों। स्पष्ट है कि उनके निर्माण में भरपूर कौशल का उपयोग किया गया।

मूर्तिकला तथा स्थापत्य की पहचान कभी-कभी शिल्पियों या मूर्तिकारों तथा

निर्माताओं के किसी संघ से की जाती थी। यह भारत के अन्य भागों में भी बहुत-सी इमारतों की विशेषता बन गई। कुछ निर्माताओं के संबंध का निर्देश उनके संरक्षकों तथा इमारतों से किया जा सकता है। अति सम्मानित वास्तुकारों तथा मूर्तिकारों के उल्लेखों से यह धारणा गलत साबित होती है कि वे वास्तुकार तथा शिल्पी अनाम रह जाते थे। ऐसे व्यक्तियों का एक उदाहरण कोसक है। जिस चीज को पहले मात्र एक शिल्प माना जाता था उसमें विशेषज्ञता तथा उच्च व्यावसायिकता की मांग के कारण निस्संदेह शैली तथा उद्यमशीलता दोनों दृष्टियों से वैयक्तिकता को प्रोत्साहन मिला। भवन-निर्माण के अधीक्षक के रूप में *सूत्रधार*की एक महत्वपूर्ण भूमिका थी। *स्थपति* कुशल निर्माता या शिल्पी होता था। अपने ज्ञान और विशेषज्ञता के लिए उन लोगों का काफी सम्मान था और कभी-कभी उन्हें विश्वकर्मा-कुल का भी बताया जाता था। उनमें से कुछ लोगों को भूमिदान मिले और उनके वंशज अन्य धंधों में लग गए। भवन-निर्माण से संबंधित संहिताओं में वास्तुशास्त्रीय ग्रंथ आते थे, जिनमें इमारत के रुख के विषय में आवश्यक निर्देश होते थे। उनमें से कुछ शायद तकनीकी समझ पर आधारित रहे हों, लेकिन शेष में मनमानापन था। कुछ और उपयोगी संहिताएं भी थीं, जिनमें न केवल भवन-निर्माण में इस्तेमाल किए जानेवाले तरीके बताए गए थे बल्कि प्रतिमा-निर्माण की पद्धतियों का भी निर्देश किया गया था। सूचना इतनी विशद थी कि उसमें हाथ और आकृति के अनुपात में कनिष्ठा के नाखून तक का आकार निर्दिष्ट किया गया था। ये शिल्प-शास्त्र अकसर संस्कृत में लिखे जाते थे, जो शायद इस व्यवसाय की सुधरी हुई स्थिति का द्योतक था।

मंदिरों में व्यापकतर प्रतीक तत्व निहित थे। वे राजा तथा देवता दोनों की भव्यता के स्मारक थे। इसके अतिरिक्त, शैली की विविधता ने स्थापत्य को एक क्षेत्रीय रूप प्रदान किया, जो उतना ही विशिष्ट था जितना कि संबंधित क्षेत्र की भाषा तथा साहित्य। फिर, शैली तो स्थानीय थी लेकिन आधार-योजना और ऊपरी निर्माण में ऐसी विशेषताएं थीं जिन्हें पूरे उपमहाद्वीप में पहचाना जा सकता था। चोलों के राजनीतिक उत्थान से पश्चिमी तथा उत्तरी दकन की शक्तियों को चिढ़ थी, लेकिन वह इस बात का द्योतक था कि उपमहाद्वीप में शक्ति का केंद्र एक क्षेत्र तक सीमित नहीं था, बल्कि उसके स्थान बदलते रहते थे। दक्षिण की क्लासिकता ने नए विचारों तथा प्रयोगों को जन्म दिया। स्थानीय नागरिक उत्तरदायित्व का विकास, एक संस्था के रूप में मंदिरों की बहुआयामी भूमिकाएं, शंकराचार्य और रामानुज के दर्शन एवं भक्ति आंदोलन के धार्मिक रूप, ये सब इस काल के परिवर्तनों के अंग थे। उतना ही ध्यान देने योग्य व्यापारिक गतिविधि का आगे और विकास था। उसके फलस्वरूप यूरेशिया की वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था में भारत बड़ा भागीदार बना। इसलिए अनेक स्तरों पर यह ऐसा काल था जब दक्षिण ने इस उपमहाद्वीप के सांस्कृतिक रूपों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया।

अध्याय : बारह

उत्तर भारत की राजनीति

लगभग *700-1200* ई.

उत्तरी मैदान के लिए संघर्ष

इस काल की विशेषता ऐसे राज्यों का उदय थी जिसकी जड़ें पूर्ववर्ती मुख्य प्रदेशों में अधिक मजबूती से जमी हुई थीं और इसलिए जिन्हें एक क्षेत्रीय संगति प्राप्त थी। परंतु उनकी दूरस्थ सीमाओं में बहुधा परिवर्तन होता रहता था, हालांकि उनमें सुदृढ़ राज्यों के निर्माण की आकांक्षाएं हमेशा विद्यमान रहती थीं। इसलिए जो राज्य स्वयं को महत्वपूर्ण शक्तियां मानते थे उनके बीच मूल्यवान प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए स्पर्धा चलती रहती थी। इसका एक उदाहरण 'कन्नौज के लिए त्रिपक्षीय संघर्ष' के मुहावरे में निहित है। इस जटिलता का एक और पहलू यह था कि बदलती हुई सीमाएं प्रायद्वीप के पश्चिमी तथा पूर्वी छोरों पर उत्तर और दक्षिण के बीच के सीमांकन को धूमिल कर देती थीं। क्षेत्रीय राज्यों के अंदर भी इसी प्रकार की स्थिति थी, मगर इसके बावजूद इन राज्यों के संबंध में सामान्यीकरण करते समय स्थानीय परिस्थितियों तथा पर्यावरणों की मर्यादाओं को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

नए राज्यों की संरचना पूर्ववर्ती रूपों से हटकर थी : विजित राजाओं की अधीनता की स्थिति को पुख्ता करना था, क्योंकि विजित राजाओं के राज्यों को विजयी द्वारा अपने राज्य में मिलाए जाने की अपेक्षा उन्हें बहुधा अधीनता की स्थिति में डालकर छोड़ दिया जाता था; बड़े-बड़े भूस्वामियों के लिए गुंजाइश करनी थी और उदीयमान सोपान में उनका स्थान निश्चित किया जाना था; और प्रशासनिक परिवर्तन राजस्व तथा आय के स्रोतों के पुनर्मूल्यांकन की अपेक्षा रखते थे। अन्य बातों के साथ-साथ भूमिदानों के आकार और संख्या में वृद्धि कई राज्यों में नई राजनीतिक व्यवस्था का रूप लेकर सामने आई। यह परिवर्तन दो चरणों में संपन्न हुआ : आठवीं से दसवीं सदी के दौरान, जब कुछ पूर्ववर्ती रूपों को जारी रखा गया

और उसके बाद का काल, जब परिवर्तन अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देने लगता है। भूमिदानों की शर्तें प्रायद्वीप के भूमिदानों की शर्तों से मिलती-जुलती हुई थीं, लेकिन बिलकुल वही नहीं थीं। बहुत-से दान स्थायी थे या यदि अभिलेखों की शब्दावली में कहें तो सूर्य-चंद्र के अस्तित्व-पर्यंत के लिए थे और यह मान लिया जाता था कि ग्रहीता के वंशज उनके उत्तराधिकारी हो सकते थे। लेकिन यह निरपवाद नहीं था, क्योंकि कुछ दान वापस लिए जा सकते थे।

कुछ नए राज्यों को अरबों से, मध्य एशिया में तुर्कों तथा चीनियों के दवाव से और तिब्बत से खतरे का सामना करना पड़ रहा था। अरब लेखकों ने इन राज्यों की चर्चा किंचित् विस्तार से की है, जिन्हें वे अल-बल्लहरा (राष्ट्रकूट राजा), अल-जुर्ज (गुर्जर-प्रतीहार) और धर्म (पाल राजा) कहते हैं। ये उत्तरी मैदान पर अपना-अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए संघर्षरत मुख्य राज्य थे। इसी संघर्ष ने अंत में कन्नौज नगर पर अधिकार करने की स्पर्धा का रूप ले लिया। इन राज्यों की चालों को शतरंज के खेल के रूप में देखने पर बेहतर समझा जा सकता है। लेकिन इस खेल पर *मंडलकी*–अर्थात् मित्रों और शत्रुओं के दायरे की–मर्यादा लगी हुई थी। इस अवधारणा के अनुसार, पड़ोसी स्वाभाविक शत्रु और पड़ोसी से परे राज्य का राजा स्वाभाविक मित्र होता है। बेशक, इस सिद्धांत को लागू करने में राजनीतिक यथार्थ का ध्यान रखा जाता था, लेकिन इस अवधारणा का सैद्धांतिक निरूपण काफी विस्तृत हो गया। इस अवधारणा को सर्वप्रथम कौटिलीय *अर्थशास्त्र* में प्रस्तुत किया गया था, लेकिन बाद की अनेक कृतियों में–जैसे *विष्णुधर्मोत्तरपुराण* में–उसका विवेचन जारी रहा।

गंगा के मैदान में नगरीय केंद्र पश्चिम की ओर खिसककर पाटलिपुत्र से कन्नौज पहुंच गया था। कन्नौज अब सरगरमियों का केंद्र था। वह पश्चिमोत्तर के अधिक निकट था, जो बाहरी हस्तक्षेपों का क्षेत्र था। एक वितरण केंद्र के रूप में कन्नौज पूर्व दिशा में गंगा के मैदान की ओर और साथ ही दक्षिण की ओर जानेवाले मार्गों से जुड़ा हुआ था। गुप्तोतर काल की राजनीति में उसके रणनीतिक महत्व पर हर्ष तथा यशोवर्मन ने ज़ोर दिया था, जिन्होंने इस नगर की स्थापना उत्तर के मैदान में राज-शक्ति के प्रतीक के रूप में की थी। आगे चलकर आठवीं सदी में कश्मीर के राजा ललितादित्य ने कन्नौज पर अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त, कन्नौज पश्चिमी गंगा के मैदान में चलनेवाली कृषि-संबंधी ज़ोरदार हलचल के केंद्र में स्थित था। इसीलिए उस क्षेत्र में ब्राह्मणों को बहुत-से भूमिदान दिए गए। अगली कुछ सदियों के दौरान जो ब्राह्मण जीविका की तलाश में कन्नौज से अन्य क्षेत्रों में गए उन्हें अपने कर्मकांड के ज्ञान तथा अपनी विद्या के लिए भरपूर प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। एक मूल्यवान नगर के रूप में उस पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए आठवीं से दसवीं सदी तक राष्ट्रकूट, प्रतीहार तथा पाल अविश्रांत

रूप से सैनिक अभियान चलाते रहे। कन्नौज के लिए चलनेवाला संघर्ष किसी एक राज्य की प्रमुखता की कल्पना को पुनरुज्जीवित करने का भी प्रयत्न था, और उसके लिए कन्नौज का चयन उसके पूर्ववर्ती महत्त्व को देखते हुए इस कारण से किया गया कि समकालीन राजनीति के प्रयोजनों के लिए उसकी स्थिति की बहुत रणनीतिक अहमियत थी। लेकिन अनेक शक्तिशाली क्षेत्रीय राज्यों के उदय के साथ कन्नौज का महत्व कम होने लगा। बाद में ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में वह गाहडवाल राज्य का अंग था, जिसके उपरांत उसका ह्रास आरंभ हो गया।

'कन्नौज के लिए त्रिपक्षीय संघर्ष' को न केवल दक्षिण एशियाई राजनीति के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए, बल्कि भारतीय राज्यों तथा उपमहाद्वीप से बाहर के राज्यों के बीच के संबंधों के संदर्भ में भी परखना चाहिए। इन बाहरी राज्यों में चीनी अब मध्य एशिया में उपस्थित थे और उत्तर भारत के शक्ति-संघर्षों में उनकी दिलचस्पी के कई कारण थे। उनमें से एक तो उनकी यह भ्रामक मान्यता थी कि उत्तरी भारत की राजनीति में उनके द्वारा कभी-कभी किए गए कूटनीतिक हस्तक्षेपों का मतलब यह था कि भारतीय राज्य चीनी सम्राट् की अधीनता स्वीकार करने को इच्छुक थे। हर्ष की मृत्यु के उपरांत हस्तक्षेप करने बाद उनका यह कहना भी था कि कश्मीर के राजाओं ने उनसे कई बार मदद मांगी थी। एक और कारण यह था कि मध्य एशिया में अरबों की उपस्थिति से चीनियों को खतरा महसूस होता था। उस क्षेत्र में अरबों की उपस्थिति से तुर्कों पर दबाव पड़ रहा था, जिससे मध्य एशिया में वे नए क्षेत्रों की तलाश में सक्रिय हो उठे। इस तरह की सक्रियता चीनियों में हमेशा चिंता पैदा करती थी। चीनी हिंद महासागर में भी दिलचस्पी लेने लगे, और दक्षिण चीन से आरंभ होनेवाले समुद्री मार्ग बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती व्यापारिक केंद्रों का स्पर्श करनेवाले थे। ये केंद्र दक्षिण भारत तक फैल जाने वाले थे और व्यापार के पड़ाव उससे और पश्चिम पहुंचनेवाले थे।

एक अन्य दिशा से तिब्बत हिमालय की सीमाओं के गिर्द अपनी उपस्थिति का एहसास करा रहा था और कुछ क्षेत्रों पर अधिकार का दावा कर रहा था। भारतीय स्रोतों में हिमालय के निकट भौट्टों अर्थात् तिब्बतियों की उपस्थिति का अधिकाधिक उल्लेख हो रहा था। इस प्रकार न केवल अन्य क्षेत्रों की राजनीति उत्तरी भारत को प्रभावित कर रही थी, बल्कि वहां के राज्यों पर खतरा भी आ गया था। तथापि लगता है, राजनीतिक दिलचस्पी का केंद्र उत्तर भारत का केंद्रीय क्षेत्र ही था।

पश्चिमी भारत में अरबों की उपस्थिति धीरे-धीरे बढ़ रही थी। 712 में जीता गया सिंध एशिया, अफ्रीका और यूरोप में अरबों के विस्तार का पूर्वी छोर था। सिंधु नदी के निचले बहाव वाले मैदानी प्रदेश की विजय से संबंधित राजनीति ख़िलाफत को लेकर चलनेवाले संघर्ष तथा इसलामी दुनिया की आंतरिक राजनीति में फंस गई थी। अरब लोग जिन स्थानों पर नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे उन पर और

बाद में उनके संबंध में की गई व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से लगता है कि उनका इरादा प्रदेशों पर अधिकार करने की अपेक्षा व्यापारिक मार्गों पर कब्जा करना था। उदाहरण के लिए, सिंध कृषि की दृष्टि से कोई समृद्ध प्रदेश नहीं था, लेकिन व्यापार से उसे अच्छा राजस्व प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त कई राजाओं ने अरब आक्रमणों का प्रतिरोध किया, यद्यपि प्रतिरोध को इस प्रकार के प्रयत्न के रूप में संगठित नहीं किया गया कि अरबों के लिए भारत के द्वार स्थायी रूप से बंद हो जाते। राष्ट्रकूटों ने अपने तटवर्ती प्रदेशों के प्रशासन में अरबों को ऊंचे पदों पर रखा और यह महसूस किया कि व्यापारियों के रूप में उनमें भरपूर लाभ देने की संभावना निहित है। ऐसा ही एहसास आगे चलकर गुजरात के चौलुक्यों में भी दिखाई देता है। पश्चिम में एक अरब साम्राज्य विकसित हो रहा था, इस बात की ओर भारतीय राजा कोई ध्यान देते दिखाई नहीं दे रहे थे, जिसका कारण शायद यह था कि उनकी प्रमुख रुचि वाणिज्यिक लाभ में थी। व्यापार के प्रति इस सरोकार के कारण ही राष्ट्रकूट शायद कन्नौज पर ध्यान केंद्रित करने से विमुख हो गए, यद्यपि उन्होंने उस पर दो बार अधिकार कर लिया था। अन्यों की तरह वे भी उस पर दीर्घ काल तक अपना कब्जा नहीं बनाए रख पाए।

त्रिपक्षीय संघर्ष से संबंधित राज्य राष्ट्रकूट, प्रतीहार और पाल थे। पहले का आधार दकन में था, दूसरे का पश्चिमी भारत में और तीसरे का पूर्वी भारत में। चूंकि उनकी शक्ति कमोवेश समान थी इसलिए यह युद्धों का एक दीर्घ क्रम साबित हुआ, जिसने तीनों पक्षों को थका दिया। इससे उनके सामंतों को उनसे अलग होकर छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन मिला। कश्मीर, गंधार और पंजाब सीमांत क्षेत्र की राजनीति के भंवर में फंसे हुए थे, सो कन्नौज का नियंत्रण गंगा के मैदान तक सीमित था और हिंदूकुश के दर्रों की बजाए जल-विभाजक क्षेत्र ही उत्तरी भारत की राजनीति की सीमा बनता जा रहा था।

दकन के राज्यों के सामने कभी-कभी उत्तर और दक्षिण दोनों में से किसी एक या दोनों की राजनीति में शरीक होने का विकल्प होता था और कभी-कभी वे दोनों के बीच सेतु का काम करते थे। आरंभ में सातवाहन दोनों के बीच विचारों और माल के आदान-प्रदन के साधन का काम करते थे। वाकाटक गुप्तों के माध्यम से उत्तर के साथ निकटतापूर्ण मित्रता रखना पसंद करते थे। चालुक्य दकन में उत्तर की पैठ के खिलाफ दीवार का काम करते थे और प्रायद्वीप की राजनीति में सक्रिय थे। यदि राष्ट्रकूटों ने अपनी महत्त्वाकांक्षा को प्रायद्वीप तक ही सीमित रखा होता तो दकन में अधिक शक्तिशाली राज्य का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की होती। लेकिन उनकी महत्त्वाकांक्षा उत्तर तथा दकन दोनों पर प्रमुखता स्थापित करने की थी। जब उन्होंने अपनी सत्ता स्थापित की तब तक उत्तर और दक्षिण के बीच संचार-व्यवस्था सुस्थापित हो चुकी थी और इसलिए राष्ट्रकूटों की राजनीति को दोनों

दिशाओं में समान रूप से आकृष्ट कर रही थी, जिससे एक हद तक उनकी शक्ति छीजती चली गई। लेकिन अरब स्रोतों में उन्हें तीनों में सबसे शक्तिशाली बताया गया है।

प्रायद्वीप की राजनीति में राष्ट्रकूटों की शिरकत का वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। दंतिदुर्ग चालुक्यों का सामंत राजा था। आठवीं सदी में उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी और पूर्ण सम्राटोचित विरुद धारण किए। नौवीं सदी में अमोघवर्ष ने और दसवीं में तृतीय कृष्ण ने आंतरिक समस्याओं और कन्नौज पर अधिकार करने की अतिरिक्त महत्त्वाकांक्षा के बावजूद अपने राज्य को सुदृढ़ पायों पर खड़ा किया। पश्चिमी तट पर अरबों की घुस-पैठ को निरस्त करने के बाद राष्ट्रकूटों ने शत्रुता के संबंध को व्यापारिक संबंध में बदल दिया, जो दोनों के लिए लाभदायक था। इस प्रकार उन्हें अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा के समर्थन के लिए धन की प्राप्ति हुई। सागवान और सूती कपड़े से भरे जहाज पश्चिम को जाते थे, और घोड़े भारत आते थे, जिन्हें काफी मुनाफे पर अंदर के राज्यों को बेचा जाता था।

इतिहासकारों ने प्रतीहारों को अनिश्चित सामाजिक मूल का बताते हुए उनका संबंध या तो हूणों से निर्दिष्ट किया है या उन्हें राजस्थान के गुर्जर पशु-चारकों के वंशज कहा हैं। उनके शत्रु राष्ट्रकूटों का कहना था कि वे सचमुच प्रतीहार अर्थात् द्वारपाल हैं। उद्देश्य उन्हें निम्न मूल का बताने का था। संभव है, वे पहले पदाधिकारी रहे हों और बाद में सत्तासीन हो गए हों। ऐसा अकसर होता था कि प्रशासक शक्तिशाली बनकर अपने राज्य स्थापित कर लेते थे। लेकिन इस चारणीय परंपरा को कुछ-कुछ सही माना जाता है कि प्रतीहारों ने राजपूत का दर्जा प्राप्त कर लिया। आठवीं सदी में शासन करनेवाले नागभट को म्लेच्छों का, अर्थात् जो लोग जाति-आधारित समाज के बाहर थे उनका प्रबल शत्रु बताया गया है, यद्यपि यह नहीं निर्दिष्ट किया गया है कि ये म्लेच्छ कौन थे। तात्पर्य शायद सिंध में उपस्थित अरबों से था। या यह भी संभव था कि ये वे लोग थे जिन्हें पहले किसी प्रशासन के अधीन नहीं लाया जा सका था और इसलिए जो अस्थिर थे। *कुवल्यामल* जैसे जैन ग्रंथों में प्रतीहार राजाओं का समर्थन किया गया और उनमें से सबसे अधिक भोज के बारे में लिखा गया। प्रतीहार दरबार ने राजशेखर को संरक्षण प्रदान किया और बदले में उसने उनके सूर्यवंशी और *रामायण*के नायक राम के वंशज होने का अनुमोदन किया। प्रतीहार माउंट आबू के निकट भिनमल से शासन करते थे, और ध्यान देने की बात है कि जिस अग्नियज्ञ से राजपूतों के चार सर्वप्रमुख कुलों के उद्भव का मिथक जुड़ा हुआ है, वह माउंट आबू में ही संपन्न किया गया था। अरबों का प्रतिरोध करने में सफलता प्राप्त करके प्रतीहारों ने पूरब की ओर ध्यान दिया, और पहली सहस्राब्दी का अंत होते-होते वे न केवल राजस्थान तथा मालवा

के बड़े हिस्सों पर शासन कर रहे थे बल्कि कुछ समय तक कन्नौज पर भी अपना अधिकार रखा था।

कन्नौज से संबंधित संघर्ष में तीसरा पक्ष पाल राजा थे। पूर्वी गांगेय मैदान का अधिकतर भाग उनके नियंत्रण में था। इस क्षेत्र में भूमि-दान गुप्त काल में ही आरंभ हो चुका था। तब कभी-कभी धार्मिक ग्रहीताओं को दान में देने के लिए भूमि का क्रय किया जाता था। जो क्षेत्र अभी तक साफ नहीं किए गए थे उनमें अब कृषि बस्तियां बसाकर इस प्रक्रिया में तेजी लाई गई। इन बस्तियों को बसाने में ब्राह्मण भोक्ताओं ने अग्रणी भूमिका निभाई। ज़मीन को साफ करने पर पाया गया कि वह निचाई में पड़ती थी और उपजाऊ थी एवं उसे पूरब की विशाल नदियों तथा गंगा डेल्टा की सहायक नदियों से भरपूर पानी मिलता था। इसलिए वह ज़मीन धान की खेती के लिए बहुत उपयुक्त थी। नई बस्तियों में कन्नौज के अधिक प्रतिष्ठित ब्राह्मणों को बसाया गया, लेकिन बस्तियां बसाने के क्रम में स्थानीय पुरोहितों को भी ब्राह्मण समूह में स्थान दिया गया। दान बहुधा ताम्रपत्रों पर अंकित किए जाते थे। नए बसे क्षेत्रों में इस प्रकार के कानूनी और सहज रक्षणीय प्रलेख आवश्यक थे।

इसके अतिरिक्त, पालों को दक्षिण-पूर्व एशिया में अपने भरपूर व्यापारिक हितों का ध्यान रखने से भी आय होती थी। इस व्यापार को दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ अरबों के व्यापार के परिपथ और पूर्व अफ्रीका की ओर अग्रसर चीनियों के व्यापार के आगमन से और भी विस्तार मिलनेवाला था। अरब और चीनी ये दोनों अपने-अपने व्यापार के लिए बंगाल की खाड़ी के बंदरगाहों का इस्तेमाल करते थे। बौद्ध धर्म ने पूर्वी भारत और जावा तथा सुमात्रा को आपस में जोड़ने का काम किया। पालों ने बिहार में विक्रमशिला तथा ओदंतपुरी एवं आधुनिक पहाड़पुरा (बांग्लादेश) में सोमापुरी-जैसे विहारों के निर्माण के लिए मुक्तहस्त दान दिए और साथ ही नालंदा को पहले से प्राप्त संरक्षण जारी रखा। बौद्ध धर्म के प्रति उनकी इस उदारता का संबंध अन्य बौद्ध राज्यों में उनके व्यापारिक हितों से भी था। सुमात्रा के श्रीविजय राज्य के राजा ने नालंदा को एक अनुदान देने में भरपूर भागीदारी की। बंगाल के पूर्वी हिस्से में लालमै तथा मैनामती भी बौद्ध धर्म से संबंधित महत्त्वपूर्ण केंद्र थे।

सबसे प्रारंभिक पाल राजा गोपाल, जिसका कुछ महत्व है, आठवीं सदी में एक असामान्य तरीके से सिंहासनारूढ़ हुआ। उसे प्रसिद्धि इसलिए मिली कि वह वंशानुगत राजा नहीं था, बल्कि उसका चुनाव किया गया, और उसके बेटे का मानना था कि उस चुनाव के फलस्वरूप उस देश में अराजकता समाप्त हो गई। सोलहवीं सदी के तिब्बती बौद्ध भिक्षु तारनाथ ने अपने बौद्ध धर्म के इतिहास में इस घटना का जिक्र करते हुए लिखा कि बंगाल बिना राजा के था और फलतः उसे ऐसी स्थिति से उत्पन्न मुसीबतों का सामना करना पड़ रहा था। यद्यपि स्थानीय नेता एक राजा चुनने के लिए बार-बार एकत्र हो रहे थे, तथापि हर अवसर पर चुनाव के

बाद वाली रात में कोई राक्षसी उसे मार देती थी। अंत में जब गोपाल चुना गया तो देवी चंडी (शिव की पत्नी) ने उसे अपनी रक्षा के लिए एक गदा दी। उसने उस गदा से राक्षसी का वध कर दिया और स्वयं बच गया। इस कथा से ध्वनित होता है कि गोपाल अपनी रक्षा करने की योग्यता के कारण चुना गया और साथ ही इससे चंडी उपासना का भी अनुमोदन होता है। संभव है, गोपाल इस उपासना का समर्थक रहा हो। इससे यह अर्थ निकल सकता है कि गोपाल का कोई शाही पूर्वेतिहास नहीं था, फिर भी उसने एक राज्य हासिल किया। इस तरह के प्रसंगों में इस काल में आगे चलकर बहुत वृद्धि होने वाली थी।

गोपाल के उत्तराधिकारी धर्मपाल ने पाल राज्य को उत्तर भारतीय राजनीति की एक शक्ति बना दिया। वैसे उसने शुरुआत एक बड़ा आघात झेलकर की : राष्ट्रकूटों के हाथ उसे पराजय का मुंह देखना पड़ा। इसके बावजूद उसके शासन के अंत तक पाल शक्ति पूर्वी भारत में सबसे प्रबल होकर उभरी। आठवीं सदी के उत्तरार्ध में धर्मपाल ने कन्नौज पर सफल आक्रमण किया, जिसके फलस्वरूप वहां के राजा को, जो प्रतीहारो की कठपुतली था, गद्दी छोड़नी पड़ी और धर्मपाल ने उस पर आधिपत्य का दावा किया। इससे राष्ट्रकूट और प्रतीहार आहत हुए, लेकिन धर्मपाल दृढ़ता से टिका रहा। बाद में देवपाल ने पाल राज्य का पूरव में कामरूप (असम में) तक विस्तार किया। माना जाता है कि असम से होकर पूर्वोत्तर और म्यानमार तक जाने वाले व्यापारिक मार्गों तथा पूर्वी नदियों से छाने जानेवाले सोने तक पहुंच होने से पालों की समृद्धि में अभिवृद्धि हुई, जिसमें दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ होनेवाले व्यापार ने भी योगदान किया। उससे भी बाद के राजा रामपाल को कैवर्तों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। उनका उद्देश्य पाल विस्तारवाद के मार्ग में बाधा उपस्थित करना था। रामपाल ने अपने सामंतों तथा अन्य लोगों एवं अधीनस्थ शासक शक्तियों के साथ कूटनीतियुक्त व्यवहार करके और साथ ही पूरी सैनिक शक्ति लगाकर जैसे-तैसे इस विद्रोह को दबाया। कूटनीति के तहत उसने अपने सामंतों तथा बनवासी सरदारों को भरपूर भेंट-उपहार देकर उनकी मित्रता कायम रखने में कामयाबी हासिल की। उसके इन प्रयत्नों का बहुत सजीव वर्णन उसके जीवनचरित-लेखक संध्याकर नन्दी ने अपनी कृति *रामचरित*में की है। इस घटना के इस जीवनचारित्रिक वर्णन में राजा तथा उसके अधीनस्थ शासकों के बीच के संबंधों की बारीकियों की तफसीलें प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत की गई हैं। कैवर्त विद्रोह को कृषक विद्रोह भी माना गया है, क्योंकि वे लोग किसानों और मछुआरों की एक निम्न जाति के थे। परंतु जो वर्णन उपलब्ध है, वह छोटे-छोटे भूस्वामियों के विद्रोह की ओर इशारा करता है। शायद उन्हीं लोगों ने किसानों को लामबंद किया होगा।

तिब्बत की ओर से उपस्थित खतरे के प्रति पालों के सतत सावधान रहने की ज़रूरत थी, लेकिन उसके साथ मित्रतापूर्ण संबंधों के कारण उनकी उत्तरी सीमा

सुरक्षित रही। पालों तथा ग्यारहवीं सदी से राज करनेवाले सेनों ने धार्मिक संस्थाओं के प्रति अपने दाक्षिण्य के पात्रों में बौद्धों को शामिल रखा, जिनकी उपस्थिति पूर्वी भारत में स्पष्ट देखी जा सकती थी। तांत्रिक विश्वासों तथा आचारों से प्रभावित पूर्वी भारत का बौद्ध धर्म तिब्बत के बौद्ध धर्म से जुड़ा हुआ था। उत्तर सेनों के काल में बारहवीं सदी से बौद्धों को दिए जानेवाले संरक्षण में कमी आने लगी। तब तक बौद्ध धर्म तथा तंत्र संप्रदाय के बीच का भेद बहुत अस्पष्ट हो चला था।

इस बीच प्रतीहारों ने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी और अब कदम आगे बढ़ा सकते थे, जिसकी दिशा स्पष्ट थी। उन्होंने कन्नौज पर, जिसे पालों से राष्ट्रकूटों ने छीन लिया था, अधिकार करके बाकी दोनों शक्तियों को अपनी-अपनी सीमाओं के अंदर बांध दिया। भोज ने, जो प्रतीहारों में शायद सबसे विख्यात राजा हुआ, अरबों की ओर से उपस्थित खतरे का सामना दृढ़ता के साथ किया। लेकिन एक ओर अरबों को और दूसरी ओर पालों को रोक रखने के उसके प्रयत्नों के कारण उसके लिए दकन में पैर फैलाना, जिसका मंसूबा शायद उसमें था, असंभव हो गया।

राष्ट्रकूट भी मौके की ताक में थे, और 916 में उन्होंने अंतिम बार कन्नौज पर हमला करके उस पर कब्जा कर लिया। प्रतीहारों तथा राष्ट्रकूटों के बीच की प्रतिद्वंद्विता दोनों के लिए विनाशकारी साबित हुई। दसवीं सदी के पूर्वार्ध में कन्नौज की यात्रा के सिलसिले में अरब यात्री मसूदी ने लिखा कि कन्नौज का राजा दकन के राजा का स्वाभाविक शत्रु था; उसके पास एक बड़ी सेना थी और वह बहुत-से छोटे-छोटे राजाओं से घिरा रहता था, जो हमेशा उसके साथ युद्ध में जाने को तैयार रहते थे। सौ साल बाद प्रतीहार उत्तरी भारत में कोई ख़ास अहम शक्ति नहीं रह गए थे। तुर्कों की एक सेना ने 1018 में कन्नौज पर आक्रमण किया, जिसके साथ प्रतीहारों का शासन लगभग समाप्त हो गया। पश्चिमी दकन में राष्ट्रकूटों का स्थान उत्तर चालुक्यों ने ले लिया था।

प्रतीहारों के ह्रास से पालों को उत्तर भारत के मामलों में पूरी दस्तंदाजी का मौका मिला। ग्यारहवीं सदी के आरंभ में पश्चिमोत्तर भारत पर तुर्कों के हमलों ने वहां के राजाओं को फंसाए रखा। शीघ्र ही पाल वाराणसी में आ धमके, लेकिन उनके इस विस्तार पर चोल-राज राजेन्द्र की बढ़त ने अंकुश लगा दिया। उत्तर भारत की ओर उसके सफल अभियान से बंगाल की आज़ादी ही खतरे में पड़ गई। इसलिए पालों को अपना पश्चिमाभिमुख अभियान वापस लेना पड़ा और राजा महीपाल चोल सेना से बंगाल की रक्षा करने के लिए शीघ्रता से लौट पड़ा। राजेन्द्र के प्रभावोत्पादक सैनिक अभियान के पीछे सैनिक शोहरत पाने के साथ ही अपनी राजनीतिक उपस्थिति दर्ज कराने की कामना भी काम कर रही थी। इसके साथ ही उसका उद्देश्य दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन के साथ व्यापार पर, जिसमें पाल भी सक्रिय थे, एकाधिकार स्थापित करने का भी था। महीपाल की मृत्यु के शीघ्र बाद पाल राजवंश

का ह्रास शुरू हो गया और उसका स्थान सेनों ने ले लिया।

लगभग एक ही समय प्रतीहार, पाल और राष्ट्रकूट इन तीनों शक्तियों का क्षय कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। उनकी शक्तियां लगभग समान थीं और वे सुसंगठित सेनाओं पर निर्भर थे। देश-विजय का आडंबर शाही योग्यता का एक मापदंड बन गया। एक के अभिलेखों में जिन छोटे-छोटे राज्यों को जीतने के दावे किए गए हैं, लगभग उन्हीं सबको जीतने के दावे बाकी दो के अभिलेखों में किए गए हैं। जब हम राज्यों की इस प्रकार की सूचियों की पुनरावृत्ति होते देखते हैं तो उनमें एक प्रकार के बंधे-बंधाए सूत्र की झांकी मिलती है। इन दावों की ओर गंभीरता से तभी ध्यान दिया जा सकता है जब उनकी पुष्टि करनेवाले ऐसे प्रमाण उपलब्ध हों जिनसे लगे कि वे मात्र शाब्दिक पाखंड नहीं हैं। यदि इन लफ्फाजियों में कोई दम है तो अविश्रांत युद्धों के लिए विशाल सेनाएं रखनी पड़ती होंगी, जिससे करों पर, जिसके ख़ास शिकार किसान होते होंगे, भारी बोझ पड़ता होगा। चूंकि इन सेनाओं के अनुरक्षण के लिए दरकार राजस्व के स्रोत समान थे, इसलिए आत्यंतिक दवाव के परिणाम तीनों राज्यों में एक-जैसे हुए होंगे। कन्नौज पर अधिकार करने के लिए चलनेवाले अविश्रांत संघर्ष के कारण उन शक्तियों की नजरें अपने-अपने सामंतों की ओर से हट गई होंगी, जिनमें से कुछ मौके का लाभ उठाकर स्वतंत्र हो गए होंगे। उनकी अवज्ञाकारिता ने कन्नौज को केंद्र बनाकर पूरे उत्तर भारत को समेट रखनेवाले एक व्यापक राज्य की स्थापना की संभावना पर पानी फेर दिया और उधर पश्चिमोत्तर तथा दक्षिण से होनेवाले आक्रमणों ने ऐसे शक्तिशाली राज्य की सृष्टि में बाधा डाली।

केंद्रीय गांगेय क्षेत्र से बाहर के राज्य

तीनों प्रमुख राज्यों की परिधियों पर छोटे-छोटे, स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ, जिनमें से कुछ ने स्पष्ट ही अपनी सत्ता केंद्रीय गांगेय क्षेत्र से काफी दूर स्थापित की। उनमें पश्चिम भारत में शासन करनेवाले चौलुक्य और वघेल तथा उनसे कुछ छोटी ताकतें, जैसे अरब आदि शामिल थे। फिर, पर्वतीय क्षेत्रों के राज्य थे, जैसे कश्मीर और नेपाल तथा उनसे भी कुछ छोटे राज्य। पूर्वोत्तर में असम में कामरूप था। प्रायद्वीप के पूर्वी हिस्से में उड़ीसा में पड़नेवाले उत्कल तथा कलिंग राज्य थे। इन सबके अतिरिक्त राजस्थान, गांगेय मैदान के पश्चिमी भाग तथा मध्य भारत में शासन करनेवाले राजपूत घराने भी इसी काल में उभरे।

जब सिंधु नदी के निचले बहाववाले क्षेत्र से आगे की ओर अरबों की बढ़त रोक दी गई तब उपमहाद्वीप के पश्चिम में उन्होंने कुछ छोटे-छोटे राज्य स्थापित किए। सिंधु तथा निचले पंजाब पर खलीफा की ओर से उसके द्वारा नियुक्त प्रांतीय शासक राज करते थे। नौवीं सदी में मुल्तान और मंसूरा (सिंध में) के शासकों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और नए राजवंश स्थापित किए। अरबों की

सिंध-विजय के कुछ पहलुओं का वर्णन *चछनामा*में किया गया। उसमें राजनीतिक घटनाओं के अलावा सबसे दिलचस्प टिप्पणियां धार्मिक गतिविधियों पर की गई हैं। कहा गया है कि उस समय सिंध के निवासी या तो ब्राह्मण धर्म के या श्रमणीय धर्मों के अनुयायी थे और लगता है कि सिंधु नदी के निचले बहाववाले क्षेत्र में बौद्ध तथा जैन अच्छी संख्या में उपस्थित थे। चूंकि अरबों की दिलचस्पी व्यापार को बढ़ावा देने में थी इसलिए उनगें इसलामेतर धर्मों को स्थान देने की प्रवृत्ति मौजूद थी और लगता है, ऐसे धर्मावलंबियों के लिए अरब लोग कुल मिलाकर स्वीकार्य थे। बौद्ध धर्म का आचरण जारी रहा और स्तूप तथा गुफा विहार गृहस्थ अनुयायियों को आकृष्ट करते रहे। मंसूरा और मुल्तान शिया तथा इस्माइली गतिविधियों के भी प्रभावशाली केंद्र बन गए। ये लोग व्यापार से विमुख नहीं थे, लेकिन बेशक सुन्नी लोग उनके पीछे पड़े रहते थे, क्योंकि पारंपरिक इसलाम से टूटकर अलग होनेवाले संप्रदायों के प्रति उनका रुख शत्रुता का था। इस शुष्क क्षेत्र में जहां-तहां रेगिस्तान उभर आए थे और हड़प्पाई सभ्यता के काल के हरे-भरे जंगल काल के दौर में लुप्त हो चुके थे और अब इस क्षेत्र का रूप बिलकुल दूसरा था, जिसमें माल ढोनेवाले ऊंटों के कारवांओं के लिए अनेक मार्ग थे। कहते हैं, मुल्तान के सूर्य मंदिर को नौवीं सदी में नष्ट कर दिया गया था और उसे मसजिद में बदल दिया गया था। लेकिन उसके मंदिर के रूप में काम करते रहने के उल्लेख भी मिलते हैं, जिनसे उलझन तो पैदा होती है लेकिन ऐसे उल्लेख अप्रत्याशित नहीं हैं। कहीं ऐसा तो नहीं था कि कुछ प्रसंगों में मंदिरों को नष्ट करने के दावे वास्तविकता से अधिक लफ्फाजी थे?

इन क्षेत्रों में इधर ये घटनाएं घट रही थीं और इसलाम के प्रचार की कोशिश चल रही थी और उधर ब्राह्मणीय स्रोतों में वर्णगत दर्जेवाले लोगों के संबंध में इस बात को लेकर सवाल खड़े किए जा रहे थे कि वे म्लेच्छों के बीच रह रहे थे और उनके आचार-व्यवहार में भागीदारी कर रहे थे। उन्होंने ख़ास तौर से उन आचारों पर आपत्ति की जो सामान्यतः निषिद्ध थे—जैसे आहार-विहार तथा शौच-अशौच से संबंधित नियम, जिन्हें भंग करने का मतलब वर्ण से च्युत हो जाना था। बेशक, यह बात द्विजों पर अधिक लागू होगी। *देवलस्मृति*में उसी बात को दोहराया गया जो धर्मशास्त्रों में कही गई थी, अर्थात् यह कि यदि कोई वर्ण-नियमों के विरुद्ध आचरण करने के लिए विवश हो जाता है तो वह कुछ प्रायश्चित्त-कर्म करके अंत में अपना वर्णगत स्थान पुनः प्राप्त कर सकता है। बेशक, विशेष परिस्थितियों में रियायतें की जाती थीं।

इनमें से बहुत-से राज्यों के उदय का कारण यह था कि जो लोग कल तक सामंत थे उनमें इस काल में अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करके अपने को पूर्ण राजाओं के रूप में प्रतिष्ठित कर लेने की प्रवृत्ति आम हो गई थी। यह प्रवृत्ति सांस्कृतिक

जीवन में भी प्रतिबिंबित हुई, जब क्षेत्रीय तथा राजवंशीय इतिहासों में स्थानीय संस्कृति की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा और साथ ही स्थानीय उपासनाओं को भी ज़्यादा से ज़्यादा संरक्षण प्रदान किया जाने लगा। लेकिन साथ ही मुख्यधारा की सांस्कृतिक संस्कृति के प्रति भी जागरूकता थी, जिसे गुणवत्ता का मापदंड माना जाता था। उत्कृष्ट लेखकों तथा कवियों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए राजदरबार एक-दूसरे से होड़ करते थे। वे भव्य मंदिरों के निर्माण के लिए प्रतिभाशाली शिल्पियों को भी आमंत्रित करते थे। ख़ास-ख़ास राजाओं के अधीन कुछ राजवंशों ने काफी प्रसिद्धि प्राप्त की—जैसे कुमारपाल के अधीन गुजरात पर शासन करनेवाले चौलुक्यों ने। कुमारपाल के बारे में बहुत-कुछ लिखा गया है। प्रसिद्ध विद्वान् हेमचंद्र उसका मंत्री था। कहते हैं, उसी ने उसे जैन बनाया, जिसके लिए उसने चमत्कार करते हुए भगवान् शिव का प्रकट होने के लिए आवाहन किया और वे राजा के समक्ष साक्षात् प्रकट हुए। जैन विद्वन्मंडली में कुमारपाल एक कथा-पुरुष बन गया और ऐसा ही हेमचंद्र के साथ भी हुआ। जो सामंत उत्तराधिकारी राजवंश स्थापित करने में सफल हो गए उन्होंने कभी-कभी अपने भूतपूर्व अधिपतियों के साथ भी अपना वंशानुगत संबंध दिखलाने की कोशिश की। इसका उदाहरण वघेल हैं, जिन्होंने खुद को चौलुक्यों का वंशज बताया।

हिमालय की तराई, जिसके निचले इलाके बहुत उपजाऊ थे, छोटे-छोटे राज्यों के उदय के लिए ख़ास तौर से उपयुक्त थी। बहुधा इन राज्यों की स्थापना अपनी जगह छोड़कर भाग्य की तलाश में निकले मैदानी इलाकों के साहसी और उद्यमी लोगों ने की। ये ठिकाने खेती के लिए बहुत अनुकूल थे और ऊपर जाकर चरागाह भी मिल जाते थे। इसके अतिरिक्त, वहां तिब्बत तथा मध्य एशिया से आनेवाले माल के व्यापार की भी संभावनाएं मौजूद थीं। विनिमय का माल लाने-ले जाने का काम पशुचारक समूह करते थे, जो ऋतु-परिवर्तन के अनुसार अपने परिपथ पर अपने स्थान बदलते रहते थे। इस क्रम में उन्हें एक नियमित पंचांग का पालन करना पड़ता था—ग्रीष्म काल में दर्रों से होकर निचले ठिकानों से ऊपरी ठिकानों की ओर जाना और शीत ऋतु आरंभ होने पर वहां से उतरकर दर्रे पार करते हुए निचले ठिकानों को लौट आना। इस प्रकार का संचलन उस चीज का अंग बन गया जिसे अनुलंब अर्थव्यवस्था कहा गया है, जिसका मतलब है पर्वतीय क्षेत्रों में विभिन्न ऊंचाइयों के बीच व्यापार। नौवीं सदी में और उसके आसपास अनेक पहाड़ी राज्य स्थापित किए गए। ये राज्य आपस में लड़ाई करते रहते थे और कभी-कभी मैदानी क्षेत्र के राज्य भी इन पर हमला कर देते थे। इसके बावजूद इनमें से कुछ ने अभी कुछ सदी पूर्व तक अपनी स्वतंत्रता न सही तो कम-से-कम पहचान बनाए रखी। चंपक (चंबा), दुर्गर (जम्मू), कुलुत (कुलू), कमाऊं और गढ़वाल जैसे राज्यों ने उत्तर के मैदान के संघर्ष के क्षेत्रों से अपने को जैसे-तैसे बहुत हद तक अलग रखा। अधिक

दूरस्थ तथा दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों में एक राज्य के उदय का वर्णन लद्दाख राज्य के इतिवृत्त में किया गया। उसमें भी वंशावली-वर्णन परंपरा का ही अनुसरण किया गया है। लद्दाख सांस्कृतिक दृष्टि से तिब्बत तथा कश्मीर दोनों के अधिक निकट था।

स्थानीय इतिवृत्तों में राजतंत्र के अंगों-उपादानों के साथ राज्य की सृष्टि का सिलसिला दिलचस्प ढंग से प्रतिबिंबित हुआ है। इसका उदाहरण चंबा है। पूर्ववर्ती इतिहास को मिथकों से जोड़ दिया गया, जिनमें पौराणिक तथा स्थानीय दोनों प्रकार के मिथक शामिल हैं और बहुधा परस्पर अंतर्संबद्ध हैं। जब राजतंत्र की स्थापना हुई उस बिंदु पर पौराणिक वंशावलियों के प्राचीन नायकों से संबंध का एक तार जोड़ दिया गया और आगे का इतिहास स्थानीय राजवंश का वर्णन बन गया। कई नई प्रवृत्तियों में राज्य की ओर संक्रमण की पहचान की जा सकती है। अधिक संसाधन उपलब्ध कराने के उद्देश्य से बस्तियां बसाकर और भूमिदान देकर निकटवर्ती घाटियों में खेती-बारी शुरू करवाने के उल्लेख मिलते हैं; नई जातियों के जिक्र किए गए हैं; अधिक विस्तृत प्रशासन आरंभ करने की चर्चा की गई है; एक केंद्रस्थ ठिकाने में राजधानी नगर बसाने का जिक्र हुआ है; राज-परिवार द्वारा नागर शैली में पत्थर से बनाए जानेवाले मंदिरों के लिए, जो मैदानी क्षेत्रों के लिए तो सुपरिचित थे लेकिन पहाड़ी इलाकों के लिए नए, धन सुलभ कराए जाने का उल्लेख किया गया; और राजदरबार द्वारा पौराणिक हिंदू देवी-देवताओं को भरपूर संरक्षण प्रदान किए जाने का भी जिक्र किया गया। देशांतरण करके आए व्यावसायिक लोगों को, जैसे विद्वान् ब्राह्मणों तथा पुरोहित-पुजारियों को, कारीगरों और राजमिस्त्रियों को तथा प्रशासनिक अनुभववाले लोगों को रोजगार मिले होंगे। ये विशेषताएं मैदानी क्षेत्रों में राज्यों के उदय की प्रक्रिया के भी अंग हैं, लेकिन संक्रमण पहाड़ी क्षेत्रों में शायद अधिक स्पष्ट था।

पहाड़ी क्षेत्रों में कृषि ने सीढ़ीदार खेतों का रूप ग्रहण किया। इन खेतों की सिंचाई पहाड़ियों के इर्द-गिर्द बहनेवाले संकरे नालों के पानी से की जाती थी। लेकिन सीढ़ियों को अक्षुण्ण और नालों को साफ रखने में बहुत अधिक श्रम की आवश्यकता होती थी। जिन ज़मीनों के मालिक किसान नहीं थे उनमें खेती करने के लिए कुछ बाधित श्रम की ज़रूरत पड़ती होगी, क्योंकि स्वैच्छिक श्रमिक शायद पर्याप्त संख्या में नहीं मिलते होंगे। पर्वतीय क्षेत्रों और मैदानी प्रदेशों की संस्कृतियां आरंभ में एक-दूसरे के समानांतर चलती थीं, लेकिन धीरे-धीरे छन-छनकर पड़नेवाले प्रभाव तथा पारस्परिक अतिक्रमण के फलस्वरूप पवर्तीय क्षेत्रों में नई सांस्कृतिक रीति-नीति स्थापित हुई। मगर वैवाहिक रिवाज, उत्तराधिकार, कर्मकांड तथा मिथक मोटे तौर पर यथावत् कायम रहे और उन्होंने बहुधा धर्मशास्त्रों के नियमों की भी उपेक्षा कर दी। उदाहरण के लिए, हिमालय की सीमा के समानांतर इलाकों में भूस्वामित्व तथा उत्तराधिकार के स्वरूप के कारण बहुपतिक विवाह की प्रथा जारी रही।

आठवीं सदी में करकोटा राजवंश के राजा ललितादित्य के साथ कश्मीर ने प्रसिद्धि प्राप्त की थी, और क्रमिक विस्तार तथा देश-विजय के बल पर उसने पश्चिमोत्तर भारत के एक हिस्से और पंजाब पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था। गांगेय मैदान में पैर जमाने के प्रयत्न सफल नहीं हुए, क्योंकि कश्मीरियों का आधार-देश बहुत दूर पड़ता था। पंजाब अब तक वैसा अन्नागार नहीं बन पाया था जैसा वह आगे चलकर बननेवाला था। लेकिन उसका आकर्षण उन मार्गों पर पड़ने वाले पड़ावों में निहित था जो जलविभाजक क्षेत्र तथा गांगेय मैदान को पश्चिमोत्तर से और उससे भी आगे के क्षेत्रों से जोड़ते थे। गंधार से उसका नजदीकी रिश्ता बना रहा। शाहिय राजवंश पश्चिमोत्तर में शासन करता था और वह मध्य एशिया तथा तुर्कों (जिन्हें भारतीय स्रोतों में तुरुष्क कहा गया है) के साथ सेतु का काम करता था। तुरुष्कों से परिचय बहुत पहले ही हो चुका था, जब भाड़े के तुर्क सिपाहियों को कश्मीर की सेना में स्थान दिया गया था। आठवीं सदी में शासन करनेवाले ललितादित्य ने कुछ समय के लिए गांगेय मैदान में अपनी सेनाएं उतारी थीं और अरब सेनाओं को भी पंजाब को पदाक्रांत करने से रोका था। आगामी सदियों के दौरान कश्मीर के राजाओं ने पर्वतीय क्षेत्रों में तथा झेलम घाटी के ऊपरी हिस्से में अपनी स्थिति सुदृढ़ की और पंजाब को अपने भाग्य के भरोसे छोड़ दिया। तांत्रिक शैव संप्रदाय पर प्रणीत कृतियों तथा सौंदर्यशास्त्र पर लिखे ग्रंथों के साथ कश्मीर में एक परिष्कृत साहित्यिक संस्कृति का उदय हुआ। दार्शनिक सिद्धांतों ने उस पूर्ववर्ती परंपरा को जारी रखा जिसकी नींव बौद्ध केंद्रों में पड़ी थी।

कल्हण ने कश्मीर के अपने प्रसिद्ध इतिहास *राजतरंगिणी*की रचना बारहवीं सदी में की। उसमें *करकोटों*के उत्तराधिकारी राजवंश के राजा अवन्तिवर्मन् के शासन-काल में मंत्री सुय्या की देख-रेख में संपन्न अभियंतन कार्यों का उसने आकर्षक वर्णन किया गया है। भूस्खलनों तथा मिट्टी में खराबी आ जाने से झेलम नदी में बहुत अधिक रोड़ी-पत्थर जमा हो गए थे, जिससे पानी का बहाव बाधित हो गया था। उसे साफ कर दिया गया। लेकिन पहाड़ों से उतरने वाली नदियों के संबंध में आज तक यह समस्या हमेशा बनी रहती है। भूस्खलन को रोकने के लिए तटबंध बनाए गए और जहां संभव हुआ वहां बांध बनाए गए और जिन झीलों के कारण बाढ़ें आती थीं उनका पानी बहा दिया गया। कहते हैं, सुय्या ने एक हद तक झेलम तथा सिंधु की धाराओं को भी मोड़ दिया, जिससे बहुत-सी ज़मीन में फिर से खेती की जाने लगी। ये कठिन अभियंत्रण कार्य थे, क्योंकि कश्मीर की नदियां मैदान में उतरने वाली नदियों के ऊपरी बहाववाले हिस्से हैं, जिनमें जल का प्रवाह बहुत तेज होता है। कल्हण का वर्णन आतिशयोक्तिपूर्ण नहीं था, जिसका प्रमाण कश्मीर की परवर्ती आर्थिक समृद्धि थी। घाटी के जिन बड़े क्षेत्रों में खेती-बारी शुरू की गई वे अन्य पहाड़ी राज्यों की तरह कश्मीर की राजनीति में स्थिरीकरण

के कारक सिद्ध हुए, क्योंकि अब मैदानों के उपजाऊ हिस्सों की ओर बढ़ने की ज़रूरत नहीं रह गई थी। लेकिन इससे अन्य प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो गईं।

दसवीं सदी में दो अभिभाविका रानियों ने शासन किया। प्रबल विरोध के बावजूद वे राजकाज के संचालन के लिए कृतसंकल्प थीं। इसमें उन्हें एक नए तत्व का मुकाबला करना पड़ा, जो अगले सौ वर्षों तक कश्मीर की राजनीति पर हावी रहे। तात्पर्य ऐसे सैनिकों के समूहों की उपस्थिति से है जिनकी राजनीतिक निष्ठा तथा महत्वाकांक्षा अडिग थी। दो प्रतिद्वंद्वी समूह थे—तंत्री और एकांग। राजाओं को बनाना और बिगाड़ना इन्हीं दोनों के हाथों में था। रानी सुगंधा ने तंत्रियों के खिलाफ एकांगों का कारगर इस्तेमाल किया, लेकिन उन्हें अपने बस में नहीं कर सकी और बाद में उन्होंने उसे अपदस्थ कर दिया। उसकी पराजय से तंत्रियों के हाथों में लगभग असीम शक्ति आ गई, और रानी सुगंधा के बाद का कोई भी शासक उनका निवारण करने की शक्ति नहीं जुटा पाया। अंत में डामरों को, जो काफी संपन्न भूस्वामी थे, तंत्रियों की शक्ति को तोड़ने के लिए आमंत्रित किया गया। यह काम उन्होंने ऐसी कामयाबी के साथ किया कि अब कश्मीर के शासकों के सामने इन भूस्वामियों की शक्ति पर अंकुश लगाने की नई समस्या खड़ी हो गई, जिसका प्रमाण रानी दिद्दा के शासन-काल की राजनीतिक घटनाएं हैं। रानियों के लिए अभिभाविकाओं के रूप में भागीदारी करना कोई नई बात नहीं थी। वाकाटक काल में प्रभावती गुप्त ने ऐसा किया था। इसी प्रकार वे प्रशासनिक दायित्वों का भी निर्वाह करती थीं, जैसे पश्चिमी दकन की चालुक्य रानियां। सुगंधा तथा दिद्दा और अन्य रानियों में फर्क यह था कि उनकी शक्ति का स्रोत दरबारी साजिश और दरबारी गुटों की राजनीति थी।

डामर मूलतः कृषक थे। घाटी में जो सुधार किए गए थे उसका लाभ उठाकर उन्होंने उसकी कृषि-विषयक संभावनाओं की खूब वृद्धि की और स्वयं साल-दर-साल अधिशेष का संग्रह करने लगे, जिसकी बदौलत वे किसान से भूस्वामी बन गए। शायद यही कारण था कि कल्हण की राजा को सलाह थी कि किसानों के भंडारों में उनकी एक साल की उपज से ज़्यादा कुछ नहीं छोड़ना चाहिए और उससे अधिक जो-कुछ भी पैदा किया जाए उसे राज्य को ले लेना चाहिए, अन्यथा किसान उसका इस्तेमाल शक्तिशाली बनने के आधार के रूप में करेंगे। कल्हण ने जितनी कटु आलोचना डामरों की उतनी ही कायस्थों की भी की। उसने डामरों के बारे में कहा कि वे अशिष्ट और असंस्कृत हैं। एक बार सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए भाड़े के सैनिकों और मैदानी क्षेत्रों के राजपूतों को भरती करना आरंभ कर दिया। उन्होंने क्षत्रियों की जीवन-शैली का भी अनुकरण करना आरंभ कर दिया। कल्हण को इनमें से कई बातें पसंद नहीं थीं, जैसे उनका सती प्रथा का अनुमोदन करना। आठवीं से लेकर ग्यारहवीं सदी तक

कश्मीर की संपत्ति में काफी वृद्धि हुई, जिसका कुछ कारण तो कृषि-संबंधी सुधार थे लेकिन उतना ही महत्वपूर्ण उत्तर भारतीय मैदानों तथा मध्य एशिया के साथ व्यापारिक संबंध भी था। कुछ धन का व्यय मंदिरों के निर्माण तथा अनुरक्षण पर होता था। मार्त्तण्ड मंदिर इन्हीं में से एक था। धन-संग्रह, ख़ास तौर से मंदिरों में हुए धन-संग्रह ने इस काल में कश्मीर के राजाओं के लोभ को उभारा और उनमें से कुछ ने मंदिरों को जी भरकर लूटा और बहुमूल्य धातुओं से बनी प्रतिमाएं उठा लीं। ये सभी राजा हिंदू ही थे। कल्हण कहता है कि उन्होंने अतिरिक्त कर लगाकर आम लोगों को परेशान किया, और जो अधिकारी इन आदेशों पर अमल करते थे उन्होंने 'प्रजा को बहुत दुःख दिया।'

नौवीं सदी के पूर्वार्ध में काबुल की घाटी और गंधार पर एक तुर्क परिवार—शाहियों—का शासन था। राजा के एक ब्राह्मण मंत्री ने गद्दी हड़प ली और हिंदू शाहिय राजवंश की स्थापना की। अफगानिस्तान के अन्य छोटे-छोटे राज्यों के दबाव के कारण उसे पूरब की ओर खिसकना पड़ा और अंत में सिंधु और काबुल नदियों के संगम पर स्थित अटक नामक स्थान को अपनी सत्ता का केंद्र बनाया। उस क्षेत्र में खेती बहुत कम होता थी। उसकी आमदनी का मुख्य स्रोत अपने परिपथों पर यायावरी करते पशुचारक और व्यापारिक कारवां थे। उस क्षेत्र में अनेक धर्म फूल-फल रहे थे–बौद्ध धर्म, जर्थुस्त्री धर्म, पौराणिक हिंदू धर्म और अभी हाल से इसलाम। इनके अलावा मध्य एशिया की शामन उपासनाएं भी प्रचलित थीं। यह राज्य उत्तरी भारत तथा अफगानिस्तान के बीच स्थित था और दोनों के टकराव को रोकने का काम करता था। बाद के एक शाहिय राजा जयपाल ने अपने राज्य की स्थिति सुदृढ़ करके पंजाब के मैदानी इलाकों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। लेकिन इसका मतलब यह भी था कि उसे गजनी की सेनाओं के ग्यारहवीं सदी में उत्तरी भारत में प्रवेश करने पर उसका सामना करना था।

हिमालय पर्वतों में स्थित एक राज्य था नेपाल, जो आरंभ में तिब्बत के अधीन था, लेकिन नौवीं सदी में उसकी अधीनता का जुआ उतार फेंका और स्वतंत्र राज्य बन गया। अपनी इस आज़ादी की स्मृति में उसने 878 में नेवार संवत् भी चलाया। इसका मतलब केवल राजनीतिक आज़ादी ही नहीं थी, बल्कि आज़ादी के फलस्वरूप उसने खूब आर्थिक उन्नति भी की। चूंकि नेपाल भारत से तिब्बत को जानेवाले मुख्य मार्ग पर पड़ता था, इसलिए भारत के साथ तिब्बत तथा चीन दोनों का व्यापार नेपाल से होकर ही चलता था। इससे होनेवाली आय का सहारा लेकर काठमांडो तथा पाटन के नए शहरों का उदय हुआ। ललितपुरा तांत्रिक बौद्ध संप्रदाय से संबंधित विद्या का गढ़ बन गया और उसकी ओर बहुत-से विद्वान् आकृष्ट हुए। राजवंशों के इतिवृत्त वंशावलीय परंपरा में अनुरक्षित किए गए और संस्कृत में लिखे गए, यद्यपि क्षेत्रीय भाषा अलग थी। लेकिन नेपाल के राजाओं की सत्ता के लिए शक्तिशाली भूस्वामियों

की ओर से खतरा उपस्थित होनेवाला था। ये लोग बाद में अपनी पदवी राणा के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुए। राजा की स्थिति तथा भूस्वामियों के दबदबे के बीच का अस्थिर संतुलन अन्य अनेक राज्यों की ही तरह नेपाल की भी एक स्थायी विशेषता बना रहा।

उससे पूरब चलें तो असम में कामरूप राज्य था, जो मैदानी क्षेत्र में स्थित था लेकिन पहाड़ों के निकट पड़ता था। वह पूर्वी भारत तथा पूर्वी तिब्बत और चीन के बीच संबंध की कड़ी का काम करता था, जिससे मैदानी क्षेत्रों के आर-पार व्यापार को और पर्वतों के आर-पार ऋतुओं के अनुसार पशुचारकों के देशांतरणों को बढ़ावा मिला। कछारी मिट्टी के जमा होने से बना असम का मैदान चावल की खेती के लिए बहुत अनुकूल था। इस क्षेत्र को सिंचाई के लिए ब्रह्मपुत्र से पानी मिलता था, यद्यपि अकसर बहुत भयंकर बाढ़ें भी आ जाती थीं। वर्मन राजाओं ने घाटी के एक हिस्से पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। हरजर-वर्मन ने नौवीं सदी में प्रसिद्धि प्राप्त की और सम्राटोचित विरुद धारण किए, जिससे लगता है कि वह पालों से स्वतंत्र हो गया था। राज्य की ओर से करवाए गए तटबंधों के निर्माण से कृषि-बस्तियों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला। बाद में शालस्तंभ राजाओं के अधीन भी ऐसा ही हुआ। 1205 के एक अभिलेख में तुरुष्कों की हत्या का जिक्र हुआ है, जिसका संबंध शायद इस क्षेत्र पर तुर्कों के अधिकार करने के प्रयत्न से रहा होगा। लेकिन साथ ही तेरहवीं सदी में कामरूप के बहुत बड़े हिस्से को अहोमों ने जीत लिया। ये शान जाति के लोग थे, जो असम के दक्षिण-पूर्व में पड़नेवाले पर्वतों से आए थे। अंत में उन्हीं के नाम पर इस क्षेत्र का नाम असम पड़ा। उनकी दूसरी देन लंबे वंशावलीय विवरणों का अनुरक्षण थी। इन्हें बुरुंजी कहा जाता था और उनसे हमें उनके इतिहास की रचना करने में बहुत मदद मिलती है।

प्रायद्वीप के पूर्वी छोर पर उड़ीसा में आठवीं सदी के उत्तरार्ध में शैलोद्भव राजवंश का उदय हुआ। कहा जाता है, उनके मूल का संबंध पुलिंदों से था, जिन्हें आम तौर पर जातीय समाज से बाहर माना जाता था। उन्हें जातीय समाज में समाहृत कर लिया गया, जिसका प्रमाण यह है कि इस वंश के एक परवर्ती राजा ने अश्वमेध यज्ञ संपादित किया। बौद्धों के परम संरक्षक भौमकरों का स्थान दसवीं सदी में प्राप्त विजय के बल पर सोमवंशियों ने ले लिया। बाद में गंगों द्वारा कलिंग की विजय उनके आंध्र-स्थित आधार का विस्तार था। गणपति राजवंश की स्थापना का संबंध पूर्व की क्षेत्रीय संस्कृति के मध्याह्न से जुड़ा हुआ है।

राजपूत

नौवीं और दसवीं सदियों में अनेक राजपूत कुल स्वतंत्र राजवंशों के रूप में उभरे, जो कई राज्यों में राज करते थे। उनके मूलों के बारे में काफी बहस चली है। कुछ

विद्वानों का कहना है कि वे मध्य एशिया से आकर यहां बस जानेवाले लोगों के–शायद हूणों या संभवतः गुर्जरों के–वंशज थे, हालांकि इस बात को अब सामान्यतः संदेह की दृष्टि से देखा जाता है।

राजपूतों की पहचान पर जो चर्चाएं होती रही हैं उनके अनुसार वे ऐतिहासिक परिवर्तन की उन प्रक्रियाओं की उपज थे जो इस काल की ख़ास खूबी थीं–विशेषतः विभिन्न पृष्ठभूमियों वाले परिवारों के राजशक्तियों के रूप में उभरने की व्यापक प्रक्रिया की। उनमें से कुछ ने अपने मूलों का निर्देश ब्राह्मणों में किया, शायद उन लोगों में जिन्हें मौजूदा राजाओं से भूमिदान मिलते थे। इसके बल पर उन्होंने ब्रह्मक्षत्र दर्जे का दावा किया। यह एक सुपरिचित शब्द था, जिसका प्रयोग बहुधा ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वंश–परंपरा का दावा करनेवालों के लिए या जो ब्राह्मण थे लेकिन क्षत्रियों के कर्म कर रहे थे उनके लिए किया जाता था। प्रायद्वीप में पूर्ववर्ती काल में ऐसे राजवंश उपस्थित थे। कोई उच्च प्रशासनिक पद भी दर्जे के उन्नयन का मार्ग प्रशस्त कर सकता था, जैसा कि पूर्ववर्ती कालों में होता था। कुछ अन्य शायद विजित वनवासी कुल रहे होंगे, जिनके भूतपूर्व सरदारों ने या तो जैसे-तैसे क्षत्रिय का दर्जा हासिल कर लिया या जिनके बल पर संबंधित कुलों ने यह दर्जा प्राप्त किया। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे लोग भी हो सकते थे जो उन कुलों के वंशज थे जो पहले राजस्थान में सरदारतंत्रों या अल्पतंत्रों के प्रधान थे, यद्यपि इसे सिद्ध करनेवाले साक्ष्य अनिश्चित हैं। कुछ क्षत्रिय ऐसे समूहों से संबंधित थे जिन्हें जातीय समाज से बाहर माना जाता था और जिन्हें कभी–कभी 'जनजाति' कहा जाता है। पुलिंद, भिल्ल, मीणा, शबर, मेद और अहीर ऐसे 'जनजातीय' समूहों के उदाहरण हैं। इन समूहों से कुछ क्षत्रियों के संबंध से लगता है कि या तो इन्होंने उन लोगों को क्षत्रिय दर्जा प्राप्त करने में मदद दी होगी या उनसे इनका कुछ कौटुंबिक संबंध रहा होगा।

बाद में उनके मूल को राजवंशों से जोड़ दिया गया, जिससे उन्हें क्षत्रिय दर्जा प्राप्त हुआ और इस दर्जे पर वे हमेशा आग्रह रखते रहे हैं। क्षत्रियत्व के उनके दावे को पुराणों की परंपरा के अनुसार प्रतिष्ठित करने के लिए उन्हें ऐसी वंशावलियां प्रदान की गईं जिन्होंने उन्हें या तो सूर्यवंश से जोड़ दिया या चंद्रवंश से। वे उन लोगों में से थे जिन्हें नए क्षत्रियों में शुमार किया जा सकता था, यद्यपि पुराणों में उन्हें ऐसा नहीं कहा गया है। वंशावलीय संबंधों ने महाकाव्यों के नायकों के साथ संबंध को भी पुनरुज्जीवित कर दिया। उदाहरण के लिए, सूर्यवंशियों ने राम के वंशज होने का दावा किया और फलतः उन्होंने अपने स्थानीय या दूरस्थ शत्रुओं में से कुछ को रावण कहा। पूर्ववर्ती काल में राजवंशों ने, वे चाहे जिस जाति के रहे हों, मजे में शासन किया था। उनकी स्वीकृति का आधार उनके नेतृत्व के गुण थे। लेकिन अब जो लोग शासन कर रहे थे उन्होंने अपने क्षत्रियत्व पर आग्रह करना मानो अपना धर्म बना लिया।

सूत परंपराओं के अनुसार, राजपूतों के छत्तीस मूल कुल थे, लेकिन अलग-अलग स्रोतों में अलग-अलग प्रकार की सूचियां दी गई हैं। राजपूत कुलों में चार ने विशेष दर्जे का दावा किया। ये चार थे प्रतीहार या परिहार; चाहमान, जो चौहान के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं; चौलुक्य (दकनी चालुक्यों से भिन्न), जो सोलंकी के रूप में भी जाने जाते हैं; और परमार या पवार। इन चारों ने एक मिथकीय अग्नि से उत्पन्न होने का दावा किया, जिसके अनुसार वे राजस्थान में माउंट आबू के निकट एक यज्ञाग्नि-कुंड से उद्‌भूत हुए थे। राजपूतों के उदय के शायद दीर्घ काल बाद गढ़ी गई उस कथा के अनुसार, मुनि विश्वामित्र ने मुनि वसिष्ठ की कामधेनु चुरा ली। इसलिए मुनि वसिष्ठ ने माउंट आबू पर अग्नि यज्ञ किया, जिसके फलस्वरूप एक वीर पुरुष यज्ञाग्नि में से प्रकट हुआ और वह वसिष्ठ की गाय को ढूंढ़ लाया। कृतज्ञ वसिष्ठ ने उसे परमार ('शत्रु को मारनेवाला') की संज्ञा दी, और उसी से परमार राजवंश उद्‌भूत हुआ। अन्य कुलों के संदर्भ में इस कथा में कुछ-कुछ अंतर हैं। फलतः इन चारों को अग्निकुल, अर्थात् अग्नि से उत्पन्न कहा गया।

पारंपरिक रूप से अग्नि-कर्म की एक शौचकारी प्रतीकात्मकता थी और अग्नि-कुल पर आग्रह इस कारण से महत्वूर्ण है कि इन लोगों का मूल अस्पष्ट था। विश्वामित्र तथा वसिष्ठ की प्रतिद्वंद्विता कई मिथकों का विषय है। कुछ कथाओं में विश्वामित्र को तपश्चर्या द्वारा ऋषि बनने के लिए प्रयत्नशील क्षत्रिय कहा गया है। वैसे तपश्चर्या का संबंध ब्राह्मणों से अधिक था। इसके अतिरिक्त, ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच के संबंध का भी कुछ संकेत दिया गया है, और उधर माउंट आबू का मिथक इस कारण कुछ और दिलचस्प हो गया कि बाद में वह जैनों के लिए एक पवित्र स्थान बन गया।

राजपूतों की प्रारंभिक हलचलों में अग्नि-कुल मूल का दावा करनेवाले चार कुलों का बोलबाला था। उन्होंने जो राज्य स्थापित किए वे पूर्ववर्ती प्रतीहार राज्य के ध्वंसावशेष पर उदित हुए। नए प्रतीहार दक्षिण राजस्थान पर शासन करते थे। चाहमानों या चौहानों का केंद्र दिल्ली के दक्षिण-पूर्व में शाकंबरी में था। आरंभ में वे मुख्य प्रतीहार राजवंश के अधीन थे, लेकिन बाद में उनकी शाखाएं नाडोल, रणथंभौर, जालौर और संचोर में उदित हुईं, जिनमें से सब-के-सब राजस्थान में स्थित थे। चौलुक्य या सोलंकी गुजरात तथा काठियावाड़ में केंद्रित थे। परमारों ने अपनी सत्ता मालवा में स्थापित की। उनकी राजधानी इंदौर के निकट धार में थी। उन्होंने शुरुआत राष्ट्रकूटों को अपना अधिपति मानने से की, लेकिन दसवीं सदी के अंत में उनसे स्वतंत्र हो गए और अगली सदी में भोज परमार के शासन-काल में उन्होंने अपनी शक्ति भली भांति प्रतिष्ठित कर ली।

राजपूत और सूर्यवंश अथवा चंद्रवंश से संबंधित होने का दावा करनेवाले अन्य लोगों ने पश्चिमी तथा मध्य भारत के विभिन्न हिस्सों में स्थानीय राजाओं के रूप

में अपनी-अपनी सत्ता स्थापित की। उनमें से एक थे चंदेल, जो दसवीं सदी में बुंदेलखंड में प्रमुखता की स्थिति में थे। दूसरे थे मेवाड़ के गुहिल, जिन्होंने अरबों के विरुद्ध आरंभिक लड़ाइयों में भाग लिया और जिन्होंने अपनी पूर्ववर्ती ब्राह्मण पहचान का त्याग करने सूर्यवंशी क्षत्रिय पहचान अपनाई। तीसरे थे तोमर। वे भी पहले प्रतीहारों के अधीन थे। उनका शासन हरियाणा क्षेत्र के ढिल्लिक–आधुनिक दिल्ली–इलाके में था। यह नगर उन्होंने 736 में बसाया था। बारहवीं सदी में चौहानों ने उन्हें उखाड़ फेंका। एक और परिवार, अर्थात् जबलपुर के निकट त्रिपुरी के कलचुरि भी आरंभ में प्रतीहारों के अधीन थे, लेकिन ग्यारहवीं सदी में अपने राजा कर्ण के अधीन उन्होंने स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा प्राप्त की।

प्रत्येक राज्य का ध्यान मुख्य रूप से उस प्रदेश पर केंद्रित होता था जिस पर संबंधित राजवंश प्रत्यक्ष रूप से शासन करता था। प्रत्येक राजवंश की शाखाएं या शाखाएं होने का दावा करनेवाले कुल पड़ोस के क्षेत्र में उभर आए। इसका एक स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि शाखावंशों या कुलों द्वारा शासित कुटुंबी जनों में भूमि का वितरण कर दिया जाता था और ये वंश या कुल कभी-कभी मुख्य राजवंश की ओर से शासन करते थे। इससे राजवंशीय नियंत्रण के लिए अधिक व्यापक शक्ति-आधार प्राप्त होता था। परंतु इस प्रणाली में यह खतरा मौजूद रहता था कि इस प्रकार के वंशजों को मूल राजवंश के वंशज होने का दावा करनेवाले अन्य लोग अपदस्थ कर दे सकते थे। कुलगत संबंधों को सुदृढ़ करने का एक उपाय वैवाहिक संबंध था और इसका सहारा आम तौर पर लिया जाता था। नौवीं सदी से किसी-किसी प्रदेश का जिक्र कभी-कभी चौरासी गांवों की मानी हुई इकाई के रूप में किया जाता था। संभव है, इस तरह की इकाई का संबंध नजराने या कर से होता हो और साथ ही यह वितरण की एक विधि भी रही हो। प्रत्येक इकाई में दुर्ग-रक्षित बस्तियां प्रशासनिक केंद्र तथा स्थानीय बाजार दोनों का काम करती थीं। भूमिदान देना या हमले करके प्रदेशों को जीतकर फिर उनका वितरण करना वांछित दर्जा प्राप्त करने में सहायक होता था।

वंशों के शाखाओं में विभाजित होने की अपनी अलग समस्याएं थीं। यद्यपि वे मुख्य वंश का ही नाम ग्रहण करते थे तथापि यह निश्चित नहीं था कि हर ऐसे मामले में वे मूल वंश के वास्तविक कुटुंब थे। खंडीय वंश प्रणालियां—और उनमें से अधिकांश इसी कोटि के थे–गैर-कुटुंबीय ढंग से संबंधित परिवारों को भी मुख्य वंश के खंड के रूप में अपने अंदर स्थान दे सकती थीं। यह जरूरी नहीं कि वंश जन्म के आधार पर ही संबंधित हों। परंतु मुख्य वंश और सहायक वंशों को आपस में तय की गई कौटुंबिकता कायम रखनी पड़ती है। *महाभारत*तथा *विष्णुपुराण*में बताए गए मूल चंद्रवंश के पूर्ववर्ती खंडीय वंशों पर दृष्टिपात करने पर भी यही तसवीर उभरती है। मूलवंश से उद्भूत इन वंशों ने फैलकर शाखा वंशों को अपने

अंदर खपा लिया। उन सबने एक ही पूर्वजता और एक ही कौटुंबिक संबंधों का दावा किया, लेकिन वंशावली की गहनता, नामों के स्वरूप तथा उनके बारे में कही गई कथाओं को देखते हुए ये संबंध संदिग्ध ही थे। राजपूतों के बीच शाखा वंशों के कभी-कभी एक-दूसरे से भिन्न उद्‌भव मिथक तथा पूर्वज-स्थितियां होती थीं। उनके स्थान और काल अलग-अलग होते थे। सेवा के एवज में भूमिदान और उससे भी स्थायी भूमिदान प्राप्त करनेवाले किसी उच्च पदस्थ अधिकारी का परिवार भी शासक परिवार से वंशगत संबंध का दावा कर सकता था और उस दावे का उपयोग अपनी सत्ता स्थापित करने के एक स्वीकार्य तरीके के तौर पर कर सकता था।

न केवल क्षत्रियत्व पर अधिक प्रबल आग्रह किया जा रहा था, बल्कि क्षत्रियत्व के एक विशेष वर्ग का आग्रह करना भी आवश्यक समझा जाता था। वह था राजपुत्र या राजपूत का विशेष वर्ग, जिसके आधार पर राजाओं से वांशिक संबंध का दावा किया जा सकता था। दोनों के बीच कुछ भेद का एहसास अवश्य रहा होगा। इस दर्जे का इस्तेमाल व्यापक रूप से किया जाता था, ख़ास तौर से उन क्षेत्रों में और उन लोगों के बीच जिनका राजतंत्र का या कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था का कोई लंबा इतिहास नहीं था। वैसे क्षेत्रों में और वैसे लोगों के बीच इस प्रकार के दर्जे का दावा विस्मययुक्त श्रद्धा को जन्म दे सकता था। फलतः उसका उपयोग राजस्थान तथा मध्य भारत के कई हिस्सों में किया गया। मालूम होता है, आरंभ में राजपूत राज्यों में संसाधनों पर नियंत्रण केंद्रीकृत नहीं था। अग्निकुल कथा मे वीरोचित कार्य संसाधनों पर अधिकार करने के लिए राक्षसों के विरुद्ध किया गया युद्ध नहीं, बल्कि मुनि के लिए कामधेनु को वापस लाना था। कार्यविधियां सुपरिचित थीं-भूमिदान देना, ब्राह्मणों की बस्तियां बसाना, कृषि से प्राप्त राजस्व तथा व्यापारिक तंत्रों की व्यवस्था करना और दरबार में सांस्कृतिक संस्कृति को प्रतिष्ठित करना। इन सब कार्यों को संपादित करना था। यह सिलसिला ख़ास तौर से उन क्षेत्रों में उभरकर सामने आया जो अपेक्षाकृत अलग-थलग पड़े हुए थे लेकिन अब जिनके द्वार राज्यों के विकास के लिए खुल गए थे।

नई बस्तियों का सृजन

नई बस्तियों का सृजन या पहले से मौजूद बस्तियों पर नियंत्रण स्थापित करना आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता कायम रखने की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण था। इस प्रयत्न में अन्य राज्यों या आटविक (वनवासी) राजाओं के प्रदेशों को जीतकर उन्हें अपने राज्य में मिला लेना भी शामिल था। हमेशा की तरह युद्ध और सैनिक अभियान प्रादेशिक विस्तार तथा लूट के माल से आय की अभिवृद्धि करने के लिए आवश्यक बने रहे। वनवासी सरदारों को पराजित करके उनके समाजों को विजेताओं के समाज का अनुकरण करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। माना जाता है कि इसके लिए

उन लोगों को क्रमिक रूप से प्रभावित करने के तरीके से काम लिया जाता था, लेकिन कुछ हद तक ज़बरदस्ती का भी सहारा लिया जाता था। इस अनुकरण का मतलब था उन्हें जाति-व्यवस्था में शामिल करना। सरदारों के परिवारों को क्षत्रिय का दर्जा दे दिया जाता था या यदि वे काफी महत्वपूर्ण होते थे तो उन्हें वैवाहिक संबंध के द्वारा कोई वंशगत स्थिति भी प्रदान कर दी जाती थी। लेकिन उसके कबीले के शेष लोगों को अलग-अलग शूद्र जातियों का दर्जा दे दिया जाता था। पेशों में भी बदलाव हो सकते थे। भूतपूर्व सरदारों को प्रशासनिक व्यवस्था में शामिल कर लिया जा सकता था और बाकी लोग नए-नए साफ किए गए इलाकों में कृषि-कर्म में लग सकते थे, हालांकि कुलों की पहचान उनकी कुलदेवियों से भी जुड़ी होती थी, जिनके मूल अकसर बहुत पहले की आकृति-विहीन देवियों में समाए हुए होते थे। विभिन्न राजवंशों तथा केंद्रों द्वारा अपनाए गए रूपों के संदर्भ में जो धार्मिक विश्वास तथा आचरण विकसित हो रहे थे या पौराणिक धर्म में समाविष्ट किए जा रहे थे उन पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी क्षेत्र के अनेक समाज किस प्रकार एक-दूसरे में रच-पच रहे थे।

उपर्युक्त प्रक्रिया के लिए कभी-कभी जन से जाति की ओर संक्रमण मुहावरे का प्रयोग किया जाता है। भारतीय समाज तथा संस्कृति की रचना में आरंभ से ही यह एक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर प्रक्रिया रही है। विभिन्न प्रकार के स्रोतों तथा उनमें संचित विशद सूचना की उपलब्धता के कारण इस काल में इस तरह की प्रक्रियाएं अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। पूर्ववर्ती काल के एक विभेदीकरण के अनुसार, ग्राम अथवा क्षेत्र अर्थात् बस्तियोंवाले इलाके और अरण्य या वन, अर्थात् राक्षसों से बसे अज्ञात जंगल के बीच अंतर था। जब वन लाभ उठाए जाने योगय क्षेत्र बन गए—चाहे वह उनके लकड़ी तथा हाथी जैसे उत्पादों का संग्रह करके हो या उन्हें साफ करके उनमें खेती-बारी आरंभ करके हो—तो राक्षसों का भय धीरे-धीरे मिट गया। इसके फलस्वरूप राज्य के प्रशासन का संपर्क उन वनवासी लोगों से बढ़ा जो मुख्य रूप से आखेट या खाद्य-संग्रहक, झुम खेतिहर, पशुचारक या बागबान थे अथवा पहले ऐसे रहे थे। जब नई बस्तियां बसानेवाले लोग संसाधनों की तलाश में वहां पहुंचे तो इन्हीं समूहों को या तो वशवर्ती बनाया गया या अपने सांचे में ढाल लिया गया। पांचवीं और छठी सदियों के अभिलेखों में दिखाई देनेवाली वह पूर्ववर्ती परंपरा कामय रही जिसके अनुसार बहुधा 'व्याघ्रराज' की उपयुक्त संज्ञा से अभिहित वनवासी सरदार राजवंशों के संस्थापक बन गए। कुछ राजवंशों ने यह दावा भी किया कि उनके संस्थापक ब्राह्मण थे और उनकी सत्ता वनांचलीय राज्यों पर विजय के फलस्वरूप प्रतिष्ठित हुई। अब उन्हें सिंचाई के लिए तालाब खुदवाने थे और पर्वतीय प्रवाहों के जल को रोकने के लिए बांध बनवाने थे, मंदिरों का अनुरक्षण करना था और ब्राह्मणों की सेवाओं का उपयोग करना था। इस सबके बाद ही वे क्षत्रिय होने का

दावा कर सकते थे। उस काल के साहित्य में कभी-कभी इस परिवर्तन की छवियां प्रतिबिंबित हुईं।

किसी राजवंश की स्थापना एक सुपरिचित पद्धति के अनुसार होती थी। सामंत अपने अधिपति के विरुद्ध विद्रोह कर देता था और अपनी सफलता की घोषणा कर देता था। सामंत की स्थिति निम्नलिखित परिस्थितियों में से किसी से भी उद्‌भूत हो सकती थी : राजा द्वारा अन्य राजा या सरदार को जीत कर उसे अधीनस्थ राजा या सरदार के पद पर फिर से प्रतिष्ठित कर देना या प्रशासनिक अधिकारों के साथ किसी को भूमिदान देना, जिसे आधार बनाकर ग्रहीता या उसके वंशज द्वारा और भी इलाकों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेना और किसी प्रतिष्ठित परिवार में विवाह करके अपने नए दर्जे की घोषणा कर देना; या पहले से ही शासनाधिकार-प्राप्त किसी शाखा वंश द्वारा स्वतंत्रता की घोषणा कर देना। प्रशासनिक पद सत्ता हस्तगत करने का एक जाना-माना मार्ग था। अधीनस्थ राजाओं को बदला नहीं जा सकता था, लेकिन प्रशासनिक पद पर नियुक्ति के सिलसिले में अधिकारी का दर्जा तय कर दिया जाता था और यह नियुक्त व्यक्ति को प्रशासनिक सोपान के अंदर रखने का उपाय था। इन कार्यविधियों की व्यावहारिकता सत्ता के व्यावहारिक रूप पर नाजुक नियंत्रण तथा सामंजस्य की अपेक्षा रखती थी। इस सामंजस्य का एक पहलू राजदरबार द्वारा अपेक्षित जटिल अदब-कायदों में प्रसंगानुसार फेरबदल करना था।

बहुत सारे भूमिदान देने का मतलब राजस्व की क्षति था। दान के साथ किसी हद तक प्रशासनिक विकेंद्रीकरण किया जाता था। उसका मुआवजा शायद ग्रामीण क्षेत्रों में बिखरे पड़े वफादार ग्रहीताओं द्वारा कम-से-कम तब तक दिए जानेवाले समर्थन का फैला जाल था जब तक कि ग्रहीता दाता से टूटकर अलग नहीं हो जाता था। कुछ क्षेत्रों में भूमिदान का मतलब कृषि-आधार का विस्तार होता था। यह विस्तार या तो जिन ज़मीनों में पहले खेती हो रही होती थी उनमें कृषि-कर्म में सघनता लाकर या नए क्षेत्रों में कृषि-कर्म आरंभ करके किया जाता था। भूस्वामियों की पहल पर सिंचाई की प्रणालियां स्थापित की जाती थी। जहां ये प्रणालियां विशाल और जटिल होती थीं वहां राज्य मदद दे सकता था। विचित्र विडंबना है कि सिंचाई तंत्र की ओर राज्य ने राजनीतिक नियंत्रण के साथ ध्यान देना आरंभ किया और वह नियंत्रण और चाहे जैसा रहा हो, निरंकुशतापूर्ण तो कतई नहीं था। पैदावार में बढ़ोतरी होने से विनिमय केंद्रों तथा बाजारों को बढ़ावा मिलता था, जिससे व्यापार की अभिवृद्धि होती थी। जो ग्रहीता वनांचलों में जा बसते थे वे अकसर वहां खेती-बारी आदि के प्रवर्तक होते थे और अन्य क्षेत्रों में वे राजा की आंख और कान का काम कर सकते थे। शाही दान से बनवाए गए बड़े-बड़े मंदिर राजसत्ता के अन्य प्रचारक हो गए।

वीरगलों अर्थात् वीर पुरुषों तथा स्त्रियों की स्मृति में स्थापित पत्थरों के स्मारकों की संख्या की अधिकता को देखते हुए लगता है कि प्रशासन में काफी स्थानीयता थी और किसी गांव अथवा उसके पशुओं की रक्षा का काम गांव पर ही छोड़ दिया जाता था। इसमें स्थान-स्थान के अनुसार अंतर होता होगा। उदाहरण के लिए, सौराष्ट्र / काठियावाड़ में स्थानीय वीर नायकों पर शायद बहुत अधिक निर्भरता थी। जहां लड़ाइयां लड़ी जाती थीं वहां बेशक योद्धाओं की स्मृति को स्थायित्व प्रदान करनेवाले वीरगलों की अधिकता होगी। पशु-हरणों से लगता है कि पशुचारण अब भी एक आर्थिक कार्यकलाप बना हुआ था, जो ऐसे क्षेत्रों में शायद एक सहायक गतिविधि था जिन्हें कृषि-क्षेत्र कहा गया है। बारहवीं सदी से राजस्थान तथा गुजरात के कुछ हिस्सों में वीरगल एवं सती स्मारक अधिक आम हो गए, यद्यपि उनमें से बहुतों का संबंध बाजब्ता किए गए युद्धों से था। पत्थरों पर या तो वीर पुरुष की आकृति औपचारिक रूप में तक्षित की जाती थी या उस लड़ाई का चित्रण किया जाता था जिसमें उसने वीरगति प्राप्त की। शैली की दृष्टि से वे प्रायद्वीप के वीरगलों से भिन्न थे और हमेशा पटों (पेनलों) में विभाजित नहीं होते थे। कुछ तो मोटे चौपहले स्तंभ के आकार के थे और कुछ खड़े शिलापट्ट थे, जिन्हें गुजरात में पलिया कहा जाता था। कहीं-कहीं ऊंट की आकृति देखने को मिलती है, जो किसी व्यापारी के ऊंटों के कारवां का द्योतक हो सकता है। राजस्थान में शिलाओं पर अंकित अभिलेखों में कभी-कभी नामों के भी उल्लेख होते थे और कुछ में घटना की तिथि का जिक्र होता था। एक राय यह है कि उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में इस तरह के स्मारक वनवासियों द्वारा प्रयुक्त ऐसे ही स्मारकों से विकसित हुए हैं और महापाषाण समाजों द्वारा प्रयुक्त मेनहिरों अर्थात् सीधे खड़े पाषाणों के मूल के बारे में भी ऐसा ही कहा जाता है।

वीरगल से ही जुड़ा हुआ था सती स्मारक। आम तौर पर यह एक शिलापट्ट हुआ करता था, जिसमें सती का सामान्य प्रतीक तक्षित होता था—चूड़ियों से युक्त दाहिनी भुजा उसके विवाह के जारी रहने का प्रतीक था, हथेली पर अशुभ-निवारक नींबू रखा होता था और इनके अलावा कुछ और भी छोटे-मोटे प्रतीक होते थे। चिरन्तनता के प्रतीक सूर्य और चंद्रमा उसी तरह चित्रित किए जाते थे जैसे वीरगलों पर। यह आनुष्ठानिक मृत्यु मूलतः युद्ध में वीरगति को प्राप्त क्षत्रिय की क्षत्राणी पत्नी के लिए विहित की गई थी, लेकिन बाद में अन्य जातियों ने भी उसे अपना लिया और उसे व्यापक स्वीकृति प्राप्त हुई, जिसने अंत में सती को देवी का रूप दे दिया। सौराष्ट्र के विधवान नामक स्थान में सती स्मारकों तथा वीरगलों से घिरे एक प्रांगण में बने एक मंदिर में इस प्रकार की दैवीकृत सती की पूजा इसी काल से चल रही है।

वीरगल तथा सती-पाषाण मुख्य रूप से स्मारक थे, लेकिन प्रतिष्ठा तथा आय

की प्राप्ति की महत्वाकांक्षा के लिए वे एक प्रतीक का भी काम कर सकते थे। प्रायद्वीप में बहुधा ऐसा ही होता था। वीरों तथा सतियों के परिवार उच्च वर्णगत स्थिति का दावा करते थे और राजाओं से कुछ आर्थिक लाभ की भी मांग करते थे। वीर पुरुष की मृत्यु लुटेरों के खिलाफ युद्ध में या गांव अथवा पशुओं की रक्षा करते हुए अथवा आत्म-रक्षा में होती थी, लेकिन सती की मृत्यु एक पूर्वचिंतित कृत्य थी। बेशक, यह इस बात पर तो एक टिप्पणी थी ही कि इन समाजों में ऊंची जातियों की स्त्रियों से क्या अपेक्षा रखी जाती थी। वैसे निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह कृत्य हमेशा स्वैच्छिक ही होता था या इसके पीछे सती के परिवार के लोगों द्वारा भौतिक लाभ उठाने की मंशा होती थी। अधिकतर वीरगलों को वे जहां थे वहीं रहने दिया गया। लेकिन कुछ को मंदिरों के अहातों में पुनर्प्रतिष्ठित कर दिया गया।, जिससे स्मरणीय पुरुषों की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि हुई और कुछ को तो पूजा भी जाने लगा। मंदिर और पूजा का मतलब था दान-अनुदान और चढ़ावा, और दैवीकरण तो था ही।

मध्य एशियाई हस्तक्षेप

उत्तरी भारत कुछ काल के लिए अपनी पश्चिमोत्तर सीमा के पार से होनेवाले आक्रमणों से मुक्त रहा। जब हूण भारतीय समाज की एक प्रतिष्ठित जाति बन गए तो उनके आक्रमण का प्रभाव धीरे-धीरे मिटता चला गया। अरबों की बढ़त को रोक दिया गया था। कुछ काल के लिए उत्तरी भारत की सैनिक हलचलों और युद्धों का स्वरूप आंतरिक हो गया। अविश्रांत सैनिक अभियानों ने प्रत्येक राजवंश के कोष को खाली और शक्ति को क्षीण कर दिया; और विजय केवल प्रतिष्ठा के दावे की द्योतक बनकर रह गई। अधिपति शक्ति से टूटकर अलग होने का मतलब अपनी आज़ादी कायम रखने के लिए सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करते रहना था। स्थानीय मामलों में उलझाव के कारण बाहरी दुनिया से संपर्क और भी सीमित हो गया। राजनीति अधिकाधिक परिमाण में स्थानीय राजनीतिक घटनाओं से उद्भूत होती थी और उसका रूप स्थानीय सरोकारों से तय होता था। इस स्थिति में ग्यारहवीं सदी में बाधा पड़ी। उपमहाद्वीप के सैनिक अभियानों में सबसे गंभीर पूर्वी तट के समानांतर राजेंद्र चोल के अभियान थे। उसकी सेना उत्तर में गंगा-तट तक पहुंच गई। उपमहाद्वीप के बाहर से मदमूद गजनबी ने पश्चिमोत्तर भारत पर हमले शुरू कर दिए। एक दूसरे से बिलकुल बेखबर था, जो इस कारण से विचित्र लगता है कि अब समाचारों का संचार पहले की अपेक्षा बहुत अधिक हो रहा था और महमूद के हमले दो दशकों से अधिक काल तक जारी रहे। दक्षिण भारत के व्यापार से जुड़े स्थानों के अभिलेखगत उल्लेखों से संचार का संकेत मिलता है।

फारस-विजय के फलस्वरूप अरब लोग उत्तर में आमूदरिया क्षेत्र तक पहुंच गए थे, जहां तुर्कों की बढ़त पर रोक लगाने के लिए उन्होंने सीमावर्ती चौकियां स्थापित कर दी थीं। इन बस्तियों से तुर्कों को मुसलमान बनाने में मदद मिली, हालांकि उस क्षेत्र में अरबों की शक्ति क्षीण हुई। आरंभ में धर्मांतरण की प्रक्रिया धीरे-धीरे चली, क्योंकि तुर्क बौद्ध धर्म के समर्थक थे और इसी प्रकार तरह-तरह के मध्य एशियाई शामनी धर्मों में उनका विश्वास था। इसलाम में और ख़ासकर सुन्नी इसलाम में उनका धर्मांतरण ठीक उसी दौर में हुआ जब वे शक्तिशाली राज्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। पश्चिम एशिया में इसलाम के शक्तिशाली होने से उनके इस प्रयत्न को वैधता प्राप्त हुई। मालूम होता है, मध्य एशिया में राजनीति तथा धर्म का इतिहास इसलाम को शक्ति की एक विचारधारा के रूप में प्रयोग करते तुर्कों तथा इसी कारण से दूसरों द्वारा उनके खिलाफ खड़े किए गए विरोध के बीच से होकर आगे बढ़ा। धीरे-धीरे तुर्क लोग उन क्षेत्रों में अपना वर्चस्व स्थापित करने में सफल हो गए जो तब इसलामी दुनिया के पूर्वी क्षेत्र थे। इसलाम को और भी समर्थन रेशम मार्ग के पश्चिमी हिस्से के समानांतर बसे नखलिस्तानी शहरों के अभिजनों के धर्मांतरण से मिला। अब इसलाम वही भूमिका निभा रहा था जो कभी बौद्ध धर्म ने निभाई थी, यद्यपि कुछ क्षेत्रों में बौद्ध धर्म अब भी गौण स्थिति में कायम रहा। बौद्धों के अतिरिक्त, ईरान से निर्वासित कुछेक जर्थुस्त्री समुदाय भी मध्य एशिया में तथा चीन की सीमा पर बस गए थे, जिनका धंधा निस्संदेह व्यापार था। मध्य एशिया में यहूदी व्यापारियों के आगमन के भी प्रमाण मिलते हैं। नौवीं सदी में वे मुख्य रूप से भूमध्य सागरीय व्यापार में लगे हुए थे और उसी दौर में उन्होंने दक्षिण भारत से भी व्यापारिक संबंध विकसित किए थे।

शुरुआत तुर्क मूल के अनेक छोटे-छोटे राज्यों के उदय से होती है। उन्हीं में से एक वह था जिस पर गजनी से शासन किया जाता था और जिसने महमूद के अधीन प्रसिद्धि प्राप्त की। अफगानिस्तान के इस छोटे राज्य गजनी को 977 में ख्याति प्राप्त हुई जब एक तुर्क सरदार ने शाहिय राज्य के सिंधु के आर-पार के प्रदेशों तथा मध्य एशिया के निकटवर्ती इलाकों को गजनवी राज्य में मिला लिया। उसके बेटे महमूद ने गजनी को मध्य एशिया की राजनीति तथा इसलामी और विशेषत: पूर्वी इसलामी संसार की एक दुर्धर्ष शक्ति बनाने का संकल्प किया। महमूद की महत्वाकांक्षा इसलाम का ध्वजधारी घोषित किए जाने की थी और इसमें वह सफल रहा। उसके लिए भारत असाधारण रूप से धनाढ्य देश था और हिंदूकुश की वीरानियों के परिप्रेक्ष्य में वह हमेशा संपन्न और आकर्षक लगता रहा था। हिंदू मंदिरों पर किए गए उसके आक्रमणों से उसे भरपूर धन मिला और मूर्तिभंजक होने की ख्याति भी। इन प्रयत्नों में उसकी सफलता की कुछ पड़ताल की आवश्यकता है।

कृषक समाजों के सहायक तत्वों के रूप में पशुचारक समाज बहुधा भारतीय

इतिहास के लिए महत्वपूर्ण रहे हैं और दोनों के बीच चलनेवाले आदान-प्रदान से ऐतिहासिक परिवर्तन को बढ़ावा मिला है। मध्य एशिया की तरह अफगानिस्तान में भी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं तथा विभिन्न प्रकार के विनिमय से लाभ अर्जित करने के प्रलोभन ने पशुचारकों को व्यापार की ओर उन्मुख होने और साथ ही पशुचारक समाजों को सैनिक ताकतों में बदल देने के लिए प्रोत्साहित किया। उत्तर भारत में मध्य एशियाई हस्तक्षेप का रूप सामान्यतः यही रहा है। तुर्कों के आगमन के साथ उसकी पुनरावृत्ति हुई। सदियों के व्यापार ने दोनों क्षेत्रों को एक-दूसरे से अधिकाधिक परिचित कराया था और दोनों जिन सांस्कृतिक रूपों में भागीदार थे-जैसे बौद्ध धर्म से संबंधित सांस्कृतिक रूपों में-उनमें से कुछ को तुर्कों के मुसलमान बन जाने पर हाशिए पर डाल दिया गया। तथापि वे एक-दूसरे से अपरिचित लोग नहीं थे।

भारत आनेवाले अरब यात्रियों ने प्रतीहारों और उनकी विशाल सेना के बारे में लिखा और राष्ट्रकूटों को विश्व के महान् राजाओं के बीच शुमार किया। इस प्रकार के वर्णन पश्चिमोत्तर सीमाओं से बाहर के लोगों के लिए शायद उत्तेजक सिद्ध हुए होंगे। इस दौर में अफगानिस्तान की राजनीति भारत की अपेक्षा मध्य एशिया से अधिक निकटता से जुड़ी हुई थी और महमूद की दृष्टि में भारत पर आक्रमण मुख्य रूप से धन की प्राप्ति के लिए किए गए हमले थे, लेकिन उनका कोई स्थायी महत्व नहीं था। इस प्रकार वे अरबों के आक्रमण से भिन्न थे, जो अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से भारत में पैर जमाने के प्रयत्न की शुरुआत था और जिसका उद्देश्य स्थानीय अर्थव्यवस्था में भागीदारी करना था। अरबों तथा तुर्कों को भारतीय समान दृष्टि से नहीं देखते थे। दोनों के प्रति शत्रुता और सहनशीलता का परिमाण समान नहीं था। जिन विभिन्न समाजों के बीच इतर विश्वासों और रीति-रिवाजों वाले लोगों की बस्तियां बस गई थीं उनमें किस प्रकार के संशेधन आवश्यक हो गए थे और साथ ही जब बाहर से आए लोग भारत के विभिन्न भागों में बस गए तब उन्हें किन परिवर्तनों के लिए गुंजाइश करनी पड़ी, इस विषय की छानबीन करना एक योग्य प्रयास होगा। इन समाजों में से प्रत्येक की संरचना में कुछ परिवर्तन हुए होंगे। पूर्ववर्ती काल के देशांतरणकारियों के संदर्भ में भी ऐसा ही हुआ था।

चीन और भूमध्य सागर क्षेत्र के बीच व्यापार के लगातार जारी रहने के कारण ख्वारिज्म और तुर्किस्तान में राजनीतिक सत्ता पर आरूढ़ रहना उत्तरी भारत में पैर फैलाने से बहुत अधिक लाभदायक था और गजनवियों ने लाभ का ही रास्ता अपनाया। सो गजनवी राज्य में मध्य एशिया तथा ईरान के कुछ हिस्से शामिल थे और उसे पौर्वात्य इसलाम की एक शक्ति माना जाता था। महमूद भारत पर हमला करने के बाद अद्भुत तीव्रता से मध्य एशिया में लोहा लेने के लिए लौट जाता था। धार्मिक प्रयोजन से मूर्तिभंजन करने के अलावा भारतीय शहरों पर उसके हमले मुख्य रूप से लूटपाट के लिए होते थे, ताकि वह अपने गजनी के खजाने को भरा रख सके।

ये हमले लगभग एक सालाना सिलसिला बन गए थे। 1000 ई. में उसने शाहिय राजा जयपाल को हराया। अगले साल वह गजनी के दक्षिण सेइस्तान में युद्ध कर रहा था। 1004-6 में उसने मुल्तान पर बार-बार हमला किया। यह मध्य सैंधव मैदान का एक रणनीतिक महत्व का शहर था और उधर से सिंध में प्रवेश किया जा सकता था। मुल्तान फारस की खाड़ी और पश्चिमी भारत के बीच चलनेवाले व्यापार से भी जुड़ा एक महत्वपूर्ण केंद्र था। व्यापारियों से धन-धान्य प्राप्त करनेवाला मार्त्तंड मंदिर महमूद को संपत्ति के आगार जैसा लगा। शहर में धनाढ्य शिया मुसलमानों द्वारा अनुरक्षित मसजिद भी महमूद का कोप-भाजन बनी, क्योंकि वह शियाओं और इस्माइलियों को भ्रष्ट मुसलमान मानता था। उसके द्वारा मचाई गई विनाश-लीला के वर्णनों में 50,000 काफिरों और उतने ही भ्रष्ट मुसलमानों के मारे जाने के उल्लेख मिलते हैं, यद्यपि ये अंक शायद रिवाजी हैं और बहुधा इनकी पुनरावृत्ति की गई है।

सन् 1008 में महमूद ने पंजाब पर फिर आक्रमण किया और भारी परिमाण में लूट का माल लेकर स्वदेश लौटा। अगले साल उसने गोर (अफगानिस्तान में गजनी और हेरात के बीच का क्षेत्र) के शासक से दो-दो हाथ किया। जाहिर है कि उसकी सेना में गति भी थी और शक्ति भी, अन्यथा विभिन्न क्षेत्रों में साल-दर-साल किए जानेवाले आक्रमण सफल नहीं होते। वह अपने अभियानों की योजना बहुत सावधानी से बनाता था, जिससे उसकी सेना फसलों की कटाई के समय भारत पहुंच जाती थी और बरसात शुरू होने से काफी पहले लौट जाती थी। महमूद सबसे संपन्न मंदिरों को अपना शिकार बनाता था, जिन्हें लूटने से उसे एक ओर तो भरपूर लूट का माल मिलता था और दूसरी ओर ध्वजधारी मूर्तिभंजक के रूप में प्रसिद्धि। हिंदू राजाओं के हाथों भी मंदिरों का विनाश अनसुना नहीं था, लेकिन महमूद के इस कार्य के पीछे एक योजना थी और उसने पहले की अपेक्षा बहुत अधिक संख्या में मंदिरों को नष्ट करना आरंभ कर दिया।

राजाओं और उनके परिजनों द्वारा दिए गए दानों से बने मंदिरों का खर्चा उनकी जायदादों से होनेवाली आय और अनुदानों से चलता था। गिरजाघरों और मसजिदों की तरह वे भी अनेक प्रयोजन सिद्ध करते थे। मंदिर मुख्य रूप से धार्मिक कृत्यों तथा श्रद्धा-भक्ति के स्थान थे, ख़ासकर तब जब उनका निर्माण किसी धार्मिक संप्रदाय या देवी-देवता के लिए किया जाता था। लेकिन अक्सर वे अन्य भूमिकाएं भी निभाते थे। वे अपने संरक्षकों की शक्ति की अभिव्यक्ति होते थे। उनसे प्रकट होता था कि उनके संरक्षक कितने अधिक उदार हैं और मंदिर में आनेवालों में ऐसी अनुभूति जगाना उद्दिष्ट होता था। इसलिए कभी-कभी मंदिर का नाश करके लोगों के मन पर उसके निर्माता पर प्राप्त की गई विजय की छाप डालने की कोशिश की जाती थी। उदाहरण के लिए, जब राष्ट्रकूट राजा तृतीय इंद्र ने नौवीं सदी के

पूर्वार्ध में प्रतीहारों को पराजित किया तो कल्प के प्रतीहार मंदिर को तोड़कर उसने लोगों को अपनी विजय का एहसास कराने की कोशिश की। चौलुक्यों को परास्त करने के बाद मालवा के परमार राजा सुभटवर्मा ने चौलुक्यों द्वारा जैनों के लिए बनवाए गए मंदिरों तथा अरबों के लिए बनवाई गई मसजिद को तोड़ दिया। जैन तथा अरब अच्छी हैसियत के व्यापारी थे, इसलिए चौलुक्यों ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया था।

मंदिरों के पास आमदनी के अपने जरिए थे, जिनमें उनकी ज़मीनों और अनुदानों से प्राप्त राजस्व, धनाढ्य दाताओं द्वारा दान किया गया सोना और मूल्यवान रत्न तथा हजारों तीर्थयात्रियों द्वारा अर्पित चढ़ावे शामिल थे। इन सबको मिलाकर अच्छी-ख़ासी रकम खड़ी हो जाती थी। कुछ मंदिर व्यापार में निवेश करते थे, जिससे प्राप्त मुनाफे मंदिरों के खजानों में जाते थे। इसलिए स्वभावत: लालची राजा उन पर हाथ साफ करते थे। कल्हण ने इस काल के कश्मीर के राजाओं के बारे में लिखा है कि वे मंदिरों को लूटते थे और उनमें से हर्षदेव नामक एक राजा ने इस कुकृत्य की निगरानी के लिए एक अधिकारी भी नियुक्त किया। कल्हण ने उसके लिए 'तुरुष्क' उपनाम का प्रयोग किया है। इससे पता चलता है कि हिंदू राजाओं द्वारा मंदिरों को लूटने के कृत्य की जानकारी लोगों को थी और उसे लिपिबद्ध भी किया जाता था, लेकिन ऐसे कृत्यों को तुरुष्कों की प्रवृत्ति अधिक माना जाता था। महमूद के हमलों से क्षोभ तो पैदा हुआ होगा, लेकिन वह कोई नया अनुभव नहीं था। यह बात सोमनाथ मंदिर की लूट के बाद के उसके इतिहास से उभरती है।

महमूद की सोने की भूख कभी तृप्त नहीं होती थी। इसलिए उसके हमलों का रुख मंदिरों के लिए प्रसिद्ध प्रमुख नगरों, जैसे मथुरा, थानेसर, कन्नौज और सोमनाथ की ओर था। सोमनाथ में संचित धन की बहुत प्रसिद्धि थी, इसलिए महमूद का उस पर आक्रमण करना अवश्यंभावी था। धन की इच्छा के साथ धार्मिक प्रेरणा भी थी, क्योंकि मूर्ति-भंजन इसलाम के कुछ अनुयायियों की दृष्टि से पुण्य का कार्य था। मंदिर में दर्शनार्थ आनेवाले लोगों से लिए जानेवाले शुल्कों से सोमनाथ को भारी आमदनी होती थी। उस पैसे को अविवेकी स्थानीय राजा कभी-कभी जब्रन् हथिया लेते थे, स्थानीय अभिलेखों से ऐसा मालूम होता है। इसे रोकना चौलुक्य प्रशासन के लिए एक बड़ा सिरदर्द था। अरब स्रोतों से मालूम होता है कि मंदिर व्यापारिक निवेशों से मुनाफा कमाते थे ओर सोमनाथ व्यापारिक दृष्टि से सक्रिय वेरावल बंदरगाह के निकट पड़ता था। इस व्यापार में सबसे अधिक लाभदायक घोड़ों का आयात था। उससे आयतकों को भी लाभ होता था और जो लोग आगे देश के अंदरूनी हिस्सों में बेचने के लिए उन्हें खरीदते थे उन्हें भी। सोमनाथ पर आक्रमण करने के महमूद के संकल्प का एक अतिरिक्त कारण शायद अरब व्यापारियों द्वारा घोड़ों के आयात को कम करना रहा होगा। इससे गजनी के व्यापारियों को लाभ होता, जो पश्चिमोत्तर भारत में घोड़ों का आयात करते थे, जिसका उल्लेख अभिलेखों

में हुआ है।

सन् 1026 में महमूद ने सोमनाथ पर हमला किया, मंदिर को भ्रष्ट किया और मूर्ति को तोड़ दिया। इस घटना का वर्णन तुर्क-फ़ारसी और अरब स्रोतों में किया गया है, जिनमें से कुछ समकालीन हैं (उनके लेखक कहते हैं कि वे महमूद के साथ वहां गए थे) और कुछ बाद के काल के हैं। इन इतिहासों में सत्रहवीं सदी तक इस कथा को बार-बार दोहराया जाता रहा। सबसे यथार्थ विवरण अलबरूनी का मालूम होता है। उसका कहना है कि प्रतिमा लिंग की थी, मंदिर कोई सौ साल पुराना था और समुद्र के ऐन किनारे पर बने एक किले से घिरा हुआ था एवं नाविक उसमें बहुत श्रद्धा रखते थे, क्योंकि वेरावल का जंजीवार और चीन से समुद्री मार्ग से संबंध था। लेकिन अन्य विवरणों में प्रतिमा के बारे में मतैक्य नहीं है। इस घटना के पूर्ववर्ती वर्णनों में उसे मनात की प्रतिमा बताया गया है, जो दक्षिणी अरब की एक प्राक्-इसलामी देवी थी और मुहम्मद चाहते थे कि उसके पूजन-स्थल को नष्ट कर दिया जाए तथा प्रतिमा को तोड़ दिया जाए। अन्य लेखकों का कहना है कि वह एक लिंग था। और कुछ यह भी कहते हैं कि वह आभूषणों से लदी एक मानववत् आकृति थी। धीरे-धीरे उस मंदिर तथा प्रतिमा को केंद्र बनाकर एक मिथकशास्त्र की रचना कर दी गई, जिसमें अलग-अलग प्रकार के वर्णन थे। एक अरब स्रोत से प्राप्त तेरहवीं सदी के एक वर्णन में एक और भी अलग तरह की कहानी पेश की गई है, जिसमें मंदिर और प्रतिमा को कल्पना की और भी ऊंची उड़ानों में आवेष्ठित कर दिया गया, जिसका उद्देश्य शायद पाठक पर अधिक प्रभाव डालने का है। वर्णन इस प्रकार है :

सोमनाथ—भारत का एक प्रसिद्ध नगर, समुद्र-तट पर स्थित, सागर की लहरों से प्रक्षालित। उस स्थान के अचरजों में वह मंदिर था जिसमें सोमनाथ कहलानेवाली प्रतिमा प्रतिष्ठित थी। यह प्रतिमा मंदिर के मध्य में थी, जिसे नीचे से सहारा देनेवाला कोई आधार या ऊपर से लटकानेवाली कोई चीज नहीं थी। हिंदू उसे अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखत थे और जो भी उसे हवा में तैरते देखता था वह विस्मित रह जाता था, चाहे वह मुसलमान हो या काफिर। जब कभी चंद्रग्रहण लगता था तब हिंदू वहां की तीर्थयात्रा करते थे और फिर लाख से अधिक की संख्या में एकत्र होते थे। वे मानते थे कि मनुष्यों की आत्माएं शरीर से अलग होने के बाद वहां मिलती थीं और वह प्रतिमा अपनी इच्छानुसार उनके संसरण के सिद्धांत के मुताबिक उन्हें अन्य शरीरों में समाविष्ट कर देती थी। ज्वार-भाटे को समुद्र द्वारा उस प्रतिमा की की जानेवाली पूजा माना जाता था। चढ़ाने के लिए वहां हर प्रकार की अत्यधिक मूल्यवान वस्तु लाई जाती थी और मंदिर के पास अनुदान में प्राप्त दस हजार से अधिक गांव थे। एक नदी है (अर्थात् गंगा), जिसे पवित्र माना जाता है। उस नदी से सोमनाथ की दूरी दो सौ परासंग है। उस नदी का पानी हर दिन सोमनाथ लाया जाता था और उससे मंदिर को धोया जाता था। हजार ब्राह्मण प्रतिमा की पूजा के लिए और आगंतुकों की देख-रेख के लिए नियोजित

थे और द्वार पर पांच सौ सुंदरियां नृत्य करती थीं–इन सबका खर्च मंदिर को प्राप्त अनुदानों से चलता था। इमारत रांगे से मढ़े सागवान के छप्पन स्तंभों पर बनी हुई थी। प्रतिमा का गर्भगृह अंधेरा था, लेकिन अत्यंत मूल्यवान सौ आभूषित फानूसों से उसे प्रकाशित किया जाता था। उसके निकट सोने की एक शृंखला थी, जिसका वजन सौ मन था। जब रात का कुछ हिस्सा बीत जाता था तब इस शृंखला को घंटों की तरह हिलाकर ब्राह्मणों के एक और समूह को पूजा के लिए जगाया जाता था। जब सुलतान भारत के खिलाफ जिहाद करने गया तब उसने यह आशा करते हुए कि हिंदू मुसलमान बन जाएंगे, सोमनाथ पर अधिकार करके उसे नष्ट करने की जबरदस्त कोशिश की। वह वहां...(दिसंबर, 1025 ई.)...के मध्य में पहुंचा। भारतीयों ने प्रबल प्रतिरोध किया। वे रोते-चिल्लाते सहायता के लिए मंदिर के अंदर जाते थे और तब बाहर आकर जूझने लगते थे। इस तरह सभी मारे गए। मारे गए लोगों की संख्या 50,000 से अधिक थी। सुलतान ने प्रतिमा को चकित भाव से देखा और लूट के माल को समेट लेने तथा खजानों पर काबू कर लेने का आदेश दिया। सोने और चांदी की बहुत-सी प्रतिमाएं थीं और रत्न-जड़ित बरतन थे, जो भारत के बड़े से बड़े व्यक्तियों ने वहां भेजे थे। मंदिर से प्राप्त वस्तुओं तथा प्रतिमाओं का मूल्य बीस हजार दीनार से अधिक था। जब सुलतान ने अपने साथियों से पूछा कि प्रतिमा के चमत्कार के बारे में वे क्या सोचते थे और बिना किसी टेक-सहारे के उसके शून्य में टिके होने के बारे में उनका क्या विचार था तो बहुतों ने यह राय जाहिर की कि वह किसी अदृश्य सहारे से टिकी हुई थी। सुलतान ने एक व्यक्ति को प्रतिमा के चारों ओर तथा उसके ऊपर और नीचे भाले से टटोलकर देखने का हुक्म दिया। उसने वैसा ही किया लेकिन भाले के रास्ते में कहीं कोई रुकावट नहीं पड़ी। तब एक सहायक ने अपनी राय जाहिर करते हुए कहा कि मंडप चुंबकीय पत्थर का बना हुआ है, और प्रतिमा लोहे की और विचक्षण निर्माता ने बड़ी कुशलता से ऐसी व्यवस्था कर दी जिससे चुंबक का ज़ोर किसी एक ओर ज़्यादा न पड़े। इसलिए प्रतिमा शून्य में टिकी हुई है। कुछ अन्य लोगों ने उससे सहमति प्रकट की, लेकिन कुछ ने असहमति। निबटारा करने के लिए सुलतान से मंडप से दो पत्थर हटाने की अनुमति ली गई। जब ऊपर से दो पत्थर हटा लिए गए तब प्रतिमा एक ओर को झुक गई और जब और भी पत्थर हटाए गए तो वह और भी झुक गई और अंत में ज़मीन से आ लगी।

अलकाजविनी, एच.एम. एलियट और जे. डाउसन द्वारा संपादित
द *हिस्टरी ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियंस*,
जिल्द एक, पृ. 97 आदि में

इस प्रकार के वर्णनों में कल्पना का बहुत अधिक तत्व होता है और उन्हें उस इतिहास-लेखन के संदर्भ में देखना चाहिए जिसने महमूद को क्रमिक रूप से मूर्तिभंजक और लुटेरे से भारत में इसलामी शासन के संस्थापक के रूप में बदल दिया–हालांकि यह दूसरा रूप महमूद की वास्तविकता से मेल नहीं खाता। सोमनाथ पर हमले के इतिहास-लेखन का अपना एक अलग इतिहास है। आम राय यह है कि सोमनाथ पर महमूद का आक्रमण हिंदुओं के लिए ऐसा भयंकर त्रास था कि

उसी से हाल की हिंदू-मुसलमान शत्रुता के बीज वपित हो गए। तथापि समकालीन या लगभग समकालीन स्रोतों में सोमनाथ पर किए गए हमले का कोई जिक्र नहीं हुआ है। इसका अपवाद मात्र एक जैन ग्रंथ है, लेकिन उसमें भी इसका प्रसंगवशात उल्लेख ही हुआ है। और हिंदुओं के बीच त्रास फैल जाने की बात तो दूर रही, इस घटना की किसी प्रतिक्रिया तक का जिक्र नहीं किया गया है। जैन स्रोतों में चौलुक्य-राज कुमारपाल द्वारा मंदिर के जीर्णोद्धार का वर्णन किया गया है और उसके जीर्ण हो जाने का कारण अनुरक्षण के प्रति स्थानीय अधिकारियों की उपेक्षा और समय बीतने के साथ होनेवाली प्राकृतिक क्षति बताई गई है।

हमले के दो सदी बाद तेरहवीं शताब्दी में फारस में होरमज के एक समृद्ध जहाज-मालिक को, जो सोमनाथ में व्यापार करता था, सोमनाथ शहर के अधिकारियों ने उस मंदिर के निकट, जिसका अब जीर्णोद्धार हो चुका था, एक मसजिद बनवाने और उसके अनुरक्षण के लिए ज़मीन और संपदा खरीदने की अनुमति दी। उसका हार्दिक स्वागत किया गया और चौलुक्य-वघेल प्रशासन, ठक्कुरों तथा राणकों के स्थानीय अभिजनों एवं शैव मंदिरों के पुजारियों से उसे सहायता प्राप्त हुई। शैव मंदिर के पुजारी सौदे के महत्वपूर्ण भागीदार रहे होंगे, क्योंकि कुछ और मंदिरों की संपत्ति के साथ उस शैव मंदिर की जायदाद उस सौदे का हिस्सा थी। इसलिए देखा जा सकता है कि सोमनाथ मंदिर पर महमूद के आक्रमण ने कोई स्थायी छाप नहीं छोड़ी थी और शीघ्र ही मंदिर के पुजारी, स्थानीय वघेल प्रशासन तथा फ़ारसी और अरब व्यापारी आपस में पूर्ववत् बात-व्यवहार में लग गए। जिन्हें 'हिंदू' ग्रंथ कहा जा सकता है वे इस संबंध में लगातार मौन हैं, और आधुनिक इतिहासकारों ने इस पहलू पर टिप्पणी की है। यह एक अनबुझ पहेली है, क्योंकि सामान्यतः तो कुछ-न-कुछ टिप्पणी की आशा की जाएगी। दिलचस्प बात है कि यह हमला हिंदुओं के लिए एक भयानक त्रास था, इससे कुछ मिलता-जुलता सबसे पहला दावा भारत में नहीं, बल्कि ब्रिटेन में 1843 में कॉमन्स सभा में एक बहस के दौरान किया गया, जब ब्रिटेन के सांसदों ने कहा कि सोमनाथ पर किए गए आक्रमण से पीड़ाजनक भावनाएं उत्पन्न हुईं और लगभग हजार वर्षों से वह हिंदुओं का दिल दुखाता रहा है। उसके बाद से ही हिंदुओं के त्रास की बात की जाने लगी।

अपनी मूर्तिभंजक प्रवृत्ति के कारण महमूद ने बागदाद के खलीफा से सम्मानजनक उपाधि और इसलाम के ध्वजधारी के रूप में मान्यता प्राप्त की। महमूद के हमलों के बारे में अलबरूनी की टिप्पणी यह थी कि उनके कारण उस क्षेत्र में भारी आर्थिक बरबादी हुई और मंदिर तो लूटे गए ही। लेकिन हमले के बाद सोमनाथ तथा उसके आसपास के इलाकों के इतिहास पर गौर करें तो पाएंगे कि स्थानीय प्राधिकरण तथा अर्थव्यवस्था पुनः प्राभोत्पादक ढंग से अपने ओज पर आ गई। जिस प्रकार बार-बार तरह-तरह की लड़ाइयां होती रहती थीं उसे देखते हुए

लगता है कि लोग अस्थायी अस्थिरता और तज्जनित स्थितियों के शायद अभ्यस्त हो गए थे।

सन् 1030 में महमूद की मृत्यु के साथ हमलों का यह सिलसिला रुक गया। भारत से प्राप्त लूट के माल के बल पर उसने न केवल अपनी शक्ति की अभिवृद्धि की, बल्कि संस्कृति को प्रश्रय देने की प्रवृत्ति का भी प्रमाण दिया, भले ही उसके कार्यकलाप में नृशंसतापूर्ण आचरण क्यों न शामिल रहा हो। मध्य एशिया में एक पुस्तकालय स्थापित किया गया, जिसमें संगृहीत पुस्तकों की संख्या और किस्में प्रभावोत्पादक थीं। ये पुस्तकें फारस के पुस्तकालयों से छीनकर लाई गई थीं। गजनी में एक मसजिद बनवाई गई, जिसमें उत्कृष्ट इसलामी वास्तुकला का प्रयोग किया गया। वह फ़ारसी सांस्कृतिक परंपरा की शक्ति का कायल था और अपने दरबार में उसे प्रश्रय देना चाहता था। फारस के मुख्य रूप से प्राक्-इसलामी वीरों तथा राजाओं पर लिखे महाकाव्य *शाहनामा*के रचयिता प्रसिद्ध कवि फिरदौसी को गजनी में आमंत्रित किया गया, लेकिन महमूद की कंजूसी के कारण उसे उस नगर का त्याग करना पड़ा। अपने ख्वारज्म अभियान से महमूद अपने साथ अलबरूनी नामक एक विद्वान् को ले आया, जो मध्य एशिया का उस काल का शायद सबसे मेधावी व्यक्ति था। महमूद ने उसे दस साल भारत में बिताने का आदेश दिया। अपनी कृति *तहकीक-ए-हिंद*में उसने भारत की परिस्थितियों, ज्ञान-विज्ञान, सामाजिक रीति-रिवाजों तथा धर्म का जैसा विवेचन किया वह भारत की यात्रा करनेवाले यात्रियों के पर्यवेक्षणों में से शायद सबसे अधिक अंतर्दृष्टिपूर्ण है।

इतिहासकारों द्वारा केवल राजनीतिक घटनाओं को महत्व दिए जाने से एक-दूसरे से संबंध रखनेवाले समाजों के दीर्घ कालीन कार्यकलाप कभी-कभी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। भारतीय गणितज्ञ, ख़गोल वैज्ञानिक और औषधि विज्ञान के विशेषज्ञ बगदाद में खलीफा के दरबार में स्थायी रूप से रहते थे और उन्होंने अरबों के वैज्ञानिक संसार को अन्य खोजों के साथ-साथ भारतीय अंकशास्त्र तथा दशमलव की कल्पना से परिचित कराया था और वहां से ये विद्याएं यूरोप में पहुंचीं। भारतीयों के चिकित्साशास्त्र के ज्ञान तथा अरबों द्वारा यूनानी औषधियों के ज्ञान के उद्घाटन से आयुर्विज्ञान के नए सिद्धांतों का जन्म हुआ। जिस संदर्भ में इस ज्ञान का आदान-प्रदान हुआ वह था विश्व के विभिन्न भागों में चल रहा व्यापकतर दार्शनिक विचार-विमर्श। इसलिए हमलों और सैनिक अभियानों के साथ-साथ केवल माल का विनिमय ही नहीं चलता रहा, बल्कि एक संस्कृति के विचार दूसरी के विचारों को प्रभावित और अनुप्रेरित करते रहे तथा उनके बीच ज्ञान का आदान-प्रदान चलता रहा। दार्शनिक इब्न सीना / अविसेना ने ग्यारहवीं सदी के आरंभ में अपने परिवार में भारतीय गणित तथा दर्शन की चर्चा सुनी, जिससे इन क्षेत्रों में उसके विचारों को प्रेरणा मिली। अलग विचार रखनेवाले लोगों के आंदोलनों से समय-समय पर खलीफा तथा रूढ़िवादी

इसलाम की शक्ति को चुनौती मिलती रही और फलतः महादेशों के बीच चलनेवाले बौद्धिक विमर्श से लोग परिचित हुए। इस बात के पक्ष में विश्वसनीय दलील दी गई है कि इस काल में फारस में जिस सूफी विचार का उदय हुआ उसके कुछ तत्वों में भारतीय दार्शनिक विचारों से समानता दिखाई देती है।

महमूद तथा उसके उत्तराधिकारियों के पश्चिमोत्तर भारत पर नियंत्रण स्थापित करने की इच्छा के पीछे मूर्ति-भंजन तथा लूटपाट के अलावा भारत तथा अफगानिस्तान, ईरान और मध्य एशिया के बीच चलनेवाले व्यापार पर अधिकार करने की प्रेरणा भी काम कर रही थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए महमूद इसलाम के कुछ विश्वासों के विरुद्ध आचरण करने को भी तैयार था। लाहौर में ढाले गए उसके सिक्कों पर कभी-कभी अरबी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में मुद्रालेख होते थे। यह मुद्रालेख कुरान की आरंभिक प्रार्थना था, जिसके संस्कृत अनुवाद में कहा गया था कि ईश्वर केवल एक है और मुहम्मद उसके अवतार हैं। रूढ़िवादी इसलाम के लिए यह अवधारणा अस्वीकार्य होती, क्योंकि उसमें मुहम्मद को केवल पैगंबर अथवा अल्ला का संदेशवाहक माना गया था। उसके उत्तराधिकारियों के सिक्कों पर स्थानीय शासकों के सिक्कों के अनुकरण पर लक्ष्मी की आकृति बनी होती थी।

स्पष्ट है कि महमूद के हमलों से भारतीय राजाओं में पश्चिम एशिया तथा मध्य एशिया की बदलती हुई राजनीति के बारे में पर्याप्त सजगता नहीं आई। इस काल में तुर्कों को पूर्ववर्ती काल में आरंभ हो चुके एक ऐतिहासिक सिलसिले के अंग के रूप में और उनके हमलों को अधिक से अधिक तो एक विघ्नकारी तत्व के रूप में देखा जाता था। संघ बनाए गए, जिनके सदस्य मुख्य रूप से राजपूत राजा थे, क्योंकि हमलों की चोट उन्हीं को सहनी पड़ती थी। आरंभ में शाहिय राज्य को कुछ मदद दी गई और आगे चलकर 1043 में गजनी द्वारा अधिकृत कुछ इलाकों पर फिर से कब्जा करने की कोशिश की गई। पंजाब गजनवी उत्तराधिकार का दावा करनेवालों के बीच स्पर्धा का अखाड़ा बन गया था और उसे गांगेय मैदान पर आक्रमण करने की आधार-भूमि माना जाता था। स्थानीय शासक फिर से आंतरिक झगड़ों में पड़ गए थे। जब बारहवीं सदी के अंत में मुहम्मद गोरी के नेतृत्व में दूसरा आक्रमण हुआ तो पश्चिमोत्तर भारत के राज्य हर दृष्टि से उतने ही असन्नद्ध थे जितने कि महमूद के आक्रमण के समय थे।

भारत में अन्यत्र स्थानीय राजनीति सबसे अधिक हावी रही। कन्नौज पर महमूद के आक्रमण के बावजूद गांगेय मैदान में पंजाब जैसा कोई व्याघात नहीं पड़ा। कन्नौज नगर की श्री-समृद्धि शीघ्र ही लौट आई और अंत में वह गाहडवाल राजवंश के हाथों में चला गया। बिहार कर्नाट-क्षत्रिय राजवंश के शासन के अधीन था। उनके इस नाम से उनके दक्षिण भारतीय मूल का आभास होता था। प्रायद्वीप के विभिन्न भागों से आए अधिकारियों को पूर्वी भारत में रोजगार मिल गया था, जिसका प्रमाण

उस काल के अभिलेखों से मिलता है। उनमें से कुछ ने अंत में राजवंश स्थापित कर लिए। बंगाल सेनों के अधीन कुछ काल के लिए फूला-फला, लेकिन अंत में तुर्क सेना के आगे घुटने टेक दिए।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में राजपूत राजा एक-दूसरे से अनवरत संघर्ष करते रहे। राज्यों के स्वामित्व की स्थिति हमेशा डावांडोल रहती थी और प्रदेशों के लिए स्पर्धा स्थायी कार्यकलाप थी। युद्ध एक सामान्य धर्म बन गया, जिसे राजपूत समाज की पुरुषों की श्रेष्ठता की सार्वजनिक छवि से बढ़ावा मिला। परमारों ने मालवा पर अपने नियंत्रण पर अपना ध्यान केंद्रित रखा। चौलुक्य/सोलंकी गुजरात में बने रहे, जहां अनहिल पाटन उनकी राजधानी और केंद्र था। चंदेल परमारों तथा कलचुरियों के विरुद्ध अपने अभियानों में व्यस्त रहे। चौहानों ने बारहवीं सदी में उन पर आक्रमण किया। गुहिल मेवाड़ तथा दक्षिण राजस्थान में वर्चस्वी स्थिति में रहे। ग्वालियर तथा उसके आसपास के इलाकों पर कच्छपघाटों का शासन था।

चौहानों ने दिल्ली क्षेत्र में तोमर राज्य पर अधिकार कर लिया। कभी-कभी उन्हें भी पराजय का मुंह देखना पड़ा, लेकिन कुल मिलाकर उनकी शक्ति स्थिर रही। अंतिम चौहान राजा तृतीय पृथ्वीराज कन्नौज के राजा की बेटी से अपने प्रेम और अंत में उसके हरण के कारण एक रूमानी नायक बन गया। कुछ सदी बाद चंद बरदाई नामक एक सूत ने *पृथ्वीराजरासो*नामक एक महाकाव्य की रचना की, जिसमें अन्य घटनाओं के साथ इस कथा का भी वर्णन किया। इस कथा के तत्व ठीक वैसे ही हैं जैसे तत्वों का प्रयोग महाकाव्यात्मक आख्यानों में किया जाता है। कथा इस प्रकार है कि कन्नौज के राजा की बेटी का विवाह होनेवाला था। राजकुमारियों के विवाह से संबंधित प्रथा के अनुसार, एक स्वयंवर का आयोजन किया गया, जिसमें योग्य विवाहेच्छु कुमार उसके पिता के दरबार में एकत्र हुए। कन्या से उन्हीं में से किसी एक को पति के रूप में चुनने की आशा की जाती थी। परंतु उसका मन वीर योद्धा पृथ्वीराज के प्रति आसक्त था, यद्यपि दुर्भाग्यवश वह उसके पिता का शत्रु था। पृथ्वीराज को अपमानित करने के लिए कन्नौज के राजा ने उसे न केवल स्वयंवर के निमंत्रण से वंचित रखा था, बल्कि दरबार के प्रवेश-द्वार पर द्वारपाल के रूप में उसकी एक मूर्ति भी खड़ी कर दी थी। सभी उपस्थित लोगों को चकित करते हुए राजकुमारी ने सभी राजकुमारों की उपेक्षा करके वरमाला उस मूर्ति के गले में डाल दी। जब तक दरबारियों को इस बात का भान होता कि यह क्या हो गया, तब तक पृथ्वीराज, जो आसपास ही छिपा हुआ था, राजकुमारी को अपने घोड़े पर बैठाकर भाग निकला और अपने राज्य में पहुंच गया। वहां दोनों का विवाह संपन्न हुआ। लेकिन उसके बाद से वे कभी सुख से नहीं रहे। पश्चिमोत्तर से किए गए एक आक्रमण ने उनके सुख पर तुषारपात कर दिया। आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी था, जिसने युद्ध में पृथ्वीराज को पराजित करके मार डाला।

तुर्क शासन का आगमन

मुहम्मद गोरी ने सैंधव मैदान में गोमल दर्रे से प्रवेश किया। वह यहां लूटपाट के लिए नहीं बल्कि एक संभावित राज्य की तलाश में आया था। सन् 1182 तक सिंध के शासक उसका आधिपत्य स्वीकार कर चुके थे। जब उसने ऊपरी सैंधव मैदान औंर पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया तो उसे ऐसा राजस्व सुलभ हो गया जिसे वह अफगानिस्तान से हस्तगत कर सकता था।

इस अभियान के फलस्वरूप लाहौर पर मुहम्मद का नियंत्रण स्थापित हो गया, और अब वह भारत में और भी देश-विजय का सपना देखने लगा। उसने जल-विभाजक क्षेत्र तथा पश्चिमी गांगेय मैदान पर राज करनेवाले राजपूत राजाओं पर आक्रमण किया। राजपूत अपनी आंतरिक स्पर्धाओं तथा ईर्ष्या-द्वेष को न भुलाते हुए जिस हद तक संगठित हो सकते थे हुए। सन् 1191 में पृथ्वीराज ने दिल्ली के उत्तर में तरैन की लड़ाई में मुहम्मद को हरा दिया। मुहम्मद ने कुमक मंगवाई और 1192 में उसी स्थान में दूसरी लड़ाई हुई। पृथ्वीराज हार गया और दिल्ली का राज्य मुहम्मद के कब्जे में चला गया। मुहम्मद ने दवाव बनाए रखा और अपने सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक की सहायता से राजपूत राज्यों की राजधानियों पर अधिकार करने पर अपना पूरा ज़ोर लगा दिया। उसका एक और सेनापति मुहम्मद बख्तियार खिलजी पूरब की ओर बढ़ा और उसने बंगाल के सेन राजा को परास्त कर दिया। यद्यपि 1206 में मुहम्मद की हत्या कर दी गई तथापि उससे भारत में तुर्कों के हित समाप्त नहीं हुए। मुहम्मद अपने भारतीय प्रदेशों पर कब्जा बनाए रखने के लिए कृतसंकल्प था और उसके उत्तराधिकारियों का भी उत्तरी भारत पर राज करने का सपना उतना ही प्रबल था।

गोरी सेना की सफलता के कई कारण थे। मारो-भागो वाले पूर्ववर्ती हमले चिढ़ानेवाली कार्रवाई थे। उनसे यह पता नहीं चलता था कि सीमा पार से कैसा राजनीतिक खतरा हो सकता था। गोरी की विजय के मंतव्य कुछ समय तक भारतीय राजाओं के लिए अस्पष्ट रहे। शायद उन्होंने उसे पूर्ववर्ती हमलों का ही सिलसिला माना। वे उसे उसके वास्तविक रूप में नहीं देख पाए और वास्तविक रूप यह था कि वह इन हमलों के द्वारा एक गोरी राज्य स्थापित करने की संभावनाओं की थाह ले रहा था। भारत-स्थित गोरी सेना का सीमा पार की सेना से संपर्क बना हुआ था और मौका पड़ने पर उसे आनन-फानन कुमक और घोड़े प्राप्त हो सकते थे। उनके सिपाहियों के सामने लूट की संभावना का आकर्षण भी था। जो राज्य आखिरकार दिल्ली सल्तनत के नाम से प्रसिद्ध हुआ उसके प्रारंभिक सुल्तान और उनके अभिजात तथा आम दोनों वर्गों के अनुगामी अपनी श्री-वृद्धि करने के लिए व्यग्र अफगान और मध्य एशिया के तुर्क थे, जिनमें से कुछ अफगानिस्तान में बस गए थे। जिस सेना के बल पर वे भारत में लड़े उसमें तुर्क, फ़ारसी और अफगान

सिपाही शामिल थे, और साथ ही कुछ भाड़े के सैनिक भी, जिनमें से कुछ भारतीय थे। यदि इधर कश्मीर के राजा अपनी सेवा में तुर्कों को रखते थे तो उधर महमूद गजनवी की सेना में भी भारतीय सिपाही और अफसर शामिल थे, जिनमें से कुछ सेनापति भी थे और जिनकी युद्ध-क्षमता के संबंध में महमूद के खयाल ऊंचे थे। गजनवी सेना के भाड़े के भारतीय सैनिकों को राजधानी के एक ख़ास क्षेत्र में रखा जाता था और उनका प्रशिक्षण अनवरत चलता रहता था। भाड़े के सिपाहियों की मांग ने सभी क्षेत्रों के सिपाहियों को आकृष्ट किया होगा।

ज़रूरत पड़ने पर अच्छी नस्लों के मध्य एशियाई घोड़ों की उपलब्धता से तुर्क अश्वरोही सेना को बेहतर पशु प्राप्त होते रहते थे और आमने-सामने जमकर चलनेवाली लड़ाइयों में अश्वारोही सेना का बहुत सफल उपयोग किया जाता था। माना जाता है कि भारतीय सेनापति अश्वरोही सेनावाली रणनीति का पूरा-पूरा उपयोग करने में झिझकते थे और उसकी अपेक्षा हाथियों पर अधिक भरोसा करते थे, लेकिन वेगवान् मध्य एशियाई घोड़ों के मुकाबले वे हलके पड़ते थे। घुड़सवार धनुर्धर जब धातु की रकाबों का इस्तेमाल करते थे, जिन पर खड़े होकर वे सुविधापूर्वक तीर चला सकते थे, तब वे प्रभावकारी साबित होते थे और उनकी मारक शक्ति बहुत बढ़ जाती थी। भारतीय घुड़सवार रकाबों तथा अन्य अश्वारोहण प्रविधियों से अवगत थे, लेकिन अश्वारोही सेना का उपयोग शायद सीमित था। घुड़सवार धनुर्धर ज़्यादा भारी कवच का इस्तेमाल कर सकते थे, जो उन्हें भारतीय सिपाहियों द्वारा प्रयुक्त तलवारों के वारों से बचा सकते थे और भारतीय सिपाही भाला, तीर आदि अन्य हथियारों के मुकाबले तलवारों का ही अधिक उपयोग करते थे। तुर्क मध्य एशियाई रणनीति से काम लेते थे, जिसमें गति पर अधिक ज़ोर दिया जाता था और हलके साज-सामान का इस्तेमाल किया जाता था, जिससे लड़ाई के मैदान में चालें आसानी से बदली जा सकती थीं। तुर्कों ने रणनीतिक महत्त्व के किलों पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, जो अकसर स्थानीय प्रशासन के केंद्र भी होते थे। इसलिए भारतीय सेना को बचाव की स्थिति अपनाने पर मजबूर होना पड़ा। बाहर से आई सेना को परेशान करने का एक तरीका छापामार हमले हो सकते थे, लेकिन लगता है, भारतीयों ने इसका भी कोई कारगर इस्तेमाल नहीं किया।

अकसर कहा जाता है कि गजनवी और गोरी सिपाही काफिरों के खिलाफ लड़ाई में मौत को इसलाम की खातिर शहादत मानते थे। लेकिन यह अधिक संभावित दिखता है कि असली आकर्षण लूट के माल का था। अधिक शुष्क क्षेत्रों में लड़ी गई लड़ाइयों में उन्होंने इस तरह की संपदा नहीं देखी थी। भारतीय सेनापतियों के लिए लड़ाई में लूटपाट का आकर्षण तो रहता था, लेकिन लड़ाई को वे खेल-भावना से देखते थे, जिसके अनुसार कुछ नियमों का पालन किया जाता था। युद्धभूमि में राजाओं की वीरता को अमरत्व प्रदान करते हुए कवि और चारण युद्ध के नियमों तथा उदारता पर ज़ोर देते

आए थे। छोटी-मोटी लड़ाइयों में वीरोचित उदारता के नियमों को लागू करने से भले ही युद्ध-जनित क्लांति का कुछ मार्जन होता हो, लेकिन गोरियों के खिलाफ चलनेवाली लड़ाई बिलकुल अलग तरह की थी, हालांकि आरंभ में यहां के लोगों को शायद इसका एहसास न रहा हो। खरेपन और निष्ठा की भावनाओं को अकसर कार्य-साधक नीति से ऊपर रखा जाता था और धीरे-धीरे रणनीति तथा युद्ध की चालों के मुकाबले हमले के लिए ज्योतिषशास्त्र के अनुसार तय की गई शुभ घड़ी को तरजीह दिया जाने लगा। दरबारी साहित्य में वीरता के अतिशयोक्तिपूर्ण दावों को—जैसे एक वीर पुरुष द्वारा हजार योद्धाओं को परास्त करने के दावे को—स्थान मिलने लगा।

भारतीय सेनाओं का गठन उनकी कमज़ोरी को और बढ़ाता था। प्रत्येक सेना का एक स्थायी हिस्सा होता था, लेकिन बहुत-से सिपाही स्थानीय रूप से जबरन भरती किए जाते थे या उन सामंतों द्वारा मुहैया किए जाते थे जिनका अपने अधिपति के प्रति ऐसा दायित्व होता था। इनके अतिरिक्त, इस काल की सेनाओं में भाड़े के सैनिक भी ख़ासी संख्या में हुआ करते थे। इस प्रकार के सैनिकों के समूह को हमेशा मिलकर लड़ने का प्रशिक्षण प्राप्त नहीं रहता था। शायद सेना के इस बिखरे हुए रूप के कारण ही सिपाहियों को लूटपाट की छूट मिल जाती थी। कूच करती सेना ग्रामवासियों को परेशान करती थी और उन्हें लूट लेती थी, ख़ासकर तब जब अभियान फसल की कटाई के समय चलता था, और ऐसा बहुधा होता था। किसानों तथा व्यापारियों के लिए युद्ध एक दुःस्वप्न-जैसा था, जो जीविका कमाने की उनकी दिनचर्या में बाधा डालता था। ऐसे बड़े-बड़े क्षेत्रों को जो आबाद थे और जिनमें खेती-बारी की जाती थी, सिर्फ इसलिए उजाड़ दिया जाता था कि वे शत्रु के प्रदेश में पड़ते थे। कहते हैं, चंदेलों को परास्त करने के लिए पृथ्वीराज चौहान ने अपने इसी प्रकार के कृत्य पर गर्व अभिव्यक्त किया था।

कभी-कभी इतिहासकारों ने सांप निकल जाने पर लकीर पीटने वाले अंदाज में इस बात पर टिप्पणी की है कि इन तमाम सदियों के दौरान भारतीय राजाओं ने पश्चिमोत्तर के दर्रों को बचाने के लिए संयुक्त प्रयास क्यों नहीं किया। आक्रमणकारी बार-बार इन दर्रों से होकर आते रहे, फिर भी उसे रोकने के लिए कुछ नहीं किया गया और रक्षा का काम मनमाने तौर पर स्थानीय राजाओं पर छोड़ दिया गया। शायद रक्षा की आवश्यकता को प्राथमिकता नहीं दी गई और उस क्षेत्र को एक प्राकृतिक सीमा के रूप में देखा गया या यह भी हो सकता है कि पर्वतीय क्षेत्र को देखते हुए पशुचारकों तथा कारवांओं के आने-जाने के मार्ग इन दर्रों से ही होकर गुजरते थे और इसलिए उन्हें खुला छोड़ देना बेहतर समझा गया। जिन स्थानीय राजाओं तथा सरदारों का दर्रों पर नियंत्रण था उन्हें व्यापार से आमदनी होती थी। फिर, दर्रों से होकर आनेवाले लोगों से वे परिचित रहे होंगे इसलिए उन्हें यह समझने में देर लगी कि मित्र कभी-कभी शत्रु भी बन जा सकते हैं। सीमा के रूप में पहाड़ों

की प्रभावकारिता भी उन अनेक अवसरों पर काम नहीं आई जब सीमा-पार से पंजाब को जीता गया या उसे अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया की राजनीति में फंसना पड़ा। यह निकटता सीमा-क्षेत्रों के पार तथा मध्य एशिया की परिघटनाओं पर सही परिप्रेक्ष्य अपनाए जाने में बाधक सिद्ध हुई।

बाहरी लोगों द्वारा हमले की घटनाएं विश्व के अनेक भागों में हुई हैं : हूणों ने रोम पर आक्रमण किया, अरबो ने स्पेन पर और स्पेनियों तथा पुर्तगालियों ने लैटिन अमरीका पर। आक्रमणों की संभावनाएं घटनाओं के घटित हो जाने के बाद ही पहचानी गईं। ये आक्रमण पराए लोगों ने किए थे, जो उन समाजों के लिए परिचित भी थे तो बहुत कम जिन पर उन्होंने आक्रमण किए थे। लेकिन तुर्क पड़ोसी लोग थे, जिन्हें भारतीय लोग घोड़ों तथा अन्य वस्तुओं के व्यापार के कारण और कुछ भारतीय सेनाओं में भरती भाड़े के सैनिकों के रूप में जानते थे। लेकिन इसलाम के उदय के बाद नई राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं उत्पन्न होने के कारण अब मध्य एशिया तथा पश्चिम एशिया में ऐतिहासिक दृश्य बदल चुका था। उत्तरी भारत के राजाओं के लिए इस स्थिति को पहचानने के लिए निकटवर्ती सीमाओं से घिरे क्षेत्र के बाहर की बृहत्तर राजनीति की समझ होना जरूरी था। लेकिन लगता है, भारतीय सरोकार ऐसा-कुछ नहीं था। जो भारतीय तरह-तरह के प्रयोजनों से एशिया के विभिन्न भागों की यात्रा करते थे उन्होंने जो-कुछ उन्हें देखने को मिला उस पर कुछ नहीं लिखा और अन्य देशों की राजनीति पर मौन साधे रखा। ऐसा लगता था मानो बाहरी परिदृश्य उनके लिए अप्रासंगिक था। उनकी राजनीतिक दिलचस्पी संकुचित-सी लगती है। यह चीनियों तथा अरबों के संसार से बिलकुल उलटा था। यात्रियों तथा व्यापारियों के विशद विवरणों ने उन दोनों को दूरस्थ स्थानों की परिघटनाओं के संबंध में जागरूक बनाया। अरबों में अन्य देशों के भूगोल के प्रति बहुत आकर्षण था और चीनी अपने पड़ोस में मध्य एशिया की घटनाओं के प्रति बहुत संशक रहते थे।

अपनी पुस्तक के आरंभिक अध्याय में अलबरूनी ने भारतीयों में विश्व के संबंध में अपनी व्यापकतर समझ को दर्ज न करने की प्रवृत्ति के अन्य कारण बताए हैं, चाहे कोई उनसे सहमत हो या न हो :

> हिंदू मानते हैं कि उनके देश के अलावा कोई देश ही नहीं है, उनके राष्ट्र के जैसा कोई राष्ट्र नहीं है, उनके राजा के जैसा कोई राजा नहीं है, उनके विज्ञान के जैसा किसी का विज्ञान नहीं है।...वे जो-कुछ जानते हैं उसे दूसरों को बताने में स्वभाव से ही कंजूस हैं, और उसे वे बहुत सावधानी से अपने ही लोगों में से अन्य जातियों के लोगों से भी छिपाकर रखते हैं और बेशक किसी विदेशी से उसे छिपाने की तो और ज़्यादा सावधानी बरतते हैं।
>
> ई.सी. शैसव (सं. और अ.), *अलबरूनीजइंडिया*,पृ. 22-23

ज्ञान के विन्यास की बात करते हुए तो उसकी आलोचना और भी तीखी हो जाती है :

> वे विलकुल अस्त-व्यस्त स्थिति में हैं, किसी भी तरह के तर्कसंगत विन्यास से रहित और अंत में वे भीड़ की अनर्गल धारणाओं से गड्ड-मड्ड हो जाते हैं।...उनके गाणितिक तथा खगोल वैज्ञानिक साहित्य में तो मानो सीपियों और खट्टे खजूरों या मोतियों और गोबर या कीमती स्फटिक तथा पत्थर की गिट्टियों का मिश्रण कर दिया गया हो। उनकी दृष्टि में दोनों तरह की चीजें समान हैं और विशुद्ध वैज्ञानिक निष्कर्ष की पद्धतियों को वे अपना ही नहीं सकते।
>
> ई.सी. शैसव (सं. और अ.), *अलबरूनीजइंडिया*,पृ. 25

ऐसा संदेह होता है कि यहां शायद वह खगोल-विज्ञान और गणित के क्षेत्र में भारतीयों द्वारा की गई प्रभावोत्पादक प्रगति के साथ–जिसकी वह बहुत कद्र करता था–इस ज्ञान के उस उपहास की बात कर रहा है जो राजदरबारों में ज्योतिषशास्त्र, भविष्यवाणी आदि को दिए जानेवाले संरक्षण का परिणाम था।

अफगानिस्तान में गोरी राज्य मुहम्मद की मृत्यु के बाद अधिक समय तक कायम नहीं रह सका, लेकिन उसका भारतीय हिस्सा भारत में एक नई राजनीतिक हस्ती का नाभिकेंद्र बन गया। वह हस्ती थी तुर्क तथा अफगान सुलतानों द्वारा शासित दिल्ली सल्तनत। मुहम्मद ने अपने भारतीय प्रदेश कुतुबुद्दीन ऐबक की देख-रेख में छोड़ दिया था, जो अपने मालिक की मृत्यु के बाद उन पर शासन करने लगा और जिसने ममलुक या गुलाम राजवंश की स्थापना की, क्योंकि उसकी जीवन-यात्रा एक गुलाम के रूप में आरंभ हुई थी। दिल्ली क्षेत्र पर चौहान नियंत्रण को समाप्त करके कुतुबुद्दीन वहां भली भांति प्रतिष्ठित हो गया। उसने रणथंभोर के पड़ोसी क्षेत्र को अपने राज्य में मिलाने के कई प्रयत्न किए लेकिन असफल रहा।

नई राजनीति के संबंध में एक दृष्टिकोण

अरबों, तुर्कों तथा अफगानों के आगमन से भारत की नृजातीय पहचानों पर कुछ और परतें जुड़ गईं। आज हम उनकी बात एक सामूहिक हस्ती के रूप में करते हैं और उन्हें मुसलमान की छाप देते हैं और यहां के पूर्ववर्ती निवासियों को भी एक सामूहिक छाप देते हुए उन्हें 'हिंदू' कहते हैं। परंतु ये छापें ऐतिहासिक दृष्टि से अयथार्थ हैं–ख़ास तौर से इसलाम से भारत के संपर्क की आरंभिक सदियों के संदर्भ में। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अधिक सही होगा कि हम उन छापों और शब्दों का उपयोग करें जो उन दिनों प्रचलित थे। यदि ऐसा किया जाए तो उनके संबंध में आज हमारी जो समझ है उससे वे भिन्न छाप छोड़ेंगे। और वह समझ क्या है? यह कि दोनों में से प्रत्येक एकखंडीय धार्मिक समुदाय था, जो निरपवाद रूप से केवल एक धार्मिक

पहचान से जाना जाता था। परंतु दोनों में से किसी भी समुदाय की कोई एक सादृश्यतापूर्ण संस्कृति या धर्म नहीं था। धार्मिक विश्वासों तथा आचरणों द्वारा परिभाषित किए जाने पर भी प्रत्येक वर्ग के अंदर सामुदायिकता की भावना अलग-अलग थी। लोग धार्मिक छापों की अपेक्षा जाति, व्यवसाय, भाषा, क्षेत्र तथा धार्मिक संप्रदाय से अधिक पहचाने जाते थे।

धार्मिक दृष्टि से हम जिन्हें हिंदू समुदाय के रूप में परिभाषित करते हैं वे वस्तुतः अनेक समूह थे, जिनकी संप्रदायों के रूप में स्पष्ट आंतरिक पहचानें थीं। कोई वैष्णव था तो कोई शैव या शाक्त या दूसरे शब्दों में भागवत, पशुपात या कापालिक। बौद्धों और जैनों में विश्वासों तथा आचरणों में कुछ समानता होते हुए भी वे एक-दूसरे से भिन्न थे। उस काल के साहित्य में श्रमणीय संप्रदायों तथा पौराणिक धर्मों के बीच शत्रुता के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं। उदाहरण के लिए, कृष्ण मिश्र-कृत *प्रबोधचंद्रोदय* नामक प्रसिद्ध नाटक में श्रमणीय संप्रदायों पर तीखा व्यंग्य किया गया है। अलबरूनी ने भी साफ-साफ लिखा :

> जिस अन्य परिस्थिति के कारण हिंदुओं तथा विदेशियों के बीच की पहले से मौजूद प्रतिद्वंद्विता और बढ़ गई वह यह है कि तथाकथित शमनीय्य (श्रमणीय) यद्यपि हिंदुओं से हृदय से घृणा करते हैं, तथापि वे अन्यों की अपेक्षा उनके अधिक समान हैं।
>
> ई.सी. शैसव (सं. और अ.), *अलबरूनीजइंडिया*, पृ. 21

जिसे आज हम मुसलमान समाज कहते हैं, वह भी सुन्नी, शिया, इस्माइली और बोहरा में उसी तरह विभाजित था। इनके अलावा दक्षिण भारत के नवायत और मोपिल्ले भी थे। शियों के प्रति सुन्नियों के शत्रु-भाव का परिचय हमें बहुत पहले महमूद द्वारा उन पर किए गए हमलों से मिलता है। भारत में विश्वास तथा कर्मकांड में स्थानीय विभेद थे, जिनमें से कुछ लोगों के धर्मांतरण के बाद भी कायम रहे थे। अच्छी हैरिसत के व्यक्तियों के लिए धर्मांतरण का कारण शायद महत्वाकांक्षा रही होगी, लेकिन बड़े पैमाने का काफी धर्मांतरण जाति के माध्यम से हुआ। कोई जाति या उसका हिस्सा शायद इसलिए इसलाम को स्वीकार कर लेता था कि वह सोचता था कि इससे उसकी सामाजिक स्थिति में सुधार होगा। मगर ऐसे धर्मांतरण के बाद भी धर्मांतरित जाति के वैवाहिक नियमों, उत्तराधिकार तथा सामाजिक कर्मकांड से संबंधित प्रथाएं किसी हद तक जारी रहती थीं। इस प्रकार के नियमों के मूल परिवेश तथा पारंपरिक रीति-रिवाज दोनों में समाए हुए थे। इसलिए नए धर्म को स्वीकार करने के बाद नए आचरणगत नियमों को अपनाने में कुछ समय लगा और उसके बाद भी कुछ पुराने नियमों पर वे आरूढ़ ही रहे। स्पष्ट है कि कुछ ऐसे लोग थे जिन्होंने सच्ची प्रतीति के साथ धर्मांतरण किया, लेकिन कुछ लोगों

ने डरकर ऐसा किया। मगर इस कोटि के लोग कम ही थे। अधिकतर लोग ऐसे रहे होंगे जिन्होंने जाति या उसके एक अंग के रूप में धर्मांतरण किया होगा। इस काल के या किसी भी काल के दरबारी इतिवृत्तों के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन को शब्दशः स्वीकार कर लेने की अपेक्षा सावधानी के साथ उनका ऐतिहासिक मूल्यांकन करना चाहिए।

'हिंदू' का उल्लेख आरंभ में एक भौगोलिक पहचान का उल्लेख होता था और बहुत आगे चलकर उससे धार्मिक अर्थ जुड़ा। सभी जातियों, अजातियों और संप्रदायों को एक छाप–हिंदू–के अंतर्गत रखना अधिकांश लोगों के लिए विचित्र और कुछ के लिए क्षोभजनक भी होता, क्योंकि उससे ब्राह्मण, शूद्र और अस्पृश्य एक ही धार्मिक समुदाय, 'हिंदू' समुदाय के समान सदस्य बन जाते, जिनके साथ उनकी धार्मिक पहचान की दृष्टि से बराबरी का व्यवहार किया जाता। यह इस उपमहाद्वीप के तत्कालीन धर्मों के लिए पराई चीज होती। इसलिए 'हिंदू' शब्द के प्रयोग को चालू अर्थ प्राप्त करने में कुछ समय लगा। हिंदुओं ने अपने लिए इस नाम का प्रयोग चौदहवीं सदी के आसपास के पूर्व तक नहीं किया और उसके बाद भी वे उसका प्रयोग यदा-कदा ही करते थे।

इसी प्रकार हिंदू बाहर से आनेवाले लोगों के लिए केवल 'मुसलमान' शब्द का प्रयोग नहीं करते थे। उनके लिए वे अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करते थे, जिनके विविध मूल थे। संस्कृत अभिलेखों में अरबों को ताजिक कहा जाता था और तुर्कों को तुरुष्क। तुरुष्क शब्द का ही इस्तेमाल मध्य एशिया से आए लोगों के लिए आम तौर पर किया जाता था। ताजिक शब्द का प्रयोग वैसा विचित्र नहीं है जैसा दिखता है, क्योंकि पहले उसका प्रयोग ईरानियों से तुर्कों का भेद करने के लिए किया जाता था और लगता है, भारत में उसका प्रयोग तुर्कों से अरबों को अलग दिखलाने के लिए किया जाने लगा। अरब या ताजिक अधिक स्वीकार्य थे, जिसका कारण शायद यह था कि वे व्यापारियों के रूप में भारत में बस गए थे और राष्ट्रकूटों के जैसे राज्यों में ऊंचे प्रशासनिक पदों पर आसीन थे, लेकिन तुर्क लोग शायद इसलिए उतने स्वीकार्य नहीं थे कि उन्हें आरंभ में भाड़े के सैनिकों और आक्रमणकारियों के रूप में देखा जाता था। बाद में तुरुष्क तथा उसके अलग-अलग रूपों का अधिक व्यापक प्रयोग होने लगा। तुर्कों तथा अफगानों को शक और यवन भी कहा जाता था, हालांकि यवन शब्द का प्रयोग अधिक किया जाता था। तुरुष्क और कुषाण के बीच कुछ उलझन थी तथा पश्चिमोत्तर के तुर्क शाही शासक कुषाण वंशमूल का दावा करते थे। इससे लगता है कि उन्हें एक प्रकार के ऐतिहासिक सातत्य का प्रतिनिधि समझा जाता था और मध्य एशिया से संबंधित माना जाता था। यवन शब्द का प्रयोग मूलतः यूनानियों के लिए किया जाता था, लेकिन बाद में पश्चिम से आनेवाले सभी लोगों के लिए किया जाने लगा, और हाल तक उसका

प्रयोग इसी अर्थ में होता रहा। अधिक आम अर्थ देनेवाला शब्द था म्लेच्छ, जिसमें सांस्कृतिक दृष्टि से पराए माने जानेवाले तरह-तरह के लोग शामिल थे, और वह एक सामाजिक चिह्न था, जिससे जातीय समाज से बाहर पड़नेवाले लोगों का बोध होता था। उसमें अपनी-अपनी स्थिति के भेद के बावजूद राजा भी शामिल थे और अस्पृश्य भी। दिल्ली के एक व्यापारी द्वारा जारी किए गए एक अभिलेख में सुल्तान की प्रशस्ति भी की गई और उसे म्लेच्छ भी कहा गया। स्पष्ट है कि इस शब्द का प्रयोग सामाजिक विशेषण के रूप में किया जाता था और उससे कोई अनादर या तिरस्कार सूचित नहीं होता था। यहां वराहमिहिर द्वारा हेलनवादी खगोल वैज्ञानिकों के जिक्र का स्मरण हो आता है। उसने कहा था कि उनका आदर ऋषियों की तरह करना चाहिए, यद्यपि वे म्लेच्छ हैं। इसलिए इस शब्द के ख़ास-ख़ास इस्तेमालों में इसका संदर्भ अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

अब जो लोग उपमहाद्वीप में बस रहे थे उनके लिए प्रयुक्त छापों के ऐतिहासिक सातत्य से लगता है कि उन्हें पूर्ण रूप से पराया नहीं माना जाता था। अरब लोग पश्चिमी तट पर इसलाम के उदय से पहले से ही व्यापार कर रहे थे और उसके बाद उनके व्यापार में और भी तेजी आ गई। सदियों के दौरान पशुचारकों, व्यापारियों, सेनाओं और बौद्ध धर्मप्रचारकों तथा आगे चलकर इसलाम के धर्मप्रचारकों के ऐतिहासिक हस्तक्षेप ने भारत-ईरान सीमा क्षेत्रों में, अफगानिस्तान एवं मध्य एशिया में निवास करने वालों के साथ संपर्क को हमेशा बनाए रखा। अरब, तुर्क, अफगान और बाद में मुगल इस उपमहाद्वीप में बस गए और उन्होंने विवाहादि सामाजिक संबंध यहीं स्थापित किए, यह बात उन्हें बाद के यूरोपीय उपनिवेशवादी समाजों के लोगों से अलग दरशाती है, जो यहां धन-संपत्ति अर्जित करके उसके साथ अपने-अपने देशों को लौट जाते थे।

भारतीय इतिहास के आगे के काल का अध्ययन एकखंडीय समुदायों के सिद्धांत तथा जिनके हाथों में राजनीतिक सत्ता रही है उनके समाज पर ख़ास ध्यान देने की प्रवृत्ति से प्रभावित रहा है। अधिसंख्य लोगों के स्तर पर समाज के व्यापकतर अध्ययन से एक अलग दृष्टि उभरती है एवं सामाजिक समूहों तथा उनके सरोकारों की अधिक जटिल बुनावट सामने आती है। पहली सहस्राब्दी ई. के अंतिम दौर में भारतीय समाज की संरचना उससे भिन्न थी जैसी वह पहले थी : राजनीतिक व्यवस्था की बनावट बदल चुकी थी; धार्मिक विश्वास तथा आचरण के ताने-बाने को अलग शक्लों में बुन दिया गया था; और यद्यपि सांस्कृतिक परंपरा की प्रमुख संस्कृति का वर्चस्व स्थापित हो गया था तथापि क्षेत्रीय संस्कृतियों के रूप पार्श्व में अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहे थे।

अध्याय : तेरह

उत्तरी भारत : वितरणात्मक राजनीतिक व्यवस्था और क्षेत्रीय संस्कृतियां

लगभग 800–1300 ई.

ऐतिहासिक परिवर्तन के सिद्धांत

सदी-भर पहले लिखनेवाले इतिहासकार गुप्तोत्तर काल को पूर्ववर्ती राजनीतिक परिदृश्य से भिन्न मानते थे। औपनिवेशिक इतिहास लेखन के दृष्टिकोण से इस काल को पूर्ववर्ती काल के 'स्वर्ण युग' के विपरीत अंधकारपूर्ण युग के रूप में देखा जाता था। छोटे-छोटे और महत्त्वहीन राज्यों तथा राजनीतिक उलझन को इस युग की विशेषताएं मानते हुए इसे गुप्तों और दिल्ली सल्तनत के बीच एक लंबे अंतराल के रूप में खारिज कर देने की मंशा होती थी। इससे यह मान्यता ध्वनित होती थी कि भारत में साम्राज्यों की अनुपस्थिति में राजनीतिक अव्यवस्था फैली हुई थी। जब क्षेत्रीय इतिहास पर किए जानेवाले कार्य को गति मिली तो पता चला कि यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक परिवर्तनों के बीज-वपन का काल था। स्थानीय स्रोतों का अध्ययन अधिक ललक से किया गया और क्षेत्रों के बीच अंतर्निहित समानताएं साफ दिखने लगीं। ध्यान का केंद्र गंगा के मैदान के बदले उपमहाद्वीप के अन्य भाग बन गए। ऐतिहासिक प्रश्न रूप और स्थान में आए इन परिवर्तनों के स्वरूप की ओर मुड़ गए।

पिछली आधी सदी के दौरान इस काल ने कई इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट किया है। इसका कारण क्षेत्रीय इतिहास में रुचि की अभिवृद्धि तो था ही, साथ ही इसमें इस बहस का भी योगदान था कि इस काल की राज्य-व्यवस्था वह चीज थी या नहीं जिसे भारतीय सामंतवाद कहा गया है। अपेक्षाकृत हाल में, उदीयमान राज्यों तथा समाजों की संरचना की व्याख्या करने की कोशिश में वैकल्पिक सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं–जैसे संघटक (इंटेग्रेटिव) राज्य-व्यवस्था से युक्त प्रणाली और खंडीय

राज्य का सिद्धांत। दूसरे सिद्धांत को दक्षिण भारत के संदर्भ में अधिक पूर्णता के साथ प्रस्तुत और विवेचित किया गया और आरंभ में उस पर खूब बहस भी चली। लेकिन उसमें कुछ ऐसी कमियों का पता चला जिनके कारण उसके प्रयोग पर ही प्रश्न-चिह्न लग गया। ख़ास तौर से इस काल के व्यापकतर इतिहास पर उसे लागू करना असंभाव्य हो गया।

इस काल में जो परिवर्तन हुए उनका वर्णन करने से पहले प्रथम दो सिद्धांतों की विशेषताओं का निर्देश कर देना उपयुक्त होगा। इन सिद्धांतों को सामने रखने के परिणामस्वरूप राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक परिवर्तनों तथा धार्मिक संस्थाओं की ऐतिहासिक भूमिका की विविध प्रकार से विशद छानबीन की गई है। इस सबसे इस काल की ऐतिहासिक गवेषणा समृद्ध हुई है। यह इसलिए भी संभव हुआ कि गुप्त-काल की तुलना में इस काल के संबंध में पाठगत तथा अभिलेखगत साक्ष्य बहुत अधिक परिमाण में उपलब्ध है।

भारत में सामंती समाज या सामंती उत्पादन पद्धति के समर्थन में बहुत-सी दलीलें दी गई हैं, लेकिन उनका सारांश ही यहां काफी होना चाहिए। अन्य समाजों के इतिहासों में 'फ्यूडल' या 'सामंती' शब्द की विस्तृत छानबीन और विविध प्रकार के संदर्भों में उसके प्रयोग के फलस्वरूप उसके अलग-अलग अर्थ सामने आए हैं। इस काल के भारतीय इतिहास की व्याख्या के लिए इस अवधारणा का इस्तेमाल करनेवाले इतिहासकारों के बीच इसके आवश्यक तत्वों के संबंध में सामान्यतः सहमति है, लेकिन उससे असहमति, चाहे वह कम हो या ज़्यादा खारिज नहीं हो जाती।

राजाओं तथा राज-परिवारों के सदस्यों द्वारा दिए गए भूमि-दानों के प्रचुर साक्ष्यों से प्रकट होता है कि अधिक शक्तिशाली राजनीतिक प्राधिकरण भू-राजस्व के अधिकारों का त्याग करके ये अधिकार छोटे प्राधिकरणों को सौंप देते थे। ब्राह्मणों और पदाधिकारियों को दिए गए दानों के फलस्वरूप ऐसी भू-संपत्तियों या ग्राम-संपत्तियों की सृष्टि होती थी जिनमें ग्रहीताओं को राजस्व वसूल करने का अधिकार होता था लेकिन राज्य को कोई कर नहीं देना पड़ता था। दान या तो भूमि से प्राप्त राजस्व का हो सकता था या, समय बीतने के साथ-साथ अधिकतर मामलों में, भूमि और उसके राजस्व दोनों का हो सकता था। दोनों स्थितियों में ग्रहीता लगान और श्रम-करों या बेठ-बेगार के माध्यम से किसानों द्वारा उत्पादित अधिशेष को हस्तगत कर लेता था : अधिशेष हस्तगत करने के लिए ग्रहीता प्राप्त अधिकारों का प्रयोग करता था, जिसके तहत बल-प्रयोग या बल-प्रयोग की धमकी भी वर्जित नहीं थी। दान की गई भूमि या गांव में बसे लोगों के संदर्भ में ग्रहीता के अधिकारों तथा कर्तव्यों की सूची होती थी, जिसमें उन करों तथा राजस्वों का भी उल्लेख होता था जिन्हें वह वसूल सकता था। व्यावहारिक दृष्टि से किसानों पर भू-स्वामी मध्यवर्ती वर्ग की प्रत्यक्ष सत्ता होती

थी। कहा गया है कि ये परिवर्तन इस काल में और दसवीं सदी तक नगरवाद और व्यापार के ह्रास के साथ-साथ–जो ह्रास शहरी ठिकानों की खुदाइयों में प्रतिबिंबित होता है–संपन्न हुए। यह भी कहा गया है कि लाभदायक समुद्री व्यापार में कमी आने से शहरी केंद्रों के ह्रास में तेजी आई, जिसका एक और भी कारण कुछ पर्यावरणीय परिवर्तन थे, जिनके फलस्वरूप कुछ क्षेत्रों में कृषि-उत्पादन में गिरावट आई होगी। व्यापार में कमी आने के साथ सिक्कों का भी अभाव हुआ। इसलिए अधिकारियों को नकद वेतन देने के बदले राजस्व-दान द्वारा अदायगी करना जरूरी हो गया। सातवीं सदी के बाद ऐसे प्रसंग अधिक होने लगे। सामंतों (फ्यूडेटरियों) अर्थात् दान-भोक्ताओं की संख्या बढ़ गई और उसके साथ ही उनके सोपान की भी वृद्धि हुई, क्योंकि वे सब एक ही श्रेणी के नहीं थे। अलग-अलग परिमाणों में राजनीतिक सत्ता तक पहुंच होने से विकेंद्रीकरण हुआ, और प्रभुसत्ता विखंडित हुई।

एक दलील यह भी थी कि पुराणों ने कलियुग में–अर्थात् वर्तमान और काल के अंतिम चक्र में–संकट की भविष्यवाणी की, जब पारंपरिक राजा अपनी सत्ता खो बैठेंगे और उनका स्थान नए क्षत्रिय लेंगे। उसका वर्णन ऐसे युग के रूप में किया गया जब धर्मपरायण शासन के पैर उखड़ जाएंगे, निचली जातियां ऊपरी जातियों के कार्य हथिया लेंगी और सत्ताधारी प्रजा पर अत्याचार करने लगेंगे। परिवार तथा संपत्ति के आम तौर पर असुरक्षित हो जाने की भविष्यवाणी की गई और कहा गया कि इस स्थिति का निस्तार तभी होगा जब भगवान् विष्णु ब्राह्मण कल्कि के रूप में पृथ्वी पर अवतरित होंगे। इसका अर्थ ईसवी सन् की सदियों के दौरान संपन्न जबर्दस्त सामाजिक परिवर्तनों का उल्लेख लगाया गया है।

सामंतवाद के पक्ष में दलील देते हुए कहा गया है कि किसानों की गतिशीलता प्रतिबंधित थी और दानों के फलस्वरूप किसान राज्य के कर-दाताओं से ग्रहीताओं के लगान-दाता बन गए। उनसे *विष्टि* या बेगार लिया जाता था और गैर-रिवाजी कर भी, जिन्हें आरोपित करने का अधिकार ग्रहीता को होता था। ग्रहीता राजस्विक तथा न्यायिक अधिकार प्राप्त करने लगे, जिससे किसानों पर श्रम, कर तथा अन्य प्रकार की मांगों का बोझ बढ़ सकता था। इस संबंध में विद्वानों के बीच कुछ मतभेद है कि इस सबका मतलब कृषि-दासता थी या नहीं। गांवों में आत्मनिर्भर और एक-दूसरे से कटे रहने की प्रवृत्ति आई। कुछ ऐसे प्रसंग भी सामने आए जिनकी व्याख्या कृषक विद्रोहों के रूप में की गई है। लेकिन इस तरह के विद्रोहों के अभाव का कारण एक हद तक भक्ति विचारधारा को बताया गया है, जिसने लोगों का ध्यान अपनी दरिद्रता की ओर नहीं जाने दिया। यह भी कहा गया है कि इन स्थितियों से लोगों में ख़ास क्षोभ नहीं उत्पन्न हुआ, क्योंकि भाग्य में उनका अडिग विश्वास था, जिसका प्रमाण ज्योतिष की लोकप्रियता थी।

इस नमूने में अनुबंधात्मक संबंध राजा और भूस्वामी मध्यवर्तियों तक सीमित

दिखाई देते हैं। इतिहासकारों ने इन मध्यवर्तियों को 'फ्युडेटरी' या 'सामंत' कहा है। राजा के प्रति अपनी वफादारी से जुड़े सामंतों से सशस्त्र सैनिक रखना अपेक्षित था, जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर राजा की सेवा में सन्नद्ध कर देना उनका कर्तव्य था। गैर-वफदारी को जघन्य अपराध माना जाता था। सामंत से राजा से विवाह के लिए अपनी बेटी देने को भी कहा जा सकता था। उससे अपने अधिपति के सिक्कों का इस्तेमाल करना अपेक्षित था। अपने अभिलेखों तथा दानपत्रों में वह राजा का उल्लेख अषश्य करता था। कुछ विशेष अवसरों पर दरबार में उपस्थिति कर्तव्य-रूप थी। उपाधियों तथा प्रतिष्ठा-सूचक प्रतीकों का—सिंहासन, चंवर, पालकी, राजकीय शोभा यात्राओं में हाथी की सवारी तथा पंचवाद्यों द्वारा आगमन की सूचना का—उपयोग करने की उन्हें अनुमति थी। सामंतों की अधिशेष संपत्ति का व्यय राजदरबार के अनुकरण पर आडंबरपूर्ण उपभोग में होता था—विशेष रूप से उनकी आवासीय अट्टालिकाओं तथा प्रचुर दान-अनुदानों से युक्त मंदिरों में।

कुछ अधिक शक्तिशाली मध्यवर्तियों को अपनी ओर से भूमिदान देने की छूट थी। उसके लिए राजा से अनुमति लेना उनके लिए आवश्यक नहीं था, यद्यपि दानपत्र में अधिपति का उल्लेख किया जा सकता था। इसे उप-सामंतीकरण का भारतीय प्रतिरूप माना गया है। ऐसे सामंतों के बहुधा अपने उप-सामंत हुआ करते थे। इस प्रकार सामंतों का एक सोपान बन जाता था। यह सिलसिला पूर्ववर्ती काल में आरंभ हो गया था, जब एक गुप्त राजा का सुरश्मिचंद्र नामक एक सामंत था, जिसका उपसामंत मातृविष्णु था। धीरे-धीरे यह प्रथा बढ़ती गई। यह सोपान सामंतों द्वारा ग्रहण की गई उपाधियों में लक्षित होता था। अधिक बड़े सामंत अपने को *महासामंत*और *महामंडलेश्वर* कहते थे और उनसे छोटे *राजा*, *सामंत*, *राणक*, *ठक्कुर*आदि। ये उपाधियां इस काल की उपज नहीं थीं, क्योंकि इनमें से कुछ सदियों पुरानी थीं, लेकिन परिवर्तित संदर्भ में उनके अर्थ बदल गए। उदाहरण के लिए, पूर्ववर्ती काल में *सामंत*का अर्थ पड़ोसी था, लेकिन अब उसका प्रयोग अधीनस्थ राजाओं के सामान्य वर्ग, किसी सरदार या किसी ग्रहीता के लिए किया जाने लगा।

अपेक्षाकृत हाल में एक अलग दृष्टिकोण से इन परिवर्तनों का विश्लेषण करने की कोशिश की गई है, और कुछ इतिहासकारों ने सामंती समाज की बजाए इसे संघटक (इंटेग्रेटिव) राज्य-व्यवस्था की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि गुप्तोत्तर काल में राज्य की संरचना अपने-आप में पूर्ववर्ती राज्य की संरचना से एक भिन्न प्रक्रिया थी और इसलिए उसने एक अलग ढंग की अर्थव्यवस्था और समाज की सृष्टि की। इसे अनेक प्रकार से देखा जा सकता है। नए नामों से प्रदेशों का उदय हुआ, और शासक वंश केवल कुल-नामों के बदले प्रादेशिक नामों से भी जुड़े हुए थे। अधिकाधिक क्षेत्रों में खेती आरंभ की जा रही थी, इसलिए जातियों के रूप में सोपानबद्ध स्थिर समाज बहुधा वनवासी समाजों के संपर्क में आ जाते थे, जो इस

प्रकार से सोपानबद्ध नहीं थे। शासक समूह संरचना की दृष्टि से उन्हें स्थिर समाजों के निकट लाने की कोशिश करते थे। पारस्परिक राजनीतिक निर्भरता की प्रक्रिया में उदीयमान राजतंत्रों तथा सरदारतंत्रों के बीच संबंध के सूत्र जोड़े गए। सो परिवर्तन को सामंतवादी व्यवस्था की तरह विकेंद्रीकरण के रूप में देखने के बदले उसे शक्ति के स्थानीय स्रोतों के सहारे छोटे-छोटे राज्यों के उदित होने और सत्ता के केंद्रों के रूप में उभर आने की प्रक्रिया के रूप में देखना उन्हें अधिक समीचीन लगता है।

इसे राज्य-प्रणाली का क्षैतिज विस्तार माना जा सकता है, जिस प्रक्रिया के अंतर्गत प्राक्-राज्य व्यवस्थाएं ऐसे राज्यों में बदल गईं जो स्थानीय राजनीति की सीमाओं से बंधे हुए नहीं थे। जो पहले प्राक्-राज्य समाज थे उनमें राजतंत्र स्थापित किया गया। सत्ता के केंद्रों की सृष्टि के सिलसिले में मुख्य राजवंश के अधीनस्थ शाखा-राजवंशों द्वारा स्थापित बस्तियों से किसी क्षेत्र को आबाद किया जाता था और शाखा-राजवंश को बहुधा सामंत उपाधि से अभिहित किया जाता था। सामंतों के सोपान होते थे और इसलिए राजदरबार तक अलग-अलग सामंतों की पहुंच अलग-अलग सीमाओं तक होती थी। उनकी शक्ति का स्रोत राजवंशीय केंद्र होता था। और दोनों के दोनों के प्रति कुछ अधिकार और कर्तव्य होते थे, जिनका उल्लेख दानपत्रों में हुआ है। राजा ऐसे प्रशासन के माध्यम से शासन करता था जिसका नियंत्रण वंशगत संबंधों के तंत्र से तथा प्रशासनिक कार्यों पर उसके प्रभाव से मर्यादित होता था।

अस्थिर लोगों को किसान बनाकर कृषि का विस्तार किया गया। यह परिवर्तन मुख्य रूप से परिधिवर्ती क्षेत्रों में हुआ। व्यापारके तंत्र क्रमशः विकसित हुए, जिनका प्रमाण व्यापार-करों की अभिवृद्धि से मिलता है। जाति-आधारित समाज की स्वीकृति से अलग-अलग प्रकार के समूह एक सुपरिभाषित प्रणाली के अंदर आ गए। धार्मिक संस्थाओं को भी भूमिदान मिले और उनका तंत्र सामंतों के तंत्र के ही समान था। पवित्र स्थान अनेक प्रकार की भूमिकाएं निभाते थे। वे राजनीतिक तथा आर्थिक हितों से जुड़े हुए होते थे। राज-परिवार तथा दरबार से दान मिलते थे, और जहां मंदिरों का पृष्ठदेश पर नियंत्रण होता था वहां वे शहरी केंद्रों के आधार बन सकते थे। स्थानीय उपासनाओं को हिंदू संप्रदायों की समग्र संरचना में समेकित कर लिया गया और इन संप्रदायों के संरक्षकों में राजवंश भी शामिल होते थे। जो मंदिर इन उपासनाओं के केंद्र थे वे राजनीतिक और साथ ही धार्मिक प्रयोजन भी सिद्ध करते थे।

इस सिद्धांत को किंचित् विस्तार के साथ राजपूत दर्जेवाले वर्ग तथा राजपूत राज्य की सृष्टि के संदर्भ में लागू किया गया है। जहां उन्होंने वंशगत संबंधों का दावा किया और कौटुंबिक तंत्र कायम किए वहां भी जरूरी नहीं कि वे कौटुंबिकता से जुड़े समूह ही रहे हों और संभव है कि वे अलग-अलग पृष्ठभूमियों से आए हों। एक निश्चित क्षेत्र में उन्होंने राजनीतिक सत्ता प्राप्त की और भूमि तथा व्यापार पर साझा नियंत्रण के माध्यम से उन्होंने आर्थिक संसाधनों पर अधिकार स्थापित किया। ब्राह्मणों, मंदिरों

तथा विहारों को भूमिदान देने से उनके वैधीकरण में सहायता मिली। सैनिक संसाधनों तथा अन्य वंशों की सहायता की बदौलत ख़ास-ख़ास वंश शासक अभिजन बन गए। उन्होंने सोपानबद्ध दर्जों, जैसे राजा, राणक और ठक्कुर के माध्यम से अपनी सत्ता कायम रखी।

यह सिद्धांत राजपूत वर्ग की सृष्टि के संदर्भ में अधिक उपयुक्त लगता है, लेकिन उसे इस काल के इतिहास पर आम तौर से लागू करके देखना अभी शेष है। वंशों तथा शाखा-वंशों का सिलसिला सार्वत्रिक नहीं था। भूमिदान देने में क्षेत्रीय विविधताएं थीं। शब्दावली के परिवर्तन, अधिकारों तथा कर्तव्यों में बदलाव और उनके फलितार्थ ऐसे प्रश्न हैं जिनकी देश और काल दोनों दृष्टियों से पड़ताल करना योग्य होगा। दान देना परस्पर स्पर्धाशील गुटों के बीच संतुलन बनाए रखने का प्रयत्न हो सकता था। दर्जों के सोपान, संभव है, असंतोष का कारण रहे हों। सामंतों के बीच संतुलन स्थापित करने के संबंध में एक यथार्थ दृष्टि *मंडल*के सिद्धांत में स्पष्ट है, जिसके अनुसार राजाओं के *मंडल*में जो सर्वोच्चता चाहता है वह एक-दूसरे से सटे मित्रों तथा शत्रुओं से घिरा हुआ होता है और राजनीति फैलते हुए *मंडल*के अंदर से प्राप्त समर्थन तथा शत्रुता के परिमाणों पर निर्भर होती है। संघटक राज्यव्यवस्था की अवधारणा सामंतवाद की अवधारणा से भिन्न है। लेकिन सामंतवाद की अवधारणा की तरह उसने भी इस काल के समाजों के स्वरूप की आगे और पड़ताल के सिलसिले में योगदान किया है और वैकल्पिक विश्लेषण सुझाए हैं।

संसाधनों के संगठन तथा जाति और रीति-रिवाजों के संबंध में विविधता को देखते हुए एक ही तरह की व्याख्या समस्यामूलक है। अब भी ऐसे बहुत-से प्रश्न हैं जिनके पूर्णतर अन्वेषण की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, यदि क्षेत्र-विशेष के विश्लेषण में मिट्टी, फसलों के रूप, कृषि-संबंधी प्रौद्योगिकी, सिंचाई की किस्मों तथा भूस्वामित्व के स्वरूप और महत्व से संबंधित फर्कों को ध्यान में रखा जाए तो कृषि के विवेचन से अधिक यथार्थ तथ्य प्राप्त होंगे। उदाहरण के लिए, पंजाब में और सामान्यतः पूरे पश्चिमोत्तर क्षेत्र में भूमि-दानों के किसी प्रकार के सिलसिले का साक्ष्य उपलब्ध नहीं है और पंजाब में प्रभुत्वपूर्ण जाति एक व्यापारिक जाति रही है। वहां वंशगत संबंधों की प्रणाली के आधार पर राज्य की सृष्टि का भी कोई साक्ष्य नहीं मिलता। यदि अन्य क्षेत्रों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो पश्चिमोत्तर के विषय में और साथ ही एक प्रणाली के रूप में भूमिदान के संबंध में भी आंखें खोलनेवाली जानकारी मिल सकती है। अगर जातीय सोपान की पद्धति में क्षेत्रीय विविधता थी तो उस सोपान के अभिन्न अंग के रूप में सेवा-संबंधों की संरचना भी समाज के ऊपरी स्तरों के अंदर अलग-अलग प्रकार की होगी।

यह सिद्ध किया जा चुका है कि इस काल की राजनीति तथा कार्यकलाप के फलस्वरूप समाज तथा अर्थव्यवस्था का पुनर्विन्यास हुआ। इसकी व्याख्या कैसे की

जाए और इसे कौन-सी छाप दी जाए यह अब भी बहस का विषय बना हुआ है। शुरुआत इन परिवर्तनों को यूरोप में घटित होनेवाले और 'मध्य काल' को परिभाषित करनेवाले परिवर्तनों के प्रतिरूप मानते हुए इनके अध्ययनों से हुई, लेकिन इसके फलस्वरूप अब नए आयाम उभर आए हैं। इनमें से कुछ प्रवृत्तियों को उन तुलनाओं के जरिए ज़्यादा अच्छी तरह से समझा जा सकता है जो सामंती उत्पादन पद्धति के विवेचन से उभरती हैं। अन्य प्रवृत्तियां एक अन्य परिप्रेक्ष्य के माध्यम से स्पष्ट हो जाती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि विविधताएं हैं। भिन्नता न केवल उस समय की आर्थिक परिस्थितियों की संरचना के ढंग से उत्पन्न होगी, बल्कि समाज को संगठित करनेवाली प्रणाली के रूप में उस जाति-व्यवस्था के हस्तक्षेप से भी प्रतिफलित होगी जिसमें कुछ के विशेषाधिकारों की अभिवृद्धि और कुछ के अधिकारों की अस्वीकृति अंतर्निहित थी।

इस काल के दौरान जो-जो रूप विकसित हुए उनके सातत्य के बावजूद इस सुझाव पर पुनर्विचार योग्य होगा कि इस विकास प्रक्रम के दो चरण थे। पूर्व चरण में नए क्षेत्र सामान्य व्यवस्था के लिए खुले, मध्यवर्तियों तथा क्षत्रियों की सृष्टि हुई और ऐसे धार्मिक आचरणों की हलचल हुई जो कई दृष्टियों से पहले से मौजूद आचरणों से भिन्न थे। उत्तर चरण में नई प्रणाली स्थापित हुई। पूर्व चरण से उत्तर चरण की ओर परिवर्तन भूमि दानों की अभिवृद्धि, व्यापार के पुनरुज्जीवन और उत्थान, अधिकाधिक लोगों के जाति-व्यवस्था में समावेश तथा नए धार्मिक संप्रदायों की संरचना के रूप में सामने आया। इनमें से प्रत्येक पहलू ने दूसरों में संशोधन या उनका अभिवर्धन किया। उदाहरण के लिए, यदि व्यापार का ह्रास एक सामंती समाज की विशेषता था तो व्यापार के पुनरुत्थान ने समाज के सामंती स्वरूप के कुछ पहलुओं को बदला होगा और अंतर्क्षेत्रीय व्यापार ने संघटक (इंटेग्रेटिव) राजनीति में हस्तक्षेप किया होगा। चाहे इसका कारण स्रोत सामग्री के परिमाण और किस्म का अंतर ही क्यों न रहा हो, मगर यह अवश्य लगता है कि ऐसा कहने का कुछ औचित्य है कि पूर्व चरण में जो परिवर्तन हुए वे सत्ताधारियों द्वारा किए गए, जिसमें स्थानीय स्तर के लोगों की भागीदारी थी, लेकिन उत्तर चरण की विशेषता यह थी कि उसमें उन मध्यवर्तियों के अपेक्षाकृत अधिक वर्गों ने हस्तक्षेप किया जो स्थानीय स्तर के लोगों के प्रतिनिधि थे और शायद परिवर्तन लाने में पहल कर रहे थे। आरंभ में राज्य के हस्तक्षेप से भूमिदान दिए गए और अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आया लेकिन इस काल के उत्तर भाग में परिवर्तन के लिए पहल उच्चतर स्थिति प्राप्त करने की आकांक्षा रखनेवाले मध्यवर्तियों ने की।

व्याख्या के सिद्धांतों में यह स्वीकार किया गया है कि गुप्तोत्तर काल में राज्य की संरचना प्राक्-गुप्त काल से भिन्न थी। यद्यपि अब ऐसे क्षेत्रों में भी कुछ राज्य थे जहां पहले कोई राज्य नहीं था, तथापि उनमें से कई की सृष्टि मौजूदा प्रशासन में

जोड़-तोड़ करके की गई। अब राज्य की विशेषता वितरणात्मक राजनीतिक व्यवस्था बन गई, जिसमें शक्ति, सत्ता और संसाधनों का वितरण राज्य या उसके प्रतिनिधियों के साथ प्रत्यक्ष संबंध के आधार पर नहीं, वरन् संबंधों की एक शृंखला के माध्यम से किया जाता था। परिवर्तन का एक बड़ा प्रस्थान-बिंदु व्यापक भूमि अनुदानों में निहित था, जिन्हें संपत्ति के रूप में देखा जाने लगा और जिन पर अन्य लोगों के अधिकारों को निष्प्रभाव बना दिया गया। राजा के देवत्व पर अधिकाधिक ज़ोर दिए जाने की प्रवृत्ति को उसकी बढ़ती हुई कमज़ोरी की अभिव्यक्ति भी माना जा सकता था, जिसके समानांतर सत्ता के अनेक केंद्र—ग्रहीता, करद राजा और मंदिर—काम कर रहे थे। सोपान के कारण वितरण असमान था, और उसकी अभिव्यक्ति करद संबंधों तथा वंशगत संबंधों के दावों के रूप में होती थी। क्षत्रिय दर्जे पर आग्रह से प्रकट होता है कि असमानता के मूल में जातीय दर्जे निहित थे। क्षेत्रीय पहचानें भेद की द्योतक थीं, लेकिन समानता के स्रोत भूमिदानों की पद्धति थी, जो भूस्वामियों के हस्तक्षेप तथा किसानों के दमन के रूप में प्रतिफलित होती थी। इसके अलावा उसका एक और स्रोत सांस्कृतिक संस्कृति का प्रसार भी था, जिसके तहत सांस्कृतिक समरसता का सृजन करने का प्रयत्न किया जाता था।

वितरणात्मक राज्यव्यवस्थाएं

परिवर्तन के रूपों से संबंधित बहस के फलस्वरूप ऐसे अनेक विषय सार्थक रीति से उभर आए हैं जिनकी ज़्यादा बारीक पड़ताल की ज़रूरत है—ख़ास तौर से राज्यों की बहुलता के संदर्भ में। ग्रहीताओं को दिए जानेवाले भूमिदानों तथा अधिकारियों को नकद वेतन देने के बदले उन्हें उनके वेतन के तुल्य राजस्व या भूमि के दान को राज्य की प्रभुसत्ता और केंद्रीकृत नौकरशाही व्यवस्था की कमज़ोरी का द्योतक माना गया है। इससे अन्य प्रश्न भी खड़े होते हैं। भूमिदान देने की प्रणाली दाखिल करने के कारण का संबंध या तो राजा की छीजती हुई सत्ता से हो सकता था या फिर निरंतर आधिपत्य की स्थिति प्राप्त करने को प्रयत्नशील बहुत-से अधीनस्थ राजाओं की सम-तुल्य सत्ता से हो सकता था। ब्राह्मणों को भूमिदान इसलिए प्राप्त होते थे कि वे बहुत सारे नए राजाओं को वैधता प्रदान करते थे और यह दावा करते थे कि वे चंद्र-ग्रहण—जिसकी वे भविष्यवाणी करते थे—तथा इसी प्रकार की घटनाओं के कुप्रभावों को प्रतीकारात्मक उपाय के रूप में उपयुक्त कर्मकांड करके शमित कर सकते हैं। उतनी ही महत्त्वपूर्ण यह बात भी थी कि वे सबसे आगे बढ़कर नए इलाकों को आबाद करते थे। भूस्वामी मध्यवर्तियों के रूप में वे काफी समृद्ध हो गए और उनमें से कुछ ने क्षत्रियवत् आचरण करते हुए ब्रह्म-क्षत्र राजवंशों की भी स्थापना की। वेतनों के एवज में ख़ास-ख़ास ज़मीनों का राजस्व प्राप्त करनेवाले अधिकारी उन्हें सौंपे गए प्रशासनिक दायित्वों के निर्वाह की अपेक्षा अपनी-अपनी जायदाद की व्यवस्था

पर अधिक समय और शक्ति लगाते थे। ग्रहीताओं को हस्तान्तरित प्रशासनिक अधिकारों के कारण दान और भी आकर्षक हो जाते थे।

सेवा के, ख़ास तौर से सैनिक सेवा के एवज में दिया दान कभी-कभी रद्द भी कर दिया जा सकता था। दुर्भाग्यवश दानों के रद्द किए जाने या रद्द करने के कारणों पर अत्यल्प साक्ष्य उपलब्ध हैं। इससे संपत्ति की परिभाषा तथा अधिकारों की दृष्टि से कानूनी शर्तों के संबंध में अधिक स्पष्ट सूचना की किसी हद तक कमी हो जाती है। स्वामित्व तथा उपयोग के अधिकारों के बीच भेद को स्वीकार किया जाता था। बेशक, प्रत्येक सरकारी अधिकार ग्रहीता को नहीं दे दिया जाता था, और इसलिए जो नहीं दिया जाता था वह दिलचस्पी का विषय है। दान को लेकर होनेवाले भूमि-विषयक विवादों में राजा का दानपत्र अंतिम प्रमाण होता था। जहां दान कथित तौर पर रद्द नहीं किया जा सकता था वहां यह कह दिया जाता था कि दान सूर्य-चंद्र के अस्तित्व-पर्यंत के लिए दिया जाता है। स्पष्ट ही ऐसे दान में उत्तराधिकार अंतर्निहित होता था। कदाचित् दान में प्राप्त संपत्ति किसी और को देने का अधिकार भी उसमें समाया हुआ हो।

अन्य प्रश्नों का संबंध राज्य की कार्रवाई द्वारा कृषि के विस्तार से है। मौर्य राज्य किसानों को खाली कर दी गई ज़मीनों पर या खेती के लिए नव-विकसित ज़मीनों पर बसाता था, या ऐसी ज़मीनों में युद्ध-बंदियों से खेती करवाता था और इस प्रकार की बस्तियों को प्रत्यक्ष प्रशासनिक नियंत्रण में ले आता था। मौर्योत्तर काल में धीरे-धीरे इस प्रणाली में बदलाव आता गया। अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना भूमिदानों में वृद्धि के साथ आरंभ हुई। कृषि का विस्तार करने के लिए नए तरीके ढूंढ़ने थे। दान की भूमि का स्थान इस बात पर निर्भर था कि दान का मंतव्य क्या था—क्या वह ब्राह्मणों को पुरस्कृत करने के लिए था, या जहां पहले से ही खेती की जा रही थी वहां उसमें गहनता लाने के लिए था, अथवा वनांचलों को साफ करके उनमें खेती शुरू करवाने और वनवासियों को किसान बनाने के लिए था? क्या ऐसे लोगों की कमी थी जिन्हें किसी ख़ास ज़मीन पर बसाया जा सकता था, जिस कारण से उन्हें इसके लिए विवश या प्रोत्साहित किया जाता था और इसीलिए ग्रहीताओं के माध्यम से लोगों को खेती-बारी के लिए मजबूर किया जाता था? क्या जनसंख्या की वृद्धि हुई थी लेकिन उसे कृषि उत्पादन की अभिवृद्धि प्रतिसंतुलित कर देती थी, जिससे किसानों के देशांतरण करने की आवश्यकता कम हो जाती थी? या कि क्या देशांतरण की संभावना के मार्ग में यह बात बाधक थी कि विभिन्न प्रकार के नियंत्रणों द्वारा किसान को ज़मीन से बांध दिया गया था, जिसके कारण से जिन्सी और बेगारी किस्म के करों के भारी बोझ के बावजूद देशांतरण कोई सरल समाधान नहीं रह जाता था?

संरचना में विभिन्न मुकामों पर मध्यवर्तियों की संख्या में अभिवृद्धि के फलस्वरूप भूमि से होनेवाली आय का अधिक व्यापक वितरण हुआ। इससे राजा की

शक्ति कम हुई और मध्यवर्तियों के मुकाबले उसकी स्थिति कमज़ोर पड़ गई, क्योंकि वह इस बात पर निर्भर हो गया था कि वे अपने दायित्वों का पालन करते हैं या नहीं। संभव है कि मध्यवर्तियों ने किसानों को नुकसान पहुंचा कर समृद्धि अर्जित की हो, क्योंकि हम देखते हैं कि कुछ प्रसंगों पर भूस्वामी उपज का एक-तिहाई हिस्सा तक कर में मांगता था। किसानों को मध्यवर्तियों द्वारा लगाए जानेवाले अतिरिक्त करों का भार भी वहन करना पड़ता था। उन करों में तालाब, जलोत्थापन युक्ति, रहट आदि सिंचाई सुविधाओं के निर्माण पर लिए जानेवाले शुल्क या निःशुल्क श्रम देना शामिल होता होगा। जहां राज्य किसी बड़ी सिंचाई संरचना का निर्माण करता था वहां वह आरंभ में निःशुल्क श्रम लेता होगा। ग्यारहवीं सदी में परमार राजा भोज ने (मध्य प्रदेश में भोपाल के निकट) एक विस्तृत जलाशय बनवाया, जो बांध से युक्त था। उसके लिए प्रचुर श्रम तथा शायद अतिरिक्त करों की भी आवश्यकता पड़ी होगी। जब पश्चिमी भारत में सुदर्शन झील के बांध की मरम्मत करवाई गई तो इस बात का विशेष उल्लेख किया गया कि उसके लिए न बेगार लिया गया और न अतिरिक्त कर लगाए गए। इससे यह माना जा सकता है कि ऐसे कार्यों के लिए सामान्यतः बेगार लिया जाता होगा और अतिरिक्त कर लगाए जाते होंगे।

राजस्व की वसूली ग्रहीता करते थे, जिन्हें क्रमिक रूप से न्यायिक कार्य करने का अधिकार भी दे दिया गया और अब वे विवाद की स्थिति में अपनी सत्ता का प्रयोग करके निवटारा कर सकते थे। इस प्रकार ग्रहीता राजनीतिक तथा न्यायिक कार्य करने लगे। विभिन्न सरकारों के काम-काज से देखा जा सकता है कि इसके फलस्वरूप राजा और राजदरबार के नियंत्रण में काम करनेवाले प्रशासकों की आवश्यकता समाप्त नहीं हो गई, फिर भी सिद्धांततः उनकी संख्या में कमी आ सकती थी। राजा के अधिकारियों के अधिकार निर्दिष्ट थे-इस हद तक कि कुछ ग्रहीताओं के क्षेत्रों में उनका प्रवेश वर्जित था। जो क्षेत्र दान में नहीं दिए गए उनका फैलाव अलग-अलग राज्य में अलग-अलग था, तथापि वे इतने विस्तृत तो थे ही कि उनके आधार पर राजा राजा कहला सकता था। उन क्षेत्रों पर उसका प्रत्यक्ष शासन होता था।

ब्राह्मणों को दान देने का उद्देश्य राजा द्वारा पुण्य अर्जित करना या किसी आसन्न विपत्ति का निवारण होता था। भूमिदानों के फलस्वरूप एक बार फिर से गांवों में वैदिक आचरणों पर अमल होने लगा, क्योंकि दान बहुधा उन्हें दिए जाते थे जो वैदिक कर्मकांड के विशेषज्ञ होते थे। दान देनेवाले राजा यह दावा कर सकते थे कि वे वर्णधर्म की रक्षा कर रहे हैं, लेकिन इस दावे पर वे क्षेत्र शायद प्रसन्न नहीं होते होंगे जहां अधिक समतावादी समाज की यादें अभी बनी हुई होंगी। ब्राह्मण राजा की ओर से यज्ञ करते थे, जो स्वीकृत सिद्धांत के अनुसार इस प्रकार के कर्मकांडों के षष्ठांश पुण्य का अधिकारी होता था। राजा ब्राह्मणों को संरक्षण देने का विशेष ध्यान रखते थे, और उधर ब्राह्मण उनका क्षत्रिय दर्जा सुनिश्चित करने के लिए उनकी

काल्पनिक वंशावलियों की रचना करके अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते थे। मध्यवर्ती वर्ग के लोग भी इस तरह का दावा करते थे, जिससे उनके मन में राजपद पाने की आकांक्षा उत्पन्न होने की संभावनाएं बढ़ जाती थीं। ब्राह्मण भूस्वामी किसानों से काम लेते थे, क्योंकि जाति-धर्म उन्हें खेती करने से रोकता था। इस तरह की अधिकांश भूसंपत्तियां इतनी विस्तृत होती थीं कि उनके लिए विभिन्न प्रकार के बहुत-से पट्टेदारों की ज़रूरत होती थी।

सामंतों के बीच सैनिक उपलब्धियों तथा वीरतापूर्ण कृत्यो का बहुत महत्त्व था। जो लोग क्षत्रिय होने का दावा करते थे उनमें योद्धा जाति की विचारधारा प्रचलित थी। इस छवि को स्थायी बनाने के लिए और सैनिक पराक्रम की ख्याति स्थापित करने के लिए बहुधा युद्धरत रहना आवश्यक होता था। जहां लूट के माल पर हाथ साफ करने की इच्छा अपने-आप में युद्ध का पर्याप्त कारण नहीं होती थी वहां शिष्टता की विस्तृत संहिता लागू कर दी जाती थी, जिसके आधार पर तनिक-सी भी अपमानजनक उक्ति को जवाबी कार्रवाई के लिए भरपूर वजह मान लिया जाता था। युद्ध एक भव्य तमाशा बन गया, जिसकी तुलना एक चंदेल अभिलेख में वैदिक यज्ञ के संपादन से की गई है। इस राज्य में युद्ध में वीरगति पानेवाले लोगों के परिवारों के भरण-पोषण की सुलभता के लिए भूमिदान दिए जाते थे। यह सैनिकों के प्रवाह को जारी रखने के लिए एक प्रोत्साहन भी था।

ग्रहीता के विशेषाधिकारों के कारण गांव की स्वायत्तता में स्वभावतः बाधा पड़ी, लेकिन संबंधों में देश-काल के अनुसार फर्क होता था। गांव का मुखिया, जो अकसर खुद ही भूस्वामी होता था, जहां संभव था वहां मध्यस्थता करता होगा। ऐसे लोगों के पदनाम, जैसे *महत्तर*और *पट्टकिल*कुछ भाषावैज्ञानिक बदलावों के साथ आजतक कायम हैं। इसके उदाहरण मेहता, महतो, पटेल और पाटील हैं, जिनमें से कुछ अपने मूल कार्य अभी हाल तक संपादित करते रहे थे। एक स्थल पर ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक चौहान गांव के एक परिवार को गांव के मंदिर के लिए नए शुल्क लगाने के लिए ग्राम-सभा की स्वीकृति लेनी पड़ी। लेकिन जरूरी नहीं कि ऐसा आम रिवाज रहा हो। *पंचकुल*कहलानेवाली एक अपेक्षाकृत छोटी समिति में कुछ नियुक्त सदस्य होते थे और कुछ स्थानीय प्रतिनिधि। वे शहरों और गांवों दोनों में प्रशासक समितियों के रूप में काम करती थीं, और कभी-कभी राज्यों के लिए राजस्व की वसूली करती थीं, धार्मिक तथा धर्मेतर दानों को प्रलेखबद्ध करवाती थीं, माल की बिक्री और व्यापार की देखरेख करती थीं और विवादों में निर्णायक का काम करती थीं। इन समितियों से पंचायत व्यवस्था ध्वनित होती है। उनकी सदस्यता या तो स्थान पर आधारित होती थी या जाति पर। व्यावसायिक जातियों की जातीय पंचायतों में लोकतांत्रिक कार्य-पद्धति के तत्व थे, क्योंकि सदस्यों का दर्जा लगभग समान होता था। तथापि यह एक सीमित रिवाज था, क्योंकि जाति का व्यापकतर संदर्भ सोपानीकृत

था। दीर्घ काल से स्थापित समाज उस सोपान को स्वीकार करने के अभ्यस्त हो चुके थे, लेकिन जो जाति-व्यवस्था में अभी नए-नए दाखिल किए गए थे और समतावादी कुलों से अधिक परिचित थे वे क्या उस हद तक सोपान को स्वीकार करते होंगे?

यह सामंतवाद था या नहीं, इस बहस के क्रम में बहुत-से सवाल खड़े हो गए है। मातहती (वेसलेज) के संबंध, जागीरों (फीफों) की सृष्टि और कृषिदासता (सर्फडम) का अस्तित्व, ये तमाम सवाल यूरोपीय सामंतवाद-विषयक बहसों से जन्मे हैं। उनमें न केवल एक आर्थिक संबंध निहित है, बल्कि एक ख़ास कानूनी प्रणाली के लिए गुंजाइश करने की समस्या भी है। सामंतों की संख्या में वृद्धि होने से एक मध्यवर्ती मुकाम पर सत्ता के केंद्रीकरण में कमी आई। दान एक अर्थ में राजा और ग्रहीता के बीच एक अनुबंध था, लेकिन जरूरी नहीं कि उससे मातहती के सिलसिले की शुरुआत हुई हो। अधिकतर क्षेत्रों में धर्मेतर प्रयोजनों से दिए गए दानों की संख्या धार्मिक उद्देश्यों से दिए गए दानों से कम थी। ब्राह्मण को दिए हुए दान के प्रसंग में न तो समर्पण (होमेज) अपेक्षित रहा होगा और न निष्ठा की शपथ, जब कि यूरोप में ये दोनों अपेक्षित थे। यहां की भिन्न स्थिति का कारण यह था कि राजा और ब्राह्मण के संबंध परस्पर अनुपूरक थे। अधिपति और मातहत के बीच के अनुबंध में जागीर का एक विशेष अर्थ था। उसका संबंध क्षेत्र-विशेष में सुपुर्द सत्ता के स्वरूप से और संभावित वंशानुगत अधिकार से होता था। यह बात मनमाने तौर पर भूमिदान पर लागू नहीं की जा सकती, यहां तक कि सेवा के एवज में दिए गए भूमिदान पर भी नहीं। श्रम की पराधीनता किसान पर चाहे जितने बंधन लगाए और यहां तक कि उसके देशांतरण पर भी रोक लगा दे लेकिन यह वही चीज नहीं है जो कृषि-दासता है। कृषि-दासता किसान तथा भूस्वामी के बीच एक अनुबंधात्मक संबंध की अपेक्षा रखती है, जिसमें कृषिदास द्वारा भूस्वामी की ज़मीन पर खेती करना भी शामिल था। पराधीन श्रम का संबंध हमेशा कृषि-उत्पादन से ही हो, यह जरूरी नहीं था, लेकिन कृषि-दासता में था। किसानों पर लगाए जानेवाले करों के लिए *पीड़ा* शब्द का प्रयोग करों के लिए पूर्ववर्ती काल में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द *बलि*, *भाग*, *शुल्क*और करसे भिन्न है। *पीड़ा*से बोझ का बोध होता है और दिलचस्प बात है कि इस शब्द का प्रयोग जिन्हें इन करों से सचमुच पीड़ा होती थी वे नहीं बल्कि इन करों को आरोपित करनेवाले लोग करते थे। किसान को बांधने का एक और तरीका उसके खेत या श्रम को रेहन रखना था, जिसका कारण अकसर लगान या करों से उत्पन्न होनेवाले ऋण की गैर-अदायगी होती थी। बंधुआ श्रम पीढ़ियों तक जारी रहता था।

अतिरिक्त करों के लिए संसाधनों के इस्तेमाल में सुधार की ज़रूरत पड़ी होगी, और इसका मतलब रहा होगा कृषि-प्रौद्योगिकी और ख़ास तौर से सिंचाई-व्यवस्था में सुधार। ऐसे पाठ उपलब्ध हैं जिनमें मिट्टी की किस्म, उर्वरता और फसलों पर विचार किया गया है। कुओं, तालाबों तथा पानी उठाने की विधियों के रूप में सिंचाई की

सुविधाओं का विस्तार किया गया। अरघट्ट जल उठाने का चक्र था, जिसमें बाल्टियां बंधी होती थीं। लेकिन लगता है, फ़ारसी चक्र (पर्सियन व्हील) से संबंधित गियर उसमें इस काल के उत्तर भाग में लगाया गया। इस युक्ति से सींची गई ज़मीन को विशेष माना जाता था, और इस चक्र के निर्माण का दायित्व भू-स्वामी पर छोड़ दिया गया होगा, जो उसके उपयोग के लिए ख़ास कर वसूल करता होगा। उल्लेख है कि तालावों के निर्माण में तरह-तरह के लोगों का सहयोग होता था।

भूमि एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक संपदा थी, इसलिए भूमि के विभाजन और उत्तराधिकार की समस्याओं के प्रति इस काल के धर्मशास्त्रों तथा उनकी टीकाओं में विशेष ध्यान दिया गया। इन पाठों में खेतों की सीमाओं, परती पड़ी और जोती-बोई जा रही ज़मीनों, तटबंधों आदि से संबंधित विषयों पर विचार किया गया। इस प्रकार के विवादों में वृद्धि इस बात की द्योतक हो सकती है कि भूमि पर ज़्यादा दबाव पड़ रहा था या कुछ क्षेत्रों की आबादी बढ़ रही थी। परती ज़मीन की श्रेणियों से भी ज़मीन के गहनतर उपयोग का पता चलता है। कुछ ज़मीनें साल या दो साल परती रखी जाती थीं। पांच साल तक परती रह जानेवाली ज़मीन को फिर से वन माना जाने लगता था।

राजा और राजनीति

राजवंशों के मूल अलग-अलग थे। कुछ की स्थापना अज्ञात कुलशील के दुस्साहसी व्यक्तियों ने आक्रमणों और देश-विजयों से किया, कुछ का मध्यवर्तियों ने अपने अधिपति को चुनौती देकर और अंत में अपनी स्वतंत्रता संपादित करके किया तो कुछ का उद्‌भव भूमिदान-ग्रहीताओं तथा प्रशासकों से हुआ। आरंभ में सत्ता-संबंध इन मूलों से और साथ ही राजनीति के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण राजकोषीय तथा सैनिक समझौतों से संबंधित प्रश्नों से निर्धारित होते होंगे।

जो राजा जितना कम शक्तिशाली होता था वह उतना ही आडंबरयुक्त विरुद धारण करता था-जैसे महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक आदि। सामान्यतः इन सबका उत्स प्रशस्तिमूलक मुहावरे होते थे। चौहान-राज तृतीय पृथ्वीराज को भारतेश्वर कहा जाता था। कन्नौज के बारहवीं सदी के एक राजा ने अपना वर्णन 'परमोदात्त, राजाधिराज, सर्वोच्च स्वामी, अश्वों, हाथियों और मनुष्यों के राजा और त्रिभुवनपति' के रूप में किया। ऐसे कथनों को संबंधित राजा के राज्य के भूगोल की परिभाषा के रूप में अक्षरशः सच नहीं माना जाता था, बल्कि राजपद और उसके पाखंड से जुड़े आडंबर का सूचक समझा जाता था। छोटे-मोटे कृत्यों को महान् पराक्रमों के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। सर्वथा सपष्ट दिखाई देनेवाली चाटुकारिता भी दरबारी शैली वन गई, यद्यपि ज़्यादा समझदार राजा अधिक सूक्ष्म ढंग की प्रशस्ति पसंद करते थे।

किसी समय राजा और ब्राह्मण के बीच का संबंध पारस्परिक निर्भरता का भी था और स्पर्धा का भी, लेकिन अब वह सामान्यतः निर्भरता का ही रह गया था, ख़ास

तौर से इसलिए कि वह ब्राह्मण के लिए स्पष्ट रूप से लाभदायक था। राजाओं को राजाओं के रूप में अभिषिक्त या शक्तिसंपन्न करने के कर्मकांड का उद्देश्य एक दृष्टि से दोनों के बीच की स्पर्धी सत्ता को संतुलित करना था। भूमिदानों से संरक्षक और संरक्षित के संबंध की अभिवृद्धि हुई : ब्राह्मण राजा को क्षत्रिय के रूप में वैधता प्रदान करता था या इसी प्रकार का अन्य कार्य संपादित करता था, और बदले में उसे भूमि के रूप में संपत्ति मिलती थी। यह स्थिति हमें प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के पूर्वार्ध में राज-संरचना के दौर की याद दिलाती है जब सरदार के रूप में राजा और पुरोहित के रूप में ब्राह्मण के बीच सत्ता के लिए स्पर्धा चलती थी। एक सहस्राब्दी बाद जब उसी प्रकार की लेकिन अधिक जटिल प्रक्रिया से नए राज्यों की संरचना हो रही थी तो उस संबंध की संभावनाएं पुनरुज्जीवित हो उठी दिखाई देती हैं। परंतु पूर्ववर्ती प्रणाली से समता सीमित है। पूर्ववर्ती काल में संपत्ति चल थी और कदाचित ही उत्तराधिकार में प्राप्त होने योग्य, लेकिन अब संपत्ति भूमि थी और इसलिए अचल, स्थायी तथा उत्तराधिकार में प्राप्त होने योग्य थी। राजाओं के बीच भी संरक्षण देने के लिए स्पर्धा चलती थी। इस स्पर्धा में जो सबसे उदार होता था उसकी प्रशस्तियां लिखी जाती थीं।

जिस हद तक भूमि संपत्ति थी उस हद तक उसने संतुलन की राजनीति को बदल दिया। उससे ब्राह्मण को क्षत्रिय की सत्ता पर अधिकार करके शासक वंश की स्थापना करने की सुविधा मिली। शाखा-वंश भले ही कौटुंबिकता से जुड़ा हुआ न रहा हो, लेकिन कौटुंबिकता की कल्पना को कायम रखता था, और उस कल्पना में धर्मशास्त्रों के नियमों का पालन करने की कोशिश की गई, और इस प्रकार जाति का महत्व और भी बढ़ा। पूर्ववर्ती काल में असनातनी धर्मशिक्षा देनेवाले श्रमणीय संप्रदायों की लोकप्रियता के कारण जातीय नियमों के खिलाफ शायद ज़्यादा शंकाएं उठाई गईं। अब जब कल्पना अधिक स्पष्ट दिखाई दे रही थी और नियमों की वस्तुतः उपेक्षा हो रही थी, जिसका प्रमाण ब्राह्मणों का राजा और व्यापारी बनते जाना था, तब भी उन नियमों का सैद्धांतिक पुनर्प्रतिपादन जारी रहा।

अब राज्यों को अतीत की अपेक्षा संस्थापक कुलों के नाम कम दिए जा रहे थे और प्रदेशों के अनुसार उनका नामकरण अधिक किया जा रहा था। यह प्रत्याशित भी होना चाहिए, विशेषतः तब जब नया राज्य किसी पूर्ववर्ती राज्य का हिस्सा होता था या कुछ प्रदेश जोड़कर सृजित किया जाता था। इसका संकेत भुक्ति, विषय आदि पूर्ववर्ती प्रशासनिक इकाइयों का बोध करानेवाले शब्दों के नए स्थान-नामों में जारी रहने से मिलता है। प्रभुत्व तथा संधि-संबंधों के आधार पर प्रदेशों को नए सिरे से विन्यस्त किया गया। कहा गया है कि प्रशासनिक संरचनाएं प्रदेश तथा वंशों के बीच के संबंध को प्रतिबिंबित करती थीं, और यद्यपि ऐसी राय जाहिर की गई है कि प्रशासन को नियमनिष्ठ बनाया गया, तथापि व्यवहार में वह शायद उतना नियम-निष्ठ

नहीं रहा होगा। उदाहरण के लिए, राजपूतों द्वारा नियंत्रित कुछ क्षेत्रों में चौरासी-चौरासी गांवों की प्रादेशिक इकाइयों की मौजूदगी बताई जाती है, जिसे *चौरासी*कहा जाता था। प्रत्येक *चौरासी*में एक गढ़ होता था, जो उसका केंद्र था। सत्ताधारी लोग किसी राजपूत राजा के प्रति निष्ठा रखते थे। वैवाहिक संबंध राजपूत परिवारों के अंदर ही होते थे, जिससे एक सामाजिक वर्ग के रूप में उनकी पहचान और भी स्पष्ट होती थी। व्यापकतर स्तर पर देखें तो कुल से जाति में रूपांतरण शीघ्र नहीं हुआ, क्योंकि जिनका दर्जा ऊंचा था वे अपनी कुलगत पहचान को कायम रखना चाहते थे, जिससे उनके जाति की ओर अग्रसर होने में बाधा पड़ती थी। यही कारण है कि हमें ब्राह्मणों तथा शूद्रों के एक ही संज्ञा धारण करने के प्रकटतः परस्पर-विरोधी उल्लेख-जैसे आभीर ब्राह्मण और आभीर शूद्र-देखने को मिलते हैं।

यदि भूमिदानों के आकार बड़े होते थे तो वे सत्ता प्राप्त करने के आधार का काम करते थे, जिससे यह भी प्रकट होता है कि सत्ता के द्वार अपेक्षाकृत खुले हुए थे। तथापि यह राय कि वंशगत संबंधों के माध्यम से अब सत्ता का अधिक व्यापक वितरण होता था, परिवर्तन का शायद पर्याप्त कारण नहीं बताती, क्योंकि सत्ता के यथार्थ को संसाधनों की उपलब्धता और श्रम पर नियंत्रण से भी पोषण प्राप्त होता है, और ऐसा देवत्व के दावों तथा अन्य प्रकार के वैधीकरण के बावजूद होता है। जो श्रम देते थे और जो श्रम लेते थे उनके बीच के अनुबंधात्मक संबंधों के स्वरूप को भी परिभाषित करना है। यहां वर्णों की अपेक्षा जातियों में अंतर्निहित सामाजिक संबंधों का सोपान स्थिति को समझने की शायद बेहतर कुंजी सुलभ कराता है, क्योंकि क्षेत्रीय भेदों के कारण वर्णों का कोई समान रूप नहीं उभर पाया। जातिगत दर्जे पर आधारित सेवा-संबंध और दर्जे में अंतर्निहित सोपान ने प्रत्येक जाति के कर्तव्य अंतिम रूप से निर्धारित कर दिए होंगे, और यह प्रणाली स्वभावतः उस परिवार की वशवर्ती रही होगी जिसके पास भूसंपत्ति थी। जहां यह प्रणाली प्रचलित थी वहां किसान अस्वतंत्र स्थिति में पहुंच जाता था। पूर्ववर्ती काल में देशांतरण का सहारा लिया जाता था, लेकिन अब वह कठिन था और परती ज़मीन को मनचाहे तौर पर साफ करके आबाद नहीं किया जा सकता था। प्रभुत्वशाली भूस्वामियों की संरचना में ऐसे सेवा-संबंधों का समावेश अधिकाधिक परिमाण में किया जाने वाला था और उनका फैलाव मंदिर जैसे संस्थागत भूस्वामियों तक भी हो सकता था। वर्णगत दर्जों को अपनाने से सुविधाभोगी जातियों तथा शेष के बीच, स्वतंत्र और अस्वतंत्र के बीच का विभाजन और तीव्र होता था।

यह प्रक्रिया भूमि पर नियंत्रण रखनेवालों और उस पर काम करनेवालों के बीच विभेदीकरण की दृष्टि से भारी बदलाव की द्योतक है। इन दो वर्गों में से पहले पर अनेक अध्ययन किए गए हैं, जिनमें काफी बोधगत भिन्नताएं हैं। जहां तक दूसरे का संबंध है, तो उत्पादकों के संदर्भ में अधिकार तथा शर्तें काफी अस्पष्ट हैं, हालांकि समाज के सामंतीकरण-विषयक सिद्धांत में इनके संबंध में सवाल जरूर उठाए गए

हैं। ग्रहीता सामंती प्रभु रहा हो या नहीं, लेकिन ये अधिकार और शर्तें अपनी जगह बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। श्रम के स्वरूप और समाज तथा अर्थव्यवस्था के अन्य पहलुओं से उसके संबंधों का विशद अन्वेषण अभी शेष है। ग्रामीण क्षेत्रों के दौरों के सिलसिले में राजाओं द्वारा लोगों की शिकायतें सुने जाने के संदर्भ में एक सरल-से सवाल का उल्लेख किया गया कि क्या किसानों को दरबार में अपनी शिकायतें पेश करने का अधिकार था। लेकिन ऐसी लोक-कथाएं हैं जिनमें किसानों को ठीक यही काम करने के लिए बहुत उत्सुक बताया गया है। इससे यह ध्वनित होता है कि भले ही अधिकांश मामलों में ऐसा कुछ करना एक इच्छा-भर रहा हो, फिर भी किसान को लगता था कि उसे ऐसा कर सकना चाहिए।

भूमिदानों का मतलब राज-सत्ता का विकेंद्रीकरण अथवा शाखा-वंशों के रूप में पहचाने जानेवालों को सत्ता का वितरण चाहे रहा हो या नहीं रहा हो, उससे कृषि-अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना अवश्य हुई। भूमिदानों ने कृषि-उत्पादन की वृद्धि में सहायता देने का काम किया होगा—सो केवल सिंचाई आदि तकनीकी उपायों के जरिए ही नहीं, बल्कि ग्रहीता की लगन-भरी देखरेख के माध्यम से भी। कृषि-अर्थव्यवस्था उनके हाथों में सौंप दी गई जो उसे सुधारने के ज्ञान से संपन्न होने का दावा करते थे—अर्थात् प्रशासन के अधिकारियों तथा ब्राह्मणों के हाथों में। ब्राह्मणों से कृषि-कर्म करने, बल्कि यहां तक कि उसकी तकनीकी देखरेख करने की भी अपेक्षा नहीं की जाती थी। तथापि कृषि से संबंधित रचनाओं से—जैसे *कृषिपाराशर*और वराहमिहिर कृत *बहत्संहिता*के अंशों से—लगता है कि जिन विषयों के ब्राह्मण विशेषज्ञ माने जाते थे उनमें कृषि भी थी। चाहे नए क्षेत्रों में कृषि की शुरुआत करानी हो या पुराने कृषि-क्षेत्रों में पैदावार बढ़ानी हो, कृषि-संबंधी संहिताएं नई बस्तियां बसाने वाले ब्राह्मणों के लिए प्राथमिक आवश्यकता की वस्तु रही होंगी।

भूमिदानों पर ज़्यादा ज़ोर देने के कारण पशु-चारण की ओर से ध्यान फिर गया है। यह आर्थिक गतिविधि वनांचलों तथा अधिक शुष्क क्षेत्रों में आज भी प्रचलित थी। निस्संदेह, पशु-चारण उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया था जितना पूर्ववर्ती काल में था, फिर भी कृषि-क्षेत्रों के बीच में पड़नेवाले इलाकों और कुछ पहाड़ी राज्यों में उसकी अहमियत थी। ग्रामीण क्षेत्रों में पशुओं का व्यापक उपयोग किया जाता था, सो केवल विभिन्न प्रकार के कर्षण के लिए ही नहीं, बल्कि रहटों तथा गन्ना कोल्हुओं को चलाने के लिए शक्ति के स्रोत के रूप में भी। पशु-चारक कबीले भी उन लोगों में से थे जिन्हें वनवासी कबीलों की तरह तब जाति व्यवस्था में शामिल कर लिया गया जब वे किसान बन गए।

भूमिदानों से राज्य की मंजूरी से आर्थिक परिवर्तन हुआ, लेकिन जहां राज्य करों का प्रत्यक्ष संग्रहकर्ता नहीं था वहां ग्रहीताओं के माध्यम से हुआ। ग्रहीताओं को मौजूदा किसानों को अपने लिए लाभदायक ढंग से संगठित करना था या झुम खेती करनेवालों

को स्थायी खेतिहरों में बदलना था और साथ ही उनके समाज का ग्रहीताओं के समाज से सामंजस्य स्थापित करना था। दानपत्रों की शर्तों के मुताबिक राज्य ग्रहीता को प्रशासनिक, राजकोषीय तथा न्यायिक अधिकार दे सकता था। दान के साथ मिलकर ये अधिकार ग्रहीता की सत्ता के नाभि-केंद्र बन गए। जाति में रूपांतरण के फलस्वरूप नई जातियों की सृष्टि होती थी, जिसके लिए स्थानीय जातीय सोपानों में कुछ फेर-बदल करने पड़ते थे। पूर्ववर्ती पाठों के अनुसार, अपनी प्रजा की रक्षा तथा कानून और व्यवस्था कायम रखने के लिए राजा को दंड-शक्ति का प्रयोग करना था। लेकिन अब यह मान लिया गया कि कानून में जाति, स्थान और व्यवसाय के अनुसार फर्क हो सकता था। नव-निर्मित जातियां अपने कुछ पूर्ववर्ती प्रथागत कानूनों को कायम रखेंगी, यह स्वाभाविक था।

एक नए संदर्भ में नगरवाद

मालूम होता है, गुप्तोत्तर काल के शीघ्र बाद भारत के कुछ हिस्सों में व्यापारिक हलचलों में कमी आई, भले ही ज़मीन की पैदावार का आर्थिक विनिमय अन्य रूपों में जारी रहा हो। शहरी ठिकानों की खुदाइयों से लगता है कि गुप्त काल की भौतिक संस्कृति का स्तर कुषाण काल की अपेक्षा कम था, या यह कि कुछ ठिकानों का त्याग कर दिया गया था, यद्यपि यहां फिर कहना पड़ेगा कि क्षैतिज उत्खनन विनगरीकरण का निर्धारण करने में अधिक सहायक होगा। शहरी ठिकानों के त्याग का कारण बाढ़ें और पर्यावरणीय परिवर्तन बताए गए हैं। संभावित पर्यावरणीय परिवर्तन प्रथम सहस्राब्दी के मध्य में हुए, यद्यपि इनके साक्ष्य निर्णायक नहीं हैं। चीनी बौद्ध भिक्षु हुआन सांग ने कुछ वीरान शहरों से होकर गुजरने का उल्लेख किया है। पुराने व्यापारिक मार्गों पर अब भव्य भवन नहीं थे। कुछ क्षेत्रों में ह्रासोन्मुख व्यापार बखूबी इसका कारण हो सकता था। शहर तब वीरान हो जाते थे जब व्यापारिक मार्ग बदल जाते थे और बाजार खिसककर अन्यत्र चले जाते थे। वीरान शहरों को नए शहरी केंद्रों के साथ रखकर देखना चाहिए, और इस तरह देखने पर लगता है कि शहरी ह्रास की स्थिति उपमहाद्वीप में सर्वत्र समान नहीं थी। इसके अतिरिक्त, दरबार हमेशा राजधानी में ही नहीं लगते थे। दीर्घ काल तक चलनेवाली लड़ाइयों या दूरस्थ क्षेत्रों के दौरों में राजदरबार स्कंधावार, अर्थात् सैनिक शिविर का रूप ग्रहण कर सकता था या चलनशील रहने के कारण वीरान शहर की छाप छोड़ सकता था।

शहरी ह्रास विनिमय के लिए उत्पादों के अभाव से प्रतिफलित हो सकता था। ऐसे उत्पादों में आम तौर पर निर्मित वस्तुएं या गन्ना, कपास तथा नील जैसी खेती की पैदावार शामिल होती थी, जो ग्रामीण बाजारों को भी सहारा देती थी। व्यापार नए क्षेत्रों में खिसक गया होगा और पुराने शहरों का स्थान नए शहरों ने ले लिया होगा।

छोटे राज्यों से जुड़े प्रशासनिक केंद्रों ने व्यापार को आकृष्ट किया होगा और वे व्यापारिक केंद्र बन गए होंगे। हुआन सांग ने थानेसर, कन्नौज और वाराणसी को व्यापारिक केंद्र कहा है। इनमें से पहले दो पूर्ववर्ती काल में प्रशासनिक केंद्र थे। कृषि-उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप बहुत-से और भी ग्रामीण बाजार स्थापित करने की ज़रूरत पड़ी होगी, और यद्यपि इनकी मौजूदगी के कारण कोई बड़ा व्यापारिक ह्रास नहीं हुआ होगा तथापि उत्पादों का विनिमय पुराने शहरी केंद्रों से खिसक गया होगा।

मालूम होता है, बंदरगाहों तथा तटवर्ती शहरों पर व्यापारिक ह्रास का प्रभाव कम हुआ, यद्यपि उनके उल्लेख नौवीं सदी में जाकर बढ़ने लगते हैं। सिंधु के मुहाने पर देबल, गुजरात में वेरावल (सोमनाथ का बंदरगाह) और कांबे, और भी दक्षिण की ओर ठाणा और सोपारा तथा गंगा के मुहाने के बंदरगाहों के उल्लेख किए गए। जहाजों में लदा माल या तो भारत में उत्पादित किया गया होता था या पूरब से भारतीय व्यापारियों द्वारा लाया गया होता था। आयातित वस्तुओं में चीन से रेशम तथा चीनी मिट्टी के बरतन आदि मंगवाए जाते थे, और चीन कपड़े, हाथी दांतों, गैंडे के सींगों और तरह-तरह के बेशकीमती और कमकीमती रत्नों का आयात करता था। पश्चिम को किए जानेवाले निर्यात में पूर्ववत् मुख्य रूप से काली मिर्च और मसाले तथा कपड़े शामिल रहे। कपास के उत्पादन में बेहतर प्रौद्योगिकियों के इस्तेमाल का उल्लेख शायद व्यापार के लिए उसके महत्व का द्योतक है। पश्चिम एशिया और पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र से आए व्यापारी पश्चिमी तट पर बसे हुए थे और पश्चिम के साथ भारत के व्यापार में भागीदारी करने के साथ पूर्वी व्यापार में भी हस्तक्षेप कर रहे थे। भारत, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा चीन के बीच चलनेवाले व्यापार में भारतीय बिचौलियों को अपदस्थ करने के प्रयत्न में अरब लोग सीधे उन क्षेत्रों में पहुंचे। तुर्कों तथा मंगोलों आदि के संचलनों के कारण मध्य एशिया के साथ उत्तर भारत के थलमार्गीय व्यापार को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

दसवीं सदी से व्यापारिक आदान-प्रदान के उल्लेखों में वृद्धि होने लगती है। कुछ श्रेणियों के उल्लेख जारी रहते हैं—जैसे सोनारों, सार्थवाहों, ठठेरों, तैलकों और संगतराशों की श्रेणियों के। बेशक ये व्यापारिक केंद्रों की अपेक्षा राजधानियों में केंद्रित रही होंगी। लेकिन व्यापार में कुछ नई चीजें भी दाखिल की गईं और लगता है, मार्गों में परिवर्तन हुआ। सबसे महत्त्वपूर्ण बड़े पैमाने पर घोड़ों का आयात था। छोटी-छोटी लड़ाइयों की भी घटनाओं में वृद्धि होने से अधिकाधिक घोड़ों की ज़रूरत पड़ती होगी। सेना में अश्वारोहियों पर शायद ज़्यादा भरोसा किया जा रहा था। इससे भी घोड़ों के आयात में इजाफा हुआ होगा। धातु की रकाबों और घोड़ों के अधिक उन्नत साज-सामान के कारण अश्वारोही सेना पहले की अपेक्षा अधिक दुर्घर्ष हो गई। घोड़ा व्यापार का प्रमुख माल बन गया—सो केवल पश्चिमोत्तर में ही नहीं बल्कि पश्चिमी

तट पर और आगे दक्षिण भारत तक में। उत्तर के भारतीय अश्व-व्यापारी, जिनमें से कुछ ब्राह्मण थे, भारत-ईरान सीमा-क्षेत्रों तथा पश्चिमोत्तर के व्यापारियों के साथ व्यापार करते थे, और निस्संदेह और आगे मध्य एशिया में गजनी आदि के केंद्रों के साथ भी कारोबार करते थे। भारत-स्थित व्यापारिक केंद्र बहुधा नए ठिकानों में थे-जैसे सिंधु-गंगा जल-विभाजक क्षेत्र में पृथूदक या पेहोआ में या पश्चिमी गांगेय मैदान में अन्य ठिकानों में अथवा वेरावल और कांबे में। पूर्वी भारत में भी नए व्यापारिक केंद्र लाभदायक हो गए।

पृथूदक के अश्व-विक्रंताओं में ब्राह्मण भी शामिल थे, जो स्पष्ट ही ब्राह्मणों के लिए पशु-व्यापार से जीविका अर्जित करने का वर्जन करनेवाले धर्मशास्त्रीय विधान का उल्लंघन कर रहे थे। अभिजनों को घोड़े सुलभ कराना स्पष्ट ही अत्यधिक आकर्षक व्यवसाय था। पृथूदक में चलनेवाले वाणिज्य से संबंधित अन्य व्यापारियों के नामों से लगता है कि वे अब्राह्मण थे। व्यापार के प्रबंधन की देखरेख एक समिति करती थी। पृथूदक और कन्नौज के मंदिरों को दान दिए गए। मालूम होता है, घोड़ों का व्यापार पशु-मेलों के स्थलों से विकसित हुआ। ऐसे मेलों में घोड़े सर्वप्रमुख पशु होते थे। उससे आगे घोड़े दूर-दूर के क्षेत्रों में फैले बाज़ारों में बेचे जाते थे। पृथूदक गांगेय मैदान के प्रवेश-बिंदु पर स्थित था, और वह दक्षिण-पश्चिम की ओर राजस्थान तथा दक्षिण की ओर दकन को जानेवाले मार्गों से भी जुड़ा हुआ था। दक्षिण की ओर जानेवाला मार्ग उस क्षेत्र के एकांत को भंग करता होगा जिसे अलग-थलग समझा जाता था। इन मार्गों पर पड़नेवाले बाजार इन क्षेत्रों में जाति-व्यवस्था पर आधारित समाज को दाखिल करने में सहायक हुए होंगे, और आसपास के वनांचलों के निवासियों को भी प्रभावित किया गया। *हर्ष-चरित* में बाण द्वारा किया गया विंध्य वनों में एक शबर वस्ती का वर्णन इस संक्रमण के कई पहलुओं का स्पर्श करता है, यद्यपि वह इस काल से पहले सातवीं सदी में ही लिखा गया।

व्यापार के परिमाण में वृद्धि करनेवाले कई कारक थे। उनमें से अधिक स्पष्ट कारक था भारतीय उत्पादों में अरब व्यापारियों की दिलचस्पी और इधर दक्षिण-पूर्व के साथ चलनेवाले विनिमयों में भारतीय व्यापारियों की रुचि। पश्चिमी भारत को जीतने के अरबों के आरंभिक इरादे का प्रेरणा-स्रोत केवल प्रादेशिक विजय की अपेक्षा शायद बंदरगाहों तथा व्यापारिक केंद्रों के पृष्ठदेशों पर नियंत्रण स्थापित करने की उनकी इच्छा थी। जहां एक फूलते-फलते आर्थिक उद्यम के रूप में व्यापार पहले से ही चल रहा था-जैसे कि गुजरात में-वहां समृद्ध भू-स्वामियों पर निर्भरता कम थी। लेकिन अन्यत्र एक कम स्पष्ट लेकिन फिर भी महत्त्वपूर्ण कारक उन प्रक्रियाओं की पुनरावृत्ति रही होगी जिनसे पूर्ववर्ती काल में शहरों के विकास को प्रोत्साहन मिला था। राज्य या भूस्वामियों द्वारा सुलभ कराए गए आदानों के फलस्वरूप कृषि-अर्थव्यवस्था की अभिवृद्धि के कारण व्यापार में निवेश के लिए धन उपलब्ध हुआ। कृषि अधिशेष

का अधिकांश उनके हाथों में नहीं जाता था जो उसका उत्पादन करते थे बल्कि उनकी तिज़ोरी में चला जाता था जिन्हें लगान और श्रम-कर अदा करना उत्पादकों की नियति थी। इस सबके ऊपर से उत्पादों की बिक्री या विनिमय पर लगाए गए तरह-तरह के करों या सिंचाई, उपकरणों तथा मिलों जैसी सुविधाओं के इस्तेमाल पर लगाए गए करों से भूस्वामियों का भंडार समृद्ध होता था। ग्रामीण क्षेत्रों में धनाढ्य भूस्वामियों की मौजूदगी से विनिमय केंद्रों को बढ़ावा मिला, जिससे स्थानीय रूप से उत्पादित वस्तुओं की उपभोक्ता-मांग में वृद्धि हुई। नमक, धातु आदि आवश्यकता की वस्तुओं के संबंध में तो ऐसी मांग पहले से ही मौजूद थी, अब उसमें अन्य वस्तुएं भी जुड़ गई होंगी।

इसके फलस्वरूप हट्ट जैसे ग्रामीण विनिमय केंद्रों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला। उनमें से कुछ विकसित होकर शहर बन गए, जो उपमहाद्वीप के अंदर उत्पादित की जानेवाली वस्तुओं का व्यापार करते थे। इस तरह के व्यापार में एक हद तक जो पैदा किया जाता था उसी का वितरण होता था। उदाहरण के लिए, गन्ने के लिए ऐसे स्थान की आवश्यकता थी जहां गन्ने या गुड़ का विनिमय हो सकता था या उन्हें बेचा जा सकता था। यही बात कपास पर भी लागू होती थी। जिन स्थानों में राज्य का प्रशासन करों और चुंगियों–*मंडपिका*–की वसूली करता था वे भी शहर बनने की संभावनाओं से युक्त स्थान थे। मंदिरों के स्थान और तीर्थस्थल शहरीकरण को बढ़ावा दे सकते थे। इसका उदाहरण सोमनाथ मंदिर था, जो वेरावल बंदरगाह के निकट था। ऐसे स्थानों में मंदिरों तथा उपासना-स्थलों का निर्माण कभी-कभी व्यापारियों द्वारा कराया जाता था। उदाहरण के लिए, पृथूदक से अपना कारोबार चलानेवाले व्यापारियों के इस आशय के प्रलेख उपलब्ध हैं कि उन्होंने पूजा के स्थानीय स्थलों को दान दिए।

राजा द्वारा की गई कार्रवाई से भी बाजार स्थापित करने में सहायता मिल सकती थी। राजस्थान के एक प्रतिहार राजा के नौवीं सदी के एक अभिलेख में जोधपुर के निकट एक स्थान में बाजार की स्थापना का वर्णन किया गया है। इससे पहले वहां पशु-चारक आभीर लोग रहते थे, और उसे केंद्र बनाकर उस क्षेत्र के निवासियों को लूटा करते थे, क्योंकि उसकी सुरक्षा की व्यवस्था के लिए प्रशासन के लिए वहां पहुंचना आसान नहीं था। आभीर पशु-चारक अकसर इस तरह की हरकतें करते रहते थे। राजा ने कठोर कार्रवाई करते हुए उनके गांवों को जला दिया, उनके पशु छीन लिए और उस क्षेत्र में गन्ने की खेती शुरू करवा दी और फलों के बगीचे लगवा दिए। रोहिंसाकूप गांव को बाजार में बदल दिया गया और वहां व्यापारियों की बस्ती बसा दी गई। जैन भिक्षुओं और व्यापारियों ने एक जैन मंदिर बनवाया, जिसका अनुरक्षण वही लोग करते थे। एक और भी तरह की गतिविधि से शहरों के उदय में मदद मिली। इस गतिविधि का संबंध राजदरबार से था। राजदरबारों को बेशक शहरी संस्कृति की

नफासत अधिक रास आती थी, लेकिन कभी-कभी उसे अस्थायी लेकिन काफी सजधज से युक्त शिविरों से काम चलाना पड़ता था। कुछ राजकीय अभिलेख अस्थायी शिविरों से जारी किए गए। अगर कुछ ख़ास-ख़ास स्थानों में बार-बार शिविर स्थापित किए जाते थे तो उनके शहरीकरण के तंत्र का अंग बन जाने की संभावना बहुत रहती थी। शहरों के लिए पुराने शब्दों–*पुर*, *नगर*, *पट्टण*आदि–का प्रयोग जारी रहा। बड़े शहरों को *महानगर*कहा जाता था।

व्यापार के संवाहकों में पशु-पालकों से लेकर जहाज-मालिक तक शामिल थे। बनजारे पशु रखते थे और वे उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में घूमते रहते थे। माल के परिवहन के लिए उनका व्यापक उपयोग किया जाने लगा। ऊंटों के चरवाहे रेगिस्तानों तथा शुष्क क्षेत्रों में माल की ढुलाई करते थे। ऐसे समूह फेरी लगाते थे और आरंभिक किस्म का व्यापार करते थे। वे कभी-कभी अधिक जटिल वाणिज्यिक सौदों में भी शिरकत करते थे। पशु-पालक गाड़ियों के लिए बैल भी मुहैया करते थे। बैलगाड़ी मैदानी इलाकों में परिवहन का सबसे अधिक प्रचलित साधन थी। लद्दू गधों का इस्तेमाल खड़ी चढ़ाईवाले इलाकों और पहाड़ी क्षेत्रों में अधिक किया जाता था। बैलों या रेगिस्तानों में ऊंटों द्वारा खींचे जानेवाले कारवां या सार्थ की तुलना में यह छिटपुट इंतजाम था। सार्थों की व्यवस्था सार्थवाह करते थे। व्यापारी के लिए श्रेष्ठि शब्द का प्रयोग जारी रहा। आज का सेठ या सेट्ठि उसी का देशज रूप है। *नौवित्तक* या उसके अरबी पर्याय *नाखुदा*से विशेष रूप से धनाढ्य ऐसे व्यापारियों का बोध होता था जो जहाजों के मालिक होते थे। इससे समुद्री व्यापार के विस्तार का संकेत मिलता है। तेरहवीं सदी के कुछ संपन्न व्यापारियों ने–जैसे वस्तुपाल और जगडू ने–अपनी संपत्ति समुद्री व्यापार से बनाई थी, जिसके लिए उनका आदर किया जाता था। वे चौलुक्यों की राजधानी अनहिल पाटण की नगर परिषद के सम्मानित सदस्य थे। पश्चिमी भारत के जैन केंद्रों को इनमें से कुछ व्यापारियों से भरपूर दान मिले।

ब्याज पर कर्ज देने या *कुसिदा*का काम पेशेवर ढंग से वित्त-दाता और साहूकार करते थे। ब्याज की दर आम तौर पर 15 प्रतिशत होती थी। लेकिन राष्ट्रकूट राज्य तथा कुछ अन्य स्थानों में 25 प्रतिशत की दर भी होती थी। दरें वस्तुओं, उनके परिवहन के तरीके और गंतव्य की दूरी के अनुसार अलग-अलग होती थीं। चक्रवृद्धि ब्याज और जिन्सी ब्याज के भी उल्लेख हुए हैं। जिन्सी ब्याज में माल भी हो सकता था और श्रम भी। ब्याज दरों के संदर्भ में जाति के विचार को, मालूम होता है, नियमबद्ध कर दिया गया था। जिस मूल धन पर ब्राह्मण से 2 प्रतिशत लिया जाता था उसी पर शूद्र से 5 प्रतिशत या उससे भी अधिक लिया जाता था।

सातवीं से दसवीं सदी तक दृष्टिगोचर होनेवाले मुद्रा के अभाव और विशेषत: गुप्त काल के बाद अच्छी गुणवत्तावाले सोने के सिक्कों की समाप्ति को सामंती अर्थव्यवस्था की विशेषता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस काल में सोने के

सिक्कों का चलन कम तो हो गया दिखता है, परंतु कोई व्यापक सामान्य निष्कर्ष निकालना समस्यामूलक है, क्योंकि स्थिति में क्षेत्रीय विभिन्नताएं थीं और विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में सिक्कों की भूमिका में फर्क था। पाठों में ख़ास तौर से नौवीं सदी से सिक्कों की बहुत सारी विविध किस्मों के उल्लेख हुए हैं, यद्यपि चलनशील सिक्कों के परिमाणों में भिन्नताएं थीं। जिन सिक्कों के उल्लेख हुए हैं वे हैं द्रम्म, दीनार, निष्क, रूपक, गद्यानक, विंशतिक, कार्षापण, गधैया, टंका आदि। मौद्रिक सौदों के उल्लेखों का मतलब यह होना चाहिए कि सिक्कों का चलन था, लेकिन सवाल मौद्रीकरण के परिमाण का है। कुछ क्षेत्रों में, जैसे पंजाब, हरियाणा, पश्चिमोत्तर और सिंध में सिक्कों का चलन आम था, और दिलचस्प बात यह है कि यही वे क्षेत्र हैं जहां भूमिदान दिए भी गए तो बहुत कम।

हिंद-ससानी सिक्के पांचवीं सदी से भारी संख्या में चलन में थे। गधैया सिक्कों के मूल्य यद्यपि कम थे तथापि गुप्तोत्तर काल में वे भी चलन में थे। आठवीं से ग्यारहवीं सदी तक गुर्जर-प्रतीहारों से संबंधित रजत-ताम्र (बिलन) दम्मों तथा सिंध, पश्चिमोत्तर और कश्मीर में स्थानीय रूप से जारी किए गए द्विधातु सिक्कों के उल्लेख मिलते हैं। भारत के पश्चिमी तट से प्राप्त दसवीं सदी के एक अभिलेख में जिक्र हुआ है कि व्यापारिक माल लेकर आनेवाले प्रत्येक जहाज पर एक स्वर्ण गद्यानक कर देय था, और यह कर मंदिर और उसके पुजारियों को दिया जाना था। पश्चिमी तट के समानांतर केंद्रों में उमय्यों द्वारा जारी किए गए सोने के सिक्के चलते थे। ग्यारहवीं सदी से उत्तरी तथा पश्चिमी भारत में वृषभ-अश्वारोही रजत-ताम्र (बिलन) सिक्के चलन में थे, और कुछ कम हद तक सोने के भी कुछ किस्मों के सिक्के। पूर्वी भारत में व्यापक रूप से प्रचलित हरिकेला के चांदी के सिक्कों के जिक्र मिलते हैं। सोने-चांदी के चूर्ण क़े पैकेट भी शायद चलन में रहे होंगे, यद्यपि सिक्कों की तुलना में यह विनिमय का भोंडा तरीका था। छोटे सौदों के लिए तांबे के सिक्के पसंद किए जाते थे और अधिक स्थानीकृत विनिमय के लिए कौड़ियों का आम चलन था। कुछ सिक्कों के धातु-तत्वों में गिरावट आई।

पश्चिमोत्तर और सिंध में सिक्कों की ढलाई जारी रही और उनके चलन की पहुंच में उत्तर भारत के भी कुछ हिस्से आते होंगे। दसवीं सदी के पूर्व तक गंगा के मैदान के केंद्रीय भाग में, लगता है, सिक्कों की आपूर्ति कम थी। सातवीं से दसवीं सदी तक सिक्कों के चलन के विशद क्षेत्रीय अध्ययन की आवश्यकता है, जिसमें टकसालों, सिक्कों के वजनों, सामग्री, रंगरूप और मुद्रालेखों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। यदि मुद्रा के अभाव से सामंती स्थितियां उत्पन्न हुईं तो दसवीं सदी से उत्तर भारत के अनेक भागों में सिक्कों के चलन में वृद्धि के फलस्वरूप, निस्संदेह, इस काल में पूर्ववर्ती काल के मुकाबले स्पष्ट बदलाव आए होंगे।

पूर्वी भारत में सेनों ने नकद राजस्व निर्धारित करने का चलन आरंभ किया।

पश्चिमी भारत से प्राप्त तेरहवीं सदी के एक भूमिदान-पत्र में राजस्व के रूप में 3000 द्रम्म का तथा करों के तौर पर अन्य विभिन्न राशियों का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार का एक पूर्ववर्ती अनुबंध आठवीं सदी का है, जिससे लगता है कि धातु के ढले सिक्के उपलब्ध थे। धीरे-धीरे सोने के सिक्के फिर ढाले जाने लगे, क्योंकि विलासिता की सामग्री की खरीद-बिक्री के लिए अधिक मूल्य के सिक्कों की ज़रूरत थी। अरब स्रोतों में जिक्र किया गया कि भारतीय व्यापारी बहुत ऊंचे दामों में घोड़े खरीदते हैं, जिनका हिसाब *दिरहम*(अरबों द्वारा प्रयुक्त सिक्के) में लगाया गया है। हो सकता है, यहां केवल अरब मुद्रा में मूल्यांकन किया गया हो, लेकिन यह भी हो सकता है कि भारतीय व्यापारियों के बीच ऊंचे मूल्य की अरब मुद्रा का चलन रहा हो।

इस काल के उत्तर चरण में व्यापारियों की बढ़ती हुई समृद्धि के फलस्वरूप समाज में वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था की व्यापकतर उपस्थिति को स्वीकृति मिली। कुछ व्यापारियों को इस आशा से दान दिए जाते थे कि वे वीरान शहरों को फिर से आबाद कर देंगे। कुछ अन्य व्यापारियों को *पंचकुलों*में नियुक्त किया जाता था। ये समितियां न केवल शहरी केंद्रों के प्रशासन की देखरेख करती थीं बल्कि कभी-कभी अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रामीण क्षेत्रों की व्यवस्था की भी निगरानी करती थीं। व्यापारी मन्नत अभिलेखों में अपने दानों को प्रलेखबद्ध करते थे, जिनमें स्वयं संबंधित व्यापारी के परिवार के साथ ही राजा की भी प्रशस्ति होती थी। ये लघु वंशावलियां सामाजिक इतिहास से संबंधित सूचना के उपयोगी स्रोत हैं। यह एक हद तक तो अपनी प्रतिष्ठा कायम करने का प्रयत्न था, लेकिन साथ ही यह व्यापार के अलग-अलग इलाकों तक सीमित न रहकर दूर-दूर तक फैल जाने के कारण जो व्यापारी समूह इधर-उधर बिखर गए थे उनकी खोज-खबर रखने का एक उपाय भी था। विवाह तय करने और उत्तराधिकार निश्चित करने में पारिवारिक इतिहासों तथा जातिगत दर्जे के संबंध में सूचना का प्राथमिक महत्त्व होता था। वंशावलियों का प्रत्येक अनुरक्षक, चाहे वह ब्राह्मण रहा हो या सूत, ख़ास-ख़ास परिवारों से संबंधित प्रलेख रखता था। यह परंपरा आगे सल्तनत काल में भी जारी रही, जिसका साक्ष्य दिल्ली के आसपास से प्राप्त अभिलेखों में मिलता है। यह राज्यव्यवस्था में वाणिज्य के महत्व की अभिव्यक्ति का एक और तरीका था।

राजस्थान के व्यापारियों और पश्चिमी भारत के शहरों के बीच नजदीकी संबंध था। माउंट आबू के अभिलेखों में ओसवाल और श्रीमाल लोगों के उल्लेख हुए हैं। वाणिज्यिक पेशों और प्रशासन के बीच एक-दूसरे के क्षेत्र के अतिक्रमण का एक दिलचस्प उदाहरण पश्चिमी भारत में जैन परिवारों के व्यक्तियों की वरीय नौकरशाही पदों पर नियुक्ति के रूप में मिलता है। जैन परंपरा में पढ़ाई-लिखाई को बहुत महत्व दिया जाता था। इसके अतिरिक्त वित्तीय उद्यमों को संभालने में वे बहुत कुशल थे।

अपने इन दोनों गुणों के कारण वे सरकार के ऊंचें पदों की जिम्मेदारी निभाने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होते थे। चौलुक्यों के बहुधा जैन मंत्री होते थे। उनमें से कुछ ने तो गुजरात के इतिहास में बहुत-से राजाओं से भी अधिक योगदान किया। हेमचंद्र न केवल असाधारण विद्वान थे, बल्कि वे एक सुयोग्य प्रशासक के रूप में भी विख्यात थे।

इस काल के अंतिम दौर में थलमार्गीय तथा जलमार्गीय दोनों किस्मों के यूरेसियाई व्यापारिक संबंध एशिया और यूरोप के दूर-दूर के क्षेत्रों को—पूर्वी भूमध्य सागरीय क्षेत्र और बैजंतिया से लेकर पूर्वी एशिया तक को—बरास्ता मध्य एशिया और हिंद महासागर आपस में जोड़नेवाले कारक के रूप में उभर रहा था। इनके बीच अंतर्संबद्ध आर्थिक हित थे; इनके पास आपस में विनिमेय माल था; और इनके बीच बाजारों के लिए स्पर्धा चलती थी। अरब लोग समुद्री मार्गों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने की दिशा में अग्रसर हो रहे थे, जब कि बहुत-से अन्य लोग थलमार्गीय व्यापार के परिपथों पर अपने कारोबार आगे बढ़ा रहे थे। और इधर भारतीय व्यापारी भी कम से कम अपनी एक पारंपरिक भूमिका निभाता रहा—बिचौलिए की।

नई सामाजिक प्रवृत्तियां

बहुत-से नए समूहों ने जातियों के प्रतिष्ठित सोपान में प्रवेश किया। शायद सबसे साफ-साफ नई क्षत्रिय जातियां दिखाई दे रही थीं। उनके द्वार उन लोगों के लिए खुले हुए थे जिन्होंने राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर ली थी और किसी वंशावली या उपयुक्त वैवाहिक संबंध के आधार पर अपना दावा पेश कर सकते थे। जो लोग मौजूदा क्षत्रिय जातियों से संबंध का दावा कर सकते थे उनके अतिरिक्त जातीय समाज में समाविष्ट कर लिए गए सामंतों या सरदारों की कोटि के दानभोगी भी इसी वर्ण में शामिल थे। नए क्षत्रियों का एक अभिजात वर्ग था, लेकिन वे लोग अपने साथ पूर्ववर्ती आचार-व्यवहारों के तत्व लेकर आए थे, जिनका कम से कम दिखावटी तौर पर जातीय समाज के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाना था। ऊपरी जातियों के आचार-व्यवहारों का अनुकरण करके उपयुक्त दर्जे का दावा किया जाता था। इस प्रकार के दावों ने नए शासक वर्ग को प्रभुत्व और मातहती का एक सोपान लागू करने का अवसर प्रदान किया। उसकी शक्ति का स्रोत परिवर्तित भूमि-संबंध और सत्ता के नए केंद्र थे। इस काल का अंत होते-होते उन लोगों के लिए *राउत*, *राणक*, *ठक्कुर* आदि पदनाम सुलभ हो चुके थे, जिन्हें भूमिदान प्राप्त हुए थे और इस प्रकार जो लोग भोक्ता बन गए थे।

कुछ-कुछ ऐसा ही था शूद्र जातियों का विस्तार। दरअसल उनका तो और भी ज़्यादा विस्तार हुआ, जो पशु-चारकों तथा वनवासियों के बहुधा किसान जातियों के

रूप में जातीय समाज में समाविष्ट किए जाने का परिणाम था। विशेषज्ञता-प्राप्त कारीगरों के कुछ संगठन भी, जिनके सदस्यों की संख्या ग्रामीण बाजारों तथा शहरी व्यापारिक केंद्रों की मांगों के कारण बढ़ती जा रही थी, जातिगत पहचानों के आधार बन गए। वैश्यों तथा शूद्रों के बीच के भेदों का जिक्र पहले से कम होता था, और कुछ क्षेत्रों में वैश्य वर्ण लगभग अनुपस्थित था। दक्षिण भारत में वेलालों जैसे संपन्न किसान शूद्र ही बने रहे और क्षत्रियों तथा वैश्यों की आपेक्षिक अनुपस्थिति के कारण ऊंची जातियों का दर्जा हासिल करने की कोशिश करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। लेकिन इसके विपरीत, उत्तर भारत में समृद्ध भूस्वामियों ने अपनी जाति को क्षत्रिय का दर्जा दिलाने का विशेष प्रयत्न किया। शूद्र जातियों की सूचियों का इतना विस्तार हुआ कि नए वर्गों की सृष्टि करनी पड़ी। संकर जातियों के अतिरिक्त सत्-शूद्र और असत्-शूद्र, अर्थात् स्वच्छ और अस्वच्छ शूद्र का भेद भी किया जाने लगा। वर्गों के इस विस्तार से न केवल यह सूचित होता है कि इनमें अधिकाधिक लोगों का समावेश हो रहा था, बल्कि यह भी प्रकट होता है कि कुछ वर्गों के शूद्र अधिक ऊंचे माने जानेवाले कामों में लग रहे थे, और इसलिए उन्हें उन लोगों से भिन्न माना जाने लगा जो अब भी निम्न कोटि के कामों में लगे हुए थे।

व्यापारी विभिन्न संघों के माध्यम से अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाते थे। इनमें से एक थी *श्रेणि*। एक स्रोत के अनुसार, श्रेणि ऐसे लोगों का समूह थी जो एक ही प्रकार के पेशे में लगे हुए थे, चाहे वे एक ही जाति के रहे हों या अलग-अलग जातियों के। अगर अलग-अलग जातियों के होते थे तो उस हालत में निस्संदेह वे एक-दूसरे से संबंधित जातियां थीं। प्रवृत्ति तो जाति-संबंध से जुड़े लोगों को ही सदस्यता में प्राथमिकता देने की रही होगी। इन संघों ने व्यापारियों को अपना व्यापार या शिल्प किंचित् स्वतंत्रतापूर्वक संगठित करने की सामर्थ्य प्रदान की होगी। लगता है, राजा इसे मान्य करते होंगे, बशर्ते कि उससे व्यापार से उन्हें प्राप्त होनेवाले करों में बाधा न पड़ती हो। बल्कि सच तो यह है कि उससे उनकी आय शायद बढ़ती ही होगी। प्रभावशाली व्यापारी, जो कभी-कभी *महाजनों*की श्रेणी में रखे जाते थे, विविध प्रबंध समितियों में नियुक्त किए जाते थे, जिनमें मंदिरों की प्रबंध समितियां भी शामिल थीं। उनकी जाति चाहे जो रही हो, उनका सर्वत्र स्वागत होता था, जिसका कारण शायद यह था कि वे उदारता से दान देते थे।

ब्राह्मण जातियों में कई कोटियां थीं। सर्वाधिक समादृत श्रोत्रिय ब्राह्मण थे, जो धनाढ्य ब्राह्मण बस्तियों या अग्रहारों से संबंधित हो सकते थे। उनका नामकरण बहुधा उनके मूल निवास-क्षेत्र पर होता था—जैसे कन्नौज (कान्यकुब्ज), उत्कल, गौड़ और मिथिला। प्रचुर दानों के ग्रहीताओं के रूप में उन्होंने वैदिक ज्ञान तथा संस्कृत विद्या के केंद्र विकसित किए। बहुत-से ब्राह्मण अपने-अपने अग्रहारों से निकलकर धन और प्रतिष्ठा की तलाश में दूर-दूर के राजदरबारों में पहुंचे। उदाहरण के लिए, बिल्हण का

परिवार कन्नौज से देशांतरण करके कश्मीर पहुंचा था। स्वयं बिल्हण ने उत्तरी और पश्चिमी भारत का भरपूर भ्रमण किया और अंत में दकन में चालुक्य दरबार में स्थिर हो गया। इस प्रकार की नियुक्ति से भूमिदानादि मिलते थे और सांस्कृतिक संस्कृति के प्रचार और प्रतिष्ठापना में सहायता प्राप्त होती थी। दरबारों में बौद्ध या जैन विद्वानों से उनकी प्रतिद्वंद्विता के किस्से भी प्रचलित हुए। जैन लेखकों ने दावा किया कि चौलुक्य-राज कुमारपाल को जैन बना लिया गया, लेकिन शैवों ने इस दावे का प्रतिवाद किया। इनके अलावा साधारण ब्राह्मण भी थे–जैसे घोड़ों का व्यापार करनेवाले ब्राह्मण, कुछ श्रेणियों के मंदिरों के पुजारी ब्राह्मण, गांवों में कर्म करानेवाले पुरोहित ब्राह्मण आदि। इनका दर्जा उपर्युक्त ब्राह्मणों से हीन था। कुछ ऐसे ब्राह्मण भी रहे होंगे जो श्रमसाध्य संस्कृत विद्याध्ययन से बीच में ही हट जाते होंगे। इनके अलावा वे ब्राह्मण थे जो उन स्थानीय उपासनाओं के पुरोहित-पुजारी थे जिन्हें पौराणिक हिंदू धर्म में खपा लिया गया था।

मध्यवर्ती जातियां कभी-कभी ऊंचे दर्जे का दावा करती थीं। उन्हीं में से थे कायस्थ जाति के लोग। वे प्रशासन के कातिब थे और दस्तावेज लिखने तथा प्रलेख रखने का काम करते थे। उन्हें कौन-सा दर्जा दिया जाए, इस संबंध में कुछ उलझन थी। कुछ लोगों का कहना था कि वे स्थान-च्युत क्षत्रिय हैं, लेकिन कुछ अन्य लोग उन्हें ब्राह्मण तथा शूद्र के संयोग से उत्पन्न वर्णसंकर कहते थे, और यदि ऐसा था तो उनका स्थान निम्न ही होना था। लेकिन राजाओं से संपर्क के कारण उनका सामाजिक दर्जा बढ़ गया और उनमें से जिन्हें भूमिदान मिले और जिन्होंने स्वयं भी अनुदान दिए वे अभिजनों में शुमार हो गए। चंदेलों, कलचुरियों तथा गंगों के कायस्थ मंत्रियों के उल्लेख मिलते हैं।

कुछ जातियां ऐसे पूर्वजों के वंशज होने का दावा करती थीं जिनका सामाजिक स्थान ऊंचा था, लेकिन उनका मानना था कि उनके दर्जे को आर्थिक आवश्यकताओं के कारण या किसी कर्मकांड के संपादन में चूक हो जाने की वजह से घटा दिया गया। उत्तरी भारत की व्यापारियों की एक सुस्थापित जाति खत्रियों ने हाल में क्षत्रिय मूल का दावा करते हुए यह विचार सामने रखा कि उनके दर्जे के घटा दिए जाने का कारण सिर्फ यह था कि उनका धंधा व्यापार था। गुर्जरों, जाटों तथा अहीरों ने भी क्षत्रिय मूल्य का दावा किया और यह माना कि वे अपना दर्जा खो बैठे। नई जातियों का उदय जाति-आधारित समाज के आरंभ से ही उसकी विशेषता रहा है, लेकिन पूर्व कालीन कृषि-समुदायों में उसकी गति शायद धीमी थी, क्योंकि तब गैर-जातीय समूहों को जातियों में स्थान देने का दबाव नहीं था। इस काल में कृषि-अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना, तीव्र व्यापारिक गतिविधियां तथा कुछ ऊंची जातयों के इधर-उधर फैल जाने से जाति-व्यवस्था में नए लोगों के समाहर में गति आई। जो लचीलापन ऊंची जातियों से संबंधित समाज के संदर्भ में बरता जाता था वह उन लोगों के लिए नहीं

था जो इस व्यवस्थाके निम्नतम सोपान पर या जाति-आधारित समाज के बाहर माने जाते थे। जाति के संबंध में रूढ़िवादी दृष्टियों का कुछ प्रतिवाद तो किया गया, लेकिन तब भी सामान्यत: वे ऊपरी जातियों में कायम ही रहीं।

उच्च वर्ग की स्त्रियों से पितृसत्तात्मक नियमों का पालन करने की अपेक्षा रखी जाती थी। निचली जातियों की स्त्रियों का नियमन बहुधा उनकी जाति के नियमों से होता था, जिससे कुछ मामलों में उन्हें पितृसत्तात्मक दबावों से बचने में सहायता मिलती थी। जातियों के भी बीच कौटुंबिक पद्धति तथा स्त्री-पुरुष-संबंध के मामलों में भेद रहे होंगे। यह संभव है कि जाति के दर्जे की प्राप्ति की आरंभिक अवस्थाओं में पिछले दर्जे से संबंधित कुछ पारंपरिक प्रथाएं कायम रहती होंगी। लेकिन धीरे-धीरे ऐसी प्रथाएं या तो जाति-विशेष की प्रथाओं में शामिल कर ली जाती होंगी, या जातीय समाज से निकटता के फलस्वरूप जातीय नियमों का अधिक ईमानदारी से पालन करना जरूरी हो जाता होगा। उदाहरण के लिए, पति की मृत्यु के बाद क्षत्रिय स्त्री को सती हो जाने के लिए प्रोत्साहित करने से नियोग और विधवा-विवाह जैसी प्रथाओं के लिए समर्थन कमज़ोर पड़ गया होगा। इस तरह की प्रथाओं और धर्मशास्त्रों में निम्न कोटि के माने जानेवाले विवाह के अन्य रूप शूद्रों के बीच नकारे नहीं गए। पश्चिमी भारत में कुछ समूहों के बीच रिश्ते के भाई-बहनों या मामा-भांजियों के बीच विवाह अज्ञात नहीं था, लेकिन दक्षिण भारत की तुलना में यहां उनके उल्लेख कम ही हुए हैं। हिमालयी सीमाओं पर बसे समाजों में कई-कई भाइयों के एक ही स्त्री से विवाह करने की प्रथा जारी रही, यद्यपि ऐसे समाज बहुधा बौद्ध हुआ करते थे।

तथापि ऊपरी जातियों के आदर्श का प्रभाव स्पष्ट था। उच्चतर दर्जे की मांग करने के सिलसिले में पितृसत्तात्मकता की अपेक्षाओं पर खरे उतरने का आग्रह रखा जाता होगा—ख़ास तौर से विवाह तथा उत्तराधिकार के ऊपरी जातियों के नियमों के पालन पर। जो समूह जातीय समाज में समाहार की प्रक्रिया से गुजर रहे होंगे उन्हें इस परिवर्तन के कारण कुछ तनाव का अनुभव अवश्य हो रहा होगा। ऐसे समूहों में मध्य भारत के वनवासी सरदार या जो राजवंशों की रचना में सहायता दे रहे थे वे समूह—जैसे कि भील, जिनका राजस्थान में गुहिलों से अथवा गोंड, जिनका चंदेलों से संबंध था—शामिल रहे होंगे। वे अपेक्षाकृत अधिक समतावाद के अभ्यस्त थे और ऐसी व्यवस्था का लाभ स्त्रियों को भी प्राप्त था। इसलिए नए सामाजिक नियमों के अनुसार आचरण करने की आवश्यकता के कारण उनका संक्रमण समस्यामूलक रहा होगा।

अस्पृश्यों के लिए अपनी स्थिति सुधारने की कोई संभावना नहीं थी। उन्हें जातीय समाज के दायरे से बाहर माना जाता था। न केवल उनका स्पर्श अशौचकारी था, बल्कि किसी ब्राह्मण के रास्ते में उनका साया पड़ जाने से भी उसके लिए शुद्धि-स्नानादि आवश्यक हो जाता था। कभी-कभी उन्हें म्लेच्छों की कोटि में रख दिया जाता था, जिसका मतलब यह था कि वे जातीय समाज में शामिल नहीं किए

जा सकते थे और भाषा तथा रीति-रिवाजों में उससे भिन्न थे। जो लोग पहले से ही अस्पृश्य स्थिति में थे उनके वंशजों के अलावा वे कबीले और जन-समुदाय—कभी-कभी विदेशी मूल के जन-समुदाय भी—इस वर्ग में शामिल थे जो जातिगत पहचान के लिए अपात्र थे। पात्रता कैसे निर्धारित की जाती थी, यह बात कुछ-कुछ अस्पष्ट है और इसमें संदेह नहीं कि उसका निर्धारण, अन्य बातों के अलावा, लाभदायक धंधों के लिए श्रम की आवश्यकता से प्रभावित होता था। श्रम की आवश्यकताओं की दृष्टि से देखें तो दरिद्रतापूर्ण आर्थिक तथा निम्न कर्मकांडी स्थिति से जकड़ा एक स्थायी श्रमिक वर्ग उन बहुत सारे लोगों के लिए एक आर्थिक संपदा था जो इस श्रम पर निर्भर थे। जन्म से स्थिति के निर्धारण पर सतत् आग्रह उसका स्थायित्व सुनिश्चित करता था।

इसलिए अस्पृश्यों की स्थति अपरिवर्तनीय थी। ग्रामीण क्षेत्रों में वे अकसर भूमिहीन श्रमिक होते थे, जिनसे कसकर काम लिया जाता था। शहरी बस्तियों में वे भंगी थे, जो श्मशान भूमि की भी देखभाल करते थे, जहां मृत्यु से निकटता उन्हें गुरु-गंभीर कर्मकांडी अशौच से जोड़ देती थी। इसलिए उन्हें निवास के सामान्य हलके से बहुत दूर रहना पड़ता था। बौद्ध और जैन भी अस्पृश्यों के स्पर्श से अशुद्ध होने की मान्यता को व्यवहारतः चुपचाप अनुमोदन प्रदान करते थे, यद्यपि अन्यथा वे मनुष्य के गुण-धर्म के निर्धारण में सामाजिक भेदभाव के खिलाफ दलील देते थे। लेकिन कुछ अन्य संप्रदाय, जैसे तांत्रिक और अघोरी श्मशानों में जाकर कर्मकांड करना और जातीय नियमों को भंग करना अपना परम कर्तव्य मानते थे, मगर ये सामाजिक संगठन के नियमों को बदलने के लिए काम करनेवाले संप्रदाय नहीं थे। उनका सरोकार कर्मकांडी निषेधों को भंग करना और रूढ़िवादी धर्म-कर्म की अवहेलना करना था।

कुछ स्तरों पर समाज में परिवर्तनों को दृष्टिगत करते हुए मौजूदा सामाजिक नियमों में संशोधन की आवश्यकता थी, लेकिन स्पष्ट रूप से ऐसा कुछ करने से बचा गया। संशोधन पूर्ववर्ती धर्मशास्त्रों की टीकाओं के रूप में सामने आ सकते थे। बहुद्धृत टीकाओं में मेधातिथि और कुल्लुक की टाकाएं थीं। मेधातिथि ने दसवीं सदी में मनु के अत्यधिक प्रामाणिक माने जानेवाले धर्मशास्त्र की टीका लिखी और कुल्लुक का लेखन-काल तेरहवीं सदी में पड़ता था। ऐसी टीकाओं में भिन्न प्रकार के आचार-व्यवहारों वाली परिवर्तित परिस्थिति के साथ पुराने नियमों का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता था। इन नए आचार-व्यवहारों का संबंध नई जातियों के प्रथागत रीति-रिवाजों से या धनाढ्य व्यापारियों तथा भूस्वामियों के दर्जे में उत्थान से होता होगा। चूंकि धर्मशास्त्रों के ढांचे के अंदर रहते हुए बड़े परिवर्तन अस्वीकार्य थे, इसलिए थोड़े-बहुत फेरबदल से ही पूर्ववर्ती पाठ समकालीन परिस्थितियों के लिए अधिक प्रासंगिक हो जाते थे।

पारिवारिक कानून की दो प्रणालियां–दायभाग और मिताक्षरा–ऊपरी जातियों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गईं और अभी हाल तक ऐसी ही रहीं। दोनों प्रणालियों का संबंध अन्य बातों के अलावा परिवार-विशेष के पुरुष सदस्यों के स्वामित्व में स्थित संपत्ति से था। दायभाग के अनुसार, जो पूर्वी भाग में प्रचलित हुआ, पिता की मृत्यु के बाद ही उसके पुत्र संपत्ति पर दावा कर सकते थे और उसका विभाजन हो सकता था। अधिक प्रचलित मिताक्षरा कानून के अधीन पुत्र पिता के जीवन-काल में भी इस अधिकार का दावा कर सकता था। निस्संदेह, इस मामले में भी क्षेत्रीय तथा जातिगत विभेद रहे होंगे। जहां रिश्ते के भाई-बहनों आदि के बीच विवाह प्रचलित था या मातृवांशिक पद्धति का चलन था वहां पुत्री के उत्तराधिकार का उल्लेख भी आवश्यक था, जैसा कि कभी-कभी दानपत्रों में किया जाता था। कुछ क्षेत्रों में स्त्रियों को विशेष रूप से भेंट की गई संपत्ति अर्थात् स्त्रीधन में अब भूमि का भी समावेश हो सकता था। राजस्थान तथा गांगेय मैदान के कुछ हिस्सों में राजाओं तथा मातहत शासकों की पत्नियां अपने अधिकार के रूप में भूमि प्राप्त कर सकती थीं और रख सकती थीं और बहुधा उनके पास इतनी अधिक भूमि होती थी कि वे धार्मिक संस्थाओं और धर्म-कर्म करानेवाले व्यक्तियों को स्वयं भी भूमिदान दे सकती थीं।

विद्या और साहित्य

इस काल में जो कतिपय अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए उनमें कुछ नई साहित्यिक विधाएं भी शामिल थीं, जो अतीत के चित्रण के प्रयत्न में ऐतिहासिक बोधों की ओर उन्मुख थीं। *महाभारत*तथा *रामायण*में उन वंशों की वंशावलियों की रचना की गई थी जिन्हें इन महाकाव्यों में वर्णित संघर्षों से संबंधित माना गया था। इनका सादृश्य हमें प्रारंभिक पुराणों के वंशावलियों से संबंधित मंडलों में मिलता है, जिनमें विभिन्न वास्तविक या काल्पनिक वंशों के वंशावलीय मानचित्र जैसी एक चीज प्रस्तुत करने का और गुप्त काल तक के राजवंशों के राजाओं की सूची पेश करने का प्रयत्न किया गया। परंतु गांगेय मैदान के प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य के पूर्वतम राज्यों का, अतीत के पूर्वोदाहरणों के सहारे, मूल्यांकन नहीं किया जा सका।

बौद्ध इतिवृत्तों का अतीत के संबंध में एक भिन्न दृष्टिकोण था। एक संस्था के रूप में संघ को राज्य या अन्य संस्थाओं के आमने-सामने रखते हुए उनकी अंतर्निर्भता को वर्णन का अंग बनाया गया। इसके उदाहरण हमें श्रीलंका के पालि इतिवृत्तों में मिलते हैं, जिनकी शुरुआत पूर्ववर्ती काल की रचनाओं *दीपवंश*और *महावंश* से होती है, और जो राज्य के साथ संघ के संबंधों पर विशेष ध्यान देनेवाली *चूलवंश*जैसी रचनाओं के साथ जारी रहते हैं। लद्दाख तथा पड़ोसी क्षेत्रों के इतिवृत्तों में भी, जिनमें तिब्बती ऐतिहासिक विवरणों का इस्तेमाल नमूने के तौर पर किया गया था, उन क्षेत्रों में बौद्ध धर्म की स्थापना का ही वर्णन किया गया, लेकिन उसके साथ बहुधा राज्य

का भी उदय होता दिखाया गया है। इन विवरणों तथा सांस्कृतिक परंपरा के इतिवृत्तों में कुछ साम्य था, लेकिन इस परंपरा के इतिवृत्तों के सरोकार भिन्न थे।

गुप्तोत्तर काल में राज्यों की संरचना कुछ क्षेत्रों के लिए नया अनुभव थी। जो लोग इस अनुभव के कर्ता थे उनके लिए एक अतीत विभिन्न रूपों में पहले से ही प्रलेखबद्ध था और उसका उपयोग वर्तमान में हो रहे परिवर्तनों के वैधीकरण के लिए किया जा रहा था। यह सत्ता का दिग्दर्शक बन गया। यह बात समझते देर नहीं लगी कि अतीत का सहारा लेना सत्ता की धाक जमाने का अप्रत्यक्ष रास्ता था। उदाहरण के लिए, *विष्णुपुराण* में दिए गए राजाओं के ऐतिहासिक अनुक्रम को प्रस्थान-बिंदु बनाकर तरह-तरह के संबंध-सूत्रों की सृष्टि करके यह दरशाया गया कि आज के राजा उन पराक्रमी पुरुषों के वंशज हैं जिनका उल्लेख वंशावलियों में हुआ है। पुराणों में गुप्त शासन के बाद नए क्षत्रियों की सृष्टि का जिक्र था। इन राजाओं ने अपनी उच्च-वर्ण पूर्वज-परंपरा तथा चातुवर्ण्य समाज की रक्षा के अपने कर्तव्य पर ज़ोर देना अपना धर्म बना लिया। वंशावलियां एकरेखीय तथा वर्णनात्मक रूप में प्रस्तुत की गईं और राजवंशीय परिवर्तन को वंशावलीय काल में नापा गया।

पुराणों की वंशावलियों की सूचियां गुप्तों के बाद चुक गईं और कुछ गुप्तोत्तर राजवंशों ने अपना इतिहास आप लिखना आरंभ कर दिया। यह इतिहास राजाओं द्वारा जारी किए गए अभिलेखों के रूप में या कुछ राजाओं के जीवन-चरितों अथवा क्षेत्रीय राज्यों के इतिवृत्तों के रूप में उपलब्ध हुआ। अभिलेखों का ढांचा सामान्यतः राजा द्वारा पूजित देवता के आवाहन से आरंभ होकर उद्भव मिथक पर पहुंचता था और संबंधित राजवंश का ऊंचा स्थान प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जाता था। पूर्ववर्ती राजाओं का संबंध बहुधा पुराणों या महाकाव्यों के वीरनायकों से जोड़ दिया जाता था, जिसके फलस्वरूप वह वंश या तो सूर्यवंश हो जाता था या चंद्रवंश या कोई ऐसा ही प्रतिष्ठित वंश। उसके बाद पूर्वजों की कुछ झाँकियां दी जाती थीं और सिंहासनारूढ़ राजा का काफी विस्तृत निरूपण किया जाता था।

भूमिदान देनेवाले अभिलेखों में भी बहुत-कुछ ऐसा ही रहता था, जिनमें राजा की अनेक देश-विजयों की सूची—जो कभी-कभी काफी अतिशयोक्तिपूर्ण होती थी—और उसका चातुवर्ण्य समाज का रक्षक रूप शामिल होता था। लगभग लीक पीटनेवाले इस अंश के बाद दान की व्यावहारिक और कानूनी तफसीलें दी जाती थीं: ग्रहीता के मूल, उसकी योग्यताएं और उपलब्धियां, अनुदत्त क्षेत्र, उससे संबंधित अधिकार तथा कर्तव्य, करों की माफी—बशर्ते कि ऐसी माफी दी गई हो—और वे शुल्क तथा कर जिन्हें वसूल करने का ग्रहीता को अधिकार दिया जाता था। पाठ का समापन करते हुए साक्षियों की सूची, जो बहुधा सरकारी अमले होते थे, दानपत्र की रचना और अभिलेखन करनेवालों के नाम और यदि दान अनिरसनीय होता था तो अंत में उसका संभावित निरसन करनेवालों के विरुद्ध शाप-वचन होता था। दानपत्र कानूनी

दस्तावेज होते थे, जिनका पूर्ण रूप से सटीक होना आवश्यक था, चाहे वे शिला पर अभिलेखित करके किसी मंदिर या अन्य स्थायी भवन में स्थापित किए गए हों या ताम्रपत्र पर अभिलेखित किए गए हों।

अभिलेखों के ही समान कुछ जीवन-चरित होते थे, जो राजाओं की प्रशस्ति में लिखे जाते थे। उनका मंतव्य जानने के लिए उनके मर्म को उद्घाटित करना जरूरी होता है। उनका केंद्र-बिंदु अकसर कोई ख़ास बात होती थी, जो सत्ता की प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण होती थी। उसी का विस्तार पाठ के रूप में किया जाता था। *हर्षचरित* में हर्ष के राज्यारोहण का वर्णन किया गया था, जिसका संबंध शायद उसके गद्दी हड़प लेने से था और यदि ऐसा था तो वह ज्येष्ठाधिकार का उल्लंघन था। बिल्हण-कृत *विक्रमांकदेव-चरित*में बताया गया था कि क्यों स्वयं भगवान् शिव ने उसे अपने सिंहासनारूढ़ ज्येष्ठ भाई का स्थान लेने का परामर्श दिया था। संध्याकर नंदी-कृत *रामचरित*का विषय पाल-राज रामपाल के विरुद्ध कैवर्त्तों का विद्रोह और राजा द्वारा उन पर अपनी सत्ता की पुनर्प्रतिष्ठा था। कुछ जीवन-चरितों और अभिलेखों में राजा को विष्णु या शिव का अवतार बताया जाता था या कम-से-कम यह दरशाया जाता था कि उन्होंने सीधे उन्हीं से निर्देश प्राप्त किए। यह राजा के वैधीकरण का एक और रूप था। काल की एक इकाई के रूप में राजा के जीवन-काल से संबंधित काल-खंड को ब्राह्मणीय कालचक्र से निकालकर अलग कर लिया जा सकता था और उस हद तक उसमें काल के अधिक धर्मेत्तर रेखीय रूप का समावेश होता था।

जिस ढांचे का उपयोग अभिलेखों में किया जाता था उसके विस्तृत रूप का इस्तेमाल इतिवृत्तों में किया जाता था—जैसे कश्मीर के इतिहास *राजतरंगिणी*या उसकी अपेक्षा बहुत छोटे चंबा के इतिहास में अथवा नेपाल और गुजरात और साथ ही प्रायद्वीप के अन्य इतिहासों में। परंतु उनमें राजाओं के अधिक तफसीलवार इतिहास दिए गए हैं और राजवंशों तथा क्षेत्रों को सहज ग्राह्य रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। वे उस कोटि के साहित्य में आते थे जिसे वंशावली कहा गया है और उनका विषय किसी मठ-विहार या राजवंश अथवा क्षेत्र का इतिहास होता था, जिसे किसी मंदिर अथवा संप्रदाय या तीर्थस्थल का इतिहास माना जाता था। उसे उन मिथकों तथा आचारों के साथ गूंथ दिया जाता था जिनका वर्णन *महात्म्यों*और *स्थल-पुराणों*में किया गया होता था। *राजतरंगिणी*इस दृष्टि से अपवाद है कि कल्हण ने अनेक स्रोतों में अतीत के विश्वसनीय साक्ष्यों की तलाश की। इसलिए उसका वर्णन ऐसी घटनाओं और उनके स्पष्टीकरणों से अनुप्राणित है जिनमें से कई ऐतिहासिक नजरिए से अन्तर्दृष्टिपूर्ण हैं। निस्संदेह, यह एक असाधारण पाठ है, भले ही उसका मूल वंशावली परंपरा में क्यों न निहित हो। उसका असाधारण इतिहास-बोध शायद बौद्ध लेखन से उसके परिचय से विकसित हुआ होगा।

अभिलेखों तथा कुछ पाठों की एक विशेषता यह है कि उन्हें संवतों में

तिथ्यांकित किया गया। ये संवत् बहुधा पूर्ववर्ती संवतों के सातत्य में होते थे–जैसे 58 ई.पू. के विक्रम संवत्, 78 ई. के शक संवत् या 606 ई. के हर्ष संवत् के सातत्य में। कभी-कभी उनकी शुरुआत संबंधित काल के राजा भी करते थे—जैसे 1075 का विक्रम चालुक्य संवत्। इसके अतिरिक्त, उनका आरंभ अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त संवत् से भी होता था–जैसे 1119 के लक्ष्मण संवत् से। संवत् आरंभ करना प्रतिष्ठा का द्योतक बन गया। संवत् का नाम कभी-कभी राजा या राजवंश के नाम पर भी होता था। संवत् आरंभ करने के लिए गणना स्थानीय मौखिक पंचांग-परंपराओं पर अथवा खगोल वैज्ञानिक पर्यवेक्षणों पर आधारित हो सकती थी। वंशावलियों, राजवंशों, संवतों और इतिवृत्तों का बार-बार उपयोग करना रेखीय काल के ऐतिहासिक महत्व की समझ का द्योतक था। यह आसपास पड़नेवाला और संभाल में आने लायक काल था। यह मुख्यतः मानवीय कार्यकलाप से निर्धारित होता था, और उन बड़े-बड़े चक्रीय कालों से स्पष्ट रूप से भिन्न था जिनसे ब्रह्मांडीय कालचक्र की रचना होती थी। चक्रीय काल के अंतर्गत रेखीय काल के उपयोग से चक्रीय काल तथा रेखीय काल के एक मोहक प्रतिच्छेदन की सृष्टि होती है। यह प्रतिच्छेदन इस बात से स्पष्ट है कि वंशावलियां तथा राजवंशों की सूचियां रेखीय काल के अंतर्गत थीं लेकिन अंततः वे ब्रह्मांण के कालचक्र से आवेष्ठित हो जाती थीं।

भूमिदानों से ब्राह्मणीय विद्या के अभ्यास के केंद्रों की नींव पड़ी। ये केंद्र व्यापक रूप से फैले हुए थे, लेकिन इन्हें पाठों और प्रशिक्षण की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति अग्रहारों तथा मठों की बढ़ती हुई संख्या से हुई। इससे शास्त्रार्थ के लिए जीवंत स्थानों का विकास हुआ, जो बौद्धों तथा ज़ैनों के भिक्षु केंद्रों के समान थे। संस्कृत में अभिव्यक्त ब्राह्मणीय तथा सनातनी विद्या के केंद्रों के तंत्र ने धीरे-धीरे विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों के बीच संवाद की स्थिति उत्पन्न की। इसके फलस्वरूप कुछ सिद्धांतों का आपस में मिश्रण हुआ, यद्यपि दूसरों के विचार उधार लेने के आरोप भी लगाए गए। कुछ विचारों को वैदिक चिंतन की बौद्धों द्वारा की गई आलोचनाओं का प्रत्याख्यान माना गया। इस परिप्रेक्ष्य से प्रचुर बौद्धिक हलचलें उद्भूत हुईं, यद्यपि वे शायद थोड़े-से विद्वानों तक ही सीमित रही होंगी। विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों में मीमांसा और न्याय की शिक्षा के साथ-साथ वेदांत धीरे-धीरे सबसे प्रमुख स्थिति प्राप्त करता जा रहा था।

संस्कृत में विश्लेषाणत्मक व्याकरणों की एक दीर्घ परंपरा थी। किसी विचार-सरणी में शब्द-विशेष की व्याख्या बहुधा वैयाकरणिक स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती थी। इससे और भी व्याख्याओं तथा प्रतिव्याख्याओं को बढ़ावा मिला। इनकी द्वंद्वात्मकता से पड़ताल की विधियों का पता चलता है। व्याकरण तथा निरुक्त मुख्य रूप से बुद्धिसंगत अन्वेषण थे और यह बात सनातनी और असनातनी दोनों मानते थे। अब दोनों एक ही भाषा का उपयोग कर रहे थे, जिससे ज्ञान के क्षेत्र में योगदान की प्रचुर वृद्धि

हुई होगी।

मौखिक परंपरा द्वारा पाठों के, विशेष रूप से वैदिक साहित्य के, अनुरक्षण का ब्राह्मणों का प्रयत्न जारी रहा, लेकिन अब उसके साथ ही साक्षरता का भी सहारा लिया जा रहा था। संस्कृत अभिजन विमर्श की और साहित्य की भाषा थी। परंतु उसके अधिक लोकप्रिय रूप में उसमें स्थानीय प्राकृत के तत्वों का भी समावेश रहता था। प्राकृत के तत्वों का समावेश भाषा वैज्ञानिक दिलचस्पी का विषय है। यद्यपि सृजनात्मक साहित्य में उनके इस्तेमाल में कमी आ रही थी, तथापि उनसे कुछ क्षेत्रों में अपभ्रंश और अंततः कुछ क्षेत्रीय भाषाओं के उदय में सहायता मिली। प्राकृत में लिखने की पुरानी परंपरा की अंतिम महत्वपूर्ण कृतियों में *सेतुबंध*, *गौडवाहो*तथा *कर्पूरमंजरी*का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें से पहली में लंका पर राम के आक्रमण का वर्णन किया गया था। दूसरी कन्नौज के राजा यशोवर्मन का जीवन-चरित थी, जिसका रचनाकार वाक्पति था। तीसरी एक नाटक थी, जिसका लेखक राजशेखर था। अपभ्रंश प्राकृत का एक रूप था, जिसके बारे में माना जाता है कि वह पश्चिमी भारत में विकसित हुआ। जब उसे बोलनेवाले लोग अधिक केंद्रस्थ स्थानों की ओर गए तो वे अपने साथ अपनी भाषा को भी वहां ले गए। जैन लेखकों के प्राकृत में कभी-कभी अपभ्रंश के कुछ तत्व होते थे और इनसे पुरानी और नई भाषाओं में एक संबंध-सूत्र कायम हो गया। यह बात ख़ास तौर से गुजराती और मराठी के संदर्भ में दिखाई देती है। गुजराती लोक-काव्य, विशेष रूप से कृष्ण के प्रेम का चित्रण करनेवाला लोक-काव्य, प्रारंभिक गुजराती का बीज-कोष बन गया। बंगला, असमिया, ओड़िया और हिंदी की कुछ बोलियां प्राकृत के कुछ काल बाद विकसित हुईं। नए धार्मिक संप्रदाय क्षेत्रीय भाषाओं के विकास को गति देने में सहायक सिद्ध हुए, क्योंकि उनकी रचनाएं आमफहम भाषा में होती थीं।

क्षेत्रीय भाषाओं में संस्कृत की कृतियों के अनुवाद सामान्यतः रूपांतर होते थे, जो शब्दानुवाद होने की अपेक्षा क्षेत्रीय संस्कृति के तत्वों को समाविष्ट करते चलते थे। महाकाव्यों के आख्यान पल्लवित किए जानेवाले विषयों के अजस्र स्रोत थे। कभी-कभी तो उन विषयों में सारभूत परिवर्तन भी कर दिया जाता था। क्षेत्रीय भाषा में विश्वास तब उभरकर सामने आता है जब अभिलेखों में संस्कृत के साथ उसका भी उपयोग होते देखते हैं या जब प्रयुक्त संस्कृत में स्थानीय भाषा के स्पष्ट तत्व दिखाई देते हैं। इससे कुछ-कुछ द्विभाषिकता का पता चलता है। यदि संस्कृत प्रधान भाषा रही हो तो भी चाहे दरबार में हो या अन्यत्र, वह स्थानीय भाषा के मुहावरे का वर्जन नहीं कर सकी। क्षेत्रीय भाषाएं कोई बात-की-बात में नहीं उभर आईं। ये भाषाएं उपस्तर पर पहले से ही मौजूद थीं और इन्हें बहुत-से लोग बोलते थे। जब इन भाषाओं का इस्तेमाल करनेवाले सामाजिक समूहों की प्रतिष्ठा बढ़ी तो उनकी भाषा की भी प्रतिष्ठा बढ़ गई। साहित्य, कलाओं, बौद्धिक विमर्श और रोजमर्रा के व्यवहार में इनकी

बहुविध अभिव्यक्तियों के फलस्वरूप धीरे-धीरे इनकी पहचानों की सृष्टि हुई।

देशांतरण करनेवाले ब्राह्मणों को, ख़ास तौर से प्रायद्वीप में, द्विभाषिकता अधिक समझदारी की युक्ति लगी होगी। या कि यह माना जाए कि दरबारी साहित्य का संसार अंतर्क्षेत्रीय तो था किंतु वह संस्कृत के उपयोग तक ही सीमित था? अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग भाषाओं के अस्तित्व की स्वीकृति के फलस्वरूप और भी विविधता आई होगी। *नाट्यशास्त्र*में ऐसी भाषाओं की सूची दी गई थी। विविधता का घटित होना एक हद तक भाषा का काम माना जाता था। नए राज्यों के दरबारों ने तो संस्कृत की ओर रुझान दिखाया, लेकिन समाज के अधिसंख्य लोग धीरे-धीरे अन्य भाषाओं की ओर उन्मुख हुए। जब मंदिरों और राजवंशों के इतिवृत्त क्षेत्रीय भाषा में लिखे जाने लगे तब वे भिन्न सांस्कृतिक रीति-नीतियों के द्योतक हो गए। नई भाषाएं बहुधा नए विचारों की उद्वाहिकाएं होती थीं।

राजाओं को महत्वपूर्ण साहित्यिक तथा वैदुष्यमूलक कृतियों का रचयिता बताया जाता था। भावी राजा के प्रशिक्षण में न्यूनाधिक बौद्धिक प्रशिक्षण भी शामिल रहता होगा, लेकिन जब साहित्यिक विधाएं ऊंची संस्कृति की परिचायक बन गईं तब यह आशा करना स्वाभाविक होगा कि उनका श्रेय सिंहासनारूढ़ राजा को भी दिया जाएगा, भले ही पहले ऐसा रिवाज न रहा हो। संस्कृत मुख्य रूप से मंदिरों, मठों, विहारों तथा बसदियों से जुड़ी संस्थाओं में पढ़ाई जाती थी, लेकिन राजकुमारों के शायद विशेष शिक्षक होते होंगे।

पेशेवर लोगों के लिए श्रेणियों में शिल्पियों के पास प्रशिक्षुओं के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त करने की पुरानी पद्धति जारी रही, लेकिन साथ ही कृषि, वास्तुशास्त्र, आयुर्विज्ञान एवं विशेष रूप से घोड़ों और हाथियों से संबंधित पशु-चिकित्सा जैसे विषयों पर संस्कृत में अनेक तकनीकी पुस्तकें लिखी गईं। इससे संस्कृत के जानकारों तथा पेशों के विशेषज्ञों के बीच सहयोग का आभास होता है। सांसारिक दिखनेवाले इस तरह के विषयों पर लिखने में विद्वानों को कोई अटपटापन महसूस नहीं होता था, क्योंकि इनमें से बहुत-से विषय आर्थिक संसाधनों की सार-संभाल और साथ ही ज्ञान तथा उसके प्रयोग के संबंध में जिज्ञासा जगाने की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हो गए थे। निरूपित विषयों का संबंध व्यावहारिक ज्ञान तथा सामने उपस्थित आवश्यकताओं की पूर्ति से होता था—जैसे मंदिरों के निर्माण या पशुओं की देखभाल और उनकी स्वास्थ्य-रक्षा से, जो सेना के लिए बहुत जरूरी थी। पूर्ववर्ती पाठों की टीकाएं ज्ञान को अद्यतन बनाने का एक और तरीका थीं।

आयुर्विज्ञान के अध्ययन में प्रवृत्ति टीकाएं लिखने की थी—जैसे चरक के संबंध में वाग्भट्ट और चक्रपाणिदत्त की टीकाएं। इन क्षेत्रों में आनुभविक ज्ञान की चर्चा कम की जाती थी। जहां प्रयोग किए जाते थे वहां व्यावहारिक परिणाम भी सामने आ जाते थे, जैसे औषधि में लोहे और पारे का उपयोग। तांत्रिक पंथों के अनुयायियों में

जादू-टोने के प्रति दिलचस्पी के कारण रसायनों और धातुओं के संबंध में कुछ प्रयोग किए गए। तांत्रिकों का कहना था कि कुछ अन्य रसायनों के साथ पारा खाने से आदमी दीर्घायु होता है। उन्होंने कीमिया के प्रयोगों में भी भाग लिया होगा, जो ख़ास तौर से इस काल के उत्तर भाग में लोकप्रिय हुआ।

खगोल विज्ञान में दिलचस्पी को बढ़ावा दिया गया। विद्वत्ता के स्तर पर वह गणित के क्षेत्र में प्रगतिगामी कार्य से जुड़ा हुआ था, जिसमें आर्यभट्ट तथा उसके उत्तराधिकारियों के अध्ययन जारी रहे। अंकों के अध्ययन से बीजगणित का जन्म हुआ और सटीक विज्ञानों का प्रवर्तन हुआ। बीजगणित गणित के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण देन बना रहा और वह पूर्ववर्ती काल में आयुर्विज्ञान तथा खगोल-शास्त्र की तरह अरबों के लिए दिलचस्पी का एक प्रमुख विषय था। भारतीय विज्ञानों में अरबों की रुचि कायम रही और उनमें से कुछ विचारों को वे यूरोप ले गए। अधिक मेधावी गणितज्ञों में भास्कराचार्य (जिसे पूर्ववर्ती काल का भास्कर ने समझा जाए) था, जिसकी गाणितिक पहेलियां कभी-कभी असाधारण संदर्भों में पेश की जाती थीं। उसकी प्रसिद्ध कृति *लीलावती*की एक पहेली इस प्रकार है :

प्रेमालाप में एक हार टूट गया
और मोतियों की एक लड़ी बिखर गई।
उसका छठा भाग फर्श पर गिरा,
पांचवां बिस्तर पर।
स्त्री ने बचा लिया तीसरा भाग
और उसके प्रेमी ने पकड़ लिया दसवें भाग को।
यदि धागे में रह गए छह मोती
तो कितने मोती थे कुल?

जार्जेज इफरा, *दयुनिवर्सलहिस्टरीऑफनंबर्स*
(लंदन 1998), पृ. 431 में उद्धृत

एशिया के अन्य भागों तथा उपमहाद्वीप के विद्वानों की उपस्थिति के कारण बौद्ध विहारों में मठों की अपेक्षा शायद अधिक उदारता का समावेश हुआ। इस प्रकार के विहार केवल पूर्वी भारत में शेष रहे। नालंदा शायद सबसे अधिक विख्यात था, लेकिन तुर्कों के आक्रमण के कारण वह लगभग बंद ही हो गया। शिक्षा के जैन केंद्र भावना की दृष्टि से ब्राह्मणों की अपेक्षा बौद्धों के अधिक निकट थे। ये केंद्र गुजरात, राजस्थान और एक सीमा तक कर्नाटक में स्थित थे।

विद्या के बौद्ध और जैन केंद्र भी अब संस्कृत का काफी विस्तृत उपयोग कर रहे थे। धर्मग्रंथों का प्रणयन करने के अतिरिक्त जैनों ने बड़ी संख्या में राजाओं और राजदरबारों के जीवन-चरित, इतिवृत्त तथा वृत्तांत भी लिखे। विभिन्न जैन संप्रदायों की

हलचलों और उनकी शिक्षाओं को दृष्टि में रखने के कारण उनके वर्णन उसी प्रकार कुछ ऐतिहासिक सुगंध में बसे हुए हैं जिस प्रकार पूर्ववर्ती बौद्ध परंपरा थी। बारहवीं सदी में हेमचंद्र तथा चौदहवीं सदी में मेरुतुंग जैसे लेखकों ने इस प्रकार के साहित्य में भरपूर योगदान किया। जैन परंपरा में कई दृष्टियों से बौद्ध परंपरा के सरोकारों के साथ साम्य था। *द्व्याश्रय-काव्य*परिष्कृत विद्वत्ता के साथ कुछ ऐतिहासिक तत्वों से युक्त वैयाकरणिक भाष्यों का उत्कृष्ट उदाहरण था और *परिशिष्टपर्वन्*तथा *प्रबंध-चिंतामणि* प्रबंध-परंपरा की कृतियां थीं। जीवनियां और संतचरितों के लेखन में महावीर के जीवन और कार्यों से संबंधित कृतियां—जैसे *महावीर-चरित*—शामिल थीं। जैन साहित्य का एक दिलचस्प पहलू यह था कि जैन दृष्टिकोण से रामकथा का वर्णन जारी रहा। जैन तथा अन्य लेखकों की रचनाएं वाल्मीकीय *रामायण*-सहित सुप्रतिष्ठित पाठों से कमोबेश हटकर थीं। अन्य परंपराओं ने इस कथा के पितृसत्तात्मक तथा रूढ़िवादी पाठों से प्रेरणा ग्रहण की, और उन्होंने कुछ ख़ास-ख़ास परिवर्तन भी किए—जैसे सीता का अंततः फिर से निर्वासित कर दिया जाना या एक शूद्र का इस कारण से मार दिया जाना कि उसने तपस्या करने का दुस्साहस किया था, जिसकी अनुमति केवल ऊपरी जातियों को थी।

साक्षरता पर जैनों के आग्रह का तक़ाजा था कि पाठ लिखे जाएं और जैन मंदिरों के भंडारों के अंग के रूप में उनका अनुरक्षण किया जाए। ये भंडार पांडुलिपियों के प्रभोत्पादक संग्रहों के रूप में विकसित हुए और आज भी उसी स्थिति में हैं। पाठ बहुधा तालपत्रों पर लिखे जाते थे, लेकिन वे भूर्जपत्रों पर भी लिखे जा सकते थे। पत्रकों पर लिखाई करके उन्हें धागे से टांक दिया जाता था। काष्ठ-मंजूषाएं पांडुलिपियों को अधिक सुरक्षित कर देती थीं और कभी-कभी चालू शैली में उनकी छपाई भी की जाती थी। ख़ास तौर से तैयार किए गए कपड़े का भी इस्तेमाल किया जा सकता था, लेकिन सामान्यतः कुछ थोड़े-से प्रयोजनों के लिए ही। कागज बाद का उधार लिया हुआ आविष्कार था। लिपियां और लिखने की शैलियां अब भी ब्राह्मी लिपि से ग्रहण की हुई होती थीं, यद्यपि वह नए रूपों में विकसित हो गया था, जैसे शारदालिपि। ये रूप देवनागरी के अधिक निकट थे।

गद्य और पद्य में लिखी गई प्रेमकथाएं अकसर महाकाव्यों तथा पुराणों के आख्यानों से ग्रहण किए गए विषयों का अलंकरण हुआ करती थीं और उनके वर्णनात्मक पहलू पर भाषा का चमत्कार हावी हो जा सकता था। छंदों और रचना-विधानों का किंचित् विस्तार से अध्ययन किया जाता था। आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त ने *भरतनाट्यशास्त्र* में प्रथमतः व्यक्त किए गए कुछ विचारों की छानबीन की, जैसे शब्दों का लाक्षणिक अर्थ और ध्वनि और नाटक में काव्य का स्थान। नए दरबारों में, पुरानी स्थापनाओं की स्मृति को ताजा करते हुए, लेखकों और कवियों का स्वागत किया जाता था। रूमानी दरबारी शैली का एक अपवाद ग्यारहवीं

सदी का गद्य-कथाओं का संकलन *कथा-सरित्सागर* था, जिसका संग्रहकर्त्ता सोमदेव था। उसमें हमें लोकप्रिय तथा दरबारी विषयों का मिश्रण देखने को मिलता है। उन विषयों में से कुछ से दूर-देशों की यात्राओं पर टिप्पणियों का आभास होता है।

नाटकों को विभिन्न दरबारों में संरक्षण मिलता रहा और उनकी वैयक्तिकता पूर्ववत् कायम रही। राजशेखर-कृत *कर्पूरमंजरी*तथा कृष्ण मिश्र-रचित *प्रबोध-चंद्रोदय* जैसे अपेक्षाकृत जाने-माने नाटकों में सांप्रदायिक प्रतिद्वंद्विता का प्रवेश हुआ, जिसके फलस्वरूप संवाद में एक तीखापन आ गया। व्यंग्य के पात्र बौद्ध या जैन भिक्षु अथवा कुछ शैव संप्रदाय होते थे, जिन पर उनके समाज-विरोधी आचार के लिए प्रहार किया गया। कोई-कोई शैव कर्मकांडी आचरण जुगुप्साजनक माने जाते थे। आलोचना के पात्र कुछ कौल तथा तांत्रिक संप्रदाय भी बने।

गीतिकाव्य में अधिक वैयक्तिक संप्रेषणशीलता होती थी, यद्यपि बहुधा उनका रूप सूक्ष्म होता था। शायद सबसे सहज शृंगारिक काव्य का स्फुटन था। ऐसा काव्य इस काल की ख़ास विशेषता थी, जिसका मूल शायद भर्तृहरि के एकपदीय काव्यों में निहित था। मालूम होता है, व्यक्ति तथा उसके आराध्य के बीच के संबंध को व्यक्त करनेवाला शृंगारिक रहस्यवाद लोगों को विशेष रूप से रुचता था। बारहवीं सदी में प्रणीत जयदेव-कृत *गीतगोविंद* में राधा के प्रति कृष्ण के प्रेम का वर्णन किया गया। उसकी गीतात्मकता लगभग अद्वितीय है। बिल्हण-कृत *चौरपंचाशिक* में एक राजकुमारी तथा चोरी से राजमहल में घुस आए एक व्यक्ति के प्रेम का वर्णन किया गया है, जिसमें शृंगारिकता का आना अनिवार्य था!

काव्य तथा मंदिरों की मूर्तिकला में शृंगार की अभिव्यक्ति साफ देखी जा सकती है। संभव है, इसका द्वार खोलने का काम तांत्रिक विश्वासों तथा आचरणों में प्रचलित कर्मकांड और विचारों ने किया हो, जिन्हें अभिजन वर्ग में ग्रहण किया जा रहा था। उन्नीसवीं सदी के उपनिवेशवादी लेखकों ने इसके संबंध में लिखते हुए कहा कि यह भारत में सुरुचि के अभाव, कामुकता को पोषण देने और नैतिक अध:पतन का द्योतक था। यह मुख्य रूप से नैतिकता की विक्टोरिया-कालीन परिभाषाओं से उत्पन्न दृष्टि थी। संभव है, भारत में 'मूल पाप' की मान्यता की अनुपस्थिति के कारण शृंगार के अधिक मुक्त निरूपण को प्रोत्साहन मिला हो। चाहे *गीतगोविंद*हो या खजुराहो की मूर्तियां, शृंगारिक विषयों का निदर्शन बहुत प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया है। कुछ को बहुत संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है, लेकिन कुछ अमर्यादित हैं। अन्य क्षेत्रों के कुछ समाजों में इन विषयों की अभिव्यक्ति या तो दमित रही या इनका उदात्तीकरण कर दिया गया, लेकिन भारतीय समाज के कुछ हिस्सों में वे सौंदर्याभिव्यक्ति के अंग थे। शायद यह सामाजिक रूढ़ियों को चुनौती देने का भी एक तरीका रहा हो।

स्मारक और उनका ऐतिहासिक महत्व

क्षेत्रीय विविधता की अभिव्यक्ति केवल नई भाषाओं के उदय के रूप में ही नहीं हुई, बल्कि वह स्थापत्य तथा कला की शैलियों में भी प्रकट हुई। मंदिरों का विकास छोटे-छोटे पूजा-स्थलों से प्रभावोत्पादक, विशाल और स्थायी संरचनाओं के रूप में हुआ, जिनका निर्माण प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में किया गया। ये विशाल भवन तब बनवाए गए जब, तुर्क सुल्तानों के इतिवृत्तकारों के अनुसार, मंदिरों पर तुर्कों के आक्रमण की घटनाएं अधिक हो रही थीं। विचित्र बात है कि इन आक्रमणों का कोई उल्लेख नहीं हुआ है और न इस बात की चिंता दिखाई देती है कि जो मंदिर बनवाए जा रहे थे उनकी सुरक्षा का विशेष प्रबंध किया जाना चाहिए।

सामान्य स्थापत्यगत अपेक्षाएं तथा उनकी आधार-योजनाएं पूर्ववर्ती मंदिरों से विकसित हुईं। सपाट छतवाले मंदिरों में मुख्य पूजा-स्थल के ऊपर शिखर बनाए जाने लगे थे और अब यह विशेषता सहायक पूजा-स्थलों में भी जुड़ गई थी, जो कभी-कभी मुख्य पूजा-स्थल के निकट होते थे। शिखर काफी ऊंचा होता था, अकसर हल्का-सा ढालुआं और उभरे हुए आकार का। इससे संरचना के उत्थापित भाग में बदलाव आ जाता था और नई शैलियों तथा अलंकरणात्मक विशेषताओं के लिए गुंजाइश निकल आती थी। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उत्थापित भाग में क्षेत्रीय विविधता के लिए गुंजाइश नहीं रह जाती थी। उत्तर भारतीय मंदिर भी नागरिक और नैगम जीवन के केंद्र होते थे। यद्यपि अधिकांश मंदिरों के अहाते दक्षिण भारतीय मंदिरों से छोटे होते थे, तथापि घटक अंश समान थे। गर्भगृह वह स्थान था जहां अधिष्ठाता देवता की प्रतिमा स्थापित होती थी और उसके ऊपर शिखर बना हुआ होता था। यहां तक पहुंचने के लिए मंडपों को पार करके आना पड़ता था, जिनमें से कुछ में खुले स्थान होते थे, जिनके कारण उनमें धूप-छांव की छटा की सृष्टि होती थी। विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रयोजनों के लिए भी उनका उपयोग किया जाता था।

छोटे-छोटे प्रारंभिक मंदिर मुख्यतः पूजा-स्थल थे; सुरुचिपूर्ण तत्वों के समावेश के लिए कुछ प्रयोग किए जा रहे थे। बाद के काल के मंदिर बहुत बड़े होने लगे। वे राजा की दीक्षा तथा वैधीकरण जैसे महत्वपूर्ण अनुष्ठानों के स्थान होते थे, जहां आराध्य देवता और राजा के बीच संबंध की कड़ी जोड़ी जाती थी। ऐसे राजकीय उत्सवों के लिए स्थान की ज़रूरत थी। मूर्तिकला से सज्जित पटों (पेनलों) में अकसर राज्याभिषेक जैसे अवसरों का चित्रण किया जाता था। यह भी शक्ति की भावना का द्योतक था। छोटे-छोटे पूर्ववर्ती मंदिर आम तौर पर जीर्ण हो जाते थे और उनमें से कुछ का ही जीर्णोद्धार होता था। लेकिन बाद के काल के बड़े-बड़े मंदिर बहुत संपन्न होते थे और इसलिए उनकी मरम्मत होती रहती थी, यद्यपि उनकी संपत्ति के कारण उन

पर लूट का खतरा बना रहता था।

पश्चिमोत्तर में लवण पर्वतमाला (साल्ट रेंज) में कई मंदिरों का पुनर्निर्माण हिंदू शाहियों ने नौवीं और दसवीं सदियों में करवाया—जैसे मलौट के मंदिर का। लंबी धारियोंवाले स्तंभों तथा आलंकारिक विशेषताओं से युक्त उनका असाधारण स्थायत्य लगभग रोमनेस्क (रोम प्रभावित), बल्कि यहां तक कि बैरोक (अत्यंलकृत) शैली का भी आभास देता है। ये शायद पूर्ववर्ती गांधार शैलियों या कश्मीर के मंदिरों से विकसित हुए होंगे। जगत (राजस्थान) के अंबामाता मंदिर में अद्भूत आनुपातिकता है। उदयपुर के निकट एकलिंगजी का शिव मंदिर अधिक सादा है। उसमें मेवाड़ के राजाओं के आराध्य देवता प्रतिष्ठित थे। राजस्थान में ही अबनेरी का नौवीं सदी का हर्षद्माता मंदिर जीर्ण पड़ गए मंदिरों में से है, फिर भी उसकी मूर्तिकला बहुत प्रभावोत्पादक है। मध्य प्रदेश में ग्यारसपुर का मालादेवी मंदिर एक पहाड़ी की आधी ऊंचाई पर बना हुआ है, जहां से देहात का दृश्य साफ देखा जाता है। इसकी शैली असाधारण है, क्योंकि आधा मंदिर तो संरचनात्मक ढंग से बना हुआ है और आधा चट्टान काटकर। उड़ीसा में भुवनेश्वर के मुक्तेश्वर और गौरी मंदिर भी इसी काल के हैं। राजस्थान में ओसियान का सूर्य मंदिर पूर्व से उत्तर काल की ओर संक्रमण का साक्षी है। कश्मीर में मार्तण्ड का सूर्य मंदिर भी इसी प्रकार का है, जो है तो गुजरात में मोढेरा के मंदिर से पहले का, लेकिन उसकी ख्याति भी उतनी ही है। इस काल में कुमाऊं तथा गढ़वाल की पहाड़ियों में भी मंदिरों का निर्माण आरंभ हुआ।

बाद के काल के मंदिरों में चौलुक्यों के मंत्री वस्तुपाल तथा तेजपाल द्वारा माउंट आबू में बनवाए गए जैन मंदिर पश्चिमी भारत में जैन स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे मूर्तिकला से भरपूर तौर पर सज्जित हैं, जो अपनी प्रचुरता के बावजूद स्थापत्य की सहायक स्थिति में ही है। खजुराहो में लक्ष्मण तथा कंदरिया महादेव मंदिर मध्य भारत में बुंदेलखंड मंदिर-समूह के उदाहरण हैं। ये भी मूर्तिकला से भली भांति सज्जित हैं। उनसे आकार और रूप का संतुलन झलकता है, जिस कारण से दोनों में से प्रत्येक सुरुचिपूर्णता की दृष्टि से उल्लेखनीय संरचना बन जाता है। उड़ीसा के कोर्णाक मंदिर की तरह खजुराहो की श्रृंगारिकतापूर्ण मूर्तिकला तथा उसे देखने की दर्शकों की उत्कंठा और पथ-प्रदर्शकों की दिखाने की आतुरता के कारण लोग बहुधा उसके स्थापत्य तथा मूर्तिकला की प्रभावोत्पादक खूबियों की ओर ध्यान नहीं दे पाते। अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय संरचनाओं में से एक है भोपाल के निकट स्थित अपूर्ण शैव मंदिर, जिसका निर्माण परमार राजा भोज ने ग्यारहवीं सदी में आरंभ करवाया था। मंदिर की योजनाओं के कुछ गुदे हुए हिस्से पास ही देखे जा सकते हैं, और वह ढलान भी जिसका उपयोग भारी शिलाओं की ढुलाई के लिए किया गया था। उड़ीसा के मंदिर, विशेषतः भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर और कोणार्क का सूर्य मंदिर, महत्वपूर्ण संरचनाएं हैं। बारहवीं सदी में निर्मित उड़ीसा में पुरी का जगन्नाथ मंदिर धीरे-धीरे और

अधिक महत्वपूर्ण हो गया। शृंगारिक मूर्तिकला के अधिक उपयोग का संबंध उर्वरता की उपासना और कुछ तांत्रिक अवधारणाओं से था। शाक्त उपासना से अधिक निकटता से संबद्ध और पूर्ववर्ती मंदिरों के समकालीन योगिनी मंदिर थे। कहीं-कहीं वे अन्य मंदिरों के पड़ोस में बने हुए हैं, जैसे खजुराहो में और कहीं-कहीं खुद के केंद्रों में, जैसे उड़ीसा में हीरापुर में। योगिनी मंदिर आम तौर पर मध्य भारत में हैं।

गुजरात की और राजस्थान के कुछ हिस्सों की विशेषता वाव या सीढ़ीदार कूप हैं। काफी बड़े आकार का एक कूप काफी गहरी सतह पर स्थित था। वहां तक सीढ़ियों से पहुंचा जा सकता था। उसका तल भाग दीर्घाओं से घिरा हुआ था। इन्हें पाटन की रानी के सीढ़ीदार कूप की तरह प्रतिमाओं और मिथकशास्त्र के दृश्यों से सजाया गया है। वाव ऐसी संरचना था जिसका निर्माण मिट्टी को नीचे की ओर काटकर किया जाता था। कभी-कभी उसकी कई मंजिलें होती थीं, जो ऊपर की ओर बनाई जाने के बदले नीचे की ओर धंसती चली जाती थीं। इस प्रकार के सीढ़ीदार कूपों के सरल रूपों का उपयोग रेगिस्तान की परिधि पर जल की आपूर्ति के लिए किया जाता था और साथ ही वे गर्मी से राहत देने के ठंडे स्थानों के तौर पर भी इस्तेमाल किए ज़ाते थे। कुछ का उपयोग ज़मीन की सिंचाई करने के लिए किया जाता था। ऐसा शायद ऐसे स्थानों में किया जाता था जहां जलस्तर काफी नीचे रहता था।

मंदिरों के निर्माण की देख-रेख सूत्रधार करते थे। बड़े मंदिर बनवाने में अब निर्माण-संबंधी नियमावलियों—शिल्पशास्त्रों—का उपयोग किया जा रहा था। निर्माण के पेशे से जुड़े बढ़ई, राजमिस्त्री, संगतराश, मूर्तिकार आदि शिल्पियों का सामाजिक संहिता में निम्न स्थान होता था और बहुधा उन्हें वर्णसंकर जातियों में गिना जाता था। तब प्रश्न यह उठता है कि निर्माण नियमावलियां कौन लिखता था? यदि सूत्रधारों को विधिवत् संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी तो उससे उनकी शिक्षा का दर्जा, जो अन्यथा तकनीकी और पेशेवर शिक्षा ही थी, ऊपर उठ जाता होगा या कि नियमावलियां ब्राह्मणों के साथ मिलकर लिखी जाती थीं? जब प्रत्येक स्वतंत्र राजवंश विभिन्न प्रकार के क्रियाकलाप द्वारा, जिनमें एक स्वीकृत शैली में पत्थरों के मंदिर बनवाना भी शामिल रहा होगा, अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने लगा तो इस तरह की नियमावलियां आवश्यक हो गई होंगी। मंदिर निर्माण के प्रतिष्ठित नियमों का पालन करने के लिए सूत्रधार की देखरेख और नियमावली की आवश्यकता थी। सूत्रधारों के नामों का उल्लेख अभिलेखों में किया जा रहा था, जैसे कोसक के नाम का। प्रत्येक सूत्रधार का संबंध एक अलग मंदिर से होता था। लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि वे एक से दूसरे दरबार में जाते थे या नहीं और स्थापत्यकारों तथा निर्माताओं का प्रत्येक समूह किसी ख़ास दरबार से संबद्ध होता था अथवा नहीं। किसी पोथी में स्थापत्य को औपचारिक रूप देने से शैली-विशेष और निर्माण की पद्धति-विशेष का प्रचार होता था, लेकिन उससे प्रयोग पर अंकुश भी लगा होगा।
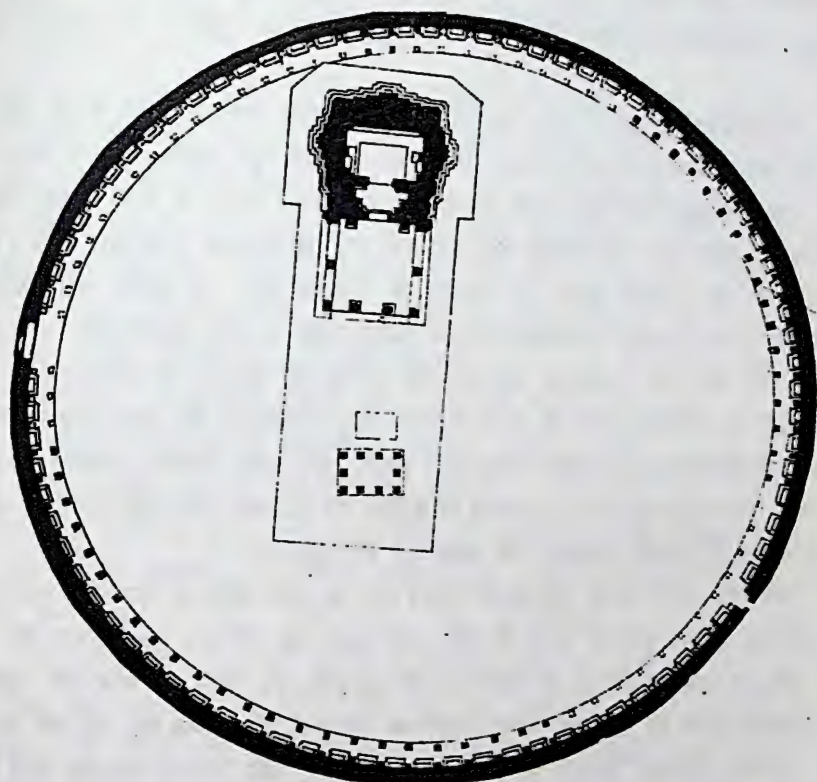
7. वृत्ताकार देवी मन्दिर : योजना

पूर्ववर्ती काल की ही तरह मूर्तिकला क्षेत्रीय शैलियों का प्रभाव प्रतिबिंबित करती थी। पूर्वी भारत में पत्थर और धातु से मूर्ति बनाने की एक विशिष्ट कला विकसित हुई। पत्थर पर पालिश कर देने पर उसमें धातु जैसी चमक आ जाती थी। नालंदा की बौद्ध प्रतिमाओं ने एक प्रतिमान स्थापित किया और पालों के संरक्षण में पौराणिक हिंदू धर्म के देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के तक्षण का भी प्रचार हुआ। मूर्तिकला के लिए कांसे का उपयोग भारत के अन्य भागों में भी होता था, लेकिन पूर्वी भारत, कश्मीर तथा नेपाल में उसका विशेष उपयोग किया जाता था, यद्यपि उसमें चोल कांस्य मूर्तिकला की सुरुचिपूर्ण आभा नहीं आ सकी। ललित कलाओं में भारत का योगदान मुख्य रूप से मूर्तिकला के क्षेत्र में था। यदि उसने एक स्वतंत्र रूप कायम रखा होता तो वह अपनी अलग शैली का विकास जारी रख सकती थी, लेकिन जब वह स्थापत्य के अलंकरण की स्थिति में डाल दी गई तो सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से वह उसी प्रकार ह्रासोन्मुख हो चली जैसे बाद के काल में स्थापत्य शैलियां हुईं।

सामान्यतः कम सुविधा-प्राप्त वर्गों की कला मानी जानेवाली टेरकोटा मूर्तिकला कतिपय आकर्षक टेराकोटा प्रतिमाओं तथा मूर्तिवल्लरियों (फ्रीज) का माध्यम बनी रही।

अब चित्रकला का उपयोग पांडुलिपियों को चित्रित करने के लिए किया जा रहा था। इस प्रकार के चित्रण के प्रारंभिक प्रयत्नों की शुरुआत पूर्वी भारत, गुजरात, राजस्थान और नेपाल में हुई। पाठों की सतत् उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिए उनकी नकलें तैयार करना बौद्ध तथा जैन विहारों और बसदियों का एक सामान्य कार्य था। लेकिन ऐसी पांडुलिपियों को चित्रित करना इस परंपरा के अंतर्गत एक नई प्रवृत्ति थी। चित्रों में मुखाकृतियों का अकसर कोणात्मक चित्रण किया जाता था और आंखें बड़ी-बड़ी होती थीं। ये उस चीज की प्रायौगिक शुरुआतें थीं जो परवर्ती सदियों के दौरान, मुख्य रूप से पुस्तकों को चित्रित करने के लिए प्रयुक्त, लघु चित्रकला की एक उत्कृष्ट परंपरा के रूप में विकसित हुई। भित्ति-चित्र कम बनाए जाने लगे, लेकिन लटकाने के लिए इस्तेमाल करने के लिए बनाए जानेवाले लोकप्रिय ढंग के चित्र धीरे-धीरे उभरकर सामने आए। संभव है, इनकी शुरुआत भी पहले ही हो चुकी हो।

अब तक मंदिर अनेक भूमिकाएं निभाने लगे थे। जहां मंदिर से मठ जुड़ा हुआ होता था वहां यह परिसर पूर्ववर्ती काल के स्तूप और विहार का प्रतिरूप हुआ करता था। जहां उसे भूमि या ग्रामदान मिलते थे वहां वह भी भूस्वामी बन जाता था और उसे भूस्वामी के अधिकार प्राप्त हो जाते थे। मंदिर पौराणिक संप्रदायों की संस्था था और इस रूप में एक नागरिक भूमिका निभाता था। उदाहरण के लिए, यदि उसका संरक्षक कोई राजा होता था तो वह उसकी सत्ता का या कोई स्थानीय सत्ताधारी होता था तो उसके रुतबे का प्रतीक होता था। वह व्यापार और ऋणों में निवेश करता था। वह एक रोज़गार-दाता था। यदि वह तीर्थस्थल बन जाता था तो वहां बाजार भी विकसित हो जाता था। जो लोग मंदिर की संपत्ति का प्रबंध करते थे वे कृषि-कर्म के या शहरी जीवन के नाभि-केंद्र बन जाते थे। जहां मंदिर व्यापार में निवेश करते थे वहां उनके पुजारियों का प्रशासनिक तथा व्यापारिक संगठनों से घनिष्ठ संबंध होता था।

पूजा-कर्म का किसी मंदिर या पूजा-स्थल में स्थायी स्थान होता था। जब वह स्थान तीर्थस्थल बन जाता था तब काफी शक्तिशाली हो जाता था। उस स्थान में कई देवी-देवताओं की पूजा हो सकती थी, लेकिन उनमें से कोई एक सर्वोपरि होता था। आराध्य को फूल, फल और अनाज अर्पित किए जाते थे और माना जाता था कि चढ़ावे को वह पवित्र कर देता है। यह क्रिया पूजा-कर्म में सहज ही निहित होती थी, और उसमें आराधक तथा आराध्य के बीच व्यक्तिगत संबंध का भी समावेश रहता था। पूजा में उपवास, प्रतिज्ञा आदि व्रत भी शामिल होते थे। इसलिए वह वैदिक विधियों से संपादित यज्ञों से भिन्न था। यज्ञ अब कम किए जाते थे। अब वैधता के दावे की पुष्टि के लिए वैदिक यज्ञ पर्याप्त नहीं थे। वैधीकरण के अन्य रूप-जैसे

वंशावलियां और मंदिरों को संरक्षण—अधिक प्रत्यक्ष होकर सामने आए।

मंदिर में, विशेषतः उसके गर्भगृह में, प्रत्येक उपासक नहीं जा सकता था। तथाकथित असत्-शूद्रों तथा अस्पृश्यों को मंदिर-प्रवेश की अनुमति नहीं थी। उनके अपने अलग उपासना-स्थल थे, जो आम तौर पर शहर या गांव के उस हलके में होते थे जहां वे रहते थे। उनके आराध्य देवी-देवता या तो भिन्न होते थे या मंदिरों में पूजित देवी-देवताओं के ही अलग रूप होते थे। यही बात उनके कुछ कर्मकांडों और चढ़ावों पर भी लागू होती थी। उदाहरण के लिए, मंदिरों में मदिरा का तर्पण वर्जित था और पशु-बलि, जो निचली जातियों के कर्मकांड की आम विशेषता थी, बहुत कम दी जाती थी, यद्यपि काली के भक्त ऐसे चढ़ावों की छूट ले सकते थे। यह तो जाति का मामला था, लेकिन पूजा-स्थलों का टिकाऊपन पर्यावरणीय कारकों पर भी निर्भर था। सांस्कृतिक संस्कृति के प्रभाव के बावजूद बहुत-से समुदायों ने अपने पूर्ववर्ती पूजा-स्थल कायम रखे, जो छोटे और कम विशिष्ट थे। ऐसे मंदिर आम तौर पर अपने आसपास के दृश्य में खप जाते थे, क्योंकि वे स्थानीय रूप से उपलब्ध सामग्री से बने होते थे और स्थानीय स्थापत्य के प्रयोजन तथा आबोहवा के अनुरूप होते थे। इस कारण से उनके टूटने-फूटने और बिखर जाने की संभावना भी अधिक रहती थी।

मंदिर को चढ़ावे और दान मिलते थे, इसलिए वह एक खजाना और वित्तीय केंद्र भी होता था। ब्राह्मणों तथा मंदिरों को दान देना मध्यस्थों के माध्यम से आराध्य देवी-देवता से विनती होता था। राज-संरक्षण से बनवाए गए मंदिर को राज्य की शक्ति और सुख-समृद्धि के प्रतीक के रूप में देखा जाता था। इसका प्रकटीकरण राज्य की स्थापना के साथ जुड़ी विशेषताओं के रूप में होता था, जो विशेषताएं निम्नलिखित थीं : राजा के विरुद, जिसके साथ एक वंश-वृक्ष जुड़ा होता था और बहुधा एक वंशावली लिखी जाती थी; शिल्पशास्त्रों के नियमों के अनुसार बनाए गए एक राज-मंदिर के साथ एक राजधानी का निर्माण किया जाता था; और कृषि एवं व्यापार का विस्तार किया जाता था। प्रबंधन-विषयक दायित्वों से युक्त एक संस्था के रूप में मंदिर की पहुंच विस्तृत क्षेत्रों तक होती थी।

संस्था के रूप में मंदिर न केवल सोपानबद्ध पुजारियों तथा प्रशासनिक कुशलतावाले अन्य लोगों के एक बड़े समूह को अपनी सेवा में रखता था, बल्कि धार्मिक प्रवचन तथा धर्मग्रंथों का पाठ करनेवाले अन्य लोगों को भी बड़ी संख्या में स्थान देता था। इस प्रकार पेशेवर कथावाचकों द्वारा, बहुधा अर्थ-टीकाओं के साथ, पुराणों, *रामायण*तथा *महाभारत*एवं अब जो पवित्र मानी जाने लगी थीं उन अन्य पोथियों का वाचन किया जाता था। आराध्य को संगीत तथा नृत्य द्वारा पूजने के रिवाज का मतलब यह था कि मंदिर में देवदासियां भी रखी जाती थीं। तीर्थाटन के अवसर त्योहारों से जुड़े होते थे, और ऐसे अवसरों की संख्या जितनी अधिक हो उतना ही अच्छा था, क्योंकि तीर्थयात्री भक्ति के साथ दान भी लाते थे। सोमनाथ जैसे कुछ

मंदिरों में तीर्थयात्री तीर्थ-कर देते थे, जिससे स्थानीय राजा को अच्छी आय होती थी, बशर्ते कि अन्य राजाओं ने तीर्थयात्रियों को पहले ही लूट न लिया हो, जिसकी शिकायत अकसर की जाती थी।

पौराणिक हिंदू धर्म को किसी ऐसे स्थान की आवश्यकता होती थी जहां आराध्य को एक उपयुक्त उपासनागृह में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित किया जा सके। यद्यपि उपासना भक्तिपरक होती थी और उपासक को आराध्य की कृपा की प्रतीक्षा रहती थी तथापि कोई प्रतिमा आवश्यक नहीं थी, लेकिन धीरे-धीरे उसका चलन आम हो गया। प्रतिमा का महत्व पौराणिक हिंदू धर्म को वैदिक धर्म से और दूर ले गया। किसी पहचाने जाने लायक रूप से विहीन पूजा की वस्तु को भी देवता में परिणत कर दिया जा सकता था और बाद की किसी अवस्था में उसके स्थान पर किसी मानवाकृतिवाले देवता को प्रतिष्ठित कर दिया जा सकता था। ज़रूरत होने पर इस रूप में कुछ और भी जोड़ दिया जा सकता था—जैसे शस्त्रास्त्र, जो सामान्यतः देवी-देवता के गुणों के प्रतीक होते थे। पूजा-कर्म वे ब्राह्मण करते थे जिन्होंने आराध्य वस्तु तथा उससे संबंधित विधि-विधानों के महत्व को स्वीकार कर लिया हो, या यह काम उपासना के पूर्व रूप के वे पुरोहित कर सकते थे जिन्हें अब ब्राह्मण वर्ण में शामिल कर लिया गया था। शैव तथा वैष्णव उपासना से संबंधित पुराण और आगम ऐसे ग्रंथ थे जिनमें किसी देवता की पूजा से संबंधित कर्मों की व्याख्या करने के लिए उद्दिष्ट मिथकों को दर्ज किया गया था। महात्म्यों तथा स्थल-पुराणों में पूजा-स्थल के कथित इतिहास, कथाओं तथा मिथकों का वर्णन होता था, जिसमें कर्मकांडों तथा आचरणों की और भी व्याख्याएं प्रस्तुत की जाती थीं। प्रत्येक उपास्य देवी-देवता का ऐसा रूपांतरण नहीं किया गया। इसके लिए जिन्हें चुना गया उनका संबंध जन-समर्थन, राजनीतिक प्रभाव तथा उपासना-विशेष को मुख्यधारा की पूजा में शामिल करने के लाभों से था।

मंदिर उनके निर्माण के लिए धन देनेवाले उनके संरक्षकों की ऊर्ध्वमुखी सामाजिक गतिशीलता के भी संकेत होते थे। व्यापारिक परिवार से संबंधित वसतुपाल तथा तेजपाल के पास इतना धन था कि वह माउंट आबू में मंदिरों के निर्माण के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ और इन दोनों भाइयों ने उस स्थान को एक महत्वपूर्ण जैन केंद्र में परिणत कर दिया। यह काम राजा द्वारा दिए गए संरक्षण के पैमाने पर किया गया। उस ठिकाने से प्राप्त उनके अभिलेख न केवल उनके परिवार का गुणगान करते हैं बल्कि उनके व्यापारिक समुदाय की प्रतिष्ठा तथा शक्ति का भी संकेत देते हैं। एक भिन्न प्रकार का संकेत चंदेल राजवंश से प्राप्त हुआ। इन राजाओं ने अपने अभिलेखों में अपने उद्‌भव के एक जटिल मिथक का वर्णन किया, जो इन्हें सूर्यवंश से जोड़ता था, लेकिन उनका मूल मध्य भारत के गोंड कबीलों से भी जुड़ा हुआ था। कहा गया है कि मूलतः वे अपनी सबसे प्रारंभिक राजधानी महोबा में एक चट्टान के रूप में

प्रतिष्ठित मनियादेव के उपासक थे। राजपूत दर्जे की प्राप्ति और सांस्कृतिक संस्कृति की प्रक्रिया से गुजरते हुए वे पौराणिक देवी-देवताओं के भक्त बन गए, और अपने में आए बदलाव की अभिव्यक्ति उन्होंने खजुराहो में ऐसे मंदिरों का निर्माण करके की जो मनियादेव के पूजा-स्थल से सर्वथा भिन्न थे। यह स्थानीय उपासना में अनुरक्ति से पौराणिक संप्रदाय का संरक्षक बनने की दिशा में संक्रमण का उदाहरण है। इस प्रकार के परिवर्तन के साथ कबायिली पुरोहित भी अपनी मूल उपासना-सहित पौराणिक संप्रदाय में शामिल होकर नए धर्म के पुरोहितों की स्थिति प्राप्त कर ले सकते थे। उपासना की किसी वस्तु के किसी पौराणिक देवी-देवता से जुड़ जाने पर उस उपासना के संरक्षक का दर्जा ऊपरी जाति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता होगा। उड़ीसा के पुरी मंदिर के देवता विष्णु-जगन्नाथ से जुड़ी मूलतः स्थानीय जैसी प्रतीत होनेवाली उपासना के क्रमिक परिवर्तन में भी यही बात दिखाई देती है। जब तेरहवीं सदी में राजा ने उक्त देवता का प्रतिनिधि होने का दावा किया तब उस देवता के उपासना-क्षेत्र को अपनी सत्ता के अधीन लाने के राजा के प्रयत्नों के राजनीतिक पहलू उस उपासना के विश्वासों तथा कर्मकांडों की आवश्यकताओं से अंतर्संबद्ध हो गए। इस प्रकार के क्रमिक परिवर्तनों के विकास के कई स्तर होते हैं। इस उपासना के अंतर्गत आनेवाला क्षेत्र तथा उसका पवित्र भूगोल तीर्थयात्रा के परिपथ का अंग बन गया। जब ऐसी उपासना को राज-संरक्षण प्राप्त हो जाता था तब वह प्रदेश और उपासना अपने राज-संरक्षक के समर्थन का आधार बन जाती थी। उपासना उपासकों का एक पृष्ठदेश और संबंधों का एक ऐसा तंत्र सुलभ कराती थी जो कई दृष्टियों से भूमिदानों के तंत्र के समान होता था। इससे एक मिलता-जुलता सिलसिला दकन में देखा जा सकता है, जहां पंढरपुर में विष्णु का अवतार माने जानेवाले विठोवा की पूजा की जाती थी।

पूर्वी भारत के बौद्ध वैहारिक परिसर, जिनमें से कुछ पालों के संरक्षण में बनवाए गए, धार्मिक स्थापत्य के कुछ स्मरणीय और भव्य उदाहरण प्रस्तुत करते थे। उनमें से अधिक प्रभावोत्पादक थे मैनामती और विक्रमशिला के विहार तथा पहाड़पुर का भव्य सोमापुर विहार। उड़ीसा में रत्नागिरि के बौद्ध ठिकाने की संरचनाओं की मरम्मत ग्यारहवीं सदी में की गई, और वह तांत्रिक बौद्ध धर्म का एक केंद्र बन गया। नालंदा के विहारों का विस्तार किया गया। संभव है, दक्षिण-पूर्व एशिया में और तिब्बत के साथ अधिकाधिक लाभदायक व्यापार में सक्रिय व्यापारिक समुदाय के बौद्ध धर्म से संबद्ध होने से इस संरक्षण को बढ़ावा मिला हो।

पूर्वी तथा दक्षिणी भारत की इन भव्य संरचनाओं से स्पर्धा करनेवाले भवन दक्षिण-पूर्व एशिया के कुछ हिस्सों में, जैसे कंबोडिया तथा जावा में, पहले ही निर्मित हो चुके थे। पगान के स्तूप शैली की दृष्टि से दक्षिण एशियाई स्तूपों के समान थे, लेकिन उनका समूहीकरण उन्हें एक भिन्न रूप प्रदान कर देता था। पुरानी जावानी

भाषा में जावानी के साथ संस्कृत का भाषाई संबंध भी देखा जा सकता है। इस मामले में भी संस्कृत से निकटता के बावजूद जावानी की उपस्थिति का आग्रह स्पष्ट है। दक्षिण-पूर्व एशिया में रामकथा के अनेक रूप, जो मुख्य कथा को स्थानीय वर्णनात्मक परंपराओं में आवेष्ठित करके प्रस्तुत करने का परिणाम थे, बहुलवादी सांस्कृतिक प्रतिमानों के सूचक थे। यह संबंध उपमहाद्वीप के उन क्षेत्रों के साथ आगे भी कायम रहे जिनकी दक्षिण-पूर्व एशियाई व्यापार में गहरी दिलचस्पी थी-जैसे गुजरात, कारोमंडल तट और पूर्वी भारत के साथ।

इसलामी स्थापत्य से संबंधित रूप, जिनकी सबसे स्पष्ट विशेषता वास्तविक मेहराब और गुंबद थे, इस उपमहाद्वीप के लिए नए रहे होंगे। इस प्रकार की संरचनाओं के निर्माण के आरंभिक प्रयत्न पश्चिमोत्तर और शायद पश्चिमी तट की अरब बस्तियों में किए गए होंगे। परमार राजा द्वारा कांबे की मसजिद के विध्वंस तथा मंसूरा की शिया मसजिद के महमूद द्वारा भ्रष्ट किए जाने के उल्लेखों से ऐसा ही मालूम होता है। सल्तनत की स्थापना के साथ दिल्ली और अजमेर के मौजूदा मंदिरों को मसजिदों में तब्दील कर दिया गया। निस्संदेह, विजय की घोषणा करने के लिए तो ऐसा किया ही गया, साथ ही उसका उद्देश्य अपने मजहब के लिए पवित्र स्थल प्राप्त करना भी रहा होगा।

धार्मिक परिवर्तन

बौद्ध धर्म प्रचारवादी था और बौद्ध भिक्षु तथा धर्म-शिक्षक उसे एशिया के विभिन्न भागों में ले गए थे। इसलिए यह अप्रत्याशित नहीं था कि पांडुलिपियों के भंडारों तथा विमर्श की संभावनाओं से आकृष्ट होकर एशिया के दूर-दूर के स्थानों के भिक्षु भारत के विहारों में आएंगे। उन भिक्षुओं ने उन क्षेत्रों को बौद्ध धर्म के अन्य केंद्रों से जोड़ा जहां से वे आए थे या जहां उन्होंने प्रशिक्षण प्राप्त किया था। उदाहरण के लिए, अतीश ने ग्यारहवीं सदी में बौद्ध धर्म के तिब्बती रूप के विकास में योगदान दिया, यद्यपि वह पूर्वी भारत का था और परंपरा के अनुसार, उसका प्रशिक्षण स्वर्णद्वीप-संभवतः जावा-में हुआ था। बौद्ध विहारों ने राज्य को समर्थन का एक आधार प्रदान किया था, लेकिन पौराणिक हिंदू धर्म ने धीरे-धीरे बौद्धों का स्थान ले लिया। अब समाज के विभिन्न समूहों को जातीय समाज और संप्रदायों में रूपांतरित करने की अतिरिक्त भूमिका के निर्वाह की दृष्टि से पौराणिक विचारधारा को धार दी गई। ऐसा रूपांतरण उन क्षेत्रों में राज्य की स्थापना के लिए आवश्यक था जहां कोई राज्य नहीं था। दार्शनिक तथा धार्मिक विवाद और संरक्षण प्राप्त करने की होड़ के कारण बौद्धों तथा कुछ शैव संप्रदायों के बीच शत्रुता बढ़ी। संन्यास पर श्रमणों के आग्रह पर आपत्ति की गई, क्योंकि उसे साधारण मनुष्य के लिए अयथार्थ माना गया। भिक्षु धर्म को दूसरों के श्रम पर निर्भर निट्ठलेपन और सुविधा का जीवन बताकर उसका कभी-कभी

उपहास किया गया। उपमहाद्वीप के दूरस्थ भागों को देशांतरण करने के अभ्यस्त ब्राह्मण कर्मकांडी दर्जे में समाहित संभावनाओं के साथ और भी दूर-दूर के क्षेत्रों में पहुंचे। दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भारत के संबंध न केवल व्यापारिक मामलों की दृष्टि से महत्वपूर्ण थे, बल्कि सांस्कृतिक आचार-व्यवहारों की रचना की दृष्टि से भी अहम थे। ये संबंध अरबों के लिए भी सहायक थे : जब उन्होंने दक्षिण-पूर्व एशिया में व्यापारिक बस्तियां स्थापित कीं तो ये संबंध अंततः वहां के अधिकतर व्यापार पर उनके अधिकार कर लेने में मददगार साबित हुए। जावा तथा मलय प्रायद्वीप में इन बस्तियों ने स्थानीय संस्कृति को भारत तथा पश्चिम एशिया के धार्मिक विश्वासों एवं आचारों के साथ गूंथने का महान कार्य किया।

इस काल का अंत होते-होते उत्तरी भारत में वैष्णव, शैव तथा शाक्त-तांत्रिक संप्रदायों की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी। जैन धर्म पश्चिमी भारत तक सीमित होकर रह गया था और बौद्ध धर्म ह्रासोन्मुख हो चला था। विष्णु के एक अवतार के रूप में वैष्णव देव-समूह में बुद्ध का समाहार करने का प्रयत्न किया गया, लेकिन उसके प्रति लोगों में कोई उत्साह नहीं जगा। गैर-बौद्धों द्वारा बुद्ध की पूजा मुख्य रूप से औपचारिक और सम्मान-प्रेरित बनी रही। राजपूतों का सैनिक संस्कार अहिंसा पर श्रमणीय धर्मों के आग्रह से मेल नहीं खाता था, यद्यपि कुछ जैनों ने रणभूमि में अपने पराक्रम का अच्छा परिचय दिया। जो लोग पौराणिक हिंदू धर्म से संबंधित थे उनकी दृष्टि में अहिंसा का विचार अब कतिपय भक्ति संप्रदायों के अधिक निकट थे, जो हिंसा का विरोध मुख्य रूप से वैसे ही कारणों से करते थे जैसे कारणों से महावीर और बुद्ध ने किया था।

इस काल में हिंदू धर्म में हुए बहुत-से परिवर्तन रूढ़ विश्वास और जनसाधारण की वैयक्तिक धर्म की मांग के बीच समझौते का परिणाम थे। मूर्ति-पूजा में काफी वृद्धि हुई और मूर्तियां तरह-तरह के रूपों में, लेकिन बुनियादी तौर पर मानव-रूप में सामने आईं। कर्मकांड केवल आडंबरयुक्त यज्ञों तक ही सीमित नहीं रह गया था और अब उसका रूप सामान्यतः व्यक्तिगत पूजा का हो गया था, भले ही पूजा के लिए किसी मंदिर या उपासना-स्थल को माध्यम बनाया जाता हो। यह चीज नई विचार-पद्धतियों, आकांक्षाओं तथा संबंधों और साथ ही भिन्न ऐतिहासिक परिस्थिति की भी द्योतक थी। देवी-देवताओं से संबंधित मिथकों के क्षेत्रीय रूपों तथा उनके मौखिक वाचन के कारण उनका प्रचार दूर-दूर तक हुआ। उनमें ऐसे आख्यानों का समावेश था जो पौराणिक हिंदू धर्म में शामिल कर ली गई उपासनाओं से उद्भूत हुए थे और जो साहित्यिक रूप प्राप्त कर लेने के बाद क्षेत्रीय भाषाओं की रचनाओं का अंग बन गए थे। अनेकानेक उप-पुराणों ने कर्मकांड तथा विश्वास में स्थानीय रीति-रिवाजों को शामिल करने की और भी अधिक गुंजाइश कर दी। देवता मानव रूप में अवतरित हो सकते हैं, इस सिद्धांत का उपयोग समाहार के एक तरीके के

तौर पर किया जा सकता था। ऐसे अवतारों की मान्यता से एक राजनीतिक प्रयोजन भी सिद्ध होता था और देवता-विशेष के अवतार होने का दावा करनेवाले राजाओं के वैधीकरण में सहयाता मिलती थी।

देवताओं से संबंधित बोध अधिक जटिल हो गया। उदहारण के लिए, कृष्ण को, जिन्हें विष्णु का अवतार माना जाता था, एक पशुचारक देवता के रूप में देखा जाता था। वे ऐसे चरवाहा थे जो घंटों गोपिकाओं और विशेषतः अपनी प्रेमिका राधा की संगति में रहते थे। यह हार्दिक भक्तिमय उपासना का स्रोत बन गया, जिसकी अभिव्यक्ति ऐसे काव्य में हुई जो बहुधा शृंगारिकता से युक्त होता था। परंतु क्या वे *भगवद्‌गीता* के दार्शनिक, ब्रह्मांड के धारक, काल के वाहक, अधर्म से धर्म के रक्षक और जाति तथा आचार-धर्म के नियमों के पुनरुद्‌घोषक भी थे? कृष्ण का अर्थ काला है, और उनका संबंध तमिल के *मेयन*से, 'जो काला है' उससे बताया गया है और वह *मेयन*भी चरवाहा है। विष्णु की विभिन्न अभिव्यक्तियों में अनेक परंपराएं प्रतिबिंबित हुई हैं और हो सकता है यह उनकी लोकप्रियता का एक कारण रहा हो। तथापि मथुरा के निकट आधुनिक वृंदावन के भूगोल तथा कृष्ण के जीवन के बीच संबंध की स्थापना बाद के काल के संप्रदायों ने की, जैसे पूर्वी भारत के चैतन्य के अनुयायियों ने। इसी प्रकार, आज के अयोध्या के भूगोल और राम के जीवन के बेच के संबंध का उल्लेख दूसरी सहस्राब्दी ई. के मध्य में *अयोध्यमहात्म्य*में किया गया और उसे प्रतिष्ठित करने का काम रामानंदी संप्रदाय ने अयोध्या के रूप में साकेत की संभावित पहचान के आधार पर किया।

छोटे-मोटे संप्रदायों तथा उपासनाओं को रूढ़िवादी तत्त्वों ने सिरे से खारिज नहीं किया। कुछ को बर्दाश्त किया गया, लेकिन कुछ को उन पुरोहितों-पुजारियों ने प्रोत्साहन दिया जो पूजा के भाव से भी और जीविका के लिए भी उनसे संबंधित कर्मकांड संपादित करते थे। स्थानीय पुजारी और पुरोहित लोकप्रिय धर्म के प्रति सामान्यतः सहानुभूति रखते थे। सूर्य देवता की पूजा की लोकप्रियता बढ़ी और उसे भव्य मंदिरों के रूप में राज-संरक्षण प्राप्त हुआ—विशेषतः उत्तरी और पश्चिमी भारत में। उड़ीसा में कोणार्क के विस्तृत हलके में तो उस देवता की प्रमुखता थी ही। ऐसा माना जाता है कि माघ या शाकद्वीपी ब्राह्मण पश्चिमोत्तर सीमा पार से भारत में आए थे, जिसमें पश्चिमी भारत में जर्थुस्त्रियों की उपस्थिति से उन्हें शायद मदद मिली। संभव है, सूर्य की लोकप्रियता का कारण यह देशांतरण भी रहा हो। परंतु अन्यत्र सूर्य की लोकप्रियता सूर्योपासना का सातत्य थी। पहले से मौजूद देवी-देवताओं ने नया महत्व प्राप्त किया और नए देवी-देवताओं का उदय हुआ। गजानन गणेश या गणपति की प्रतिष्ठा में और वृद्धि हुई। मूलतः वे शायद किसी कबीले से जुड़े प्रतीक देवता थे, लेकिन उन्हें एक सम्मानित उत्पत्ति प्रदान करते हुए शिव तथा पार्वती का पुत्र बताया गया। बहुधा उर्वरता उपासना से जुड़ी देवियां काफी पूजित थीं।

असंख्य देवी-देवताओं तथा उपासनाओं का समाहार करने के अतिरिक्त पौराणिक हिंदू धर्म ने ख़ास-ख़ास दार्शनिक सिद्धांतों पर ज़ोर देकर प्रबल सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को भी रूपाकार दिया। ये दोनों प्रवृत्तियां परस्पर विरोधी लगती हैं, लेकिन संप्रदायों के माध्यम से विश्वास-समूहों और दर्शनों के औपचारिक संगठन के प्रयास द्वारा इन विरोधाभास में सामंजस्य स्थापित कर दिया जाता है। श्रमणीय धर्मों की तरह इन धर्मशिक्षाओं का भी संप्रदायों के ऐतिहासिक संस्थापकों से घनिष्ठ संबंध था, जैसे शंकराचार्य, रामानुज, मध्व और बसवन्ना से, और कभी-कभी धर्मशिक्षकों के एक सिलसिले से भी। संप्रदाय का इतिहास और विकास उसके संस्थापकों द्वारा कही गई बातों की व्याख्याओं पर आधारित होता था। सांप्रदायिक धर्मों के साथ सामान्यतः ऐसा ही होता है। कुछ सांप्रदायिक शिक्षाओं का उद्देश्य श्रमणीय संप्रदायों की जड़ों को कमज़ोर करना होता था, लेकिन साथ ही लगता है कि कई दृष्टियों से उनका अनुकरण करने की भी कोशिश की जाती थी। संप्रदाय की शक्ति संरक्षण पर, विशेष रूप से ऐसी संपत्ति के दान पर निर्भर होती थी जिससे उसे संस्थागत आधार के निर्माण की सुविधा प्राप्त होती थी। पौराणिक हिंदू धर्म के पहलुओं के सांप्रदायिक धर्मों में इस रूपांतरण ने पूर्ववर्ती सांप्रदायिक धर्मों—बौद्ध तथा जैन धर्मों—के ह्रास में भी योगदान किया होगा।

सांप्रदायिकता के कारण संप्रदायों के बीच प्रतिद्वंद्विता और शत्रुता पनपी होगी। यह कभी-कभी एकाधिक संप्रदायों द्वारा एक ही राजा के संरक्षण के दावे के रूप में प्रकट होती थी। उदाहरण के लिए, शैव तथा जैन स्रोतों के बीच इस विषय में अंतर्विरोध है कि क्या चौलुक्य राजा कुमारपाल को, जो शैव था, जैन के रूप में धर्मांतरित कराया गया। अनेक जैन मंदिरों का श्रेय उसके संरक्षण को दिया गया। जैन स्रोतों के अनुसार, उसके उत्तराधिकारी अजयपाल ने इन्हें ध्वस्त कर दिया। इन स्रोतों में उसे जैन धर्म का शत्रु कहा गया है। परंतु ऐसी शत्रुता धर्मयुद्ध का रूप ग्रहण नहीं करती थी।

अशोक के राजादेशों में पाषण्ड शब्द का तात्पर्य कोई भी संप्रदाय है, लेकिन अब उसका अर्थ अपधर्म हो गया था और अंत में फरेब, जिस अर्थ में उसका प्रयोग आज होता है। इस प्रकार, कई स्थलों पर ब्राह्मण बौद्धों तथा जैनों को अपधर्मी कहते हैं और उधर बौद्ध तथा जैन इसी शब्द का प्रयोग ब्राह्मणों के लिए करते हैं। दोनों प्रसंगों में यह शब्द भर्त्सना से भरा होता है। यह तू-तू, मैं-मैं काफी मनोरंजक हो सकता था, जैसे *मत्तविलासप्रहसन*और *प्रबोध-चंद्रोदय* नामक दरबारी नाटकों में, लेकिन कभी-कभी वह काफी निर्ममतापूर्ण भी होता था।

भक्ति के प्रचार-प्रसार में रत धर्मशिक्षकों तथा कवियों से युक्त ये संप्रदाय उन क्षेत्रों के उत्तर में प्रस्फुटित होने लगे जहां उनका उद्भव हुआ था। ये संप्रदाय चौदहवीं सदी से उत्तर भारत में एक जीवंत शक्ति बनने जा रहे थे, जहां उन्होंने वही उत्प्रेरक

भूमिका निभाई जो दक्षिण में निभाई थी। यह कोई धर्म-प्रचार आंदोलन नहीं था, बल्कि समान परिस्थितियों से उत्पन्न समान विचारों की अभिव्यक्ति था। वह विभिन्न प्रकार की पूर्ववर्ती धार्मिक अभिव्यक्तियों का सहारा ले सकता था—श्रमणीय संप्रदायों, वैष्णव तथा शैव उपासनाओं और साथ ही शाक्त परंपरा के गुह्य तथा लोकप्रिय रूपों का भी। लेकिन भक्ति आंदोलन का रुझान विस्तृत कर्मकांड से विहीन उपास्य-अनुरक्ति की दिशा में अधिक था। उसकी कुछ धाराएं तो लगभग अतिशुद्धतावादी विरोध की कोटि की थीं।

अन्य लोकप्रिय उपसनाएं तथा संप्रदाय अपना विरोध कभी-कभी अधिक चौंकानेवाले ढंग से व्यक्त करते थे, जैसे शैव कालमुख और कापालिक या कौल या कुछ प्रकार के तांत्रिक कर्मकांड, जो बहुधा ऊपरी जातियों के आचरणों के विलोम हुआ करते थे। लेकिन उनके कुछ कर्मकांड के मूल समाज के उन हिस्सों से संबंधित थे जो ब्राह्मणों द्वारा सूत्रबद्ध किए गए हिंदू धर्म से लगभग अपरिचित थे और इसलिए ऐसे कर्मकांडों द्वारा वे विरोध-प्रदर्शन नहीं कर रहे थे, बल्कि अपने तरीके से केवल अपने-अपने आराध्यों की उपासना कर रहे थे। सनातनी लोगों का इनसे निबटनेका तरीका यह था कि या तो वे उन्हें जातीय दर्जा नहीं देते थे या अगर उन्हें सामाजिक समर्थन और संरक्षण प्राप्त रहता था तो क्रमिक रूप से उनका रूपांतरण करके उन्हें सम्मानित स्थिति प्रदान कर देते थे।

तंत्र-धर्म ने, जिसे यह संज्ञा अपने तंत्रों से प्राप्त हुई, लगभग प्रत्येक पुराने धर्म के आचारों को प्रभावित किया और साथ ही उसने ब्राह्मण धर्म के प्रतिकूल पड़नेवाले आचार-विचार का समर्थन किया। यद्यपि उसका उद्भव पहले ही हो चुका था तथापि आठवीं सदी से उसका व्यापक आचरण किया जाने लगा और यह क्रमिक रूप से पूरे उपमहाद्वीप में उभर आया। पूरब में तिब्बती धार्मिक आचरण से उसका घनिष्ठ संबंध था। दोनों के कुछ कर्मकांड समान थे और साथ ही मंत्रों, मुद्राओं (हस्त-भंगिमाओं) तथा मंडलों (ब्रह्मांड का चित्रण करनेवाली जादुई रेखाकृतियों) की प्रभावकारिता में दोनों का विश्वास था। इस धर्म के द्वार सभी जातियों के लिए खुले हुए थे और कर्मकांड में स्त्रियों को भी शामिल किया जाता था, जिससे वह अरूढ़िवादी भावना से जुड़ जाता था। देवियों से बहुत श्रद्धा की जाती थी, जिसका प्रमाण *देवी-महात्म्य* में संगृहीत आख्यान हैं। देवी का अपना अलग व्यक्तित्व होता था और उसकी पूजा किसी देवता की सहधर्मिणी होने के कारण नहीं बल्कि उसके स्वतंत्र महत्व के कारण की जाती थी। सप्त-मातृकाएं अपने पुरुष प्रतिरूपों से अधिक निकटता से संबद्ध थीं। चूंकि आवश्यकतानुसार देवियों की सृष्टि की जा सकती थी, इसलिए उनकी संख्या बड़ी है।

देवियों को प्रदत्त प्रधानता की स्थिति का मतलब कभी-कभी उपस्तरीय धर्म

का उभरकर ऊपर आ जाना होता था, और ऐसा निस्संदेह उपाश्रित (सबल्टर्न) समूहों के उत्थान के साथ होता था, जो अपने नए दर्जे के बल पर देवी की उपासना को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर दे सकते थे। किसी देवी की उपासना से संबंधित प्रतीक अकसर उर्वरता की पूजा के रूपों से उद्भूत होते थे, जो अप्रत्याशित नहीं था। देवी की पूजा सामाजिक आचरण की संहिता में कोई परिवर्तन तो दाखिल नहीं कर पाती थी, लेकिन अवधारणात्मक स्तर पर वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था के लिए चुनौती अवश्य होती थी। स्त्रियों को अपने अलग आश्रम स्थापित करने, पुजारिनों का काम करने और शिक्षा देने की अनुमत होती थी। यह मानो बौद्ध या जैन भिक्षुणियों के कतिपय कार्यकलाप को तथा प्रारंभिक भक्ति परंपरा की कुछ कवयित्रियों की भावनाओं को जारी रखना था। तंत्रवाद भी शाक्त-शक्ति उपासना से जुड़ा हुआ था क्योंकि वह भी शक्ति को–नारी की सृजनात्मक ऊर्जा को–किसी भी कर्म के लिए आवश्यक मानता था।

किसी तांत्रिक संप्रदाय में शामिल होने के इच्छुक लोगों को किसी गुरु से दीक्षा लेनी पड़ती थी। तांत्रिक कर्मकांड में पंच-मकारों का कर्मकांडी समावेश होता था। पंच-मकार का अर्थ था मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा विशिष्ट (शारीरिक भंगिमाएं) तथा मैथुन। शुद्धीकरण की अंतिम अवस्था में प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी समान था। कर्मकांड का जो रूप था उसे देखते हुए गुप्त आयोजन आवश्यक हो गया, विशेषत: इस कारण से कि कुछ अन्य संप्रदाय उसके आचारों को भ्रष्ट मानते थे। धीरे-धीरे तंत्र-धर्म वामपंथ और दक्षिणपंथ में विभाजित हो गया। पहले में उक्त आचारों का प्रयोग जारी रहा, लेकिन दूसरा योग तथा भक्ति तक सीमित हो गया। यद्यपि अधिक अतिवादी कृत्यों के लिए तंत्र धर्म की बहुधा निंदा की गई है लेकिन साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि वह समाज की ब्राह्मणीय व्यवस्था के विरोध का उद्वाहक भी था। बृहत्तर सामाजिक रीति-रिवाजों के संदर्भ में देखने पर इस प्रकार के आंदोलनों का सामाजिक परिवर्तन के लिए जूझनेवाला रूप स्पष्ट हो जाता है।

वज्रयान बौद्ध धर्म ने तांत्रिक विचार ग्रहण कर लिए थे और ताराओं, अर्थात् उद्धारिकाओं को, जो पुरुष बोधिसत्वों की अर्धांगिणियां थीं, वैसी ही श्रद्धा प्राप्त हुई जैसी शक्ति को मिली। वज्रयान बौद्ध धर्म ने जिन अनेक जादुई मंत्रों को लोकप्रिय बनाया है उनमें *ओममनेपद्मेहुन्* भी एक है, जिसका अर्थ है 'देखो, कमल में रत्न' है। यहां कमल दिव्य मैथुन का प्रतीक है। नए संप्रदायों तथा आचारों के विकास के साथ बौद्ध धर्म में बहुत-से परिवर्तन हुए थे, लेकिन तांत्रिक विचारों के समाहार के कारण धर्म के रूप में उसकी विशिष्टता कम हो गई।

पश्चिमी भारत में जैनों की शक्ति की अभिवृद्धि हुई। वहां उनका संरक्षक

व्यापारिक समुदाय था, हालांकि राज-संरक्षण ने, विशेषतः चौलुक्यों से प्राप्त संरक्षण ने, उन्हें और भी सुदृढ़ स्थिति प्रदान की। यद्यपि उनकी संख्या कम थी, तथापि वे काफी खुशहाल थे और उनकी उपस्थिति स्पष्ट दिखाई देती थी। चूंकि मिट्टी में मौजूद छोटे-छोटे जीव-जंतुओं को हिंसा से बचाने के लिए कृषि उनके लिए वर्जित थी (हालांकि वे कभी-कभी दिए जानेवाले भूमिदानों को स्वीकार करते रहे), इसलिए उनका अपना क्षेत्र व्यापार था, जिससे प्राप्त लाभों के बल पर वे संस्कृति तथा विद्या के संरक्षकों के रूप में सामने आए। स्थिरीकरण का एक और भी कारक यह था कि चूंकि वे शिक्षित, वित्त-व्यवस्था में चतुर तथा प्रबंधन में कुशल थे, इसलिए राजदरबारों में उन्हें बहुधा उच्च पद प्राप्त होते रहते थे। हिंदू और मुसलमान दोनों समुदायों के शासकों ने जैन मंदिरों का ध्वंस किया, लेकिन इसके बावजूद उनका अस्तित्व कायम रहा।

लेकिन बौद्ध धर्म अंततः एक छोटे धर्म का भी दर्जा खोने जा रहा था। उसका ह्रास क्रमिक रूप से हुआ, लेकिन तेरहवीं सदी में उसमें तेजी आ गई। तांत्रिक उपासनाओं से उसका संबंध उलझन पैदा करनेवाला था, क्योंकि उसकी काफी सारी मूल शिक्षा, जो उसकी आरंभिक शक्ति का स्रोत थी, नए कर्मकांड में गर्क होती जा रही थी। पाल राजाओं के संरक्षण ने पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म को पोषण दिया और इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने इस धर्म का उपयोग व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए तथा तिब्बत और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ अपने कूटनीतिक संबंधों के एक जरिए के तौर पर किया। राज-संरक्षण ने उसे कुछ अन्य क्षेत्रों में भी जीवित रखा। लेकिन बौद्ध राज-संरक्षण प्राप्त करने में हमेशा सफल नहीं रहे। पौराणिक हिंदू धर्म से स्पर्धा और इस धर्म की नई जातियों के समाहार की क्षमता बौद्ध धर्म के लिए नई चुनौतियां थीं।

नए भूस्वामी या तो ब्राह्मण थे या ब्राह्मणों तथा पौराणिक हिंदू धर्म के संरक्षक। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म कुछ सीमित क्षेत्रों के अतिरिक्त और कहीं राज्यव्यवस्था के रूपांतरण में कोई प्रमुख भूमिका नहीं निभा पा रहे थे। जहां सरदारों को भूस्वामी और कबीले के अन्य सदस्यों को किसान बनाया जा रहा था वहां जाति नए क्षत्रियों तथा शूद्रों पर नियंत्रण स्थापित करने का एक उपयोगी औज़ार थी। इस प्रक्रिया में जाति का उपयोग श्रमणीय संप्रदायों की अपेक्षा पौराणिक हिंदू धर्म को अधिक सहजता से सुलभ हुआ। नए क्षत्रिय बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट नहीं हुए होंगे। ब्राह्मणों द्वारा रचित पौराणिक पाठों के विपरीत, बौद्ध तथा जैन पाठों में उस तरह की विस्तृत वंशावलियां नहीं थीं जिनसे अपने को जोड़कर नए क्षत्रिय प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते। शासन के मूल की व्याख्या करते हुए बौद्ध मिथकों ने उसका संबंध निर्वाचित राजा और जनता के बीच संपन्न एक अनुबंध से जोड़ा और उन मिथकों

में दैवी स्वीकृति का कहीं कोई स्थान नहीं था। धर्मचक्र के प्रतीक से युक्त बौद्ध चक्रवर्ती की अवधारणा क्षत्रियों तथा राजपूतों के समक्ष उपस्थित किए गए देश-विजय के नमूनों से बहुत दूर की चीज थी। इसलिए राज-प्रश्रय पौराणिक हिंदू धर्म की विचारधारा को प्राप्त हुआ।

बौद्ध संघ की स्थापना के लिए सबसे उपयुक्त क्षेत्र वह था जहां पहले से ही एक ऐसा स्थिर कृषि-समाज मौजूद हो जिसमें संस्थाओं के भरण-पोषण की क्षमता हो या जहां पर्याप्त व्यापारिक कारोबार चलता हो, जिसके सहारे वहां का समाज वैहारिक केंद्रों को आवश्यक सुविधाएं सुलभ करा सके। जब बौद्ध विहारों को राजस्व या भूमिदान दिए गए तब उनमें भी ज़्यादातर ऐसे गांव या ज़मीनें हुआ करती थीं जिनमें पहले से ही खेती की जा रही थी। भिक्षुओं से कृषि-संबंधी परिवर्तन के अग्रदूत बनने की आशा नहीं की जाती थी, यद्यपि विभिन्न हैसियतों से आय-व्यय तथा संघ के सही संचालन की देख-रेख करने का काम वे अवश्य करते थे। आदर्शगत स्थिति की दृष्टि से देखें तो भिक्षुओं से भिक्षा तथा दान प्राप्त करने की निष्क्रिय भूमिका की ही अपेक्षा रखी जाती थी। यह चीज अपनी व्यवस्थाओं को बदलने में लगे समाज को बौद्ध धर्म से विमुख नहीं तो दूर तो कर ही सकती थी। यह स्थिति ब्राह्मण दान-ग्रहीताओं की स्थिति से बिलकुल उलटी थी। ब्राह्मण अनुदत्त क्षेत्रों में बसकर बस्तियां बसा सकते थे और अग्रगामियों की भूमिका निभा सकते थे, कृषि की आवश्यकताओं के अनुरूप भू-दृश्य को बदलकर स्वयं लाभांवित होने के साथ औरों की भी भलाई कर सकते थे और सबसे बड़ी बात यह कि राजवंशों की स्थापना कर सकते थे।

जिन कालों में बौद्ध धर्म को राज-संरक्षण प्राप्त रहा उनके अतिरिक्त अन्य कालों में उसे अच्छी सफलता या तो पहले से मौजूद कृषि-समाजोंवाले उन क्षेत्रों में मिली जो विनिमय केंद्रों के रूप में भी विकसित हो रहे थे या उन क्षेत्रों में जहां व्यापार मुख्य आर्थिक क्रियाकलाप था। व्यापार की शक्ति उसे दूर-दूर के स्थानों तक ले गई और उधर इस परिघटना ने उसे उन लोगों के लिए आकर्षक बनाया जो इस व्यापार से लाभ उठाना चाहते थे। इसका मतलब इस तथ्य को नकारना नहीं है कि सभी कालों में लोग धार्मिक प्रतीति के कारण इस धर्म को अंगीकार करते रहे। लेकिन पूर्वी भारत को छोड़कर लगभग सर्वत्र बौद्ध धर्म का ह्रास मात्र धर्म-परिवर्तन से कुछ अधिक व्यापक स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। और बावजूद इसके कि तेरहवीं सदी में तुर्कों ने नालंदा पर आक्रमण किया, इसलाम के आगमन को भी बौद्ध धर्म के ह्रास का मुख्य कारण नहीं माना जा सकता। आठवीं सदी आते-आते बौद्ध धर्म अन्य स्थानों की अपेक्षा पश्चिमोत्तर भारत तथा पूर्वी भारत में अधिक प्रचलित हो चुका था। इन क्षेत्रों का इसलाम में धर्मांतरण एक

क्रमिक प्रक्रिया था। गांगेय मैदान के मुख्य क्षेत्र तथा प्रायद्वीप में बौद्ध धर्म का ह्रास तुर्कों की विजय से पहले ही आरंभ हो चुका था।

अरबों, तुर्कों और अफगानों का आगमन भारत में एक नया धर्म ले आया, जिसने इस उपमहाद्वीप के समुदायों में अलग-अलग तरीकों से अपनी जड़ें जमाईं। इसलाम किसी समांग, एकखंडीय समुदाय की रचना करने में विफल रहा और उसे भी खंडीकरण की उसी प्रक्रिया से गुजरना पड़ा जिसका अनुभव यहां के पूर्ववर्ती धर्म कर चुके थे। मुसलमान धर्मतत्वज्ञों के अतिरिक्त इसलाम के प्रारंभिक प्रभाव का संबंध फारस से मुसलमान रहस्यवादियों के आगमन से थे। ये लोग मुसलमान धर्मतत्वज्ञों से भिन्न थे और कभी-कभी वे इन्हें असहमति की दृष्टि से भी देखते थे। सूफी कहलानेवाले ये रहस्यवादी पहले सिंध और पंजाब में बसे, जहां से उनकी शिक्षा गुजरात, दकन और बंगाल में पहुंची। भारतीय तथा इसलामी रहस्यवाद के मिश्रण से नए सूफी सिद्धांत विकसित हुए, जो फारस के सूफी सिद्धांत से भिन्न थे। सूफी विचारों के प्रति भारत में आकर्षण उत्पन्न हुआ, ख़ास तौर से उन लोगों के बीच जिनका रुझान रहस्यवादी शिक्षाओं तथा संन्यास की ओर था, क्योंकि दोनों के काफी सारे प्रतीक समान थे। भक्ति आंदोलन के साथ उनका संवाद दोनों के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ, क्योंकि धर्म के मर्म तथा मनुष्य की अवस्था की पड़ताल के क्रम में उन्होंने रूढ़िवाद पर शंका उठाई। उनके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि हुई, जिससे उनमें राजनीतिक संभावना उत्पन्न हुई और उनके खानकाह राजनीतिक चर्चा के भी केंद्र बन गए।

इस उपमहाद्वीप में नौवीं सदी से आरंभ होनेवाला काल 'अंधकारपूर्ण' तो बिलकुल नहीं था, उल्टे वह प्रकाश का काल था, जब अनेक परवर्ती संस्थाओं का बीजांकुरण हुआ। नई राजनीतिक व्यवस्थाओं के साथ जो राज्य उदित हुए उनकी विशेषता भूमिदानों का सोपान और साथ ही भूस्वामियों के समूह थी, जिससे चंद आगामी सदियों की राजनीतिक पद्धति का सूत्रपात हुआ। साथ ही भारतीय व्यापारी हिंद महासागर में और थलमार्गों से देखें तो मध्य एशिया के माध्यम से पहले की अपेक्षा बहुत दूर-दूर के बाजारों में सक्रिय थे। वे एशियाई व्यापार में फिर से महत्वपूर्ण साझीदार हो गए थे। नई जातियों के उदय के साथ जातियों में फेरबदल भी हुए, जिससे बहुधा ऐसी जातियों की नींव पड़ी जो आगामी सदियों में उभरकर सामने आईं। इस काल के क्षेत्रीय भाषाई मूल उन भाषाओं के जनक साबित हुए जो आज भारत के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित हैं। आज जन-स्तर पर जो धार्मिक उपासनाएं और संप्रदाय ग्रामीण तथा शहरी आबादियों के जीवन पर छाए हुए हैं वे अपना संबंध इसी काल की धार्मिक अभिव्यक्ति से जोड़ते हैं। इन परिवर्तनों के अंदर क्षेत्रीय संस्कृतियां रूपाकार ग्रहण कर रही थीं। पूर्ववर्ती कालों

की तुलना में इस काल से उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों के अधिक विविध और प्रचुर होने के कारण ज़्यादा सर्वांगपूर्ण तसवीरें गढ़ना संभव हुआ है।

इस काल के इतिहास का सर्वाधिक चुनौती-भरा और उद्दीपक पहलू क्षेत्रीय संस्कृतियों के उदय तथा उपमहाद्वीपीय संस्कृतियों की रूपरेखाओं के प्रगाढ़तर होने के बीच का संबंध है। यह दावेदारी और समाहार की जिस अंतर्क्रिया की अपेक्षा रखता था उसके फलस्वरूप भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण नए आयाम जुड़ गए।

Maps
(मानचित्र)

Map 1 Geographical Features
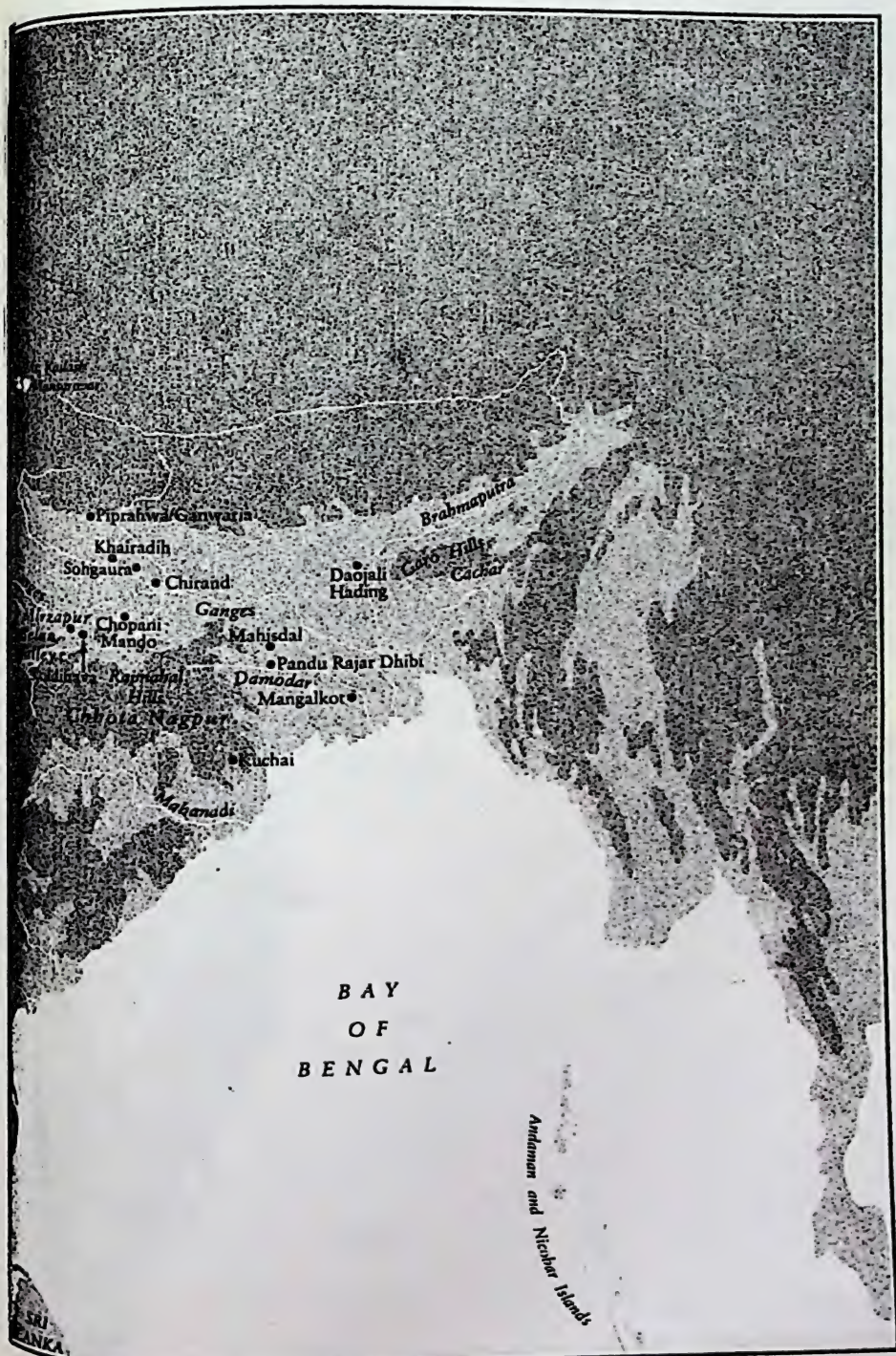
Map 2 Archaeological Sites Relating to Pre-history and Proto-history

Brahmaputra
Gara Hills
Gandak
Sarayu
Ganges
Padma
Meghna
Son
Mahanadi
KALINGA
Amaravati
Chezarla
BAY
OF
BENGAL
Andaman and Nicobar Islands
SRI
LANKA
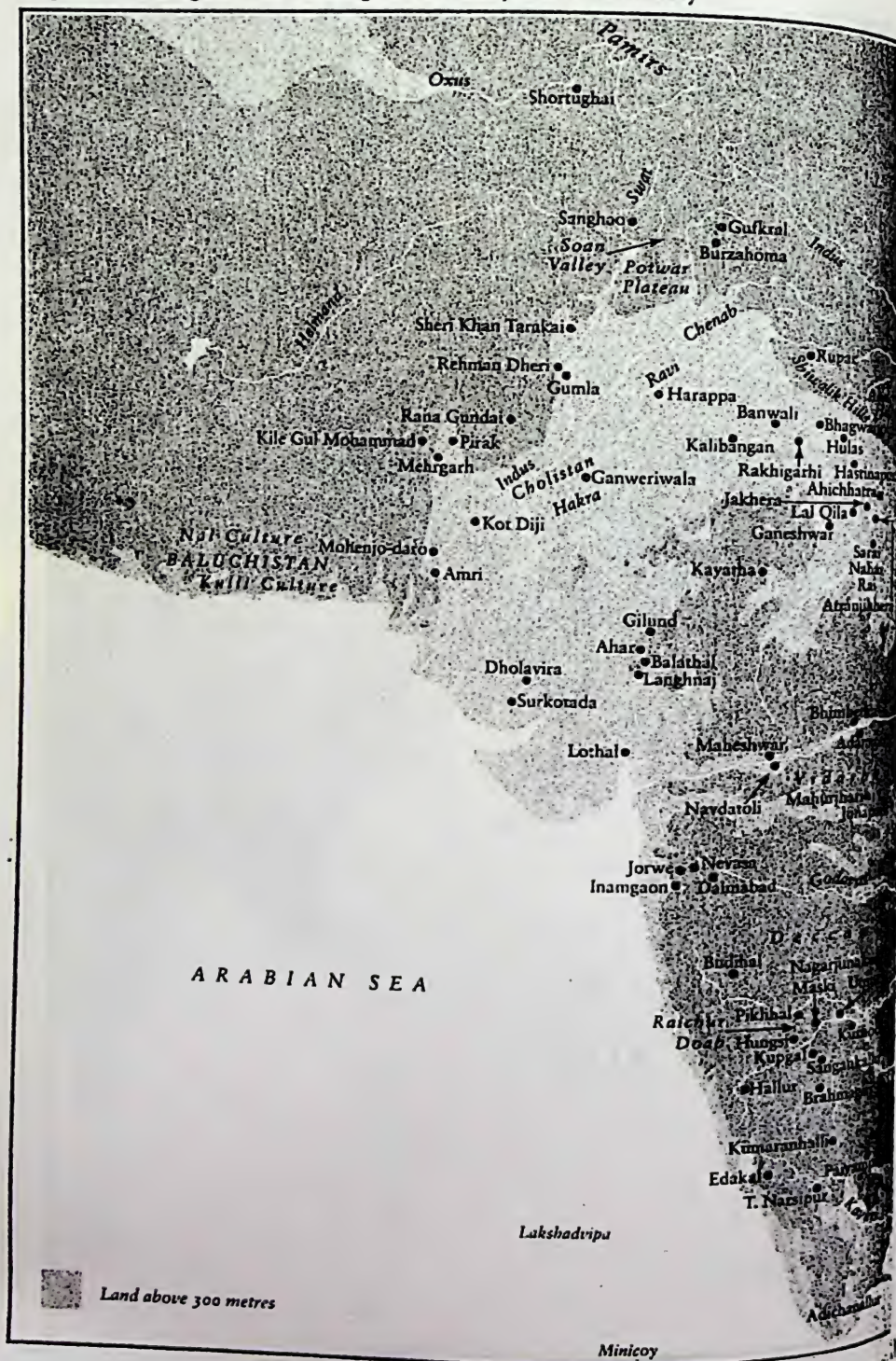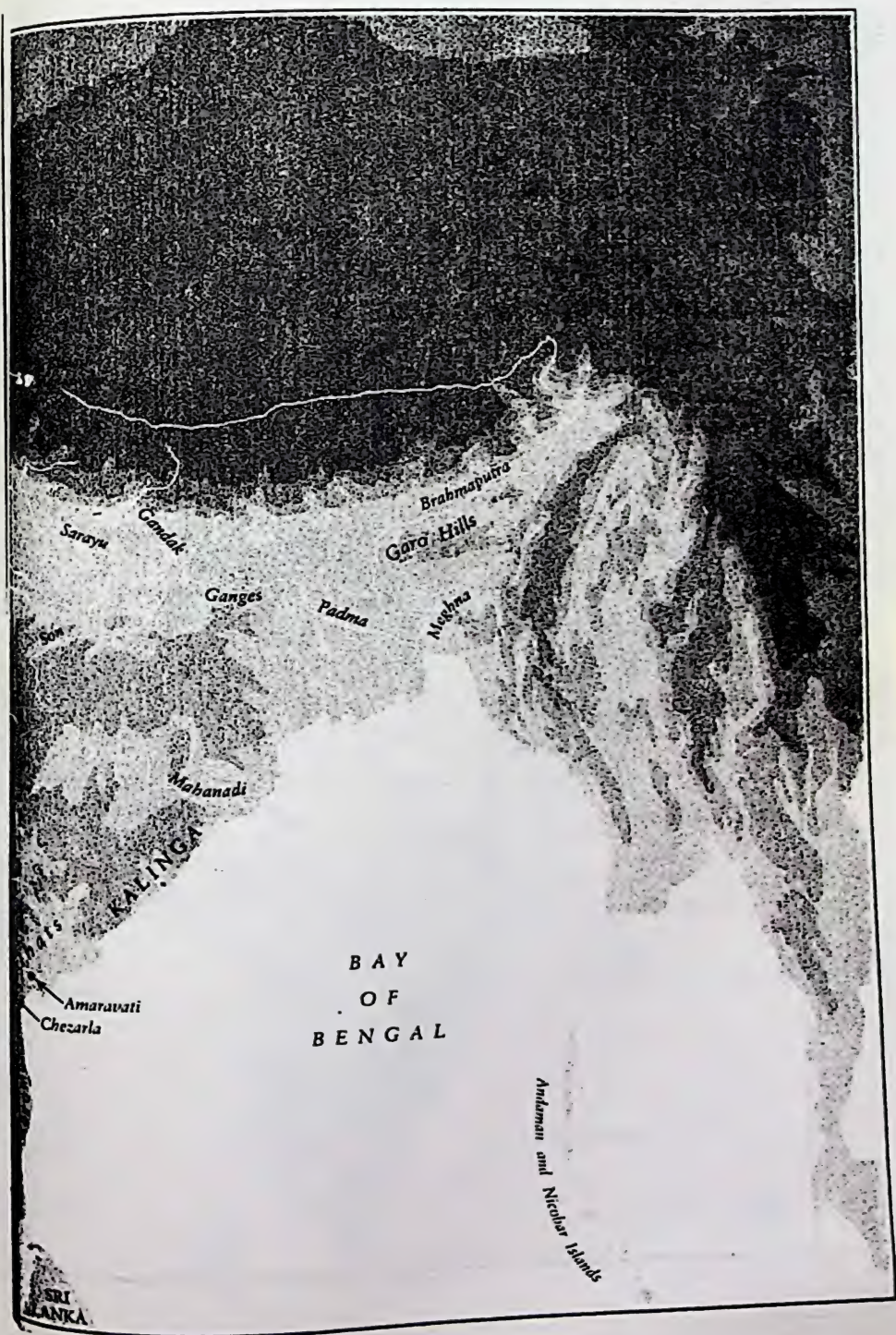
Map 3 Nothern India *c.* 1200 to 500 BC
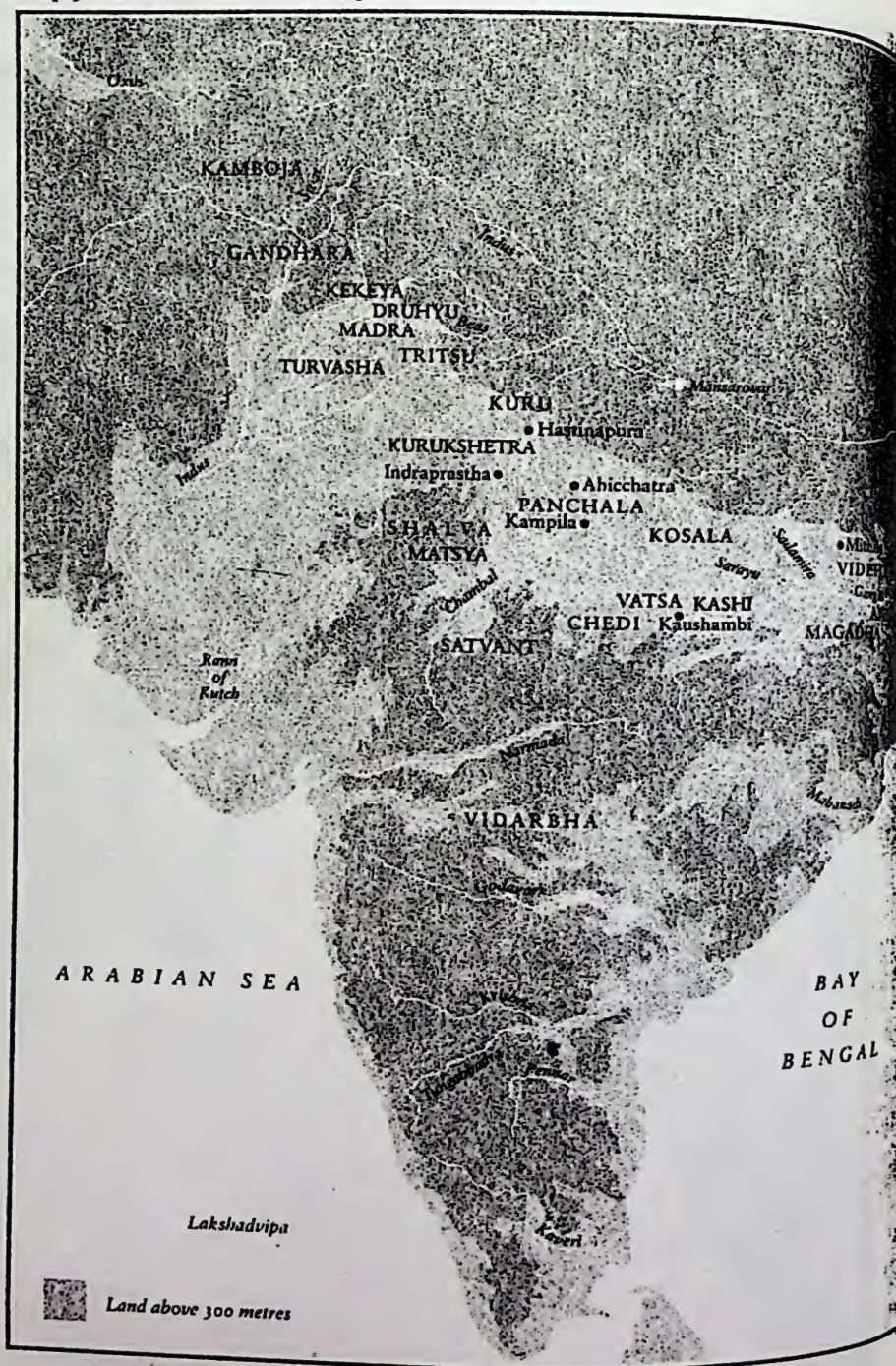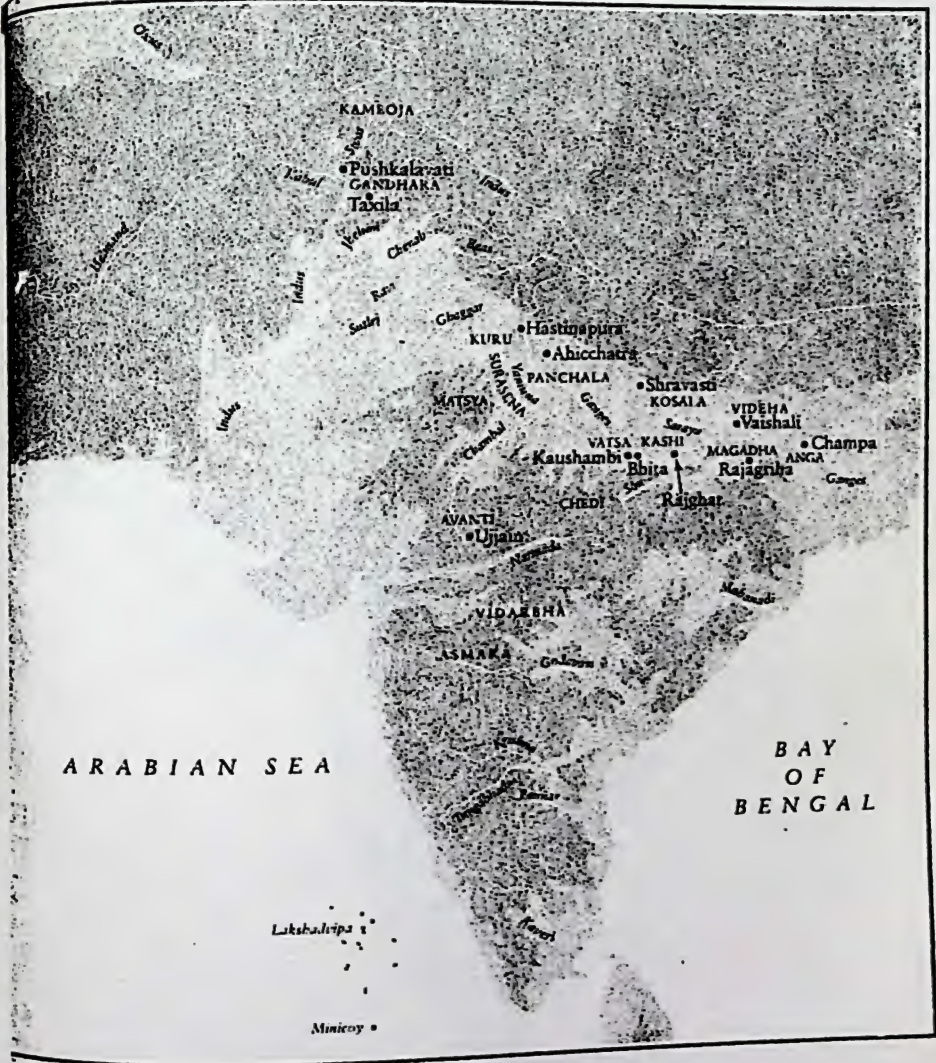
5 Some Sites of the Mauryan Period

Map 6 North India and West Asia *c.* 200 BC to AD 300

Ai Khanoum
KUSHANAS
Bactra
Begram
Hadda
Purushapura
Taxila
GREEKS
AUDAMBARAS
YAUDHEYAS
KUNINDAS
Sanghol
SHIBIS
Yamuna
ARJUNAYANAS
Mathura
SHUNGAS
Ganges
ABHIRAS
SHAKAS
KUTCH
MALAVAS
Besnagar
SAURASHTRA
Narmada
Junagarh
Bhrigukachchha/Barygaza
Mahanadi
Godavari
KALINGA
ARABIAN SEA
Krishna
BAY OF BENGAL
Kaveri
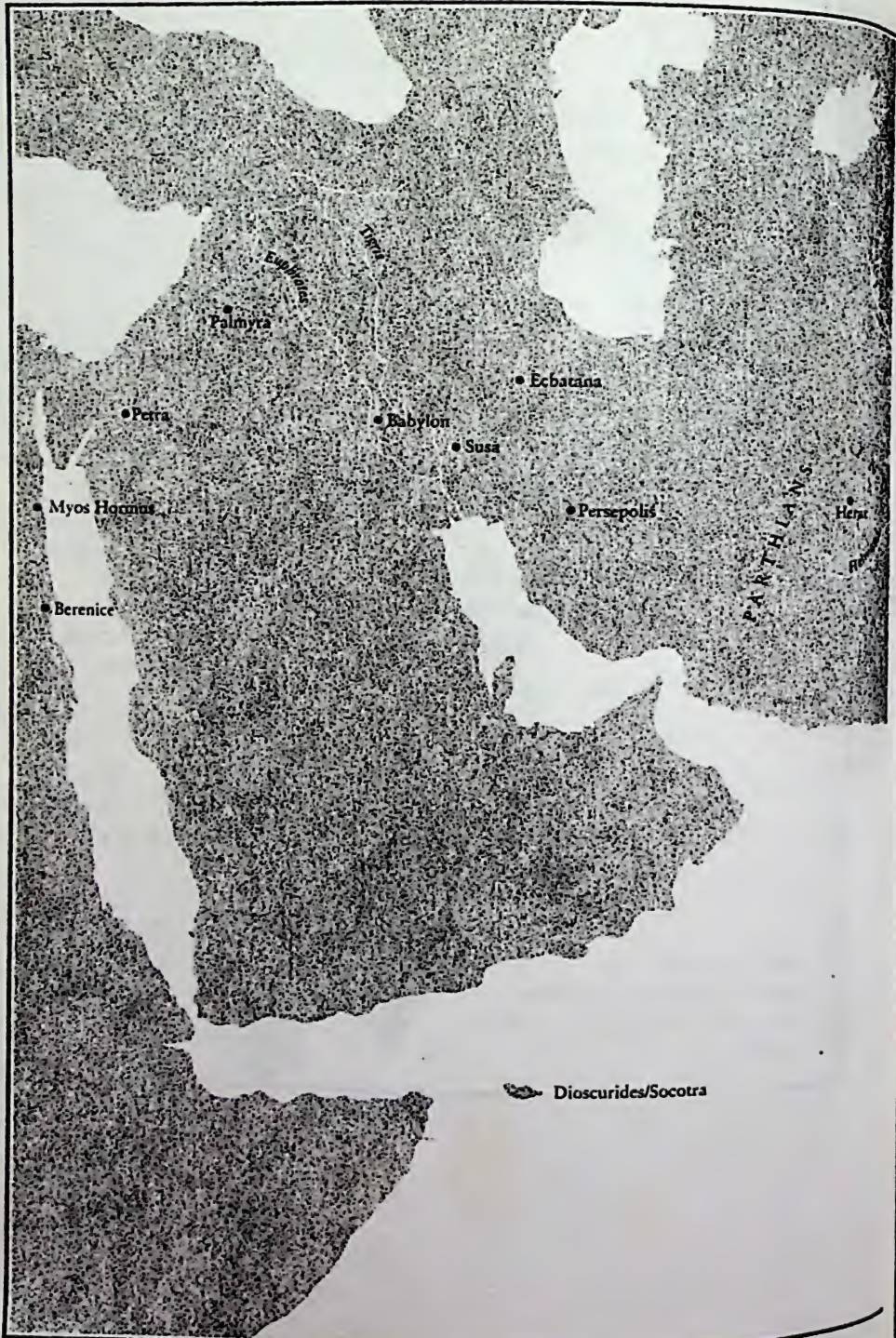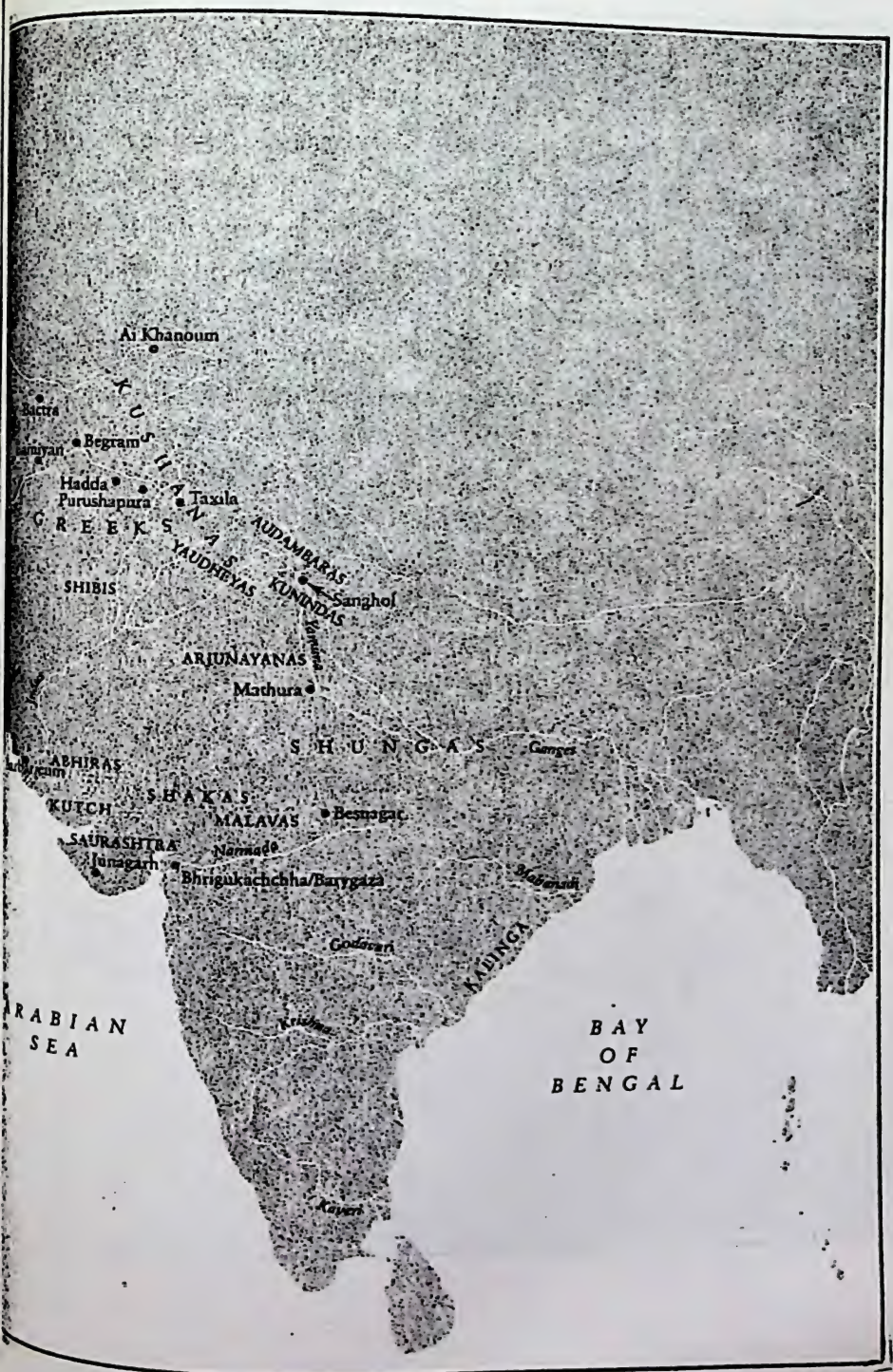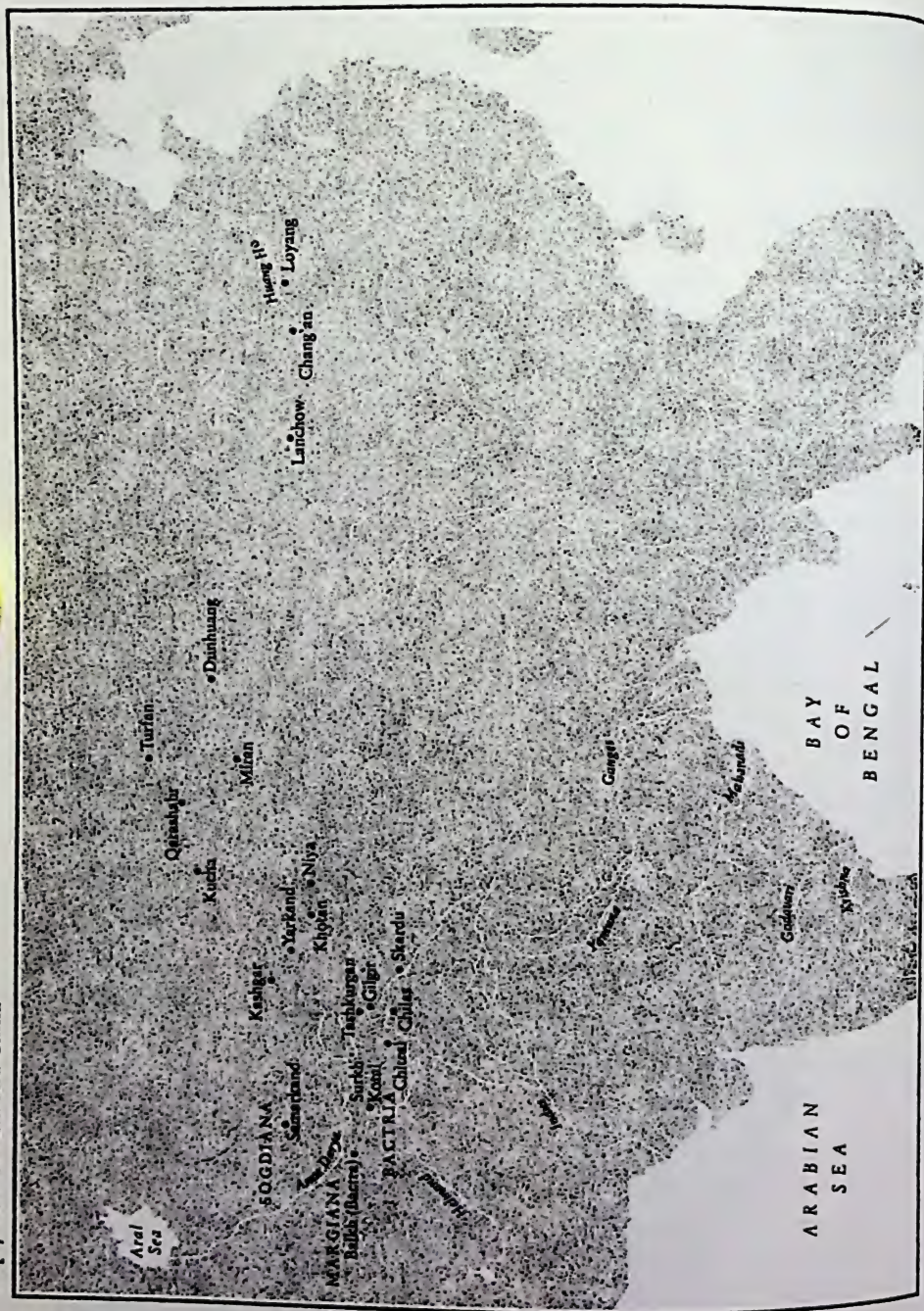
Map 8 The Indian Peninsula *c.* 200 BC to AD 300

Map 9 The Indian Subcontinent: Mid-first Millennium AD

Oxus
HUNAS
Swat
SASSANIANS
Helmand
Indus
Valabhi
LATA
Elephanta
ARABIAN SEA
Lakshadvipa
Land above 300 metres

Almora Hills
Mansarovar
Thanesar
Ganges
KAMARUPA
Pragjyotisha
Brahmaputra
Kanauj
Vaishali
Bhitargaon
Varanasi
Pataliputra
PUNDRA-
VARDHANA
Nachna Kothara
Nalanda
Bhumara
Bodh Gaya
SAMTATA
Tigowa
Vidisha
VANGA
Ramtek
DAKSHINA
KOSALA
Udayagiri
Ratnagiri
Lalitagiri
VIDARBHA
Vatsagulma
KALINGA
ANDHRA
BAY
OF
BENGAL
Kanchipuram
Kaveri
Kaveripattinam
SRI
LANKA

Map 10 Indian Contacts with South East Asia
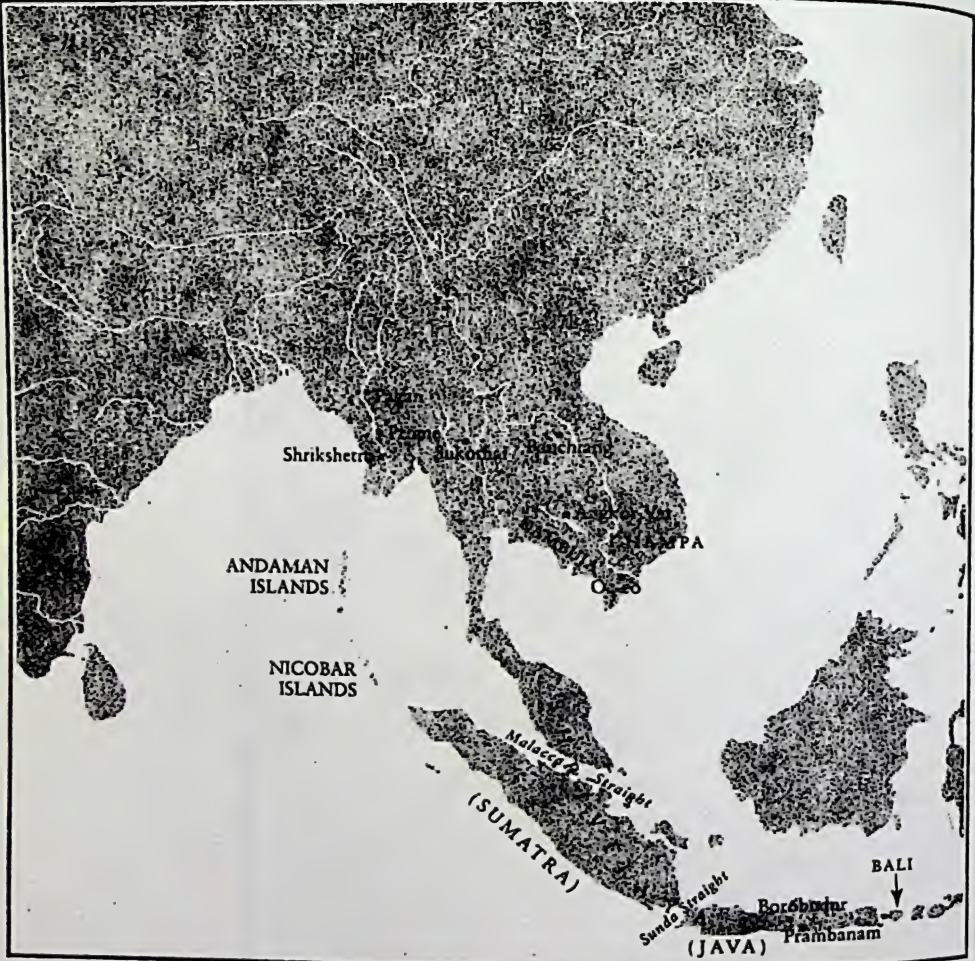
Map 12 Northern India *c*. AD 700 to 1100

Map 13 Northern India *c.* AD 900 to 1300

पारिभाषिक शब्द

अग्निकुल	एक यज्ञ-कुंड से कथित रूप से प्रकट होनेवाले एक महानायक को अपना पूर्वज माननेवाले राजवंश
अग्रहार	ब्राह्मणों को सामान्यतः राजा या राज-परिवार के सदस्यों द्वारा दिया गया भूमिदान या ग्रामदान
अनुलोम	शब्दार्थ की दृष्टि से देह-रोम की दिशा में; लक्षणार्थ है अपनी जाति के बाहर ऐसा विवाह करना जिससे जाति-सोपान का उल्लंघन न हो।
अर्थ	जीविका
अष्टकुलाधिकरण	एक प्रशासनिक समिति
उर्	दक्षिण भारत में ग्राम-सभा
रिपट्टि	वह ज़मीन जिससे प्राप्त राजस्व का उपयोग सिंचाई ताल के अनुरक्षण के लिए किया जाता था
कस्सक	कृषक
कहापण/कर्षापण	व्यापक रूप से प्रचलित बहुधा चांदी के सिक्के
काकिनी	तांबे के सिक्के
कुटुंबी	गृहस्थ
कुल्यवाप	ओसाने की टोकरी
क्षत्रप	प्रशासनिक विरुद, जिसका प्रयोग ख़ास तौर से पश्चिमी भारत के कुछ राजाओं द्वारा किया जाता था
गावुंडा	एक प्रकार का भूस्वामी, जो स्थानीय प्रशासनिक संस्था का सदस्य हो सकता था
घटिका	बहुधा मंदिर से जुड़ा शिक्षा केंद्र
चेट्टि/चेट्टियार	व्यापारी
चैत्य	पवित्र अहाता, जिसने बाद में एक विशाल कक्ष का

	रूप ले लिया और स्तूप के साथ बौद्ध उपासना का केंद्र बन गया
जनपद	ऐसा क्षेत्र जिसमें कोई कुल या कबीला रहता था लेकिन जो बाद में राज्य के रूप में विकसित हो सकता था
ज्येष्ठ	विशेष अर्थ श्रेणि का प्रधान
दक्षिणा	यज्ञ-शुल्क
दास	आरंभ में गैर-आर्य, बाद में गुलाम
द्रोणवाप	अनाज की एक तौल
नगरश्रेष्ठि	नगर का मुख्य व्यापारी
नाडु	दक्षिण भारत की एक प्रशासनिक इकाई
निगम	बाज़ार या नगर का एक हलका
निष्क	मूल्य की एक इकाई
पंचकुल	एक प्रशासनिक समिति
पल्लि	पुरवा, कभी-कभी छोटा बाज़ार भी
प्रतिलोम	शब्दार्थ है देह-रोम की विपरीत दिशा में और विशेषार्थ जाति से बाहर किया जानेवाला ऐसा विवाह जो जाति-सोपान का उल्लंघन हो
बोधिसत्व	जो विश्व के कल्याण के लिए काम करता है और अपने मोक्ष को स्वेच्छया टालता रहता है; कभी-कभी इसका अर्थ बुद्ध का पूर्वावतार भी होता था
ब्रह्मदेय	ब्राह्मणों को दान की गई भूमि या गांव, जिसके राजस्व का उपयोग वही करते थे
भुक्ति	प्रशासनिक इकाई
भोक्ता	उपयोग करनेवाला, लेकिन विशेष अर्थ भूक्षेत्र-विशेष पर राजस्वाधिकार का उपभोग करनेवाला
मंडल	तंत्र धर्म में ब्राह्माण्ड का प्रतीक मानी जानेवाली ज्यामितिक आकृतियां; कौटिल्य की योजना में किसी राज्य के इर्द-गिर्द के मित्र और शत्रु राज्य
मंडलम्	एक प्रशासनिक इकाई

मणिग्रामम्	व्यापारियों का संघ या श्रेणि
महत्तर	ग्राम-प्रधान
महासम्मत	राज्य के उद्भव के बौद्ध सिद्धांत में शासन के लिए चुना गया प्रथम व्यक्ति
म्लेच्छ	जाति-आधारित समाज से बाहर का आदमी
राजुक	एक सरकारी पदनाम
वलनाडु	दक्षिण भारत में एक प्रशासनिक इकाई
विषय	एक प्रशासनिक इकाई
विष्टि	बेगार
व्रात्य	आरंभ में सनातन व्यवस्था का पालन न करनेवालों का द्योतक, लेकिन बाद में विभिन्न भ्रष्ट वर्गों के लोगों का द्योतक
शतमान	सिक्का
श्रेणि	किसी पेशे के लोगों का विधिवत् गठित संघ
संकीर्ण जाति	संकर जाति
संगम्	सभा; विशिष्ट अर्थ में पूर्वतम तमिल काव्य-संग्रह
संसार	जन्म-मृत्यु का चक्र
स्तूप	जहां बुद्ध तथा बौद्ध धर्म की अन्य विभूतियों के अवशेष रखे जाते हैं, जिनकी बौद्ध पूजा करते हैं
हेग्गडे	भूस्वामी के लिए प्रायद्वीप में प्रयुक्त एक शब्द

●●●

Select Bibliographies

1. Perceptions of the Past

COLONIAL CONSTRUCTIONS: ORIENTALIST READINGS

Jones, W., *Discourses Delivered before the Asiatic Society*, 2nd edn (London, 1824)
Inden, Re., Imagining India (Oxford, 1990)

Drew, H., *India and the Romatic Imagination* (Delhi, 1987)

Leslie Willson, A., *A Mythical Image: The Ideal of India in German Romanticism* (Durham, 1964)

Leask, N., *British Romantic Writers and the East* (Cambridge, 1992)

Marshall, P. J., *The British Discovery of Hinduism in the Eighteenth Century* (Cambridge, 1970)

Mukherjee, S.N., *Sir William Jones: A Study in Eighteenth Century Britis Attitudes to India* (Delhi, 1983)

Said, E., *Orientalism* (New York, 1978)

Schwab, R., *The Oriental Renaissance: Europe's Discovery of India and the East 1680-1880* (New York, 1984)

Staal, F., *A Reader on the Sanskrit Grammarians* (Cambridge, Mass., 1972)

Teltscher, K., *India Inscribed; European and British Writing on India 1600-1800* (Delhi, 1995)

Thapar, R., *The Past and Prejudice* (Delhi, 1975)

Thapar, R., *Time as a Metaphor of History* (Delhi, 1996)

Thapar, R., *Interpreting Early India* (Delhi, 1992)

COLONIAL CONSTRUCTIONS: A UTILITARIAN CRITIQUE

Mill, J., *The History of British India, 5th edn* (New York, 1968)

Metcalfe, T.R., *Ideologies of the Raj* (Cambridge, 1995)

Majeed, J., *Ungoverned Imaginings. James Mill's The History of British India and Orientalism* (Oxford, 1992)

Philips, C.H. (ed.), *Historians of India, Pakistan and Ceylon* (London, 1962)

Smith, V., *Early History of India from 600 BC to the Muhammadan conquest, 4th edn* (Oxford, 1957)
Weber, M., *The Religion of India,* repr. (Glencoe, 1967)
Kantowsky, D., *Decent Research on Max Weber's Studies of Hinduism* (London, 1986)
Durkheim, E., *The Elementary Forms of Religious Life: A Study in Religious Sociology* (London, 1915)
Hubert, H. and Mauss, M. Sacrifice: *Its Nature and Function* (tr.) (London, 1964)
Mauss, M., *The Gift,* repr. (New York, 1967)
Bougle, C., *Essays on the Caste System, repr.* (Cambridge, 1971)

'DISCOVERING' THE INDIAN PAST

Cumming, J. (ed.), *Revealing India's Past* (London, 1939)
Tod, J., *Annals and Antiquities of Rajastan* (Oxford, 1821)
Kejriwal, O.P., *The asiatic Society of Bengal and the Discovery of India's Past, 1784-1838* (Delhi, 1988)

NATIONS OF RACE AND THEIR INFLUENCE ON INDOLOGY

Poliakov, L., *The Aryan Myth* (London, 1974)
Max Müller, F., *Biographies of Words and the Home of the Aryas* (London, 1888)
Max Müller, F., *India What Can it Teach Us?* (London, 1883)
Trautmann, T.R., *Aryans and British India* (Delhi, 1997)
Robb. P. (ed.), *The Concept of Race in South Asia* (New Delhi, 1995)

HISTORY AND NATIONALISM

Jayaswal, K.P., *Hindu Polity,* 2nd edn (Bangalore, 1943)
Altekar, A.S., *State and Government in Ancient India* (Banaras, 1949)
Majumdar, R.C., Raychaudhuri, H.C. and Datta, K.K., *An Advanced History of India* (London, 1961; 3rd edn, Delhi, 1973)

THE SEEDING OF COMMUNAL HISTORY

Thapar, R., Mukhia H., and Bipan, Chandra, *Communalism and the Writing of Indian History,* repr. (Delhi, 2000)
Panikkar, K.N., *The Concerned Indian's Guide to Communalism* (Delhi, 1999)
Pandey, G., *The Construction of Communalism in Colonial North India* (Delhi, 1990)

MARXIST HISTORIES AND THE DEBATES THEY GENERATED

O' Leary, B., *The Asiatic Mode of Production: Oriental Despotism, Historical Materialism and Indian History* (Oxford, 1989)
Bailey, A.M. and Llobera, J.R., (eds), *The Asiatic Mode of Production. Science and*

Politics (London, 1981)
Gough, K., *Rural Society in Southeast India* (Cambridge, 1981)
Anderson, P., *Lineages of the Absolutist State* (London, 1974)
Hobsbawm, E. J. (ed.), *Introduction to Pre-Capitalist Economic Formations* (London, 1984)
Wittfogel, K., *Oriental Despotism: A Comparative Study of Total Power* (New Haven, 1975)
Hobsbawm, E.J. (ed.), *Pre-Capitalist Economic Formations* (London, 1964)
Kosambi, D.D., *Introduction to the Study of Indian History* (Bombay, 1957)
Sharma, R.S., *Indian Feudalism* (Delhi, 1980)
Jha, D.N. (ed.), *Feudal Social Formation in Early India* (Delhi, 1987)
Byres, T. and H., Mukhia (eds), *Feudalism and non-European Societies* (Londoan, 1985)
Chattopadhyaya, B.D., *The Making of Early Medieval India* (Delhi, 1994)
Stein, B., *Peasant State and Society in Medieval South India* (Delhi, 1980)
Karashima, N., *South Indian History, and Society, Studies from Inscriptions AD 850-1800* (Delhi, 1984)

HISTORY AS A SOCIAL AND HUMAN SCIENCE

Burke, P. (ed.), *New Perspectives on Historical Writing*, 2nd edn (Gambridge, 2001)
Braudel, F., *On History* (Chicago, 1980)
Chakrabarti, D.K., *A History of Indian Archaeology from the Beginning to 1947* (Delhi, 1988)
Chakrabarti, D.K., *Theoretical Issues in Indian Archaeology*, (Delhi, 1988)
Ucko, P. (ed.), *Theory in Archaeology* (London, 1995)
Heninge, D., *Chronology of Oral Tradition* (Oxford, 1974)
Vansina, J., *Oral Tradition as History* (Madison, 1985)
Wachtel, N., *The Vision of the Vanquished* (Hassocks, 1977)
Hivale, S., *The Pradhans of the Upper Narmada Valley* (Bombay, 1946)
Deshpande, M.M., *Sanskrit and Prakrit: Socio-linguistic Issues* (Delhi, 1995)
Chaudhuri, K.N., *Asia Before Europe. Economy and Civilisation of the Indian Ocean from the Rise of Islam to 1750* (Cambridge, 1990)
Abu-Lughod, J., *Before European Hegemony. The World System AD 1250-1350* (New York, 1989)
Reynolds, S., *Fiefs and Vassals: The Medieval Evidence Reinterpreted* (Oxford, 1994)
Wickham, C., *Land and power* (London, 1994)
Klass, M., *Caste: The Emergency of the South Asian Social System* (Philadelphia, 1980)
Berreman, G., *The Hindus of the Himalayas* (Berkeley, 1963)
Srinivas, M.N., *Collected Essays* (Delhi, 2002)
Roy, K. (ed.), *Women in Early Indian Societies* (Delhi, 1999)

Sharma, R.S. and Jha, D.N. (eds), *Indian Society: Historical Probings. In Memory of D.D. Kosambi* (New Delhi, 1974)

Haskell, F., *History and its Images: Art and the Interpretation of the Past* (London, 1993)

Baxandall, M., *Painting and Experience in Fifteenth Century Italy* (Oxford, 1973)

Sebeok, T., *Current Trends in Linguistics*, vol. 5: *Linguistics in South Asia* (The Hague, 1969)

Evans, R.J., *In Defence of History* (London, 1997)

Skinner, Q., *The Return of Grand Theory in the Human Sciences, repr.* (Cambridge, 2000)

2 Landscapes and Peoples

TIME AND SPACE

Braudel, F., *On History* (Chicago, 1980)

Braudel, F., *The Mediterranean and the Mediterranean World in the Age of Philip II* (London, 1973)

Horden, P. and Purcell, N. *The Corrupting Sea* (Oxford, 2000)

Thapar, R., *Time as a Metaphor of History, repr.* (Delhi, 1992)

Law, B.C., *Historical Geography of Ancient India* (Paris, 1954)

Chattopadhyaya, B.D., *A Summary, of Historical Geography of Ancient India* (Calcutta, 1984)

THE LANDSCAPE

Subba Rao, S., *The Personality of India* (Baroda, 1958)

Spate, O.H.K. and Learmonth, A.T.A., *India and Pakistan, a General and Regional Geography*, 4th edn (London, 1972)

Singh, R.L. (ed.), *India, a Regional Geography* (Varanasi, 1971)

Guha, R. (ed.), *Social Ecology* (Delhi, 1998)

Gadgil, M. and Guha, R. *The Fissured Land: an Ecològical History of India* (New Delhi, 1992)

Reade, J. (ed.), *The Indian Ocean in Antiquity* (London, 1995)

FRONTIERS

Lattimore, O., *The Inner Asian Frontiers of China*, repr. (Oxford, 1988)

Khazanov, A.M., *Nomads and the Outside World*, 2nd edn (Madison, 1994)

Whittakar, R. C., *Frontiers of the Roman Empire* (London, 1994)

TRANSPORTATION

Deloche, J., *Transport and Communication in India Prior Prior to Steam Locomotion*, vol. I: *Land Transport*; vol. II: *Water Transport* (Delhi, 1993 ; 1994)

POPULATION

Cavalli-Sforza, L.L., Piazza, A. and Menozzi P., *The History and Geography of Human Genes* (New Jersey, 1994)

Guha, S., *Health and Population in South Asia* (Delhi, 2001)

CATEGORIES OF SOCIETIES-HUNTER-GATHERERS, PASTORALISTS, PEASANTS, TOWNSMEN

Sahlins, M., *Tribesmen* (New Jersey, 1968)

Kavoori, P.S., *Pastoralism in Expansion* (Delhi, 1999)

Sontheimer, G. D., *Pastoral Deities in Western India* (Delhi, 1993)

Diamond, J., *Guns, Germs and Steel* (New York, 1999)

Fried, M. H., *The Evolution of Political Society* (New York, 1967)

Claessen, H.J.M. and Skalnik, P. (eds), *The Early State* (The Hague, 1978)

Claessen, H.J.M. and Skalnik, P. (eds), *The Study of the State* (The Hague, 1981)

Allchin, B. (ed.), *Living Tradition: Studies in the Ethnoarchaeology of South Asia* (Delhi, 1994)

THE CREATION OF CASTES

Bose, N.K., *The Structure of Hindu Society* (Calcutta, 1975)

Klass, M., Caste: *The Emergence of the South Asian Social System* (Philadelphia, 1980)

Gupta, D. (ed.), *Social Stratification* (Delhi, 1992)

Mandelbaum, D., *Society in India*, vols I and II (Berkeley, Calif., 1970)

3 Antecedents

PREHISTORIC BEGINNINGS

Agrwal, D.P., *The Archaeology of India* (London, 1982)

Allchin, R. and Allchin, B., *Origins of a Civilization* (Delhi, 1997)

Chakrabarti, D. K., *India, An Archaeological Archaeology*, vols I and II (Delhi, 1989)

Neumayer, E., *Lines on Stone: Prehistoric Rock Art of India* (Delhi, 1993)

Mathpal, Y., *The Prehistoric Rock Art of Bhimbetka, Central India* (Delhi, 1984)

Possehl, G. L., *Radio-Carbon Dates for South Asian Archaeology* (Philadelphia, 1989)

Jacobson, J. (ed.), *Studies in the Archaeology of India and Pakistan* (New Delhi, 1986)

Kennedy, K.A.R. and Possehl, G.L. (eds), *Studies in the Archaeology and Palaeoanthropology of South Asia* (New Delhi, 1984)

THE FIRST URBANIZATION-CITIES OF THE INDUS CIVILIZATION

Possehl, G.L. (ed.), *Ancient Cities of the Indus* (Delhi, 1979)

Possehl, G.L. (ed.), *Harappan Civilization-a Recent Perspective*, 2nd edn (Delhi, 1993)

Meadow, R. (ed.), *Harappa Excavations 1986-1990: a Multi-Disciplinary Approach to Third Millennium Urbanism* (Madison, 1992)

Mughal, M. R., *Ancient Cholistan* (Lahore, 1997)

Parpola, A., *Deciphering the Indus Script* (Cambridge, 1944)

Mahadevan, I., 'The Indus Script: Texts, Concordance and Tables', in *Memoirs of the Archaeological Survey of India,* 77 (New Delhi, 1977)

Ratnagar, S., *Enquriries into the Political Organization of Harappan Society* (Pune, 1991)

Ratnagar, S., *The End of the Great Harappan Tradition* (Delhi, 2000)

Ratnagar, S., *Understanding Harappa* (Delhi, 2001)

Kohl, mP. (ed.), *The Bronze Age Civilization of Central Asia* (New York, 1981)

NEOLITHIC AND CHALCOLITHIC CULTURES, OTHER THAN IN THE NORTH-WEST

Dhavlikar, M.K., *The First Farmers ot the Deccan* (Pune, 1988)

Eliade, M., *Shamanism* (New Jersey, 1974)

Allchin, F.R., *Neolithic Cattle Keepers of South India* (Cambridge, 1963)

Roy, T.N., *The Ganges Civilization* (New Delhi, 1983)

Tripathi, V., *The Painted Grey Ware: An Iron Age Culture of Northern India* (Delhi, 1976)

Gaur, R. C., *Excavations at Atranjikhera* (New Delhi, 1983)

Chattopadhyaya, D. P., *History of Science and Technology in Ancient India* (Calcutta, 1986)

Atre, S., *The Archetypal Mother* (Pune, 1987)

MEGALITHIC BURIALS

Gururaja Rao, B.K. *The Megalithic Culture in South India* (Prasaranga, 1981)

Sundara, A., *The Early Chamber Tombs of South India* (Delhi, 1975)

Deo, S. B., *Problem of South Indian Megaliths* (Dharwar, 1973)

Moorti, U.S., *Megalithic Culture of South India* (Varanasi, 1994)

4. Towards Chiefdoms and Kingdoms

NARRATIVES OF BEGINNINGS

Brockington, J. L., *The Sanskrit Epics* (Leiden, 1998)

Brockington, J. L., *Righteous Rama* (Delhi, 1984)

Bulcker, C., *Ramakatha* (Varanasi, 1971)

Sukhthankar V.S., *On the Meaning of the Mahabharta* (Bombay, 1954)

Goldman, R. P., *Gods, Priests and Warriors. The Bhrigus of the Mahabharta* (New York, 1977)

Pargiter, F. E., *The Ancient Indian Historical Tradition* (London, 1922)

Deshpande, M. M. and Hook, P. (eds), *Aryan and Non-Aryan in India* (Ann Arbor, 1979)
Burrow, T., *The Sanskrit Language* (London, 1973)
Heninge, D.P., *The Chronology of Oral Tradition* (Oxford, 1974)
Ong, W. J., *Orality and Literacy* (London, 1982)
Lad, G., *Mahabharata and Archaeological Evidence* (Pune, 1983)
Gonda, J., *Vedic Literature* (Wiesbaden, 1975)
Banerji, S.C., *Dharmasutras, A Study in their Origin and Development* (Calcutta, 1962)
Witzel, M. (ed.), *Inside the Texts Beyond the Texts: New Approaches to the Study of the Vedas* (Cambridge, 1997)
Tripathi, V., *The Painted Grey Ware: An Iron Age Culture of Northern India* (Delhi, 1976)
Raychaudhuri, H. C., *The Political History of Ancient India* (Delhi, 1996)
History and Culture of the Indian People, vol. I: *The Vedic Age* (Bombay, 1965)
Dandekar, R. N., *Vedic Bibliography* (Pune, 1946)
Pollet, G. (ed.), *India and the Ancient World* (Leuven, 1987)
Caillat, C. (ed.), *Dialectes dans les litteratures Indo-Aryennes* (Paris, 1989)

THE CONTEXT OF THE RIG-VEDA

Masica, C. P., *Defining a Linguistic Area: South Asia* (Chicago, 1976)
Mallory, J. P., *In Search of the Indo-Europeans : Language, Archaeology and Myth* (London, 1989)
Desphande, M. M., *Sociolinguistic Attitudes in India: An Historical Reconstruction* (Ann Arbor, 1979)
Emeneau, M. B., *Language and Linguistic Area* (Stanford, 1980)
Kuiper, F. B.J., *Aryans in the Rigveda* (Amsterdam, 1991)
Rau, W., *The Meaning of 'Pur' in Vedic Literature* (Munich, 1976)
Lincoln, B., *Priests, Warriors and Cattle* (Los Angeles, 1981)
Bryant, E., *The Quest for the Origins of Vedic Culture* (Delhi, 2000)

SOCIETIES IN THE VEDIC CORPUS

Erdosy, G. (ed.), *The Indo-Aryans of Ancient South Asia: Language, Material Culture, Ethnicity* (Berlin, 1995)
Thapar, R., 'From Lineage to State', in *History and Beyond* (Delhi, 2000)
Trautmann, T.R., *Dravidian Kinship* (Cambridge, 1981)
Sharma, R. S., *Material Culture and Social Formation in Ancient India* (Delhi, 1983)
Chattopadhyaya, D.P., *History of Science and Technology in Ancient India,* vols I and II (Calcutta 1986; 1991)
Gaur, R. C., *The Excavations at Atranjikbera: Early Civilization in the Ganges Basin* (Delhi, 1983)
Kochar, R. *The Vedic People* (New Delhi, 2000)

CHIEFS AND KINGS

Gonda, J., *Ancient Indian Kingship from the Religious Point of View* (Leiden, 1969)

Roy, K., *The Emergence of Monarchy in North India* (Delhi, 1994)

Mauss, M., *The Gift* (New York, 1967)

Sharma, R. S., *Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India*, 3rd edn (Delhi, 1991)

Singh, S. D., *Ancient Indian Warfare with Special Reference to the Vedic Period* (Leiden, 1965)

Earle, T. (ed.), *Chiefdoms: Power, Economy and Ideology* (Cambridge, 1991)

INCIPIENT CASTE

Kosambi, D. D., *Introduction to the Study of Indian History* (Bombay, 1956)

Karve, I., *Hindu Society-an Interpretation* (Poona, 1961)

Dumont, L., Homo Hierarchicus (Chicago, 1970)

SACRIFICE AS RITUAL AND AS A FORM OF SOCIAL EXCHANGE

Dandekar, R. N., *Vedic Mythological Tracts* (Delhi, 1979)

Staal, F., *Agni* (Berkeley, Calif., 1981)

Gonda, J., *The Ritual Sutras* (Wiesbaden, 1977)

Heesterman, J. C., *The Ancient Indian Royal Consecration* (The Hague, 1957)

Keith, A. B., *Religion and Philosophy of the Vedas and Upanishads* (Cambridge, Mass., 1925)

Hubert, H. and Mauss, M., *Sacrifice-its Nature and Function* (Chicago, 1964)

Lincoln, B., *Death, War and Sacrifice* (Chicago, 1991)

SOME SOURCES IN TRANSLATION

Griffiths, R. T. H., *Hymns of the Regveda* (Varanasi, 1896-97)

Geldner, K. F., *Der Rigveda Samhita, German text* (Gambridge, Mass., 1951)

Keith, A. B., *The Rigveda Brahmans* (Cambridge, Mass., 1920)

Eggeling, J., *Shatapatha Brahmana* (Oxford, 1898)

Radhakrishnan, S., *The Principal Upanisads* (London, 1953)

Olivelle, P., *The Dharmasutras* (Oxford, 1999)

Darmesteter, J., *The Zend Avesta*, repr. (Varanasi, 1969)

5 States and Cities of the Indo-Gangetic Plain

STATES AND CITIES

Thapar, R., *From Lineage to State*, 2nd edn (Delhi, 1996)

Makkhan Lal, *Settlement History and the Rise of Civilization in the Ganga-Yamuna*

Doab from 1500 BC-AD 300 (Delhi, 1984)
Sharma, R. S., *Material Culture and Social Formation in Ancient India* (Delhi, 1983)
Fried, M., *The Evolution of Political Society* (New York, 1967)
Claessen, H. J. M. and Skalnik, P. (eds), *The Early State* (The Hague, 1978)
Claessen, H. J. M. and Skalnik, P. (eds), *The Study of the State* (The Hague, 1981)
Law, B. C., *Geography of Early Buddhism*, repr. (Varanasi, 1973)

THE SECOND URBANIZATION: THE GANGES PLAIN

Allchin, F. R., *The Archaeology of Early Historic South Asia: The Emergence of Cities and States* (Cambridge, 1995)
Chakrabarti, D. K., *The Early Use of Iron in India* (Delhi, 1992)
Erdosy, G., *Urbanization in Early Historic India*, BAR (Oxford, 1988)
Ghosh, A., *The City in Early Historical India* (Shimla, 1973)
Jha, S. K., *Beginning of Urbanization in Early Historic India* (Patna, 1998)
Marshall, J., *Taxila* (Cambridge, 1951)
Sharma, G. R., *The Excavations at Kaushambi 1957-59* (Allahabad, 1960)
Roy, T. N., *The Ganges Civilization* (New Delhi, 1983)
Sarao, K. T. S., *Urban Centres and Urbanisation as Reflected in the Pali Vinaya and sutta Pitakas* (Delhi, 1990)
Dani, A. H., *The Historic City of Taxila* (Paris, 1986)
Chakrabarti, D. K., *The Archaeology of Ancient Indian Cities* (New Delhi, 1995)
Thakur, V.K. *Urbanisation in Ancient India* (New Delhi, 1981)

GANA-SANGHAS-CHIEFDOMS AND OLIGARCHES

Law, B.C., *Some Kshatriya Tribes in Ancient India*, repr. (Delhi, 1975)
Wagle, N. N., *Society at the Time of the Buddha, 2nd edn* (Bombay, 1996)
Chanana, D., *Slavery in Ancient India* (Delhi, 1960)
Sharma, R. S., *Sudras in Ancient India*, 2nd edn (Delhi, 1980)
Sharma, J. P., *Republics in Ancient India* (Leiden, 1968)
Jha, H.N., *The Licchavis* (Varanasi, 1970)

KINGDOMS AND THE PRE-EMINENCE OF MAGADHA

Raychaudhuri, H. C., *Political History of Ancient India* (Calcutta, 1965); with an update by B. N. Mukherjee (Calcutta, 1996)
Kosambi, D. D., *The Culture and Civilization of Ancient India in Historical Outline* (London, 1966)
Shrimali, K. M., *History of Pancala to C. AD 500*, vols I and II (Delhi, 1985)

NORTH-WEST INDIA AND ALEXANDER

Lane Fox, R., *Alexander the Great* (New York, 1974)

Smith, V., *Early History of India from 600 BC to the Mubammadan Conquest,* 4th edn. (Oxford, 1957)

Bosworth, A. B., *A Historical Commentary on Arrian's History of Alexander* (Oxford, 1995)

EARLY TRADE

Allan, J., *Catalogue of Indian Coins in the British Museum. Coins of Ancient India,* repr. (London, 1967)

Mitchiner, M., *The Origins of Indian Coinage* (London, 1973)

Gupta, P. L. and Hardekar, T. R., *Indian Silver Punch-Marked Coins of the Magadha-Maurya Karshapana Series* (Anjaner, 1985)

Fick, R., *Social Organization of North-eastern India in the Buddha's Time,* repr. (Delhi, 1972)

Nath, V., *Dana: Gift System in Ancient India (600 BC to AD 300)* (Delhi, 1987)

RELIGIONS AND IDEOLOGIES: QUESTIONS AND RESPONSES

Lamotte, E., *History of Indian Buddhism* (Louvain, 1976; 1988 (tr.))

Ling, T., *The Buddha* (Harmondsworth, 1988)

Bechert, H. (ed.), *The Dating of the Historical Buddha,* Vols 1-3 (Gottingen, 1992-97)

Chakravarti, U., *The Social Dimensions of Early Buddhism* (Delhi, 1987)

Frauwallner, E., *The Earliest Vinaya and the Beginnings of Buddhist Literature* (Rome, 1956)

Jayatilleke, K. N., *Early Buddhist Theory of Knowledge* (London, 1963; Delhi, 1983)

Pande, G. C., *Studies in the Origins of Buddhism* (Allahabad, 1957)

Horner, I. B., *Women under Primitive Buddhism* (London, 1930)

Dundas, P., *The Jainas* (London, 1992)

Basham, A. L., *The History and Doctrine of the Ajivikas* (Londoan, 1951)

Chattopadhyoya, D.P. *Lokayata* (Delhi, 1955)

SOME SOURCES IN TRANSLATION

Woodward F.L., and Hare, E. M., *Anguttara Nikaya,* repr. (Oxford, 1995)

Max Müller, F., *Dhammapada,* repr. (Delhi, 1965)

Rhys Davids, T. W., *Digha Nikaya, 3rd edn* (London, 1951)

Oldenberg, H. and Rhys Davids, T. W., *Vinaya Pitaka,* repr. (Delhi 1965)

Jacobi, H., *Jaina Sutras,* repr. (Delhi, 1964)

McCrindle, J. W., *Ancient India as Described by Ktesias the Knidian,* repr. (delhi, 1973)

McCrindle, J. W., *Ancient India as Described in Classical Literature* (Westminster, 1901)

McCrindle, J. W., *The Invasion of India by Alexander the Great*, repr. (New York, 1972)
Ghosh, A., *An Encyclopaedia of Indian Archaeology* (Delhi, 1989)

6 The Emergence of Empire: Mauryan India

THE MAURYAS AND THEIR WORLD

Nilakanta Sastri, K. A. (ed.), *The Age of the Nandas and Mauryas* (Varanasi, 1952)
Bongard-Levin, G., *Mauryan India* (Delhi, 1985)
Thapar, R., *Ashoka and the Decline of the Mauryas*, 2nd edn (Delhi, 1997)
Dandamaev, N. A. and Lukonin, V. G., *The Culture and Social Institutions of Ancient Iran* (Cambridge, 1989)
Frye, R., *The History of Ancient Iran* (Munich, 1984)
Karttunen, K., *India in Early Greek Literature* (Helsinki, 1989)
Rostovtzeff, M. I., *The Social and Economic History of the Hellenistic World* (Oxford, 1941)
Sherwin-White, S. and Kuhrt, A. (eds), *From Samarkhand to Sardis* (London, 1993)
Chattopadhyaya, S., *The Achaemenids and India*, 2nd edn (Delhi, 1974)

THE POLITICAL ECONOMY OF EMPIRE

Trautmann, T. R., *Kautilya and the Arthasatra* (Leiden, 1971)
Kosambi, D. D., *Indian Numismatics* (Delhi, 1981)
Marshall, J., *Taxila* (Cambridge, 1951)
Salomon, R., *Indian Epigraphy* (Delhi, 1998)
Dani, A. H., *Indian Palaeography* (Oxford, 1963)
Gupta, P. L., *A Bibliography of the Hoard of Punch-Marked Coins in Ancient India* (Bombay, 1955)

WELDING A SUB CONTINENTAL SOCIETY

Thapar, R., *The Mauryas Revisited* (Calcutta, 1988)
Sharma, R. S., *Sudras in Ancient India*, rev. edn (Delhi, 1980)
Derret, J. D., *Religion, Law and the State in India* (London, 1968)
Lingat, R., *The Classical Law of India* (Berkeley, 1973)

ADMINISTRATION AND EMPIRE

Thapar, R., *The Mauryas Revisited* (Calcutta, 1988)
Ghoshal, U. N., *The Agrarian System in Ancient India* (Calcutta, 1930)
Fox, R. G., *Realm and Region in Traditional India* (New Delhi, 1977)
Claessen, H. and Skalnik, P. (eds), *The Early State* (The Hague, 1978)
Ray, N. R., *Maurya and Sbunga Art* (Calcutta, 1945)

ASHOKA'S DHAMMA

Lingat, R., Royautes Bouddhiques, part I (Paris, 1989)

Sircar, D. C., *Ashokan Studies* (Calcutta, 1979)

Tambiah, S. J., *World Conqueror and World Renouncer* (Cambridge, 1976)

Mukherjee, B. N., *Studies in the Aramaic Edicts of Asoka* (Calcutta, 1984)

SOME SOURCES IN TRANSLATION

Kangle, R.P., *Kautiliya Artbasastra,* 3 vols (Bombay, 1965)

Strong, J. S., *The Legend of King Asoka* (New Jersey, 1983)

McCrindle, J. W., *Ancient India as Described by Megasthenes and Arrian* (Calcutta, 1877)

Bloch, J., *Les Inscriptions d' Asoka* (Paris, 1950)

Hultzsch, E., *Corpus Inscriptionum Indicarum,* vol. I : *The Inscription of Asoka,* repr. (Delhi, 1969)

Pargiter, F.E., *The Purana Texts of the Dynasties of the Kali Age,* repr. (Varanasi, 1962)

Geiger, W., *The Mahavamsa* (London, 1964)

Przyluski, J., *La Legende de l' Empereur Asoka* (Paris, 1923)

Coulson, M., *Three Sanskrit Plays* (Harmondsworth, 1981)

7. Of Politics and Trade

SHUNGAS, KHARAVELA, OLIGARCHIES

Raychaudhuri, H. C., *Political of Ancient India, Commentary* B.N. Mukherjee (Delhi, 1996)

Lahiri, B., *Indigenous State of Northern India circa 200 BC to 320 AD* (Calcutta, 1974)

Dasgupta, K. K., *A Tribal History of Ancient India: a Numismatic Approach* (Calcutta, 1974)

INDO-GREEKS AND SHAKAS

Narain, A. K., *The Indo-Greeks* (Oxford, 1957)

Guillaume, O., *Analysis of Reasonings in Archaeology* (Delhi, 1990)

Guillaume, O., *Graeco-Bactrian and Indian Coins* (Delhi, 1991)

Bernard, P. et al., *Fouilles d'Ai Khanoum,* vols I-VII (Paris, 1973-87)

Mukherjee, B. N., *Mathura and its Society-the Saka-Pahalav Phase* (Calcutta, 1981)

Van Lohuizen de Leeuw, J. E., *The Scythian Period* (Leiden, 1949)

SHAKAS, PARTHIANS, KUSHANAS AND KSHATRAPAS

Basham, A. L. (ed.), *Papers on the Date of Kaniska* (Leiden, 1968)

Gershevitch, I. (ed.), *The Cambridge History of Iran,* vol. II (Cambridge, 1985)

Jettmar, K. et. al., *Rock Inscriptions in the Indus Valley. Antiquities of Northern Pakistan*

(Mainz, 1989)
Liu Xinru, *Ancient India and Ancient China: Trade and Religious Exchanges AD 1-600* (Delhi, 1988)
Mukherjee, B. N., *The Rise and Fall of the Kushana Empire* (Calcutta, 1988)
Sharma, G. R. (ed.), *Kushana Studies* (Allahabad, 1968)
Sinor, D. (ed.), *The Cambridge History of Early Inner Asia* (Cambridge, 1990)
Khazanov, A. M., *Nomads and the Outside World* (Cambridge, 1984)
Seaman, G. (ed.), *Ecology and Empire. Nomads in the Culture Evolution of the Old World,* vol. I (Los Angeles, 1989)
Colledge, M. A. R., *The Parthian Period* (Leiden, 1986)
Mukherjee, B. N., *An Agrippan Source. A Study in Indo-Parthian History* (Calcutta, 1969)
Bagchi, P. C., *India and Central Asia* (Calcutta, 1955)

SATAVAHANAS

Shastri, A. M., *Early History of the Deccan: Problems and Perspectives* (New Delhi, 1987)
Margabandhu, C., *Archaeology of the Satavahana and Kshatrapa Times* (New Delhi, 1985)
Yazdani, G. (ed.), *Early History of the Deccan* (Delhi, 1960)
Sircar, D.C., *The Successors of the Satvabanas in the Lower Deccan* (Calcutta, 1969)
Gupte, R. S., *Excavation at Bhokardan* (Nagpur, 1974)
Sarkar, H. and Nainar, S. P. *Amaravati* (New Delhi, 1972)
Knox, R., *Amaravati: Buddhist Sculpture from the Great Stupa* (London, 1992)
Sankalia, H. D. and Dikshit, M. G., *Excanvation at Brahmapuri* (Kolhapur) 1945-46 (Poona, 1952)

SOUTH INDIA

Abdul Majeed, A. et al., *Alagankulam: A Preliminary Report* (Madras, 1992)
Gurukkal, R. and Raghava Varier, M. R. (eds), *Caltural History of Kerala,* vol. I (Tiruvananthapuram, 2000)
Subrahmanian, N., *Sangam Polity: The Administration and Social Life of the Sangam Tamils,* repr. (Bombay, 1980)
Mahalingam, T. V., *Report on the Excavations in the Lower Kaveri Valley* (Madras, 1970)
Champakalakshmi, R., *Trade, Ideology and Urbanisation: South India 300 BC to AD 300* (Delhi, 1996)
Claessen, H. J. M. and Skalnik, P. (eds), *The Study of the State* (The Hague, 1981)
Kailasapathy, K., *Tamil Heroic Poetry* (Oxford, 1972)
Nagaswamy, R. (ed.), *Seminar on Inscriptions* (Madras, 1968)
Turner, P. J., *Roman Coins from India* (London, 1989)

NETWORKS OF ROUTES AND TRADING CENTRES

Deo, S.B. and Paddayya, (eds), *Recent Advances in Indian Archaeology* (Poona, 1988)

Parashar-Sen, A. (ed.), *Social and Economic History of the Early Deccan: Some Interpretations* (New Delhi, 1993)

De Romanis, F. and Tchernia, A. (ed.), *Crossings* (Delhi, 1997)

Deloche, J., *Transport and Communications in India,* Vols 1 and 2 (Delhi, 1993)

Bagchi, P. C., *India and China,* 2nd edn (Calcutta, 1981)

Some Sources in Translation

Casson, L., *The periplus Maris Erythraei,* text with introduction, translation and commentary (Princeton, 1989)

Rhys Davids, T. W., *The Questions of King Milinda* (Oxford, 1890-4)

Konow, S., *Corpus Inscriptionum Indicarum,* vol. II, repr. (Ootacamund, 1963)

Epigraphia Indica. vol VII: *Calcutta 1902-3'* vol. VIII: *Calcutta 1995-6*

Allan, J., *Catalogue of Coins in the Birtish Museum, Ancient India,* repr. (London, 1967)

Smith, V., *Catalogue of Coins in the Indian Museum,* repr. (Delhi, 1972-6)

Rapson, E. J., *Catalogue fo Coins in the British Museum, Andhras and Western Kshatrapas,* repr. (London, 1967)

Whitehead, R. B., *Catalogue of Coins in the Punjab Museum, Lahore* (London, 1914)

Gardner, P., *Catalogue of Coins in the British Museum, Greek and Scythic Kings* (London, 1886)

Rama Rao, M., *Satavahana Coins in the Andhra Pradesh Government Museum* (Hyderabad, 1961)

Shastri, A. M. (ed.), *Coinage of the Satvahanas and Coins from Excavations* (Nagpur, 1972)

Mahadevan, I., 'Corpus of the Tamil-Brahmi Inscriptions', in R. Nagaswamy (ed.), *Seminar on Inscriptins* (Madras, 1968)

Ghosh A. (ed.), *An Encyclopaedia of Indian Archaeology,* vols 1 and 2 (Delhi, 1989)

8. The Rise of the Mercantile Community

Most of the Monography listed for the previous chapter are also relevant to this chapter.

ECONOMIES OF EXCHANGE

Bernar, P. and Grenet, F. (eds), *Histoire et cultes de l' asie centrale pre-islamiques sources ecrites documents archeologiques* (Paris, 1991)

Mukherjee, B.N., *The Economic Factors in Kushana History* (Calcutta, 1970)

Raschke, M. G., 'New Studies of Roman Commerce with the East', *Aufsteig und Neidergang der Romischer Welt* (Berlin, 1978)

Liu, Xinru, *Silk and Religion* (Delhi, 1996)

Dasgupta, K. K., *A Tribal History of India: A Numismatic Approch* (Calcutta, 1974)

Potts, D. T., *The Arabian Gulf in Antiquity* (Oxford, 1990)

Motichandra, *Trade and Trade Routes in Ancient India* (Delhi, 1977)

Miller, J. I., *The Spice Trade of the Roman Empire* (Oxford, 1969)

Begley, V. and De puma, R. D., *Rome and India* (Delhi, 1992)

Begley, V., *Arikamedu,* vols I and II (Pondichery, 1995; forthcoming)

Chattopadhyaya, B.D., *Coins and Currency* systems in South India *(Delhi, 1977)*

Bose, A., *Social and Rural Economy of Northern India,* vols I and II (Calcutta, 1942-45)

Pollet, G. (ed.), *India and the Ancient World: History, Trade and Culture before AD 650* (Leuven, 1987)

Higham, C., *The Archaeology of Mainland Southeast Asia* (Cambridge, 1989)

CULTURAL INTERACTIONS

Dani, A.H., *Chilas* (Islamabad, 1983)

Dani, A.H., *Recent Archaeological Discoveries in Pakistan* (Paris, 1988)

Errington, E. and J. Cribb (eds), *The Crossorads of Asia* (Cambridge, 1992)

Frye, R., *The Heritage of Central Asia* (Princeton, 1996)

Karttunen, K., *India and the Hellenistic World* (Helsinki, 1997)

Kubrt, A. and Sherwin-White S. (eds), *Hellenism in the East* (London, 1987)

Marshall, J., Taxila (Cambridge, 1951)

Ray, H. P., *Monastery and Guild, Commerce under the Satavahanas* (New Delhi, 1986)

Wolters, O. W., *History, Culture and Region in Southeast Asian Perspectives* (Ithaca, 1999)

Mukherjee, R.K., *The History of Indian Shipping* (London, 1912)

EDUCATION, LITERATURE AND SYSTEMS OF KNOWLEDGE

Sivathamby , K. (ed.), *Drama in Ancient Tamil Society* (Madras, 1981)

Zvelebil, K., *Tamil Literature* (Weisbaden, 1974)

Takahashi, T., *Tamil Love Poetry and Poetics* (Leiden, 1995)

Chattopadhyaya, D.P., *Science and Society in Ancient India* (Calcutta, 1977)

Zysk, K. G., *Asceticism and Healing in Ancient India. Medicine in the Buddhist Monastery* (New York, 1991)

Pingree, D., *Jyotihsastra* (Wiesbaden, 1981)

Warder, A. K., *Indian Kavya Literature* (Delhi, 1972)

Bose, D. M. et al. (ed.), *A Concise History of Science in India* (New Delhi, 1971)

Zimmerman, F., *The Jungle and the Aroma of Meats* (Berkeley, Calif, 1987)

SOCIAL FORMS

Srinivasan, D. M. (ed.), *Mathura, A Cultural History* (Delhi, 1989)

Kosambi, D.D., *Myth and Reality* (Bombay, 1962)
Bhattacharaya, S. C., *Some Aspects of Indian Society from C. second century BC to C. fourth century AD* (Calcutta, 1978)
Paul, D. Y., *Women in Buddhism*, 2nd edn (Berkeley, 1985)
Sharma, R.S., *Sudras in Ancient India*, 2nd edn (Delhi, 1980)
Chanana, D., *Slavery in Ancient India as Depicted in Pali and Sanskrit Texts* (Delhi, 1960)

ARCHITECTURE AND VISUAL EXPRESSION

Huntington, S., *The Art of Ancient India - Hindu, Buddhist, Jaina* (New York, 1985)
Nehru, L., *Origins of the Gandharan Style* (Delhi, 1989)
Rosenfield, O. M., *The Dynastic Arts of the Kushans* (Berkeley, 1967)
Sarkar, H. B., *Studies in Early Buddhist Architecture of India* (Delhi, 1966)
Dehejia, V., *Early Buddhist Rock Temples* (Londoan, 1972)
Dehejia, V., *Discourse in Early Buddhist Art: Visual Narratives of India* New Delhi, 1997)
Dhavlikar, M. K. *Sanchi. A Cultural Study* (Poona, 1965)
Krishnamurthy, K., *Nagarjunakonda: A Cultural Study* (Delhi, 1977)
Sundara, A., *The Early Chamber Tombs of South India* (Delhi, 1975)
Miller, B. (ed.), *The Powers of Art* (Delhi, 1992)
Sharma, R. C., *Buddhist Art of Mathura* (Delhi, 1984)

THE INTERMINGLING OF RELIGIOUS BELIEFS AND PRACTICES

Schopen, G., *Bones, Stones and Buddhist Monks* (Honolulu, 1997)
Salomon, R., *Ancient Buddhist Scrolls from Gandhara* (London, 1999)
Heitzman, J., *The Origin and Spread of Buddhist Monastic Institutions in South Asia, 500 BC to AD 300* (Philadelphia, 1980)
Raychaudhuri, H. C., *Early History of the Vaishnava Sect*, repr. (Delhi, 1975)
Medlycot, A. E., *India and the Apostle Thomas* (London, 1905)

Some Sources in Translation

Casson, L., *The Periplus Maris Erythraei. Text with Introduction, Translation and Commentary* (Princeton, 1989)
McCrindle, J. W., *Ancient India as Described by Ptolemy* (Calcutta, 1927)
Buehler, G., *The Laws of Manu*, repr. (Delhi, 1971)
Cowell, E. B., et al., *Buddhist Mahayana Sutras* (Oxford, 1894)
Suzuki, D. T. *The Lankavatara Sutra* (London, 1932)
Ramanujan, A. K., *Poems of Love and War* (New York, 1985)

9 Threshold Times

THE GUPTAS AND THEIR SUCCESSORS

Majumdar, R.C. and Altekar, A.S. (eds), *The Vakataka Gupta Age* (Benaras, 1954)

Goyal, S. R., *History of the Imperial Guptas* (Allahabad, 1967)

Altekar, A.S., *The Coinage of the Gupta Empire and its Imitations* (Varanasi, 1957)

Gupta, P. L., *The Imperial Guptas*, 2 Vols (Varanasi, 1974-9)

Shastri, A. M. (ed.), *The Age of the Vakatakas* (Delhi, 1992)

Devahuti, D., *Harsha, a Political Study*, 3rd edn (Delhi, 1998)

INDICATORS OF A CHANGING POLITICAL ECONOMY

Jha, D. N., *Revenue System in Post-Maurya and Gupta Times* (Calcutta, 1977)

Sircar, D. C., *Political and Administrative system of Ancient and Medieval India* (Delhi, 1974)

Maity, S. K. , *Economic Life of Northern India in the Gupta Period AD 300-500* (Calcutta, 1958)

Sharma, R. S., Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India (Delhi 1968)

Sharma, R. S., *Indian Feudalism C. AD 300-1200* (Delhi, 1980)

Shrimali, K. M., *Agrarian Structure in Central India and the Northern Deccan* (Delhi, 1987)

URBAN LIFE

Thakur, V.K. *Urbanism in Ancient India* (New Delhi, 1981)

Sharma, R. S. *Urban Decay in India* (New Delhi, 1983)

Sharma, R. S., *Perspectives in Social and Economic History in Early India* (New Delhi, 1983)

Mukherjee, B. N., Coins and Currency System in Gupta Bengal (New Delhi, 1992)

Hourani, G. F., Arab Seafaring, expanded edn., J. Carswell (Princeton, 1995)

Hall, K. R., Maritime Trade and State Development in Early South East Asia, (Honolulu, 1984)

SOCIAL MORES

Smith, B. L. (ed.), *Essays on Gupta Culture* (Delhi, 1983)

Suryavamsi, B., *The Abhiras: Their History and Culture* (Baroda, 1962)

Gupta, C., The Kayasthas: *A Study in the Formation and Early History of a Caste* (Calcutta, 1996)

Altekar, A. S., *The Position of Women in Hindu Civilisation* (Varanasi, 1956)

SYSTEMS OF KNOWLEDGE

Cunnigham, A., *The Book of Indian Eras* (London, 1889)

Ghosh, A., *Nalanda,* ASI, 6th edn (Delhi, 1971)
Sankalia, H. D., *The University of Nalanda* (Delhi, 1972)
Mookerji, R. K., *Ancient Indian Education: Brahmanical and Buddhist,* 3rd edn (Delhi, 1969)
Houben, J.E.M. (ed.), *Ideology and Status of Sanskrit: Contributions to the History of the Sanskrit Language* (Leiden, 1996)
Lingat, R., *The Clkassical Law of Inda* (Berkeley, 1973)
Matilal, B., *Perception* (Oxford, 1986)
Zimmerman, F., *The Jungle and the Aroma of Meats* (Berkeley, 1987)
Pargiter, F. E., *Purana Texts of the Dynasties of the Kali Age* (London, 1922)
Pathak, V. S., *Ancient Historians of India* (Bombay, 1966)
Radhakrishnan, S., *Indian Philosophy* (London, 1948)
Das Gupta, S. N., *History of Indian Philosophy,* vols I-V (Cambridge, 1923-49)
Bose, D. M. et al. (eds), *A Concise History of Science in India* (New Delhi, 1971)

CREATIVE LITERATURE

Warder, A. K., *Indian Kavya Literature,* 2nd edn (New Delhi, 1989)
Stoler Miller, B. (ed.), *Theature of Memory* (New York, 1984)
Thapar, R., *Shakuntala: Texts, Readings, Histories* (Delhi, 1999)
Kosambi, D. D., *Myth and Reality: Studies in the Formation of Indian Culture* (Bombay, 1962)
Keith, A. B., *History of Sanskrit Literature* (Oxford, 1928)

ARCHITECTURE, ART AND PATRONAGE

Harle, J. C., *Gupta Sculpture: Indian Sculpture from the Fourth to the Sixth Centuries AD* (Oxford, 1974)
Williams, J., *The Art of Gupta India* (Princeton, 1982)
Asher, F. M., *The Art of Eastern India 300-800* (Minneapolis, 1980)
Stoler Miller, B. (ed.), *The Powers of Art: Patronage in Indian Culture* (Delhi, 1992)
Poster, G. A., *From Indian Earth: Four Thousand Years of Terracotta Art (New York, 1986)*

RELIGIOUS FOR MULATIONS

Basham, A. L., *The Origins and Development of Classical Hinduism* (Delhi, 1990)
Rocher, L., *The Puranas* (Wiesbaden, 1986)
Hazra, R. C., *Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Customs* (Delhi, 1975)
Nath, V., *Puranas and Acculturation* (Delhi, 2000)
Jaiswal, S., *The Origin and Development of Vaishnavism,* 2nd edn (Delhi, 1981)
Bhandarkar, R. G., *Vaishnavism, Shaivism and the Minor Religious Sects* (Strasburg, 1913)

Chandra, K. R., *A Critical Study fo the Paumacariyan* (Vaishali, 1970)

Coburn, T. B., *Devi Mahatmya: The Crystallisation of the Gddess Tradition* (Delhi, 1984)

Some Sources in Translation

Fleet, J., *Corpus Inscriptiomum Indicarum,* Vol. III, repr. (New Delhi, 1981)

Mirashi, V. V. (ed.), *Corpus Inscriptionum Indicarum,* vol. V. Inscriptions of the Vakatakas (Ootacamund, 1963)

Allan, J., *Catalogue of the Coins of the Gupta Dynasty in the British Museum,* repr. (London, 1967)

Altekar, A. S., *Catalogue of the Gupta Gold Coins in the Bayana Hoard* (Bombay, 1954)

Giles, H. A., *The Travels of Fa-bien* (London, 1959)

Stoler Miller, B. (ed.), *Theatre of Memory* (New York, 1984)

Wilson, H. H., *The Vishnu Purana,* repr. (Calcutta, 1961)

Lariveiere, R., *Nanada Smriti,* parts 1 and 2 (Philadelphia, 1989)

Jolly, J. *The Institutes of Visbum* (Oxford, 1880)

Cowell, E. B. and Thomas, *F. W. The Harsacarita of Bana,* repr. (Delhi, 1968)

Watters, T., *On Yuan Chwang's Travels in India,* repr. (Delhi, 1973)

Beal, S., *Si-yu-ki Buddhist Records of the Western World,* repr. (Delhi, 1969)

Beal, S., Life of Hiuen Tsang by the Shaman Hwui Li (London, 1911)

Doniger, W. and Kakar, S., *The Kamasutra* (New dElhi, 2002)

10. The Peninsula: Emerging Regional Kingdoms

PALLAVAS, CHALUKYAS AND RASHTRAKUTAS

Nilakanta Sastri, K. A, *A Hisoty of South India: From Earliest Times to Vijayanagar* (Madras, 1958)

Mahalingam, T. V., *Kanchipuram in South Indian History* (Bombay, 1969)

Mahalingam, T. V., *South India Polity,* 2nd edn (Madras, 1967)

Moraes, G. M., *The Kadamba Kula - A History of Ancient and Medieval Karnataka* (Bombay, 1931)

Ramesh, *K. V. History of South Kanara* (Dharwar, 1970)

Yazdani, G. (ed.) *The Early History of the Deccan,* repr. (Delhi, 1982)

Altekar, A. S., *The Rastrakutas and their Times,* rev. edn (Poona, 1967)

Sircar, D. C., *Successors of the Satavahanas in the Lower Deccan* (Calcutta, 1939)

POLITICAL ECONOMIES OF THE PENINSULA

Champakalakshmi, R., *Trade, Ideology and Urbanism* (New Delhi, 1996)

Ludden, D., *Peasant History in South India* (New Jersey, 1985)
Nagaswamy, R. (ed.), *Seminar on Hero Stones* (Madras, 1974)
Natana, K., *Hero Stones in Tamil Nadu* (Madras, 1978)
Setter, S. (ed.), *Memorial Stones* (Dharwar, 1982)
Setter, B., *Peasant State and Society in Medieval South India* (Delhi, 1980)
Banga, I. (ed.), *The City in Indian History: Urban Demography, Society and Politics* (Delhi, 1991)
Veluthat, K., *The Political Structure of Early Medieval South India* (Delhi, 1993)
Kulke, H., *Kings and Cults. State Formation and Legitimation in Indian and Southeast Asia* (New Delhi, 1993)
Chattopadhyaya, B.D., *Coins and Currency Systems in South India* (Delhi, 1977)
Parasher-Sen, A. (ed.), *Social and Economic History of the Early Deccan: Some Interpretations* (New Delhi, 1993)
Minakshi, C., *Administration and Social Life Under the Pallavas* rev. edn (Madras, 1977)
Nagaswamy, R., *Kaveripattinam-A Guide* (Madras, 1973)

LITERARY CULTURE

Zvelebil, K. V., *The Smile of Murugan: On the Tamil Literature of South India* (Leiden, 1973)
Aiyar, V.V.S., *Kamba Ramayana-A Study* (Bombay, 1965)
Peterson, I. V., *Poems to Shiva: The Hymns of the Tamil Saints* (Delhi, 1991)
Ramesh, K.V., *Jaina Literature in Tamil* (Delhi, 1974)
Sivathamby, K., *Drama in Ancient Tamil Society* (Madras, 1981)
Meenakshi, K., *Literary Criticism in Tamil and Sanskrit* (Chennai, 2000)
Ramanujan, A. K., *Hymns for the Drowning*, Poems for Visnu by Nammalvar (Princeton, 1981)

PHILOSOPHICAL AND RELIGIOUS CHANGES

Obeysekere, G., *The Cult of Goddess Patini* (Delhi, 1987)
Desai, B.P., *Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs* (Sholapur, 1957)
Gunawardana, R. A. L. H., *Robe and Plough* (Tucson, 1979)
Shanta Kumari, L., *History of the Agraharas, Karnataka, 400-1300* (Madras, 1986)
Lorenzen, D., *The Kapalikas and Kalamukbas: Two Lost Shaivite Sects* (New Delhi, 1972)
Narayanan, M.G.S., *Cultural Symbiosis in Kerala* (Trivandrum, 1972)
Pande, G.C., *The Life and Thought of Shankaracharya* (Delhi, 1994)
Mayeda, S., *A Thousand Teachings* (Tokyo, 1979)
Clothey, F.W., *The Many Faces of Murugan: The History and Meaning of a South*

Indian God (The Hague, 1978)

THE ROLE OF THE TEMPLE

Stein, B. (ed.), *South Indian Temples* (Delhi, 1978)
Tartakov, G.M., *The Durga Temple at Aibole* (Delhi, 1997)
Champakalakshmi, R., *The Hindu Temple* (Delhi, 2001)
Michell, G., *Pattadakal* (Delhi, 2002)

Some Sources in Translation

South Indian Inscriptions

Sewell, R. and Aiyangar, S.K. (eds), *Historical Inscriptions of South India* (Madras, 1932)
Pope, G. U., *The Sacred Kural* (London, 1888)
Parathasarathy, R., *The Tale of an Anklet* (Madras, 1993)
Danielou, A., *Manimekhalai* (New Delhi, 1993)
Ryder, A. W., *Dandin's Dasakumaracharita* (Chicago, 1927)
Kingsbury, F. and Philips, G. E., *Hymns of the Tamil Shaivite Saints,* (Calcutta, 1921)

11 The Peninsula: Establishing Authorities and Structures

THE POLITICS OF THE PENINSULA

Nilakanta Sastri, K. A., *The Cholas,* repr. (Madras, 1975)
Subbarayalu, Y., *Political Geography of the Chola Country* (Madras, 1970)
Derrett, J.D.M., *The Hoysalas* (Oxford, 1957)
Sheikh Ali, B. (ed.), *The Hoysala Dynasty* (Mysore, 1972)
Spencer, G. W., *The Politics of Expansion. The Chola Conquest of Sri Lanka and Sri Vijaya* (Madras, 1983)
Talbot, C., *Pre-Colonial India in Practic* (Delhi, 2001)
Narayanan, M. G. S., *Perumals of Kerala* (Calicut, 1996)
Nilakantha Sastri, K. A., *The Pandyan Kingdom* (Madras, 1982)
Desai, B. P. (ed.), *A History of Karnataka* (Dharwar, 1970)
Altekar, A.S., *The Rashtrakutas and Their Times,* 2nd rev. edn (Poona, 1967)
Krishnan, K. G., *Studies in South Indian History and Epigraphy* (Madras, 1981)

STRUCTURES OF AN AGRARIAN SYSTEM

Gururajachar, S., *Some Aspects of Economic and Social Life in Karnataka (AD 1000-1300)* (Mysore, 1974)
Kuppuswamy, G. R., *Economic Conditions in Karnataka, AD 973-AD 1336* (Dharwar, 1975)

Stein, B., *Peasant State and Society in Medieval India* (Delhi, 1980)
Jha, D. N. (ed.), *Feudal Social Formation in Early India* (Delhi, 1987)
Karashima, N., *History and Society in South India*, repr. (Delhi, 2001)
Sundaram, K., *Studies in Economic and Social Condition in Medieval Andhra* (Machilipatnam, 1968)
Parasher-Sen A. (ed.), *Social and Economic History of the Early Decan: Some Interpretations* (New Delhi, 1993)
Ludden, D., *Peasant History in South India* (Princeton, 1985)
Chattopadhyaya, B. D., *Aspects of Rural Settlements and Rural Society in Early Medieval India* (Calcutta, 1990)
Gros, F. and Nagaswamy, R., *Uttaramerur; Legendes, Histoire, Monuments* (Pondicherry, 1970)

TOWNS AND MARKETS

Hall, K.R., *Trade and Statecraft in the Age of the Cholas* (Delhi, 1980)
Abraham, M., *Two Medieval Merchant Guilds of South India* (New Delhi, 1988)
Champakalakshmi, R., *Trade, Ideology and Urbanisation* (Delhi, 1996)
Ramaswamy, V., *Textiles and Weavers in Medieval South India* (New Delhi, 1985)
Goitein, S. D., *From the Mediterranean to India* (New Jersey, 1974)
Chattopadhyaya, B. D., *Coins and Currency Systems in South India* (New Delhi, 1977)
Mahalingam, T. V., *Kancipuram in Early South Indian History* (Bombay, 1969)
Srinivasan, C. R., *Kanchipuram Through the Ages* (Delhi, 1979)

THE TEMPLE AS AN INSTITUTION

Settar, S., *The Hoysala Temples* (Dharwar, 1992)
Meister, M. (ed.), *Encyclopaedia of Indian Temple Architecture*, vol. 1, I , *Lower Dravidadesa, 200 BC-AD 1324* (Philadelphia, 1983)
Sundaram, K., *The Simbachalam Temple* (Waltair, 1969)
Thapar, R., 'Cultural Transactions and Early India-Patronage', in *History and Beyond* (Delhi, 2000)
Pillai, K. K., *The Suchindaram Temple* (Madras, 1963)
Nagaswamy, R., *Gangaikondaholapuram* (Madras, 1970)
Stein, B. (ed.), *South Indian Temples. An Analytical Reconsideration* (New Delhi, 1978)

LANGUAGE AND LITERATURE

Meenakshi, K., *Literary Criticism in Tamil and Sanskrit* (Chennai, 2000)
Shulman, D. D., *The King and the Clown in South Indian Myth and Poetry* (Princeton, 1988)
Shulman, D. D., *Tamil Temple Myths. Sacrifice and Divine Marriage in the South Indian*

Saiva Tradition (Princeton, 1980)

Peterson, I., *Poems to Siva, the Hymns of the Tamil Saints* (Princeton, 1989)

Zvelebil, K., *Companion Studies to the History of Tamil Literature* (Leiden, 1992)

RELIGIONS AND IDEOLOGIES

Ramaswamy, V., *Divinity and Deviance. Women in Vaishnavism* (Delhi, 1990)

Ramaswamy, V., *Walking Naked: Society, Spirituality in South India* (Simla, 1997)

Zvelebil, K., *The Irulas of the Blue Mountains* (Syracuse, 1988)

Hardy, F., *Viraba-Bhakti: The Early History of Krsna Devotion in South India* (Delhi, 1983)

Lorenzen, D. N., *The Kapalikas and Kalamukhas: Two Lost Saivite Sects* (New Delhi, 1975)

Sontheimer, G. D., *Pastoral Deities in Western India* (New York, 1989)

Garman, J. B., *The Theology of Ramanuja. An Essay in Interreligious Understanding* (Yale, 1974)

Ayyar, C.V.N., *Origin and Early History of Shaivism in South India*, repr. (Madras, 1974)

Desai, P. B., *Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs* (Sholapur, 1957)

Singh, R.B.P., *Jainism in Early Medieval Karnataka* (Delhi, 1975)

Some Sources in Translation

Epigraphia Indica

Epigraphia Carnatica

South Indian Inscriptions

Panchmukhi, R.S., *Karnataka Inscription* (Dharwar, 1941)

Rice, L., *Mysore and Coorg from the Inscriptions* (London, 1909)

Elliot, W., *Coins of Southern India*, repr. (Varanasi, 1970)

Biddulph, C. H., *Coins of the Cholas* (Varanasi, 1968)

12. The Politics of Northern India

THE STRUGGLE OVER THE NORTHERN PLAINS

Ray, H. C., *Dynastic History of Northern India*, Vols I and II, repr. (New Delhi, 1973)

Puri, B. N., *The History of the Gurjara Pratibaras* (Bombay, 1975)

Fox, R. G. (ed.), *Realm and Region in Traditional India* (Delhi, 1977)

KINGDOMS BEYOND THE GANGES HEARTLAND

Maclean, D. N., *Religion and Society in Arab Sind* (Leiden, 1989)

Majumdar, A. K., *Chaulukyas of Gujarat* (Bombay, 1956)

Morrison, B., *Political Centres and Cultural Regions of Early Bengal* (Tucson, 1970)
Majumdar, R. C., *The History of Bengal*, vol., I, 2nd edn (Patna, 1971)
Singh Upinder, *Kings, Brahmanas and Temples in Orissa* (Delhi, 1993)
Mahtab, K. H., *The History of Orissa*, vols I and II (cuttack, 1959-60)
Mitra, S. K., *The Early Rulers of Khajuraho* (Calcutta, 1958)
Goetz, H., *Studies in the History and Art of Kashmir and the Indian Himalayas* (Wiesbaden, 1969)
Barua, K. L., *Early History of Kamarupa*, 2nd edn (Gauhati, 1966)

RAJPUTS

Sharma, D., *Early Chauhan Dynasties* (Delhi, 1959)
Sharma, D. (ed.), *Rajasthan Through the Ages* (Bikaner, 1966)
Asopa, J. N., *Origin of the Rajputs* (Delhi, 1976)
Bhatia, P., *The Paramaras* (Delhi, 1970)
Chattopadhyaya, B. D., *The Making of Early Medieval India* (New Delhi, 1994)

THE CREATION OF NEW SETTLEMENTS

Sharma, R.S., *Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India*, rev. edn (Delhi, 1991)
Sharma, R. S. and Jha, V. (eds), *Indian Society: Historical Probings* (New Delhi, 1974)
Pouchepadass, J. and Stern, H. (eds), *From Kingship to State, the Political in the Anthropology and History of the Indian World* (Paris, 1991)

CENTRAL ASIAN INTERVENTION

Wink, A., *Al-Hind, The Making of the Indo-Islamic World*, vol. I (Delhi, 1999)
Nazim, M., *The Life and Times of Sultan Mahmud of Ghazna*, 2nd edn (New Delhi, 1971)
Habib, M., *Sultan Mahmud of Ghazna*, 2nd edn (New Delhi, 1971)
Thapar, R., *Narratives and the Making of History, two lectures* (Delhi, 2000)
Bosworth, C. E., *The Ghaznavids: Their Empire in Afghanistan and Eastern Iran, 994-1040* (Edinburgh, 1963)
Bosworth, C. E., *The Medieval History of Iran, Afghanistan and Central Asia* (London, 1977)
Eaton, R. M., *Essays on Islam and Indian History* (Delhi, 2000)
Davis, R. H., *Lives of Indian Images* (Princeton, 1997)
Foltz, R. C., *Religions of the Silk Road* (London, 1999)
Rehman, A., *The Last Two Dynasties of the Shabis: an Analysis of their History, Archaeology, Coinage and Palaeography* (Islamabad, 1979)

THE COMING OF TURKISH RULE

Habibullah, A. B. M., *The Foundation of Muslim Rule in India* (Allahabad, 1961)

Gommand, J.J.L. and Kolff, D.H.A. (ed.), *Warfare and Weaponry in South Asia, 1000-1800* (Delhi, 2001)

Chattopadhyaya, B. D. *Representing the Otber?: Sanskrit sources and the Muslims* (New Delhi, 1998)

Some Sources in Translation

Stein, M. A., *Kalbana's Rajatarangini, a Chronicle of the Kings of Kashmir*, repr. (Delhi, 1979)

Chachnama in Elliot, H. M. and Dowson, J., *The History of India as Told by its own Historians*, vol. I, repr. (Delhi, 1996)

Elliot, H. M. and Dowson, J., *The History of India as Told by its own Historians*, vols II and III, repr. (Delhi, 1996)

Sachau, E. C., *Alberuni's India*, vols I and Ii, repr. (Delhi, 1964)

13. Northern India: Distributive Political Economies and Regional Cultures

THEORIES OF HISTORICAL CHANGE

Sircar, D.C., *Landlordism and Tenancy in Ancient and Medieval India as Revealed by Epigraphical Records* (Lucknow, 1969)

Sharma, R. S., *Indian Feudalism* (Calcutta, 1965)

Sharma, R. S., *Social Changes in Early Medieval India* (circa AD 500-1200) (Delhi, 1969)

Sharma, R. S., *Urban Decay in India*, C. AD 300-C. 1000 (Delhi, 1987)

Sharma, R. S., *Early Medieval Indian Society* (Delhi, 2001)

Byres, T. J. and Mukhia, H. (eds), *Feudalism and non-European Societies* (London, 1985)

Jha, D. N. (ed.), *Feudal Social Formation in Early India* (Delhi, 1987)

Jha, D. N., *The Feudal Order* (New Delhi, 2000)

Chattopadhyaya, B. D., *The Making of Early Medieval India* (Delhi, 1994)

DISTRIBUTIVE POLITICAL ECONOMIES

Chattopadhyaya, B. D., *Aspects of Rural Settlements and Rural Society in Early Medieval India* (Calcutta, 1990)

Om, Prakash, *Early Indian Grants and State Economy* (Allahabad, 1988)

Raychaudhuri, T. and Habib, I. (eds), *Cambridge Economic History of India*, vol. I (Cambridge, 1982)

Singh, Upinder, *Kings, Brahmanas and Temples in Orissa* (Delhi, 1993)

Chaudhary, A. K., *Early Medieval Village in North-Eastern India (AD 600-1200)* (Calcutta, 1971)

Gopal, L., *The Economic Life of Northern India* (Varanasi, 1965)

Chaudhuri, K. N., *Asia Before Europe* (Cambridge, 1990)

KINGS AND POLITICS

Kulke, H., *Kings and Cults. State Formation and Legitimation in India and Southeast Asia* (New Delhi, 1993)

Kulke, H. (ed.), *The State in India, 1000-1700* (Delhi, 1997)

Sinha, S. C., *Tribal Polities and State Systems in Pre-Colonial Eastern and North Eastern India* (New Delhi, 1987)

Morrison, B. M., *Lalmai, a Cultural Centre of Early Bengal* (Seattle, 1974)

URBANISM IN A NEW CONTEXT

Deyell, J.S., *Living Without Silver: The Monetary History of Early Medieval North India* (Delhi, 1990)

Jha, A.K., (ed.), *Coinage, Trade and Economy* (Nasik, 1991)

Jain, V.K., *Trade and Traders in Western India (AD 1000-1300)* (New Delhi, 1990)

Jain, K. C., *Ancient Cities and Towns of Rajasthan* (Delhi, 1972)

Mukherjee, B. N., *Post-Gupta Coinages of Bengal* (Calcutta, 1989)

Thakur, U., *Mints and Minting in Ancient India* (Varanasi, 1972)

NEW SOCIAL TRENDS

Yadava, B. N. S., *Society and Culture in Twelfth Century North India* (Allahabad, 1973)

Jha, D. N. (ed.), *Society and Ideology in India: Essays in Honour of Professor R. S. Sharma* (Delhi, 1996)

Gupta, C., *The Kayasthas: A Study in the Formation and Early History of a Caste* (Calcutta, 1996)

Sharma, R. S., *Social Changes in Early Medieval India, C. AD 500-1200* (Delhi, 1969)

Sharma, R. S., *Social Changes in Early Medieval India, C. AD 500-1200* (Delhi, 1969)

Dutta, S., *Migrant Brahmanas in Northern India and their Settlements and General Impact C. AD 475-1030* (Delhi, 1989)

LEARNING AND LITERATURE

Lingat, C. R., *The Classical Law of India* (New Delhi, 1973)

Pathak, V.S., *Ancient Historians of India: A Study in Historical Biography* (Bombay, 1966)

Thapar, R., *Exile and the Kingdom: Some Thoughts on the Ramayana* (Bangalore, 1978)

Chattopadhyaya, D. P., *Science and Society in Ancient India* (Calcutta, 1979)

Sircar, D. C., *Indian Epigraphy* (Delhi, 1965)

Warder, A. K., *Indian Kavya Literature*, 4 vols (Delhi, 1972-83)

Dutta, B. B. and Singh, A. N., *History of Hindu Mathematics* (Lahore, 1935)

Ray, P. C., *A History of Hindu Chemistry, 2 vols, 2nd edn* (Calcutta, 1925)

MONUMENTS AND THEIR HISTORICAL ROLE

Michell, G., *The Hindu Temple: An Introduction to its Meaning and Forms* (Chicago, 1998)

Champakalakshmi, R., *The Hindu Temple* (New Delhi, 2001)

Stoller Miller, B. (ed.), *The Powers of Art: Patronage in Indian Culture* (Delhi, 1992)

Meister, M. and Dhaky, M. A., *Encyclopaedia of Indian Temple Architecture* vol. II. 1: *Foundations of a North Indian Style C. 250 BC-AD 1100* (Delhi, 1980); vol. II. 2: *Period of Early Maturity 700-900* (Delhi, 1971)

Handa, D., *Osian. History, Archaeology, Art and Architecture* (Delhi, 1984)

Desai, D., *Khajuraho* (Delhi, 2000)

Desai, D., *Erotic Sculpture of India* (New Delhi, 1975)

Deherjia, V., *Yogini Cult and Temples* (New Delhi, 1994)

Thakur, L. S., *Buddhism in the Western Himalaya* (Delhi, 2002)

RELIGIOUS MUTATIONS

Coburn, T., *Devi-Mahatmya: The Crystallisation of the Goddess Tradition* (Delhi, 1984)

Dehejia, V. (ed.), *Devi: The Great Goddess* (Ahmedabad, 1999)

Jaini, P. S., *Gender and Salvation: Jaina Debates on the Spiritual Liberation of Women* (Delhi, 1992)

Eischmann, A., Kulke, H. and Tripathi, G. C. (eds), *The Cult of Jagannath and the Regional Tradion of Orissa* (New Delhi, 1978)

Thapar, R., *Ancient Indian Social History: Some Interpretations* (Delhi, 1978)

Hazra, R. C., *Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Customs*, 2nd edn (Delhi 1975)

Banerjea J. N., *The Development of Hindu Iconography* (Calcutta, 1956)

Woodroffe, J., *Shakti and Sakta* (Madras, 1956)

Bhattacharya, N. N., *History of the Tantric Religion* (New Delhi, 1992)

Bhattacharya, N. N., *History of the Sakta Religion*, 2nd edn (New Delhi, 1996)

Chakrabarti, K., *Religious Process, The Puranas and the Making of a Regional Tradition* (Delhi, 2001)

Banerjee, J. N., *Puranic and Tantric Religion* (Calcutta, 1966)

Gupta, S., et al., *Hindu Tantrism* (Leiden, 1979)

Some Sources in Translation

Majumdar, N. G., *Inscriptions of Bengal* (Rajashahi, 1929)

Mirashi, V. V., *Corpus Inscriptionum Indicarum*, vol. IV, parts 1 and 2: *Inscriptions of the Kalachuri-Chedi Era* (Ootacamund, 1929; 1955)

Trivedi, H. V., *Corpus Inscriptionum Indicarum*, vol. VII, parts 1-3, *Inscriptions of the Paramaras, Chandellas, Kachchhapagatas and Two Minor Dynasties* (generallay texts only) (Delhi, 1991)

Nambiar, S. K., *Prabodhacandrodaya of Krsna Misra* (Delhi, 1971)

Majumdar, R. C., Basak, R. and Banerji, P. N., *The Ramacaritam of Sandhyakaranandian* (Rajashahi, 1939)

Ph. Vogel, *The Antiquties of Chamba State* (Calcutta, 1911)

Tawney, C. H., (tr.), *The Ocean of Story (Kathasaritasagara)*, repr. (Delhi, 1968)

Arnold, E., *The Chaurapanchashika* (London, 1986)

Jha, G., *Medhatithi Manubhashya* (Calcutta, 1922-29)

Stoler Miller, B., *Love Song of the Dark Lord: Jayadeva's Gita Govinda* (New York, 1977)

Tawney, C. H., *The Prabandhachintamani of Merutunga Acarya* (Calcutta, 1899)

Williams, A., *Tales from the Panchatantra* (Oxford, 1930)

General Biblography

The exclusion of some of the older authors from this General Bibliography as well as from the bibliographies attached to each chapter is not because their writings are no longer important, but because they are still far better known than some of the recent studies and the latter require mention.

Basham, A. L. (ed.), *The Legacy of India* (Oxford, 1975)
Basham, A. L., *Studies in Indian History and Culture* (Calcutta, 1964)
Basham, A. L., *The Wonder That Was India*, 3rd edn (New York, 1971)
Bhattacharya, S. and Thapar, R. (eds), *Situating Indian History* (New Delhi, 1986)
Brough, J., *Selections from Classical Sanskrit Literature* (London, 1951)
Conze, E., *Buddhist Texts through the Ages* (Oxford, 1954)
Coomaraswami, A. K., *History of Indian and Indonesian Art*, repr. (Delhi, 1972)
Cunningham, A., *A Book of Indian Eras*, repr. (Varanasi, 1970)
Cunningham, A., *The Ancient Geography of India*, repr. (Varanasi, 1975)
Dani, A. H., *Indian Palaeography* (Oxford, 1963)
Datta, B. B. and Singh, A. N., *History of Hindu Mathematics* (Lahore, 1935)
Ghoshal, U. N., *History of Hindu Political Theories*, 2nd edn (Oxford, 1927)
Gupta, P. L., *Coins*, 4th edn (New Delhi, 1996)
Harle, J., *The Art and Architecture of the Indian Subcontinent* (London, 1986)
Huntington, S. L., *The Art of Ancient India* (New York, 1985)
Kane, P. V., *History of Dharmasastra*, vols I-V (Poona, 1968-75)
Kosambi, D. D., *An Introduction to the Study of Indian History*, repr. (Delhi, 1970)
Kosambi, D. D., *Myth and Reality* (Bombay, 1962)
Kosambi, D. D., *Combined Method in Indology and other Writings* edited by B. D. Chattopadhyaya (Delhi, 2002)
Kulke, H. and Rothermund, D., *A History of India*, 3rd edn (London, 1998)
Jha, D. N., *Ancient India* (Delhi, 1998)
Lamotte, E., *History of Indian Buddhism* (Louvain, 1988)
Law, B. C., *Historical Geography of Ancient India* (Paris, 1954)
Meister, M. M. and Dhaky, M. A., *Indian Temple Architecture* (Delhi/Varannasi, 1983-)
Nilakanta Sastri, K. A., *A History of South India*, 4th edn (Madras, 1974)

Radhakrishnan, S., *Indian Philosophy* vols I and II (London, 1923-27)
Ray, N. R. et al., *A Sourcebook of Indian Civilisation* (Delhi, 2000)
Ray, P. C., *A History of Hindu Chemistry*, vols I and II (Calcutta, 1907-25)
Raychaudhuri, H. *Political History of Ancient India*, Commentary B. N. Mukherjee, rev. edn (Delhi, 1996)
Salomon, R., *Indian Epigraphy* (Delhi, 1998)
Schwartzberg, J. E. (ed.), *A Historical Atlas of South Asia*, 2nd edn (Oxfor, 1992)
Sharma, R. S., *Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India*, 3rd edn (Delhi, 1991)
Sharma, R. S. and Jha, D. N. (eds), *Indian Society Historical Probings. Essays in memory of D. D. Kosambi* (New Delhi, 1974)
Singh, R. L., *India, A Regional Geography* (Varanasi, 1971)
Sircar, D. C., *Indian Epigraphy* (Delhi, 1965)
Sircar, D. C., *Epigraphical Glossary* (Delhi, 1966)
Spate, O. H. K. and Learmonth, A. T. A., *India and Pakistan, a General and Regional Geography*, 4th edn (London, 1972)
Subbarao, B., *The Personality of India*, 2nd edn (Baroda, 1958)
Thapar, R. (ed.), *Recent Perspectives of Early Indian History*, 2nd edn (Bombay, 1998)
Thapar, R., *Cultural Pasts* (Delhi, 2000)
Winternitz, M., *A History of Indian Literature* (Calcutta, 1933)

Journals

There are many journals and periodical publications that carry articles on the history of India or data on sources discussed in this book. Reference to articles in the bibiographies would have made the bibliographies for each chapter unwieldy. Those consulted more frequently are included in the following:

Acta Orientalia
Ancient Inda (Bulletin of the Archaeological Survey of India)
Ancient Pakistan
Annales
Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute
Annual Report of Indian Epigraphy
Antiquity
Archaeology
Artibus Asiae
Bulletin of the School of Oriental and African Studies
Burlington Magazine
Comparative Studies in Society and History
Contributions to Indian Sociology

Corpus Inscriptionum Indicarum/CII
East and West
Epigraphia Carnatica
Epigraphia Indica
History and Culture of the Indian People, vols I-V
History of Religions
Hyderabad Archaeological Series
Indian Antiquary
Indian Archaeology-a Review
Indian Economic and Social History Review
Indian Historical Review
Indian Studies: Past and Present
Indo-Iranian Journal
Journal Asiatique
Journal of Asian Studies
Journal of Indian History
Journal of the American Oriental Society
Journal of the Asiatic Society of Bengal
Journal of the Bihar and Orissa Research Society
Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society
Journal of the Economic and Social History of the Orient
Journal of the Epigraphical Society of India
Journal of the Numismatic Society of India
Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland
Man and Environment
Man in India
Memoris of the Archaeological Survey of India
Modern Asian Studies
Pakistan Archaeology
Proceedings of the Indian History Congress
Purana
Silk Road Art and Archaeology
Social Science Probings
South Asia Research
South Asia Archaeology
South Asian Studies
South Indian Inscriptions
Sri Lanka Journal of the Humanities
Studies in History

अनुक्रमणिका

प्रवेश रोहतगी
(एम. ए. हिन्दी, इग्नू)

ऐ

ओ

औ

घ

च

फ

निदेशालय के श्रेष्ठ प्रकाशन

1.	शिक्षा : दार्शनिक परिप्रेक्ष्य	चाँद किरण
2.	प्रारंभिक आधुनिक यूरोप में सांस्कृतिक परिवर्तन	सं. देवेश विजय
3.	भारत में स्त्री असमानता: एक विमर्श	गोपा जोशी
4.	भारतीय समाज, अधिकारितंत्र और सुशासन	डा. आर.बी.जैन
5.	आधुनिक जापान का इतिहास	प्रो. के.टी.एस. सराओ
6.	आधुनिक यूरोप का इतिहास	सं. देवेश विजय, वसुधा पांडेय
7.	सांस्कृतिक इतिहास : एक तुलनात्मक सर्वेक्षण	डा. देवेश विजय
8.	भारतीय इतिहास : एक पुनर्विचार	रामशरण शर्मा
9.	व्यक्तिगत पहचान में फिंगर प्रिंट का महत्त्व	प्रो. सुरेंद्र नाथ शर्मा
10.	नृ-विज्ञान का स्वरूप और क्षेत्र	गोपाल शरण
11.	हिंदी-उर्दू-अंग्रेज़ी शब्दकोश (नवीन संदर्भ ग्रंथ)	सुधींद्र कुमार, एम. एस. उस्मानी, मीना उस्मानी
12.	प्राचीन भारत का इतिहास	सं. द्विजेंद्र नारायण झा एवं कृष्णमोहन श्रीमाली
13.	मध्यकालीन भारत भाग-I	सं. हरिशचंद्र वर्मा
14.	मध्यकालीन भारत भाग-II	सं. हरिशचंद वर्मा
15.	आधुनिक भारत का इतिहास	सं. राम लखन शुक्ल
16.	भारत का स्वतंत्रता संघर्ष	विपिन चंद्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, क.न. पानिकर, सुचेता कृपलानी
17.	आज़ादी के बाद का भारत-1947-2000	विपिन चंद्र, मृदुला मुखर्जी, और आदित्य मुखर्जी
18.	प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास	रामशरण शर्मा
19.	नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे	साधना आर्य, निवेदिता मेनन्न जिनी लोकनीता
20.	यूरोप 1870 से	जेम्स जाल

ISBN 978-93-80172-00-2

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
10, केवेलरी लाइन, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110 007
फोन: 27666839, 27662346, 27667725/1643 (एक्सटेंशन)
मूल्य : 180 रुपए